प्रियबन्धु जैनजी
को
ज्ञानलोक के लिये
सप्रेम भेंट
हरिहर
१८-११-६४

अन्तर्राष्ट्रीय कानून

लेखक

हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०

भू० प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

निदेशक, प्रकाशन विभाग, गो० ब० पंत विश्वविद्यालय, पन्तनगर

प्रकाशक

सरस्वती सदन

७-यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७

१९७२]

[मूल्य : १६ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक ।
सरस्वती सदन,
७-यू. ए., जवाहर नगर,
दिल्ली-७

प्रथम संस्करण, अक्तूबर, १९६०
द्वितीय संशोधित संस्करण, दिसम्बर, १९६४
तृतीय संशोधित संस्करण, जुलाई, १९६८
चतुर्थ संशोधित संस्करण, जुलाई, १९७२

मुद्रक :
प्रभात प्रेस,
मेरठ ।

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

इस संस्करण को पूर्ण रूप से संशोधित करते हुए इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की नई सामग्री जोड़ी गई है तथा इस पर प्रभाव डालने वाली नई घटनाओं तथा मामलों का उल्लेख किया गया है। बंगला देश की मान्यता के ज्वलन्त प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए इस सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान की मान्यता विषयक नीतियों पर प्रकाश डाला गया है (पृ० १७९–८१)। प्रादेशिक समुद्र की सीमा विस्तृत करने के सम्बन्ध में दक्षिण अमरीका के विभिन्न राज्यों की नई नीति को स्पष्ट करते हुए एक नवीन मानचित्र द्वारा इसे प्रदर्शित किया गया है (पृ० २१५–७)। हवाई डकैती या विमानापहरण की नवीन समस्या का प्रतिपादन किया गया है (पृ० २९२–५)। विश्व न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये नवीन मामलों—उत्तरी महासमुद्र में समुद्र तल की सीमा का निर्धारण (पृ० २३०–२), दक्षिण अफ्रीका (पृ० ४१७), बार्सीलोना ट्रैक्शन केस (पृ० ४२२) तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून विषयक जुगल किशोर मोर (पृ० ६२२) जैसे नये मामलों का परिचय दिया गया है। इसी प्रकार बंगला देश के शरणार्थियों (पृ० ३२९), परिवेष्टन (पृ० ५५९), भारत के अधिग्रहण न्यायालयों (पृ० ४९४), सन्धियों (पृ० ३७५), युद्धापराधियों (पृ० ५१४) के सम्बन्ध में नई सामग्री दी गई है।

आशा है, नवीन संशोधनों से यह पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन में अभिरुचि रखने वाले पाठकों के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी तथा पिछले संस्करणों की भाँति लोकप्रिय होगी।

पन्तनगर
१५-५-७२

—हरिदत्त

प्रथम संस्करण की भूमिका

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन बिल्कुल निरर्थक समझा जाता था और इस विषय की सत्ता में भी संदेह प्रकट किया जाता था। १९०७ में जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न विषयों पर नियमों के निर्माण के लिये दूसरा हेग सम्मेलन बुलाया गया तो पश्चिमी देशों के कतिपय उच्च सैनिक अधिकारियों ने इस विषय में यह मन्तव्य प्रकट किया कि "तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रोफेसरों तथा किताबी कीड़ों के दिमाग की उपज है, इन नियमों से वे स्थल एवं जलसेनाओं के सेनाध्यक्षों को कुछ कार्य करने से रोकना चाहते हैं। ऐसे नियम बिल्कुल बेकार हैं, क्योंकि इनका पालन करने वाली कोई राजनीतिक सत्ता या शक्ति नहीं है।"[1] लार्ड साल्ज़बरी (Salisbury) ने यह मत प्रकट किया—"कानून शब्द को प्रायः जिस अर्थ में समझा जाता है, उस अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है। इसे लागू कराने वाला कोई न्यायालय नहीं है, अतः इसे कानून कहना बहुत भ्रामक है।"[1]

किन्तु पिछले पचास वर्षों में, कई कारणों से, न केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार की जाने लगी है, अपितु इसका अध्ययन और पालन आवश्यक समझा जाने लगा है। दो विश्वयुद्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता के दुष्परिणामों को सुस्पष्ट करते हुए इसमें कानून की प्रतिष्ठा बढ़ाने और उसके पालन की अनिवार्यता पर बहुत बल दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर आविष्कृत अणुबमों ने तथा इसके बाद बनाये गये हाइड्रोजन बमों, अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Intercontinental Ballistic Missiles), अन्तरिक्षगामी राकेटों (Rockets), स्पूतनिकों (Sputniks), चन्द्रगामी ल्यूनिकों (Luniks) ने मानव-सभ्यता के विनाश, विध्वंस और प्रलय के ताण्डव की अमित सम्भावनायें उत्पन्न कर दी हैं।

इन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन को वैसा ही अनिवार्य समझा जाने लगा है, जैसा विभिन्न देशों में राष्ट्रीय (Municipal) कानून का पालन आवश्यक समझा जाता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में कानून ने अराजकता का अन्त किया है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मात्स्य न्याय की समाप्ति होनी चाहिए, अन्यथा प्रलयंकर तृतीय विश्वयुद्ध में मानव-जाति का सर्वनाश हो जायगा। कहा जाता है कि जब एक बार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन से पूछा गया कि अगले विश्वयुद्ध में लड़ाई के क्या साधन होंगे तो उन्होंने कुछ समय तक विचार के उपरान्त यह कहा कि 'अगले विश्वयुद्ध के साधनों का तो मुझे ज्ञान नहीं, किन्तु उससे अगले युद्ध तक यदि मानव जीता रहा तो वह पत्थरों से तथा अपने नाखूनों से ही लड़ेगा'। प्रलयंकर शस्त्रों द्वारा प्रवर्तित वर्तमान सभ्यता के

---

१. हालैण्ड—लेक्चर्स ऑन इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ५

सर्वमेध यज्ञ के बाद मनुष्य के पास इनके अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र के रहने की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस समय मनुष्य के लिए संताप और चिन्ता का सबसे बड़ा विषय यह है कि गोर्की के शब्दों में वह "आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकता है, समुद्र में मछलियों की तरह तैर सकता है, किन्तु यह नहीं जानता कि पृथ्वी पर कैसे रहना चाहिए।" विश्वविध्वंसकारी अणुबमों तथा प्रलयंकर प्रक्षेपणास्त्रों की विभीषिका अब उसे बाधित करने लगी है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार करे, इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाये, इसका पालन सब राज्यों के लिए अनिवार्य समझा जाय, इसकी अवहेलना उपेक्षा की दृष्टि से न देखी जाय; जिस प्रकार विभिन्न देशों में फौजदारी कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग करने वालों के लिए प्रभावशाली दण्ड-व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वाले राज्य अपनी सम्मिलित शक्ति द्वारा ऐसे प्रबल लोकमत का निर्माण करें कि कोई राष्ट्र ऐसा दुस्साहस न कर सके। इस समय सभी राजनीतिक और विचारक, तथा सामान्य व्यक्ति इस प्रश्न पर सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था और पालन आवश्यक है।[2] सर्वनाश और विध्वंस के ताण्डव से मानव-जाति के परित्राण का एकमात्र प्रभावशाली साधन यही है। नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।

प्रस्तुत पुस्तक में इसी महत्वपूर्ण विषय के संक्षिप्त, सांगोपांग और सारगर्भित प्रतिपादन का विनम्र प्रयास किया गया है। यह अत्यन्त जटिल और दुरूह कानूनी विषय है, किन्तु इसका वर्णन अत्यधिक स्पष्ट, सुबोध और सरल शब्दो में करने का प्रयत्न किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण अंगों और विषयों को हस्तामलक बनाने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को विस्तार से दिया गया है।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ग्रंथों में भारतीय विचारधारा और पृष्ठभूमि का बहुत कम उल्लेख होता है, इसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। इस पुस्तक में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्राचीन भारतीय विचारों को आधुनिक विचारों के साथ तुलनात्मक रूप में दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक विद्वानों—ग्रोशियस, बिंकरशोयेक, वैटल, ब्लंशली, हालैण्ड, हाल, आपेनहाइम, लारेन्स, हाइड, ब्रिअर्ली, स्टार्क आदि के विचारों के साथ-साथ रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि भारतीय धर्मग्रंथों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा नीतिग्रंथों के विचारों का यथास्थान उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ, दूतों (पृ० ३३६, ३४३), संधियों (पृ० ३७२, पृ० ३७४), स्थलयुद्ध (पृ० ४५६, ४६१-२, ४६५, पृ० ४६७, ४७२), समुद्रीयुद्ध (पृ० ४७४), तटस्थता (पृ० ५१७-८) विषयक प्राचीन भारतीय विचारों को पादटिप्पणियों में दिया गया है। अन्त में द्वितीय परिशिष्ट में महाभारत, रामायण, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों और स्मृतियों की अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कुछ

२. फिलिप सी० जेस्सप—ए मॉडर्न लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १

व्यवस्थाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। पहले अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास का प्रतिपादन करते हुए भारतीय विचारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास प्रधान रूप से पश्चिमी देशों में हुआ है, अतः इस विषय को स्पष्ट करने के अधिकांश उदाहरण या मामले (Cases) इन्हीं देशों के हैं। इस समय ये मामले (Cases) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख आधार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को समझने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है। दुर्भाग्य-वश प्राचीन भारत की ऐसी वादविधि (Case Law) हमें बिल्कुल उपलब्ध नहीं होती। इस पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्वपूर्ण मामलों का यथास्थान परिचय दिया गया है। प्रथम परिशिष्ट में इनका पृथक् रूप से भी उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही इस बात का प्रयत्न किया गया है कि यथासम्भव भारतीय उदाहरणों का समावेश हो। राज्यों की सीमाओं और सीमावर्ती नदियों के सम्बन्ध में भारत, पाकिस्तान और चीन के आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के उदाहरण दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय निरन्तर विकासशील है। इस पुस्तक में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इसमें नवीनतम विचारों और उदाहरणों के समावेश से इसे अधिक से अधिक अद्यतनीन (Up-to-date) और अभिनव बनाया जाय। इसमें प्रादेशिक समुद्र की सीमा के सम्बन्ध में मार्च १९६० के **समुद्री कानून के दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन** (International Second Conference on the Law of the Seas) के परिणामों का, १२ अप्रैल १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा पुर्तगाल के भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरने के अधिकार के विषय में दिये गये निर्णय का, १ मई १९६० को अमरीकी यू-२ विमान द्वारा सोवियत आकाश की सीमा के अति-क्रमण से उत्पन्न हुए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों तथा स्पूतनिकों द्वारा बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space) की प्रादेशिक प्रभुता सम्बन्धी सर्वथा नवीन और अद्यतन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर पुस्तक लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई पारि-भाषिक शब्दों की है। इस विषय में अनेक सराहनीय प्रयत्न हुए हैं, किन्तु ये सब इस कानून की जटिल पारिभाषिक शब्दावली के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अंग्रेजी शब्दावली बड़ी समृद्ध है, उसमें एक प्रधान अर्थ के विभिन्न सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्द हैं, Authority, Title और Right अधिकार के विभिन्न भेदों को सूचित करते हैं। किसी प्रदेश को वशवर्ती बनाने के लिए subjugation, subjection, subordination, annexation आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु इन सबमें सूक्ष्म अन्तर है। यही दशा Interference, Intervention, Continuity, Contiguity आदि बीसियों शब्दों की है। यहाँ इस बात का प्रयत्न किया गया है कि इन शब्दों का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने के लिए यथासम्भव पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग किया जाय।

कानूनी शब्दावली का निर्माण करते हुए तीन सिद्धान्तों का पालन किया गया

है। सर्वप्रथम भारत सरकार द्वारा स्वीकृत और प्रकाशित कानून, राजनीति और राजनय की पारिभाषिक शब्दावलियों से शब्द लिए गये हैं। इनमें शब्द न मिलने पर प्राचीन भारतीय साहित्य में से इसके लिए उपयुक्त शब्द खोजे गये हैं। Prescription के लिए नारदस्मृति का चिरकालिक भुक्ति अपनाया गया है, Belligerent के लिए मनुस्मृति का युध्यमान ग्रहण किया है। Armistice के लिए हिन्दी में युद्धविराम का प्रचलन है, Truce के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग होता है, दोनों में अन्तर रखने के लिए महाभारत के अवहार शब्द को अपनाया गया है। अनेक प्राचीन शब्द इस समय हिन्दी में प्रयुक्त नहीं हो सकते। Convention के लिए पुराना संस्कृत शब्द 'समय' है, आजकल हिन्दी में यह कालवाचक है, अतः इसका प्रयोग 'अभि' उपसर्ग के साथ 'अभिसमय' के रूप में किया गया है ताकि कालवाची समय से इसका भेद बना रहे। इस बात पर पूरा ध्यान दिया गया है कि पारिभाषिक शब्द सरल, स्पष्ट और सुनिश्चित अर्थ के द्योतक हों।

अंग्रेजी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शब्दावली का प्रमुख आधार रोमन कानून और लैटिन की शब्दावलियाँ हैं। लैटिन के अनेक वाक्यांशों का अंग्रेजी में बहुत प्रचलन है। इस ग्रन्थ में पहली बार इनके संस्कृत प्रतिरूप निश्चित करके इनका प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, Nullum crimen sini lege, pacta sunt servanda तथा Rebus sic Stantibus के लिए क्रमशः 'नियमाभावे दण्डाभावः', 'राज्यसमयाः सम्माननीयाः' तथा 'वस्तूनामावर्त्तमानस्थितेः' का व्यवहार किया गया है। इसके साथ ही हिन्दी में इनका आशय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन में लेखक को कई व्यक्तियों से बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिए वह इन सबका आभारी है। गुरुकुल कांगड़ी के पुस्तकालय से तथा इसके अध्यक्ष श्री पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं श्री विजयस्वरूप जी तथा श्रीराम जी शर्मा ने मुझे पुस्तकालय सम्बन्धी जो सुविधायें दी हैं, उनके बिना इसका लेखन सम्भव नहीं था, इसके लिए वह इन महानुभावों का कृतज्ञ है। बन्धुवर श्री रामरक्खामल जी ने इस पुस्तक के प्रूफ देखने में तथा भाषा परिष्कार में सहायता देकर लेखक को अनुगृहीत किया है। पारिभाषिक शब्दों के चयन में दी गई सहायता के लिए लेखक श्री धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड का आभारी है। श्री विश्वरंजन जी को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन की प्रेरणा की, इसके लिए प्रोत्साहन दिया, इसके सुचारु, सुन्दर और शीघ्र मुद्रण की व्यवस्था की, एतदर्थ लेखक उनका आभारी है!

शरत्पूर्णिमा
६ अक्तूबर, १९६०
गुरुकुल कांगड़ी

—हरिदत्त

विषय-सूची

प्रथम भाग

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास (Historical Development of International Law) १७—५२

विषय का महत्त्व, पृ० १७; अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्गम, पृ० १७; विकास के तीन युग, पृ० १८; प्रथम युग (क) भारत, पृ० १९; (ख) प्राचीन मध्यपूर्व के राज्य, पृ० २३; (ग) यूनान, पृ० २४; दूसरा युग—रोम, पृ० २५; जस जेन्शियम, पृ० २७; मध्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक तत्त्व, पृ० २९; (१) चर्च, पृ० ३०; (२) व्यापारिक तथा समुद्री कानूनों का विकास, पृ० ३२; आधुनिक युग, पृ० ३५; फ्रांसिस्को विक्टोरिया, पृ० ३६; फ्रांसिस्को सुआरेज़, पृ० ३६; पीरिनो बेल्ली, पृ० ३७; बल्थसर आयला, पृ० ३८; एल्बेरिको जैण्टिली, पृ० ३८; ह्यूगो ग्रोशियस, पृ० ४०; ग्रोशियस के ग्रन्थ, पृ० ४१; ग्रोशियस के सिद्धान्त, पृ० ४२; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन सम्प्रदाय; पृ० ४६; (१) प्रकृतिवादी सम्प्रदाय, पृ० ४६; (२) अस्तिवादी सम्प्रदाय, पृ० ४७; (३) ग्रोशियन सम्प्रदाय, पृ० ४८; १९वीं तथा २०वीं शतियाँ, पृ० ४९; पेरिस की घोषणा, पृ० ५०; हेग सम्मेलन, पृ० ५०।

द्वितीय अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप (Nature of International Law) ५३—८६

नियम और कानून, पृ० ५३; अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा, पृ० ५४; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्त्व, पृ० ५७; अन्तर्राष्ट्रीय कानून का चार प्रकार का वर्गीकरण, पृ० ५७; (क) सार्वजनिक तथा वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ० ५७; (ख) वास्तविक तथा प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ० ५९; (ग) युद्ध और शान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ० ५९; (घ) विशेष, सामान्य और सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ० ५९; (ङ) शक्ति, सहयोग और पारस्परिकता के अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ० ५९; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिपाद्य विषय, पृ० ६०; अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या वास्तव में कानून है ? (क) पूर्वपक्ष, पृ० ६१; (ख) उत्तरपक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन—सर हेनरी मेन, पृ० ६३; लार्ड रसेल, पृ० ६४;

ब्रिअर्ली, पृ० ६४; स्टार्क, पृ० ६५; आपेनहाइम, पृ० ६५; हाल, पृ० ६८; क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है ? पृ० ७१; क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुतः समझौतों से बने कानून का अंग है ? पृ० ७२; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दोष तथा इन्हें दूर करने के उपाय, पृ० ७३; अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार : (क) मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त, पृ० ७८; (ख) सहमति का सिद्धान्त, पृ० ७९; (ग) वास्तविक आधार, पृ० ८१; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में नई प्रवृत्ति, पृ० ८२; शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त, पृ० ८३; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप में सं० रा० संघ की स्थापना से तथा अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, पृ० ८४।

तृतीय अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत (Sources of International Law) ८७—१०२

स्रोत का अर्थ, पृ० ८७; स्रोतों के प्रकार, पृ० ८८; सन्धियाँ, पृ० ८८; (क) विधिसूचक या प्रज्ञापक सन्धियाँ, पृ० ९०; (ख) विधायक सन्धि, पृ० ९०; (ग) संविदा सन्धियाँ, पृ० ९१; रिवाज या आचार, पृ० ९२; आचार या रिवाज तथा प्रथा का भेद, पृ० ९३; कानून के सामान्य सिद्धान्त, पृ० ९६; न्यायालय के निर्णय : (क) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय, पृ० ९७; (ख) राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय, पृ० ९७; (ग) अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय, पृ० ९८; अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ, पृ० ९९; अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य, पृ० १००; तर्कशक्ति, पृ० १००; अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र, पृ० १०१; विभिन्न स्रोतों की प्रामाणिकता का क्रम, पृ० १०१।

चौथा अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध (Relation between International Law and Municipal law) १०३—११३

अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानून, पृ० १०३; द्वैतवादी सिद्धान्त, पृ० १०४; एकत्ववादी सिद्धान्त, पृ० १०६; रूपान्तरवाद, पृ० १०६; समर्पणवाद, पृ० १०७; अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों का व्यवहार—(१) ग्रेट ब्रिटेन, पृ० १०८; (२) सयुक्त राज्य अमरीका, पृ० ११०; (३) फ्रांस, पृ० १११; (४) स्पेन, पृ० १११; (५) नार्वे, पृ० १११; (६) जर्मनी, पृ० १११; (७) सोवियत रूस, पृ० ११२; भारत में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध, पृ० ११२।

पाँचवाँ अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण (Codification of International Law) ११४—१२६

संहिताकरण का अभिप्राय, पृ० ११४; संहिताकरण के लाभ, पृ० ११५; संहिताकरण के दोष, पृ० ११५; संहिताकरण की कठिनाइयाँ, पृ० ११६; संहिताकरण का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११६; (१) आरम्भिक प्रयत्न, पृ० ११६; (२) हेग सम्मेलन, पृ० ११७; (३) राष्ट्रसंघ के प्रयत्न, पृ० ११८; (४) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा संहिताकरण का कार्य, पृ० ११९; अन्तर्राष्ट्रीय

विधि आयोग का कार्य पृ० १२१; राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की प्रारूप घोषणा, पृ० १२३; न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों का निर्माण, पृ० १२३; मानव-जाति की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता, पृ० १२४; अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय, पृ० १२५; अन्य कार्य, पृ० १२५; संहिताकरण का भविष्य, पृ० १२६।

दूसरा भाग

शान्ति के कानून

छठा अध्याय—राज्यों का स्वरूप और प्रकार (The Nature and Classification of State) १२९—१५४

राज्य का लक्षण, पृ० १२९; राज्यों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, पृ० १३१; राज्यों की स्वतन्त्रता का अधिकार, इसका स्वरूप तथा इसकी मर्यादा पृ० १३२; स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य पृ० १३३; पहला कर्त्तव्य—दूसरे राज्य के प्रदेश में प्रभुसत्ता के कार्य न करना, पृ० १३४; राज्यों की समानता का अधिकार, पृ० १३६; राज्यों का वर्गीकरण : (क) स्वतन्त्र राज्य, पृ० १३७; (ख) परतन्त्र या पराधीन राज्य, पृ० १३८; (ग) संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति—(अ) वास्तविक सगम, पृ० १३८; (आ) व्यक्तिगत सगम, पृ० १३९; (इ) प्रसंधान, पृ० १३९; (ई) संघ, पृ. १४०; (घ) वशवर्ती राज्य, पृ० १४१; (ङ) संरक्षित राज्य, पृ० १४१; (च) सहराज्य, पृ० १४३, (छ) राष्ट्रमण्डल, पृ० १४३; (ज) तटस्थीकृत राज्य, पृ० १४५; तटस्थीकरण और तटस्थता में अन्तर, पृ० १४६; (झ) होली सी तथा वैटिकन नगर, पृ० १४७; (ञ) मैण्डेट पद्धति, पृ १४८; (ट) न्यास पद्धति, पृ० १५०; न्यास पद्धति के मौलिक उद्देश्य, पृ० १५१; न्यास परिषद्, पृ० १५२; मैण्डेट पद्धति तथा न्यास पद्धति में कुछ मौलिक भेद, पृ० १५३।

सातवाँ अध्याय—राज्यों की मान्यता (Recognition of States) १५५—१८६

मान्यता का लक्षण, पृ० १५५; मान्यताविषयक सिद्धान्त, पृ० १५६; मान्यता की विधियाँ, पृ० १५८; स्पष्ट और ध्वनित मान्यता, पृ० १५९; एकाकी तथा सामूहिक मान्यता, पृ० १६०; अतिक्षिप्र मान्यता, पृ० १६०; वास्तविक तथा कानूनी मान्यता, पृ० १६०; राजनीतिक परिस्थितियों का मान्यता पर प्रभाव, पृ० १६४; सरकारों की मान्यता, पृ० १६६; निर्वासित सरकारों की मान्यता, पृ १६९; स्टिमसन का मान्यताविषयक सिद्धान्त, पृ० १७०; एस्ट्रेडा सिद्धान्त, पृ० १७०; अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा मान्यता, पृ० १७१; सामूहिक मान्यता, पृ० १७२; मान्यताविषयक सं० रा० अमरीका की नीति, पृ० १७३; भारत की मान्यताविषयक नीति, पृ० १७५; (क)

साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीति, पृ० १७६; (ख) इजराइल विषयक नीति, पृ० १७७; (ग) स्पेन विषयक नीति, पृ० १७७; बंगला देश की मान्यता, पृ० १७९; मान्यताविषयक हौल्सटाइन सिद्धान्त तथा पाकिस्तानी नीति, पृ० १८१; युद्धावस्था की मान्यता, पृ० १८२; सह-युद्धावस्था की मान्यता, पृ० १८२; सह-युद्धावस्था, पृ० १८४; अभिद्रोह की मान्यता, पृ० १८४; मान्यता देने के आधार, पृ० १८५; मान्यता के परिणाम, पृ० १८५।

आठवाँ अध्याय—राज्य-उत्तराधिकार (State Succession) १८७—२०४

राज्य-उत्तराधिकार का स्वरूप, पृ० १८७; उत्तराधिकार के दो प्रकार: (१) सार्वभौम उत्तराधिकार, पृ० १८८; (२) आंशिक उत्तराधिकार, पृ० १८९; राज्य-उत्तराधिकार के परिणाम, पृ० १८९; (अ) सन्धिविषयक अधिकार और दायित्व, पृ० १८९; (आ) साम्पत्तिक अधिकार, पृ० १९०; (इ) संविदात्मक दायित्व, पृ० १९१; (ई) सार्वजनिक ऋण, पृ० १९३; (उ) जिह्म, पृ० १९३; (ऊ) सदस्यता, पृ० १९४; अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तराधिकार, पृ० १९४; संयुक्त अरब गणराज्य के निर्माण के कानूनी पहलू, पृ० १९५; राज्य-उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भारतीय परिपाटी और व्यवहार, पृ० १९६; पहली समस्या—भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, पृ० १९७; दूसरी समस्या—निजी व्यक्तियों के कानूनी हित, पृ० १९८; तीसरी समस्या—अनुबन्धीय उत्तरदायित्व, पृ० २०१; चौथी समस्या—सन्धियाँ, पृ० २०१; पाँचवीं समस्या—पुराने कानूनों तथा कानूनी पद्धति की मान्यता, पृ० २०२; छठी समस्या—सिविल सर्विस तथा अन्य सार्वजनिक सेवाएँ, पृ० २०२।

नवाँ अध्याय—राज्य का प्रदेश (Territory of the State) २०५—२४४

प्रादेशिक प्रभुसत्ता, पृ० २०५; राज्य की सीमा, पृ० २०५; (क) प्राकृतिक सीमायें, पृ० २०५; (ख) कृत्रिम सीमायें, पृ० २०६; नदियाँ, पृ० २०७; (क) राष्ट्रीय नदियाँ, पृ० २०७; (ख) अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ, पृ० २०५; सिन्धु-जलसन्धि, पृ० २१०; प्रादेशिक समुद्र, पृ० २१२; १९५८ का समुद्री कानून सम्मेलन—प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई पर विवाद, पृ० २१३; दूसरा समुद्री सम्मेलन, पृ० २१४; १९७३ का तीसरा समुद्री सम्मेलन—दक्षिण अमरीका के राज्यों द्वारा प्रादेशिक समुद्र की सीमा का २०० मील तक विस्तार, पृ० २१५; प्रादेशिक समुद्र का समझौता, पृ० २१७; (क) प्रादेशिक समुद्र का स्वरूप और लक्षण, पृ० २१७; (ख) निर्दोष गमन का अधिकार, पृ० २१७; (ग) संस्पर्शी क्षेत्र, पृ० २१८; अन्तिम प्राविधान, पृ० २१८; संस्पर्शी क्षेत्र, पृ० २१९; एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला, पृ० २२०; जलडमरूमध्य, पृ० २२१; खाड़ियाँ और आखात, पृ० २२२; महाद्वीपीय समुद्रतल, पृ० २२२; महाद्वीपीय समुद्रतल का १९५८ का अभिसमय, पृ० २२४; ब्राज़ील-फ्रांस झींगामछली विवाद, पृ० २२७; महाद्वीपीय

समुद्रतल के विषय में भारत की नीति, पृ० २२७; महाद्वीपीय समुद्रतल पर अधिकार के आधार, पृ० २२६; उत्तरी सागर महाद्वीपीय समुद्रतल की सीमा निर्धारण का मामला, पृ० २३०; गहरे समुद्रतल पर प्रभुत्व की नवीन समस्या, पृ० २३२; नहरें, पृ० २३३; पानामा नहर, पृ० २३४; कील नहर, पृ० २३४; स्वेज नहर, पृ० २३४; आकाश पर प्रादेशिक प्रभुता, पृ० २३६; १२ अक्टूबर १६२६ के वारसा समझौते, पृ० २३७; बाह्य अन्तरिक्ष की प्रभुता की नवीन समस्या, पृ० २३८; सं० रा० संघ तथा बाह्य अन्तरिक्ष, पृ० २३६; बाह्य अन्तरिक्ष सन्धि, पृ० २४०; परवत्ता, पृ० २४२।

दसवां अध्याय—प्रदेश प्राप्त करने और खोने के प्रकार (Modes of Acquiring and Losing Territories) २४५—२५६

आवेशन, पृ० २४५; अस्वामित्व, पृ० २४७; प्रभुसत्ता स्थापित करने की इच्छा और इरादा, पृ० २४८; सातत्य का सिद्धान्त, पृ० २४८; संस्पर्शिता का सिद्धान्त, पृ० २४६; चाँद पर अधिकार, पृ० २५०; चिरकालिक भुक्ति, पृ० २५०; उपचय या अभिवृद्धि, पृ २५१; हस्तान्तर, पृ० २५२; विजय, पृ० २५३; सम्मेलन का निर्णय, पृ० २५५; पट्टा, पृ० २५५; प्रदेश खोने के प्रकार, पृ० २५६।

ग्यारहवाँ अध्याय—हस्तक्षेप (Intervention) २५७—२६६

हस्तक्षेप के प्रकार: (१) कूटनीतिक या राजनयिक हस्तक्षेप, पृ० २५७; (२) आन्तरिक हस्तक्षेप, पृ० २५७; (३) बाह्य हस्तक्षेप, पृ० २५७; (४) दण्डात्मक हस्तक्षेप, पृ० २५७; हस्तक्षेप करने के कारण, पृ० २५८; (१) आत्मरक्षा, पृ० २५८; (२) सन्धि के अधिकारों को लागू करना, पृ० २६१; (३) मानवीयता, पृ० २६१; (४) शक्ति-संतुलन, पृ० २६२; (५) वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप, पृ० २६२; (५) गृहयुद्धों में हस्तक्षेप, पृ० २६३; मुनरो सिद्धान्त, पृ० २६३; ड्रेग्रो तथा नेहरू सिद्धान्त, पृ० २६५; हंगरी में रूस का हस्तक्षेप, पृ० २६५; तिब्बत में चीन का हस्तक्षेप, पृ० २६७।

बारहवाँ अध्याय—क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) २७०—२६५

प्रादेशिक समुद्र में क्षेत्राधिकार, पृ० २७१; तैरते टापू का सिद्धान्त, पृ० २७२; बन्दरगाहों में क्षेत्राधिकार, पृ० २७३; प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का विस्तार, पृ० २७३; (१) कर्त्तृगत प्रादेशिक सिद्धान्त, पृ० २७३; (२) कर्मगत प्रादेशिक सिद्धान्त, पृ० २७४; विदेशियों का क्षेत्राधिकार, पृ० २७५; प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ, पृ० २७५; (क) विदेशी राज्य और उसके अध्यक्ष, पृ० २७६ (ख) विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधि, पृ० २७७; (ग) सार्वजनिक जहाज, पृ० २७६; (घ) विदेशी सेनाओं पर क्षेत्राधिकार, पृ० २८१; (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की क्षेत्राधिकार से मुक्ति, पृ० २८१; महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार, पृ० २८१; महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर प्रति-

बन्ध, पृ० २८३; महासमुद्रों के सजीव साधनों के संरक्षण तथा मछली पकड़ने का समझौता, पृ० २८५; महासमुद्रों का अभिसमय, पृ० २८७; महासमुद्रों में तीव्र अनुसरण, पृ० २८६; १९५८ के महासमुद्रों के अभिसमय में तीव्र अनुसरण विषयक व्यवस्था, पृ० २९०; महासमुद्रों में समुद्री डकैती का दमन, पृ० २९१; हवाई डकैती या विमानापहरण, पृ० २९२; १९७० का हवाई डकैती निरोध—हेग अभिसमय १६ दिसम्बर १९७०, पृ० २९४।

तेरहवाँ अध्याय—राष्ट्रीयता (Nationality) २९६—३१०

राष्ट्रीयता का स्वरूप तथा लक्षण, पृ० २९६; राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व, पृ० २९७; राष्ट्रीयता की प्राप्ति के प्रकार, पृ० २९७; (क) जन्म, पृ० २९७; (ख) देशीयकरण, पृ० २९८; (ग) पुनःप्राप्ति, पृ० २९९; (घ) वशीकरण, पृ० २९९; (ङ) प्रदेश का हस्तान्तर, पृ० ३००; राष्ट्रीयता की हानि के पाँच प्रकार, पृ० ३००—(क) मुक्ति, पृ० ३००; (ख) वंचन, पृ० ३००; (ग) दीर्घकालीन विदेश निवास, पृ० ३००; (घ) जन्ममूलक या भूमि नियम, पृ० ३०१; (ङ) प्रत्यास्थापन, पृ० ३०१; दोहरी राष्ट्रीयता, पृ० ३०१; राज्यहीनता, पृ० ३०३; भारत में राष्ट्रीयता विषयक कानूनों का विकास, पृ० ३०४; राष्ट्रीयता विषयक भारतीय मामले, पृ० ३०७।

चौदहवाँ अध्याय—प्रत्यर्पण (Extradition) ३११—३३५

प्रत्यर्पण का स्वरूप, पृ० ३११; प्रत्यर्पण का विकास, पृ० ३१२; प्रत्यर्पणीय व्यक्ति, पृ० ३१३; प्रत्यर्पण के अपराध, पृ० ३१३; प्रत्यर्पण के कुछ मामले —(१) आइजलर का मामला, पृ० ३१४; (२) ब्लैकमर का मामला, पृ० ३१५; राजनीतिक अपराध तथा प्रत्यर्पण, पृ० ३१५; एटेण्टेंट धारा, पृ० ३१८; दोहरी अपराधिता का नियम, पृ० ३१९; अपराध भेद का सिद्धान्त, पृ० ३१९; अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण—आइकमान का मामला, पृ० ३२०; आर्टुकोविक का मामला, पृ० ३२२; भारतीय प्रत्यर्पण कानून, पृ० ३२३; तारासोव का मामला, पृ० ३२४; आश्रय का अधिकार, पृ० ३२७; (क) प्रादेशिक आश्रय, पृ० ३२८; (ख) प्रदेशबाह्य आश्रय, पृ० ३२८; क्षेत्रीय अधिकारविषयक नवीन दृष्टिकोण, पृ० ३२९; राजनयिक आश्रय, पृ० ३३२; कोलम्बियन-पेरुवियन आश्रय मामला, पृ० ३३३।

पन्द्रहवाँ अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यक्ति (International Law and the Individual) ३३६—३४३

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति की स्थिति—तीन पक्ष, पृ० ३३६; पहला पक्ष —परम्परागत दृष्टिकोण, पृ० ३३६; दूसरा पक्ष—अतिवादी दृष्टिकोण, पृ० ३३७; तीसरा पक्ष—मध्यवर्ती दृष्टिकोण, पृ० ३३८; व्यक्ति की स्थिति को को प्रभावित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें, पृ० ३४०; न्यूरेम्बर्ग

के अभियोग, पृ० ३४०; जातिवध समझौता, पृ० ३४१; मानवीय अधिकारों की रक्षा का योरोपियन अभिसमय, पृ० ३४२।

सोलहवाँ अध्याय—राजनयिक प्रतिनिधि—राजदूत और वाणिज्यदूत (Diplomatic Agents and Consuls) ३४४—३७१

प्राचीन एवं मध्यकाल में दूत प्रथा, पृ० ३४४; राजनयिक सम्बन्धों का वियना अभिसमय, पृ० ३४५; दूतों की श्रेणियाँ और प्रकार, पृ० ३४५; (क) राजदूत, पृ० ३४६; (ख) पूर्णाधिकार मन्त्री तथा असाधारण दूत, पृ० ३४७; (ग) निवासी मन्त्री पृ० ३४७; (घ) कार्यदूत, पृ० ३४७; दूतों की नियुक्ति, पृ० ३४८; स्वीकरणीय व्यक्ति, पृ० ३५०; दूतों के कार्य, पृ० ३५१; दूतों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, पृ० ३५२; वैयक्तिक सुरक्षा तथा अवध्यता, पृ० ३५२; राज्यक्षेत्रबाह्यता, पृ ३५६; फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, पृ० ३५८; दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, पृ० ३५९; गवाही देने के कार्य से मुक्ति, पृ० ३६१; करों से मुक्ति, पृ० ३६१; उपासना का अधिकार, पृ० ३६२; पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता, पृ० ३६२; सीमित क्षेत्राधिकार, पृ० ३६२; दूत के अनुयायी वर्ग के विशेषाधिकार, पृ० ३६२; उन्मुक्तियों का आरम्भ और समाप्ति, पृ० ३६३; दौत्यकार्य की समाप्ति के कारण, पृ० ३६४; वाणिज्यदूत, पृ० ३६७; वाणिज्यदूत विषयक सम्बन्धों का १९६३ का वियना अभिसमय, पृ० ३६९।

सत्रहवाँ अध्याय—सन्धियाँ (Treaties) ३७२—३९०

सन्धियों का स्वरूप, पृ० ३७२; सन्धि और संविदा, पृ० ३७२; सन्धिवाची कुछ शब्द, पृ० ३७३; (१) अभिसमय, पृ० ३७३; (२) प्रोतोकोल, पृ० ३७३; (३) समझौता, पृ० ३७३; (४) व्यवस्था, पृ० ३७४; (५) प्रामाणिक विवरण, पृ० ३७४; (६) परिनियम, पृ० ३७४; (७) घोषणा, पृ० ३७४; (८) अस्थायी प्रणाली, पृ० ३७४; (९) संपत्रों का विनिमय, पृ० ३७४; (१०) चरम कानून, पृ० ३७४; (११) सामान्य कानून, पृ० ३७४; सन्धि सम्पादन के आठ आवश्यक अंग, पृ० ३७५; सह-मिलन और अभिलग्नता, पृ० ३७६; सन्धि का लागू होना, पृ० ३७६; पंजीकरण और प्रकाशन, पृ० ३७७; सन्धियों का क्रियान्वयन, पृ० ३७७; सन्धि की बनावट, पृ० ३७७; सन्धियों का वर्गीकरण, पृ० ३७७; (क) राजनीतिक सन्धियाँ, पृ० ३७८; (ख) व्यापारिक सन्धियाँ, पृ० ३७८; (ग) सामाजिक सन्धियाँ, पृ० ३७९; (घ) दीवानी न्यायसम्बन्धी सन्धियाँ, पृ० ३७९; (ङ) फौजदारी न्यायविषयक सन्धियाँ, पृ० ३७९; अवैध सन्धियाँ, पृ० ३७९; सन्धिपालन का उपाय, पृ० ३८०; सन्धिविषयक दो सिद्धान्त : (क) सन्धियों की पवित्रता, ३८१; (ख) स्थिति की अपरिवर्तनशीलता, पृ० ३८२; सन्धियों की समाप्ति, पृ० ३८५; सन्धियों पर

युद्ध छिड़ने का प्रभाव, पृ० ३८६; सन्धियों की व्याख्या के सामान्य सिद्धान्त, पृ० ३८६; (१) व्याकरणीय व्याख्या और दोनों पक्षों का इरादा, पृ० ३८७; (२) सन्धि का उद्देश्य और प्रकरण, पृ० ३८७; (३) तर्कानुकूलता तथा संबद्धता, पृ० ३८८; (४) प्रभावशालिता का सिद्धान्त, पृ० ३८८; (५) बाह्य सामग्री की सहायता, पृ० ३८८; उदार व्याख्या, पृ० ३८९।

अठारहवाँ अध्याय—संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization) ३९१—४०४

संघ के विचार का उद्भव और विकास, पृ० ३९१, संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य और प्रयोजन, पृ० ३९२; मौलिक सिद्धान्त, पृ० ३९२; सदस्यता, पृ० ३९३; संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग, पृ० ३८३; सामान्य असेम्बली,. पृ० ३९३; छोटी असेम्बली, पृ० ३९५; शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव, पृ० ३९५; सुरक्षा परिषद्, पृ० ३९७; वीटो, पृ० ३९८; आर्थिक और सामाजिक परिषद्, पृ० ४००; न्यास के विचार का विकास तथा न्यास परिषद् पृ० ४०२; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, पृ० ४०३; सचिवालय, पृ० ४०४।

उन्नीसवाँ अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Tribunals) ४०५—४२३

पंचनिर्णय का स्थायी न्यायालय, पृ० ४०५; अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय, पृ० ४०६; न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, पृ० ४०७; क्षेत्रा-धिकार—(१) ऐच्छिक, पृ० ४०८; (२) आवश्यक, पृ० ४०८; (३) परामर्शात्मक, पृ० ४०९; कोरफू चैनल मामला, पृ० ४०९; मोरक्को में अमरीकी राष्ट्रजनों के उत्तराधिकार, पृ० ४०९; एंग्लो-नार्वेजियन मछली-गाह मामला, पृ० ४१०; सं० रा० संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में जनरल असेम्बली का अधिकार, पृ० ४१०; द० प० अफ्रीका का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा, पृ० ४१०; हया डी ला टार्रे का मामला, पृ० ४११; पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरने का अधिकार, पृ० ४११; प्रीह् विहीर का मामला, पृ० ४१३; मध्यपूर्व तथा कांगो में सं० रा० संघ की कार्यवाही पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में परामर्शात्मक सम्मति, पृ० ४१६; दक्षिण अफ्रीका के मामले, पृ० ४१७; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन, पृ० ४२२।

बीसवाँ अध्याय—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा (Settlement of International Disputes) ४२४—४३९

मैत्रीपूर्ण साधन, पृ० ४२४; (१) वार्त्ता, पृ० ४२४; (२) सत्सेवा और मध्यस्थता, पृ० ४२५; (३) संराधन, पृ० ४२६; (४) अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग, पृ० ४२७; (५) पंचनिर्णय, पृ० ४२८; (६) अधिनिर्णय, पृ० ४३०; (७) राष्ट्रसंघ और सं० रा० संघ द्वारा विवादों का निबटारा,

पृ० ४३१; बाध्यकारी साधन, पृ० ४३२; (क) प्रतिकर्म, पृ० ४३३; (ख) प्रत्यपहार, पृ० ४३३; (ग) अधिरोध, पृ० ४३७; (घ) शान्तिमय आवेष्टन, पृ० ४३७; (ङ) हस्तक्षेप, पृ० ४३८।

तीसरा भाग

युद्ध के नियम

इक्कीसवाँ अध्याय—युद्ध और इसके प्रभाव (War and its Effects) ४४३—४६३

युद्ध का स्वरूप, पृ० ४४३; युद्ध की वैधता के विचार की समाप्ति, पृ० ४४४; युद्धों के प्रकार, पृ० ४४४; समग्र युद्ध, पृ० ४४६; युद्धेत्तर शत्रुता, पृ० ४४७; युद्ध का आरम्भ तथा युद्ध-घोषणा, पृ० ४४८; युद्ध के तात्कालिक प्रभाव, पृ० ४५०; (१) राजनयिक सम्बन्धों का भंग, पृ० ४५०; (२) शत्रुदेश के व्यक्ति, पृ० ४५१; (३) व्यापारिक सम्पर्क की समाप्ति, पृ० ४५३; (४) संविदाओं का प्रभाव, पृ० ४५३; (५) शत्रुदेश में युद्धकारियों की समाप्ति, पृ० ४५४; शत्रु की सम्पत्ति—(क) स्वदेश में शत्रु की सार्वजनिक शक्ति, पृ० ४५४; (ख) स्वदेश में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति, पृ० ४५५; (ग) तटस्थ देश में युद्धकारी देशों की सम्पत्ति, पृ० ४५५; (६) सन्धियों पर प्रभाव, पृ० ४५६; शत्रुरूपता या अरिप्रकृति, पृ० ४५७; (क) व्यक्तियों की शत्रुरूपता, पृ० ४५८; (ख) नियमों की शत्रुरूपता, पृ० ४५९; (ग) जहाजों की शत्रुरूपता, पृ० ४६०; (घ) नौपण्य की शत्रुरूपता, पृ० ४६२; व्यापारिक अधिवास, पृ० ४६३; राष्ट्रीयता, पृ० ४६३।

बाईसवाँ अध्याय—स्थल युद्ध के नियम (Laws of Land Warfare) ४६४—४८०

युद्ध के नियमों का विकास, पृ० ४६४; नियमों का पालन, पृ० ४६६; युद्ध के नियमों की अनुज्ञप्तियाँ, पृ० ४६७; स्थल युद्ध के उद्देश्य और साधन, पृ० ४६८; स्थल युद्ध के नियम—शत्रु के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की मर्यादा, पृ० ४६८; असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा, पृ० ४७१; अणुबमों के प्रयोग का औचित्य, पृ० ४७२; घायलों तथा मृत व्यक्तियों के साथ व्यवहार, पृ० ४७३; युद्धबन्दी, पृ० ४७५; युद्धबन्दी के बन्धन की समाप्ति के प्रकार —(१) युद्ध के समय में सीधा स्वदेश प्रत्यावर्तन, पृ० ४७८; (२) युद्ध के समय के लिए तटस्थ देशों में भेजना, पृ० ४७९; (३) पलायन, पृ० ४७९; (४) मृत्यु, पृ० ४७९; (५) युद्ध की समाप्ति पर बन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्तन, पृ० ४७९।

तेईसवाँ अध्याय—समुद्री युद्ध के नियम (Laws of Wartime Warfare) ४८१—४८८

समुद्री युद्ध के उद्देश्य, पृ० ४८१; समुद्री युद्ध के नियमों का विकास, पृ०

४८१; शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण; पृ० ४८२; चिकित्सालय पोत, पृ० ४८३; धार्मिक, वैज्ञानिक या परोपकारी कार्यों में संलग्न पोत, पृ० ४८४; युद्धबन्दियों के विनिमय के कार्य में लगे पोत, पृ० ४८४; शत्रु की सेवा में लगे तटस्थ जलपोत, पृ० ४८५; सांस्कृतिक सम्पत्ति को जब्त न किया जाना, पृ० ४८५; तटीय नगरों की बमवर्षा, पृ० ४८५; सुरंगें, पृ० ४८६; पनडुब्बियाँ, पृ० ४८७।

चौबीसवाँ अध्याय—अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) ४८६—४९५

अधिग्रहण न्यायालयों का अर्थ, पृ० ४८६; अधिग्रहण न्यायालयों का विकास, ४९०; अधिग्रहण न्यायालयों के कार्य, पृ० ४९०; अधिग्रहण न्यायालयों के कर्त्तव्य, पृ० ४९१; अधिग्रहण न्यायालयों का दर्जा, पृ० ४९२; अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा लागू किया जाने वाला कानून, पृ० ४९२; पाकिस्तान द्वारा स्थापित अधिग्रहण न्यायालय की वैधता, पृ० ४९४; अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की आवश्यकता, पृ० ४९५।

पच्चीसवाँ अध्याय—हवाई युद्ध के नियम (Laws of Air Warfare) ४९६—५०३

हवाई युद्ध के नियमों के मौलिक सिद्धान्त, पृ० ४९६; १८७४ का ब्रुसेल्ज़ सम्मेलन, पृ० ४९६; हेग सम्मेलन, पृ० ४९६; प्रथम विश्वयुद्ध, पृ० ४९७; वाशिंगटन सम्मेलन, पृ० ४९८; द्वितीय विश्वयुद्ध, पृ० ४९९; अणुबम का प्रयोग, पृ० ५००; पाकिस्तान द्वारा हवाई युद्ध के नियमों की अवहेलना, पृ० ५०३।

छब्बीसवाँ अध्याय—युद्धापराध (War Crime) ५०४—५१४

युद्धापराध का स्वरूप, पृ० ५०४; न्यूरेम्बर्ग अभियोगों के प्रादुर्भाव का इतिहास, पृ० ५०६; न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार, पृ० ५०७; न्यूरेम्बर्ग अभियोगों का महत्त्व तथा आलोचना, पृ० ५१०; टोकियो अभियोग, पृ० ५१२।

सत्ताइसवाँ अध्याय—युद्ध की समाप्ति तथा पूर्वावस्था (The Termination of War and Postliminium) ५१५—५२५

युद्धावसान की रीतियाँ, पृ० ५१५; (क) शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द होना, पृ० ५१५; (ख) वशीकरण, पृ० ५१६; (ग) शान्ति-सन्धि, पृ० ५१७; शान्ति-सन्धि के प्रभाव और परिणाम : पहला सामान्य प्रभाव—मैत्री सम्बन्ध की स्थापना, पृ० ५१९; दूसरा प्रभाव—जितभोगाधिकार, पृ० ५१९; तीसरा प्रभाव—सामान्य क्षमादान, पृ० ५२०; चौथा प्रभाव—मुक्ति पृ० ५२०; पाँचवाँ प्रभाव—युद्धावस्था की समाप्ति, पृ० ५२१; पूर्वावस्था का अभिप्राय, पृ० ५२२; पूर्वावस्था के प्रभाव : (क) वस्तुओं को पूर्वावस्था प्राप्त होना, पृ० ५२३; (ख) वैध कार्यों की वैधता, पृ० ५२३; (ग) अवैध कार्यों की अवैधता, पृ० ५२३; इस नियम की मर्यादायें, पृ० ५२४; हैस कैसल का मामला, पृ० ५२४।

अट्ठाइसवाँ अध्याय—तटस्थता (Neutrality) ५२६—५५७

लक्षण, पृ० ५२६; तटस्थता की विशेषताएँ, पृ० ५२७; तटस्थता के विचार का विकास, पृ० ५२८; सशस्त्र तटस्थता, पृ० ५२६; हेग अभिसमय, पृ० ५३२; लन्दन की घोषणा, पृ० ५३३; प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थता, पृ० ५३३; राष्ट्रसंघ और तटस्थता, पृ० ५३४; १६२८ के केलाग-ब्रीयाँ पैक्ट (पेरिस-पैक्ट) अथवा युद्ध परित्याग की सामान्य सन्धि, पृ० ५३५; द्वितीय विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियम से सम्बद्ध दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, पृ० ५३८; सं० रा० संघ का चार्टर और तटस्थता, पृ० ५३६; तटस्थता के औचित्य का आधार, पृ० ५४०; तटस्थता के प्रकार : पहला प्रकार स्थायी या सनातन तटस्थता, पृ० ५४२; दूसरा प्रकार सामान्य और आंशिक तटस्थता, पृ० ५४२; तीसरा प्रकार ऐच्छिक तथा अभिसमयात्मक तटस्थता, पृ० ५४२; चौथा प्रकार सशस्त्र तटस्थता, पृ० ५४३; पाँचवाँ प्रकार परोपकारी तटस्थता, पृ० ५४३; छठा प्रकार पूर्ण अथवा निरपेक्ष तथा अपूर्ण, सापेक्ष या विशिष्ट तटस्थता, पृ० ५४३; सातवाँ प्रकार ताटस्थ्य तुल्यता, पृ० ५४४; तटस्थ तथा युध्यमान देशों के अधिकार और कर्त्तव्य, पृ० ५४५; तटस्थ देशों के कर्त्तव्य : (१) परिवर्जन के कर्त्तव्य, पृ० ५४५; (२) निवारण के कर्त्तव्य, पृ० ५४६; (३) मूकसहमति के कर्त्तव्य, पृ० ५४८; तटस्थ राज्यों के अधिकार, पृ० ५४८; फ्लोरिडा, पृ० ५४६; युद्धकारी राष्ट्रों के अधिकार, पृ० ५५१; अंगरी, पृ० ५५१; अंगरी का आधुनिक स्वरूप, पृ० ५५२; अतटस्थ सेवा, पृ० ५५३; अतटस्थ सेवा के परिणाम, पृ० ५५५; अतटस्थ सेवा के मामले, पृ० ५५५।

उनतीसवाँ अध्याय—परिवेष्टन (Blockade) ५५८—५६८

परिवेष्टन का स्वरूप, पृ० ५५८; पेरिस तथा लन्दन की घोषणायें, पृ० ५५६; परिवेष्टन के विभिन्न रूप, पृ० ५६०; परिवेष्टन योग्य स्थान, पृ० ५६१; वास्तविक परिवेष्टन की आवश्यक शर्तें, पृ० ५६२; परिवेष्टन की समाप्ति, पृ० ५६३; परिवेष्टन का भंग, पृ० ५६३; परिवेष्टन भंग करने के परिणाम, पृ० ५६४; परिवेष्टन के मामले, पृ० ५६४; विश्वयुद्धों में परिवेष्टन के नियम—लम्बी दूरी का आवेष्टन, पृ० ५६५; परिवेष्टन का भविष्य, पृ० ५६८।

तीसवाँ अध्याय—विनिषिद्ध के नियम (Contraband) ५६६—५८६

विनिषिद्ध का स्वरूप और लक्षण, पृ० ५६६; वस्तुओं का वर्गीकरण, पृ० ५७०; पूर्ण तथा सापेक्ष विनिषिद्ध, पृ० ५७२; पूर्ण निषिद्ध, पृ० ५७३; सापेक्ष या अवस्थानुसार विनिषिद्ध, पृ० ५७३; खाद्य पदार्थ, पृ० ५७४; भारवाही पशु, पृ० ५७६; कोयला, पृ० ५७६; धनराशि, पृ० ५७६; रुई, पृ० ५७६; विरोधी गम्यस्थान, पृ० ५७७; विनिषिद्ध की दण्ड व्यवस्था, पृ० ५७८; परिवेष्टन और विनिषिद्ध, पृ० ५७६; अविच्छिन्न समुद्री यात्रा

का सिद्धान्त, पृ० ५८०; १७५६ के युद्ध का नियम, पृ० ५८४; निरीक्षण और तलाशी का अधिकार, पृ० ५८५; निरीक्षण की प्रक्रिया, पृ० ५८५; तलाशी, पृ० ५८६; तलाशी के लिए जहाजों को बन्दरगाहों में लाना, पृ० ५८७; नौ-प्रमाण पत्र, पृ० ५८७; निरीक्षण व तलाशी के मामले, पृ० ५८८।

प्रथम परिशिष्ट—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्वपूर्ण मामले ५६०—६३४

(क) विदेशी न्यायालयों के मामले

(१) चुंग ची चेउंग विरुद्ध राजा ५६०
(२) वैस्ट रैण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी विरुद्ध राजा ५६२
(३) दी पाक्वेट हबाना और लोला ५६४
(४) चरकियेह ५६५
(५) हेलसिलासी विरुद्ध केबल एण्ड वायरलेस लिमिटेड ५६५
(६) स्टीमशिप अरन्तज़ाज़ू मेन्दी विरुद्ध स्पेन की गणराज्य सरकार ५६७
(७) मिघेल बनाम जोहोर का सुलतान ५६८
(८) स्टीमशिप लोटस ५६६
(९) दी वर्जिनियस ६०३
(१०) क्रिस्टीना ६०५
(११) दी स्कूनर एक्सचेंज विरुद्ध मैकफैड्डन ६०६
(१२) कोर्फू चैनल का मामला ६०७
(१३) श्री सावरकर का मामला ६१०
(१४) सैब्बाटिनो का मामला ६११
(१५) ट्रैण्ट काण्ड ६१२
(१६) ज़मोरा ६१२
(१७) एप्पम ६१५
(१८) आल्टमार्क ६१६
(१९) असमा मारू ६१८
(२०) अलबामा क्षतिपूर्ति दावा ६१८
(२१) फ्रांसिस्का ६२०

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भारतीय मामले

(२२) डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी विरुद्ध कमिश्नर आफ इन्कमटैक्स ६२१
(२३) मद्रास राज्य विरुद्ध राजगोपालन ६२२
(२४) रावजी अमरसिंह विरुद्ध राजस्थान की सरकार ६२३
(२५) यूनियन आफ इण्डिया विरुद्ध चमनलाल लूना ६२४
(२६) पेमाछिबर उर्फ प्रेमाभाई छीबाभाई लंगल विरुद्ध यूनियन आफ इण्डिया एण्ड अदर्स ६२४

(२७) रायल नैपाल एयरलाइन्स विरुद्ध मनोरमा मेहरसिंह लेगर ६२६
(२८) कमिश्नर ग्राफ इन्कम टैक्स आन्ध्र प्रदेश विरुद्ध एच० ई० एफ० मीर उस्मान अली बहादुर ६२८
(२९) सैण्ट्रल बैंक ग्राफ इंडिया लिमिटेड विरुद्ध रामनारायण ६३०
(३०) दी स्टेट ग्राफ वैस्ट बंगाल विरुद्ध जुगल किशोर मोर ६३१
द्वितीय परिशिष्ट—प्राचीन भारत के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम ६३५—६४५
तृतीय परिशिष्ट—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन में उपयोगी ग्रन्थ-सूची ६४६—६५२
अनुक्रमणिका ६५३—६६७

प्रथम अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास

(Historical Development of International Law)

विषय का महत्व—वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन कई दृष्टियों से असाधारण महत्व रखता है। इस समय वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा यातायात एवं संचार के साधनों में अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इनसे तथा अन्तरिक्षगामी राकेटों, स्पूतनिकों और चन्द्रगामी ल्यूनिकों द्वारा देश और काल की दूरी पर विलक्षण विजय पायी जा रही है। इनके कारण तथा आधुनिक जीवन की अन्य परिस्थितियों से सब देशों के सम्बन्ध एक दूसरे के साथ बढ़ रहे हैं, एक दूसरे पर निर्भरता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक, शैक्षणिक, राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ हो रहे हैं कि इस समय कोई भी सभ्य राष्ट्र दूसरे राज्यों से सर्वथा पृथक् रह कर न तो अपना जीवनयापन कर सकता है और न ही किसी प्रकार की कोई उन्नति कर सकता है। पिछले दो विश्वयुद्धों ने यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण असाधारण महत्व रखते हैं। अब यह समझा जाने लगा है कि जिस प्रकार विभिन्न राज्यों में मनुष्यों ने अनेक नियमों तथा कानूनों का निर्माण करके समाज में शान्ति स्थापित की है, अराजकता का अन्त किया है, मात्स्य न्याय की समाप्ति की है, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बलवान् राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों को हड़पे जाने से रोकने के लिये और विश्व-शान्ति बनाये रखने के लिये कुछ नियमों, परम्पराओं और प्रथाओं का पालन आवश्यक है। जिस प्रकार एक राज्य में रहने वाले व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध और व्यवहार उस राज्य के देशीय या राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) से नियन्त्रित होते हैं, वैसे ही विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा संचालित होने चाहियें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्गम—वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून या विधि (International Law) की परिभाषा के १७८० ई० में सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री जेरेमी बैन्थम (१७४८–१८३२) को दिया जाता है। उससे पहले राष्ट्रों के अन्योन्य सम्बन्ध और पारस्परिक सम्पर्क को नियन्त्रित करने वाले नियमों को लैटिन में राष्ट्रों का कानून (Droit des gens) कहा जाता था। बैन्थम ने इसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Droit entere les gens) की परिभाषा का प्रयोग करने को कहा और इसका कारण बताते हुए कहा कि यह पहली परिभाषा की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और सुबोध है।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस शास्त्र का उद्गम भी बैन्थम के

साथ हुआ। ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है, जो इसे सर्वथा आधुनिक काल में विकसित हुआ शास्त्र मानते हैं। श्री लारेन्स ने तो यहाँ तक लिखा है कि प्राचीन काल के योरोपियन राज्यों के पास तटस्थता (Neutrality) का अभिप्राय प्रकट करने के लिये कोई शब्द तक नहीं था। श्री अल्फ्रेड जिमर्न का मत है कि "१९१४ से पहले विभिन्न राज्य तटस्थता रूपी गगन में बड़ी भव्यता के साथ परिभ्रमण करने वाले ऐसे नक्षत्र थे कि उनके भ्रमणमार्ग या कक्षायें कभी-कभी आपस में टकराती थीं और इनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ थोड़े से ही नियम बने थे"।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकतम विकास आधुनिक युग में हुआ है, किन्तु प्राचीनकाल में इसके बीज अवश्य पाये जाते हैं। मानव समाज के आविर्भाव के समय से ही इसमें एकीकरण और पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर मनुष्य ने आत्मरक्षा और विकास के लिये नियमों और कानून के क्षेत्र को विस्तीर्ण करते हुए शनैः-शनैः परिवार, जनजाति (Tribe) नगर-राज्य (City-State), राज्य और साम्राज्य का संगठन किया ; दूसरी ओर ये परिवार, जनजातियाँ और राज्य एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। इनसे विभिन्न जातियों तथा राज्यों का उत्थान और पतन होता रहा। उपर्युक्त प्रवृत्तियों के संघर्ष से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक विचारों का उदय मानव समाज के उषाकाल में ही हो गया। काब्बेट ने लिखा है—"पुरातत्व और मानवविज्ञान ने हमें यह बताया है कि मनुष्य कई हजार वर्ष पहले ही समूह बना कर रहने लगा था, ये समूह अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था रखते थे और अन्य समूहों के साथ अपना सम्पर्क रखते हुए कुछ निश्चित नियमों का पालन करते थे। यूनान के नगर-राज्यों द्वारा अपने संघ (Leagues) तथा मैत्रीसन्धियाँ करने तथा मध्यस्थों को अपने विवाद सौंपने से बहुत पहले, राजा अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि-मण्डलों द्वारा राजनैतिक चर्चा करने लगे थे, सन्धियों का निर्माण करते थे, युद्धों की घोषणा करते थे तथा कुछ निश्चित नियमों के अनुसार लड़ाई किया करते थे"।[2] हालैण्ड ने यह ठीक ही लिखा है कि प्राचीनकाल के राष्ट्र स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रधान रूप से तीन प्रकार के नियम स्वीकार करते थे—(१) राजदूतों के विशेषाधिकार, (२) सन्धियाँ, (३) युद्ध की घोषणा तथा उसके संचालन के नियम।[3] अतः यह स्पष्ट है कि मानव समाज में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है, विभिन्न देशों के व्यापारिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्पर्क ने तथा युद्धों ने इसके विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

विकास के तीन युग—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास को श्री लारेन्स ने तीन युगों में बाँटा है—

(१) प्रथम युग—मानव इतिहास के उषा-काल से रोमन साम्राज्य की स्थापना

---

१. अल्फ्रेड जिमर्न—दी लीग आफ नेशन्स एण्ड दी रूल आफ ला, पृ० ९८

२. पी० ई० काब्बेट—ला एण्ड सोसाइटी इन दी रिलेशन्स आफ स्टेट्स, पृ० ४

३. हालैण्ड—इण्टरनेशनल ला, अष्टम संस्करण, पृ० १०

तक—इस युग की यह विशेषता थी कि उस समय सब राज्यों में यह विश्वास प्रचलित था कि जाति या नस्ल (Race) की दृष्टि से समान होने पर ही राज्यों का एक दूसरे के प्रति कोई कर्त्तव्य है, अन्यथा कोई कर्त्तव्य नहीं है। उदाहरणार्थ, यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने यूनानी राज्यों में परस्पर युद्ध होने की दशा में इसके संचालन के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये, किन्तु यूनानियों से भिन्न बर्बर जातियों के साथ लड़ाई में इन नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं समझा।

(२) **दूसरा युग—रोमन साम्राज्य से योरोप की १६वीं शती की धार्मिक सुधारणा** (Reformation) **तक**—इस काल की यह विशेषता है कि इस समय यह माना जाता था कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन एक सामान्य उच्च शक्ति (Common Superior) द्वारा होना चाहिये। मध्यकाल में योरोप में दो ऐसी शक्तियाँ थीं—पवित्र रोमन सम्राट् तथा पोप। धार्मिक सुधारणा के साथ पोप की धार्मिक प्रभुता क्षीण हो गई और उपर्युक्त विश्वास शिथिल हो गया।

(३) **तीसरा युग—धार्मिक-सुधारणा से वर्तमानकाल तक**—इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस समय इस सिद्धान्त का प्राधान्य है कि विभिन्न राष्ट्र एक विशाल राष्ट्र-समुदाय (Community of Nations) के सदस्य हैं, इन सब के एक दूसरे के प्रति कुछ अधिकार और उत्तरदायित्व हैं। यहाँ इन तीनों युगों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

प्रथम युग (क) भारत—यहाँ प्राचीनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक नियमों का वर्णन मिलता है। इनमें दूतों की अवध्यता, युद्ध के नियम और वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में मण्डल सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। आगे यथास्थान इनका विस्तृत वर्णन होगा, यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वर्तमानकाल की भाँति उस समय भी दूत अवध्य समझा जाता था। महाभारत में यह कहा गया है कि इनको मारने वाला राजा अपने मन्त्रियों सहित नरकगामी होता है।[४] युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत को तथा उसके साथियों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जा सकती थी (नीति प्रकाश ७।६४)। आजकल की भाँति उस समय दूतों के कई वर्ग और श्रेणियाँ होती थीं। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में दूतों के तीन भेदों का वर्णन किया है—(१) **निसृष्टार्थ**—इसे दूसरे राजा को देश तथा काल के अनुसार उचित समझी जाने वाली सभी बातें कहने की पूरी स्वतन्त्रता और अधिकार होता था। पाण्डवों द्वारा दुर्योधन के पास सन्धि की चर्चा के लिये भेजे गये श्रीकृष्ण इसी प्रकार के दूत थे। यह वर्ग आजकल के राजदूत (Ambassador) के समान होता था। (२) **परिमितार्थ**—निश्चित उद्देश्य के साथ भेजा हुआ दूत (Envoy)।

४. महाभारत १०।८५।२६, दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह। दूत सम्बन्धी नियमों के लिये देखिये—वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड ५२।१५, २१, युद्धकाण्ड २५।२१; महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म १००।२७–२९, तथा ७५।२६–२७ कौटिलीय अर्थशास्त्र २।१६।

(३) **शासनहर**—यह केवल राजाज्ञाओं अथवा सन्देशों का वाहक होता था।[५]

युद्ध के नियमों के बारे में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं। कौरव पांडवों की लड़ाई शुरू होने से पहले दोनों पक्षों ने इस नियमों के सम्बन्ध में एक समझौता किया था (देखिये द्वितीय परिशिष्ट तथा भीष्मपर्व १।२६–३२)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।५।१०।१२), बौधायन धर्मसूत्र (१।१०।१०–१२), गौतम धर्मसूत्र (१०।१७–१८), मनुस्मृति (७।९०–९३), याज्ञवल्क्य (१।३२६), महाभारत (शान्तिपर्व ९५।७–१४,९६।३, ९८।४८–४९, २९७।४, द्रोणपर्व १४३।८, कर्णपर्व ९०।१११–११३, सौप्तिकपर्व ५।११–१२, ६।२१–२३), शुक्रनीति (४।७।३५४–६२), रामायण (युद्ध काण्ड १८।२७।२८) में युद्ध विषयक बड़े उदात्त और मानवीय नियमों का प्रतिपादन है। वर्तमान समय में १९०७ के **हेग के चतुर्थ समझौते** में तय किये गये नियमों से इनकी तुलना हो सकती है। जिस प्रकार हेग समझौते की धारा २३ के अनुसार विषैली गैसों तथा शस्त्रों के प्रयोग का, धोखे से मारने या घायल करने का और हथियार डाल देने वाले व्यक्ति को मारने का निषेध किया गया था, इसी प्रकार मनु ने कहा है—युद्ध में शत्रुओं को धोखा देने वाले कूट हथियारों (ऊपर से लकड़ी के खोल वाले किन्तु इसके अन्दर गुप्त रूप से लोहे के तेज हथियार रखने वाले) से लड़ाई न करे, यह लड़ाई लोहे की नोक वाले (कर्णी), विष से बुझे हुए तथा जलती हुई आग वाले बाणों द्वारा नहीं होनी चाहिये। रथ से उतर कर जमीन पर आये, नपुंसक (प्राणदान के लिए), हाथ जोड़ने वाले, (प्राण बचाकर भागने में) खुले बालों वाले तथा 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कहने वाले को, सोये हुए, कवच खोले हुए, नग्न, निःशस्त्र, न लड़ने वाले तथा लड़ाई देखने के लिए आये दर्शक, टूटे हथियार वाले, पुत्रादि के शोक से पीड़ित, बहुत अधिक घायल, डरे हुए तथा युद्ध से विमुख होकर भागने वाले को नहीं मारना चाहिए।[६] महाभारत (शान्तिपर्व) में युद्ध में बूढ़े, बच्चे, स्त्री तथा आत्मसमर्पण करने वालों को मारने का निषेध किया है और यह कहा गया है कि शत्रु सैनिक के घायल होने पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए तथा अच्छा होने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए।[७] एक आधुनिक विधिशास्त्री आर्थर नसबौम (Arthur Nusbaum) ने यह लिखा है कि मनु के ये नियम युद्ध सम्बन्धी विषयों में अत्यधिक मानवीयता को प्रदर्शित

५. अर्थशास्त्र १।१६, याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२८ की टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं क्षमाः। उक्तमात्रं ये परस्मै निवेदयन्ति ते संदिष्टार्थाः। शासनहरास्तु राजलेखहारिणः।

६. मनुस्मृति ७।९०–९६ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्। न कर्णिभिर्नापिदिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥ न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृतांजलिम्। न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्। न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्। नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्। न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्।

७. शान्तिपर्व ९८।४८–४९ वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न स्त्री न चैव पृष्ठतः। तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥

करते हैं।[८] इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन नियमों का प्राचीन भारत में सदा पालन नहीं होता था। महाभारत में इनके उल्लंघन के अनेक उदाहरण हैं, एकाकी वीर अभिमन्यु को अनेक महारथियों ने मिलकर मारा था। भीम ने गदायुद्ध के नियम को तोड़ा था। फिर भी सामान्य रूप से इन नियमों का पालन होता था। युद्धों के समय सैनिक मध्य युग की भाँति असैनिक जनता का क्रूरतापूर्वक संहार नहीं करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय भारत आये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने उसकी पुष्टि करते हुए लिखा था—"निकटवर्ती प्रदेश में लड़ाई होने पर भी भूमि पर खेती करने वाले कृषक किसी प्रकार के भय से आतंकित नहीं होते क्योंकि युद्ध करने वाले कृषि में लगे हुए व्यक्तियों के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते।"[९]

प्राचीनकाल में युद्धों के दो भेद किये जाते थे—धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध। धर्मयुद्ध में उपर्युक्त नियमों का पूरा पालन किया जाता था, कूटयुद्ध में सब प्रकार की धोखेबाजी और छल के प्रयोग की अनुमति थी, उपर्युक्त नियमों का पालन आवश्यक नहीं था। कौटिल्य ने कहा कि शक्तिशाली होने पर धर्मयुद्ध ही करना चाहिए। (अधिकरण १०, अध्याय ३)। भीष्म (महाभारत शान्तिपर्व) और शुक्र का यह मत है कि धर्म एवं कूट दोनों प्रकार के युद्धों से शत्रु का संहार करना चाहिये। श्री राम और लक्ष्मण ने छल से ही बालि तथा मारीच को मारा था[९a]। भारत में कूटयुद्धों की प्रथा प्रचलित होने पर भी सुदूर पूर्व के अन्य देशों के समान यहाँ अमानवीय और नृशंसतापूर्ण कार्य नहीं होते थे। यहाँ किसी राजा ने थूतमोज तृतीय (Thutmoses III) अथवा असुरनजरपाल की भाँति मानवीय खोपड़ियों से दीवारें बनाने की डींग नहीं हांकी थी अथवा नगर के द्वारों और दुर्ग को दीवारों को पराजित शत्रुओं की खालों से अलंकृत नहीं किया था।[१०] यहाँ इस बात पर बहुत बल दिया गया कि राजा को अधर्म द्वारा राज्य जीतने की इच्छा कभी

८. आर्थर नसबौम—ए कन्साइज हिस्टरी आफ दी ला आफ नेशन्स, पृ० ६

९. मेक्रिण्डल—एन्शेण्ट इण्डिया एज रिकार्डिड बाइ मेगस्थनीज फ्रैगमैण्ट १, पृ० ३२। नसबौम ने यह लिखा है कि यह विश्वास करना कठिन है कि वास्तविक युद्धों में उपर्युक्त नियमों का कोई बड़ा महत्व था, क्योंकि इन नियमों को सुदृढ़ बनाने के लिये कोई कानूनी अनुज्ञप्तियाँ (Legal Sanction) नहीं थीं। इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिये कि उस समय कानूनी दण्डों की अपेक्षा धार्मिक दण्डों का अधिक महत्व था। परलोक बिगड़ने और नरकगामी होने की नैतिक अनुज्ञप्ति (Moral sanction) कानूनी अनुज्ञप्तियों से अधिक प्रबल थी। इसके भय से लोग उपर्युक्त नियमों का पालन करने के लिये बाधित होते थे। मनु ने नैतिक अनुज्ञप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सैनिक संग्राम में भयभीत और पराङ्मुख व्यक्ति को मारता है उसे अपने स्वामी का सारा पाप लगता है (७।९४)।

९a. शुक्रनीति १।३५०, धर्मयुद्धैः कूटयुद्धैर्हन्यादेव रिपुं सदा। १।३५९ रामकृष्णेन्द्रादिदेवैः कूटमेवाहतं पुरा। कूटेन निहतो बालिर्यवनो नमुचिस्तथा।

१०. अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० २२१

नहीं करनी चाहिये ।[११]

अपने पड़ोसी देशों के साथ बरती जाने वाली वैदेशिक नीति का परिचय हमें **मण्डल** के प्रसिद्ध सिद्धान्त से मिलता है । इसका अनेक प्राचीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है ।[१२] यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने राज्य को बढ़ाने की तथा विजय करने की इच्छा रखने वाले (विजिगीषु) राजा के राज्य की सीमा के साथ लगा हुआ सामने वाला पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु (अरि) होगा, किन्तु इससे अगला राज्य उसके शत्रु (अरि) का मित्र होने से अरि का मित्र होगा, किन्तु इसके बाद वाला इसी प्रकार उसके मित्र का मित्र और अगला राजा अरिमित्र का मित्र होगा । ये पाँच राज्य तो विजिगीषु के राज्य के सामने वाली दिशा (पुरस्तात्) में हुए, इसी तरह उसके पीछे (पश्चात्) भी कुछ राज्य होते हैं, इनमें से एकदम पिछले राज्य को पार्ष्णिग्राह (पार्ष्णि अर्थात् एड़ी को पकड़ने वाला) कहा जाता है । वह भी स्वाभाविक रूप से शत्रु होगा, उसे यह नाम इसलिए दिया गया है कि जब विजिगीषु विजय के लिए आगे बढ़ता है तो वह पीछे से उसके राज्य में गड़बड़ उत्पन्न करता है । पार्ष्णिग्राह से अगला राज्य आक्रन्द कहलाता है, इसे यह नाम देने का यह कारण है कि यह ऐसा होता है जिसकी सहायता पाने के लिए विजिगीषु पुकार (आक्रन्द) करता है । यह सामान्य रूप से पार्ष्णिग्राह का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र होगा । आक्रन्द के बाद का राजा पार्ष्णिग्राह का मित्र होने से पार्ष्णिग्राहासार तथा इससे अगला राजा आक्रन्द का मित्र होने के आक्रन्दासार कहलाता है । इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के राज्य भी हैं— मध्यम तथा उदासीन । मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु तथा अरि के राज्यों की सीमा के साथ लगा हुआ है, मध्यम दोनों की चाहे वे मिले हुए (संहत) हों या शत्रु हों—सहायता करने में समर्थ होता है और इन दोनों के आपस में न मिले होने की दशा में दोनों का मुकाबिला कर सकता है । उदासीन राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि तथा मध्यम तीनों राज्यों की सीमाओं से परे होता है, यह बहुत प्रबल होता है, उपर्युक्त तीनों के परस्पर मिले होने या न मिले होने की दशा में वह उनकी सहायता कर सकता है और उनके परस्पर न मिले होने की दशा में से प्रत्येक का मुकाबिला कर सकता है । इस प्रकार बारह राजाओं का यह समूह मण्डल कहलाता है । श्री पाण्डुरंग वामन काणे द्वारा दिये गये निम्नलिखित चित्र से इन बारह राज्यों की स्थिति स्पष्ट हो जायगी ।[१६]

११. महाभारत—१२।९६।१—३ नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत पृथ्वीपतिः । अधर्मविजयं लब्ध्वा कोऽनुमन्यते भूमिपः । अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।

१२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण ६, अध्याय २ तथा अधिकरण ७, मनु ७।१५४—२११, महाभारत, आश्रमवासिपर्व ६—७, याज्ञवल्क्यस्मृति १।३४५—३४८, कामन्दक ८ से ११ अध्याय, अग्निपुराण अध्याय २३३ तथा २४०, नीतिवाक्यामृत पृ० ३१७—३४४, राजनीतिप्रकाश पृ० ३१६—३३०, नीतिमयूख पृ० ४४—४६ ।

१६. पाण्डुरंग वामन काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० २२२

	उदासीन								
अरिमित्र मित्र	मित्रमित्र	अरिमित्र	मित्र	अरि	विजिगीषु	पार्ष्णिग्राह	आक्रन्द	पार्ष्णिग्राहासार	आक्रन्दासार

मण्डल सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि किसी राजा के पड़ोसी राजा उसके शत्रुओं और इन पड़ोसी राजाओं के अगले पड़ोसी इनके वैरी होने से पहले राजा के मित्र हों, वे उसके साथ मिलकर मध्यवर्ती राजाओं को चक्की के दो पाटों में गेहूं की तरह पीस सकते हैं। अतः पहले राजा की उनके साथ मैत्री होना स्वाभाविक है। मण्डल सिद्धान्त में इसी के आधार पर राज्य की वैदेशिक नीति संचालित करने तथा दूसरे देशों को अपना मित्र बनाने पर बल दिया गया है।

कौटिल्य ने सामुद्रिक युद्ध के कुछ नियमों का उल्लेख किया है। उसने नावाध्यक्ष के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा है कि वह चोर डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर दे, इसी प्रकार शत्रु के देश को जाने वाली, बाजार के तथा बन्दरगाह के नियमों का उल्लंघन करने वाली नौकाओं का विध्वंस कर देना चाहिये।[१४] भारत का मध्यकाल में यूरोपियन राज्यों से तथा उनकी विचारधारा से कोई सम्बन्ध नहीं था, अतः वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर भारत का प्रभाव नगण्य-सा ही है।

(ख) प्राचीन मध्यपूर्व के राज्य—चौथी सहस्राब्दी ई० पू० से मध्यपूर्व के राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और कानून के कुछ प्रमाण मिलने लगते हैं। ३१०० ई० पू० में लगश तथा उम्मा के मेसोपोटामियन नगर-राज्यों में सीमा के सम्बन्ध में हुई एक संधि का वर्णन करने वाला एक प्रस्तर अभिलेख मिला है। इसमें पराजित उम्मा जाति ने पाँच शक्तिशाली सुमेरियन देवी-देवताओं की शपथ लेते हुए दोनों की सीमावर्ती खाई और पत्थर को न लांघने की प्रतिज्ञा की है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसमें पंच निर्णय (arbitration) का भी वर्णन है, क्योंकि लगश तथा उम्मा के बीच सीमासूचक पत्थर की स्थापना इनके समीपवर्ती किश राज्य के राजा मेसिलिम ने की थी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० से मिट्टी की मुहरों पर तथा पत्थर पर खुदी हुई अनेक संधियाँ उपलब्ध हुई हैं। ये मिश्री तथा हिट्टाइट शासकों के मध्य में हुई हैं और इनका प्रधान विषय सीमा विवाद का निर्णय, शान्ति स्थापना और मैत्री स्थापित करना है। इनमें सबसे प्रसिद्ध संधि १२७९

१४. अर्थशास्त्र २।२८। १४-१५ हिंस्रिका निर्घातयेत्। अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च ।।

ई०पू० में मिश्र के राजा रेमसीज़ (Ramses II) और हिट्टाइट राजा हतुसिली के मध्य हुई थी, इसमें यह व्यवस्था की गई है कि एक राज्य में अपराध करने के बाद जो अपराधी दूसरे राज्य में भाग जायें, उन्हें पकड़कर पहले राज्य को लौटा दिया जाय। सम्भवत: प्रत्यर्पण (Extradition) का यह प्राचीनतम उल्लेख है। इसमें दोनों राजाओं ने एक दूसरे के आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने की प्रतिज्ञा की है और इसके लिए अनेक मिश्री और हिट्टाइट देवताओं को साक्षी बनाया है।[१५]

यहूदियों के साहित्य में भी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का कुछ वर्णन है। पुराने अहदनामे (Old Testament) की एक पुस्तक डिट्रानमी में युद्ध में स्त्रियों तथा बच्चों को मारने का निषेध है। इनमें धर्म की रक्षा के लिये पवित्र युद्ध करने का विधान है। विषम परिस्थितियों में भी शत्रु को दिये गये वचन के प्रतिपालन पर बल दिया गया है। (इसीहा ८।६)।

(ग) यूनान—प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में यूनानियों ने उत्कृष्ट कोटि की सभ्यता का विकास किया। वर्तमान टर्की और यूनान के प्रदेश में इनके अनेक लघु नगर-राज्य थे। इन सब की नस्ल, भाषा, धर्म और रीति-रिवाज एक जैसे थे। इनमें वाणिज्य का विकास होने से सामुद्रिक व्यापार के नियम बने, रोडस टापू, इसका बड़ा केन्द्र था, अत: ये नियम रोडियन कानून (Rhodian Laws) के नाम से प्रसिद्ध हैं। लारेन्स के मतानुसार इन नियमों का प्रभाव रोमन सम्राटों के सामुद्रिक तथा व्यापारिक नियमों पर पड़ा। यूनान के विभिन्न राज्यों में अनेक राजनीतिक संधियाँ होती थीं। इनमें १६वीं शताब्दी जैसी जटिल संधियाँ और संघ पाये जाते हैं। उस समय विदेशियों (Aliens) की सत्ता कानूनी तौर से स्वीकार की जाती थी। इसी प्रकार का एक वर्ग मीटिओकोई (Metoikoi) था। ये प्राय: व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए विदेशी व्यक्ति होते थे, इन्हें कानूनी रक्षा के अधिकार अन्य नागरिकों के समान प्राप्त थे, किन्तु राजनीतिक अधिकार नहीं होते थे और ये अचल सम्पत्ति (Real Estate) रख सकते थे। इनमें वर्तमान व्यापार-प्रतिनिधि (Consul) से समानता रखने वाले प्रोक्सीनोस (Proxenos) होते थे। यह प्राय: एक ऐसा प्रतिष्ठित नागरिक होता था, जिसे कोई विदेशी राज्य सरकारी तौर से अपने नागरिकों की सुरक्षा तथा अपने राज्य के अन्य राजनयिक (Diplomatic) कार्य सौंपता था।

धर्म ने यूनान की राजनीति पर बड़ा प्रभाव डाला था। कई बार किसी विशेष पवित्र धर्मस्थान की रक्षा के लिए कुछ यूनानी नगर-राज्य आपस में समझौता करके एक संघ का निर्माण करते थे। इस प्रकार के संघ एम्फिकटियनी (Amphictyony) कहलाते थे। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण यूनान के पवित्रतम मन्दिर डेल्फी (Delphi) की रक्षा के लिये बनाया गया संघ था। ये धार्मिक संघ बाद में राजनीतिक बन जाते थे। यहाँ धर्मस्थानों में शरण लेने वाले अपराधी सुरक्षित समझे जाते थे, उन्हें नहीं पकड़ा जा सकता था, आश्रयाधिकार (Right of Asylum) व्यापक रूप से स्वीकार किया

१५. आर्थर नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २-३

जाता था। सीमाओं, नदियों तथा स्रोतों के सम्बन्ध में होने वाले विवाद पंच निर्णय (Arbitration) द्वारा तय किये जाते थे।

युद्धों के सम्बन्ध में यूनानियों का दृष्टिकोण प्लेटो द्वारा सुकरात के मुँह से कहलायी हुई कुछ सूक्तियों से स्पष्ट होता है। इनके अनुसार उनका यह विचार था कि युद्ध शब्द का प्रयोग यूनानियों द्वारा अपने से भिन्न जातियों के साथ किये जाने वाले संघर्षों तक सीमित करना चाहिये। यूनानी लोगों में होने वाले संघर्ष युद्ध नहीं, किन्तु बीमारी और फूट हैं। इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु यदि यह अनिवार्य हो जाये तो इसकी उग्रता को कम करने का प्रयास होना चाहिये। इसके लिये उस समय अनेक नियम प्रचलित थे। **पहला** नियम एम्फिकटियनिक संधियों द्वारा धर्मस्थानों की सुरक्षा थी, इन्हें युद्ध में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जा सकती थी, लड़ाई से भागकर इनमें शरण ग्रहण करने वाले व्यक्ति अवध्य समझे जाते थे। **दूसरा** नियम यह था कि पुरोहित अवध्य माने जाते थे। **तीसरा** नियम यह था कि दोनों पक्षों को रणक्षेत्र में निहत होने वाले सैनिकों को विधिपूर्वक दफनाने की अनुमति थी। **चौथा** उल्लेखनीय नियम यह था कि रणक्षेत्र में विजय की स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिए पत्थर या कांसे के स्थायी स्मारक न बनाये जायें। केवल लकड़ी के स्मारक खड़े किये जा सकते थे। यह नियम इसलिए था कि शत्रुता की कोई स्थायी स्मृति नहीं होनी चाहिए। इन नियमों के होते हुए भी नसबौम ने यह स्वीकार किया है कि यूनान में मनुस्मृति के नियमों (देखिये ऊपर पृ० २०) जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी।[१६]

यूनानियों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर कोई बड़ा प्रभाव नहीं डाला। नसबौम के मतानुसार यूनानियों के उपर्युक्त अधिकांश नियम धार्मिक थे, नगर-राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी ये नियम अन्तर्राष्ट्रीय (International) न होकर अन्तर्देशीय (Intermunicipal) थे। यूनानियों को राष्ट्रों के परिवार (Family of nations) का कोई ज्ञान न था। कुछ यूनानी नियम वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं से समानता रखते हैं, किन्तु यह सर्वथा आकस्मिक और काकतालीय है। यूनानियों में कानूनी विचारों के विकास की प्रतिभा नहीं थी, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रोमन विचारक यूनानी दर्शन से प्रभावित हुए। इस प्रकार परोक्ष रीति से यूनानी विचारधारा ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर प्रभाव डाला।[१७]

दूसरा युग–रोम—पश्चिमी जगत् में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यूनान की अपेक्षा रोम का अधिक असर पड़ा। प्राचीनकाल में रोमन लोगों ने कानून के विकास में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया था। इस विषय में उनका सर्वोत्तम स्मारक बाइजैण्टाइन सम्राट् जस्टीनियन (५२७–५६५ ई०) द्वारा तैयार करवाया हुआ दीवानी नियमों का संग्रह (Corpus juris civilis) है। रोमन लोगों में यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई बड़ा महत्व नहीं था, फिर भी मध्यकाल में इसकी कानूनी पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय

१६. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९

१७. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६

कानून के विचारकों का प्रधान प्रेरणा स्रोत और आधारशिला थी।

यूनानियों की भाँति रोमन लोगों में भी सन्धि-विग्रह धार्मिक कार्य समझे जाते थे। ५६० ई० पू० में समाप्त होने वाले राजाओं के आरम्भिक युग से लड़ाई छेड़ने, सन्धि करने, कूटनीतिक वार्ता चलाने, दूत भेजने, प्रत्यर्पण आदि के अन्तर्राष्ट्रीय तथा वैदेशिक कार्य **फीशल** (Fetial) नामक बीस पुरोहितों का विशेष रूप से संगठित समुदाय (Collegium Fetialium) किया करता था। युद्ध छेड़ने के सम्बन्ध में इनका कार्य बड़ा महत्वपूर्ण होता था। युद्ध दो प्रकार के माने जाते थे—न्याय्य (Just) और अन्याय्य (Un-Just)। न्यायपूर्ण युद्धों के चार कारण थे—(१) रोमन प्रदेश का अतिक्रमण, (२) दूतों के विशेषाधिकारों का उल्लंघन, (३) सन्धियों का भंग करना, (४) अब तक मित्र बने किसी राज्य द्वारा युद्ध में शत्रु को सहायता देना। न्यायपूर्ण युद्ध उपर्युक्त कारण उपस्थित होने पर तभी किये जा सकते थे, जब जटिल धार्मिक विधान के बाद फीशल पुरोहित देवताओं को साक्षी बनाकर युद्ध के कारणों की सत्यता की घोषणा करे और चार फीशल सन्धि भंग करने वाले राज्य से इस विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त कर सकें। यदि दूसरा देश विचार के लिए समय चाहता था तो उसे तीस या तेंतीस दिन की अवधि दी जाती थी। यदि इसमें कोई समाधान नहीं हो पाता था तो फीशल यह प्रमाणित करते थे कि युद्ध के लिए न्यायोचित कारण है। सीनेट द्वारा युद्ध का निश्चय हो जाने पर एक फीशल रोमन सीमान्त से एक भाला दूसरे देश की ओर फेंकता था, इसे लड़ाई की विधिपूर्वक घोषणा समझा जाता था। ऐसा युद्ध न केवल न्यायपूर्ण अपितु पवित्र (Belum Justum et pium) समझा जाता था। रोमन लोगों को इस धार्मिक विधि द्वारा यह विश्वास होता था कि देवता युद्ध में उनका साथ देगें, इससे उनका उल्लास और मनोवल (Morale) बना रहता था। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से फीशल विषयक कानून (Jus fetiale) विशुद्ध रूप से रोम का देशीय (Municipal) कानून था, फिर भी इसमें अन्तर्राष्ट्रीय विचारों के कुछ बीज अवश्य थे। फीशल विधि-विधान तो रोम के गणतन्त्रीय युग में लुप्त होने लगे, किन्तु न्यायपूर्ण युद्ध के विचार को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी महत्ता दी जाने लगी। नसबौम ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में रोम का सबसे बड़ा अंशदान (Contribution) बताया है।[१८]

रोमन युद्ध की समाप्ति तीन प्रकार से करते थे—(क) शान्ति सन्धि द्वारा, (ख) शत्रु के समर्पण (Deditio) से, (ग) शत्रु के देश पर अधिकार या आवेशन (Occupation) द्वारा। उस समय सन्धियाँ तीन वर्गों में बाँटी जाती थीं—(अ) सौहार्द सन्धि (Treaty of Friendship or Amicitia), (आ) मैत्री सन्धि (Treaty of Alliance or foedus), (इ) आतिथ्य सन्धि (Treaty of Hospitality or Hospitium)। सन्धियाँ धार्मिक विधियों द्वारा सम्पन्न की जाती थीं। इनमें देवताओं का आह्वान और अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे, अतः इन्हें बड़ा पवित्र समझा जाता था। रोमन लोगों को किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को करने तथा सीनेट द्वारा

१८. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११

उसकी औपचारिक स्वीकृति या अनुसमर्थन (Ratification) में सूक्ष्म अन्तर का पूरा ज्ञान था। यदि कभी रोम की ओर से सन्धि करने वाला प्रतिनिधि किसी दूसरे पक्ष के साथ शपथग्रहण करके कोई समझौता करता था और बाद में यह समझौता सीनेट द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता था तो ऐसे व्यक्ति को निर्वासित करके दूसरे पक्ष के पास भेज दिया जाता था। इसका उद्देश्य सन्धिकर्ता की दैवीय प्रकोप से रक्षा करना था। उसने रोमन पक्ष की ओर से जिन देवताओं की शपथ लेकर सन्धि की थी, वे रोम द्वारा इस सन्धि के सीनेट द्वारा अस्वीकृत होने पर, स्वभावतः इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने का अधिकार रखते थे। किन्तु उस व्यक्ति के दूसरे पक्ष में चले जाने से वह व्यक्ति इस विषय में देवता के प्रकोप से मुक्त समझा जाता था। दूतों की अवध्यता प्राचीन रोम में स्वीकार की जाती थी।

रोम को अपने गणतन्त्रीय (Republican) तथा शाही (Imperial) युगों में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की बहुत कम आवश्यकता पड़ी, अतः उनमें प्रत्यक्ष रूप से इसके विकास की सम्भावना बहुत कम थी। किन्तु रोमन कानून ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर परोक्ष रीति से बड़ा प्रभाव डाला है। १६वीं १७वीं शताब्दियों में जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन और अनुसन्धान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ, उस समय पश्चिमी जगत् में रोमन कानून सर्वमान्य था। किन्तु यह कानून प्रधान रूप से वैयक्तिक (Private) था। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानन से सम्बन्ध रखने वाली कोई बात नहीं थी। फिर भी विद्वानों ने वैयक्तिक रोमन कानून के सिद्धान्तों के साथ सादृश्य रखने वाली अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में इन्हें लागू करना शुरू किया, उदाहरणार्थ वैयक्तिक स्वामित्व (Private ownership or Dominium) के नियम राज्यों की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty) के बारे में लागू किये गये। वैयक्तिक ठेकों या संविदाओं (Contracts) के नियम सन्धियों के बारे में सत्य समझे जाने लगे। रोम के वैयक्तिक कानून की अनेक परिभाषाओं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ग्रहण कर लिया गया। इसके कुछ रोचक उदाहरण निम्नलिखित हैं। स्वामीहीन किसी चल या अचल सम्पति पर स्वामित्व स्थापित करने को प्राचीन रोमन विधिशास्त्री Occupatio कहते थे, इसी से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का Occupation (आवेशन या कब्जा) शब्द बना है और यह लड़ाई में सेना द्वारा अधिकृत प्रदेश की ऐसी स्थिति सूचित करता है, जो किसी प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (Sovereign) के अधीन नहीं है। परवत्ता को सूचित करने वाला शब्द Servitude भी दासत्व वाचक रोमन शब्द Servites से निकला है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपचय (Accretion), चिरकालिक भोग (Prescription) आदि अनेक शब्दों का मूल रोमन है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण शब्द इस शास्त्र को अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन में क्रमशः Law of nations, Droit des gens तथा Volkerrecht का नाम देने वाला है, यह रोम के Jus gentium का शाब्दिक अनुवाद है। इस शब्द से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हुए हैं, अतः इनके विकास का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

जस जेन्शियम—रोम का परम्परागत प्राचीन कानून केवल रोमन नागरिकों पर

लागू होता था। यह अत्यधिक कठोर, आदिम और संकीर्ण था। इसे **दीवानी कानून** (Jus civile) कहा जाता था। रोम नगर के महत्वपूर्ण व्यापारिक और राजनीतिक केन्द्र बन जाने पर यहाँ विदेशी व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में आने लगे, ये रोमन कानून की परिधि से बाहर समझे जाते थे, २४२ ई० पू० में इनकी सत्ता स्वीकार करते हुए इनके आपसी विवादों के तथा रोमन लोगों के विदेशियों के साथ विवादों के निर्णय के लिये विशेष न्यायाधीश (Praetor peregrinus) नियत किये गये। ये विदेशियों के मामलों में रोमन कानून लागू नहीं कर सकते थे, अतः इन्होंने विदेशी एवं रोमन कानूनों के उदार एवं न्यायपूर्ण तत्वों को ग्रहण करके इनके सम्मिश्रण से एक नये प्रकार के कानून का निर्माण आरम्भ किया। इसमें जस सिविली (Jus civile) की अपेक्षा बहुत कम बन्धन, औपचारिकता और प्रतिबन्ध थे। उदाहरणार्थ, इसमें बिक्री की कानूनी कार्यवाही के लिये पाँच साक्षियों की उपस्थिति तथा अनेक लेखबद्ध जटिल विधियों का पालन आवश्यक था, किन्तु नये कानून में मौखिक रूप से की गई बिक्री के कार्य को स्वीकार कर लिया जाता था। शनैः-शनैः ये उदार नियम रोमन नागरिकों के मुकद्दमों में भी लागू किये जाने लगे और प्राचीन Jus civile से इनका भेद स्पष्ट करने के लिए नये नियमों को जस जेन्शियम (Jus gentium) कहा जाने लगा। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इसका "राष्ट्रों के आधुनिक कानून" या "अन्तर्राष्ट्रीय विधि" से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि यह विभिन्न प्रभुसत्ता-सम्पन्न, स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है और जस जेन्शियम रोम का राष्ट्रीय (Municipal) कानून था क्योंकि वह रोमन साम्राज्य में रहने वाले विदेशियों और रोमन नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता था।

रोमन साम्राज्य में रहने वाले विदेशियों के कानून के अतिरिक्त, **जस जेन्शियम** शब्द का प्रयोग प्राचीन रोम में एक दूसरे अर्थ में भी होता था। इस अर्थ में यह सब देशों में पाये जाने वाले सार्वभौम नियम का वाचक है। जस्टीनियन द्वारा बनवाये गये रोमन कानून संग्रह (corpus juris) के आरम्भ में ही दूसरी शताब्दी ई० के एक विधिशास्त्री गेयस (Gaius) की यह उक्ति उद्धृत की गई है कि जस सिविली तो प्रत्येक जनता (Populus) द्वारा बनाया गया कानून है और जस जेन्शियम वह कानून है जो प्राकृतिक तर्क (Natural reason) द्वारा सब मनुष्यों (Homines) के लिये बनाया गया है और जिसका पालन सब राष्ट्र (Gentes) करते हैं। यह इसका दार्शनिक अर्थ है। इसके ऐतिहासिक अर्थ में तो रोमन साम्राज्य में विदेशियों के साथ बरता जाने वाला कानून आता है, किन्तु दार्शनिक अर्थ में सब जगह पाये जाने वाले विवाह, सम्पत्ति की सुरक्षा आदि के अनेक कानून आ जाते हैं, इनमें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले दूतों की अवध्यता, युद्ध की लूट के बँटवारे आदि के नियम भी सम्मिलित किये जाते हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जस जेन्शियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून है क्योंकि दार्शनिक अर्थ में भी इसका अधिकांश भाग किसी भी राष्ट्र में पाये जाने वाले कानूनों से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में जस जेन्शियम का प्रयोग १७वीं शताब्दी से ही होने लगा है।

प्राकृतिक नियम—रोम के प्राकृतिक नियम (Natural law, jus naturale) के सिद्धान्त ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परवर्ती विकास पर काफी प्रभाव डाला।

तीसरी श० ई० पू० के यूनानी स्टोइक (Stoic) दर्शन के इस सिद्धान्त को रोम में पहली श० के सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री सिसरो ने बड़ा लोकप्रिय बनाया। इसका तात्पर्य यह है कि यथार्थ तर्कबुद्धि (Right reason) द्वारा ऐसे नियम बनाये जा सकते हैं, जो सर्वत्र समान रूप से लागू किये जा सकें। इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को दो प्रकार से प्रभावित किया: (१) प्राकृतिक नियम प्रायः जस जेन्शियम के दार्शनिक अर्थ से अभिन्न समझा जाता था, किसी नियम की सार्वभौमता उसके स्वाभाविक होने का परिणाम समझी जाती थी। उदाहरणार्थ, जस जेन्शियम के नियमों के अनुसार दूत को अवध्य समझा जाता था, यह नियम सभी देशों में पाया जाता है, अतः इसे प्राकृतिक नियम भी माना जाता था। किन्तु कई बार जस जेन्शियम और प्राकृतिक विधि (Jus naturale) में विरोध भी होता था, जैसे दासता की प्रथा सर्वत्र प्रचलित होने से जस जेन्शियम का अंग समझी जाती थी। किन्तु यह प्राकृतिक विधि का अंग नहीं मानी जाती थी, क्योंकि सब मनुष्य स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र होते हैं। (२) प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि इस सिद्धान्त की अत्यधिक अस्पष्टता, प्राचीनता तथा सर्वमान्यता ने मध्यकाल के विद्वान् तार्किकों (Scholastics) को एक ऐसी जादू की छड़ी प्रदान की, जिसकी सहायता से वे अपने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विचारों और सिद्धान्तों को प्राकृतिक नियम की दुहाई देकर प्राचीन एवं सुप्रतिष्ठित सिद्ध कर सकते थे।[१९]

मध्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक तत्त्व—४थी शताब्दी के अन्त में बर्बर जातियों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसके पश्चिमी प्रान्तों को जीत लिया, इसके बाद ५वीं से ११वीं शती तक योरोप में अन्ध युग (Dark Age) तथा ११वीं से १५वीं शती तक मध्य युग (Middle Age) रहा। १४९२ ई० में अमरीका के महाद्वीप की खोज के साथ आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ, १६वीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आन्दोलन ने वर्तमान युग की प्रवृत्तियों को सुदृढ़ करने में बड़ा भाग लिया। आधुनिक युग ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को बहुत प्रोत्साहित किया। किन्तु इसे देखने से पहले मध्यकाल में इसके सहायक तत्वों का ज्ञान आवश्यक है। आपेनहाइम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का मार्ग प्रशस्त करने वाले निम्न तत्व माने हैं[२०]—

(१) चर्च के धार्मिक कानून (canon law) की तथा दीवानी कानून (civil law) की विवेचना करने वाले व्यक्तियों ने युद्ध सम्बन्धी भावी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ प्रश्नों की मीमांसा की। (२) इस समय समुद्री कानूनों के अनेक संग्रह और संकलन किये गये। (३) व्यापार करने वाले नगरों के अनेक संगठनों ने पारस्परिक विवादों को सुलझाने के लिये पंचनिर्णय (Arbitration) करने के नियम बनाये। (४) १५वीं शताब्दी के अन्त से राज्यों द्वारा दूसरे देशों को स्थायी दूत भेजने की प्रणाली का श्रीगणेश हुआ। (५) बड़े राज्यों द्वारा स्थायी सेनायें रखे जाने से युद्ध के सम्बन्ध में सार्वभौम

१९. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १९
२०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल ला, खण्ड १, अष्टम संस्करण, पृ० ७९–८२

नियम और रीति रिवाज बनने लगे। (६) १४वीं शती से स्थायी शान्ति स्थापित करने की कुछ आदर्श योजनायें बनने लगीं। (७) १५वीं शती में विज्ञान और कला की पुनर्जागृति (Renaissance) के तथा १६वीं शती के धर्म-सुधार (Reformation) के आन्दोलनों ने योरोपियन जगत् में पोप की एकच्छत्र आध्यात्मिक प्रभुता का अन्त करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में बड़ा सहयोग दिया। यहाँ उपर्युक्त तत्वों के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

(१) **चर्च**—रोमन साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद अन्ध युग में चर्च ने एक विशाल कानूनी पद्धति का विकास किया, मध्यकाल में **धार्मिक कानून निकाय** (corpus juris canonici) के नाम से इसके अनेक संग्रह व संकलन किये गये। यह कानून न तो राष्ट्रीय था और न अन्तर्राष्ट्रीय, किन्तु अधिराष्ट्रीय (Supranational) था, अर्थात् यह सब राष्ट्रों के कानूनों के ऊपर था और इसका पालन धार्मिक दृष्टि से आवश्यक था। धार्मिक कानून ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में जो नियम बनाये, उनका उस समय आजकल की अपेक्षा अधिक पालन होता था। इसका मुख्य कारण धार्मिक दृष्टि से इनके अनूकूल आचरण को आवश्यक माना जाना तथा इनका उल्लंघन करने वालों के लिये इस लोक में बहिष्कार (Excommunication) के धार्मिक दण्ड का भय और परलोक में नरकगामी होने की आशंका थी।

इस क्षेत्र में चर्च का सबसे बड़ा कार्य युद्ध और शान्ति के नियमों का निर्धारण करना था। उस समय विभिन्न मनुष्यों में होने वाले, रक्तरंजित भीषण वैयक्तिक युद्धों (Private wars) की कुप्रथा अपने चरम शिखर पर पहुँच गई थी। चर्च के लिये इनका सर्वथा बन्द कर देना सम्भव नहीं था। किन्तु इस बुराई को कम करने के लिये चर्च ने **भगवान् के रणविरामों** (Truces of God) की घोषणा की। ये ऐसे दिन या अवधि थी, जिनमें युद्ध करना वर्जित था। १०४१ ई० में फ्रेंच धर्माधिकारियों (Prelates) ने इनकी अवधि को बढ़ाकर इसे प्रत्येक सप्ताह में बुधवार के सूर्यास्त से सोमवार के सूर्योदय तक कर दिया। इसके अनुसार वैयक्तिक युद्ध सप्ताह में केवल तीन दिन ही हो सकते थे। **लेटरन** के गिरजाघर में हुई रोमन कैथोलिकों की दूसरी परिषद् (Second Lateran Council) ने ११३९ में युद्ध में एक विशेष प्रकार के धनुष (Cross bow) का प्रयोग वर्जित ठहराया क्योंकि यह बहुत "घातक और भगवान् को अप्रिय" था। तीसरी लेटरन परिषद् (११७९) ने युद्ध में पकड़े ईसाइयों को दास बनाने की प्रथा को निषिद्ध ठहराया। लेखनकला का व्यापक प्रसार होने से पहले संधियों की पुष्टि हस्ताक्षरों द्वारा न होकर चर्च की धार्मिक विधियों से हुआ करती थी, इनमें बाइबिल या पवित्र धार्मिक अवशेषों (Relics) पर हाथ रख कर शपथ ग्रहण करना होता था। ऐसी विधियों के बाद सन्धि का पालन दोनों पक्षों के लिये अनिवार्य समझा जाता था। पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते विभिन्न विवादों में मध्यस्थ या पंच बनाया जाता था, इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण पोप एलेक्ज़ेण्डर षष्ठ द्वारा १४९३ ई० में कोलम्बस द्वारा खोजी गई नई दुनिया का स्पेन और पुर्तगाल में बँटवारा करना था। जेरुसलेम तथा पेलेस्टाइन की पवित्र धर्मभूमि को विधर्मी मुसलमानों के प्रभुत्व से मुक्त कराने के लिए लड़े जाने वाले क्रूसेडों या धर्म-

युद्धों के समय पोप ने तथा चर्च की विभिन्न परिषदों ने अनेक आदेशों द्वारा ईसाइयों के लिये मुसलमानों के साथ व्यापार करना, उन्हें युद्ध के लिये उपयोगी सामग्री या हथियार, तथा जहाज बनाने के लिये लकड़ी बेचना निषिद्ध ठहराया, ऐसा व्यापार करने वालों के लिये बहिष्कार के अतिरिक्त भारी जुर्मानों की व्यवस्था की। मुसलमानों के साथ व्यापार रोकने वाले इन कानूनों का उल्लंघन घोषणा विरुद्ध (Contra Bannum) कहलाता था और यह कुछ विद्वानों द्वारा **विनिषिद्ध** (Contraband) का मूलरूप समझा जाता है।

चर्च के विद्वानों ने **न्याय्य युद्ध** (Just war) सम्बन्धी सिद्धान्त की मीमांसा करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विचार को आगे बढ़ाया। टर्टुलियन (१७०–२३० ई०) आदि ईसाइयत के आरम्भिक विचारक यह मानते थे कि ईसाइयों को युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिये और सेना में सेवा नहीं करनी चाहिये। किन्तु सैण्ट आगस्टाइन (३५४-४३० ई०) ने इसमें परिवर्तन करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ईसाइयों को केवल उन्हीं युद्धों में भाग लेना चाहिये जो न्यायोचित (Just) एवं धर्मानुकूल हों। उसकी दृष्टि में केवल वही युद्ध न्याय्य है, जो किसी अन्याय के प्रतिशोध के लिये लड़ा जाय। यदि कोई राष्ट्र अन्यायपूर्वक ली गई दूसरे राष्ट्र की वस्तुओं को वापस करने को तैयार नहीं है अथवा दूसरे राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले अपने नागरिकों के बुरे कार्यों को दण्डित करने के लिये उद्यत नहीं है तो उसके साथ युद्ध करना धर्मानुकूल है। किन्तु शक्ति बढ़ाने या वैर निर्यातन के लिये कभी युद्ध नहीं करना चाहिये। आर्कबिशप सेविल के इसिडोर (५६०–६३६) ने सिसरो के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए न्याय्य युद्धों का विवेचन किया। किन्तु इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण विचार थामस एक्विनास (१२२५-१२७४) का था। उसने अपने ग्रन्थ Summa Theologia के दूसरे भाग में इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या लड़ाई करना सदैव पाप है। उसके मतानुसार निम्न अवस्थाओं में यह पाप नहीं है:—(१) राजा ने लड़ाई करने की आज्ञा दी हो। (२) लड़ाई का कोई न्याय्य कारण (Justa causa) हो। (३) लड़ने वाले का संकल्प शुभ (Recta intentio) हो अर्थात् वह भलाई की वृद्धि और बुराई को रोकना चाहता हो। थामस एक्विनास ने युद्ध में झठ बोलने तथा प्रतिज्ञा भंग करने का निषेध किया, लड़ाई में स्त्रियों और बच्चों का वध वर्जित ठहराया गया क्योंकि इनके विरुद्ध लड़ाई करना सर्वथा अन्यायपूर्ण था।

इसके अतिरिक्त चर्च के विचारकों ने प्राकृतिक नियम के रोमन सिद्धान्त पर भी विचार करके उसे नया रूप प्रदान किया। वे प्रकृति को ईश्वर का एक व्यक्त रूप मानते थे, अतः प्राकृतिक नियम (Natural law) को उन्होंने मानवीय नियम (Human law) से ऊँची स्थिति रखने वाला ईश्वरीय नियम (Divine law) समझा। थामस एक्विनास ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा कि यह शाश्वत नियम (Eternal law) से भिन्न है, शाश्वत नियम तो इस संसार को शासित करने वाली भगवान् की बुद्धि की सनातन बने रहने वाली योजना है, यह मानवीय बुद्धि की समझ से बाहर है। किन्तु प्राकृतिक नियम ईश्वरीय इच्छा से मानवीय बुद्धि द्वारा भगवान् की योजना पूरा करने में लिया

जाने वाला अधूरा हिस्सा है। प्राकृतिक नियम का सबसे बड़ा सिद्धान्त भलाई को बढ़ाना तथा बुराई को हटाना है।

(२) **व्यापारिक तथा समुद्री कानूनों का विकास**—मध्ययुग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे अधिक विकास इसी क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। व्यापारिक कानूनों के विकास के इस समय दो बड़े प्रेरक हेतु थे—**पहला** दूसरे देशों की वस्तुओं के साथ अपने देश के व्यापारिक पण्य का विनिमय करके अन्य देशों से आवश्यक वस्तुओं का प्राप्त करना। **दूसरा** हेतु राजाओं की यह इच्छा थी कि वे विदेशों से आने वाले माल पर चुंगी लगाकर तथा विदेशी व्यापारियों से लिये जाने वाले अन्य करों द्वारा अपनी राजकीय आय में वृद्धि कर सकें। यह तभी सम्भव था जब विदेशी व्यापारियों को उनके देश में व्यवसाय करना अधिक लाभदायक और आकर्षक प्रतीत हो। इस दृष्टि से सबसे आवश्यक बात यह थी कि विदेशी व्यापारियों को उनके जान और माल की सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय। पारस्परिक हित और सहिष्णुता के सिद्धान्त पर आधारित प्राचीन रीति-रिवाजों द्वारा व्यापारियों को यह सुरक्षा प्रदान की जाने लगी। सम्राट् शार्लमेगन ने ७९६ ई० में मर्शिया (सैक्सन इंगलैंड) के राजा ओफा को एक पत्र में लिखा था कि 'व्यापार के प्राचीन रिवाज' के अनुसार मर्शिया के व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया जायगा। इसके बाद राजाओं ने विभिन्न व्यापारियों को इस प्रकार के विशेषाधिकार और सुविधायें लिखित आज्ञाओं (Franchises) के रूप में देनी शुरू कीं। अन्त में इस विषय में विदेशी व्यापारियों को लाभ पहुँचाने वाले सामान्य कानूनों का विकास होने लगा।

इसका पहला उदाहरण विसिगाथों द्वारा ६५४ ई० में बनाये गये नियमों में मिलता है, इनके अनुसार इनके राज्य में विद्यमान विदेशी व्यापारी आपसी झगड़ों को निपटाने के लिये अपने मैजिस्ट्रेट बना सकते थे और ये अपने देश के कानून के अनुसार फैसला करते थे। १२१५ के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश बृहत् अधिकार-पत्र (Magna Carta) की धारा ३० के अनुसार इंगलैंड में विदेशी व्यापारियों को सुरक्षित रूप से निवास और व्यापार की अनुमति दी गई और पारस्पर्य (Reciprocity) की शर्तों के आधार पर उन्हें युद्ध होने पर भी किसी प्रकार से परेशान न करने की बात कही गई है। इंगलैंड विदेशी व्यापारियों को ये सुविधायें निरन्तर प्रदान करता रहा और वहाँ इनसे सम्बन्ध रखने वाली एक विशेष व्यापारिक कानूनी पद्धति (Law merchant) का विकास हुआ। १२२० ई० में सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने अपनी एक सुप्रसिद्ध आज्ञा (Authentica Omnes peregrini) द्वारा सब विदेशियों को संविदा और वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। इससे पहले किसी विदेशी के मरने पर उसकी सम्पत्ति पर उस देश के राजा का स्वामित्व माना जाता था।

रेलों के आगमन से पहले समुद्री व्यापार का बड़ा महत्व था। इस समय स्थानीय रीति-रिवाजों और न्यायालयों के निर्णयों द्वारा इस सम्बन्ध में बनने वाले कानूनों का संग्रह होने लगा। १२वीं शती में बिस्के की खाड़ी के एक छोटे टापू ओलेरोन (Oleron) के व्यापारिक न्यायालय के निर्णयों का संग्रह Rolls of Oleron के नाम

से हुआ और यह अटलान्टिक और बाल्टिक समुद्रों के तटवर्ती प्रदेश में मान्य समझा जाने लगा। १५वीं शताब्दी में इंगलैंड की **'नौविभाग की कृष्ण पुस्तक'** (Black Book of Admiralty) में इसके नियमों को सम्मिलित किया गया। सामुद्रिक कानूनों का इससे अधिक महत्वपूर्ण संग्रह १४वीं शताब्दी में बार्सीलोना में संकलित किया गया। इसका नाम Consolato del mare है। कान्सोलेटो में यद्यपि जहाज के निर्माण, बिक्री, इसके कप्तान के अधिकारों, कर्तव्यों आदि वैयक्तिक कानून (Private) से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का अधिक वर्णन है, फिर भी इसमें सामुद्रिक युद्ध के एक महत्वपूर्ण विषय, युद्ध में शत्रु द्वारा पकड़े गये जहाजों के कानून (Prize law) का वर्णन है और यह इसकी प्रसिद्धि का एक बड़ा कारण है। कान्सोलेटो का उद्देश्य तटस्थ देशों की सम्पत्ति की रक्षा था, इसका मूल सिद्धान्त यह था कि युद्ध-संलग्न देशों (Belligerents) में से किसी शत्रुदेश के जहाजों पर लदे हुए तटस्थ देशों के सामान को तथा शत्रु के सामान को ढोने वाले तटस्थ देशों के जहाजों को नहीं पकड़ा जाना चाहिये। इसके साथ ही युद्ध-संलग्न देशों को यह अधिकार दिया गया कि वे जहाज के कागजों की जांच-पड़ताल कर सकते हैं। बाद में यही निरीक्षण और तलाशी (Visit and search) के रूप में युद्ध-कारी देशों का एक विशेषाधिकार समझा जाने लगा। तटस्थ देशों की सम्पत्ति की रक्षा के कान्सोलेटो के मौलिक विचार को मध्यकाल से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बड़ा महत्व दिया जा रहा है।

समुद्री व्यापार की एक बड़ी बाधा समुद्री डकैती (Piracy) थी। तीसरी लेटरन परिषद् (११७९) ने ईसाई जहाजों के लूटने वालों के लिये बहिष्कार (Excommunication) का दण्ड निश्चित किया। १४वीं शताब्दी के बाद से इटली के तथा योरोप के अन्य राज्यों ने इसके दमन के लिये राजाज्ञायें जारी कीं। प्राचीनकाल में किसी जहाज के डूबने या नष्ट होने पर स्थानीय जनता द्वारा उसका माल लूट लेने की प्रथा थी। पोतभंग के इस कानून (Law of shipwrecks) का उन्मूलन करने के लिये मध्यकालीन सम्राटों और राजाओं ने अनेक आज्ञाएँ जारी कीं। हेंसियाटिक लीग (Hanseatic League) ने अपनी व्यापारिक प्रवृत्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहयोग दिया। जर्मन भाषा में हेंस (Hanse) व्यापारियों के समुदाय या श्रेणी (Guild) को कहते हैं। उत्तरी जर्मनी के कुछ स्वतन्त्र नगरों के व्यापारी-समुदायों ने अपनी आर्थिक उन्नति और सुरक्षा के लिये एक संघ बनाया था। यही हेंसियाटिक लीग कहलाता है। १४–१५वीं शतियों में इसका चरम उत्कर्ष हुआ। इसमें ७० जर्मन शहर तथा जर्मन साम्राज्य से बाहर के रीगा आदि अनेक नगर सम्मिलित थे। इनका नेता ल्यूबेक का शहर था। इस लीग के सदस्यों ने इंगलैंड, स्वीडन, नार्वे, फ्लैण्डर्स (बेल्जियम) के राज्यों के साथ अनेक संधियाँ करके विशेष सुविधायें प्राप्त कीं तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भाग लिया।

मध्य युग के नगर-राज्यों ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति (Diplomacy) की अनेक पद्धतियों का श्रीगणेश किया। दूसरे देशों में स्थायी रूप से राजदूत भेजने की परम्परा का आरम्भ उसी समय से हुआ। इससे पहले विशिष्ट कार्यों के लिये ही

दूत भेजे जाते थे। वेनिस के समृद्ध नगर-राज्य ने १३वीं शती ई० में राजदूतों के एक व्यावसायिक वर्ग (Professional class) को जन्म दिया और इसके सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये। इनके अनुसार राजदूत विदेश में अपनी पत्नी को साथ नहीं ले जा सकता था क्योंकि उससे राजकीय रहस्यों के उद्घाटित हो जाने की आशंका थी। उसे विदेश में अपना रसोइया अवश्य ले जाना पड़ता था ताकि कोई उसे विष न दे सके। ये कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) के नियमों से मिलते हैं।

रोमन कानून के अध्ययन ने भी इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र को विशद बनाया। सम्राट् जस्टीनियन (५२७-५६५) द्वारा **दीवानी कानून के संकलन** (corpus juris civilis) के बाद से इसे असाधारण गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। जिस प्रकार पुराने रोमन विधानशास्त्री रोमन साम्राज्य में रहने वाले विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में **जस जेन्शियम** के सिद्धान्तों को लागू करते थे, इसी प्रकार पिछली शताब्दियों में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि पवित्र रोमन साम्राज्य[२१] (Holy Roman Empire) में रहने वाले व्यक्तियों और राज्यों के आपसी संघर्षों का निर्णय जस्टीनियन की विधि संहिता (Code) द्वारा किया जाये। १२–१३वीं शताब्दी से इटली के बोलोग्ना तथा अन्य विश्वविद्यालयों में रोमन कानून का व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ हुआ। कार्पस ज्यूरिस पर अनेक टीकायें लिखी जाने लगीं। इसमें बार्तोलस (Bartolus १३१४–५७) तथा बाल्डस (१३२७–१४१०) के नाम उल्लेखनीय हैं। बार्तोलस ने प्रत्यपहार (Reprisals) के बारे में एक पुस्तक लिखी, युद्ध की लूट के सम्बन्ध में यह सुन्दर नियम निश्चित किया कि इसे प्राप्त करने वाला सैनिक इसको बँटवारे के लिये अपने राजा को दे। इन टीकाकारों को इस बात का श्रेय है कि इन्होंने वैयक्तिक अन्त ष्ट्रीय कानून (Private International Law) का विकास किया।

मध्य युग में स्थायी शान्ति स्थापित करने की अनेक योजनायें बनीं। पियरे दुबोइस (Pierre Dubois 1250–1312) नामक फ्रेंच विधिवेत्ता ने १३०६ ई० में प्रकाशित अपनी एक पुस्तिका में नया क्रूसेड करने की आवश्यक शर्त यह बतायी कि ईसाई जगत् में सार्वभौम शान्ति स्थापित होनी चाहिये। इसके लिये पोप की अध्यक्षता में सब ईसाई राजाओं तथा चर्च के उच्चाधिकारियों (Prelates) की एक सामान्य परिषद् (General council) बनायी जानी चाहिये, इसके सदस्य युद्ध को अवैध समझें, आपसी झगड़ों का निर्णय दोनों पक्षों द्वारा चुने गये तीन ईसाई राजाओं की तथा चर्च के तीन

२१. यह मध्य योरोप में प्रधानरूप से जर्मनभाषाभाषी जनता का साम्राज्य था। इसकी स्थापना का समय ८०० ई० में पोप द्वारा शार्लमेगन के अथवा ९६२ ई० में ओटो के राज्याभिषेक की धार्मिक बिधि सम्पन्न कराने से माना जाता है। १८०६ ई० में नैपोलियन द्वारा परास्त होने पर आस्ट्रिया के पवित्र रोमन सम्राट् फ्रांसिस द्वितीय ने अपने इस पद का त्याग कर दिया और इस साम्राज्य का अन्त हो गया। मध्यकाल में यह पुराने रोमन साम्राज्य का ऐसा नवीन रूप समझा जाता था, जिसमें पोप को पूरी धार्मिक प्रभुता प्राप्त थी, अतएव इसके आगे पवित्र शब्द का विशेषण लगाया जाता था। वस्तुतः यह नाम बहुत भ्रामक था, क्योंकि ब्राइस के शब्दों में न तो यह पवित्र था, न ही रोमन था और न ही अन्य साम्राज्यों की भाँति कोई सुसंगठित शासन था।

उच्चाधिकारियों की पंचायत द्वारा हो, इसके निर्णय के विरुद्ध पोप के पास अपील की जाय। इस प्रकार स्थापित होने वाली शान्ति का उल्लंघन करने वाले राजा का दमन परिषद् के अन्य राजाओं की संयुक्त सेनायें करें। ऐसे राजा की सारी सम्पत्ति छीन कर उसे पेलेस्टाइन में निर्वासित कर दिया जाय ताकि वह वहाँ अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग काफिरों के उन्मूलन में करे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास की दृष्टि से दुबोइस का यह महत्त्व है कि उसने सर्वप्रथम सभ्य जगत् के राजनैतिक संगठन पर आधारित अनिवार्य पंचायती निर्णय (Compulsory arbitration) का विचार दिया। आजकल इस योजना के कारण उसे बहुत महत्व दिया जाता है, किन्तु मध्य युग में उसकी इस योजना ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सैद्धान्तिक विकास पर कोई प्रभाव नहीं डाला।

आधुनिक युग—१४९२ ई० में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज के साथ आधुनिक युग का श्रीगणेश समझा जाता है। इसके बाद धार्मिक सुधार (Reformation) आन्दोलन से वर्तमान यग की प्रवृत्तियों को बड़ा बल मिला। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करने में सहायक अनेक तत्त्व उत्पन्न हो गये, इनसे इसे प्रबल प्रोत्साहन मिला।

इनमें अधिक महत्वपूर्ण कारण पोप की सार्वभौम धार्मिक प्रभुता की समाप्ति, अमरीका की खोज, स्पेन, इंगलैंड, फ्रांस आदि नवीन राष्ट्रीय राज्यों (National States) का अभ्युदय थे। धार्मिक सुधार आन्दोलन से पहले योरोप के समूचे ईसाई जगत् में पोप का एकच्छत्र धार्मिक साम्राज्य था, उसकी स्थिति विभिन्न पार्थिव राजाओं से ऊपर की थी और वह इनके सम्बन्धों का नियन्त्रण कर सकता था। मार्टिन लूथर द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन से उसकी सर्वोच्च सत्ता को तथा योरोप की धार्मिक एकता को गहरा धक्का पहुँचा, प्रोटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक मत वाले राज्यों के मध्य उग्र संघर्ष आरम्भ हुआ, इसने योरोप के रक्तरंजित **तीसवर्षीय युद्ध**[२२] को जन्म दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभाव तथा इसकी आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव कराया, इसके विकास में बड़ा सहयोग दिया। **दूसरा** कारण अमरीका की खोज था, इससे नये प्रदेशों के स्वामित्व के सम्बन्ध में जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न उत्पन्न हुए, १४९३ ई० में यद्यपि पोप ने अपने आदेश द्वारा केप वर्दे टापू के पश्चिम में १०० लीग की दूरी पर से गुजरने वाली रेखा के पश्चिम के सब प्रदेश स्पेन को तथा पूर्व के सब प्रदेश पुर्तगाल को बाँट दिये तो भी दोनों देश इससे संतुष्ट नहीं थे और अन्य देश पोप के इस निर्णय को मानने के लिये उद्यत नहीं थे। इससे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न हुए। **तीसरा** महत्वपूर्ण तत्त्व राष्ट्रीय राज्यों (National States) का उत्थान था। १५वीं शताब्दी के अन्त में स्पेन और

२२. यह १६१८–४८ तक जर्मनी के कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट राज्यों में चलता रहा। इसका आरम्भ बोहीमिया के कैल्विन मतानुयायी जमींदारों के विद्रोह से हुआ। इसमें पहले ये लोग पवित्र रोमन सम्राट् द्वारा हरा दिये गए, इस पर इनकी सहायता के लिए लूथर के अनुयायी उत्तरी जर्मनी के राज्य इसमें कूदे। बाद में डेन्मार्क, स्वीडन फ्रांस, तथा हालैण्ड ने भी इसमें भाग लिया। इसकी समाप्ति १६४८ की वैस्ट फालिया की संधि से हुई। यह इतिहास का बड़ा बर्बरतापूर्ण युद्ध समझा जाता है।

पुर्तगाल ने अपने देश को विधर्मी मूरों (उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के मुस्लिम अरबों) की दासता के पंजे से मुक्त किया, इस समय इनमें धार्मिक उत्साह के अतिरिक्त राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल प्रसार हुआ। १४९२ में फर्डिनेण्ड और इसाबेला ने ग्रेनाडा से मुस्लिम शासन का अन्त किया, स्पेन का एकीकरण किया। अमरीका की खोज से इसके साम्राज्य का विस्तार हुआ, योरोप में फिलिप द्वितीय (१५५६–१५९८) के शासनकाल में स्पेन के शासन का अधिकतम विस्तार हुआ, सार्डीनिया, नेपल्ज, सिसली और १५८० ई० के बाद पुर्तगाल इसके आधीन हुए। राजनीतिक दृष्टि से यह काल स्पेन का स्वर्णयुग था। स्पेन के साथ ही पुर्तगाल का भी उत्कर्ष हुआ। १७वीं शताब्दी में हालैंड ने स्पेन के साथ उग्र राष्ट्रीय संघर्ष करके १५७९ में यूट्रेक्ट की संधि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की। १६४८ में वैस्ट फालिया की संधि में पवित्र रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों की पृथक् सत्ता मान ली गई। फ्रांस और इंगलैंड में भी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल और पुष्ट हो रही थी। इन राष्ट्रों के अभ्युत्थान के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुईं और अनेक विद्वानों ने इन पर विचार करना आरम्भ किया। इनमें से कुछ प्रमुख विचारकों के विचारों का यहाँ उल्लेख होगा।

फ्रांसिस्को विटोरिया (Francisco Vitoria 1480–1546)—यह स्पेन के डोमिनिकन सम्प्रदाय का परिव्राजक तथा सालामांका विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। इसने अमरीका की खोज होने पर वहाँ के आदिवासियों के साथ स्पेनिश लोगों के सम्बन्धों पर तथा इनके साथ युद्धों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। नई दुनिया की खोज होते ही यहाँ डोमिनिकन सम्प्रदाय के ईसाई साधु धर्मप्रचार के लिये गए, इन्होंने यह देखा कि स्पेनिश विजेता अमरीकी रेड इंडियनों पर घोर अत्याचार और अमानुषिक क्रूरतायें कर रहे हैं। विटोरिया ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए रेड इंडियनों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्तों को लागू किया। इससे पहले स्पेन में यह समझा जाता था कि जो देश या राजा ईसाई नहीं है, उसके नास्तिक (Heathen) होने के कारण ईसाई राजाओं को उन पर चढ़ाई करने तथा उन्हें नष्ट करने का पूरा अधिकार है। विटोरिया पहला व्यक्ति था जिसने इस बात पर बल दिया कि गैर-ईसाई नास्तिक जातियों के राजा और राज्य उसी प्रकार वैध होते हैं जैसे ईसाइयों के राजा। उनके विरुद्ध युद्ध तभी छेड़ा जा सकता है, जबकि इसके लिये कोई न्यायपूर्ण (Just) कारण हो। उसने यह भी मत प्रकट किया कि यदि रेड इंडियन स्पेनिश लोगों को भगाने या मारने का प्रयत्न करें तो भी उन्हें केवल आत्मरक्षा करनी चाहिये, आक्रमणात्मक युद्ध नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे शक्तिशाली हथियार रखने वाले नये अपरिचित व्यक्तियों के दर्शनमात्र से भयभीत हो जाते हैं। गैर-ईसाई राजाओं का दर्जा ईसाई राजाओं के समान मानने के अतिरिक्त विटोरिया ने स्पेनिश लोगों के अमरीका में व्यापार करने की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। उसने यह सिद्धान्त भी सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि विश्व के राष्ट्रों का एक समुदाय (community) है।

फ्रांसिस्को सुआरेज (१५४८–१६१७)—स्पेन के एक उच्चकुल में उत्पन्न यह जेसुइट परिव्राजक विटोरिया की भाँति धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। मध्यकालीन

धर्म और परम्पराओं का अगाध पंडित होने के कारण इसे उस समय का सबसे बड़ा तार्किक (Scholastic), स्पेनिश संस्कृति का सर्वोत्तम प्रतिनिधि और जेसुइट सम्प्रदाय का सबसे अधिक यशस्वी व्यक्ति कहा जाता था। इसने अपने दो ग्रंथों On Laws of God as Legislator (1612) तथा मृत्यु के बाद छपे On the Threefold Theological Virtue में अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का वर्णन किया है। इसने 'जस जेन्शियम' तथा प्राकृतिक नियम की विशद मीमांसा की तथा जस जेन्शियम के कई अर्थों में से एक अर्थ को स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ सम्बद्ध किया। ग्रोशियस आदि परवर्ती लेखक उसके विचारों से बहुत प्रभावित हुए। उसने युद्ध की न्याय्यता पर विस्तृत विचार किया, उसके मतानुसार अन्यायपूर्ण युद्ध छेड़ने वाले राजा के सैनिक पकड़े जाने पर मारे जा सकते हैं, किन्तु इस विषय में अनेक शर्तें लगाकर वह इन्हें बचाने की व्यवस्था भी करता है। उसका मत है कि इस प्रकार के वेतनभोगी सैनिकों को उस दशा में नहीं मारा जाना चाहिए, जबकि उन्हें विरोधी पक्ष के युद्ध को न्याय्य बनाने के कारणों का ज्ञान न हो। प्रायः ऐसा ज्ञान नहीं होता, अतः अधिकांश सैनिक अवध्य हैं। सुआरेज़ का न्याय्य युद्ध से सम्बन्ध रखने वाला न्यायिक सिद्धान्त (Judicial theory) सबसे अधिक आपत्तिजनक है। इसके अनुसार न्याय्य युद्ध छेड़ने वाले राजा को उसने 'प्रतिशोधपूर्ण न्याय' (Vindictive Justice) प्राप्त करने के सब अधिकार दे दिये हैं। उसके युद्ध को अदालत की डिगरी जैसा ठहराया गया है, इस प्रकार उसे वादी और न्यायाधीश दोनों बना दिया है। उसने पंचनिर्णय (Arbitration) उसी दशा में स्वीकार करने को कहा है, जबकि अन्याय की कोई आशंका न हो, क्योंकि उसके मतानुसार प्रत्येक राजा विदेशी न्यायाधीशों के सद्भाव में सन्देह रखता है। अतः उसने राजा को बुद्धिमान् और सुशिक्षित व्यक्तियों से युद्ध के औचित्य के सम्बन्ध में परामर्श लेने को कहा है। परवर्ती लेखकों ने उसके इन मन्तव्यों का खण्डन किया। उसकी बड़ी विशेषता यह है कि उसने इस बात पर बहुत बल दिया कि अपने राष्ट्रीय जीवन में स्वतन्त्र होते हुए भी विश्व के विभिन्न राज्य मानव जाति का अंग हैं, अतएव वे पारस्परिक व्यवहार के लिए आचरण के एक कानून (Law of conduct) के वशवर्ती हैं, यह कानून मुख्य रूप से प्राकृतिक तर्क पर तथा कुछ अंशों पर मानवीय रीति-रिवाजों पर आधारित है।

पीरिनो बेल्ली (Pierino Belli १५०२–१५७५)—बेल्ली इटली में उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसने स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय की सेना में दीर्घकाल तक सेवा की। उसकी पुस्तक On Military Matters and War में प्रधान रूप से सैनिक विषयों की चर्चा है, फिर भी इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक विषयों की चर्चा है। इसमें युद्ध की घोषणा करने तथा उसके कारणों के सम्बन्ध में विचार है। वह अपनी पुस्तक में प्रायः रोमन कानून के मूलस्रोतों तथा इसके टीकाकारों के उद्धरण देता है। फिलिप के सैन्याधिकारी के रूप में प्रकट किये गए अपने विचारों और सम्मतियों को उद्धृत करता है। इससे उसके ग्रन्थ को बड़ा ठोस, क्रियात्मक और व्यावहारिक आधार मिल गया है, वह तार्किकों (Scholastics) के ग्रन्थों जैसा दार्शनिक और विचारात्मक नहीं रहा। कई अंशों में वह अपने पूर्ववर्ती लेखकों से आगे बढ़ा हुआ है, उसने युद्धबन्दियों के साथ

अविवेकपूर्ण क्रूर व्यवहार का विरोध किया है, शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश के निवासियों के साथ अच्छा बर्ताव करने पर बल दिया है। उसका यह भी मत है कि यदि कोई शासक अपने विवाद का पंचायत द्वारा निर्णय कराने को तैयार हो तो उसके विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही बन्द कर देनी चाहिये।

बल्थसर अयाला (Balthasar Ayala)—स्पेन के एक सम्भ्रान्त कुल में एण्टवर्प में जन्म ग्रहण करने वाला अयाला हालैण्ड के विरुद्ध भेजी स्पेनिश सेना में एडवोकेट जनरल था। १५८२ ई० में प्रकाशित उसकी पुस्तक On the Law and Duties and Military Discipline ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धार्मिक क्षेत्र से सांसारिक क्षेत्र में लाने का सफल प्रयास किया। उसका मुख्य उद्देश्य यद्यपि हालैण्ड में स्पेन की सेना द्वारा किये अत्याचारपूर्ण कार्यों को न्याय्य सिद्ध करना था, किन्तु फिर भी उसने कुछ नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। युद्ध के नियमों में उसने इस पर बल दिया कि शत्रु के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये, किन्तु विद्रोहियों के साथ तथा अन्यायपूर्ण युद्ध करने वालों के साथ इस नियम का पालन आवश्यक नहीं था।

एल्बेरिको जैण्टिली (१५५२–१६०८)—उत्तरी इटली के सांजिनेसियो नगर में जन्म लेने वाले तथा २० वर्ष की अवस्था में डाक्टरेट प्राप्त करने वाले जैण्टिली को प्रोटेस्टेंट होने के कारण इंक्विज़िशन (धार्मिक न्यायालय) के दण्ड से बचाने के लिये १५७६ ई० में मातृभूमि से भाग कर इंगलैंड में शरण लेनी पड़ी। यहाँ ये आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रोमन कानून के व्याख्याता नियत हुए। इनके अध्यापन और विद्वत्ता की कीर्ति इतनी बढ़ी कि १५८४ ई० में ब्रिटिश सरकार ने स्पेन के राजदूत मेंदोजा के मामले में इनसे परामर्श लिया। इस राजदूत ने कैथोलिक रानी स्काटलैंड की मेरी को बन्धनमुक्त कराने के तथा रानी एलिज़ाबेथ को सिंहासनच्युत करने तथा मारने के उद्देश्य से रचे गये एक षड्यन्त्र में भाग लिया था। ब्रिटिश सरकार ने रोमन कानून के अन्य विद्वानों के साथ जैण्टिली से इस विषय में परामर्श लिया कि क्या मेंदोजा को ब्रिटिश न्यायालय द्वारा दण्डित किया जा सकता है? जैण्टिली की यह सम्मति थी कि राजदूत होने के कारण यह अवध्य है, किसी इंगलिश न्यायालय में उस पर मामला नहीं चलाया जा सकता। सरकार ने इस परामर्श का आदर करते हुए उस पर मुकदमा न चलाकर उसे अपने देश से बाहर निकाल दिया। इस मामले से जैण्टिली का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर आकृष्ट हुआ। १५८५ में उसने On Embassies नामक एक निबन्ध प्रकाशित किया। १५८८ में इंगलैंड पर स्पेन के विशाल बेड़े (Armada) का आक्रमण होने पर जैण्टिली ने अपने वार्षिक व्याख्यान के लिये 'युद्ध के नियम' का विषय चुना। इसी का विस्तृत रूप १५९८ में उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ On the Law of War के रूप में प्रकाशित हुआ। मृत्यु के बाद उनका एक अन्य ग्रन्थ Pleas of a Spanish Advocate भी छपा।

जैण्टिली की प्रधान विशेषता यह है कि उसके ग्रन्थों में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तत्कालीन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन हुआ। उन दिनों उपर्युक्त षड्यन्त्र के कारण राजदूतों के अधिकारों का प्रश्न सार्वजनिक विवाद का विषय बना हुआ था।

अनेक विचारक दूतों को गुप्तचर समझते थे, उसने इस भ्रान्त धारणा का खण्डन करते हुए उनकी अवध्यता और देशीय कानून (Municipal law) के क्षेत्राधिकार से उनकी उन्मुक्ति स्वीकार की। किन्तु ऐसा करते हुए भी उसने इस उन्मुक्ति को बड़ी संकीर्ण सीमा में बाँध दिया। उसका यह मत था कि क्रियात्मक रूप में परिणत न होने वाले षड्यन्त्र के सम्बन्ध में राजदूत पर उस देश में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, जहाँ वह राजदूत बनकर जाता है। दीवानी मामलों में उसका यह मत था कि उसे राजदूत मानने वाले देश के अधिकारी उसके घर में प्रविष्ट नहीं हो सकते, उसकी चल सम्पत्ति को ज़ब्त नहीं कर सकते। उसका राजदूतविषयक यह अध्ययन इस विषय का पहला व्यवस्थित विवेचन था। उसके युद्ध के नियम वाले ग्रन्थ के तीन भागों में युद्ध के कारणों, युद्ध के स्वरूप और शान्ति सन्धियों का वर्णन है। इसका तीसरा भाग विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहले विचारकों ने अब तक इसकी उपेक्षा की थी। उस समय सन्धियाँ केवल उनपर हस्ताक्षर करने वाले राजाओं के जीवनकाल तक ही पालन योग्य मानी जाती थीं। किन्तु उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि उनके उत्तराधिकारियों को भी इनका पालन करना चाहिए। उसने यह भी कहा कि कोई हारा हुआ राजा इस आधार पर किसी शान्ति सन्धि को रद्द नहीं कर सकता कि उसे भय या दबाव (Duress) के कारण सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी। जैण्टिली ने सन्धियों को सामान्य वैयक्तिक संविदाओं (Contracts) से भिन्न स्थिति प्रदान की और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी परवर्ती लेखकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। सन्धियों के बारे में उसका सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक सन्धि में सदैव यह शर्त अन्तर्हित होती है कि उसका पालन उसी समय तक आवश्यक है, जब तक उस सन्धि की परिस्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं। यही नियम Clausula rebus sic stantibus कहलाता है। यह मूलतः चर्च के कानून का एक नियम था, एक मध्यकालीन दीवानी विधिशास्त्री एल्सियाटस (१४६२-१५५०) ने इसे रोमन वैयक्तिक कानून की कठोरता कम करने के लिये चर्च से ग्रहण किया था। जैण्टिली की यह विशेषता है कि उसने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू किया।

जैण्टिली की एक अन्य विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धर्म के प्रभाव से मुक्त करना है। युद्ध के न्यायपूर्ण कारणों की गणना करते हुए पुराने लेखक इनमें ईसाइयत के प्रचार में बाधा डालने को तथा ईसाइयत स्वीकार करने के विरोध को सम्मिलित करते थे। जैण्टिली ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया। लड़ाई में मुसलमानों के विरुद्ध अधिक क्रूरता को उसने न्यायोचित नहीं बताया। उसने अपनी रचनाओं में चर्च और पोप को विशेष महत्व नहीं दिया। उसके ग्रन्थों में दिये गये अधिकांश प्रमाण व उद्धरण कानूनी, ऐतिहासिक और दार्शनिक ग्रन्थों से लिये गये हैं। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धर्म-निरपेक्ष बनाने का प्रयत्न किया। नसबौम के शब्दों में वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का प्रथम प्रवर्त्तक है।[२३] उसके मरणोत्तर ग्रन्थ Pleas of a

२३. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०१

Spanish Advocate में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर उसकी सम्मतियाँ हैं। इनमें सामुद्रिक कानून का विशेष रूप से वर्णन है। उस समय अमरीका की खोज तथा नौचालन कला में उन्नति होने से इस विषय को विशेष महत्व मिल रहा था। उसने समुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक प्रतिबन्धों के साथ किया है। उसके मतानुसार प्रादेशिक समुद्र की सीमा १०० मील तक है जब कि परवर्ती लेखकों ने इसे उस समय की तोप के गोले की मार के क्षेत्र—तीन मील तक ही माना है। उसने समुद्री डाकुओं की कड़े शब्दों में निन्दा की है। उसके मत में जो उनसे माल खरीदते हैं, उनका उस पर कोई स्वत्व नहीं होता। एक मामले में कुछ अंग्रेजों ने ट्यूनिस में समुद्री डाकुओं से माल खरीदा था, उसने वह माल उन स्पेनिश लोगों को वापिस करने को कहा, जिनसे डाकुओं ने यह माल लूटा था।

जैण्टिली के ग्रन्थों का एक बड़ा दोष उसकी अतिशय वादविवादप्रियता है। धर्मनिरपेक्षता का पुजारी होने पर भी उसके ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सशक्त बनाने वाली नैतिकता पर आवश्यक बल नहीं दिया गया। उसके विचारों का कोई सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधार नहीं है, उसके 'जस जैन्शियम' आदि के विचार सुस्पष्ट नहीं हैं। अतः बहुत समय तक उसके ग्रन्थों को विशेष मान्यता तथा लोकप्रियता नहीं मिली। १८७४ में आक्सफोर्ड के दीवानी कानून के प्राध्यापक श्री टी० ई० हालैंड ने अपने एक व्याख्यान में जब जैण्टिली के कार्य का प्रतिपादन किया तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में उसका यथार्थ महत्व समझा जाने लगा।

ह्यूगो ग्रोशियस (१५८३–१६४५)—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता माने जाने वाले ग्रोशियस का मूल नाम ह्यूगो वान ग्रूट (Hugo Van Groot) था। १५८३ ई० में हालैण्ड के एक सुप्रतिष्ठित और सुसंस्कृत कुल में जन्म लेने वाले इस असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति के बारे में यह कहा जाता है कि वह शैशवहीन था। सात वर्ष की आयु में उसने लैटिन में कवितायें बना कर चाचा की मृत्यु से संतप्त अपने पिता को सान्त्वना प्रदान की। ११ वर्ष की आयु में वह लीडन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, तीन वर्ष बाद उसने अपनी शिक्षा पूरी करके गणित, दर्शन और कानून पर शोध निबन्ध (Theses) लिखे, ग्रीक तथा लैटिन में अनेक कवितायें रचीं और ग्रन्थ लिखे। १५ वर्ष की आयु में उसे "हालैण्ड के चमत्कार" के रूप में एक डच दूत-मण्डल ने फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ के समक्ष उपस्थित किया, आर्लियन्ज (Orleans) के विश्वविद्यालय ने उसे कानून के डाक्टर की उपाधि दी। १६ वर्ष की अवस्था में उसे वकालत करने की आज्ञा मिली। १६०३ ई० में अन्य सुप्रसिद्ध विद्वानों के होते हुए भी, वह हालैण्ड का इतिहास लेखक नियत किया गया। १६१३ में उसे हालैण्ड के दूसरे बड़े शहर राटरडम का एक उच्चाधिकारी बनाया गया। उन दिनों यहाँ कुछ धार्मिक विवाद चल रहे थे, ग्रोशियस ने इनमें महत्वपूर्ण भाग लिया। शीघ्र ही इन विवादों ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप ग्रोशियस को बन्दी बना लिया गया। मई १६१७ में एक विशेष न्यायालय ने राजनीतिक कारणों के आधार पर ग्रोशियस को आजीवन कारावास का दण्ड दिया। कारागार में ग्रोशियस को ग्रन्थ मंगाने, पढ़ने और लिखने

की सुविधा दी गई और जेल में उसने **'डच विधिशास्त्र की प्रवेशिका'** तथा **'ईसाई धर्म की सत्यता'** पर अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे। मार्च १६२१ में अपनी बुद्धिमती पत्नी की सहायता से ग्रोशियस पुस्तकों के एक बड़े बक्से में बन्द होकर जेल से भाग निकले और फ्रांस पहुँचे।

यहाँ कई वर्ष तक अध्ययन के बाद उन्होंने १६२५ में अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **युद्ध और शान्ति का कानून** (De Jure belli ac pacis) प्रकाशित किया। इससे उन्हें बड़ी ख्याति मिली, किन्तु हालैण्ड की सरकार द्वारा स्वदेश प्रत्यावर्तन की अनुमति न मिलने से बड़ी निराशा हुई। स्वीडन के राजा गुस्टावस एडोल्फस को ग्रोशियस की यह पुस्तक बहुत पसन्द थी। उसके प्रधानमन्त्री ने राजा की इच्छा का आदर करते हुए १६३४ में ग्रोशियस को फ्रांस में स्वीडन का राजदूत नियत किया। अगले दस वर्ष तक ग्रोशियस इस पद पर बने रहे किन्तु उनका सारा समय अध्ययन और लेखन में व्यतीत होता था। गम्भीर विद्वान् होने पर भी वे राजदूत के रूप में सफल नहीं हुए, क्योंकि उनमें दूतोचित गुणों का अभाव था। वे अपने अध्ययन तथा धार्मिक विवादों में इतने तल्लीन रहते थे कि उनका दौत्य कार्य प्रायः उपेक्षित होता रहता था। कहा जाता है कि एक बार जब फ्रांस के राजा के यहाँ राजदूतों का कोई स्वागत समारोह था, उस समय वहाँ ग्रोशियस एक खिड़की की आड़ में खड़े होकर बाइबल के न्यू टैस्टामैण्ट का एक नया रोचक संस्करण पढ़ रहे थे। फ्रेंच राजा के अनुकूल होते हुए भी फ्रेंच सरकार से ग्रोशियस के सम्बन्ध ठीक नहीं रह सके और १६४४ई० में स्वीडन ने उन्हें वापिस बुला लिया। स्टाकहोल्म पहुँचने पर उनका भव्य स्वागत हुआ, किन्तु कोई नया पद नहीं दिया गया। इस पर वे स्वीडन से जहाज द्वारा जर्मनी के लिए रवाना हुए, किन्तु मार्ग में ही पोत भंग हो जाने पर वे ल्यूबेक जाने के लिये एक गाड़ी में सवार हुए। वहां पहुँचने से पहले मार्ग में ही २६ अगस्त १६४५ को अपूर्व प्रतिभा सम्पन्न यह महानुभाव दिवंगत हो गये।

ग्रोशियस के ग्रन्थ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओर ग्रोशियस का ध्यान सर्वप्रथम १६०१ में एक कानूनी मामले द्वारा आकृष्ट हुआ। इस समय हालैण्ड और स्पेन का युद्ध चल रहा था, इसमें डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बेड़े ने मलक्का के समीप पुर्तगाल का एक जहाज पकड़ लिया। पुर्तगाल उस समय स्पेन के आधीन था और इस जहाज पर बहुमूल्य माल लदा हुआ था। इस जहाज को हालैण्ड ले जाकर इसका माल बेच दिया गया। किन्तु कम्पनी के हिस्सेदारों ने इस कार्य पर इस कारण आपति की कि ईसाइयों को आपस में नहीं लड़ना चाहिए। कम्पनी ने इस विषय में ग्रोशियस से सम्मति माँगी। उसने इसके सभी पहलुओं का गम्भीर अध्ययन और मौलिक चिन्तन करके **लूट के माल का कानून** (On the Law of Spoils) नामक पुस्तक तैयार की। इसका एक अध्याय **स्वतन्त्र समुद्र** (Mare liberum) के नाम से १६०६ में प्रकाशित किया। इसके बाद इस विषय का अध्ययन और मनन जारी रहा और १६२५ में युद्ध और शान्ति पर उसका उपर्युक्त महान् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसका नामकरण सिसरो के एक लैटिन वाक्यांश De Jure belli ac pacis पर किया गया था। इसमें धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और विधिशास्त्र की त्रिवेणी का अपूर्व संगम था। ग्रोशियस से पहले अनेक

विद्वानों ने इन समस्याओं पर विचार किया था। किन्तु कोई भी अध्ययन इतना व्यापक, गम्भीर, क्रमबद्ध, व्यवस्थित, प्रौढ़ और प्रगतिशील नहीं था।

ग्रोशियस के सिद्धान्त—जब ग्रोशियस ने अपना ग्रन्थ लिखा, उस समय योरोप में तीसवर्षीय युद्ध (१६१८–१६४८) चल रहा था (देखिये ऊपर पृ० ३५)। इस समय ईसाई जगत् में युद्ध करने में जितनी स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता प्रदर्शित हो रही थी, वह जंगली जातियों को भी मात देने वाली थी। अत्यन्त तुच्छ कारणों से अथवा अकारण ही युद्ध छेड़ दिये जाते थे और एक बार युद्ध छिड़ जाने पर सभी ईश्वरीय और मानवीय नियम भुला दिये जाते थे, बिना किसी प्रतिबन्ध के सब प्रकार के अत्याचार और क्रूरतापूर्ण कार्य करने की दोनों पक्षों को खुली छूट मिल जाती थी। ग्रोशियस ने इस अराजक और भयावह स्थिति का नियन्त्रण करने के लिये **विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय** में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम निश्चित किए। उसका यह मत था कि मानवीय संस्थाओं द्वारा कोई निश्चित कानून (Positive laws) न बनाये जाने पर भी सामाजिक दशा में रहने वाले मनुष्यों के लिये इन नियमों का पालन करना आवश्यक है। इस अवस्था को उसने प्राकृतिक दशा (State of nature) का नाम दिया और विभिन्न समुदायों के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करने वाले नियमों को **प्राकृतिक कानून** (Natural law) कहा। इसका लक्षण करते हुए उसने कहा, "प्राकृतिक कानून सद्बुद्धि द्वारा किया गया आदेश (Dictate of right reason) है, यह इस बात को सूचित करता है कि कोई विशेष कार्य मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति (Rational nature) के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण नैतिक दृष्टि से या तो असत् है या आवश्यक है, अतएव यह कार्य प्रकृति के स्रष्टा भगवान् द्वारा या तो निषिद्ध ठहराया गया है या विहित बनाया गया है।" सभी राष्ट्र समान प्रकृति रखने वाले नागरिकों से मिलकर बने होते हैं, अतः वे सब प्राकृतिक नियमों के आदेशों का पालन करते हैं।

इन आदेशों को जानने के दो प्रकार के साधन हैं। पहला साधन बुद्धि द्वारा ज्ञात किये जाने वाले निगम्य (a priori) तर्क का है, इसमें किसी विशेष कार्य के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि क्या यह मानवीय समाज की सत्ता के लिए अनिवार्य समझे जाने वाले मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल है या प्रतिकूल। दूसरा साधन अनभवगम्य (a posteriori) तर्क का है, इसके अनुसार यह माना जाता है कि विभिन्न कालों और देशों में सभी अथवा अधिकांश सभ्य जातियों द्वारा सत्य स्वीकार किए जाने वाले आचरण के नियमों का प्रादुर्भाव प्राकृतिक कानून से हुआ होगा। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून के अतिरिक्त राष्ट्रों के ऐच्छिक कानून (voluntary law of nations) को भी स्वीकार किया। इसका आधार विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक संधियों और समझौतों के पालन के लिए स्पष्ट रूप से दी गई सहमति अथवा रीति-रिवाजों (Usages) और देशाचारों (Customs) के रूप में अस्पष्ट रूप में दी गई स्वतन्त्र सहमति होती है। इस कानून को उसने 'जस जेन्शियम' का नाम दिया। यह जहाँ तक सद्बुद्धि के आदेशों के अनुकूल होता है, वहाँ तक प्राकृतिक कानून का ही अंग है। यदि इन दोनों में विरोध हो तो प्राकृतिक कानून को ही मौलिक और प्रबल समझना चाहिये,

क्योंकि राष्ट्रों के रीति-रिवाज प्राकृतिक कानून की प्रामाणिकता को खण्डित नहीं कर सकते ।

प्राकृतिक कानून को आधार एवं मौलिक कसौटी बनाकर ग्रोशियस ने अन्त-र्राष्ट्रीय कानून के प्राचीन समय से चले आने वाले सभी विवादास्पद प्रश्नों को इस पर कसा। क्या युद्ध न्यायपूर्ण हो सकता है ? न्याय्य युद्ध के क्या आधार हैं ? युद्ध में दोनों पक्षों को कैसा आचरण रखना चाहिये ? संधियों के क्या नियम होने चाहिएँ ? इन सब प्रश्नों के सूक्ष्म कानूनी विवेचन को उसने उस समय तक के सभी पश्चिमी विद्वानों, दार्शनिकों, कवियों, ऐतिहासिकों और राजनीतिज्ञों के ग्रन्थों के उदाहरणों तथा अवतरणों से पुष्ट, सजीव एवं प्रामाणिक बनाया । यही उसकी विशेषता है । यदि वह १९वीं शती के लेखकों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का संकलन मात्र करता तो उसके ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व न होता । उस समय की अराजकता से व्यथित होकर ग्रोशियस ने राष्ट्रों के रीति-रिवाजों में प्रकट होने वाले स्वच्छन्द आचरण की अपेक्षा प्राकृतिक कानून को अधिक ऊँचा माना और अपनी विलक्षण प्रतिभा और अगाध विद्वत्ता से युद्ध के न्याय्य, अन्याय्य कार्यों का प्रामाणिक वर्णन किया । उस समय युद्धकाल में की जाने वाली अमानुषिक बर्बरताओं से ऊबे हुए राजनीतिज्ञों को इसकी बड़ी आवश्यकता थी । ग्रोशियस का ग्रन्थ इन सामायिक आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण बड़ा लोकप्रिय हुआ ।

युद्ध के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसने उसकी बर्बरता और क्रूरता को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया । युद्ध की वैधता के सम्बन्ध में संशय होने पर उसने उसे टालने पर तथा संधि-चर्चा द्वारा विवादास्पद समस्याओं के समाधान पर बल दिया । मानवीयता, दूरदर्शिता और धर्म के नाम पर बड़े प्रभावशाली शब्दों में उसने युद्ध में निर्दयतापूर्ण कार्यों का निषेध किया, उसकी दृष्टि में पराजित और बन्दी बनाये शत्रु का वध केवल उसी दशा में उचित है, जब विजेता के प्राण संकट में हों या पराजित व्यक्ति ने कुछ भीषण अपराध किये हों । सैनिक आवश्यकता होने पर शत्रु की सम्पत्ति का विध्वंस करना चाहिये । यदि शरीरबन्धकों (Hostages) ने कोई बुरा काम न किया हो तो उनका वध नहीं किया जाना चाहिये । विजित प्रदेशों के व्यक्तियों को कुछ विषयों में विशेषतः धर्म के क्षेत्र में कुछ स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये । उस समय तक मुसलमानों के साथ तथा अन्य गैर-ईसाइयों के साथ युद्ध और शान्ति के व्यवहार में भेदभाव बरता जाता है । मुसलमानों को संधि करने योग्य नहीं समझा जाता था, इनके साथ युद्ध में सभी प्रकार का व्यवहार उचित बताया जाता था । ग्रोशियस ने मुसलमानों के साथ संधि करने में कोई आपत्ति नहीं समझी । वह अपराधों के नियन्त्रण करने के लिये अपराधियों के प्रत्यर्पण (Extradition) के पक्ष में था । महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का उसने प्रबल समर्थन किया । राजदूत को उसने कानून की दृष्टि से उस देश के प्रदेश से बाहर माना, इसके लिये उसने Quasi extra territorium शब्द का प्रयोग किया, यही वर्तमान समय में प्रदेशबाह्यता (Exterritoriality) के विचार के रूप में विकसित हुआ । वह राजदूत को राज्य के फौजदारी कानून के क्षेत्रा-

धिकार से बिलकुल बाहर समझता था, उसके मत में गम्भीर अपराध का दोषी होने पर दण्डित करने के लिये राजदूत को स्वदेश में वापिस लौटा देना चाहिये। संधियों को उसने संविदाओं से भिन्न समझा। तटस्थता के सम्बन्ध में कानूनी दृष्टि से विस्तृत विचार करने वाला वह पहला लेखक था। उसका यह मत था कि तटस्थ राज्य को अन्यायपूर्ण प्रयोजन (Wicked purpose) के समर्थन के लिये कुछ नहीं करना चाहिये और इस प्रकार न्याय्य पक्ष की सहायता करनी चाहिये।

ग्रोशियस के ग्रन्थ में कई बड़े दोष हैं। नसबौम के मतानुसार इसमें पाण्डित्य का प्रदर्शन आवश्यकता से बहुत अधिक है, इसकी तर्क प्रणाली अतिभारपूर्ण (Ponderous) है।[२४] सारा ग्रन्थ बड़ा असंतुलित है, इसमें वैयक्तिक कानून के विषयों का अधिक विस्तार से वर्णन है। धार्मिक विवादों से बहुत अधिक बचने का प्रयत्न करते हुए प्रायः सभी उदाहरण प्राचीन साहित्य और इतिहास से लिये गये हैं। इसमें अनेक दकियानूसी तथा प्रतिगामी सिद्धान्त हैं, ग्रोशियस ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जनता को अत्याचारी राजा का प्रतिरोध करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे राजा के विरुद्ध जनता का युद्ध करना अन्यायपूर्ण (Unjust) है।

किन्तु इन दोषों के होते हुए भी ग्रोशियस अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संस्थापक समझा जाता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्राध्यापक लौटरपाख्ट ने यह ठीक ही लिखा है "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान क्षेत्र को देखते हुए ग्रोशियस का 'युद्ध और शान्ति' भले ही अधूरा हो, किन्तु इस विषय पर यह पहला विस्तृत और व्यवस्थित ग्रन्थ था। ग्रोशियस इस विषय का पहला लेखक नहीं था। युद्ध के नियमों पर १५४३ में बेल्ली ने, १५८१ में अयाला ने तथा १५९८ में जैण्टली ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण रीति से लिखा था। १५३२ के लगभग विटोरिया ने और १६१२ में सुआरेज ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की समस्या को समग्र रूप से विधिशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की आधारशिलाएँ स्थापित की थीं। किन्तु ग्रोशियस से पहले किसी व्यक्ति ने इस विषय का सर्वांगीण प्रतिपादन करने का प्रयत्न नहीं किया। इस ग्रन्थ में बहुत से विषय ऐसे हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत कभी नहीं माने जाते रहे, किन्तु १६२५ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझे जाने वाले सभी विषयों का समावेश इसमें है।"

इस ग्रन्थ को मिली अभूतपूर्व सफलता और ग्रोशियस की लोकप्रियता इन तथ्यों से स्पष्ट हो जायेगी। अब तक लैटिन में मूल ग्रन्थ के ५० संस्करण हो चुके हैं, डच, इंगलिश, फ्रेंच, जर्मन, स्वीडिश, स्पेनिश, चीनी और जापानी में इसके अनेक अनुवाद छप चुके हैं। १९१५ में इंगलैंड में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन के लिये बनी संस्था का नाम ग्रोशियस सोसायटी रखा गया। १९२० में मित्रराष्ट्रों ने जर्मन सम्राट् कैसर के हालैण्ड भाग जाने पर जब डच सरकार से उसके प्रत्यर्पण की माँग की तो उसे पुष्ट करने के लिये ग्रोशियस के ग्रन्थ के प्रमाण दिये। १९२५ में ग्रोशियस के 'युद्ध और शान्ति' ग्रन्थ के प्रकाशन के ३०० वर्ष पूरे होने पर इसकी त्रिशताब्दी बड़ी धूमधाम से

२४. नसबौम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२२

मनायी गई और इस समय इस पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित होने से पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका के महान्यायवादी (Attorney General) श्री जेक्सन ने हिटलर के जर्मनी के प्रति अपनायी हुई भेदभावपूर्ण तटस्थता की नीति का समर्थन ग्रोशियस के आधार पर किया। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर युद्धापराधियों पर अभियोग चलाते समय ग्रोशियस के ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में ग्रोशियस की साक्षी बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है। आजकल यद्यपि उसके ग्रन्थ का विस्तृत अध्ययन पिछली शताब्दियों की भाँति नहीं होता, किन्तु उसके विचार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार बने हुए हैं।

स्टार्क के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास पर ग्रोशियस का स्थायी प्रभाव पड़ा है। न्यायालयों के निर्णयों में तथा सुप्रसिद्ध लेखकों के ग्रन्थों में ग्रोशियस का ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से उद्धृत किया जाता है। उसके कुछ सिद्धान्तों ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत प्रभावित किया है जैसे सब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कानून के नियम द्वारा अनुशासित होने का सिद्धान्त, न्याय्य तथा अन्याय्य युद्धों का अन्तर, व्यक्ति के मौलिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की मान्यता, शान्ति का विचार, विशेष प्रकार की तटस्थता (Qualified neutrality) का सिद्धान्त। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि ग्रोशियस की पुस्तक के परिणामस्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ।"[२५]

ग्रोशियस का ग्रन्थ प्रकाशित होते ही उसे असाधारण लोकप्रियता और महत्व मिला। इसका कारण इस पुस्तक के आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त इसके प्रकाशन का समय और विशेष परिस्थितियाँ भी थीं। ब्रियर्ली ने इनका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इस पुस्तक के छपने के समय तक ग्रोशियस इतना विख्यात हो चुका था कि उसकी लेखनी से प्रसूत कोई भी रचना विद्वत्समाज में समादृत होने के योग्य थी। **दूसरा** कारण ग्रोशियस का ऐसे देश का नागरिक होना था, जो १६वीं शती में स्पेन के विरुद्ध स्वातन्त्र्य संग्राम में प्रसिद्ध हो चुका था और १७वीं शती में अनेक दृष्टियों से योरोप का एक प्रमुख राज्य और योरोपियन सभ्यता का नेता था। धार्मिक सहिष्णुता और लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्र संस्थाओं के विकास में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था। जब इंगलैंड में निरंकुश राजसत्ता और लोकतन्त्र का संघर्ष चल रहा था, फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से पूर्व सारे योरोप में स्वेच्छाचारी शासनों का बोलबाला था, उस समय हालैंड ने निरंकुश राजसत्ता का अन्त कर अपने देश में स्वतन्त्रता की ध्वजा का उत्तोलन किया था। **तीसरा** कारण इस ग्रन्थ का असाधारण पाण्डित्य और ग्रीक तथा रोमन ग्रन्थों के प्रमाणों और उद्धरणों की बहुलता थी। अतः पुनर्जागृति के आन्दोलन से प्रभावित, रोमन कानून में अगाध श्रद्धा रखने वाले योरोपियन विद्वत्समुदाय में इस ग्रन्थ का मान्य होना सर्वथा स्वाभाविक था। **चौथा** कारण प्राकृतिक कानून को सदाचरण की कसौटी बनाना था। यह शब्द सबके लिये बड़ा आकर्षक था। **पाँचवाँ** कारण उस समय युद्धों में बरती

२५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टु इंटरनेशनल लॉ, ४र्थ संस्करण, पृष्ठ ६

जाने वाली भीषण उच्छृङ्खलता से लोगों का ऊब जाना था। इसे बन्द करने की तीव्र आवश्यकता सभी राजनीतिज्ञ अनुभव कर रहे थे। ग्रोशियस का ग्रन्थ इस विषय में उनका पथ-प्रदर्शन करने से बड़ा लोकप्रिय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन सम्प्रदाय (Three Schools of International Law)—ग्रोशियस के ग्रन्थ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में विचार एवं चिन्तन को प्रबल प्रेरणा प्रदान की। इस समय राष्ट्रों के पारस्परिक सम्पर्क बढ़ने, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों, राष्ट्रीय राज्यों के विकास और योरोपियन साम्राज्यों के विस्तार ने इस विषय के अध्ययन को बड़ा महत्वपूर्ण बनाया। इन कारणों से इस विषय के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण होने लगा। इसके परिणामस्वरूप तीन प्रकार की विचारधारायें या सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। **पहले** सम्प्रदाय के लेखक इस कानून के सैद्धान्तिक पक्ष पर बहुत बल देते थे, प्राकृतिक कानून (Natural law) को प्रधानता देने के कारण ये **प्रकृतिवादी** (Naturalists) कहलाते थे। **दूसरा** सम्प्रदाय राष्ट्रों के वास्तविक आचरण को अधिक महत्व देता था। इसके मतानुसार विभिन्न राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में पालन किये जाने वाले रीति-रिवाजों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविक सत्ता थी। राष्ट्रों के ऐसे निश्चित कानून (Positive law of nations) की सत्ता के अस्तित्व में विश्वास रखने के कारण यह **अस्तिवादी** (Positivist) सम्प्रदाय कहलाता था। **तीसरा** सम्प्रदाय ग्रोशियस का अनुयायी होने के कारण ग्रोशियन (Grotian) कहलाता था। यह पहले दो सम्प्रदायों के मध्यवर्ती था और राष्ट्रों के कानूनों के दो आधार प्राकृतिक कानून तथा रीति-रिवाजों और संधियों को मानता था। किन्तु ग्रोशियस की भाँति यह इन दोनों में प्राकृतिक कानून को अधिक प्रबल नहीं मानता था। इन तीनों सम्प्रदायों के प्रमुख मन्तव्य और विचारक निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रकृतिवादी** (Naturalists)—ये रीति-रिवाजों या संधियों पर आधारित राष्ट्रों के किसी वास्तविक कानून (Positive law) की सत्ता नहीं स्वीकार करते थे। इनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रकृति के कानून (Law of nature) का अंग है। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक हॉब्स ने निरंकुश सत्ता का समर्थन करने के लिए १६५१ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ The Leviathan में प्रकृति के कानून का विशद प्रतिपादन किया था। उसके मतानुसार मनुष्य स्वभावतः पशुतुल्य, समाज-विरोधी और दूसरों के साथ लड़ने वाला है, यह उसकी प्राकृतिक दशा है। किन्तु आत्मसंरक्षण के विचार से वह अन्य व्यक्तियों के साथ समझौता करके लड़ाई आदि के अपने प्राकृतिक अधिकार लेवियाथन (Leviathan) को सौंप देता है, बाइबल के मतानुसार यह समुद्री महाराक्षस है, किन्तु हॉब्स के मत में यह उपर्युक्त समझौता करने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं का मूर्तरूप है और सर्वोच्च शासक के रूप में व्यक्तियों का नियन्त्रण करता है। राज्यों में जब तक इस प्रकार का कोई समझौता नहीं होता, तब तक वे एक दूसरे के प्रति प्राकृतिक दशा (State of nature) में हैं अर्थात् एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध की स्थिति में हैं।

मध्यकालीन धर्मशास्त्री प्रकृति के कानून को ईश्वरीय कानून समझते थे क्योंकि

उनके मतानुसार ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा माना जाता था। किन्तु इस नये सिद्धान्त में इसे धर्मशास्त्र से विच्छिन्न कर दिया गया। इससे राज्य अपनी प्रभुसत्ता (Sovereignty) पर अधिक बल देने लगे, वे और किसी उच्च कानून की सत्ता न मानते हुए अपने आचरण के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक किये अपने समझौते को ही प्रमाण मानने लगे।

हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सेमुअल प्यूफनडोर्फ (Samuel Pufendorf) ने प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लागू किया। १६७२ में प्रकाशित उसकी रचना De jure natural let gentium में उसने ऐसी प्राकृतिक दशा की कल्पना की जिसका मूलसिद्धान्त प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह अपने साथियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाये। जहाँ कोई कार्य ऐसे परिणाम उत्पन्न करें, उन्हें प्राकृतिक नियम समझा जाना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के मानदण्ड का निर्धारण किसी रिवाज या संधि द्वारा नहीं होता, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मामले में बुद्धि के प्रयोग द्वारा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम केवल प्राकृतिक नियम से विकसित होते हैं। इस सिद्धान्त के अन्य अनुयायी Christian Thomasius (1655–1726), Jean Barbayrac (1674–1744) तथा Jean Jacques Burlanaqui (1694–1748) हैं।

(२) **अस्तिवादी सम्प्रदाय** (Positivist School)—यह सम्प्रदाय प्रकृतिवादियों का सर्वथा विलोम है। प्रकृतिवादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई पृथक् भावात्मक (Positive) सत्ता या अस्तित्व नहीं मानते, वे प्राकृतिक कानून की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत अस्तिवादी सम्प्रदाय राष्ट्रों द्वारा आपसी व्यवहार में पालन किये जाने वाले रीति-रिवाजों और सन्धियों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविक और भावात्मक (Positive) सत्ता में विश्वास रखता है और इसे प्राकृतिक कानून से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन १६४७ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सिविल लॉ के प्रोफेसर रिचर्ड ज़ौचे (Richard Zouche) के ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ हुआ। इसमें उसने इस बात पर बहुत बल दिया था कि रूढ़ि या प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण स्रोत समझना चाहिये। किन्तु राष्ट्रों का रिवाज होना ही कानून का पर्याप्त आधार नहीं है। यदि किन्हीं राष्ट्रों में शत्रु की नाक काटने की प्रथा हो तो इससे यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं बन सकता। अतः ज़ौचे ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लक्षण करते हुए कहा कि यह अधिकांश सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत ऐसी प्रथायें हैं जो बुद्धि के अनुकूल हैं।

१८वीं शती में इसी सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा। एक डच न्यायाधीश बिन्करशोइक (Bynkershoek) ने १७०२ से १७३७ के बीच अनेक ग्रन्थ लिखकर इस सम्प्रदाय को पुष्ट किया। उसने प्रकृति के कानून का स्थान बुद्धि और तर्क को प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो मुख्य स्रोत बुद्धि और प्रथा (Usage) माने। उसके मत में स्थायी रूप से चली आने वाली प्रथा अनेक पीढ़ियों की तथा विभिन्न राष्ट्रों की सम्मिलित बुद्धि और तर्क का परिणाम होती है। अतः इस प्रकार की प्रथा पारस्परिक सहमति पर आधारित प्रथा की भाँति विभिन्न पक्षों द्वारा पालन योग्य समझी

जाती है। उसने एक बार यहाँ तक कहा कि विभिन्न राष्ट्रों में स्वेच्छापूर्वक (Tacit) समझौते द्वारा स्वीकार की गई प्रथाओं के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई पृथक् सत्ता नहीं। एक जर्मन विद्वान् जॉन जेकब मोजर (John Jacob Moser) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी सन्धियों तथा प्रथाओं का विशाल संग्रह करके पूर्वोदाहरणों (Precedents) के रूप में इस कानून को भावात्मक (Positive) स्वरूप प्रदान करने में बड़ा सहयोग प्रदान किया। ऐसा ही कार्य गांटिजन के प्रोफेसर जार्ज फ्रीडरिक डीमार्टेन्स (George Friederich de Martens) ने १७८८ में अपने एक ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा किया।

(३) **ग्रोशियन सम्प्रदाय** (Grotian School)—यह पहले दोनों सम्प्रदायों का मध्यवर्ती था, राष्ट्रों का दो प्रकार का कानून मानता था—प्राकृतिक कानून तथा स्वेच्छापूर्वक प्रथाओं और संधियों के रूप में स्वीकार किया हुआ कानून। १७वीं और १८वीं शती में इसके दो प्रबल पोषक क्रिश्चियन वुल्फ (१६७९–१७५४) तथा वैटल (१७१४–१७६७) थे। जर्मन दार्शनिक वुल्फ ने सब राष्ट्रों के एक ऐसे महान् गणराज्य (Civitas gentium maxima) की कल्पना की, जो अपने अंगभूत सभी सदस्य-राज्यों पर अनुशासन रखने वाला विश्व राज्य हो। वैटल सैक्सनी राज्य के कूटनीतिक विभाग में काम करने वाला स्विस विधिशास्त्री था। १७५८ में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक Le Droit des gens प्रकाशित हुई। यह कहा जाता है कि वह मौलिक विचारक होने की अपेक्षा दूसरों के विचारों का अधिक प्रचारक था। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने प्राकृतिक दशा (State of nature) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। राष्ट्रों का निर्माण सभ्य समाज की स्थापना से पूर्व स्वाभाविक रूप में स्वतन्त्र रहने वाले मनुष्यों से मिलकर होता है, अतः इन राष्ट्रों को प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रतापूर्वक रहने वाले नागरिकों की भाँति समझना चाहिए। जिस प्रकार प्राकृतिक रूप में सब मनुष्य समान होते हैं, इसी प्रकार सब राज्य भी समान होते हैं। राज्यों में शक्तिमत्ता या निर्बलता के आधार पर बड़े-छोटे का कोई भेदभाव नहीं करना चाहिये। एक बौना और एक ऊँचे कद वाला दोनों व्यक्ति एक जैसे मनुष्य होते हैं, इसी तरह एक छोटा गणराज्य भी वैसा ही प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य है, जैसा सबसे शक्तिशाली राज्य। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के क्षेत्र में **राज्यों की समानता** (Equality of States) का विचार वैटल की एक बहुत बड़ी देन है।

वैटल ने प्रकृति के कानून को राष्ट्रों पर लागू करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई भेद किये। पहला भेद राष्ट्रों **का आवश्यक या प्राकृतिक कानून** (Necessary or Natural law of Nations) था। ये ऐसे नियम थे, जिनके सत्-असत् होने में किसी प्रकार सन्देह ही नहीं हो सकता था। इन नियमों का पालन राज्यों के लिए आवश्यक था। इनका उल्लंघन होने पर राज्यों को आत्म-रक्षा के उपाय करने का पूरा अधिकार था। दूसरा भेद **राष्ट्रों का ऐच्छिक कानून** (Voluntary law of Nations) का है। कई बार कुछ मामलों में प्राकृतिक कानून को लागू करने में बड़ा सन्देह होता है, इनमें प्रत्येक राज्य इसकी व्याख्या अपनी इच्छानुसार करता है। कई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को

वास्तविक हानि पहुचाये बिना ऐसे कानूनों का पालन नहीं करते। इनमें कानूनों का पालन उनकी इच्छा पर होता है। अतः यह ऐच्छिक कानून है। वैटल के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तीसरा भेद सन्धियों के रूप में पारस्परिक अभिसमयों (Conventions) द्वारा तय होने वाला **अभिसमयात्मक कानून** (Conventional law) है। चौथा भेद विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पालन की जाने वाली प्रथाओं और रूढ़ियों का कानून (Customary law) है।

वैटल की विचार पद्धति बड़ी जटिल थी, किन्तु उसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इस पद्धति से जो उदार और मानवीय परिणाम निकाले, वे बड़े लोकप्रिय हुए। उसने न्याय्य तथा अन्याय्य युद्ध के विचार को समाप्त कर दिया। उसके ऐच्छिक कानून से प्रत्येक राज्य को अपने मामलों में कार्य की स्वाधीनता मिली, प्रभुसत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्त को पोषण मिला। उसने कुछ अवस्थाओं में राज्यों के एक अंश को मूल राज्य से पृथक् होने का अधिकार माना। वैटल का यह उदार दृष्टिकोण भी उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक हुआ। ग्रोशियस ने निरंकुश सत्ता का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून लिखा था, वैटल ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का पोषण करते हुए अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया।

१९वीं तथा २०वीं शतियाँ—इनमें कई कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास बड़ी तेज़ी से हुआ। **पहला** कारण योरोप में नये शक्तिशाली राज्यों का अभ्युदय, योरोपियन देशों द्वारा विशाल साम्राज्यों का निर्माण, यातायात के साधनों में उन्नति, नवीन आविष्कार और अधिक विध्वंसक शक्ति रखने वाले शस्त्रास्त्रों का निर्माण था। **दूसरा** कारण ब्रिटिश और अमरीकन न्यायालयों द्वारा युद्ध में पकड़े गये जहाज़ों और माल के सम्बन्ध में किये गये अनेक निर्णय और कई विधिशास्त्रियों द्वारा इस विषय पर सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रकाशन था। ग्रेट ब्रिटेन में विलियम स्काट ने तथा सं० रा० अमरीका में प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने अधिग्रहण कानून (Prize law) के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय दिये। ब्रिटिश लेखकों में फिलिमोर, हाल, वाकर, लारेन्स, वेस्टलेक, आपेनहाइम के नाम उल्लेखनीय हैं। सं० रा० अमरीका में इस विषय पर लिखने वाले प्रमुख व्यक्ति हेनरी ह्वीटन, थियोडोर वूल्जी, फ्रांसिस लीवर, रिचर्ड डाना, मूर, हाइड, स्टोवेल और हेकवर्थ हैं। योरोप में इसके प्रधान विचारक क्लबर हेफर, ब्लंशली, जेलिनेक, इहरिंग और कौफमेने हुए। **तीसरा** कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली अनेक संधियों का तथा अनेक सम्मेलनों का सम्पन्न होना था। नैपोलियन के पतन के बाद योरोप के राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिये १८१५ में हुई वियना की महासभा योरोपियन राजनीतिज्ञों का ऐसा पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, जिस ने डेन्यूब जैसी कई देशों में से होकर गुजरने वाली नदियों में नौचालन के अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाये, विभिन्न प्रकार के राजदूतों के पदों की प्रतिष्ठा के पौर्वापर्य का क्रम निश्चित किया। इसी समय रूस के ज़ार एलेग्ज़ेण्डर प्रथम की प्रेरणा से अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में ईसाइयत के सिद्धान्त को लागू करने के लिये **पवित्र संघ** (Holy Alliance) बनाया गया, किन्तु इसने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

ग्रेट ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने १८१५ में एक **चतुर्मुख मैत्री संघ** (Quadruple Alliance) बनाया, इसका उद्देश्य जनता की शान्ति और कल्याण के कार्यों पर तथा महत्वपूर्ण सामान्य हितों के प्रश्नों पर विचार करने के लिये समय-समय पर सम्मेलन बुलाना था। इसके चार सम्मेलन १८१८, १८२०, १८२१, तथा १८२२ में हुए। १८२० के ट्रोप्पौ के सम्मेलन में यह महत्वपूर्ण निश्चय किया गया कि यदि किसी राज्य के आन्तरिक विद्रोह से दूसरे राज्यों की सुरक्षा या सत्ता संकटग्रस्त हो तो वे इसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकते हैं। १८२२ के बाद इस संघ का कोई अधिवेशन नहीं हुआ।

पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris)—क्रीमिया के युद्ध के बाद पेरिस में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस, प्रशिया और सार्डीनिया ने समुद्री युद्ध के सम्बन्ध में चार नियमों की घोषणा की। यह **पेरिस की घोषणा** (Declaration of Paris) कहलाती है। ये चार नियम निम्नलिखित थे—

(क) युद्ध संलग्न देशों द्वारा वैयक्तिक सशस्त्र जहाजों की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा (Privateering) का अन्त किया जाता है।

(ख) तटस्थ देशों के जहाजों में युद्ध में विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband) के अतिरिक्त शत्रु का माल जा सकता है।

(ग) शत्रु देश के जहाजों में यदि युद्ध में विनिषिद्ध वस्तुओं के अतिरिक्त तटस्थ देशों का अन्य कोई माल लदा हो तो इसे पकड़ा नहीं जा सकता है।

(घ) परिवेष्टन या तटरोध (Blockade) के प्रभावशाली होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लिये शत्रु देश के तट पर पहरे के लिये इतने अधिक जहाज रखे जाएँ कि वह दुष्प्रवेश्य हो। १८८८ ई० में स्वेज नहर में सब देशों के निर्बाध नौचालन के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ।

हेग सम्मेलन—पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्ष में रूस के ज़ार की प्रेरणा पर हेग में २६ राष्ट्रों के सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष को कम करने के लिये कई महत्वपूर्ण निश्चय किये। यद्यपि १८९९ का **पहला हेग सम्मेलन** शस्त्रास्त्र निर्माण की सीमा निर्धारित करने के अपने प्रधान उद्देश्य में सफल नहीं हो सका, फिर भी इसने स्थल युद्ध में सब राष्ट्रों द्वारा पालन किये जाने वाले आचरण के कुछ नियम निश्चित किये। इसमें यह सिद्धान्त भी स्वीकार किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय का सबसे अधिक प्रभावशाली और न्यायपूर्ण साधन पंचायती निर्णय (Arbitration) है। **पंचायती निर्णय का स्थायी न्यायालय** (Permanent court of Arbitration) स्थापित किया गया। यद्यपि यह सम्मेलन सब राष्ट्रों को अनिवार्य रूप से पंचायती निर्णय का साधन स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं कर सका, युद्ध छेड़ने के प्रत्येक राष्ट्र के सर्वोच्च अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सका, किन्तु फिर भी इसने पहली बार विभिन्न राष्ट्रों द्वारा स्थल युद्ध में पालन किये जाने वाले नियमों का निर्माण किया तथा यह प्रदर्शित किया कि पारस्परिक सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काननों का निर्माण हो सकता है।

१५ जून १९०७ से आरम्भ होने वाले **दूसरे हेग सम्मेलन** में भाग लेने वाले ४४ राष्ट्रों ने १३ अभिसमयों (Conventions) पर हस्ताक्षर किये। ये समझौते प्रधान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निम्न विषयों के सम्बन्ध में थे—शान्तिपूर्ण निपटारा, युद्ध आरम्भ करने के नियम, स्थल युद्ध के नियम, तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य, युद्ध छिड़ने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति, व्यापारिक जहाजों को सशस्त्र जहाजों में परिणत करना, समुद्र के अन्दर सुरंगें बिछाना, युद्ध के समय जहाजों द्वारा गोलाबारी के नियम, समुद्री युद्ध के नियम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय (International Prize Court), समुद्री युद्ध में तटस्थ शक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य।

दूसरे हेग सम्मेलन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे बड़ा दोष ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अभाव है, जो "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या कर सकें और इनका पालन करवा सकें"[२६]। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस अभाव की पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ (League of Nations) और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई। अगले अध्यायों में इनके कार्यों का विस्तार से वर्णन किया जायगा। १९२५ में फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और बेल्जियम के मध्य सम्पन्न हुई **लोकार्नो सन्धि** द्वारा यह निश्चय किया गया कि जर्मनी और बेल्जियम तथा जर्मनी और फ्रांस की सीमाओं के सब झगड़े शान्तिपूर्वक निपटाये जायेंगे। १९२८ ई० के **केलाग-ब्रिआं पैक्ट** (Kellogg-Briand Pact) के अनुसार संसार के अधिकांश देशों ने यह घोषणा की कि वे अपने विवादों का निर्णय शान्तिपूर्ण उपायों से ही करेंगे। पहली जुलाई १९२९ को ४७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने जेनेवा में एकत्र होकर रणक्षेत्र में आहत और बीमार व्यक्तियों के साथ तथा युद्ध-बन्दियों के व्यवहार के सम्बन्ध में दो अभिसमय किये, युद्ध-बन्दियों के साथ प्रतिशोधपूर्ण तथा क्रूर व्यवहार को वर्जित ठहराया गया। रणक्षेत्र में आहतों और बीमारों की शुश्रूषा में संलग्न तथा चिकित्सा करने वाले व्यक्तियों को विशेष सुविधायें प्रदान की गईं। राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने (Codification) के भी कुछ प्रयत्न किये।

जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून को खुली चुनौती दी गई। १९३९ में आरम्भ होने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को भंग किया गया। किन्तु इस युद्ध ने शान्ति बनाये रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय की आवश्यकता को बड़ी तीव्रता से अनुभव कराया। परिणामस्वरूप २४ अक्टूबर १९४५ को सं० रा० संघ की स्थापना हुई। १९४६ में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय के लिये न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) बनाया गया। १९४८ में मानवीय अधिकारों का **सार्वभौम घोषणापत्र** तैयार किया गया। जातिवध (Genocide), शरणार्थियों आदि के सम्बन्ध में अनेक समझौते किये गये। अगले अध्यायों में सं० रा० संघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International

२६. जेसप—ए मार्डन लॉ आफ नेशन्स, पृ० ८

Law Commission) के कार्यों का वर्णन किया जायगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अनेक प्रबल बाधायें हैं। किन्तु अणुबमों की विभीषिका ने इनके निराकरण की अनिवार्य आवश्यकता सब विचारकों के चित्त पर भली भाँति अंकित कर दी है। वे यह अच्छी तरह समझ गये हैं कि मानव जाति के परित्राण का एकमात्र उपाय भावी युद्धों की संभावना को समाप्त करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तथा इसे पालन कराने वाले समुचित संगठन का विकास करना है। इसके अतिरिक्त मानव समाज की सत्ता के सातत्य को बनाये रखने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। **नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय।** इस बात की पूरी संभावना है कि भविष्य में इसका विकास तीव्र गति से होगा। पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पर्याप्त प्रगति हुई है। १९३४ में प्रिवी कौंसिल ने हाल (Hall) की सुप्रसिद्ध पुस्तक की भूमिका से एक अवतरण उद्धृत करते हुए अपने एक निर्णय में लिखा था—"पिछली दो शताब्दियों पर दृष्टिपात करने पर हम यह देखते हैं कि प्रत्येक पचास वर्ष की अवधि की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस अवधि के आरम्भिक काल की अपेक्षा अधिक सुसंगठित दशा में है। शनैः-शनैः इसकी जड़ें सुदृढ़ होती गई हैं और कार्य का क्षेत्र भी बढ़ता चला गया है। यही बात इसके भविष्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है"[२८]।

२७. जे० बी० मूर—दी अमेरिकन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, सं० १, १९०७, पृ० १२

द्वितीय अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप
(Nature of International Law)

समाज में सुव्यवस्था और शान्ति बनाये रखने के लिए व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिए कुछ नियम आवश्यक होते हैं। यदि ऐसा न हो तो समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाए। जब मनुष्य किसी समाज या राष्ट्रीय राज्य (National State) के रूप में संगठित होते हैं तो वे आपसी व्यवहार के लिये कुछ नियमों की सत्ता स्वीकार करते हैं। मनुस्मृति (७।३), महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि भारतीय ग्रन्थों में एक ऐसे आदिम समाज की कल्पना की गई, जिस में न राजा था और न राज्य। जंगल के कानून या मात्स्य न्याय का प्रचलन था,[1] बड़ी मछली छोटी मछली को खाती थी, प्रबल निर्बल के अधिकारों का अपहरण करता था। इस शोचनीय स्थिति का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने आपस में मिलकर राजा की और राज्य की संस्था का निर्माण किया और उसमें पालन किये जाने वाले नियमों को निश्चित किया। राज्यों के निर्माण तथा समाजों के संगठन के बाद इनके आपसी सम्बन्ध बढ़ने लगे और इनके पारस्परिक व्यवहार के लिए नियमों की आवश्यकता हुई। रीति-रिवाज और रूढ़ि (Custom) द्वारा ये नियम बनने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के इन नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाने लगा।

नियम और कानून (Rule and Law)—इन नियमों के लिए कानून (Law) शब्द के प्रयोग ने अनेक जटिल वाद-विवाद उत्पन्न किये हैं, अतः इन दोनों का भेद जान लेना आवश्यक है। नियम समाज में व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करने के लिए बनाये जाते हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं और कई बार इनका पालन कानूनी नियमों की अपेक्षा अधिक दृढ़ता के साथ होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन नियमों को पालन कराने के लिये बाध्य कराने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) अधिक प्रबल होती है। उदाहरणार्थ, चोरी करना धार्मिक और नैतिक दृष्टि से पाप समझा जाता है। धर्म और नीति मनुष्य के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जिस व्यक्ति के मन पर चोरी करने पर पापी होने या धर्मविरुद्ध कार्य करने के कारण रौरव नरकगामी होने का भय अच्छी तरह अंकित हो गया है, वह चोरी कभी नहीं करेगा। इसी प्रकार जिस नियम के विषय में प्रबल लोकमत और रूढ़ि बन जाती है, उस नियम

---

१. महाभारत १२।५६७।१८, अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥

का भी उल्लंघन बहुत कम किया जाता है। इसीलिये हमारे यहाँ यह कहा जाता है—**शास्त्राद्रूढिः बलीयसी।**

किन्तु कानून (Law) राजकीय आदेश के कारण बाधित रूप से पालन किये जाने वाले नियमों को कहते हैं। राज्य इनका उल्लंघन करने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था करता है। इस दण्ड के भय से लोग इसका पालन करते हैं। प्रायः राज्य के उन्हीं कानूनों का अधिक पालन होता है, जिनको राजदण्ड के भय के अतिरिक्त मनुष्यों के अन्तःकरण तथा प्रबल लोकमत की अनुज्ञप्ति या सम्मोदन (Sanction) का बल प्राप्त हो। यदि चोरी के सम्बन्ध में पाप का विचार बिल्कुल उठ जाय, समाज में चोर को निन्दा और घृणा की दृष्टि से न देखा जाय तो केवल राजदण्ड के भय से चोरी के कानून का बहुत अधिक पालन नहीं हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शासन और व्यवस्था की वैसी ही प्रबल आवश्यकता है, जैसी राष्ट्रीय क्षेत्र में। किन्तु इसे बनाये रखने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जैसे राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी सब व्यवस्थाओं को बलपूर्वक पालन करवाने के लिये राज्यों की शक्ति का विकास हुआ है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पालन करा सकने में पूर्ण रूप से समर्थ किसी शक्ति का अभी तक आविर्भाव नहीं हुआ है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे राष्ट्रीय कानून जैसी बाध्यकर्त्री शक्ति (Sanction) नहीं है। इस अवस्था में यह प्रश्न होता है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहना कहाँ तक उचित है। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। यहाँ विभिन्न विधिशास्त्रियों द्वारा की गयी इसकी कुछ मुख्य परिभाषाओं का वर्णन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा (Definition of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लक्षण करते हुए पुराने लेखकों और विद्वानों ने इस कानून के आधारभूत स्रोतों—तर्क बुद्धि तथा न्याय के तत्वों पर बल दिया है और नवीन लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान तत्वों पर। इसकी कुछ प्रसिद्ध परिभाषायें निम्नलिखित हैं—(१) अमरीकन विधिशास्त्री ह्वीटन (Wheaton) ने लिखा है—"सभ्य राष्ट्रों में माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह स्वतन्त्र राष्ट्रों में विद्यमान समाज का स्वरूप देखकर तर्कबुद्धि द्वारा निश्चित किये गये न्यायानुकूल आचरण के नियमों से निर्मित होता है। इसमें विभिन्न देशों की सामान्य सहमति से इन नियमों में किये गये संशोधन भी सम्मिलित होते हैं।"[२]

(२) ब्रिटिश विधिवेत्ता सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने अपने लक्षण में इसके विभिन्न तत्वों पर बल देते हुए लिखा है—"राष्ट्रों का कानून एक जटिल

२. ह्वीटन—एलीमेण्ट्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, अनुच्छेद, १४.

International law as understood among civilised nations, may be defined as consisting of those rules of conduct which reason deduces, as consonant to justice from the nature of the society as existing independent nations, with such definitions and modifications as may be established by general consent.

पद्धति है, यह अनेक तत्वों से मिलकर बना है। इसमें इन तत्वों का समावेश है—अधिकार एवं न्याय के वे सामान्य सिद्धान्त जो प्राकृतिक समन्याय (Equity) की दशा में रहने वाले व्यक्तियों के आचरण के लिए तथा राष्ट्रों के सम्बन्धों और आचरण के लिए समान रूप से उपयुक्त हों, प्रथाओं (Usages), रूढ़ियों या आचारों (Customs) का, तथा विधान-शास्त्रियों की सम्मतियों का संग्रह, सभ्यता तथा व्यापार का विकास, निश्चित कानून (Positive) की संहिता।[3]

(३) ब्रिटिश विधिशास्त्री हाल (Hall) ने इस परिभाषा को सरल बनाते हुए यह कहा है—अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के ऐसे नियम हैं जिन्हें वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार में ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य (Binding) समझते हैं, जिस शक्ति के साथ सदसद्विवेकी (Conscientious) कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं और यह समझते हैं कि इनका उल्लंघन होने की दशा में उपयुक्त साधनों द्वारा इन्हें लागू किया जा सकता है।[4]

(४) उपर्युक्त सभी लक्षण पिछली शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के वर्तमान विकास से पहले किये गये थे। आधुनिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए स्टार्क (Starke) ने यह नई परिभाषा की है—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा कानून समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन सिद्धान्तों तथा आचरण के नियमों से हुआ है, जिनके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इनका पालन करने के लिये बाध्य हैं। अतएव वे सामान्य रूप से अपने पारस्परिक सम्बन्धों में इनका पालन करते हैं। इसमें निम्न प्रकार के नियम भी सम्मिलित हैं: (क) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की कार्यप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाले तथा इन संस्थाओं के राज्यों तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम। (ख) व्यक्तियों से तथा राज्येतर सत्ताओं (Nonstate entities) से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम उस अंश तक इसके अन्तर्गत हैं, जिस अंश तक ऐसे व्यक्ति और राज्येतर सत्ताएँ अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अध्ययन या चिन्तन का विषय हैं।"[5] इस लक्षण से स्टार्क

३. मेन—इण्टरनेशनल लॉ, १८८३, पृ० ३३

The law of nations is a complex system, composed of various ingredients. It consists of general principles of right and justice, equally suited to the conduct of individuals in a state of natural equity and to the relations and conduct of nations, of a collection of usages, customs and opinions, the growh of civilization and commerce and a code of positive law.

४. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १

International law consists in certain rules of conduct which modern civilized states regard as being binding on them in their relations with one other with a force comparable in nature and degree to that binding the conscientious person to obey the laws of his country, and which they also regard as being enforceable by appropriate means in case of infringement.

५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १

ने व्यक्ति के मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह लक्षण बहुत व्यापक है, किन्तु जटिल भी है।

(५) कुछ आधुनिक लेखकों ने इसके बड़े सरल और संक्षिप्त लक्षण किये हैं। प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री **ओपेनहाइम** (Oppenheim) के मतानुसार "राष्ट्रों का कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रथागत (Customary) तथा आपसी समझौतों से बने अभिसमयात्मक (Conventional) नियमों का संग्रह है, जिन्हें सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध में अवश्य पालन करने योग्य समझते हैं।"[६]

(६) **ब्रिअर्ली** (Brierly) के मतानुसार "राष्ट्रों के कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह कार्य करने के ऐसे नियमों और सिद्धान्तों के समूह हैं, जो सभ्य राज्यों द्वारा एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध में बाधित रूप से पालन किये जाने वाले होते हैं।"[७]

(७) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने **एस० एस० लोटस** के मामले (देखिये प्रथम परिशिष्ट) के निर्णय में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभिप्राय उन सिद्धान्तों से है जो सब स्वतन्त्र राज्यों के मध्य (व्यवहार में) लागू होते हैं।"[८]

(८) प्रिवी कौंसिल ने **वैस्टरेण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी लिमिटिड** (देखिये प्रथम परिशिष्ट) के मामले में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा था—"ये ऐसे नियम हैं, जिन्हें सभ्य राज्य एक-दूसरे के प्रति तथा एक-दूसरे के नागरिकों के प्रति अपना व्यवहार निश्चित करने वाला समझते हैं।"[९]

(९) **लारेन्स** ने इसकी बड़ी सुन्दर और लघु परिभाषा करते हुए लिखा है—"ये ऐसे नियम हैं जो सभ्य राज्यों के सामान्य समूह के पारस्परिक व्यवहारों का निर्धारण करते हैं।"[१०] इस परिभाषा में सब विवादास्पद शब्दों से बचने का प्रयत्न किया गया है। इसमें कानून (Law) के स्थान पर नियम (Rule) शब्द का प्रयोग किया गया है। 'सब राज्यों' के स्थान पर 'सभ्य राज्यों के सामान्य समूह' का व्यवहार किया गया है। यह सम्भव है कि कुछ राज्य विशेष परिस्थितियों में स्वार्थवश इन नियमों का उल्लंघन करें,

६. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १

International law is the name for the body of customary and conventional rules which are considered legally binding by civilized states in their intercourse with each other.

७. ब्रिअर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स

The law of Nations or international law may be defined as the body of rules and principles of action which are binding upon civilised states in their relations with each other.

8. "The principles which are in force between all independent nations."

9. "The form of the rules accepted by civilised states as determining their conduct towards each other and towards each other's subjects."

10. The rules which determine the general body of civilised states in their mutual dealings.

किन्तु सभ्य राज्यों का सामान्य समूह इनका उल्लंघन नहीं करता। लारेंस ने यह भी लिखा है कि सभ्य राज्यों का अभिप्राय ईसाई राज्य नहीं हैं, किन्तु टर्की, जापान, चीन जैसे गैर-ईसाई राज्य भी सम्मिलित हैं। इस परिभाषा का व्यवहार (Dealings) शब्द बहुत व्यापक है, इसमें शान्तिपूर्ण और शत्रुतापूर्ण दोनों प्रकार के व्यवहार सम्मिलित हैं, अतः यह परिभाषा अन्य लक्षणों की अपेक्षा सुस्पष्ट, सुनिश्चित और सुन्दर है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्व (Essentials of International Law)—उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) यह एक कानूनी पद्धति है। इसका निर्माण निम्नलिखित तत्वों से होता है—(क) विभिन्न राष्ट्रों के मध्य में पाये जाने वाले पारस्परिक व्यवहार या आचरण के नियम (Rules of Conduct), (ख) रिवाज या परम्परायें (Usages), (ग) विभिन्न राष्ट्रों में किये जाने वाले समझौते या अभिसमय (Conventions)।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मूल प्रतिपाद्य वस्तु (Contents) ऐसे नियम हैं जिन्हें सभी स्वतन्त्र तथा सभ्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। अतः वे इनके पालन के लिये बाध्य हैं।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को बाध्य रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) हाल के मतानुसार मनुष्यों की सत्-असत् का विवेक कराने वाली बुद्धि है, जो उन्हें अपने देश के कानूनों का पालन करने के लिये बाध्य करती है। सं० रा० संघ (U. N. O.) के चार्टर में दिये गये कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का भंग होने पर यह संघ द्वारा अथवा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) के द्वारा लागू किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का चार प्रकार का वर्गीकरण (Classification of International Law)—(क) **सार्वजनिक तथा वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून** (Public and private International Law)—इसका वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। **पहला प्रकार** इसे सार्वजनिक (Public) और वैयक्तिक (Private) अन्तर्राष्ट्रीय कानून नामक दो बड़े वर्गों में विभक्त करता है। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध ऐसे विषयों से होता है, जो दो या अधिक राज्यों के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) में आते हैं। अनेक राज्यों या राष्ट्रों के क्षेत्राधिकार में आने के कारण इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाता है। किन्तु इनका सम्बन्ध व्यक्तियों के साथ होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई ब्रिटिश नागरिक इंगलैंड में विवाह करने के बाद भारत में आ जाता है और कुछ समय बाद इस विवाह के विषय में या तो इसके तलाक के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता है तो भारत के न्यायालयों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इस मामले में इंगलैंड का कानून लागू किया जाय या भारत का। इस प्रकार इसमें दो कानूनों का टकराव पैदा होने से इसे डायसी (Dicey) के शब्दों में "कानूनों का संघर्ष" (Conflict of

laws) भी कहते हैं। पिट काब्बेट के अनुसार "वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों का समूह है जो दीवानी मामलों में किसी देश के एक न्यायालय के सामने आये ऐसे प्रश्नों और क्षेत्राधिकार को निश्चित करता है, जिसमें एक विदेशी तत्व होता है। इनका सम्बन्ध विदेशी व्यक्तियों से, विदेशी वस्तुओं से तथा विदेशों में आंशिक अथवा सम्पूर्ण रूप से किए गए व्यापारों (Transactions) से होता है, अथवा किसी विदेशी कानूनी पद्धति से होता है।"

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उद्देश्य अथवा लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(१) न्यायालय के अभियोग या वाद (Suit) सुनने का अधिकार रखने की योग्यता (Competency) का निर्णय करना—वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन शर्तों का प्रतिपादन तथा निर्धारण करता है, जिनके अनुसार किसी मामले में 'कानूनों का संघर्ष' उत्पन्न होने पर यह निर्णय किया जाता है कि प्रस्तुत मामले पर विचार करने का अधिकार किस देश के न्यायालय को है। कुछ वर्ष पहले समाचारपत्रों में यह प्रकाशित हुआ है कि श्री रिज़वी नामक एक भारतीय नागरिक ने स्विट्ज़रलैंड की एक महिला से सं० रा० अमरीका में विवाह किया, बाद में रिज़वी ने उसे तलाक दिया और इस विवाह से उत्पन्न संतान—एक लड़की को लेकर भारत चला आया। मातृस्नेह से विह्वल माँ अपनी लड़की को लेने के लिये भारत आई, उसने दिल्ली के एक न्यायालय में पुत्री की प्राप्ति के लिए आवेदनपत्र दिया। इस मामले में यह विवाद उत्पन्न हुआ कि इसे सुनने का अधिकार अमरीकन न्यायालय को है, स्विट्ज़रलैंड की अदालत को है या भारतीय न्यायालय को। (२) इसका दूसरा उद्देश्य इस बात का निर्णय करना है कि किसी ऐसे मामले में किस देश का कानून लागू किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह प्रश्न है कि इस मामले में कौन-सा कानून प्रामाणिक समझकर लागू किया जाय—सं० रा० अमरीका का कानून, स्विट्ज़रलैंड का अथवा भारत का कानून। (३) इसका तीसरा उद्देश्य इन मामलों में विदेशी न्यायालयों के निर्णयों की वैधता का निर्णय करना है। उदाहरणार्थ, रिज़वी के मामले में यदि सं० रा० अमरीका अथवा स्विट्ज़रलैंड के न्यायालयों ने कोई निर्णय किये हों तो भारतीय न्यायालयों को यह निर्णय करने का पूरा अधिकार है कि वे कहाँ तक वैध माने जा सकते हैं और लागू किये जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के कानूनों का एक बड़ा भेद स्पष्ट करते हुए सर राबर्ट फिलिमोर (Robert Philimore) ने लिखा है कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से प्राप्त होने वाले अधिकार पूर्ण एवं निरपेक्ष (Absolute) होते हैं, यदि इनका भंग हो तो यह युद्ध का कारण (Casus belli) बन सकता है, इन्हें प्राप्त करने के लिये लड़ाई छेड़ना उचित समझा जा सकता है। किन्तु वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम विभिन्न राज्यों में सम्पर्क बढ़ाने के लिए तथा उन्हें सुविधा देने के लिए होते हैं, अतः ये पूर्ण और निरपेक्ष नहीं होते। दोनों कानूनों का एक दूसरा भेद यह है कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानन विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में होता है, अतः उसमें दोनों पक्ष दो राज्य होते हैं। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ऐसी स्थिति नहीं है। इसमें एक ही देश के न्यायालय विदेशियों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मामलों में लागू किये जाने

वाले सिद्धान्तों और नियमों का निश्चय करते हैं। इस दृष्टि से इस कानून के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विशेषरण का प्रयोग भ्रामक है।

(ख) **वास्तविक और प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून** (Substantive and Procedural International Law)—**वर्गीकरण का दूसरा प्रकार** वास्तविक (Substantive) तथा प्रक्रियात्मक (Procedural) अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। देश की स्वतन्त्रता से तथा किसी प्रदेश पर स्वामित्व से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का कानून वास्तविक (Substantive) कहलाता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध वास्तविक (Substantive) अधिकारों से होता है। इन अधिकारों की रक्षा करने की विधियाँ तथा अधिकारों का हनन होने पर प्रतिकार के उपाय प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समझे जाते हैं।

(ग) **तीसरा प्रकार** अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को युद्ध और शान्ति के दो बड़े भागों में विभक्त करता है। पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता माने जाने वाले ग्रोशियस (Grotius) की पुस्तक का नाम ही 'युद्ध और शान्ति पर' (De Jure Belli ac Pacis) है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का वर्णन इन दो वर्गों में बाँट कर किया है। पहले युद्ध के नियमों पर बहुत बल दिया जाता था, आजकल शान्ति के नियमों का विकास महत्वपूर्ण माना जाता है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्गीकरण के **चौथे प्रकार** का आधार यह है कि कोई एक कानून या नियम कितने राज्यों पर लागू होता है। इस दृष्टि से इसे **विशेष** (Particular), **सामान्य** (General) और **सार्वभौम** (Universal) नामक तीन वर्गों में बाँटा जाता है। १८१७ में ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका में रशबेगोट (Rush-Bagot) समझौता हुआ, इसके अनुसार दोनों देशों ने यह निश्चय किया कि वे महाझीलों (Great Lakes) के प्रदेश में कोई सेना नहीं रखेंगे। यह विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून हुआ। दो देशों में होने वाली संधियाँ इसी वर्ग में आती हैं। **सामान्य** अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आशय ऐसी संधियों, समझौतों और नियमों से है जिन्हें विश्व की प्रमुख शक्तियाँ तथा अधिकांश देश स्वीकार करते हैं। युद्ध का परित्याग करने वाले १९२८ के केलाग-ब्रीआं पैक्ट को ६३ राज्यों ने स्वीकार किया था, सं० रा० संघ के चार्टर को उसके १३१ सदस्यों ने माना है। अतः ये सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समझे जाते हैं। तीसरा वर्ग **सार्वभौम** अन्तर्राष्ट्रीय कानून का है, इसमें ऐसे नियम आते हैं, जो सभी राज्यों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक परम्परागत (Customary) नियम इसी प्रकार के हैं, जैसे राजदूतों के विशेषाधिकार, तीन मील तक के समुद्र को तटवर्ती राज्य की सीमा में मानना, महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the High Seas)।

(ङ) लन्दन विश्वविद्यालय के जार्ज श्वार्त्सनबर्जन ने **चौथे प्रकार** का एक अभिनव वर्गीकरण किया है। वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को **शक्ति** (Power), **सहयोग** (Co-ordination) तथा **पारस्परिकता** (Reciprocity) के तीन वर्गों में बाँटता है। स्वामी और दास के सम्बन्ध पहले वर्ग में आते हैं, प्रबल और निर्बल राष्ट्रों में इस प्रकार के

सम्बन्ध होते हैं। सहयोग के कानून के उदाहरण स्त्रियों के व्यापार का निरोध, अफीम के व्यापार का निरोध, शरणार्थियों के साथ व्यवहार के नियम हैं। इन नियमों के पालन कराने में सभी राष्ट्र एक-दूसरे को सहयोग देते हैं। तीसरा वर्ग पारस्परिकता के नियमों का है। इनमें राजदूतों के विशेषाधिकार, अपराधियों के प्रत्यर्पण (Extradition) आदि के नियम आते हैं। प्रत्येक देश दूसरे देश के राजदूतों को कुछ सुविधायें देता है और ऐसी ही सुविधायें उसके राजदूत अन्य देशों में प्राप्त करते हैं। यदि एक देश किसी दूसरे देश के राजदूतों की सुविधायें छीनता है तो दूसरा देश पहले देश के राजदूत की सुविधायें समाप्त कर देता है। यही पारस्परिकता का व्यवहार है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिपाद्य विषय (Subject matter of International Law)—ग्रोशियस के मतानुसार इस के मुख्य अंग युद्ध और शान्ति के कानून हैं। विख्यात विधिवेत्ता आपेनहाइम ने इस विषय पर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक को दो खण्डों में विभक्त करते हुए एक में शान्ति के तथा दूसरे में युद्ध के नियमों का वर्णन किया है। वस्तुतः इसमें शान्ति के नियमों की ही प्रधानता है। डा० जेन्क्स (Jeynks) ने वर्तमान शान्ति के कानूनों को निम्न आठ अंगों में बाँटा है[११]—(१) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के स्वरूप का तथा कानून निर्माण की प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करने वाला कानून। (२) राज्यों के मध्य विभिन्न सम्बन्धों को अनुशासित करने वाला कानून—इसमें प्रदेश विषयक तथा महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के, आकाश की प्रभुता के क्षेत्राधिकार के, राज्यों के उत्तरदायित्व के और राज्यों के पारस्परिक सम्पर्क के नियम आते हैं। (३) अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियों द्वारा सुरक्षित किये जाने वाले मानवीय अधिकार—इनमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नागरिक (Civil) सभी प्रकार के अधिकार आते हैं। (४) अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप रखने वाली सम्पत्ति के तथा कापीराइट, पेटेण्ट आदि के अधिकार। (५) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा बनाये गये हवाई, समुद्री यातायात के नियम, विभिन्न आर्थिक और प्राविधिक समझौते। (६) वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध रखने वाले नियम। (७) संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के सम्पन्न करने, वैध बनाने, इनके संशोधन, व्याख्या और समाप्ति करने के नियम। (८) अन्तर्राष्ट्रीय पंचनिर्णय (Arbitration) के नियम।

सं० रा० संघ के महामन्त्री द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) को विचारणीय विषयों के सम्बन्ध में दिए गए एक आवेदनपत्र में इसके २५ अंग बनाये गए हैं। ये इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (Subjects) अर्थात् राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत, राज्यों के कानून के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्व, राज्यों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, राज्यों और सरकारों की मान्यता, राज्यों और सरकारों का उत्तराधिकार (Succession), घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic jurisdiction), विदेशी राज्यों की मान्यता, विदेशी राज्यों पर क्षेत्राधिकार, प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial jurisdiction) के दायित्व, राष्ट्रीय

११. दी ब्रिटिश यीअर बुक आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९५४, पृ० १०

प्रदेश से बाहर किये गये अपराधों का क्षेत्राधिकार, राज्य का प्रादेशिक क्षेत्र (Domain), महासमुद्रों तथा प्रादेशिक समुद्र पर प्रभुता, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा, राष्ट्रीयता और राज्यहीनता (Statelessness), कूटनीतिक सम्पर्क (Diplomatic intercourse) और विशेषाधिकार, व्यापारिक प्रतिनिधियों का संपर्क और विदेशियों (Alien) के साथ व्यवहार, प्रत्यर्पण (Extradition), आश्रयदान (Asylum) का अधिकार, संधियों का कानून और राज्य का उत्तरदायित्व, मध्यस्थ निर्णय की प्रक्रिया, युद्ध के कानून। इस सूची में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लगभग सभी प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन आ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या वास्तव में कानून है? (Whether International Law is true law?)—**(क) पूर्वपक्ष**—इस प्रश्न पर विधिशास्त्रियों में तीव्र मतभेद है। आस्टिन (Austin), हालैंड (Holland) आदि पुराने कानूनवेत्ताओं का यह मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है। किन्तु अधिकांश अर्वाचीन विचारक और विधिशास्त्री इसे कानून मानते हैं। यहाँ दोनों पक्षों के मतों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून न मानने वाले प्रमुख विचारक निम्नलिखित हैं—

(अ) प्रिवी कौन्सिल के लार्ड चीफ जस्टिस कोलरिज ने **फ्रेंकोनिया** (Franconia) के मामले में अपना निर्णय देते समय पहले पक्ष का प्रबल पोषण करते हुए कहा था—"सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अयथार्थ शब्द (Inexact expression) है। यदि इसकी अयथार्थता को मन में न रखा जाय तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कानून से यह सूचित होता है कि कोई कानून को बनाने वाला है तथा इसे लागू करने वाला तथा इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय है। किन्तु सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्यों के लिए कोई विधान निर्माता नहीं है और न ही किसी न्यायालय को यह अधिकार है कि वह उन्हें अपने आदेशों द्वारा इसके पालन के लिये बाधित कर सके और यदि राज्य इस कानून की अवहेलना करें तो उन्हें दण्ड दे सके। राष्ट्रों का कानून प्रथाओं का ऐसा समूह है, जिसके सम्बन्ध में सभ्य राज्यों ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे एक-दूसरे के साथ व्यवहार में इन प्रथाओं का पालन करेंगे। संधियाँ केवल राष्ट्रों के समझौतों का परिणाम हैं और कम-से-कम इंगलैंड में ये संधियाँ न्यायालयों को बाधित नहीं कर सकतीं। न ही विधिशास्त्रियों का किसी विषय में ऐकमत्य न्यायालय को बाधित कर सकता है। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में राष्ट्रों के समझौते का सूचक है और ऐसे विषयों पर ब्रिटिश न्यायालय जब कोई निर्णय देंगे तो वे उसे इंगलिश कानून का अंग मान कर ही देंगे।" सर जेम्स स्टीफन ने भी यही मत प्रकट किया था।

(आ) उपर्युक्त निर्णय का प्रधान आधार ब्रिटिश विधिशास्त्री **जान आस्टिन** (१७६०–१८५६) का कानून सम्बन्धी सिद्धान्त था। इसके अनुसार "कानून" शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियम के लिये किया जाना चाहिये जो विधान निर्माण करने का अधिकार रखनेवाली किसी निश्चित शक्ति द्वारा बनाये गये हों और जिनको किसी भौतिक शक्ति

के बल या दबाब से लागू किया जाता हो। बाध्य रूप से इनका पालन कराने वाली शक्ति को उसने अनुज्ञप्ति या सम्मोदन (Sanction) कहा है।[१२] उसके मतानुसार **"कानून" सदैव एक आज्ञा होती है, यह राजनैतिक दृष्टि से प्रभुसत्ता** (Sovereignty) **रखने वाले की ओर से अपने वशवर्तियों को दी जाती है।** "यदि कानून की इस कसौटी पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कसा जाय तो वह खरा नहीं उतरता। क्योंकि राष्ट्रों का कानून भावात्मक कानून (Positive law) नहीं है। ऐसा कानून सदैव किसी प्रभु-सत्ता सम्पन्न व्यक्ति द्वारा अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को दिया जाने वाला आदेश होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है क्योंकि उसकी स्थापना एक सामान्य सम्मति (General opinion) से होती है। उसके पालन की बाध्यकर्त्री शक्ति (Sanction) नैतिक ही है, क्योंकि सामान्य रूप से स्वीकृत और सम्मानित अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को तोड़ते हुए राज्यों को यह डर होता है कि इससे दूसरे देशों में उनके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न होगा, उन्हें इससे बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी।"[१३] अतएव आस्टिन ने यह मत व्यक्त किया है कि सादृश्य (Analogy) के आधार पर भले ही अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून कह लिया जाय, किन्तु कानून की मौलिक विशेषतायें इनमें नहीं हैं, अतः इन्हें कानून नहीं कहा जा सकता। यह केवल भावात्मक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (Positive International morality) है।

(इ) एक अन्य ब्रिटिश विधिशास्त्री डा० हालैण्ड (Holland) ने भी उपर्युक्त कारणों से आस्टिन के पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने अपने एक प्रसिद्ध तथा बहुधा उद्धृत वाक्य में कहा है कि **"अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र का तिरोधान बिन्दु** (Vanishing Point of Jurisprudence) है। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र तक पहुँचने से पहले ही विधिशास्त्र की सीमा लुप्त और धुंधली होने लगती है, अतः उसे विधिशास्त्र का अंग नहीं मानना चाहिये। इसे सौजन्यवश (By Courtesy) ही कानून कहा जाता है। यह वस्तुतः नैतिक नियमों का संग्रहमात्र है। हालैंड ने इसके दो हेतु दिये हैं। पहला हेतु तो यह है कि इसमें दोनों पक्षों के ऊपर, राज्यों के पारस्परिक विवाद का निर्णय करने वाली कोई शक्ति नहीं है। दूसरा हेतु यह है कि ज्यों-ज्यों राज्यों के एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में संगठित होने से अन्तर्राष्ट्रीय नियम कानूनों जैसा रूप धारण करने लगते हैं, त्यों-त्यों इसका यह स्वरूप

१२. इस शब्द का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। अंग्रेजी का Sanction लेटिन के Sanction से निकला है। इसका मूल अर्थ धर्मार्पण (Consecration) था। इसके बाद इसका प्रयोग धार्मिक दायित्व के रूप में होने लगा। रोमन लेखकों ने इसका व्यवहार किसी नियम के आवश्यक रूप से पालन के लिए किया। बेन्थम ने आधुनिक कानून में इसका वर्तमान अर्थ में प्रयोग आरम्भ किया। हिन्दी में Sanction का असली मूल अर्थ देने वाला शब्द धर्म है, किन्तु इसका उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग सम्भव नहीं है। अतः यहाँ इसके लिये अनुज्ञप्ति या सम्मोदन का प्रयोग किया गया है।

१३ आस्टिन—प्रोविन्स आफ जूरिसप्रडेन्स डिटर्माइण्ड, द्वितीय संस्करण १८६१, पृ० १२७ तथा १७७

लुप्त हो जाता है और संघीय (Federal) सरकार के सार्वजनिक कानून के रूप में परिणत हो जाता है।"

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून न मानने वाले पहले पक्ष की मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—(१) कानून एक सर्वोच्च प्रभुशक्ति सम्पन्न राजनैतिक सत्ता द्वारा बनाये जाते हैं और उस सत्ता की भौतिक शक्ति तथा राजदण्ड के भय द्वारा लोगों को कानून का पालन करने के लिये बाधित किया जाता है। प्रत्येक कानून के पीछे उसका पालन बाध्य रूप से कराने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) अवश्य होनी चाहिये। नैतिक (Moral) नियमों और कानून में यही बड़ा अन्तर है कि पहले में ऐसी शक्ति का सर्वथा अभाव होता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को बाधित रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) का तथा सत्ता (Authority) का अभाव है, अतः इसे कानून नहीं कहा जा सकता।

(२) कानून प्रभुसत्ता (Sovereign body) द्वारा बनाये जाते हैं। विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में यह स्थिति है कि उन पर प्रभुसत्ता रखने वाली और उनके लिये कानून बनाने वाली कोई सत्ता नहीं है।

(३) जिस प्रकार किसी राज्य में व्यक्तियों में विवाद या झगड़ा उत्पन्न होने पर उसके निर्णय के लिये न्यायालय बने हुए हैं, वे कानून की व्याख्या करते हैं और उसे लागू करते हैं, इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की व्याख्या करने तथा उसके विवादों के निर्णय के लिये कोई न्यायालय नहीं है।

किन्तु आस्टिन (Austin) द्वारा उपर्युक्त मत स्थापित किये हुए एक शताब्दी बीत चुकी है। इस बीच में कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में हुए नवीन अनुसन्धानों और चिन्तन ने उसकी उपर्युक्त धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हुई तीव्र प्रगति के कारण उसका मत सर्वथा अमान्य हो गया है। सर हेनरी मेन, लार्ड रसेल आदि विद्वानों ने आस्टिन के मत का प्रबल तर्कों के आधार पर खण्डन किया है। यहाँ इनका संक्षेप से उल्लेख किया जायेगा।

(ख) उत्तर पक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन—इसके प्रमुख समर्थक (अ) **सर हेनरी मेन** (Sir Henry Maine) ने यह प्रदर्शित किया है कि किसी नियम के कानून होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसके पीछे उसके पालन को बाध्य बनाने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) हो। उसके शब्दों में—"आस्टिन ने भाषा की काफी खींच-तान करके प्रदर्शित किया है कि भावात्मक (Positive) कानून में चाहे वह दीवानी हो या फ़ौजदारी, सर्वत्र अनुज्ञप्ति अवश्य पायी जाती है। वस्तुतः उसने यह बहुत बड़ा कार्य (Feat) किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कुछ शिष्य उसकी भाषा से यह परिणाम निकालते हैं कि मनुष्य सदैव दण्ड के भय से नियमों का पालन करते हैं। वस्तुतः यह बिल्कुल असत्य है। मनुष्य अधिकतम नियमों का पालन मन के स्वभाव मात्र से अचेतन रूप में (Unconsciously) करते हैं। मनुष्य कई बार नियमों का उल्लंघन करने पर मिलने वाले दण्डों के भय से भी इनका पालन करते हैं, किन्तु प्रत्येक समुदाय में अचेतन रूप से नियमों का पालन

करने वाले अधिकांश व्यक्तियों की तुलना में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है। यह वस्तुतः अपराध करने वाले वर्गों तक सीमित होती है। यदि एक व्यक्ति दण्ड के भय से चोरी या हत्या नहीं करता तो लाखों व्यक्ति ऐसे हैं जो किसी प्रकार का विचार किए बिना स्वाभाविक रूप से ऐसे कार्य नहीं करते।"[१४]

विभिन्न देशों की प्राचीन तथा अर्वाचीन कानून-पद्धतियों के गम्भीर अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि ग्रास्टिन का यह सिद्धान्त सदैव सत्य नहीं होता है कि कानून एक सर्वोच्च सत्ता रखने वाले प्रभु का आदेश होता है। प्रायः सभी समाजों में कानून का आदिम रूप चिरकाल से चले आने वाले रीति-रिवाज, प्रथायें और रूढ़ियाँ होती हैं। ये किसी सर्वोच्च सत्ता के आदेश नहीं होते, ये किसी कानून बनाने वाली संस्था द्वारा नहीं बनाये जाते; किन्तु फिर भी कानून समझे जाते हैं और इनका पालन कानून की भाँति होता है। इंगलैंड का सारा कॉमन ला (Common Law) और व्यापारिक कानून (Merchant Law) इसी प्रकार विकसित हुआ है, इसे किसी प्रभु के आदेश से नहीं बनाया गया। ब्रिटिश पार्लियामेंट को कानून बनाने का पूरा अधिकार है; किन्तु यह इसे किसी सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा से नहीं मिला।

(आ) किलोवन के **लार्ड रसेल** ने इस विषय का विवेचन करते हुए साराटोगा (न्यूयार्क) में दिये गये अपने प्रसिद्ध भाषण में कहा था "यदि ऐतिहासिक रूप से कानून के विकास पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि कानून से पहले समाज की आरम्भिक दशाओं में प्रथागत (Customary) कानून था।····जिन समाजों में ग्रास्टिन के मतानुसार कानून बनाने वाली संस्था नहीं, वहाँ भी ऐसी प्रथाओं और नियमों का विकास होता है, जो वस्तुतः कानून हैं। इसका उदाहरण व्यापारिक कानून (Merchant Law) हैं। निरंकुश शक्ति के परवर्ती विकास में कानूनों को ग्रास्टिन के अर्थों में एक ऊँची सत्ता की ऐसी आज्ञा समझा जाता है, जिसे बाधित रूप से पालन कराने की शक्ति उसके पास है। किन्तु इसके बाद की अवस्थाओं में जब सरकार स्पष्ट रूप से अधिक लोकतन्त्रीय बनती है, वह सार्वजनिक इच्छा पर आधारित होती है, तब कानून का, बाधित करने वाली शक्ति द्वारा थोपी जाने वाली आज्ञाओं का स्वरूप कम होता जाता है और उन्हें सहमति (Consent) पर आधारित परम्परागत कानून का स्वरूप अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होने लगता है।···मेरा यह दावा है कि राष्ट्रों ने एक-दूसरे के प्रति व्यवहार में जिस नियम-समूह के अनुकूल आचरण करने का निश्चय कर लिया है, उसे यथार्थ रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नाम दिया जाना चाहिये।"[१५]

(इ) **ब्रिअर्ली** (Brierly) ने ग्रास्टिन के "आज्ञा सिद्धान्त" (Command Theory) की आलोचना करते हुए यह सत्य ही लिखा है—"आधुनिक राज्य के कानून का ग्रास्टिन द्वारा किया गया विश्लेषण भ्रामक और अपूर्ण है। यदि इसे सत्य माना जाय तो जब तक हम लक्षण में ठीक बिठाने के लिये तथ्यों की तोड़-मरोड़ नहीं करते, तब

१४. मेन—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ५०
१५. ला क्वार्टर्ली रिव्यू, १८९६, पृ० ३११

तक हम इंगलैंड के कॉमन ला का अस्तित्व नहीं मान सकते । राज्यों के कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पृथक् करने वाली तथा इसके कानूनी स्वरूप में सन्देह उत्पन्न करने वाली अधिकांश विशेषताएँ ऐसी हैं जो विभिन्न कानूनी पद्धतियों के आरम्भिक रूपों में पायी जाती हैं । ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—प्रथा पर आधारित होना, दोनों पक्षों को अपने मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने में या उसे मामला सौंपने में स्वतन्त्र होना, कानून को बनाने और इसे लागू करने की नियमित प्रक्रियाओं का अभाव ।"[१६] सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) का मत है कि "कानून की सत्ता के लिए आवश्यक शर्तें केवल यही हैं कि यह एक राजनैतिक समुदाय की सत्ता हो तथा इसके सदस्य यह समझते हों कि उन्हें कुछ निश्चित नियमों का आवश्यक रूप से पालन करना होगा" ।[१७] सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन दोनों शर्तों को पूरा करता है ।

(इ) स्टार्क (Starke) ने निम्नलिखित कारणों के आधार पर **आस्टिन** के मत का खंडन किया है—(क) वर्तमान ऐतिहासिक विधिशास्त्र (Historical Jurisprudence) ने आस्टिन के कानून विषयक सामान्य सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है । यह भली भाँति सिद्ध किया जा चुका है कि अनेक समाजों में औपचारिक रूप से कानून बनाने की कोई संस्था नहीं थी, फिर भी उनमें कानून की एक पद्धति प्रचलित थी और इसका पालन होता था । (ख) आस्टिन के विचार उसके समय में भले ही सत्य हों, किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए सत्य नहीं हैं । पिछली आधी शताब्दी में सन्धियों और समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बहुत बड़ी मात्रा में निर्माण हुआ है ।[१८]

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन—आपेनहाइम द्वारा आस्टिन के मत का खण्डन—प्रसिद्ध विधिशास्त्री आपेनहाइम (Oppenheim) ने उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है कि हमें कानून का सही अर्थ समझने के लिये कानून (law) और नैतिकता (morality) की तुलना करनी चाहिये, क्योंकि ये दोनों मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार तथा आचरण के नियमों का निर्धारण करती हैं । नैतिकता के नियमों की यह विशेषता है कि वे केवल अन्तःकरण (conscience) पर ही प्रभाव डालते हैं, इनके पालन कराने का साधन अन्तःकरण है । मनुष्य के भीतर की अन्तरात्मा ही इन नियमों का उल्लंघन रोक सकती है । यदि कोई व्यक्ति सत्य बोलने, चोरी या हिंसा न करने के नैतिक नियमों को तोड़ना चाहता है तो उसे रोकने का सामर्थ्य केवल अन्तरात्मा में है, किन्तु बाह्य शक्ति में नहीं । इसके सर्वथा विपरीत कानून का पालन बाह्य शक्ति द्वारा बलपूर्वक कराया जाता है । यदि कोई व्यक्ति सरकार द्वारा बनाये किसी कानून को भंग करता है तो वह राज्य द्वारा पकड़ा जाता है और न्यायालय द्वारा दण्डित होता है । कानून का पालन राज्य की शक्ति तथा दण्ड के भय द्वारा किया जाता

१६. ब्रियर्ली—दी ला ऑफ नेशन्स, पंचम संस्करण, पृ० ७०–७१

१७. पोलक—आक्सफोर्ड लैक्चर्स (१८९०), पृ० १८

१८. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, तृतीय संस्करण, पृ० १८

है । अतः आपेनहाइम के शब्दों में कोई नियम तब नैतिकता का नियम कहलाता है, जब किसी समुदाय की सामान्य सहमति से यह नियम केवल अन्तःकरण पर लागू होने वाला समझा जाता है । दूसरी ओर कोई नियम तब कानून कहलाता है, जब किसी समुदाय की सामान्य सहमति से यह अन्ततोगत्वा बाह्य शक्ति द्वारा लागू किया जाता है।

कानून की सत्ता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इसे बनाने वाली कोई राज-शक्ति हो तथा इसको भंग करने वालों को दण्ड देने के लिये कोई न्यायालय हो । किसी आदिम समाज (Primitive Community) में जब कानून का कोई प्रश्न उत्पन्न होता है तो इसका निर्णय कोई न्यायालय नहीं, किन्तु समूचा समाज करता है । सभ्यता के विकास के साथ, नवीन परिस्थितियों में पूरे समाज के लिये यह कार्य करना सम्भव न रहा । अतः समाज में कानून बनाने वाली विधानसभाओं का तथा कानून को लागू करने वाले न्यायालयों का आविर्भाव तथा विकास हुआ ।

(ई) उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर आस्टिन द्वारा की गई **कानून की परिभाषा को अपूर्ण समझते हुए डा० आपेनहाइम ने इसकी एक व्यापक परिभाषा की है**[१९]—"कानून एक समुदाय में मानवीय व्यवहार के ऐसे नियमों का समूह है, जो इस समुदाय की सामान्य सहमति द्वारा बाह्य शक्ति द्वारा लागू किया जाता है।" यदि इस लक्षण को मान लिया जाय तो कानून की सत्ता के लिये तीन शर्तें (Conditions) आवश्यक हैं:—

(१) समुदाय (Community), (२) इस समुदाय में मानवीय व्यवहार के लिये माने जाने वाले नियमों का समूह, (३) बाह्य शक्ति द्वारा इन कानूनों का पालन कराया जाना । आपेनहाइम ने यह सिद्ध किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ये तीन शर्तें पाई जाती हैं ।

पहली शर्त समुदाय की है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय सब राज्य सर्वोच्च प्रभुसत्ता रखते हैं, एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, इन राज्यों के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नहीं है । फिर भी इन राज्यों के आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और मानवीय हित बहुत कुछ मिलते हैं । इन सामान्य हितों ने इनमें एकता की भावना उत्पन्न करके अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय (International Community) का निर्माण किया है । अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये अनेक प्रकार की संस्थायें बनाई गई हैं । राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा इनसे सम्बद्ध विभिन्न संस्थायें और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की अथवा राष्ट्रों के एक कुटुम्ब (Family of Nations) की सत्ता प्रमाणित करते हैं ।

दूसरी शर्त इस समुदाय के व्यवहार के लिये नियमों की सत्ता है । अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों का एक विशाल संग्रह अब तक बन चुका

१९. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खंड १, अष्टम संस्करण, पृ० १०

"A body of rules for human conduct within a community which by the common consent of the community shall be enforced by an external power."

है। ये नियम दो प्रकार के हैं: (क) परम्परागत, रिवाजी (Customary) या अलिखित, जैसे राजदूतों के लिये विशेषाधिकार, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा संधियाँ जैसे १८५६ का पेरिस का घोषणा-पत्र, स्थलयुद्ध के सम्बन्ध में १८६६ तथा १६०७ में हेग के अभिसमयों (Conventions) द्वारा तय किये नियम, १६२८ का पेरिस का केलाग-ब्रीआं पेक्ट, १६४५ का संयुक्त राष्ट्र का चार्टर।

तीसरी शर्त इन कानूनों का पालन कराने वाली सत्ता या शक्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसका अभाव नहीं है। सबसे बड़ी बाध्य करने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) तो विश्व का प्रबल लोकमत है। इसके सम्मुख बड़े शक्तिशाली राज्यों को नतमस्तक होना पड़ता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण अक्टूबर १६५६ में इंगलैंड और फ्रांस द्वारा मिश्र पर किया गया आक्रमण है। इस समय विश्व के लोकमत ने इंगलैंड और फ्रांस के इस कार्य का इतना प्रबल विरोध किया कि इन्हें मिश्र से अपनी सेनायें वापिस बुलाने के लिये विवश होना पड़ा। समाचारपत्र, पुस्तकें, राजनीतिज्ञों के वैयक्तिक पत्र-व्यवहार इस लोकमत के निर्माण में बड़ा भाग लेते हैं। श्रीरामचन्द्र ने कहा था—**लोकापवादो बलवान्मतो मे**। वर्तमान राज्य भी इसे इतना ही शक्तिशाली समझते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे भले ही किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन करें, किन्तु अपने कार्य को सदैव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक राज्य को अपने देश के तथा दूसरे देशों के लोकमत का आदर करना पड़ता है। यदि वह अपने देश के लोकमत की उपेक्षा करे तो वर्तमान लोकतंत्रों में ऐसे मन्त्रिमण्डलों का अपने पदों पर बना रहना असम्भव हो जाता है। अक्टूबर १६५६ में ब्रिटिश सरकार ने मिश्र पर हमला किया, किन्तु ब्रिटिश लोकमत ने इसका विरोध किया, इसके परिणामस्वरूप तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री ईडन को अपना पद छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। इसी प्रकार प्रत्येक देश को दूसरे देशों के लोकमत का भी सम्मान करना पड़ता है। वर्तमान समय में आर्थिक दृष्टि से सब देशों की एक-दूसरे पर निर्भरता इतनी अधिक बढ़ रही है कि कोई देश पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नहीं है, उसे अपनी सैंकड़ों आवश्यकतायें दूसरे देशों से पूरी करनी पड़ती हैं। अपने विकास के लिये लाखों रुपये के ऋण, सैनिक सामग्री, कारखानों के लिये कच्चा माल अन्य देशों से लेना पड़ता है। यदि वह दूसरे देशों के लोकमत का आदर नहीं करता तो अन्य देशों के आर्थिक बहिष्कार द्वारा उसे इसके लिये विवश किया जा सकता है। अमरीकन राष्ट्रपति विल्सन ने इसी दृष्टि से राष्ट्रसंघ के संविधान में आर्थिक प्रतिबन्धों या दण्डों (Economic Sanctions) की व्यवस्था करायी थी। इटली द्वारा एबीसीनिया पर आक्रमण करने के समय इनका प्रयोग हुआ था। आर्थिक आवश्यकता दूसरे देशों के लोकमत को मानने के लिये किस प्रकार बाधित करती है, इसका सुन्दर उदाहरण ऊपर बताया गया मिश्र पर ब्रिटिश आक्रमण है। कहा जाता है कि अमरीकन सरकार ब्रिटिश सरकार के इस कार्य को बुरा समझती थी, इसी समय ब्रिटिश सरकार को वाशिंगटन से अपनी आर्थिक आवश्यकता के लिये भारी कर्ज लेना था। इसे देने के लिये अमरीकन सरकार ने यह शर्त लगाई कि ब्रिटिश सरकार मिश्र से अपनी फौजें वापिस

बुला ले, इंगलैंड को दूसरे देश के लोकमत का सम्मान करने को बाधित होना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बलपूर्वक लागू कराने वाली दूसरी बड़ी शक्ति राष्ट्र-संघ और सं० रा० संघ की है। अगले अध्यायों में इनके इस कार्य का विशेष रूप से वर्णन किया जायगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि संघ की सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही करने का पूरा अधिकार है और उसने दो बार इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण होने पर सुरक्षा परिषद् के २७ जून तथा ७ जुलाई १९५० के प्रस्तावों के अनुसार पहली बार दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिये १६ देशों के सहयोग से सं० राष्ट्र संघ ने सेनायें भेजीं और सैनिक कार्यवाही की। दूसरी बार सुरक्षा परिषद् ने अक्टूबर १९५६ में मिश्र पर इज़राइल, फ्रांस और इंगलैंड का संयुक्त आक्रमण रोकने के लिये बड़ी प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की तथा इन देशों को अपनी सेनायें वापिस बुलानी पड़ीं। इसके अतिरिक्त सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने १२ दिसम्बर १९५० को पास किये गये एक प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया है। हेग का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विभिन्न राष्ट्रों के कानूनी विवादों के निर्णय करने का कार्य कर रहा है। आपेनहाइम के मतानुसार कानून की तीनों शर्तें पूरी करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानना सर्वथा उचित है।

आपेनहाइम ने कहा है कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि राज्यों के कानून (Municipal Law) जिस बाध्यता और शक्ति के साथ लागू किये जा सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस बाध्यता के साथ लागू नहीं किये जा सकते। ये राज्यों के कानून से कम स्पष्ट (Explicit) और निश्चित हैं। किन्तु फिर भी यह कानून है क्योंकि इसे दो कारणों से लागू (Enforce) किया जाता है। पहला कारण तो यह दृढ़ विश्वास है कि यह उत्तम है और दूसरा कारण वे सूक्ष्म प्रभाव (subtle influences) हैं, जिनके कारण मनुष्यों अथवा संस्थाओं के लिये अपने साथ रहने वाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं के विचारों के प्रतिकूल आचरण करना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार एक राज्य के व्यक्ति वहाँ के सामान्य कानून का पालन राजदण्ड के भय से करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन लोकापवाद के भय से करते हैं और सामान्यतः इसका उल्लंघन इसलिये नहीं करते कि उन्हें इसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा। सामान्य कानून की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस कानून की सत्ता ही नहीं है।

(उ) सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री हाल (Hall) ने इस विषय का विवेचन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानने के विषय में निम्न तर्क दिये हैं[२०]—

(१) विभिन्न राज्य और विधिशास्त्री इसे कानून समझते रहे हैं और इसी रूप में

२०. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, प्रथम अध्याय

वर्णन करते रहे हैं।

(२) कानूनी तर्क प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का विकास होता रहा है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में पूर्वोदाहरणों (Precedents) का कानूनी तौर पर प्रयोग होता रहा है।

(४) जिस प्रकार राज्यों के देशीय कानूनों में प्रामाणिक कानून-विशारदों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इनका अवलम्बन किया जाता है।

(५) विभिन्न राज्यों के आचरण की आलोचना या समर्थन अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्राय: कानूनी दृष्टि से किया जाता है।

(६) यदि देशीय कानून (Municipal Law) राज्य की शक्ति द्वारा लागू किया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लोकमत द्वारा लागू किया जाता है। देशीय कानून की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा ही होता था, उदाहरणार्थ आरम्भिक त्यूतानिक (जर्मन) समाज में यह कानून था कि यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी निश्चित प्रकार की कानूनी क्षति पहुँचाता था तो पहले व्यक्ति को यह अधिकार था कि जब तक उसकी क्षति पूर्ति न हो जाये तब तक वह दूसरे व्यक्ति के पशुओं को पकड़कर अपने पास रखे।[२१] राष्ट्रीय कानूनों में दण्ड देने वाली निश्चित राजनीतिक सत्ता का विकास बहुत देर में हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी आरम्भिक दशा में है। अत: उसमें दण्ड देने वाली तथा कानून को बलपूर्वक लागू करने वाली सत्ता का पूरी तरह विकास नहीं हुआ। किन्तु इसका पूर्ण विकास न होने के कारण उसे कानून न मानना ठीक नहीं है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिकता (morality) से सर्वथा भिन्न है। कानून में, इसे उल्लंघन करने वाला निश्चित राजदण्ड का भागी होता है, नैतिकता में इसके किसी नियम को तोड़ने वाला इस प्रकार के दण्ड का भागी नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता और कानून दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) ने इनका अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल नैतिकता का ही एक प्रकार होता तो विदेश नीति सम्बन्धी राजकीय पत्रों को तैयार करने वाले अपने पक्ष को पुष्ट करने वाली नैतिक युक्ति पर ही अपना सारा बल लगाते। किन्तु वस्तुत: वे ऐसा नहीं करते। वे नैतिक सचाई की भावना की अपील नहीं करते, किन्तु उदाहरणों, संधियों और विशेषज्ञों की सम्मतियों को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं। वे यह बात स्वयंसिद्ध मानकर चलते हैं कि राष्ट्रों के मामले में नैतिक बाध्यताओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी कानूनी बाध्यतायें भी हैं, जिन्हें राजनीतिज्ञ और विधिशास्त्र के लेखक स्वीकार करते हैं।"[२२]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि इसका उल्लंघन

२१. वही, पृ० १५

२२. पोलक—आक्सफोर्ड लेक्चर्स, १८६०, पृ० १८

अधिक और पालन कम होता है। कानून की बड़ी विशेषता तो उसका पालन है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें बड़ी अराजकता दृष्टिगोचर होती है। शक्तिशाली राजा अपनी इच्छानुसार इन नियमों को तोड़ते रहते हैं। वर्तमान काल में संधियों का तोड़ना एक सामान्य घटना हो गई है। उदाहरणार्थ, १८५६ में रूस ने एक संधि में यह स्वीकार किया कि कृष्णसागर में रूस के जंगी जहाजों का बेड़ा नहीं रखा जायगा, १८७० में फ्रेंको-जर्मन युद्ध छिड़ने पर उसने इसका उल्लंघन करते हुए कृष्णसागर में अपना बेड़ा भेज दिया। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस ने बोस्निया हर्जेगोविना नामक दो प्रान्तों पर तुर्क आधिपत्य स्वीकार करते हुए, इन्हें शासन की दृष्टि से आस्ट्रिया के आधीन रखने का निश्चय किया। १९०८ में आस्ट्रिया ने इस समझौते की अवहेलना करते हुए इन दोनों प्रान्तों को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। हिटलर ने वर्साय की सन्धि की अनेक व्यवस्थाओं का उल्लंघन किया। मुसोलिनी ने निर्दोष एबीसीनिया पर चढ़ाई करके उसे अपना दास बनाया। पिछले दोनों महायुद्धों में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की खुल्लम-खुल्ला अवहेलना हुई। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में युद्ध छिड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल विधिवेत्ताओं के दिमाग में ही रह जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूरी अराजकता और मात्स्य न्याय है, किसी प्रकार का कोई नियम नहीं है। इसमें कानून की सत्ता मानना कानून शब्द का भारी उपहास और बड़ी विडम्बना है।

किन्तु यह युक्ति कई प्रकार से दोषपूर्ण है। इसमें **पहला** दोष तो यह है कि नियमों के उल्लंघन मात्र से उनके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। सभी सभ्य देशों में चोरी, डकैती, जालसाज़ी आदि को रोकने के लिये अनेक कानून बने हुए हैं, फिर भी ये अवैध कार्य होते रहते हैं। कानूनों का बहुत अधिक भंग होता है। किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जाता कि इन कानूनों की सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में कानूनों की घोर अवहेलना और उपेक्षा होती है, किन्तु इससे इनके अस्तित्व का अभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्युत यह इनके अस्तित्व का प्रमाण है क्योंकि प्रायः ऐसे अवसरों पर राज्य यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम का भंग नहीं किया। श्री आपेनहाइम (Oppenheim) ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है— व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून माना जाता है। युद्ध के समय विशेष रूप से इसके अतिक्रमण (Violations) अधिक संख्या में होते हैं। किन्तु इसे भंग करने वाले सदैव यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उनके कार्यों में ऐसा अतिक्रमण नहीं हुआ। उन्हें राष्ट्रों के कानून के अनुसार कार्य करने का अधिकार है तथा कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनके कार्यों का विरोध नहीं करता है। तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ते हुए भी वे कभी इसकी सत्ता से इंकार नहीं करते। उनका प्रबल मत यह होता है कि वे इस कानून से अपने आचरण का औचित्य सिद्ध करें, इस प्रकार वे इसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं।"[२३]

२३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खंड १, अष्टम संस्करण, पृ० १५

उपर्युक्त युक्ति में दूसरा दोष यह है कि इसमें पालन की अपेक्षा उल्लंघन की घटनाओं को अधिक महत्व दिया गया है। चार्ल्स श्लीचर ने यह ठीक ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्थाओं द्वारा हजारों विवाद निपटाये गये हैं और इनके निर्णयों की अवहेलना सम्भवतः एक दर्जन से भी कम बार की गई है। किन्तु समाचार-पत्र इस प्रकार की अवहेलना, भंग और युद्ध के समाचारों को बड़े मोटे शीर्षक देकर छापते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में स्वाभाविक घटनायें नहीं, अपितु अस्वाभाविक घटनायें ही समाचार होते हैं। कुत्ते द्वारा मनुष्य को काटना नहीं, किन्तु मनुष्य द्वारा कुत्ते को काटना समाचार होता है। अतएव सन्धि-भंग आदि की अस्वाभाविक घटनाओं को अधिक प्रकाशन प्राप्त होने से यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधिक अवहेलना होती है। वस्तुतः इसका पालन अधिक और उल्लंघन कम होता है। येल विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्था के संचालक श्री ब्रोडी ने लिखा है—"जो सन्धियों का उल्लंघन करते हैं वे इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि अधिकांश सन्धियों का निरन्तर, पूरी ईमानदारी और नियमित रूप से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पालन होता है। सन्धि करने वाले दोनों पक्ष बड़ी असुविधा उठाकर भी इनका पालन करते हैं"।[२४] जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होता है तो दोनों पक्ष अपना दावा न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिये कानूनी युक्तियों का सहारा लेते हैं। यही इस बात का सूचक है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[२५]

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है? (Is International Law a myth ?)—अनेक लेखकों तथा विचारकों की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इतना अधिक भंग किया जाता रहा है कि इसे कानून मानना सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिये राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) की स्थापना की गयी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि अब राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के क्षेत्र में एक नवयुग का श्रीगणेश हो रहा है।

किन्तु राष्ट्रसंघ की विफलता एवं हिटलर द्वारा वर्साय की सन्धि के बारम्बार उल्लंघन से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता में सन्देह होने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९–४५) में इसे इतना अधिक भंग किया गया कि इसकी सत्ता में सन्देह होने लगा। इसमें युद्ध सम्बन्धी किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया। हवाई युद्ध के सभी नियमों को तिलांजलि देते हुए १९३९ में वारसा तथा पोलैण्ड के अन्य नगरों पर अन्धाधुन्ध बम बरसाये गये, सैनिक-असैनिक स्थानों में कोई भेद नहीं रखा गया। १९४० में हालैण्ड में राटरडम के तटस्थ (Neutral) नगर पर बमबारी की गयी। जर्मन वायुयानों ने

२४. ब्रोडी—दी एबसोल्यूट वैपन, एटोमिक पावर एण्ड वर्ल्ड आर्डर, पृ० ८
२५. जैस्सप—ए मार्डन लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ७

लन्दन पर तथा ब्रिटेन के अन्य नगरों पर प्रबल बमवर्षा की। इसके प्रत्युत्तर में ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका ने जर्मन नगरों को हवाई हमलों द्वारा विध्वस्त करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। दोनों पक्षों की ओर से युद्ध में कोई भाग न लेने वाली असैनिक जनता (Non-combatants) का क्रूरतापूर्ण संहार हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सर्वथा प्रतिकूल सार्वजनिक पूजा के स्थानों—चर्चों पर, कला संग्रहालयों, चिकित्सालयों तथा ऐतिहासिक स्मारकों पर बमबारी की गयी। अगस्त १९४५ में जापान के दो नगरों—हिरोशिमा तथा नागासाकी पर सं० रा० अमरीका ने अणुबम गिराकर असैनिक जनता का प्रलयंकर विध्वंस किया। इस युद्ध में तटस्थता (Neutrality) विषयक सभी कानून तोड़े गये। सं० रा० अमरीका ने जर्मनी द्वारा आक्रमण किये गये तटस्थ देशों की सम्पत्ति जब्त कर ली। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है, जंगल के कानून तथा मात्स्य न्याय का साम्राज्य है।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सं० रा० संघ (U. N. O.) का जन्म हुआ। अणुबम की विभीषिका से संत्रस्त तथा प्रलय के कगार पर खड़े विश्व को इस संघ ने तथा इसके विभिन्न अंगों ने अब तक शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान की है। इसने बर्लिन के प्रश्न, तेहरान की समस्या, यूनान, जेरुसलेम, काश्मीर, कोरिया और कांगो की जटिल समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल किया है; यूनान, काश्मीर, पेलेस्टाइन और इण्डोनीशिया में युद्धों की ज्वाला को प्रज्वलित होने से रोका है। कोरिया, मिश्र और कांगो में शान्ति स्थापित की है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा बढ़ायी है।

अतः यह कहना सत्य नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है। द्वितीय विश्वयुद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की घोर अवहेलना तथा प्रचण्ड उल्लंघन हुए, किन्तु सं० रा० संघ ने इसे पुनः असाधारण गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान की है, अब कोई भी राष्ट्र इस कानून की अवहेलना करने पर सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली की घोर निन्दा का पात्र होता है, विश्व के लोकमत का कोपभाजन होता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे प्रबल राष्ट्रों ने जब मिश्र पर आक्रमण किया तो सं० रा० संघ के हस्तक्षेप के कारण उन्हें वहाँ से अपनी फौजें बुलाने को बाधित होना पड़ा। अतः इस समय प्रबल राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने में समर्थ नहीं हैं और इसे कपोल कल्पना (Myth) माननेवाले स्वयमेव कल्पना जगत् में रहते हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुतः समझौतों से बने कानून का अंग है ? (Is the Law of Nations essentially a species of conventional law ?)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सामान्य परिभाषा यह है कि ये ऐसे नियम हैं, जिन्हें प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों ने एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिये स्वीकार कर लिया है। लार्ड एशर (Esher) के मतानुसार किसी नियम को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उस विषय में सब राष्ट्रों की सहमति हो। राष्ट्रों की सहमति वाले समझौतों (Conventions) या अभिसमयों से इसका निर्माण होने के कारण इसे Conventional law का एक भेद समझा जाता है।

सामण्ड (Salmond) के विधिशास्त्र (Jurisprudence) के ११वें संस्करण में कानून के चार भेद माने गये हैं—स्वाभाविक कानून (Natural law), रिवाजी कानून (Customary law), आज्ञात्मक कानून (Imperative law) तथा अभिसमयात्मक कानून (Conventional law)। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कुछ सम्बन्ध इन चारों प्रकारों से है। यह प्राकृतिक कानून है क्योंकि राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) के सिद्धान्त लागू होते हैं। यह रिवाजी कानून है, क्योंकि इसमें राज्यों के आपसी व्यवहार के लिये रिवाज के रूप में चले आनेवाले अनेक नियमों को स्वीकार किया जाता है। यह आज्ञात्मक कानून है, क्योंकि इसमें ऐसे नियम हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मति (International opinion), युद्ध की धमकी अथवा आशंका से राज्यों पर बलपूर्वक लागू किये जाते हैं। यह समझौतों का कानून है, क्योंकि इसके अनेक नियम विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक समझौते करके बनाये जाते हैं। इन चारों प्रकारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध चौथे प्रकार से है, किन्तु इसमें भी एक बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि जब कोई नया राज्य बनता है (जैसे १९४७ में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नवीन राज्य बने) तथा इसे अन्य देशों द्वारा मान्यता दी जाती है तो इस पर पुराने राज्यों के समझौतों द्वारा निश्चित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सब नियम लागू कर दिये जाते हैं, भले ही उस राज्य ने इन समझौतों को अपनी स्वीकृति न दी हो।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दोष तथा इन्हें दूर करने के उपाय (Shortcomings of International Law and steps to improve it)—किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व होते हुए भी वह अपनी आरम्भिक दशा में है। उसके विकास, व्याख्या, निर्णय और पालन कराने के लिये उपयुक्त संस्थाओं का विकास नहीं हुआ। यहाँ इसके दोषों का तथा इन्हें दूर करने के उपायों का वर्णन होगा। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **कानून बनाने वाले का अभाव** (No Lawgiver)–राष्ट्रीय कानून (Municipal law) की भाँति इसका निर्माण करने वाली विधानसभा या संसद् जैसी संस्था तथा इसके अतिक्रमण को दण्डित करने वाले न्यायालय नहीं हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता का एक प्रधान कारण है कि इसका निर्माण करने वाली तथा इसे लागू करने वाली शक्तिशाली संस्थाओं का अभी तक विकास नहीं हो पाया है।

(२) **उग्र राष्ट्रीयता**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता का एक अन्य कारण विभिन्न राज्यों का उग्र राष्ट्रवाद (Excessive nationalism) है। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial sovereignty) में रंचमात्र न्यूनता नहीं आने देना चाहता।

(३) **अस्पष्टता** (Obscurity)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप और अधिकांश नियम अभी तक सुस्पष्ट रूप से सुनिश्चित नहीं हो सके। ये अनेक संधियों, रीतिरिवाजों, विदेश मन्त्रालयों के पत्रव्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा किये गये समझौतों में बिखरे हुए हैं। इसीलिये लार्ड कोलरिज ने **फ्रेंकोनिया** के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय कानून

को केवल ऐसे रिवाजों का संकलन कहा था, जिन पर अधिकांश राज्य सहमति रखते हैं।

(४) किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को यह कानून लागू करने के लिये राज्यों के आन्तरिक मामलों (Domestic affairs) में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपर्युक्त दोषों को अनेक विधिशास्त्रियों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। स्टार्क के मत में "अन्तर्राष्ट्रीय कानून कमजोर कानून (Weak law) है। यह मुख्य-रूप से रिवाजी या प्रथामूलक (Customary) है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनानेवाली वर्तमान संस्था (Machinery) की क्षमता की तुलना राज्यों के कानून बनाने वाली संस्था से नहीं हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकांश नियमों का निर्माण बड़ी कठिनाई से होता है और ये बड़े अनिश्चित होते हैं।" श्री पेटन (Paton) ने इस विषय में लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून संस्थाओं की दृष्टि से बड़ा कमजोर है, इसके नियमों का निर्माण करने वाली कोई व्यवस्थापिका परिषद् नहीं है। यद्यपि एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है, किन्तु यह दोनों दलों की सहमति से ही कार्य कर सकता है, इसके पास अपने निर्णयों को लागू करने के लिये कोई वास्तविक शक्ति नहीं है।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री ब्रियर्ली ने लिखा है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति की दो बड़ी कमियाँ ये हैं कि इस कानून को बनाने और लागू करने वाली संस्थायें बड़ी आरम्भिक (Rudimentary) दशा में है और इसका क्षेत्र बहुत संकुचित है। इस कानून का निर्माण करनेवाली कोई ऐसी संस्था नहीं है जो इस कानून को अन्तर्राष्ट्रीय समाज की नई आवश्यकताओं के अनुरूप बना सके। इसमें कोई ऐसी शासक (Executive) शक्ति नहीं है जो इस कानून को लागू कर सके।"

इन दोषों को दूर करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को शक्तिशाली बनाने के मुख्य उपाय ये हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित बनाने के लिए इसका **संहिताकरण** (Codification) किया जाय। पाँचवें अध्याय में इस दिशा में अब तक किये गये प्रमुख प्रयत्नों का उल्लेख होगा।

(२) उग्र राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास आवश्यक है। जब तक प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीयता के उन्माद में अपनी प्रभुसत्ता के अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive jurisdiction) पर बल देता रहेगा, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राष्ट्रीय हितों के साथ संघर्ष में आने पर उपेक्षित ही रहेगा।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करने की विधियों और साधनों को प्रभावशाली बनाया जाना आवश्यक है।** चार्ल्स फिलिप जेस्सप ने यह सुझाव दिया है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय कानून में चोरी, डकैती, हत्या आदि के अपराध सार्वजनिक चिन्ता का विषय समझे जाते हैं, राज्य इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देने की जिम्मेवारी स्वयं लेता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज में इस सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिये। सब राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के उल्लंघन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। इसमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। इन्हें दूर करने के लिये सं० रा० संघ को कानून पालन कराने का सामान्य अधिकार दिया जाना चाहिए। इस

समय वह केवल शान्ति-भंग होने की दशा में कोई कार्यवाही कर सकता है। सं० रा० संघ को यह अधिकार तभी मिल सकता है, जब सब राज्य अपने अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक त्याग करके एक सहयोगी अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करते हुए विश्वराज्य (World State) की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करें। वर्तमान परिस्थितियों में भले ही विश्वराज्य की स्थापना की 'दिल्ली दूर है', किन्तु मानवीय मस्तिष्क ने इसकी अनिवार्यता को भली भाँति अनुभव कर लिया है। अतः इस दिशा में उसकी प्रगति अवश्यम्भावी है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य बनाना** (Compulsory jurisdiction of International Courts) अत्यन्त आवश्यक है। अब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के सामने राज्य अपने जो मामले स्वेच्छापूर्वक लाते रहे हैं, इनमें न्यायालयों को बड़ी सफलता मिली है, उन्होंने अपने निर्णय बड़ी निष्पक्षता और योग्य रीति से किये हैं और सैकड़ों निर्णयों में से दर्जन से भी कम ऐसे निर्णय होंगे, जिनका राज्यों ने पालन नहीं किया। अन्य सभी निर्णय राज्यों द्वारा माने जाते रहे हैं। किन्तु यदि राज्यों द्वारा अपने विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को आवश्यक रूप से देने का नियम बन जाय तो सब जटिल विवादों का निर्णय न्यायालयों द्वारा शान्तिपूर्ण रीति से सम्भव है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सफलता के लिए उसके **क्षेत्र का विस्तार** अवश्य होना चाहिये। यह दो प्रकार से हो सकता है—(क) इसे व्यक्तियों पर लागू किया जाय, (ख) इसे घरेलू मामलों में भी लागू किया जाय। अब तक यह कानून केवल राज्यों पर लगाया जाता है, व्यक्ति इसका विषय (Subject) नहीं माने जाते। आगे इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार होगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि वर्तमान व्याख्या में किसी अन्य राज्य के कानूनों से यदि किसी व्यक्ति को हानि पहुँचती है तो वह उस राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में दावा करने का अधिकार नहीं रखता, किन्तु उसके राज्य को ही ऐसा अधिकार है। १९५१ में ईरान द्वारा एंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप कम्पनी के आर्थिक हितों को गहरी क्षति पहुँची, किन्तु इस मामले को उसकी ओर से ग्रेट ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उठाया। स्थिति बड़ी अवांछनीय है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता। न्यूरेम्बर्ग और टोकियो में युद्धापराधों के लिये धुरी-राष्ट्रों के प्रमुख अधिकारियों पर चलाये गये अभियोगों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन में वैयक्तिक जिम्मेवारी के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु अभी इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐसा सार्वभौम तथा सर्वसम्मत नियम बनाने की आवश्यकता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण करने वाले राज्यों तथा व्यक्तियों को समान रूप से दण्डित किया जा सके।[२६]

(ग) **ब्रियर्ली** ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वर्तमान मर्यादाओं (Limitations)

२६. चार्ल्स श्लीचर—इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० २०७

को दूर करते हुए इसका क्षेत्र विस्तृत करने पर बल दिया है। इस समय 'घरेलू क्षेत्राधिकार' (Domestic jurisdiction) के अनेक ऐसे मामले हैं, जो दूसरे देशों पर गहरा प्रभाव डालते हैं, किन्तु घरेलू विषय समझे जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में नहीं आते। उदाहरणार्थ, राज्यों द्वारा विदेशों से आकर अपने देश में बसने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध का कानून (Immigration law), राष्ट्रीयता और देशीयकरण (Naturalization) के नियम, आर्थिक क्षेत्र में विदेशी माल पर चुंगी लगाने, कच्चे माल की प्राप्ति, मंडियों आदि के विषय विशुद्ध रूप से घरेलू समझे जाते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, संघर्ष और समस्यायें उत्पन्न करने के कारण इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझा जाना चाहिये। ब्रियर्ली के शब्दों में—"अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कानून तब तक वास्तविक रूप से प्रभावशाली भाग नहीं ले सकता, जब तक कि यह अपने क्षेत्र में ऐसे विषयों का समावेश नहीं कर लेता, जो इस समय अनेक राज्यों के 'घरेलू मामलों' के अन्तर्गत समझे जाते हैं। जब तक यह स्थिति है कि एक राज्य के युक्तियुक्त हितों को दूसरे राज्य के अयुक्तियुक्त कार्य से हानि पहुँचती है और उसके पास ऐसी शिकायत करने का कोई कानूनी आधार नहीं है तो सम्भव है कि हानि उठाने वाला राज्य शक्तिशाली होने पर, कानून द्वारा हानि के लिये उपयुक्त प्रतिकार न मिलने पर, अन्य उपायों से इसका प्रतिरोध करे। वर्तमान स्थिति सर्वोत्तम रूप में शक्तिशाली राज्यों को कानून से बाहर की नीतियाँ अपनाने को विवश करती है, ये नीतियाँ अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये स्वीकार की जाती हैं और इनमें दूसरे राज्यों के हितों का केवल उस हद तक ही विचार रखा जाता है, जहाँ तक दूरदर्शिता की दृष्टि से ऐसा आवश्यक समझा जाय। वर्तमान समय में ऐसी नीतियों की निन्दा पूर्णरूप से नहीं की जा सकती, क्योंकि वे ऐसे युक्तियुक्त (Reasonable) हितों की रक्षा करती हैं, जिन्हें कानून की वास्तविक रूप से पूर्ण पद्धति स्वीकार करेगी और जिन्हें वह संरक्षण प्रदान करेगी। दुर्भाग्यवश इस समय इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि ये नीतियाँ सम्बद्ध राज्यों के युक्तियुक्त हितों के संरक्षण तक ही सीमित रखी जायें।"[२७] उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन की पार्थक्य (Apartheid) की नीति को ही लीजिये, काले गोरों के जातीय भेदभाव के आधार पर इन्हें पृथक् रखने तथा अश्वेत जातियों के साथ भेदभावपूर्ण अन्यायमूलक नीति का अनुसरण करने से यहाँ भारत तथा दूसरे देशों से आकर बसे व्यक्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अफ्रीका के अन्य राज्य इस नीति के घोर विरोधी हैं, मार्च १९६० में शार्पेविल्ले आदि स्थानों में पास कानूनों (Pass laws) के विरुद्ध जबर्दस्त प्रदर्शन और हत्याकाण्ड हुए, सारे अफ्रीका में इससे रोष की प्रबल लहर फैली, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाले इस विषय को जब सुरक्षा परिषद् में उठाया गया तो दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने इस मामले के 'घरेलू विषय' होने के कारण इसे सुरक्षा परिषद् के क्षेत्राधिकार से बाहर का बताते हुए इस पर होने वाले विचार को रोकना चाहा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सफल

२७. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ७५-७६

बनाने के लिए उसका विस्तार दूसरे राज्यों को प्रभावित करने वाले घरेलू मामलों में भी होना चाहिए।

(६) ब्रियर्ली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निर्बलता दूर करने का एक यह भी उपाय बताया है कि **युद्ध के सम्बन्ध में राज्यों के वर्तमान दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर आना चाहिये।** आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शक्ति का प्रयोग एक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है, इससे एक राज्य को अपनी इच्छानुसार दूसरे राज्य से युद्ध छेड़ने का अधिकार है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी है। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मध्यकाल में लेखकों ने अन्यायपूर्ण युद्धों (Bellum injustum) तथा न्यायपूर्ण युद्धों (Bellum justum) में सूक्ष्म अन्तर करते हुए युद्धों पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों ने इसे सर्वथा अव्यावहारिक बताया है। हाल (Hall) के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पास युद्ध को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, भले ही इस युद्ध का उद्गम अन्यायपूर्ण हो।"[२८] यह सर्वथा यथार्थवादी दृष्टिकोण है। किन्तु जैसे राष्ट्रीय कानून में शक्ति का प्रयोग वैध और अवैध दो प्रकार का होता है, अवैध शक्ति का प्रयोग वर्जित है, इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अवैध युद्ध के प्रयोग पर पाबन्दी लगाना आवश्यक है। ब्रियर्ली ने यह सत्य ही लिखा है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्तम्भ बनाना है तो राज्यों को इसके पीछे ऐसी शक्ति की स्थापना करनी होगी जो भौतिक शक्ति के वैध तथा अवैध प्रयोग में सूक्ष्म अन्तर कर सके और उसे बनाये रख सके।[२९]

(७) **श्वार्त्सनबर्जर** (Schwatzenberger) ने चार प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुधारने का सुझाव दिया है। **पहला** प्रकार इस कानून का सुधार है, यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। इसमें कोरे सुधार से काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ, सं० रा० संघ ने अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय बिल तैयार कर दिया है। किन्तु जब तक इसे लागू करने की व्यवस्था न की जाय तो इन नियमों का बनाना बिलकुल निरर्थक है। **दूसरा** प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण (Codification) है। **तीसरा** प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार्वभौम अथवा प्रादेशिक आधार पर पुनर्निर्माण और संशोधन है। १८९९ और १९०७ के हेग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा किया गया अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का संशोधन सब देशों के लिए होने के कारण सार्वभौम कहलाता है। अमरीकी राज्यों द्वारा अमरीकी गोलार्द्ध के लिए तय किए गये अन्तर्राष्ट्रीय नियम प्रादेशिक कहलाते हैं। **चौथा** प्रकार इस अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बनाने और क्रियान्वित करने के लिये शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता का निर्माण है।

किन्तु जब तक इसका निर्माण नहीं हो जाता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

२८. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३३

२९. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ७७

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी इसे सर्वथा निष्फल और निरर्थक समझना ठीक नहीं है। किसी संस्था की सफलता या विफलता का मूल्यांकन उसके उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य उद्देश्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को चलाना है। इसमें यह कानून पूरी तरह से सफल हुआ है, क्योंकि राज्यों का सारा व्यवहार इन्हीं नियमों के आधार पर चल रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार : (क) मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त (The basis of International Law : (A) Theory of Fundamental Rights)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना राज्य अपने लिये क्यों आवश्यक समझते हैं ? इस विषय में विधिशास्त्रियों में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं। पहला मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights) है। इसके अनुसार राज्यों के कुछ मौलिक अधिकार हैं। राज्यों के मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त 'प्राकृतिक दशा' (State of nature) के सिद्धान्त से निकला है। इसके अनुसार यह समझा जाता है कि मनुष्य राजनैतिक संगठन बनाने से पहले 'प्राकृतिक दशा' में रहा करते थे। राज्यों ने अभी तक इन से ऊपर एक अधिराज्य (Super State) का संगठन नहीं बनाया, अतः वे इस समय तक प्राकृतिक दशा में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का निर्माण उसके स्वरूप के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक राज्य के कुछ नैसर्गिक या स्वाभाविक अधिकार हैं। ये **पाँच अधिकार** आत्मसंरक्षण (Self-preservation), स्वतन्त्रता (Independence), समानता (Equality), एक-दूसरे के प्रति सम्मान (Respect) और पारस्परिक सम्पर्क (Intercourse) हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ने इतिहास के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है। लॉक (Locke) ने इसके आधार पर १६८८ की इंगलिश क्रान्ति का समर्थन किया था। लॉक से यह सिद्धान्त अमरीकी क्रान्तिकारियों ने ग्रहण किया और यह उनकी स्वतन्त्रता की घोषणा का तथा फ्रेंच राज्यक्रान्ति का दार्शनिक आधार बना।

किन्तु आजकल इसे कोई सत्य नहीं मानता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में इसे सत्य न मानने के तीन कारण **ब्रियर्ली** के शब्दों में इस प्रकार हैं[३०]—(१) इसमें यह मान लिया गया है कि मनुष्य तथा राज्य अपने प्राकृतिक अधिकार लेकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें ये अधिकार राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य होने के नाते नहीं प्राप्त होते। ये उनके व्यक्तित्व में पहले से विद्यमान होते हैं और इनसे कानूनी पद्धति का निर्माण होता है। किन्तु सचाई यह है कि कोई भी कानूनी अधिकार उस समय तक निरर्थक शब्द-मात्र है जब तक कि इसे वैधता प्रदान करने वाली कानूनी पद्धति नहीं है। कानूनी पद्धति के निर्माण से पहले वैध अधिकारों की कोई सत्ता नहीं होती, किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त में किसी कानूनी पद्धति से पहले ही राज्यों के कुछ नैसर्गिक अधिकार मान लिए गये हैं। ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

कानूनी अधिकार कानूनी पद्धति से प्रादुर्भूत-से होते हैं, न कि कानूनी पद्धति

३०. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पष्ठ संस्करण, पृ० ५०-५१

कानूनी अधिकारों से जन्म ग्रहण करती है।

(२) उपर्युक्त सिद्धान्त का **दूसरा दोष** यह है कि यह व्यक्तियों और राज्यों के सामाजिक सम्बन्ध को गौण समझता है और उनके व्यक्तित्व (Individuality) को अधिक महत्व देता है। इसलिये इसमें समाज के सामूहिक रूप के स्थान पर वैयक्तिक रूप की प्रधानता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह स्थिति वांछनीय नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में राज्यों के वैयक्तिक अधिकार बढ़ाने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने की है। इनके अधिकारों पर इतना ध्यान दिया जाना आवश्यक नहीं है, जितना इनका एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों की भावना समझने का है।

(३) इस सिद्धान्त का **तीसरा बड़ा दोष** यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास अवरुद्ध हो जायगा। यह स्वतन्त्रता और समानता को राज्यों का नैसर्गिक अधिकार मानता है किन्तु ऐसा मानते हुए यह भुला दिया जाता है कि ये अधिकार ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं और राज्यों को आधुनिक युग में ही प्राप्त हुए हैं ऐसे अल्पकालोद्भव अधिकारों को भविष्य में सदा के लिये सत्य सनातन मान लेना एक अस्थायी वस्तु को स्थायी स्वीकार कर लेना तथा भावी विकास के मार्ग को बन्द कर देना है। वर्तमान परिस्थितियों में यह असम्भव प्रतीत नही होता और वांछनीय भी है कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में घनिष्ठता को बढ़ाया जाय। उपर्युक्त सिद्धान्त इस वर्तमान आवश्यकता पर कुठाराघात करता हुआ सब राज्यों को एक-दूसरे से पृथक् रखना चाहता है। यह स्थिति देर तक नहीं बनी रह सकती, इसे ऐसा बनाये रखने वाला सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता।

(ख) सहमति का सिद्धान्त (Consent Theory)—राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाधित रूप से पालन करने के मूल कारण के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त सहमति का है। इसके मुख्य समर्थक अस्तिवादी (Positivists, देखिये ऊपर अध्याय १) हैं। इनके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों का समूह है, जिसके बाधित रूप से पालन की सहमति राज्यों ने प्रदान की है। यह सहमति दो प्रकार से दी जाती है, संधियों द्वारा राज्य स्पष्ट रूप से कुछ नियमों का पालन करना स्वीकार करते हैं। यह स्पष्ट सहमति (Express consent) है। इसके अतिरिक्त दूतों के विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में परम्परागत नियमों (customary rules) को राज्य स्वीकार करते हैं, यह अस्पष्ट या ध्वनित सहमति (Tacit or implied consent) है। आपेनहाइम के शब्दों में राज्यों की सामान्य सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ है। अस्तिवादियों ने इसकी दार्शनिक मीमांसा में हेगल का अनुसरण करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक सत्ता (Metaphysical reality) रखने वाले राज्य की एक अपनी इच्छा (Will) होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जिन्हें विभिन्न राज्यों ने इच्छाओं द्वारा (State Wills) अपने पर स्वयमेव ऐच्छिक प्रतिबन्ध लगाकर स्वीकार किया है। यही उनका आत्मनियमन (Autolimitation) है। इस प्रकार सहमति के बिना अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों पर बाधित रूप से लागू नहीं हो

सकता। उदाहरणार्थ, दूतों की अवध्यता का नियम लीजिये। प्रत्येक राज्य यद्यपि अपने प्रदेश में आये अन्य देशों के दूतों को मारने का अधिकार रखता है, फिर भी उसने अपना आत्मनियमन करके इस विषय में स्वयं अपनी इच्छा से यह प्रतिबन्ध लगाया है कि वह अपने देश में आये दूतों का वध नहीं करेगा। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के जज इटालियन विधिशास्त्री आञ्जिलोत्ती (Anzilotti) ने इसका प्रबल समर्थन करते हुए यह कहा है कि सब अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन बाधित रूप से होने का कारण pacta sunt servanda का मौलिक सिद्धान्त है, इसका अर्थ है कि राज्यों के मध्य तय हुए समझौतों का सम्मान किया जाना चाहिये। सब राज्य इस सिद्धान्त को मानते हैं, अतः वे राज्यों के मध्य किये गये सभी समझौतों का बाधित रूप से पालन करते हैं। इस सिद्धान्त पर सहमति देने के कारण वे राज्यों के सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के पालन के लिये अपनी सहमति प्रदान करते हैं, इसीलिये इन नियमों का पालन होता है।

यह सिद्धान्त कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है। फेनविक (Fenwick), कैलसन (Kelsen), स्टार्क (Starke) तथा ब्रियर्ली (Brierly) ने इसकी कड़ी आलोचना निम्नलिखित कारणों के आधार पर की है—

(१) स्टार्क के कथनानुसार यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वास्तविक तथ्यों से मेल नहीं खाता।[११] रिवाजी नियमों (Customary rules) के सम्बन्ध में अनेक उदाहरणों में यह प्रदर्शित करना असम्भव है कि राज्यों ने इनके बाधित रूप से पालन की सहमति ली है। नये राज्यों के विषय में तो यह सिद्धान्त सर्वथा खण्डित हो जाता है। उदाहरणार्थ, १९६० में अफ्रीका में कांगो, मालीसंघ आदि नये राज्यों का जन्म हुआ, ये अपने जन्मकाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बंधे हुए समझे जाते हैं। किन्तु ये स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाध्य रूप से पालन करने की कोई घोषणा या अन्य कार्य नहीं करते। इसके लिये इनकी कोई ध्वनित (Implied) या अव्यक्त (Tacit) सहमति भी नहीं होती। फिर भी वस्तुस्थिति यह है कि ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका आदि पुराने राष्ट्र नये राज्यों से यह आशा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी नियमों का पालन करेंगे। प्रो० एच० ए० स्मिथ ने इस विषय में ब्रिटिश दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"इस बात पर स्पष्ट रूप से बल दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने समग्र रूप में सभी सभ्य राज्यों पर बाध्य रूप से लागू होता है। भले ही उन्होंने वैयक्तिक रूप से इसके लिये सहमति न प्रदान की हो। कोई भी राज्य इसके सामान्य कानून की अथवा किसी सुप्रतिष्ठित नियम की बाध्यता से अपने को स्वयमेव मुक्त नहीं कर सकता।"[१२]

(२) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम को लागू कराना चाहता है तो उसके लिये यह प्रदर्शित करना आवश्यक नहीं होता कि

३१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३-२४.

३२. स्मिथ—ग्रेट ब्रिटेन एण्ड दी लॉ ऑफ नेशन्स, खण्ड १, पृ० ११-१६

वह राज्य इस नियम पर कूटनीतिक रूप से अपनी सहमति प्रदान कर चुका है। इस समय केवल यही देखा जाता है कि इस नियम को राज्यों के समुदाय द्वारा सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है या नहीं। वैस्टलेक (Westlake) के शब्दों में "यह प्रदर्शित करना पर्याप्त है कि योरोपियन सभ्यता वाले देशों में इस नियम के पक्ष में सामान्य सहमति पायी जाती है।"

(३) इस समय ऐसे संधि-नियमों के पर्याप्त उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें ये नियम राज्यों से बिना किसी प्रकार की सहमति प्राप्त किये हुए उन पर लागू किये जाते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण सं० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद २ के पैराग्राफ ६ की यह व्यवस्था है कि सं० रा० संघ इसका निश्चय करेगा कि संघ का सदस्य न बने हुए राष्ट्र भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुरूप उस हद तक प्रयत्न करेंगे, जहाँ तक कि यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये आवश्यक हो। यहाँ स्पष्ट रूप से दूसरे राज्यों की सहमति के बिना उन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता डाली गई है।

(४) यह सिद्धान्त इस भ्रांत धारणा पर आधारित है कि अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन राज्यों द्वारा दी गई अव्यक्त (Tacit) या ध्वनित सहमति के आधार पर होता है। यह धारणा सर्वथा निराधार है। वस्तुत: किसी नियम का पालन इसलिये नहीं होता कि इसके लिये सहमति प्रदान की जा चुकी होती है, किन्तु इसका पालन इसलिये होता है कि इसे अवश्य पालनीय समझा जाता है। वस्तुत: ऐसे नियम का पालन अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु इच्छा के विरुद्ध किया जाता है। हैन्स केलसन (Hans Kelsen) ने लिखा है—"जिस प्रकार कोई व्यक्ति उसकी इच्छा के बिना तथा इच्छा के प्रतिकूल उस पर लागू होने वाला राज्य का कानून मानने के लिये स्वेच्छापूर्वक तैयार नहीं होता, उसी प्रकार कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बन्धन को स्वेच्छया लागू करने के लिये तैयार नहीं होता।"[३३] इस स्थिति में सहमति के सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता।

(ग) वास्तविक आधार (True Basis)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन की बाध्यता के सम्बन्ध में यदि उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण हैं तो इसका वास्तविक आधार क्या है ? इस जटिल प्रश्न का उत्तर विधिशास्त्रियों के मतानुसार वर्तमान परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली तथा इस कानून का पालन करना आवश्यक समझने वाली भावना है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों, यातायात के साधनों तथा व्यापारिक आवश्यकताओं ने विश्व के सभी राष्ट्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध और एकता उत्पन्न कर दी है। अब उनके विकास और जीवन धारण के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करें। फैनविक के मतानुसार "युद्ध का विरोध, विरोधी दावों का नियमन और समूह के सामान्य कल्याण की वृद्धि की आकांक्षा ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनसे राज्यों में वैसी नैतिक तथा भौतिक एकता की भावना उत्पन्न हुई है,

३३. हैन्स केलसन—प्रिंसिपल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १५४

जैसी एक राज्य में रहने वाले व्यक्तियों में पैदा होती है। राज्यों के सामान्य स्वार्थ राज्यों के समुदाय को जन्म देते हैं और कानून के नियम (Rule of Law) का पालन आवश्यक बनाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसी आवश्यकता पर आधारित है।"[३४] ब्रियर्ली ने इस तथ्य का दूसरे शब्दों में प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"सब कानूनों के आवश्यक रूप से पालन की शक्ति की चरम व्याख्या यह है कि मनुष्य चाहे एकाकी व्यक्ति हो या अन्य व्यक्तियों के साथ राज्य में सम्मिलित हो, बुद्धिमान् प्राणी होने के नाते वह यह विश्वास करने के लिये बाधित है कि उसने जिस विश्व में रहना है, उसका नियामक सिद्धान्त व्यवस्था है, अराजकता नहीं।"[३५]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में नई प्रवृत्ति (New trend in the creation of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के सम्बन्ध में पुराना मत यह था कि यह **मुख्य रूप से राज्यों द्वारा बनाया जाता है**। शनैः-शनैः राज्य जब रिवाजों के रूप में अथवा पारस्परिक समझौतों (Conventions) और सन्धियों द्वारा कुछ नियम स्वीकार कर लेते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण होने लगता है। विधिशास्त्री (Jurists) भी इन नियमों के विकास में सहयोग देते हैं।

बीसवीं शताब्दी में, पुरानी परिस्थितियों में बड़ी द्रुतगति से परिवर्तन आ रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण राज्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई है, सामाजिक क्रान्तियों से जनता में नवीन भावनाओं और आकांक्षाओं का आविर्भाव हो रहा है, इनको क्रियान्वित करने के लिए नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और संगठनों का जन्म हो रहा है। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नये नियमों का विकास होने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश श्री अलवारेज़ (M. Alvarez) ने Competence of the General Assembly for the Admission of a State to the United Nations के मामले के निर्णय में इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—"पहले (अन्तर्राष्ट्रीय) कानून के नियमों का विकास बड़ी मन्दगति से सुप्रतिष्ठित अभिसमयों (well established conventions) तथा रिवाजों (customs) के अनुसार होता था अथवा विधिशास्त्रियों द्वारा ये नियम विकसित किये जाते थे, यह प्रक्रिया भी बड़ी मन्थर थी। आजकल अभी हाल में होने वाली सामाजिक क्रान्ति के कारण, जनता के जीवन में आने वाली विलक्षण गतिशीलता के परिणामस्वरूप, नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं इससे बनाई गई विभिन्न संस्थाओं के कारण तथा जनता की आकांक्षाओं तथा आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का निर्माण बड़ी तेजी से हो रहा है। कई बार इसका विकास एकदम हो जाता है। अब इसके विकास के साधन पुराने जमाने के साधनों से भिन्न हैं और इस नियम-निर्माण की प्रक्रिया में ऊपर बताये गये तत्त्व अपना प्रभाव डाल रहे हैं। अतः आजकल यह सामान्य धारणा वैध या सत्य नहीं प्रतीत होती कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण केवल राज्यों द्वारा किया जाता है।···भविष्य में हम

३४. फैनविक—इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३१
३५. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ५६

नये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के लिये किसी अन्य स्रोत की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली की ओर, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की ओर तथा विधिशास्त्रियों की ओर अधिक देखा करेंगे।"[१६]

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त (Principle of peaceful co-existence) —पिछली दशाब्दी में रूसी विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में इसका एक महत्वपूर्ण आधार शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त माना है। इसका यह अभिप्राय है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से कट्टर मतभेद और विरोध रखने वाली समाजवाद एवं साम्यवाद तथा पूंजीवाद की विचारधाराओं वाले देशों को एक-दूसरे का विध्वंस तथा उन्मूलन का प्रयत्न न करते हुए शान्तिपूर्ण सहयोग और स्पर्धा की नीति अपनानी चाहिए। एक रूसी लेखक कोरोविन (Korovin) ने यह बताया है कि लेनिन यह समझता था कि समाजवाद आरम्भ में कुछ देशों में सफल होगा और काफी समय तक समाजवाद और पूंजीवाद की पद्धति साथ-साथ चलती रहेगी, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनिवार्य है कि ये दोनों शान्तिपूर्ण रीति से बनी रहें तथा इन विरोधी विचारधाराओं को अपनाने वाले देश एक-दूसरे को सहयोग देते रहें।[१७]

यदि विभिन्न राष्ट्र शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को न मानकर एक-दूसरे को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सहयोग न प्रदान करें तो किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और सम्बन्ध रखना सम्भव न होगा और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा कानूनों का पालन नहीं हो सकेगा। इनका पालन तभी हो सकता है, जब सब राष्ट्र अपने से विरोधी विचारधाराओं वाले राष्ट्रों का अस्तित्व स्वीकार करें, उनके प्रदेशों की अखण्डता बनाये रखने की बात मान लें, उनकी प्रभुसत्ता मानें, उनके उन्नति के कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करें, सब राज्यों की समानता का सिद्धान्त मानते हुए एक-दूसरे के अधिकारों का पूरा ध्यान रखें तथा सम्मान करें। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रधान नियम और सिद्धान्त इसलिये स्वीकार एवं पालन किये जाते हैं कि 'ये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रखने के लिये आवश्यक हैं'। ये सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर ही हो सकते हैं। यह सहयोग तभी सम्भव है कि जब शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को कट्टर सैद्धान्तिक मतभेद रखने वाले राष्ट्र स्वीकार कर लें। अतः अधिकांश देशों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा नियमों की मूल आधार-शिला शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना तथा प्रवृत्ति है।

इसे सं० रा० संघ के चार्टर की प्रस्तावना में स्वीकार करते हुए यह कहा गया है कि सं० रा० संघ के सदस्य इस बात का वचन देते हैं कि "वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की नीति बरतेंगे तथा एक-दूसरे के साथ उत्तम पड़ोसी के रूप में रहेंगे" और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने में अपनी सम्मिलित शक्ति का प्रयोग करेंगे। चार्टर की पहली धारा में संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और

१६. I. C. J. Reports, 1950, p. 4, 34

१७. इंटरनेशनल लॉ (फॉरेन लैंग्वेजेस पब्लिशिंग हाउस, मास्को) पृ० १५-१६

सुरक्षा बनाये रखना बताया गया है। यह तभी सम्भव है, जब विभिन्न विरोधी विचारधाराओं वाले देश पारस्परिक संघर्ष और तनाव कम करने के लिये 'जिओ तथा जीने दो' (Live and let Live) की नीति को अपनायें, एक-दूसरे के समूलोन्मूलन का प्रयत्न न करते हुए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को व्यवहार में लायें। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की विभिन्न धाराओं में दिये गये शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रधान सिद्धान्तों—सब राज्यों की प्रभुसत्ता और समानता [धारा २ (१)] को, अहस्तक्षेप की नीति को [धारा २ (७)], जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार [धारा १ (२)] तथा प्रादेशिक अखण्डता [धारा २ (४)] आदि को स्वीकार करें। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त असाधारण महत्व रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप में सं० रा० संघ की स्थापना से तथा अन्य कारणों से होने वाले परिवर्तन—पिछले पचास वर्षों में, विशेषत: द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप और धारणा में कई कारणों से बड़े क्रान्तिकारी एवं मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। **पहला** कारण सं० रा० संघ की स्थापना है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कई प्रकार से प्रभावित किया है। **पहला** प्रकार राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में विलक्षण वृद्धि और इसके स्वरूप का बदल जाना है। सं० रा० संघ की स्थापना के समय इसके सदस्यों की संख्या पचास थी, १९७२ के आरम्भ में यह १३१ हो गई। नये सदस्यों में इस भू-मण्डल के प्रत्येक भाग—एशिया, अफ्रीका, निकटपूर्व और सुदूरपूर्व के लगभग सभी देश सम्मिलित हैं। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में योरोपीय राज्यों की पुरानी प्रभुता को तीव्र आघात पहुँचा है। पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में पश्चिमी देशों—ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, फ्रांस आदि का प्राधान्य था, वे जिन व्यवस्थाओं को ठीक समझते थे, वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझी जाती थीं। अब एशिया और अफ्रीका में स्वाधीनता पाने वाले नये देशों ने इस क्षेत्र में कुछ नवीन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। उन्हें पराधीनता के पाश में जकड़ने वाली तथा उनकी अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचाने वाली संधियों को इन देशों ने स्वीकार करने से इन्कार किया है। वे सन्धियों की पवित्रताविषयक तथा अन्य ऐसी बातों को मानने को तैयार नहीं हैं जो उन्हें पराधीन अथवा आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी बनाने वाली हैं। इससे जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को चुनौती मिली है, वहाँ दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानन का क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ है। जो देश पहले पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद का शिकार बने हुए थे और इनके आदेशों का पालन करते थे, उन्होंने अब स्वतन्त्र होकर सं० रा० संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर कर उसके उच्च आदर्शों को स्वयमेव स्वीकार किया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के पालन पर अधिक बल देने लगे हैं। पहले अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय और कानून योरोप के मुट्ठी भर देशों तक सीमित था, अब उसका क्षेत्र विस्तीर्ण हो जाने से उसने वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के मार्ग को प्रशस्त किया है।

दूसरा प्रकार सं० रा० संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले देशों द्वारा शान्ति की स्थापना तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के उद्देश्यों को स्वीकार कर लेना है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा में बड़ा परिवर्तन आ गया है। पुराने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक बड़ा भाग युद्ध एवं तटस्थता के नियमों का प्रतिपादन करता था। अब ये नियम बेकार हो गये हैं क्योंकि सब राज्यों ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे अपने झगड़ों का हल शान्तिपूर्ण उपायों से करेंगे। सं० रा० संघ का चार्टर युद्धों को अवैध बनाता है, अतः १९०७ तथा १९०९ में युद्ध के समय तटस्थ रहने वाले राज्यों के नियम बेकार हो गये हैं, क्योंकि जब युद्ध अवैध है तो उसमें तटस्थ रहने वाले देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यही हाल १९०७ में हेग में युद्ध के तथा युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में बनाये गये नियमों का है। फैनविक ने लिखा है कि युद्ध सं० रा० संघ के चार्टर द्वारा अपना कानूनी स्वरूप खो चुका है, अतः इन नियमों का कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व नहीं है।[३८] इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अब युद्ध बन्द हो गये हैं। अक्टूबर १९६२ में चीन ने तथा सितम्बर १९६५ तथा दिसम्बर १९७२ में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, जून १९६६ में इज़राइल और अरब राज्यों का भीषण संघर्ष हुआ, पिछले कई वर्ष से वियतनाम में लड़ाई चल रही है। किन्तु ये सभी अघोषित युद्ध थे, इन्हें दोनों पक्ष अपनी आत्मरक्षा के लिये किये जाने वाले प्रयास कहते हैं, क्योंकि कोई भी देश युद्ध की घोषणा करके आक्रान्ता होने का तथा युद्ध छेड़ने के कलंक का टीका अपने माथे पर नहीं लगवाना चाहता है। युद्ध के पुराने नियम सैनिक और असैनिक (Civil) जनता में भेद करते थे, सैनिक अड्डों पर विध्वंस करना वैध मानते थे, असैनिक जनता और स्थानों पर आक्रमण अवैध माना जाता था। अणु-बमों की विभीषिका ने इन नियमों को बेकार बना दिया है क्योंकि अणुबम अपने विध्वंस में सैनिक और असैनिक स्थानों में कोई भेदभाव नहीं करता है, वह कई मीलों तक विस्तीर्ण सम्पूर्ण प्रदेश को विध्वस्त कर देता है। अणुबमों की विभीषिका भी राज्यों को युद्ध का मार्ग छोड़ने की प्रेरणा कर रही है। इन्होंने युद्धों का स्वरूप इतना विकराल और भीषण बना दिया है कि सब देशों की अधिकांश जनता युद्धों से घृणा करने लगी है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में युद्ध के नियमों की महत्ता कम होने लगी है।

तीसरा प्रकार सं० रा० संघ की विभिन्न संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के साधनों में निरन्तर वृद्धि होना है। प्रथम विश्वयुद्ध का एक बड़ा कारण विभिन्न पश्चिमी राष्ट्रों की आर्थिक होड़ या प्रतिद्वन्द्विता थी। प्रत्येक देश अपने उद्योगों के विकास के लिये ऐसे प्रदेश अपने राजनीतिक प्रभुत्व में लाना चाहता था, जहाँ से उसे सुरक्षित एवं निर्बाध रूप से कच्चा माल मिलता रहे तथा जिन देशों की मण्डियों में उसके कारखानों से तैयार माल की खपत होती रहे। उस समय देशों को अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिये शक्तिशाली जल एवं स्थल सेनायें रखनी पड़ती थीं और युद्ध छेड़ने पड़ते थे। इस प्रकार उस समय आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद (Economic and

३८. फैनविक—इंटरनेशनल लॉ, पृ० ७७३

Political Imperialism) एक-दूसरे से मिले हुए थे । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने सब देशों को व्यापार की समान स्वाधीनता देने के सिद्धान्त के आधार पर आर्थिक होड़ को समाप्त करने का निष्फल प्रयास किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक इसके दुष्परिणाम अधिक तीव्रता से दृष्टिगोचर होने लगे तथा सं० रा० संघ की स्थापना के साथ आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न देशों का सहयोग पाने तथा बढ़ाने के लिये सं० रा० संघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council of United Nations) तथा इसकी अध्यक्षता में विश्व बैंक आदि विभिन्न विशिष्ट संस्थाओं (Specialised agencies) की स्थापना की गई, आगे इनका विस्तृत वर्णन किया जायगा। ये विभिन्न राज्यों में आर्थिक सहयोग बढ़ाने की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण नियम बनाती हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मानवीय हितों के संवर्धन की दृष्टि से अनेक गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं। ये सब अपने-अपने क्षेत्रों के लिये सब देशों में समान रूप से लागू होने वाले नियम बनाते हैं। इन संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विभिन्न सामान्य हितों की सुरक्षा के लिये प्रचुर मात्रा में नियम बनाये जा रहे हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण भाग बन रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भले ही विभिन्न राष्ट्रों में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता हो रही हो, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में ये सहयोग को बढ़ा रहे हैं। यह सम्भव है कि इन क्षेत्रों में शनैः-शनैः सहयोग में इतने सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन स्थापित हो जायें कि वे राजनीतिक क्षेत्र में भी एकता और सहयोग के वातावरण को तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार करने की अधिक अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला **दूसरा** कारण विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली विलक्षण प्रगति है। अब मनुष्य न केवल चांद तक पहुँच चुका है, अपितु शीघ्र ही शुक्रादि ग्रहों तक भी पहुँचने की कल्पना करने लगा है, अन्तरिक्ष में यात्रा करने वाले कृत्रिम उपग्रहों तथा यानों का विकास हो रहा है। रूस और अमेरिका इस विषय में अग्रणी हैं उन्होंने इस क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने तथा संघर्ष कम करने के लिये **बाह्य अन्तरिक्ष सन्धि** (Outer space Treaty) १९ दिसम्बर १९६६ को की है। अमरीकी प्रतिनिधि गोल्डबर्ग के शब्दों में यह सन्धि शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग को तथा ऐतिहासिक प्रगति को सूचित करती है। इसने एक नये क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का श्रीगणेश किया है।

तृतीय अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत

(Sources of International Law)

स्रोत का अर्थ (Meaning of Source)--स्रोत का शब्दार्थ उद्गम स्थान है। कोई नदी जिस स्थान से प्रादुर्भूत होती है, वह उसका स्रोत कहलाता है, जैसे गंगा का मूल स्रोत गंगोत्री है। इसी प्रकार कानून का स्रोत किसी समाज के ऐतिहासिक विकास के वे मूल तथ्य हैं, जिनसे इसका प्रादुर्भाव होता है और इसे कानूनी शक्ति प्राप्त होती है।[1] रास (Ross) ने लिखा है कि कानून के स्रोत विशुद्ध रूप में उन स्रोतों को द्योतित करते हैं, जिनसे निकली हुई व्यवस्थायें कानून की भाँति वैध समझी जाती हैं।[2] उदाहरणार्थ, इंगलैंड में न्यायाधीश पार्लियामेंट द्वारा पास किये कानूनों को वैध समझते हैं और उनके पालन के लिये बाध्य हैं क्योंकि इसका मूल स्रोत वहाँ विधान निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसी तरह इन्हें वैध बनाने के अन्य अनेक तत्त्व हो सकते हैं, न्यायाधीश अपना निर्णय देते समय इन सबका पूरा ध्यान रखते हैं। यही तत्त्व कानून का स्रोत (Source) कहलाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के सम्बन्ध में श्री लारेन्स (Lawrence) का मत है कि यदि हम कानून के स्रोत का अर्थ यह समझते हैं कि यह इसे बाध्य बनाने की शक्ति (binding force) प्रदान करने वाली सत्ता के साथ जुड़ा हुआ इसका मूल रूप है तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कानून का केवल एक ही स्रोत हो सकता है और यह राष्ट्रों की सहमति (Consent of nations) है।[3] यह सहमति अव्यक्त (Tacit) और व्यक्त (Express) दोनों प्रकार की हो सकती है। रिवाज (Custom) पहले प्रकार का उदाहरण है, राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट समझौता किये बिना प्राचीनकाल से चले आने वाले आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का रिवाज के तौर पर स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं। व्यक्त सहमति (Express Consent) के उदाहरण सन्धियाँ या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हैं, इनमें दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कुछ नियमों का पालन करने के लिये स्पष्ट रूप से कुछ सन्धियाँ करते हैं। आपेनहाइम ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के इस द्विविध विभाग को स्वीकार किया है।

स्रोतों के प्रकार (Classification of Sources)—स्रोत दो प्रकार के होते

१. ऑपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, अष्टम संस्करण, पृ० २५
२. रास—ए टैक्स्ट बुक ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७६-८१
३. लारेन्स—दी प्रिन्सिपल्ज ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, षष्ठ संस्करण, पृ० ६५

हैं : (क) **स्वरूपात्मक** (Formal), (ख) **वस्तुविषयक** (Material)। अभी तक स्रोत के पहले प्रकार का वर्णन किया गया है, इनमें स्रोत का आशय उस मूल तत्व से होता है, जो उसे वैधता प्रदान करके उसका पालन करना आवश्यक बनाता है, जैसे राष्ट्रों की सहमति। दूसरे वस्तुविषयक प्रकार का अभिप्राय ऐसे स्रोत से है, जहाँ से इसे अपनी विषयवस्तु (Content of matter) मिलती है।

स्टार्क (Starke) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा है :—

(१) रिवाज (Customs)

(२) सन्धियाँ (Treaties)

(३) पंचनिर्णय अथवा न्यायालयों के निर्णय (Decisions of arbitral or Judicial tribunals)

(४) विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ (Juristic Works)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतों का परिगणन सं० रा० संघ० के चार्टर द्वारा स्थापित किये न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के परिनियम या संविधि (Statute) की धारा ३८ (१) में दिया गया है। इसमें इसके निम्नलिखित चार स्रोत बताये गये हैं :—

(१) **सामान्य या विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय** (International Conventions) जिनसे ऐसे नियमों की स्थापना होती हो, जिन्हें विवाद करने वाले राष्ट्र निश्चित रूप से मान चुके हों।

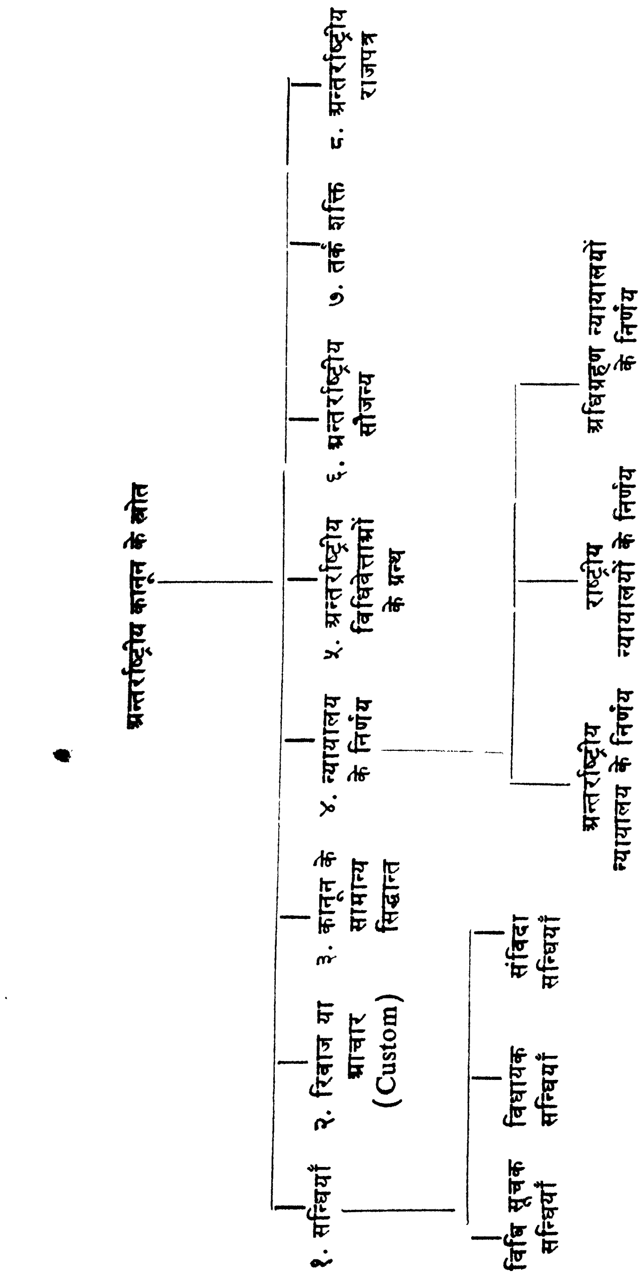
(२) **अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज** (International Custom) जो इस बात का प्रमाण है कि किसी सामान्य व्यवहार (Practice) को कानूनी मान्यता मिल गई है।

(३) **कानून के ऐसे सामान्य सिद्धान्त** (General principles of law) जिनको सभ्य राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया हो।

(४) धारा ५९ की व्यवस्थाओं के अनुसार किये गये **न्यायिक निर्णय** (Judicial decisions) और विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विद्वानों के कथन; ये कानून के नियमों के निर्धारण में गौण (subsidiary) साधन हैं।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोत निम्नलिखित हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity), सन्धियों के अतिरिक्त राजकीय पत्र (State papers), राज्यों द्वारा अपने अधिकारियों के पथप्रदर्शन के लिए जारी किये गये निर्देश, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के प्रस्ताव, विभिन्न देशों की पार्लियामेंटों के तथा विधानसभाओं के कानून, न्यायालयों के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं की तथा इस विषय पर ग्रन्थ लेखकों की सम्मतियाँ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के विभिन्न प्रकारों को अगले पृष्ठ की तालिका में स्पष्ट किया गया है। उपर्युक्त विभिन्न स्रोतों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :—

(१) **संधियाँ** (Treaties)—ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। राज्यों की विधान-सभाओं की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे कानूनों का निर्माण


अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत
१. सन्धियाँ
विधि सूचक सन्धियाँ
विधायक सन्धियाँ
संविदा सन्धियाँ
२. रिवाज या आचार (Custom)
३. कानून के सामान्य सिद्धान्त
४. न्यायालय के निर्णय
अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय
राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय
अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय
५. अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ
६. अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य
७. तर्क शक्ति
८. अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र

करने वाली कोई संस्था नहीं है, जिनका पालन सब राज्यों के लिये आवश्यक और अनिवार्य हो। किन्तु विभिन्न राज्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके इस प्रकार के कानून और प्रस्ताव बनाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण कर सकते हैं। कुछ अंशों में सं० रा० संघ इस प्रकार का संगठन है। इसके अधिकारपत्र (चार्टर) पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके द्वारा बनाई जाने वाली व्यवस्थाओं का पालन करना स्वीकार करते हैं। सन्धियों के तीन मुख्य **भेद** निम्नलिखित हैं—

(क) विधि-सूचक या प्रज्ञापक संधियाँ (Treaties declaratory of law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सन्धियों का पहला प्रकार **विधि-प्रज्ञापक** (Declaratory of law) संधियों का है। हाल के मतानुसार इन संधियों का उद्देश्य कुछ ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विधियों तथा नियमों का स्पष्टीकरण करना होता है, जो अभी तक अस्पष्ट और अनिश्चित थे। उदाहरणार्थ, १८७१ के लन्दन सम्मेलन में रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और टर्की के प्रतिनिधियों ने एक **प्रोतोकोल** (Protocol) पर हस्ताक्षर किये, इसमें उन्होंने यह घोषणा की कि वे इसे राष्ट्रों के कानून का एक आवश्यक सिद्धान्त समझते हैं कि कोई भी शक्ति किसी सन्धि को करने वाले सब पक्षों की मैत्रीपूर्ण सहमति के बिना, इस सन्धि की शर्तों से अपने को मुक्त नहीं कर सकती और न ही इनकी शर्तों में स्वयमेव कोई संशोधन कर सकती है। यह स्पष्ट है कि इस सन्धि ने कोई नया नियम नहीं बनाया, किन्तु पहले से चले आने वाले नियम को स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार की सन्धियों का एक अन्य उदाहरण स्वीडन और डेनमार्क की १८७४ की सन्धि है, इसमें सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) के नियमों का पहली बार सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

(ख) विधायक सन्धि (Lawmaking treaty)—दूसरे प्रकार की सन्धि **विधायक सन्धि** (Lawmaking treaty) कहलाती है। **ब्रियर्ली** (Brierly) ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"ये ऐसी सन्धियाँ हैं जिन्हें राज्यों की एक बड़ी संख्या ने निम्नलिखित प्रयोजनों की पूर्ति के लिये किया है—किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रकट करना, भविष्य में व्यवहार के लिये एक नये सामान्य नियम का निर्धारण करना या किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण।[४] यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ नियमों का निर्माण करती है, इन नियमों को पहले सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने वाले देश स्वीकार करते हैं, बाद में अन्य राष्ट्र भी इनका पालन करने लगते हैं। कुछ समय बाद ये व्यवस्थायें सर्वमान्य होने लगती हैं। १८५६ का **पेरिस का घोषणापत्र** (Declaration of Paris 1856) इसका सुन्दर उदाहरण है। उस समय तक समुद्री युद्ध के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम नहीं थे, युद्ध के समय युद्धसंलग्न देशों (Belligerents) के तथा तटस्थ देशों के समुद्र में पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाली व्यवस्थाओं का अभाव था। पेरिस में इन व्यवस्थाओं को एक संधि में लिखा गया, इस पर पहले ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, सार्डीनिया और तुर्की के हस्ताक्षर

४. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पंचम संस्करण, पृ०५९

हुए, बाद में चालीस अन्य राज्यों ने भी हस्ताक्षर कर दिये। यद्यपि सं० रा० अमरीका ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये, किन्तु जब कभी आवश्यकता पड़ी तो उसने अपना व्यवहार इस घोषणा के अनुसार ही रखा है। इससे यह स्पष्ट है कि पेरिस के घोषणा-पत्र द्वारा बनाये नियम उसे भी स्वीकार हैं।

वर्तमान समय में विधायक सन्धियों का महत्व बढ़ रहा है। हडसन के कथनानुसार १८६४ से १९१४ तक इस प्रकार की सन्धियों की कुल संख्या २५७ थीं[५], किन्तु १९१७ से १९२९ के बारह वर्षों में इस प्रकार की २२९ सन्धिाँ हुईं। आधुनिक युग में ऐसी सन्धियों के महत्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित हैं—वैस्टफालिया की सन्धि (१६४९), पेरिस की सन्धि (१८१५), १९४९ तथा १९०७ के हेग अभिसमय (Hague Conventions), वर्साय की सन्धि (१९१९), पेरिस का घोषणापत्र (१८५६), जेनेवा के अभिसमय (Conventions) (१८६४, १९०६, १९२९, १९४९), केलाग-ब्रीआँ समझौता (१९२८), १९२९ का जेनेवा अभिसमय, टर्की के जलडमरुमध्यों के सम्बन्ध में मोन्त्र समझौता (१९३६), स्वेज नहर समझौता (१८८८), राष्ट्र संघ का विधानपत्र (१९१९), सं० रा० संघ का चार्टर (१९४५)।

उपर्युक्त सन्धियों की शर्तों का यदि निरीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमें निम्न विषयों के बारे में अनेक नियम बनाये गये हैं—रेड क्रास का कार्य, स्थल और जलयुद्धों के नियम, औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा, समुद्रवर्ती संदेशवाहक तारों का संरक्षण, दास व्यापार और अफीम के व्यापार का निरोध, अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण रीति से हल करने के उपाय।

कुछ सन्धियाँ नये नियम न बनाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में गहरा प्रभाव डालती हैं, जैसे १८७८ की बर्लिन कांग्रेस के निर्णय, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, टर्की के साथ होने वाली सन्धियाँ। इन्हें भी प्रायः विधायक सन्धियों में सम्मिलित किया जाता है।

विधायक संधियाँ दो विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। पहला कार्य नियमों का निर्माण है तथा दूसरा संधिकर्ता राज्यों द्वारा इनके पालन की जिम्मेवारी लेना। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से दूसरा कार्य गौण है।

(ग) संविदा संधियाँ (Contract treaties)—संधियों का तीसरा प्रकार संविदा संधियाँ (Contract treaties) हैं। ये भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक होती हैं। विभिन्न राज्यों द्वारा एक ही विषय के सम्बन्ध में की गई संधियाँ इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बना देती हैं। उदाहरणार्थ, १९वीं शती में अनेक देशों ने दूसरे देश के अपराधियों का प्रत्यर्पण (Extradition) करने के सम्बन्ध में कई द्विपक्षीय (Bilateral) संधियाँ कीं, इनसे प्रत्यर्पण के नियम का विकास हुआ।

कानून बनाने वाली विधायक संविदा संधियों की प्रामाणिकता अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून (Customary law) से अधिक प्रबल होती है। दोनों में विरोध होने

५. हडसन—इण्टरनेशनल लेजिस्लेशन १९३१, खण्ड १, पृ० XIX

पर संधियों को प्रामाणिक समझा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने **स्टीमशिप विम्बलडन** (S. S. Wimbeldon) के मामले में स्पष्ट रूप से यह निर्णय दिया था कि संधियों के कानून को रिवाजी कानून की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली मानना चाहिये। इस मामले में जर्मनी ने फ्रेंच सरकार द्वारा भाड़े पर लिये गये एक ब्रिटिश जहाज विम्बलडन को कील नहर में इस आधार पर नहीं गुजरने दिया कि यह उसका आन्तरिक राष्ट्रीय जलमार्ग है, **पुराने रिवाज** के आधार पर तटस्थ होने के कारण वह इस नहर में से रूस के साथ लड़ाई करने वाले देश पोलैण्ड के लिये रणसामग्री ले जाने वाले इस जहाज को गुजरने की अनुमति नहीं दे सकता था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने १९१९ की वर्साय की सन्धि की धारा ३३० में इस नहर को सब देशों के साथ व्यापार और युद्ध के लिये खुला रखने की शर्त को अधिक प्रामाणिक समझते हुए जर्मनी का दावा नहीं स्वीकार किया।

(२) **रिवाज या आचार** (Custom)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान स्वरूप का विकास करने में इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह **इसका प्राचीनतम स्रोत** है और २०वीं शती के आरम्भ तक अन्य सभी स्रोतों से अधिक महत्ता रखता था। आजकल विधायक (Law making) संधियों की संख्या अधिक बढ़ जाने से इसका महत्व पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गया है। फिर भी राज्य के प्रदेश, क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) और उत्तरदायित्व, दूतों के विशेषाधिकार तथा प्रदेश बाह्य (Extra-territorial) अधिकार रिवाज के आधार पर विकसित होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुन्दर उदाहरण हैं।

रिवाज या आचार का अभिप्राय ऐसे नियमों से है, जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद विकसित होते हैं और अन्ततोगत्वा विभिन्न राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा स्वीकृत होते हैं। जब इन नियमों का पालन करना राज्य अपने लिये अनिवार्य (Obligatory) समझने लगते हैं तो ये रिवाज (Custom) का रूप धारण करते हैं। अतः जान वैस्टलेक (John Westlake) ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—"रिवाज या आचार आचरण की वह पद्धति है, जिसका अनिवार्य रूप से पालन करना समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है।" उदाहरणार्थ, जब दूतों के विशेषाधिकारों को विभिन्न सभ्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप में मान लिया गया।

पिट काब्वेट (Pit Cobbet) ने **रिवाज के विकास** की तीन अवस्थायें बतायी हैं। **पहली अवस्था** में कुछ राज्य सामान्य सुविधा या सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर किसी व्यवहार (Practice) या प्रणाली को अपनाना शुरू करते हैं, किन्तु इस समय इसका पालन करना पूर्णरूप से अपनी इच्छा (Discretion) पर होता है। उदाहरणार्थ, दूतों की अवध्यता को लीजिये। इस परिपाटी का श्रीगणेश सामान्य सुविधा और सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए हुआ, यदि एक राज्य अपने यहाँ आये दूसरे राज्य के दूत को मारता है या विशेष सुविधायें नहीं प्रदान करता तो दूसरा राज्य भी उसके दूत के साथ ऐसा व्यवहार कर सकता है। दोनों की सुविधा और हित इसी में था कि वे एक-दूसरे के दूतों को

अपने यहाँ विशेष सुविधायें प्रदान करें। किन्तु इस अवस्था में राज्य अपनी इच्छानुसार इनकी अवहेलना कर सकते हैं और इस सम्बन्ध में सब राज्यों में एक जैसी परिपाटी न होकर, अनेक प्रकार के व्यवहार और प्रणालियाँ प्रचलित हैं। **दूसरी अवस्था** में इन विभिन्न प्रणालियों में समय की आवश्यकता के अनुसार सबसे अच्छी और उपयोगी प्रणाली अन्य प्रणालियों की अपेक्षा अधिक स्वीकरणीय और आदरणीय समझी जाने लगती है। उदाहरणार्थ, योरोप में १५-१६वीं शती तक राजदूतों के विशेषाधिकारों के बारे में अनेक प्रकार की परिपाटियाँ प्रचलित थीं, यदि ये राजदूत दूसरे देश में फौजदारी या दीवानी अपराध करें तो इन्हें पकड़ने या इनकी सम्पत्ति जब्त करने के बारे में सब देशों में एक जैसे नियम नहीं थे। पहले यह बताया जा चुका है कि १७वीं शती के आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं ने फौजदारी अपराधों में राजदूतों को स्वदेश वापिस भेजने और सामान्य रूप से इनको उस देश की कानूनी प्रक्रियाओं से मुक्त होने के प्रदेश-बाह्यता (Exteriority) के सिद्धान्त का समर्थन किया। **तीसरी अवस्था** में जब किसी व्यवहार (Practice) को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगता है तो यह रिवाज का रूप धारण करता है, इस समय सब सभ्य राज्य इसका पालन करना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझने लगते हैं। आजकल सभी देश राजदूतों के विशेषाधिकार (Privileges) स्वीकार करते हैं, अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय आचार या रिवाज (Custom) बन गया है।

आचार या रिवाज (Custom) **तथा प्रथा** (Usage) **का भेद**—इनका प्रयोग प्रायः पर्यायवाची के रूप में किया जाता है, किन्तु इन दोनों में स्पष्ट शास्त्रीय भेद है। **प्रथा रिवाज का पूर्व रूप है**। प्रत्येक रिवाज प्रथा के रूप में प्रारम्भ होता है, अतएव प्रथा को रिवाज की आरम्भिक अथवा उषाकालीन दशा भी कहा जाता है। किन्तु जब यह प्रथा सर्वमान्य एवं अनिवार्य रूप से पालन की जाने वाली रूढ़ि बनती है तो रिवाज का रूप ग्रहण करती है। आपेनहाइम (Oppenheim) ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री उस समय रिवाज या आचार (Custom) का प्रयोग करते हैं, जब किन्हीं निश्चित कार्यों को सुस्पष्ट एवं निरन्तर रूप में करने की आदत का विकास इस विश्वास के साथ हुआ हो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन कार्यों का किया जाना अनिवार्य अथवा ठीक है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री प्रथा (Usage) का प्रयोग तब करते हैं, जब कुछ निश्चित कार्य करने की आदत बिना इस विश्वास के साथ विकसित हो कि ऐसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अनिवार्य या ठीक हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की भाषा में रिवाज प्रथा की अपेक्षा संकुचित अर्थ द्योतित करता है, आचरण की कोई पद्धति प्रथा के रूप में सामान्य होने पर भी रिवाजी या आचारिक (Customary) नहीं हो सकती।"[६]

इससे यह स्पष्ट है कि कोई प्रथा तभी रिवाज बनती है जब उसे विभिन्न राज्यों द्वारा पूरी कानूनी मान्यता मिल जाय। वस्तुतः रिवाज ऐसी प्रथा है, जिसका पालन

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खंड १, पृ० २६

कानून की भाँति अनिवार्य समझा जाने लगता है। स्टार्क ने किसी प्रथा के रिवाज के रूप में माने जाने की दो कसौटियाँ बताई हैं।[७] **पहली भौतिक कसौटी** (Material Test) उस प्रथा या कार्य की बारम्बार नियमित रूप से पुनरावृत्ति होना है। **दूसरी मनोवैज्ञानिक कसौटी** (Psychological Test) विभिन्न राज्यों का यह विश्वास है कि इसका पालन आवश्यक होने के कारण ही इसकी पुनरावृत्ति हो रही है। किसी प्रथा की पुनरावृत्ति से यह आशा बँध जाती है कि भविष्य में ऐसी सदृश परिस्थितियों में इस प्रथा का पुनः पालन किया जायगा। जब किसी प्रथा के सम्बन्ध में ऐसी आशा अधिकांश राज्यों द्वारा स्वीकार कर ली जाती है तो यह प्रथा से कानूनी रिवाज के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह स्थिति शनैः-शनैः अनजाने रूप में स्वयमेव आ जाती है। प्रायः यह नहीं पता लगता कि कोई प्रथा कब रिवाज या कानून बनी और कानून के रूप में उसका पालन होने लगा। अतएव सर जान फिशर विलियम ने यह कहा है—"रिवाज को कानून से पृथक् करने वाली भेदक रेखा (Rubicon)[८] को मौन तथा अचेतन रूप में, बिना किसी घोषणा के पार किया जाता है।"

कोई प्रथा निम्न विशेषतायें होने पर ही रिवाज या आचार का रूप धारण करती है—(क) प्राचीन (ancient) होना, (ख) तर्कसंगत होना (reasonableness), (ग) निरन्तर पालन किया जाना (continuity), (घ) एकरूपता (uniformity), (ङ) सुनिश्चितता (certainty), (च) अनिवार्यता (compulsion), (छ) अनैतिक (immoral) न होना।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में रिवाज के महत्व का मुख्य कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज सुसंगठित नहीं है, इसमें राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाली सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की सत्ता का अभाव है और राज्यों की संसद् एवं विधान-सभाओं जैसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली कोई संस्था नहीं है। इस कानून के अभाव की पूर्ति रिवाज से होती है, शनैः-शनैः राज्य अपनी सुविधा के लिये जिन परिपाटियों और नियमों का पालन अनिवार्य समझने लगते हैं, वे रिवाज बनने लगते हैं। ये राज्यों द्वारा मूकभाव से स्वीकृत किये हुए नियम होते हैं। अतएव श्वार्जनबर्गर ने इन्हें पिछले युगों की अन्तर्राष्ट्रीय संधि भी कहा है।[९]

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के विभिन्न मामलों में रिवाज की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। इसके अनुसार किसी कार्यप्रणाली को रिवाज सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि इस बात की साक्षी उपस्थित की जाय कि ऐसा कार्य बार-बार और नियमित रूप से होता रहा है **ल्यूबेक बनाम मैकलेनबर्ग** (Lubeck *Vs.* Macklanburg-schwerin) के मामले में एक जर्मन न्यायालय ने यह कहा था कि

७ स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३

८. रूबीकन रोम के पास एक नदी का नाम है, रोमन गणराज्य के समय कोई सेनापति इस नदी को पार करके अपनी सेनायें रोम में नहीं ला सकता था।

९. श्वार्जनबर्गर—ए मैनुअल आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १३

"किसी राज्य या शासनसत्ता द्वारा एक बार किया गया कार्य इसे रिवाज नहीं बनाता, ऐसे आचरण को रिवाजी कानून बनाने के लिये उसे नियमित रूप से बार-बार होना चाहिये।" किसी कार्य को तभी रिवाज माना जाता है, जब उसे ऐसा सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण हों। ये प्रमाण मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—अन्तर्राष्ट्रीय विधि-वेत्ताओं (Publicists) के ग्रन्थ, राज्यों के आचरण को प्रदर्शित करने वाले कूटनीतिक पत्र या नोट (Diplomatic notes) तथा अन्य राजकीय पत्र (State papers), राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १९५० में Columbian Peruvian Asylum Case में रिवाज के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "कोलम्बिया की सरकार को यह सिद्ध करना चाहिये कि वह जिस नियम को प्रमाण रूप में पेश कर रही है, वह राज्यों द्वारा निरन्तर तथा एक ही रूप में व्यवहार में लाया जाने वाला नियम है, यह प्रथा आश्रय प्रदान करने वाले राज्य का अधिकार है और प्रादेशिक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इसका पालन करे।"[१०] इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी बात ही रिवाज मानी जा सकती है, जिसका पालन सब राज्य अनिवार्य कर्त्तव्य समझते हों।

फ्रेंकोनिया या Re. *v.* Keyn के मामले में रिवाज के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया था कि किसी रिवाज पर राज्यों की सहमति या असहमति के प्रश्न का निर्णय प्रमाणों के आधार पर करना चाहिये। संधियाँ तथा राज्य के कार्य इसकी साक्षी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा होने मात्र से वे इस देश में न्यायालयों को बाधित नहीं कर सकते। इसी प्रकार विधिशास्त्रियों की सहमति (consensus of jurists) को भी न्यायालय मानने के लिए बाध्य नहीं है। किन्तु यह राष्ट्रों की सहमति का प्रमाण हो सकता है।

न्यायालयों द्वारा आचार या रिवाज को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानने के दो प्रसिद्ध उदाहरण **दी पाक्वेट हवाना** (The Paquete Habana) तथा **लोटस** (Lotus) के मामले हैं (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। पहले मामले में सं० रा० संघ के सुप्रीम कोर्ट ने राज्यों के कानून और व्यवहार, सन्धियों, विधिवेत्ताओं के लेखों तथा न्यायालयों के निर्णयों के निरीक्षण के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें इस अन्तर्राष्ट्रीय नियम या रिवाज को पुष्ट करने की पर्याप्त साक्षी है कि युद्ध के समय युध्यमान राष्ट्रों द्वारा मछली पकड़ने वाले छोटे जहाजों के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की जाये। **लोटस** के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने उपर्युक्त पद्धति से यह निश्चय किया था कि 'महासमुद्रों में दो जहाजों में टक्कर हो जाने पर कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज नहीं है, जिसके आधार पर टक्कर के मामले पर विचार करने का अधिकार एकमात्र उस देश का हो जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो।'

किसी रिवाज का अनिवार्य रूप से पालन करने के लिये किसी राज्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसने इसके विकास में भाग लिया हो और इस प्रकार वह इसके पालन के लिये बाधित हो। जब कोई देश राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का

---

१०. I. C. J. Reports, 1950, p. 276.

सदस्य बनता है तो राष्ट्रों के रिवाजी कानून स्वतः उस पर लागू हो जाते हैं। किन्तु किसी रिवाज के बनने के समय यदि एक राज्य ने उसके पालन न करने का संकल्प प्रकट किया हो तो अन्य राज्य उसे इसके पालन के लिये बाधित नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, राज्यों की समुद्री सीमा को तट से समुद्र के भीतर तीन मील तक मानने का अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज है। कुछ राज्यों ने इस रिवाज के बनने के समय चिरकाल तक इसका प्रतिवाद करते हुए अपनी समुद्री सीमा के लिये तीन मील से अधिक दूरी स्वीकार करने पर बल दिया। अब यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज में प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील तक मानने का रिवाज प्रचलित हो गया है, किन्तु इसका पालन उन राज्यों के लिये अनिवार्य नहीं है, जिन्होंने इसका प्रतिवाद किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपर्युक्त दो स्रोतों के अतिरिक्त अन्य स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(३) **कानून के सामान्य सिद्धान्त** (General Principles of Law)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि (Statute) की धारा ३८ में (देखिये ऊपर पृ० ८८) इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और रिवाज के बाद तीसरा स्थान दिया गया है। यह बड़ा व्यापक स्रोत है, इसमें विभिन्न देशों में विकसित वैयक्तिक कानून के उन सिद्धान्तों का भी समावेश होता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में लागू किए जा सकते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है। वैयक्तिक (Private) कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा अधिक विकसित है और जहाँ कहीं दूसरे कानून के निश्चित और सुस्पष्ट नियम नहीं हैं, वहाँ पहले कानून के सामान्य सिद्धान्तों का अवलम्बन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की आरम्भिक दशा में रोमन कानून के सिद्धान्त ग्रहण किये गये थे, यह प्रक्रिया आज तक जारी है। इसके कुछ उदाहरण न्याय और निष्पक्षपात (Justice and Equity) चिरकालिक भोग (Prescription), आवेशन (Occupation) तथा मुखबन्धन (Estopple) के सिद्धान्त हैं। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून में वैयक्तिक कानून से लिया गया है। सर राबर्ट फिलीमोर ने Re. *v.* Keyn के मामले में निर्णय देते हुए लिखा था 'राष्ट्रों का कानून न्याय, निष्पक्षपात, सुविधा और बुद्धि पर आधारित है।' जर्मनी और पुर्तगाल के विवाद में Mazina तथा Naulila के मामलों में विशेष पंचायती अदालत ने कानून के सामान्य सिद्धान्तों को लागू किया था। इसके निर्णय में कहा गया था कि किसी विवादास्पद प्रश्न के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम न होने की दशा में न्यायाधीशों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस अभाव को निष्पक्षपात (Equity) के नियम लगाकर पूरा करें और ऐसा करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी भावना का ध्यान रखें।

U. S. *v.* The Schooner la Jeune Uagenie के मामले में न्यायाधीश स्टोरी (Story) ने यह लिखा था कि राष्ट्रों के कानून के (नियमों को) सर्वप्रथम सत्य और न्याय (Right and Justice) के सामान्य सिद्धान्तों से निकालना चाहिये।

ब्रियर्ली ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि (Statute) में न्याय के सामान्य सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत माने जाने के लिये इस दृष्टि से महत्व दिया है

कि यह उस अस्तिवादी (Positivist) सिद्धान्त का प्रत्याख्यान है जो केवल राज्यों द्वारा सहमति-प्राप्त नियमों को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानता है। यह इस बात को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रगतिशील (Dynamic) तत्व हैं तथा इसे लागू करने वाले न्यायालय इन सिद्धान्तों के आधार पर इसका नूतन निर्माण भी करते हैं।

(४) **न्यायालय के निर्णय** (Judicial Decisions) : (**क**) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय** (International Court of Justice)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि में इन्हें "कानून के नियमों को निर्धारित करने का गौण साधन" बताया गया है। ये निर्णय प्रायः विवादास्पद प्रश्नों के विचार के समय दोनों पक्षों द्वारा पूर्वोदाहरणों या नज़ीरों के रूप मे उपस्थित किये जाते हैं, इस प्रकार ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक बनते हैं। किन्तु ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बाधित रूप से पालन किये जाने वाले नियम नहीं हैं, न्यायालय स्वयमेव अपने पुराने निर्णयों को मानने के लिये बाधित नहीं है। इसका सुन्दर उदाहरण १९५१ का **एंग्लो-नार्वेजियन मछली-गाहों** (Anglo-Norwgeian Fisheries Case) का मामला है। फिर भी १९२१ में तथा १९४६ में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नों पर सबसे प्रामाणिक सम्मति मानी जाती है। इनमें निर्णयों से पहले दोनों पक्षों के विख्यात वकील सभी दृष्टियों से विवादग्रस्त प्रश्न की मीमांसा करते हैं, इन्हें सुनने वाले न्यायाधीश विभिन्न देशों के विख्यात, विद्वान् तथा अनुभवी विधिशास्त्री होते हैं। इनमें गम्भीर विचार के बाद दिये गये निर्णय बाध्य रूप से पालनीय न होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून में असाधारण महत्व रखते हैं। स्टार्क के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के तथा विविध पंच न्यायाधिकरणों (Arbitration tribunals) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निम्नलिखित शाखाओं के नियमों का विकास और स्पष्टीकरण हुआ है:—प्रादेशिक प्रभुता, तटस्थता, राज्य का क्षेत्राधिकार, राज्य की परवत्तायें (State servitudes), राज्य का उत्तरदायित्व। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में निम्नलिखित पंचनिर्णय के मामले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—**१८७२ का अल्बामा दावा पंच-निर्णय, १८९३ का बेहरिंग समुद्रमछलीगाह पंचनिर्णय, १९०२ का पायसफण्ड मामला, १९१० का नार्थ अटलाण्टिक मछलीगाह मामला।**[11]

(**ख**) **राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय** (Decisions of Municipal Courts)—ये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुप्रतिष्ठित स्रोत नहीं है। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पूरी तरह लागू करने में अनेक बाधायें और बन्धन हैं। पहला बन्धन यह है कि ये अपने देश के संविधान का विरोधी कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं लागू कर सकते। दूसरा कारण अनेक देशों में राज्य द्वारा न्यायालयों की स्वतन्त्रता पर लगाए हुए कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। तीसरा कारण युद्ध तथा शान्ति में और विभिन्न देशों की मान्यता (Recognition) के सम्बन्ध

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२

में न्यायालयों द्वारा अपने राज्य की सरकार द्वारा निश्चित की गई व्यवस्थाओं को पूरी तरह स्वीकार करना है, इस विषय में वे किसी प्रकार का स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकते, अतएव श्वार्जनबर्गर ने इनके नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण का ही प्रमाण माना है। फिर भी सं० रा० अमरीका के प्रधान न्यायाधीश मार्शल की Thiry Hogshead *v.* Boyle के मामले में कही गई उस उक्ति से अधिक सत्य है—"प्रत्येक देश में सामान्य रूप से पाये जाने वाले कानून पर आधारित विभिन्न देशों की अदालतों के निर्णय यद्यपि प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण किये जाते, किन्तु इनका आदर किया जाता है।"

(ग) **अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय** (Decisions of Prize Courts)—ये न्यायालय युद्धसंलग्न देशों द्वारा इस उद्देश्य से स्थापित किये जाते हैं कि ये अपने युद्धपोतों द्वारा निगृहीत माल और जहाजों के स्वत्व के बारे में वैधता का निर्णय करें। ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करते हैं और उसे क्रियात्मक रूप देते हैं। इस कानून का निर्माण किसी एक देश द्वारा नहीं किया जाता। इसका निर्धारण अन्य राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे के साथ व्यवहार में चिरकाल से पालन की जाने वाली प्रथाओं और रिवाजों द्वारा तथा स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा होता है। यद्यपि ये अधिग्रहण न्यायालय अपने देश की संसद द्वारा बनाए कानूनों से बंधे होते हैं, फिर भी इनका काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय देना है। **मेरिया** (Maria) के प्रसिद्ध मामले के निर्णय में सर विलियम स्काट ने लिखा था—"ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह राष्ट्रीय हितों के वर्तमान प्रयोजनों को पूरा करने वाली परिवर्त्तनशील सम्मतियाँ प्रदान करे, किन्तु उसका कर्त्तव्य बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रों के कानून की उस न्यायपद्धति को लागू करना है, जो तटस्थ और युध्यमान (Belligerents) सभी स्वतन्त्र राज्यों के लिये समान रूप से लागू होती है। **रिकवरी** (Recovery) के मामले में यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से कही गई थी—"यह स्मरण रखना चाहिये कि भले ही इस न्यायालय की बैठक ग्रेट ब्रिटेन के राजा की शासन सत्ता में होती है, किन्तु यह राष्ट्रों के कानून का न्यायालय है। इसका सम्बन्ध जितना हमसे है, उतना ही दूसरे देशों से भी है। विदेशियों को उससे यह माँग करने का अधिकार है कि यह राष्ट्रों के कानून को लागू करे।"

अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णयों का सम्मान प्रायः इन्हें प्रदान करने वाले न्यायाधीशों की योग्यता, विद्वत्ता और निष्पक्षता की ख्याति पर निर्भर होता है। अमरीका के **स्टोरी**, ग्रेट ब्रिटेन के **स्टोवैल** और फ्रांस के **पोर्तालिस** जैसे सुप्रसिद्ध न्यायाधीशों के निर्णय बड़ा महत्व रखते हैं। लारेन्स ने यह लिखा है कि राज्यों द्वारा इनके निर्णयों में बहुत कम हस्तक्षेप होता है। फिर भी इन न्यायाधीशों पर अपने देश की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है और इनके फैसलों में इनकी हल्की छाप अवश्य होती है। यह बात फ्रांस, हालैंड और इंगलैंड के और गृहयुद्ध के समय अमरीका के न्यायालयों द्वारा किए गये निर्णयों के तुलनात्मक अध्ययन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है।[१२]

१२. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७५

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ** (Works of Publicists)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा ३८ में यह कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के निर्धारण में विभिन्न देशों के उच्चतम योग्यता रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के विचारों का उपयोग गौण साधन के रूप में किया जाना चाहिये। विधिवेत्ता अपने ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की सूक्ष्म मीमांसा करते हैं, यह जितनी विशद, स्पष्ट, सुन्दर और प्रामाणिक होगी, अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उतना ही अधिक प्रभाव डालेगी। ब्रियर्ली के मतानुसार ये ग्रन्थ राज्यों के आचरण को प्रभावित करने वाले जनमत के निर्माण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संशोधित करते हैं। अयाला जैण्टिलिस, वैटल, ग्रोशियस आदि के ग्रन्थों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में बड़ा भाग लिया है। इन ग्रन्थों का प्रभाव ओपेनहाइम के मतानुसार इस पर निर्भर होता है कि इनमें वैज्ञानिक और निष्पक्ष दृष्टिकोण कहाँ तक अपनाया गया है और राज्यों के आचरण को कानूनी सिद्धान्तों की कसौटी पर किस हद तक आलोचनात्मक रीति से परखा गया है। जिस ग्रन्थ में ये विशेषतायें जितनी अधिक मात्रा में होंगी, वह उतना ही अधिक प्रामाणिक माना जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिये इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका के न्यायाधीशों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। इंगलैंड में बहुमत रखने वाला एक पक्ष इन्हें कानून का निर्माण करने वाला नहीं मानता। लार्ड चीफ जस्टिस काकबर्न ने **फ्रेंकोनिया** के मामले में निर्णय देते हुए लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लेखक भले ही इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हों कि वे कानून के नियमों का स्पष्टीकरण और निर्धारण करते हैं, किन्तु वे कानून का निर्माण नहीं करते, क्योंकि किसी भी कानून के बाधित रूप से पालन किए जाने के लिये यह आवश्यक है कि इसे पालन करने वाले देश इसके लिये अपनी सहमति प्रदान करें।" लेखकों के ग्रन्थों को राज्य द्वारा इस प्रकार की कोई सहमति नहीं होती, अतः वे लेखकों के विचार मात्र हैं, इनके पीछे इन्हें बाध्य रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanction) का अभाव है, अतः इन्हें कानून नहीं माना जा सकता। किन्तु सर हेनरी मेन आदि विधिशास्त्रियों ने इससे प्रतिकूल मत स्थापित किया है। उनका यह विचार है कि लेखकों के पास यद्यपि अपने विचारों को पालन कराने की शक्ति (Sanction) का अभाव है, किन्तु फिर भी वे कानून के पालन के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार करते हैं। वे राजाओं में तथा विभिन्न समुदायों के शिक्षित वर्गों में ऐसे भावों का प्रसार करते हैं, जिनके कारण उनमें राज्यों के सम्बन्ध को नियन्त्रित करने वाले कुछ निश्चित नियमों की उपेक्षा या भंग करने के विरुद्ध प्रबल भावना उत्पन्न होजाती है।"[११] आजकल इंगलैंड में यही दृष्टिकोण सत्य माना जाता है।

सं० रा० अमरीका में इसका सर्वोत्तम प्रतिपादन न्यायाधीश ग्रे (Gray) ने **पाक्वेट हबाना** (The Pacquete Habana) के मामले (देखिये प्रथम परिशिष्ट) में

१३. मेन—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ५१

निर्णय देते हुए किया था—"जहाँ कोई सन्धि न हो, नियन्त्रण करने वाली शासनसत्ता का आदेश, किसी विधानसभा का कानून या न्यायिक निर्णय न हो वहाँ सभ्य राष्ट्रों के रिवाजों और प्रथाओं का अवलम्बन लेना चाहिये, इनके प्रमाण के रूप में उन विधिशास्त्रियों और भाष्यकारों के ग्रन्थों का सहारा लिया जा सकता है, जिन्होंने वर्षों के परिश्रम, अनुसंधान और अनुभव द्वारा अपने को उन विषयों में निष्पक्ष बना लिया है, जिनका वे प्रतिपादन करते हैं। न्यायाधिकरण (Judicial Tribunals) इन ग्रन्थों का अवलम्बन इसलिये नहीं लेते कि इनमें लेखकों ने यह विचार किया है कि कानून कैसा होना चाहिये, किन्तु वे इनका सहारा इसलिये लेते हैं कि ये ग्रन्थ वास्तविक कानून का स्वरूप प्रतिपादित करनेवाली विश्वसनीय साक्षी हैं।"

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य** (International Comity)—राज्य एक-दूसरे के साथ पारस्परिक व्यवहार में न केवल कानूनी दृष्टि से अवश्य पालन करने योग्य कानूनों का तथा प्रथाओं का अनुसरण करते हैं, किन्तु सौजन्य, सुविधा और सद्भावना प्रदर्शित करने वाले कुछ नियमों का भी पालन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के ये नियम कानून नहीं, किन्तु सौजन्य मात्र होते हैं। उदाहरणार्थ, सौजन्यवश सब देश अपने यहाँ आने वाले विदेशी राजदूतों को चुंगी के नियमों से मुक्त कर देते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नहीं है, फिर भी आपेनहाइम के मतानुसार यह इसके विकास पर प्रभाव डालता है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई वर्तमान नियम पहले अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के नियम थे।[१४] इस सौजन्य का आधार 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का नियम है।

(७) **तर्कशक्ति** (Reason)—ब्रियर्ली ने इसे बहुत महत्व दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानन में प्रायः ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिन पर उस समय तक प्रतिपादित कानून का कोई सिद्धान्त लागू नहीं होता। इन दशाओं में तर्कशक्ति या बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। तर्क का अभिप्राय यहाँ मानवीय बुद्धि द्वारा सोची जाने वाली सब प्रकार की बातें नहीं, किन्तु न्यायिक तर्क (Judicial reasoning) है। इसका अभिप्राय यह है कि नवीन परिस्थिति के लिये कोई नियम न होने पर इसकी खोज विधिवेत्ताओं द्वारा सर्वत्र वैध स्वीकार की जाने वाली तर्क-प्रणाली द्वारा होनी चाहिये। १९१० में सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन के एक विवाद का निर्णय देते हुए एक न्यायालय ने लिखा था—"यदि यह मान लिया जाय कि इस मामले में कोई संधि या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विशेष नियम नहीं लागू होता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम नहीं है। यह सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून में विशिष्ट मामलों का निर्णय करने वाले स्पष्ट नियम न हों, किन्तु विधिशास्त्र का यह कार्य है कि वह कानून की विशिष्ट व्यवस्थायें न होने पर भी परस्पर विरोधी अधिकारों और हितों के संघर्ष के समाधान के लिये सामान्य सिद्धान्तों की तर्कपद्धति को लागू करे और समस्या का हल करे। विधिशास्त्र

१४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, पृ० ३४

की यही पद्धति है।"

(८) **अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र** (International State Papers)—वर्तमान समय में विभिन्न राज्य दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध रखने वाले सरकारी पत्रव्यवहार और महत्वपूर्ण दस्तावेजों "श्वेत", "नील", रक्त" आदि रंगों के आवरण रखने वाली पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते हैं। उदाहरणार्थ, भारत-चीन सीमाविवाद पर दोनों देशों के बीच हुए पत्रव्यवहार को भारत सरकार ने श्वेत पत्र के रूप में प्रकाशित किया है। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसे पत्रव्यवहार, आज्ञाओं और विभिन्न विभागों को दिये गए निर्देशों को **'सं० रा० अमरीका के वैदेशिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पत्र'** (Papers relating to the Foreign Relations of the United States) के नाम से छापा जाता है। १९०६ में प्रकाशित मूर के 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सारांश' (Digest of International Law) में अमरीका के विदेश विभाग के बहुमूल्य पत्रों का संग्रह छपा है। इसी प्रकार का एक आधुनिक संग्रह हैकवर्थ का Digest of International Law है। इनमें संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। सरकारी कागजों में प्रायः सरकारी विधि-शास्त्रियों द्वारा बड़ी विद्वत्ता और योग्यता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विवादास्पद जटिल प्रश्नों पर विचार होता है। लारेन्स ने यह ठीक ही लिखा है कि "कई बार इन विवादों में बहुत से ऐसे सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण और प्रतिपादन होता है, जिन पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया था।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जटिल, गूढ़ और गम्भीर प्रश्नों पर प्रकाश डालने के कारण ये राजपत्र अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की समस्याओं के समझने में बहुत सहायक होते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के राजनीतिज्ञों द्वारा दी गई घोषणाओं से, अपने कानूनी परामर्शदाताओं द्वारा राज्यों को दी गई सलाहों से, राज्यों द्वारा विदेशों में अपने प्रतिनिधियों को दिये गये निर्देशों से अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों और नियमों पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

विभिन्न स्रोतों की प्रामाणिकता का क्रम—ऊपर बताये गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतों के सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इनमें प्रामाणिकता का क्रम क्या हो अर्थात् किन स्रोतों को सबसे अधिक प्रामाणिक समझा जाय और किन्हें कम प्रामाणिक माना जाय। इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि में प्रदर्शित निम्नलिखित प्रमाण-क्रम ही उचित एवं माननीय प्रतीत होता है। यह इस प्रकार है—(१) संधियाँ तथा अभिसमय (Conventions), (२) रिवाज या आचार, (३) सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य सिद्धान्त, (४) न्यायिक निर्णय तथा विधिशास्त्रियों के ग्रन्थों और लेखों में प्रदर्शित की गई सम्मतियाँ। राज्यों के व्यवहार में इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। संधियों के नियम और व्यवस्थायें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं, किन्तु इनके अभाव में रिवाज को प्रामाणिकता दी जाती है। रिवाज के बाद कानून के सामान्य सिद्धान्त महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इनके अभाव में न्यायालयों के निर्णय प्रामाणिक माने जाते हैं और इनके बाद विधिशास्त्रियों के ग्रन्थों और

सम्मतियों को प्रामाणिक समझा जाता है।

कई बार न्यायालयों के सम्मुख ऐसे प्रश्न आते हैं, जिनके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संधियों वाले या परम्परागत आचार के नियमों (Customary rules) का नितान्त अभाव होता है। इस अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों की सम्मतियों और ग्रन्थों का महत्व बहुत बढ़ जाता है।[१५] प्रिवी कौन्सिल द्वारा समुद्री डकैती से सम्बन्ध रखने वाले एक मामले Re Piracy Jure Gentium में ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, इसमें यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार समुद्री डकैती (Piracy) के अपराध में चोरी (Robbery) इसका आवश्यक तत्व है या नहीं। इस सबन्ध में कोई संधि या रिवाज न होने की दशा में प्रिवी कौन्सिल को विधिशास्त्रियों की सम्मतियों के आधार पर निर्णय करना पड़ा। इसमें प्रिवी कौन्सिल ने यह लिखा कि इस विषय में विधिशास्त्रियों की सम्मतियों की सहमति (Consensus) ही देखना इसके लिये आवश्यक नहीं है, किन्तु यह इन सम्मतियों में अधिक अच्छा दृष्टिकोण स्वीकार कर सकती है। इस आधार पर अन्त में उसने यह फैसला दिया कि चोरी समुद्री डकैती का आवश्यक तत्व नहीं है, चोरी करने का विफल प्रयत्न (Frustrated attempt to piratical robbery) भी समुद्री डकैती है।

१५. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४६

चौथा अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध

(Relation between International Law and Municipal Law)

अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानून—विभिन्न सभ्य राज्य पारस्परिक व्यवहार में कुछ नियमों का बाधित रूप से पालन करना आवश्यक समझते हैं, यही अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। राष्ट्रीय (National) कानून का अभिप्राय किसी राष्ट्र द्वारा अपने देश के हित के लिये बनाये गये कानूनों से होता है। इन्हें राज्य का कानून (State law) या देशीय कानून (Municipal law) भी कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय राज्यों का पारस्परिक व्यवहार का सम्बन्ध होता है; राष्ट्रीय कानून एक देश के व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बद्ध होता है। हैन्स केलसन के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के बाह्य या वैदेशिक सम्बन्धों का नियमन करता है, राष्ट्रीय कानून राज्य के आन्तरिक या घरेलू मामलों का नियन्त्रण करने वाला है।" राष्ट्रीय कानून अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता रखता है, नागरिक तथा राज्य के विभिन्न अंग—न्यायालय, कार्यपालिका इसका पालन करने के लिये बाध्य हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय (subject) राज्य है, अतः यह नागरिकों या राज्य के विभिन्न अंगों को इसके पालन के लिये बाधित नहीं कर सकता। प्रत्येक नागरिक अपने देश के नियमों का पालन करने के लिये बाध्य है, यदि देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में विरोध होगा तो वह अपने देश के नियम का पालन करेगा। ऐसी अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है, जब राज्य का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा या विरोध करे; राज्य पर कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व हों, फिर भी वह इनकी अवहेलना करने वाला कानून बनाये। इसका एक सुन्दर उदाहरण यह है कि कोई राज्य अपने देश में विदेशियों की सम्पत्ति सुरक्षित रखने के लिये अन्य देशों के साथ सन्धि द्वारा आबद्ध हो सकता है, किन्तु इस देश की सरकार भूमिसम्बन्धी सुधारों की दृष्टि से अथवा औद्योगिक क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से इस सम्पत्ति को जब्त कराने का कानून देश की संसद् से पास करा सकती है। इस कानून से कार्यपालिका को एवं सरकारी अधिकारियों को विदेशियों की सम्पति जब्त करने का अधिकार मिल जाता है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट संघर्ष है। इसमें उस देश के कर्मचारियों और न्यायालयों के सामने यह प्रश्न होगा कि वह संधि वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करें या अपने देश की संसद् के कानून को लागू करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे दूसरे मार्ग का अवलम्बन श्रेयस्कर समझेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की तुलना में बहुत निर्बल है और उसको लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

ये कठिनाइयाँ इस कारण से और भी अधिक बढ़ जाती हैं कि जिस प्रकार राज्य के कानून को पालन कराने के लिये उसके विभिन्न अंग—न्यायालय और कार्य-पालिका—सरकारी अधिकारी, पुलिस, जेल आदि की व्यवस्था है और कानून बनाने के लिये संसद् या विधान सभायें हैं, उस तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण करने और उन्हें लागू करने के लिये उपयुक्त संस्थायें नहीं हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सब व्यवस्थायें राज्यों पर उनके न्यायालयों और शासन द्वारा ही लागू की जा सकती हैं। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने पालन के लिये राज्यों पर निर्भर है। इससे कई जटिल प्रश्न उत्पन्न होते हैं—राष्ट्र के न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन कहाँ तक करा सकते हैं? दोनों कानूनों में संघर्ष होने की स्थिति में उनका क्या कर्त्तव्य है? अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा उत्पन्न दायित्वों का पालन करने में न्यायालय कहाँ तक सहायक हो सकते हैं? किसी राष्ट्र के अधिकारी राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओं का पालन कहाँ तक करा सकते हैं? राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के संघर्ष का समाधान किस प्रकार हो सकता है?

इन जटिल प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है: (क) अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा इन दोनों कानूनों के सम्बन्ध का प्रश्न हल करना चाहा है और (ख) राज्यों ने अपने क्रियात्मक व्यवहार द्वारा इसका समाधान किया है। यहाँ पहले सैद्धान्तिक पक्ष का तथा बाद में व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में चार विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) **द्वैतवादी सिद्धान्त** (Dualistic Theory)—द्वैतवादी विचारधारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून की दो सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र पद्धतियाँ हैं, ये विभिन्न स्रोतों से उत्पन्न होती हैं, इनके विषय सर्वथा भिन्न हैं और इनके लागू होने के क्षेत्र भी अलग-अलग हैं। **(अ) स्रोतों की विभिन्नता**—इसके सम्बन्ध में आपेनहाइम ने लिखा है कि राष्ट्रीय कानून के मूल स्रोत दो प्रकार के हैं—(क) राष्ट्र की सीमाओं के भीतर विकसित हुई प्रथायें, (ख) राष्ट्र की संसद् द्वारा बनाये गये कानून। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो सर्वथा भिन्न स्रोत—राष्ट्रों के परिवार में विकसित हुई प्रथायें तथा विभिन्न राज्यों द्वारा एक-दूसरे के साथ की गयी सन्धियाँ हैं। **(आ) सम्बन्धों की विभिन्नता**—राष्ट्रीय कानून अपने राज्य में रहने वाले नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का तथा राज्य और नागरिकों के सम्बन्धों का नियन्त्रण करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियामक है। (इ) दोनों कानूनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर है। राष्ट्रीय कानून देश के नागरिकों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है, यह प्रभुसत्तासम्पन्न राजा या पार्लियामैंट द्वारा बनाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण विभिन्न राज्यों के पारस्परिक समझौतों से होता है।

द्वैतवादी सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक जर्मन विधिवेत्ता ट्रीपेल (Triepel) तथा

इटालियन विधिशास्त्री तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जज आंजिलोत्ती (Anzilotti) हैं। ट्रीपेल ने दोनों पद्धतियों में दो मौलिक भेद माने हैं—(क) राष्ट्रीय कानून का विषय व्यक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय केवल मात्र राज्य है। (ख) राज्य के कानून का आधार राज्य की इच्छा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों की सामान्य इच्छा (Gemeinwille) है। आंजिलोत्ती ने दोनों पद्धतियों को सर्वथा पृथक् मानते हुए इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रीय कानून का मौलिक सिद्धान्त इसका आवश्यक रूप से पालन किया जाना है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार यह सिद्धान्त है कि राज्यों के आपसी समझौतों का सम्मान किया जाना चाहिये, यही Pacta sunt servanda का नियम कहलाता है। इस मौलिक अन्तर के कारण दोनों में संघर्ष की सम्भावना नहीं है।

किन्तु ट्रीपेल और आंजिलोत्ती के कथन सर्वथा सत्य नहीं प्रतीत होते। ट्रीपेल का यह कहना ठीक नहीं है कि अतर्राष्ट्रीय कानून का विषय (subject) केवल राज्य हैं। अब व्यक्तियों को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझा जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के मन्त्रियों, उच्च सैनिक तथा प्रशासनिक अधि-कारियों पर न्यूरेम्बर्ग और टोकियो में युद्धापराधों के लिये अभियोग चलाकर निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का केवल विषय राज्य ही नहीं, अपितु व्यक्ति भी हैं। राज्यों की सामान्य इच्छा (Gemeinwille) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार मानने वाली ट्रीपेल की दूसरी स्थापना भी दोषपूर्ण है। यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि किन परिस्थितियों में यह इच्छा कानून बनती है। पहले (पृ० ८८) यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक आधार सन्धियाँ, प्रथायें, कानून के सामान्य सिद्धान्त, न्यायाधीशों के निर्णय, विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ, अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (comity) तथा विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले पत्र और घोषणायें हैं। आंजिलोत्ती का मत भी इसी कारण यथार्थ नहीं प्रतीत होता, राज्यों के समझौते को सम्मानित करने (Pacta sunt servanda) की भावना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मौलिक सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त द्वित्ववादी सिद्धान्त में एकत्ववादी (monistic) सिद्धान्त मानने वाले केलसन (Kelsen) आदि विधि-शास्त्रियों ने कुछ अन्य दोष भी दिखायें हैं।

इनके मतानुसार विधिशास्त्र में एक अखण्डता है, अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। दोनों का उद्देश्य दो रीतियों से व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करना है, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक-दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं हैं। राष्ट्रीय कानून राज्य में व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य हैं, किन्तु राज्य व्यक्तियों से मिलकर बने होते हैं, अतः अन्ततोगत्वा यह कानून भी व्यक्तियों के आचार का नियन्त्रण करता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संघर्ष दोनों की पृथक् सत्ता का साधक प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे संघर्ष राष्ट्रीय कानून में भी देखे जाते हैं, अनेक कानूनों की अवैधानिकता (unconstitutionality) इसका सुन्दर उदाहरण है।

न्यायालय राष्ट्रीय संसद् द्वारा पास किये गये अनेक कानूनों को या इसके कुछ अंशों को राष्ट्र के मौलिक कानून-संविधान के प्रतिकूल होने से अवैधानिक घोषित करते हैं। इस संघर्ष से जब राष्ट्रीय कानून में द्वित्व की कल्पना नहीं की जाती तो अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून को संघर्ष के आधार पर पृथक् और स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं है, अतः इन दोनों का द्वित्ववादी सिद्धान्त यथार्थ नहीं प्रतीत होता है।

(२) **एकत्ववादी सिद्धान्त** (Monistic Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार कानून एक अखण्ड सत्ता है, वह चाहे व्यक्तियों को बाधित करने वाला हो या राष्ट्रों को नियन्त्रित करने वाला हो। विधिशास्त्र (Jurisprudence) ज्ञान का अखण्ड क्षेत्र है, जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक कानूनी पद्धति मान लिया जाय तो उसे विधिशास्त्र से पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों कानून एक ही विशाल कानूनी पद्धति के दो अंग हैं। यदि दोनों को पृथक् माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानूनी पद्धति का अंग नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार कानून वस्तुतः एक ऐसी आज्ञा है, जिसका पालन इनका विषय बने हुए व्यक्तियों (subjects) को अपनी इच्छा के विरुद्ध करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा बनाये कानूनों का पालन उसके नागरिकों को बाधित होकर करना पड़ता है। कानून का यह स्वरूप दोनों प्रकार के कानूनों में समान रूप में पाया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राज्यों के लिये तथा राष्ट्रीय कानून का पालन इसके नागरिकों के लिये आवश्यक है। इस प्रकार कानून के स्वरूप की दृष्टि में दोनों में किसी प्रकार का द्वित्व या भेद नहीं है। दोनों की पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये वस्तुतः एक ही कानूनी पद्धति के परस्पर सम्बद्ध दो पार्श्व हैं। दोनों का प्रादुर्भाव एक ही उच्चतर कानून (Higher law) से होता है, यह सत् और असत् के सिद्धान्तों पर आधारित होता है। इस प्रकार उच्चतर कानून के एक ही उद्गम से प्रादुर्भूत होने के कारण इनमें कोई भिन्नता नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इसके मुख्य समर्थक केलसन (Kelsen), दुगवित (Duguit), दुरखीम (Durkheim), क्राबे (Krabbe), कुंज (Kunz), वेरद्रास (Verdross) तथा राइट (Wright) है।

(३) **रूपान्तरवाद** (Transformation theory)—यह सिद्धान्त दोनों कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में यह मानता है कि सन्धियों के अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों पर रूपान्तर के माध्यम से लागू किये जाते हैं। सन्धि के नियमों को जब किसी देश की संसद् या विधानसभा द्वारा अपने देश के कानून के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है, तभी इनका पालन होता है। यदि ऐसा रूपान्तर न किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन नहीं हो सकता। किसी सन्धि को राष्ट्रीय कानून के रूप में बदलना केवल औपचारिक (formal) कार्य नहीं है, किन्तु वास्तविक (substantive) आवश्यकता है। यह रूपान्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वैध बनाता है और व्यक्तियों को इसके पालन के लिये बाधित करता है। इसी सिद्धान्त का दूसरा नाम **विशेष अंगीकार** (Specific adoption) है, क्योंकि किसी संधि को

राज्य का विशेष कानून बनाकर ही अंगीकार या स्वीकार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के मान्य होने के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें राष्ट्रीय कानून का अंग बनाया जाय।

इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन की प्रत्यर्पण संधियों (Extradition Treaties) का उदाहरण दिया जाता है। पहले ब्रिटिश कानून में अन्य देशों में अपराध करके इंगलैंड में भाग कर आये व्यक्तियों को उन देशों को लौटाने की कोई व्यवस्था नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भगोड़े अपराधियों का प्रत्यर्पण आवश्यक समझा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन ने इस विषय में दूसरे देशों के साथ प्रत्यर्पण संधियाँ कीं। किन्तु इन्हें तब तक लागू नहीं किया जा सकता था, जब तक कि इनके लिये आवश्यक कानून नहीं बनता या सरकारी आदेश नहीं निकाले जाते। इसके लिये वहाँ आर्डर-इन-कौन्सिल प्रकाशित किये गये और आवश्यक कानून बनाये गये। इस प्रकार प्रत्यर्पण संधियाँ इन कानूनों द्वारा रूपान्तरित होने के बाद ग्रेट ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग बनकर क्रियान्वित होती हैं।

इस सिद्धान्त के आलोचक इसमें निम्नलिखित दोष बताते हैं—(१) यह इस भ्रान्त सिद्धान्त पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनों की दो पृथक् और स्वतन्त्र पद्धतियाँ हैं। पहले इस स्थापना का खंडन किया जा चुका है। (२) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी संधियों को क्रियान्वित होने के लिये उनका राष्ट्रीय कानून में परिणत होना आवश्यक है। किन्तु ऐसा नहीं होता, सब देशों में इस विषय में एक जैसी प्रथा का पालन नहीं होता। अधिकांश संधियाँ स्वयं लागू होने वाली (self operating) होती हैं। इनके लिये कोई राष्ट्रीय कानून नहीं बनाया जाता। (३) जिन संधियों के बारे में कानून बनाया जाता है, उनमें संधि की व्यवस्थाओं को ज्यों का त्यों रखा जाता है, इनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। रूपान्तर का अर्थ तो स्वरूप का बदलना है, इन कानूनों से इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, अतः इसे रूपान्तरवाद कहना सर्वथा भ्रान्त है। वस्तुतः यह तो इसको लागू करने की उपयुक्त प्रक्रिया है, इसे क्रियान्वय (Implementation) कहना ही ठीक है। इसलिये उपर्युक्त कारणों से यह सिद्धान्त समीचीन नहीं प्रतीत होता।

(४) **समर्पणवाद** (Delegation Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राज्य को यह अधिकार सौंपा जाता है कि वह स्वयमेव यह निर्णय करे कि किसी संधि को कब से लागू किया जायगा और इसकी व्यवस्थाओं को किस प्रकार राष्ट्रीय कानून का अंग बनाया जायगा। राज्य द्वारा संधि को क्रियान्वित किये जाने वाली प्रक्रिया और विधियाँ वस्तुतः उस समय से प्रारम्भ हो जाती हैं, जब कोई राज्य संधि पर हस्ताक्षर करता है। अतः संधियों को राज्य द्वारा लागू करने में कोई रूपान्तर नहीं होता।

इस सिद्धान्त पर भी रूपान्तरवाद वाली वही आपत्तियाँ की जाती हैं। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति

स्पष्ट करने में असमर्थ है। वस्तुत: उस सम्बन्ध को राष्ट्रों के इस विषय में व्यवहार (Practice) से ही समझा जा सकता है। अत: विभिन्न देशों में इनके पारस्परिक सम्बन्ध का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों का व्यवहार (Practice of States with regard to application of International Law in Municipal Sphere)—(१) **ग्रेट ब्रिटेन**—यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जाता है—(क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम (Customary rules), (ख) संधियों द्वारा निर्धारित नियम। पहले के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सर्वत्र स्वीकार की जाने वाली प्रथायें तथा नियम इंगलैंड के कानून का अंग हैं। इस प्रकार का कानून ब्रिटिश न्यायालय के लिये विदेशी कानून नहीं है, वह ब्रिटिश कानून में सम्मिलित समझा जाने के कारण उसका अंश है। यही **सम्मिश्रणवाद** (Incorporation theory) का प्रसिद्ध सिद्धान्त है, इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून ब्रिटिश कानून में मिला हुआ या मिश्रित है।

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम लार्ड चान्सलर टैलबोट (Talbot) ने १७३५ में Barbeut's case में प्रतिपादित करते हुए लिखा था—"राष्ट्रों का कानून अपने पूर्णतम विस्तार में इंगलैण्ड के कानून का अंग है।" ब्रियर्ली ने यह बताया है कि इस विचार के उद्गम का यह कारण था कि उन दिनों राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के नियमों के सम्बन्ध में प्रकृति के कानून (Law of Nature) के सिद्धान्त का प्रचलन था, ये बुद्धि एवं तर्क द्वारा निश्चित किये जाते थे, कामन लॉ (Common Law) के नियम भी इसी प्रकार के थे। इस प्रकार दोनों में सादृश्य होने से अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का, कामन लॉ की भाँति इंगलैंड के कानून का अंश माना जाना स्वाभाविक था। सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता ब्लैकस्टोन (Blackstone) ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था—"राष्ट्रों के कानून के सम्बन्ध में जब कोई प्रश्न इनके क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है तो यह कामन लॉ के अन्तर्गत समझा जाता है और यह माना जाता है कि यह इस देश के कानून का हिस्सा है।" १८वीं शती में इस सिद्धान्त का समर्थन लार्ड मैन्सफील्ड तथा अन्य जजों ने किया। १९वीं शती में Dolder *v.* Huntingfield (1805), Wolff *v.* Oscholm (1817), Novello *v.* Toogood (1823), Emperor of Austria *v.* Day (1861) के मामलों में उपर्युक्त सिद्धान्त का पोषण किया गया था।

किन्तु इस परम्परागत दृष्टिकोण को न्यायाधीश काकबर्न ने १८७६ में **फ्रैंकोनिया** (Franconia) के मामले में अस्वीकार करते हुए कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इंगलिश तट से तीन मील की दूरी तक स्वीकार किये जाने वाले प्रादेशिक समुद्र में विदेशियों द्वारा किये जाने वाले अपराधों के मामले सुनने का अधिकार ब्रिटिश न्यायालयों को नहीं है। इस निर्णय के प्रभाव को रद्द करने तथा ब्रिटिश न्यायालयों को यह क्षेत्राधिकार देने के लिये १८७८ में पार्लियामैंट ने

Territorial Waters Jusrisdiction Act पास किया। किन्तु इस निर्णय से इंगलैंड में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को ब्रिटिश कानून का अंग मानने वाले सम्मिश्रणवाद की सत्यता में सन्देह उत्पन्न हो गया।

इसका निराकरण करते हुए अनेक परवर्ती निर्णयों में कुछ शर्तों के साथ उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की गई। लार्ड एटकिन ने Chung Chi Cheng *v.* R. के मामले में निर्णय देते हुए लिखा था—"(ब्रिटिश) न्यायालय ऐसे नियमों के समूह की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिसे राष्ट्रों ने आपसी व्यवहार में माना हुआ है। किसी कानूनी प्रश्न पर वे यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इस विषय के सम्बन्ध में क्या नियम हैं और इसे जान लेने के बाद वे इसे उस हद तक घरेलू कानून में सम्मिश्रित (incorporated) हुआ समझते हैं, **जहां तक यह पार्लियामैंट द्वारा पास किये गये अथवा न्यायालयों द्वारा अन्तिम रूप से घोषित किये नियमों से असंगत न हो।**" लार्ड एल्वरस्टोन ने West Rand Central Goldmining Company Ltd. *v.* The Ring के मामले में लिखा था—"जिन पर हमारे देश की सामान्य सहमति है और सामान्य रूप से जिन पर अन्य देशों के साथ हमारे देश ने भी सहमति दी है, इन्हें उचित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जा सकता है और जब हमारे राष्ट्रीय न्यायालयों के सम्मुख अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न आयेंगे तो वे इस कानून को स्वीकार एवं लागू करेंगे।"

अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) की स्थिति कुछ भिन्न है। ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिये ही बनाये गये हैं। लार्ड पार्कर के **जमोरा** (Zamora) के मामले में लिखा था—"एक ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय निश्चित रूप से पार्लियामैंट के कानून द्वारा बँधा होता है, तथापि यह सत्य है कि यदि यह ऐसा कानून पास करे, जिसकी व्यवस्थायें राष्ट्रों के कानून के अनुकूल न हों तो इन्हें क्रियान्वित करते हुए अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू नहीं करेगा।" इंगलैंड के ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल किसी आर्डर-इन-कौंसिल का पालन करने को बाध्य नहीं हैं, किन्तु इन्हें पार्लियामैंट के द्वारा पास किये कानून का पालन करना पड़ता है।

संधियों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पद्धति यह है कि निम्नलिखित प्रकार की संधियों के बारे में पार्लियामैंट की स्वीकृति या कानून अवश्य पास होना चाहिये—(क) ब्रिटिश प्रजाजनों के वैयक्तिक अधिकारों को प्रभावित करने वाली संधियाँ। (ख) कामन लॉ या पार्लियामैंट के कानून को प्रभावित करने वाली संधियाँ। (ग) ब्रिटिश ताज (Crown) को अतिरिक्त अधिकार देने वाली संधियाँ। (घ) ग्रेट ब्रिटेन की सरकार पर अतिरिक्त वित्तीय दायित्व (financial obligations) डालने वाली संधियाँ। (ङ) जो संधियाँ स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ की जाती हैं कि इन पर पार्लियामैंट की स्वीकृति ली जायेगी। (च) ब्रिटिश प्रदेश देने (cession) के सम्बन्ध में की जाने वाली संधियाँ।

निम्नलिखित प्रकार की संधियों के लिये पार्लियामैंट की स्वीकृति की आव-

श्यकता नहीं होती—(क) समुद्री युद्ध में ब्रिटिश ताज के युध्यमान (Belligerent) अधिकारों में परिवर्तन करने वाली संधियाँ। (ख) मामूली प्रशासकीय समझौते, बशर्ते कि इनसे राष्ट्रीय कानून में कोई परिवर्तन न आता हो और इन पर पार्लियामैंट के अनुसमर्थन (Ratification) की आवश्यकता न हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम या संधि निम्न-लिखित अवस्थाओं में ही ब्रिटेन के राष्ट्रीय कानून का अंग बनती है—(१) यह नियम विभिन्न राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त होना चाहिये। Compania Naviera Vascogando *v.* Christina के मामले में लार्ड मैकमिलन ने यह लिखा था—"सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी सिद्धान्त को हमारे राष्ट्रीय कानून में अंगीकार करने में सर्वसम्मत पहली शर्त यह है कि इसे सभ्य राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के रूप में सामान्य स्वीकृति दी जा चुकी हो तथा यह स्वीकृति अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, समझौतों, प्रारम्भिक प्रामाणिक पाठ्यग्रन्थों, व्यवहार तथा न्यायालयों के निर्णयों से पुष्ट करती हो।" (२) ये नियम पार्लियामैंट द्वारा पास किये कानूनों और न्यायालयों के निर्णय से असंगत नहीं होने चाहियें। (३)) कार्य-पालिका (Executive) द्वारा किये गये अनेक कार्यों—जैसे युद्ध-घोषणा तथा नये प्रदेशों को अपने राज्य का अंग बनाने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय न्यायालयों को कोई अधिकार नहीं है, भले ही इनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होता हो। (४) कुछ विषयों में ब्रिटिश न्यायालयों को कार्यपालिका के प्रमाण-पत्र अथवा प्रामाणिक कथन पर विश्वास करना पड़ता है, जैसे राज्यों की विध्यनुसार (de jure) तथा तथ्यानुसार (de facto) मान्यता, राज्यों की प्रभुसत्ता, राजनीतिक विशेषाधिकारों की माँग करनेवाले व्यक्तियों का दर्जा। (५) राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को अपनी व्याख्या के अनुसार लागू करता है। (६) संधियाँ ब्रिटिश पार्लियामैंट द्वारा आवश्यक कानून बन जाने पर ही न्यायालयों द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं।

(२) **संयुक्त राज्य अमरीका**—यहाँ ग्रेट ब्रिटेन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का अंग माना जाता है। न्यायाधीश ग्रे ने Paquete Habana and Lola के मामले में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का हिस्सा है और जब इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हों तो उपयुक्त अधिकार क्षेत्र रखने वाले हमारे न्याया-लयों द्वारा इस कानून का निर्धारण और प्रशासन होना चाहिये।" सुप्रीम कोर्ट ने Hilton *v.* Guyot के मामले में कहा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने सुविस्तृततम और व्यापकतम अर्थ में हमारे कानून का भाग है।"

सं० रा० अमरीका द्वारा संपुष्ट किये गये सभी समझौतों को अमरीकन न्याया-लय स्वीकार करने के लिये बाधित हैं, भले ही ये समझौते अमरीकी कांग्रेस द्वारा पास किये गये कानूनों के प्रतिकूल हों। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्धारण करते हुए इनके विविध स्रोतों—संधियों, न्यायालयों के निर्णयों, विधिशास्त्रियों के पाठ्यग्रन्थों और सभ्य राष्ट्रों में प्रचलित प्रथाओं को देखा जाता है, और इसे अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार ग्रहण किया जाता है। Over the Top (१९२५) के मामले में कहा गया

था—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार उसी हद तक कानून है, जहाँ तक हम इसे ग्रहण करते हैं।"

संधियों को सं० रा० अमरीका के संविधान में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। संविधान की धारा ६ में कहा गया है—"सं० रा० अमरीका द्वारा की गई सब संधियाँ देश का सर्वोच्च कानून होंगी।" अतः वहाँ राष्ट्रपति जब किसी संधि को सीनेट द्वारा पास होने के बाद संपुष्ट करता है तो यह अमरीकन कानून का रूप धारण कर लेती है।

ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका के इस सम्मिश्रणवाद के सिद्धान्त (Incorporation doctrine) को फ्रांस, बेल्जियम और स्विट्ज़रलैंड के न्यायालयों ने भी स्वीकार किया है।

(३) **फ्रांस**—यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम उस समय तक राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) का अंग समझे जाते हैं, जब तक कि उनका व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा बनाये अथवा संविधान के नियमों से विरोध न हो। संधियों के विषय में फ्रेंच न्यायालयों ने परस्पर-विरोधी निर्णय किये हैं। कई बार यहाँ न्यायालयों ने संधियों को व्यवस्थापिका परिषदों द्वारा पास किये कानून (Statute Law) से प्रबल माना है, किन्तु कई बार इसके विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है। कुछ सधियों के लिये यह आवश्यक माना गया है कि कानूनों की भाँति उनकी उद्घोषणा (Proclamation) होनी चाहिये। अन्य संधियों का प्रकाशन ही पर्याप्त समझा जाता है।

(४) **स्पेन** के १९३१ के संविधान की धारा ९ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश के कानून का भाग है।

(५) **नार्वे**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम (Customary rules) इस देश के कानून का अंग समझे जाते हैं, किन्तु संधियों के देशीय नियम से प्रबल होने के लिये इनका व्यवस्थापिका परिषद् से अनुसमर्थन (Ratification) होना आवश्यक है।

(६) **जर्मनी**—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बने यहाँ के वाइमार (Weimar) संविधान की धारा ४ में यह व्यवस्था की गई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सार्वभौम रूप से स्वीकार किये जाने वाले नियम वैध हैं तथा वे जर्मनी के संघीय कानून का अंग हैं। किन्तु १९२८ में जर्मनी के न्यायालय (Reidsgericht) ने एक मामले Reparations Levy Case में यह निर्णय दिया कि वह पिछले नियम को पहले नियम से प्रबल मानने के सिद्धान्त (posterior derogat priori पश्चिमः पूर्वबाधकः) को स्वीकार करने को बाधित है और इसने वर्साय की सन्धि (Versailles Treaty) के बारे में बाद में बने एक कानून को लागू किया। १९३३ में जर्मनी के सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि आन्तरिक प्रभुसत्ता होने के कारण जर्मनी को यह अधिकार है कि वह यह निर्णय करे कि धारा ४ के अनुसार कौन-सी बातें अन्तर्राष्ट्रीय नियम समझी जायेंगी; उसे यह अधिकार है कि वह किसी संधि की व्यवस्थाओं का विरोध करने वाला कानून प्रचलित करे।

(७) **सोवियत रूस**—रूसी न्यायाधीश क्रिलोव (Krylov) का यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तथा आन्तरिक कानून के सामान्य नियम (Norms) परस्पर संयुक्त न होते हुए सहअस्तित्व (Coexistence) रखते हैं। राज्य की सामान्य इच्छा आन्तरिक कानूनों में तथा सामान्य संधियों में प्रकट होती है। रिवाजी कानून के सम्बन्ध में इसकी सहमति मूकभाव (Tacit) से दी जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में आने से इसे मूर्तरूप मिलता है।

(८) प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों विश्व न्यायालयों (World Courts) ने यह स्वीकार किया है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का माना हुआ सिद्धान्त है कि संधि करने वाले देश संधि द्वारा जो व्यवस्थायें निश्चित करते हैं, उनका विरोध या खण्डन इनमें से किसी देश की व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा पास किये गये कानून द्वारा संभव नहीं है। संधियाँ राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा प्रबल एवं शक्तिशाली होती हैं।

भारत में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध—भारतीय संविधान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत महत्व दिया गया है। इसका उल्लेख राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों (Directive Principles of State) में है। संविधान के चतुर्थ अध्याय की धारा ५१ में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्राविधान (Provisions) हैं—

राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बढ़े।
(ii) राष्ट्रों के मध्य में न्यायोचित एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बने रहें।
(iii) राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं संधियों से उत्पन्न दायित्वों के प्रति सम्मान में वृद्धि हो।
(iv) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के पंचनिर्णय द्वारा समाधान को प्रोत्साहित किया जाय।

राज्य की नीति के निर्देशक उपर्युक्त तत्वों को लागू करने के सम्बन्ध में धारा ३६ में यह कहा गया है कि इन सिद्धान्तों को किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु फिर भी यहाँ प्रतिपादित सिद्धान्त राज्य के शासन-संचालन में मौलिक समझे जायेंगे और राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह कानून बनाते समय इन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप दें।

भारतीय संविधान की उपर्युक्त धारा ३६ तथा ५१ से यह स्पष्ट है कि यहाँ शासन-प्रबन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं नैतिकता को सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। यह बात भारतीय न्यायालयों के अनेक निर्णयों से संपुष्ट होती है।

कलकत्ता हाईकोर्ट ने Indian and General Investment Trust Ltd. *v* Ramchandra Madaraja Deo (A. I. R. 1952 Cal. 508) के मामले में यह निर्णय किया था कि अब तक भारतीय न्यायालय इंगलैण्ड के वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का सदैव अनुसरण करते रहे हैं। किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं, इस समय उनके लिये इंगलैण्ड के नियमों का अनुसरण करना आवश्यक नहीं रहा

सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद भारतीय न्यायालय वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बारे में किसी एक सम्प्रदाय (school) द्वारा प्रतिपादित नियमों को मानने के लिये बाधित नहीं हैं। भारत अब अपने ऐसे सिद्धान्तों का विकास करने में स्वतन्त्र है, जो उसके न्याय, निष्पक्षपात तथा उत्तम अन्तःकरण (Justice, Equity and Good Conscience) के अपने विचारों के अनुकूल हों।"

कलकत्ता हाईकोर्ट ने एक अन्य मामले Shri Krishna Sharma *v*. State of West Bengal के निर्णय में लिखा था कि "राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करते हुए तथा इसे लागू करते हुए न्यायालय ऐसी व्याख्या (Interpretation) स्वीकार करने का प्रयत्न करेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों से निकाले जाने वाले अधिकारों और दायित्वों के साथ विरोध न रखती हो।"

भारत के दीवानी और फौजदारी प्रक्रिया विधिसंग्रहों (Civil Procedure and Criminal Procedure Codes) में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुसरण करते हुए विदेशी राजाओं तथा दूतों को दीवानी और फौजदारी कार्यवाहियों से उन्मुक्ति (Immunity) प्रदान की गई है। अतः यह स्पष्ट है कि भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त है और भारतीय कानून के साथ अनुकलता रखने वाले इसके नियमों का सदैव पालन किया जाता है।

पाँचवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण

(Codification of International Law)

संहिताकरण का अभिप्राय (The Meaning of Codification)—इसका सामान्य आशय किसी जटिल विषय के नियमों को सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और सुस्पष्ट रूप से संगृहीत करना है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक बड़ा जटिल जंजाल है, वह अनेक स्रोतों से प्रादुर्भूत होने के कारण बड़ा अस्पष्ट और अनिश्चित है। इसके सुधार के लिये इसे संहिताबद्ध करना आवश्यक समझा जाता है। ब्रियर्ली के शब्दों में एक ऐसी संहिता के चार लाभ होंगे[1]—(क) कानून का विषयानुसार क्रमबद्ध प्रतिपादन होगा। (ख) इसकी व्यवस्थायें अधिक स्पष्टता तथा सरलता से निश्चित हो सकेंगी। (ग) संदेहों का निराकरण होगा। (घ) जिन विषयों में अभी तक नियमों का अभाव है, उसकी पूर्ति होगी। किन्तु किसी भी संहिता से इन चारों उद्देश्यों का पूरा होना संभव नहीं है, क्योंकि जब कोई संहिता बनाई जाती है, तो उस समय उन पर सारी परिस्थितियों को दूर दृष्टि से देखना संभव नहीं होता, जो भविष्य में इसे लागू करते हुए उत्पन्न होंगी और यह वांछनीय भी नहीं प्रतीत होता कि किसी विषय के इतने विस्तृत और सुनिश्चित नियम बना लिये जायें कि भविष्य में नवीन परिस्थितियों में न्यायाधीशों की व्याख्या द्वारा इनका उचित विकास न हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में **संहिताकरण के मुख्य रूप** फेनविक के मतानुसार तीन प्रकार के हैं—(१) राज्यों के मध्य में वास्तव में लागू हो रहे नियमों का क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन; (२) वर्तमान नियमों का ऐसे संशोधनों के साथ संग्रह, जिनसे ये आधुनिक युग की आवश्यकताओं को तथा न्यायोचित मानवीय आचरण के लिये निर्धारित मानदण्डों को पूरा कर सकें; (३) वर्तमान कानून की समूची पद्धति का पूर्णरूप से ऐसा पुनर्निर्माण जो नवीन सिद्धान्तों पर आधारित हो। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक अंशों में इतना अधिक दोषपूर्ण है कि इस की संहिता बनाने वाला पहले प्रकार को निरर्थक समझता हुआ उसमें अपने सुझाव और सुधार अवश्य देना चाहता है। इसलिये प्रायः इसके ऐसे आदर्शवादी संग्रह और संहितायें बनती हैं, जिनका वास्तविक परिस्थितियों से कम सम्बन्ध होता है। इन संहिताओं के निर्माताओं को अनेक विरोधी दृष्टिकोणों का सामंजस्य तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संघर्ष का समन्वय करना पड़ता है। यह संहिताकरण इससे होने वाले लाभों को दृष्टि में रखकर किया

१. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ७६

जाता है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं।

संहिताकरण के लाभ (Advantages of Codification)—इसका **पहला** बड़ा लाभ अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्पष्ट, सरल और सुनिश्चित बनाना तथा संदेहों का निराकरण करना है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों का कार्य सुगम हो जायगा। **दूसरा** लाभ विरोधों का परिहार और एकरूपता की वृद्धि है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में विविध प्रकार के नियम प्रचलित हैं, इनमें तथा अनेक देशों के राष्ट्रीय कानूनों में अनेक प्रकार की असंगतियाँ और विरोध हैं। नियमों के एक संहिता (code) में संगृहीत होने से यह दोष दूर हो जायेंगे। **तीसरा** लाभ इस की अपूर्णताओं के दूर होने का है, इसकी संहिता बनाते हुए इनका ज्ञान होना स्वाभाविक है, इन न्यूनताओं को दूर करने से इसकी समुचित वृद्धि और विकास होगा। **चौथा** लाभ इसके विकास और प्रगति में तीव्रता लाने का है, प्रथाओं द्वारा इसका विकास बड़ी मन्दगति से हुआ है, यह आधुनिक गतिशील युग के सर्वथा अनुपयुक्त है। इससे इसका विकास अवरुद्ध हो रहा है, संहिताकरण से इस दोष को दूर किया जा सकता है। **पाँचवाँ** लाभ यह है कि यदि यह कानून अधिक स्पष्ट हो जाता है तो यह सम्भावना की जा सकती है कि इसका पालन करने वाले देशों की संख्या अधिक होगी। इस समय इसकी अस्पष्टता के कारण अधिकांश देश इसे अपने देश में लागू करना वांछनीय नहीं समझते। सुस्पष्टता बढ़ने पर अनेक देशों द्वारा इसका अंगीकार होने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा और मर्यादा बढ़ेगी। अतः इसका संहिताकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

किन्तु उपर्युक्त लाभों के साथ संहिताकरण के कुछ दोष और कठिनाइयाँ भी हैं, इनके कारण अभी तक इसका सन्तोषजनक संहिताकरण नहीं हो सका।

संहिताकरण के दोष (Demerits of Codification)—इसका **पहला** बड़ा दोष इसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध करना है। संहिता के सुनिश्चित नियमों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियम पथरा कर जड़ हो जायगा। यह वस्तुतः जीवित, वर्तमान और विकासशील प्राणी के तुल्य है, लिखित नियमों की शृंखला अपने भारी बोझ से इसका गला घोंट डालेगी। कार्डोजी के मतानुसार "रात भर के लिये यात्री को शरण देने वाली सराय उसकी यात्रा का अन्तिम लक्ष्य नहीं होती। यात्री की भाँति कानून को भी कल की यात्रा के लिये तैयार रहना चाहिये। इसमें विकास का सिद्धान्त बना रहना चाहिये।" संहिताकरण इस विकास पर कुठाराघात करता है। इसमें ऐसा लचकीलापन आवश्यक है, जिससे यह समाज की परिवर्तनशील तथा प्रगतिशील परिस्थितियों में भी उपयोगी और लाभदायक बना रह सके। अतएव समय-समय पर इसका संशोधन होता रहना चाहिये, संहिताकरण इसे सुनिश्चित नियमों का रूप प्रदान करके इसको समयानुकूल बनाने की आवश्यकता कम कर देता है। इसका **दूसरा** दुष्परिणाम यह है कि संहिताकरण के समय इसके निर्माता विभिन्न नियमों की ऐसी बाल की खाल निकालते हैं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की मौलिक भावना के प्रतिकूल होती है। **तीसरा** दुष्परिणाम इससे कानूनी विवादों की वृद्धि तथा समझौतों का न होना है। १९३० में

राष्ट्र संघ के कुछ विषयों पर सर्वसम्मत नियम बनाने वाली संहिताओं के निर्माण का प्रयत्न किया था, किन्तु यह सर्वथा विफल रहा। मार्च १९६० में सं० रा० संघ के तत्वावधान में प्रादेशिक समुद्रों की सीमा के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाने वाला सम्मेलन किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे बिना भंग हो गया। **चौथी** हानि यह है कि अधिकांश राज्य केवल संधियों में ही विश्वास रखते हैं, उन्हें संहिताकरण में आस्था नहीं, वे इसके नियमों से इसलिये नहीं बँधना चाहते हैं कि भविष्य में नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भी उन्हें इन नियमों का अनुसरण करना पड़ेगा, संहिता के नियमों को स्वीकार करना भविष्य में सदा के लिये अपने साथ-पैर बाँध लेना होगा, अतः अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये वे इन संहिताओं को प्रायः स्वीकार नहीं करते। इस दशा में इनके निर्माण का मौलिक उद्देश्य विफल हो जाता है और यह सारा प्रयास निरर्थक प्रतीत होता है। इन दोषों के अतिरिक्त इस कार्य में अनेक बड़ी कठिनाइयाँ भी हैं।

संहिताकरण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Codification)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विषय इतने विवादग्रस्त हैं कि इनमें सब प्रकार के विरोधी विचारों का समन्वय करते हुए सर्वसम्मत व्यवस्था का नियम बनाना बड़ा दुस्साध्य कार्य है। सब राज्यों की समानता और प्रभुसत्ता (sovereignty) इनके निर्णय में **दूसरी** बड़ी बाधा है। इससे विरोधी दृष्टिकोणों का सामंजस्य नहीं हो सकता, प्रत्येक राज्य अपने स्वार्थ की दृष्टि से अपने दृष्टिकोण को सत्य समझता हुआ उसे छोड़ने के लिये उद्यत नहीं होता। अब तक इसीलिये संहिताकरण के अधिकांश प्रयत्न विफल हुए हैं। **तीसरी** बड़ी बाधा इसके निर्माण सम्बन्धी प्रश्न हैं। यदि इसका निर्माण करने वाले राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं तो वे अपनी सरकारों के वर्तमान हितों का दृष्टिकोण अपनाये जाने पर बल देते हैं। किन्तु इनके राजनीतिक स्वार्थ इतने विविध प्रकार के तथा परस्पर विरोधी होते हैं कि इनमें समझौता होना असम्भव हो जाता है। यदि इस कठिनाई को दूर करने के लिये संहिताकरण के लिये राज्यों के प्रतिनिधियों के स्थान पर सुविज्ञ और विख्यात विधिशास्त्रियों (Jurists) का सम्मेलन बुलाया जाय तो इसके निर्णय को स्वीकार या अस्वीकार करना राज्यों की इच्छा पर निर्भर होगा, वे अपने हितों से विरोध रखने वाले निर्णयों को स्वीकार नहीं करेंगे।

उपर्युक्त दुष्परिणामों तथा दुस्तर बाधाओं के होते हुए भी यह समझा जाता है कि इसके लाभों का पलड़ा हानियों वाले पलड़े से अधिक भारी है। संहिताकरण से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सरलता, सुगमता, समरूपता, सुबोधता, क्रमबद्धता और सुव्यवस्था आयेगी। अतः विफलताओं के होते हुए भी इसके लिये अनेक प्रयत्न व्यक्तियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की ओर से किये जाते रहे हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त उल्लेख दिया जायेगा।

संहिताकरण का संक्षिप्त इतिहास (History of Codification)—(१) **प्रारम्भिक प्रयत्न** (Early Efforts)—ब्रिटिश विधिशास्त्री बेन्थम ने पिछली शताब्दी में सर्वप्रथम इसके संहिताकरण का प्रयत्न किया और सब सभ्य राज्यों में शान्ति बनाये

रखने के लिये एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कानून तैयार किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर १७६२ में राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) ने राज्यों के अधिकारों का घोषणापत्र बनाने का निश्चय किया। यह कार्य एब्बे ग्रेगायर (Abbe Gregoire) को सौंपा गया। उसने १७६५ में इसका २१ धाराओं वाला एक प्रारूप (Draft) तैयार किया, किन्तु इसे राष्ट्रीय सम्मेलन ने स्वीकार नहीं किया। १८५६ में **पेरिस की घोषणा** (Declaration of Paris) में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चार सिद्धान्तों को घोषित किया गया—

(क) युद्ध करने वाले राष्ट्रों द्वारा वैयक्तिक स्वामित्व रखने वाले निजी युद्ध-पोतों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा (Privateering) का अन्त कर दिया जाय।

(ख) तटस्थ देशों के जहाज शत्रु के लिये विनिषिद्ध (Contraband) रण-सामग्री के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का वहन कर सकते हैं।

(ग) शत्रु का झण्डा फहराने वाले जहाज पर लदे हुए तटस्थ देशों के माल में से केवल विनिषिद्ध रण-सामग्री को ही जब्त किया जा सकता है।

(घ) घेराबन्दी या परिवेष्टन (Blockade) के वास्तविक होने के लिये उसका प्रभावशाली होना आवश्यक है।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संहिताकरण के अनेक प्रयत्न हुए। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—१८६१ में आस्ट्रियन विधिशास्त्री Alfons Von Domin Petruschevees का Code Precis d'un code de droit international, १८६२ में न्यूयार्क के प्रोफेसर फ्रांसिस लीबर का युद्ध के नियम (Laws of War), १८६८ में स्विट्ज़रलैण्ड के विधिशास्त्री ब्लंशली (Bluntschli) की अनेक भाषाओं में अनूदित होने वाली ८६२ धाराओं की विस्तृत संहिता (Code), १८६२ में डेविड डडली का १००८ धाराओं वाला Draft Outlines of International Code नामक ग्रन्थ, १८७४ में ब्रुसेल्ज़ में रूस के ज़ार अलेक्ज़ेण्डर द्वितीय की प्रेरणा से बुलाये सम्मेलन ने ६० धाराओं की एक संहिता तैयार की, यह **ब्रुसेल्ज़ घोषणा** कहलाती है। १८८० में ७ वर्ष पहले घेण्ट (बेल्जियम) में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था ने अपना ग्रंथ प्रकाशित किया। १८६० में इटालियन विधिशास्त्री Pasquale Fiori के तथा १६१० में ब्राज़ीलियन विधिवेत्ता Epitucio Pessou के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिता सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकाशन हुए। इसी समय इस प्रकार के अन्य ग्रन्थलेखक आपेनहाइम, हाल, फिलिमोर तथा हाइड थे।

(२) हेग सम्मेलन (Hague Conferences1899 and 1907)—१८६६ में रूस के सम्राट् निकोलस द्वितीय की प्रेरणा से हेग का पहला सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नों पर विचार के लिये बुलाया गया। इसमें २६ राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसने संहिता के रूप में दो महत्वपूर्ण विषयों पर अभिसमय (Conventions) तैयार किये—(१) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये अभिसमय। (२) स्थल युद्ध के कानूनों और रिवाजों का अभिसमय। पहले अभिसमय

के परिणामस्वरूप हेग में पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। यह सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के इतिहास में बड़ा महत्व रखता है। इससे इस प्रवृत्ति को बड़ा बल और प्रोत्साहन मिला।

दूसरा हेग सम्मेलन १९०७ में हुआ। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के १३ महत्वपूर्ण विषयों पर अभिसमयों द्वारा नियम बनाये। ये विषय इस प्रकार हैं—युद्ध छेड़ना, युद्ध छिड़ने के समय व्यापारी जहाजों का युद्ध रणपोतों में परिवर्तन, स्थलीय एवं समुद्री युद्ध में तटस्थता के नियम, युद्ध छिड़ने के समय शत्रु के व्यापारी जहाजों का दर्जा, नौसेनाओं की गोलाबारी, पनडुब्बियों के संसर्ग में आने से स्वयं विस्फोट करने वाली सुरंगें। इसमें कुछ अभिसमय पिछले सम्मेलन के थे। ४४ राज्यों ने इस सम्मेलन में भाग लिया था।

१९०९ में लन्दन में समुद्री युद्ध के नियम बनाने के सम्बन्ध में महाशक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, इसमें विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband) की सूची तैयार करने का प्रयास किया गया। इसके निर्णय लन्दन की घोषणा में प्रकाशित किये गये।

(३) **राष्ट्रसंघ के प्रयत्न** (Efforts of League of Nations)—१९२४ में राष्ट्रसंघ की कौन्सिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिता बनाने योग्य विषय चुनने के लिये विशेषज्ञों की एक समिति बनायी। इस समिति ने १९२७ में अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सात विषय इसके लिये सर्वथा उपयुक्त और परिपक्व (Ripe) माने—(१) राष्ट्रीयता, (२) प्रादेशिक समुद्र, (३) अपने प्रदेश में हुई विदेशियों की शारीरिक क्षति व सम्पत्ति की हानि के लिये राज्य की जिम्मेवारी, (४) दूतों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ (Immunities), (५) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा सन्धियाँ करने और इनका प्रारूप तैयार करने की विधियाँ, (६) समुद्री डकैती (Piracy), (७) समुद्र की वस्तुओं का उपयोग (Exploitation of the products of sea)। राष्ट्रसंघ ने इनमें से पहले तीन विषयों के संहिताकरण के लिये हेग में सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। यह १३ मार्च से १२ अप्रैल १९३० तक हेग में हुआ। इसने तीन विषयों पर विचार के लिये तीन समितियाँ बनायीं और पहली कमेटी द्वारा तैयार किये निम्नलिखित समझौते इस सम्मेलन ने स्वीकार किये—(क) राष्ट्रीयता-कानूनों के संघर्ष के कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में समझौता। (ख) दोहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality) होने पर सैनिक दायित्वों के सम्बन्ध में समझौता। (ग) राज्यहीनता (Statelessness) के बारे में समझौता। इन समझौतों को कुछ राज्यों ने अनुसमर्थन (Ratification) द्वारा स्वीकृति प्रदान की। अन्य दो विषयों—प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Waters) तथा विदेशियों की शारीरिक तथा साम्पत्तिक क्षति के सम्बन्ध में राज्य के उत्तरदायित्व के प्रश्न पर सम्मेलन में इतना अधिक मतभेद था कि इन पर कोई समझौता न हो सका।

१९३० के हेग सम्मेलन से बड़ी आशायें की गयी थीं, किन्तु इसमें राज्यों के विभिन्न विषयों पर मतभेद इतने उग्र रूप में प्रकट हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

संहिताकरण का भविष्य विचारकों को बहुत उज्ज्वल नहीं प्रतीत हुआ। आपेनहाइम ने इसकी आलोचना करते हुए यह लिखा ने कि इस सम्मेलन ने यह प्रदर्शित किया है कि नीतिविषयक मतभेद रखने वाले विषयों पर विधिशास्त्रियों में कभी सहमति या समझौता नहीं हो सकता। इन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सर्वसम्मति का नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में प्रगति नहीं, किन्तु मन्दता लाने वाला है। संहिताकरण का एक दुष्परिणाम यह है कि अधिक विचार-विमर्श और मीमांसा से ऐसे विषयों में भी मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिन्हें अब तक सर्वसम्मत समझा जाता था। संहिताकरण का उद्देश्य कानून में एकरूप (uniform) व्यवस्था लाना है; किन्तु विभिन्न राज्यों के विभिन्न स्वार्थ, विभिन्न परिस्थितियां और विभिन्न कानूनी पद्धतियाँ इस उद्देश्य की में बहुत बाधक हैं। मतभेद रहित विषयों के संहिताकरण के लिये भी दीर्घकालीन तैयारी और विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ महत्वपूर्ण नियमों का निर्माण हुआ। १९१९ की वर्साय सन्धि की धारा १७१ के अनुसार विषैली, दम घोटने वाली गैसों के प्रयोग पर पाबन्दी लगायी गयी थी। १९२१-२२ के सम्मेलन में वाशिंगटन में शस्त्रास्त्रों को मर्यादित करने के विषय में एक समझौता किया गया, पनडुब्बियों की लड़ाई के तथा विषैली गैसों के प्रयोग को वर्जित करने के नियम बनाये गये। १९२३ में विधिशास्त्रियों के एक आयोग ने हवाई लड़ाई के नियम बनाये। १९२५ में राष्ट्रसंघ द्वारा बुलाये एक सम्मेलन में विषैली गैसों के प्रयोग पर पाबन्दी लगायी गयी, १९२९ में रणक्षेत्र में आहतों और रोगियों के विषय में तथा युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में किये गये पिछले समझौतों में समयानुकूल संशोधन किये गये। १९२४ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अमरीकी संस्था ने अनेक विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का कार्य एक अमरीकी सम्मेलन को सौंपा। १९२८ तक इसने निम्न विषयों पर सात अभिसमय स्वीकार किये—विदेशियों का दर्जा, गृहयुद्ध के समय तटस्थ देशों के कर्त्तव्य, दूत कार्य करने वाले अधिकारी, वाणिज्यदूत, समुद्री तटस्थता, शरण (Asylum) देने के नियम। १९३९ में अन्तर्अमरीकी तटस्थता समिति को तटस्थता के नियमों की व्यापक और विस्तृत संहिता बनाने का कार्य सौंपा गया।

(४) **संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संहिताकरण का कार्य** (United Nations Organisation and Codification)—सं० रा० संघ के चार्टर की धारा १३ में यह कहा गया है कि—"जनरल असेम्बली नीचे लिखी बातों के अध्ययन की व्यवस्था करेगी और उन पर अपनी सिफारशें देगी—राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील विकास तथा उसके संहिताकरण को प्रोत्साहन देना।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये १९४७ में जनरल असेम्बली में एक प्रस्ताव द्वारा **अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग** (International Law Commission) की स्थापना की। इसके २१ सदस्य होते हैं,[२] ये अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त तथा राष्ट्रों के कानून का अगाध

२. आरम्भ में इनकी संख्या १५ थी।

ज्ञान रखने वाले विधिवेत्ता होते हैं। एक राज्य का इसमें एक से अधिक सदस्य नहीं हो सकता। ये सं० रा० संघ के सदस्य-राज्यों द्वारा दिये प्रतिनिधियों की सूची में से जनरल असेम्बली द्वारा तीन वर्ष के लिये चुने जाते हैं। जब इस आयोग की सम्मति में किसी विषय का संहिताकरण आवश्यक होता है तो यह इस विषय में अपनी सिफारिशें जनरल असेम्बली को धाराओं के या अनुच्छेदों के रूप में भेजता है तथा इसके साथ टीका के रूप में इनको पुष्ट करने वाले पूर्वोदाहरणों, संधियों, न्यायाधीशों के निर्णयों का तथा इस विषय में विद्यमान सभी मतभेदों और विभिन्नताओं का उल्लेख करता है। धारा २४ के अनुसार इव आयोग का एक कार्य यह भी है कि वह आचारिक (Customary) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री का संकलन और प्रकाशन करे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के उद्देश्यों को प्रतिपादित करने वाले १९४८ के इस विशेष विधान (Special Statute) में आयोग के कार्यों को दो भागों में बाँटा गया है—(१) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास** (Development of International Law)—इसका अभिप्राय यह है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उन विषयों पर नियमों की प्रारम्भिक रूपरेखा और अभिसमय (Draft Conventions) तैयार किये जायें, जिन विषयों का नियमन तथा नियन्त्रण अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा नहीं होता या जिनके सम्बन्ध में अभी तक विभिन्न राज्यों के व्यवहार में आने वाला कानून अच्छी तरह विकसित नहीं हुआ।" (२) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण** (Codification)—इसका तात्पर्य "ऐसे क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अधिक शुद्धता के साथ निर्माण करना तथा व्यवस्थित करना (the more precise formulation and systematisation) है, जिन क्षेत्रों में राज्यों का विस्तृत व्यवहार (Extensive State practice), पूर्वोदाहरण (Precedent) और सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान हैं।" विधि आयोग का कार्य इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करना है। इसका विधान बनाने वालों का यह विचार था कि दोनों उद्देश्यों को पृथक् करने वाली कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं है और संहिताकरण के कार्यों में इन दोनों की पूर्ति आवश्यक है।

जब विधि आयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की किसी शाखा का प्रगतिशील विकास (Progressive development) का कार्य करता है तो इसका कार्य उसी दशा में कानूनी महत्व रख सकता है, जब इस विषय में किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो। इसके लिये विधि आयोग के विधान (Statute) में यह व्यवस्था की गयी है कि यह आयोग इस विषय में एक प्रारूप अभिसमय (Draft Convention) तैयार करेगा तथा जनरल असेम्बली यह तय करेगी कि इसे कानूनी रूप देने के लिये तथा इसके विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करने के लिये क्या उपाय किये जायें। किन्तु जब विधि आयोग किसी विषय का संहिताकरण करता है तो इसके विधान में इसके सम्बन्ध में दो व्यवस्थायें हैं—(क) इसकी रिपोर्ट का प्रकाशन मात्र करना, (ख) जनरल असेम्बली के एक प्रस्ताव द्वारा इस सारी रिपोर्ट को या इसके कुछ हिस्सों को स्वीकार करना। इस विषय में यह विधान सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst) आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इस

मत का समर्थन करता है कि विभिन्न सरकारों द्वारा स्वीकृत किये जाने वाले समझौतों के मूलरूपों को छापने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के प्रगति के लिये यह अधिक अच्छा है कि इस कानून के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध और स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि-शास्त्रियों द्वारा तैयार किये गये नियमों के वैज्ञानिक विवरण (Scientific Statements) प्रकाशित किये जायं। ऐसे विवरण यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से कोई प्रामाणिकता नहीं रखते, किन्तु इस बात की सम्भावना है कि ये अपने आन्तरिक गुणों के कारण इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के रूप में स्वीकार किये जायं और राज्य अपने व्यवहार में इनका पालन करने लगें तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के विधि-शास्त्र में इन्हें मान लिया जाय। यह स्पष्ट है कि यदि ऐसे विवरण को जनरल असेम्बली एक प्रस्ताव द्वारा संपुष्ट करती है तो इसका प्रभाव बहुत अधिक होगा, भले ही इसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की सहमति से कानूनी प्रामाणिकता न प्राप्त हुई हो।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का कार्य (Work of International Law Commission)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को कार्य करते हुए १८ वर्ष हो गये हैं। १९४९ में इसने निम्नलिखित चौदह विषयों को संहिताकरण के लिये उपयोगी समझा था—(१) राज्यों की मान्यता (Recognition of States), (२) राज्यों तथा सरकार का उत्तराधिकार (Succession of States and Government), (३) राज्यों की तथा इनकी सम्पत्ति की क्षेत्राधिकार विषयक उन्मुक्तियाँ (Jurisidictional Immunities of States and their property), (४) राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किये गये अपराधों का क्षेत्राधिकार, (५) महासमुद्रों का प्रदेश (Regime of High Seas), (६) प्रादेशिक समुद्रों का क्षेत्र (Regime of Territorial Waters), (७) राष्ट्रीयता (Notionality), (८) विदेशियों (aliens) से व्यवहार, (९) आश्रय का अधिकार (Right of Asylum), (१०) संधियों का कानून (Law of Treaties), (११) राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Intercourse and Immunities), (१३) राज्य का उत्तरदायित्व (State responsibility), (१४) पंच-निर्णय की प्रक्रिया (Arbitral Procedure)। विधि आयोग ने उपर्युक्त १४ विषयों में से संधियों के कानून, पंच-निर्णय की प्रक्रिया, महासमुद्रों के क्षेत्रों को प्राथमिकता देने और पहले इनके विषय में नियम बनाने का निश्चय किया। जनरल असेम्बली ने प्राथमिकता देने वाले विषयों की सूची में प्रादेशिक समुद्रों के क्षेत्र तथा राजनयिक सम्बन्ध एवं उन्मुक्तियों को भी सम्मिलित करने को कहा। इसके अतिरिक्त जनरल असेम्बली ने इसे आश्रय के अधिकार के कानून एवं ऐतिहासिक समुद्रों (Historic Waters) पर भी यथासंभव शीघ्र ही नियम बनाने को कहा है। अब तक यह उपर्युक्त चौदह विषयों में से नौ विषयों के नियम तैयार कर चुका है।[३]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के कार्य की गति आरम्भिक वर्षों में बहुत मन्द रही। इसके कई कारण थे। पहला कारण इसके सदस्यों का वर्ष में केवल थोड़े समय

३. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० ८३

(Part time) के लिये काम करना था। दूसरा कारण यह था कि इसे एक ही समय में बहुत अधिक विषयों पर विचार करना पड़ा। किन्तु बाद में इसके कार्य की गति तीव्र हो गई और इस समय तक यह जनरल असेम्बली को कई विषयों के समझौतों के प्रारम्भिक रूप या प्रारूप अभिसमय (Draft Codes) तथा संहितायें (Codes) तैयार करके दे चुका है। इसकी पंच-निर्णय की प्रक्रियाविधि (Arbitral Procedure) इतनी अधिक प्रगतिशील थी कि वह जनरल असेम्बली को रुचिकर न प्रतीत हुई। इसके स्वीकार न होने पर भी यह इस की आदर्श संहिता (Model Code) है। शीत-युद्ध के कारण होने वाले राजनीतिक विवादों से विधि आयोग का 'शान्ति के विरुद्ध कार्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध कानून (Intenational Criminal Law) का काम अधूरा पड़ा है। किन्तु विधि आयोग ने कई विषयों में अपना कार्य पूरा कर लिया है। महासमुद्रों (High Seas) तथा प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Waters) के विषय में तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf), संस्पर्शी क्षेत्र. (Contiguous Zones), मछलीगाहों (Fisheries) तथा समुद्र के सजीव स्रोतों के संरक्षण (Conservation of the Living Sources of Sea) विषयक समझौतों (Conventions) को १९५८ तथा १९६० के **जेनेवा सम्मेलनों** (Geneva Conferences) द्वारा तय कराने का मुख्य श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को है। इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिताबद्ध करना इस आयोग की महत्वपूर्ण देन है। १९६१ के वियना सम्मेलन (Vienna Conference) ने राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियों (Diplomatic Intercourse and Immunities) पर एक समझौते का प्रारम्भिक रूप (Draft Convention) स्वीकार किया है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा वाणिज्य दूतों तथा संधियों के विषय में तैयार किये गये अभिसमय विभिन्न राज्यों के सम्मेलनों द्वारा स्वीकार किये गये हैं। १९६३ में वियना में वाणिज्य दलों का अभिसमय तथा १९६९ में संधियों के कानून का वियना अभिसमय (Vienna Convention on the Law of Treaties) स्वीकार किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के १९४९ से अब तक किये कार्य से कई परिणाम निकलते हैं। पहला तो यह कि 'संहिताकरण' (Codification) तथा प्रगतिशील विकास (Progressive development) में कोई सूक्ष्म अन्तर करना संभव नहीं है। यद्यपि इन दोनों में यह महत्वपूर्ण भेद अब तक माना जाता है कि प्रगतिशील विकास की कोई योजना जनरल असेम्बली के प्रस्ताव पर ही आरम्भ की जा सकती है और संहिताकरण का कार्य विधि आयोग स्वयमेव आरम्भ कर सकता है, तथापि विधि आयोग किसी विषय का प्रतिपादन करते हुए इन दोनों प्रक्रियाओं में कोई भेद नहीं करता। दूसरा परिणाम यह है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रतिष्ठित और पुराने नियमों के संहिताकरण का प्रश्न उठता है तो शीतयुद्ध (Cold War) के राजनीतिक कटु विवाद का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पुराने नियमों को चुनौती दी जाने लगती है। इस समय उत्पन्न होने वाले तीव्र मतभेदों को देखते हुए कई बार संहिताकरण के प्रयत्न की सफलता में बड़ा संदेह उत्पन्न होने लगता है। इस समय

प्रायः यह होता है कि योरोपियन राज्यों तथा सं० रा० अमरीका द्वारा विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का घोर विरोध रूस तथा साम्यवादी गुट के देशों द्वारा तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद के चंगुल में देर तक फंसे रहने के बाद हाल में स्वतन्त्र हुए एशिया तथा अफ्रीका के राज्यों द्वारा बड़ी उग्रता के साथ किया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रादेशिक समुद्र की सीमा (Limit of Territorial Waters) १९५८ तथा १९६० के **जेनेवा सम्मेलनों** में नहीं तय हो सकी, क्योंकि इंगलैंड तथा उसके साथी अनेक पश्चिमी देश इसे तीन मील नहीं रखना चाहते थे, किन्तु सोवियत रूस ने इसे बारह मील बनाये रखने पर बल दिया। दोनों पक्षों में इस प्रश्न पर मौलिक एवं गहरा मतभेद होने के कारण इस विषय में कोई समझौता नहीं हो सका।

इस प्रकार की घटनायें तथा परिस्थितियाँ यह सूचित करती हैं कि संहिताकरण का कार्य जल्दी पूर्ण होने की संभावना नहीं है। किन्तु इसमें विधि आयोग के कार्यों को असाधारण महत्ता मिल जाती है और यह अधिक आवश्यक प्रतीत होने लगता है कि इस आयोग को ऐसे तीव्र मतभेदों को दूर करने के लिये सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की संहिता के विकास का प्रयास करना चाहिये। ब्रियर्ली के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के कार्यों की भले ही कितनी आलोचना की जाय, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हम इस आयोग से ही यह आशा रख सकते हैं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरोधी नियमों में सामंजस्य स्थापित करेगा और अब तक विकसित हो रहे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिये आवश्यक कानून की सुदृढ़ नींव को तैयार करने का प्रयत्न करेगा।[४]

इस आयोग द्वारा किये गये कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:—

(अ) राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की प्रारूप घोषणा (Draft Declaration of Rights and Duties of States)—इसमें राज्यों के चार अधिकार माने गये हैं—(१) स्वतन्त्रता, (२) राज्य के प्रदेश पर क्षेत्राधिकार, (३) समानता का अधिकार, (४) सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिये वैयक्तिक या सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार। राज्यों के कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं—(१) अहस्तक्षेप। (२) दूसरे राज्य में गृहयुद्ध को प्रोत्साहित न करना। (४) अपने राज्य में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था को खतरा पहुँचाने वाली परिस्थितियों को न उत्पन्न होने देना। (४) युद्ध के मार्ग का अवलम्बन न करना। (५) किसी दूसरे राज्य की प्रादेशिक अखण्डता या राजनैतिक स्वतन्त्रता को खतरे में न डालना। (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियमों का पालन। (७) विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से समाधान। (८) अपने क्षेत्राधिकार में विद्यमान सभी व्यक्तियों के साथ मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रतायें प्रदान करने वाला व्यवहार। इसमें जाति, धर्म, भाषा आदि का कोई भेदभाव न रखते हुए सबके साथ समान बर्ताव होना चाहिये।

(आ) न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों का निर्माण (Formulation of Nuremberg

४. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८३

Principles)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों ने द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ने तथा इसमें अनेक प्रकार के युद्धापराध करने वाले जर्मनी के प्रधान सेनापतियों तथा प्रमुख अधिकारियों पर न्यूरेम्बर्ग में मुकद्दमें चलाये थे। छब्बीसवें अध्याय में इनका वर्णन होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में यह सर्वथा नवीन पद्धति थी। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने जुलाई १९५० में न्यूरेम्बर्ग में चलाये अभियोगों में तथा चार्टर में स्वीकार किये युद्धापराधों के ७ सिद्धान्त निश्चित किये। ये इस प्रकार हैं—(१) अन्तराष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति इसके लिये उत्तरदायी और दण्डभागी होता है। (२) ऐसे व्यक्ति की रक्षा राष्ट्रीय कानून (Municipal law) द्वारा नहीं हो सकती। यदि राष्ट्रीय कानून किसी अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के लिये दण्ड-व्यवस्था नहीं करता तो अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने वाला व्यक्ति इस आधार पर अपनी रक्षा नहीं कर सकता कि उस व्यक्ति का राष्ट्रीय कानून उसे इस विषय में निर्दोष समझता है। (३) राज्यों के तथा सरकारों के अध्यक्ष प्राय: सरकारी कार्यों की जिम्मेवारी से मुक्त होते हैं, वे न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध करने वाले व्यक्ति को, उसका राज्य या शासन का अध्यक्ष होना न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से तथा अपराध की जिम्मेवारी से मुक्त नहीं करा सकता। (४) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अपराध करने वाला कोई व्यक्ति इस आधार पर अपने को निर्दोष नहीं सिद्ध कर सकता कि उसने यह कार्य अपनी सरकार के आदेश पर किया है। (५) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से जिस व्यक्ति पर कोई अपराध या आरोप लगाया गया है, उसे यह अधिकार है कि वह कानून एवं तथ्यों के आधार पर अपनी रक्षा कर सके। (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध निम्नलिखित हैं—(क) शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराध, (ख) युद्धापराध, (ग) मानवता के विरुद्ध अपराध। (७) उपर्युक्त अपराधों में सहयोग देना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध है।

(इ) मानव जाति की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता (Draft Code of Offences against the Peace and Security of mankind)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपनी तीसरी बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले अपराधों का स्वरूप निर्धारण करने वाली संहिता (code) का प्रारम्भिक रूप बनाया है। इसमें निम्नलिखित अपराधों का समावेश किया गया है—(१) अग्राक्रमण (Aggression) का कोई कार्य। अग्राक्रमण की परिभाषा यह है कि राष्ट्रीय अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त या सं० रा० संघ के किसी अंग के आदेश के पालन के अभाव में दूसरे राज्य के विरुद्ध सेनाओं का प्रयोग। (२) अग्राक्रमण की धमकी देना। (३) किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध आत्मरक्षा के अलावा सं० रा० संघ के आदेश के पालन के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों से अपनी सशस्त्र सेनाओं को भेजने की तैयारी। (४) किसी अन्य राज्य में गृहयुद्ध को प्रोत्साहित करना। (५) जातिवध (Genocide)। (६) अवैध उपायों द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को अपने राज्य का अंग बनाना।

(ई) अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय (International Criminal Court)—१९५० में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराधों के विचार के लिये एक न्यायालय की स्थापना पर विचार किया। इसने इसे वांछनीय बताते हुए इसको अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से स्वतन्त्र रखने के लिए कहा। १९५१ में जनरल असेम्बली द्वारा इसकी स्थापना के लिये बनाई गई कमेटी ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं—(१) इसे जनरल असेम्बली के प्रस्ताव द्वारा नहीं, किन्तु समझौते द्वारा बनाया जाय। (२) यह किसी विशेष उद्देश्य के लिये (Ad hoc) न होकर स्थायी रूप में बनाया जाय। (३) फौजदारी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ नौ व्यक्ति जनरल असेम्बली द्वारा नौ वर्ष के लिये इसके न्यायाधीश चुने जायं। १९५३ के संशोधित नियमों के अनुसार यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराध करने वाले व्यक्तियों का मुकद्दमा सुनने का अधिकार रखता है, भले ही वैधानिक दृष्टि से ऐसे "व्यक्ति उत्तरदायी शासक, सार्वजनिक अधिकारी या निजी वैयक्तिक हैसियत रखने वाले हों।" यह न्यायालय राज्यों द्वारा इस व्यवस्था की संपुष्टि के बाद ही स्थापित होगा।

(उ) **अन्य कार्य**—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने कई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में भी नियम बनाये हैं। सन्धियों के कानून पर इसने बहुत विचार किया है, सन्धियों की तैयारी, स्वीकृति, संपुष्टि आदि के अनेक नियम बनाये हैं—जहाजों की राष्ट्रीयता, समुद्र में जीवन की सुरक्षा, रणपोतों के तथा समुद्री डकैती या दास व्यापार करने वाले जहाजों को पकड़ने के अधिकार। समुद्र के गर्भ में बिछायी जाने वाली तारों के विषय में इसने अपने नियम बनाकर राज्यों को विचार के लिये भेजे हैं।

इन नियमों पर राज्यों की सम्मतियाँ आने पर अं० विधि आयोग ने अपनी पाँचवीं बैठक में महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf), महासमुद्रों में मछली पकड़ने एवं इनके संरक्षण, संस्पर्शी क्षेत्रों (Contiguous Zones) पर नियमों का अन्तिम प्रारूप (Final Draft) तैयार किया। जनरल असेम्बली ने इसे महासमुद्रों (High Seas) तथा प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Waters) तथा इनसे सम्बद्ध सभी विषयों पर नियम बनाने का कार्य १९५६ तक पूरा करने को कहा। १९५८ तथा १९६० में जेनेवा सम्मेलनों द्वारा इन विषयों पर विधि आयोग द्वारा तैयार किये गये नियमों पर विचार हुआ तथा इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (Conventions) किये गये। १९६१ में वियना सम्मेलनों ने विधि आयोग द्वारा तैयार किये **राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियों** के समझौते को स्वीकार किया। इस आयोग ने सं० रा० संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपयोगी ग्रन्थों, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों की रिपोर्टों, सं० रा० संघ की सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वार्षिक विवरणों के प्रकाशन पर बहुत बल दिया है।

विधि आयोग के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी कुछ विषयों में नियम और समझौते बनाये हैं। १९४८ में संघ ने मानवीय अधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र (Universal Declaration of Human Rights) प्रकाशित किया था। ६ अप्रैल १९५० को **अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग** ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया

कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित होने चाहिये तथा इनका समावेश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में होना चाहिये। सं० रा० संघ ने जातिवध (Genocide) पर भी एक अभिसमय (Convention) किया है। इसके अनुसार जातिवध अर्थात् किसी राष्ट्रीय, जातीय या नस्ली समूह का समूलोन्मूलन दण्डनीय अपराध है, भले ही इसे करने वाले राज्यों के शासक या सार्वजनिक अधिकारी हों। जातिवध के समझौते को अनेक राज्यों ने संपुष्ट किया है। इसी प्रकार शरणार्थियों के सम्बन्ध में एक व्यापक समझौता किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के अतिरिक्त, विधिशास्त्रियों की अन्तःअमेरिकन परिषद् (Inter-American Council of Jurists) ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का सराहनीय कार्य किया है। यह परिषद् वास्तविक सरकारों को मान्यता देने (Recognition of de facto Governments) के तथा राज्य के उत्तरदायित्व (Responsibility) के कानूनों का संहिताकरण करने में तो सफल नहीं हुई, किन्तु इसने क्षेत्रीय शरण (Territorial asylum), तथा राजनयिक (Diplomatic) शरण के कानूनों के बारे में समझौते (Conventions) तैयार किये हैं तथा प्रत्यर्पण और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बारे में रिपोर्ट तैयार की हैं।[5]

संहिताकरण का भविष्य (Future of Codification)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण और भावी विकास इस बात पर निर्भर है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वाले राष्ट्र एक-दूसरे पर कितना विश्वास रखते हैं। यह विश्वास राजनीतिक क्षेत्र से भिन्न आर्थिक तथा सामाजिक विषयों के क्षेत्र में अधिक पाया जाता है, यहाँ विवादग्रस्त विषयों की कमी है, अतः इन क्षेत्रों में संहिताकरण के अधिक सफल होने की आशा है, किन्तु राजनीतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के क्षेत्रों में राज्य अपनी प्रभुसत्ता को विशेष महत्व देते हैं, वे किसी भी ऐसी सन्धि के बन्धन में नहीं बँधना चाहते, जिससे भविष्य में उनकी कार्य करने की स्वतन्त्रता मर्यादित एवं सीमित हो जाय, अतः राजनीतिक क्षेत्र में संहिताकरण की प्रगति आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत मन्द रहेगी।

५. फेविक—इण्टरनेशनल लॉ, १९६५, पृ० १०५

दूसरा भाग

शान्ति के कानून

(LAWS OF PEACE)

छठा अध्याय

राज्यों का स्वरूप और प्रकार

(The Nature and Classification of States)

राज्य का लक्षण (The Definition of a State)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्देश्य विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करना है, अतः इसका प्रधान विषय राज्य ही समझे जाते हैं। इसके यथार्थ ज्ञान के लिये राज्य के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। राज्य की परिभाषा विभिन्न विधिवेत्ताओं ने विविध प्रकार से की है। ब्रिटिश विधिशास्त्री **हालैण्ड** (Holland) के मतानुसार "राज्य मनुष्यों के उस समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमें किसी एक वर्ग की या उल्लेखनीय बहुसंख्यक दल की इच्छा इसका विरोध करने वालों के ऊपर चलती हो"[1]। **हाल** (Hall) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की दृष्टि से इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—"स्वतन्त्र राज्य का लक्षण यह है कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिये संगठित है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।" **श्री विल्सन** (Wilson) के मत में "एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिये संगठित जनता का नाम राज्य है।" **श्री गार्नर** (Garner) की परिभाषा के अनुसार "राज्य बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है, जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग में स्थायी रूप से रहता हो, बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमें ऐसी सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन नागरिकों के विशाल समुदाय द्वारा स्वभावतः किया जाता हो।"

आपेनहाइम (Oppenheim) के मतानुसार "एक राज्य की सत्ता तब मानी जाती है, जब जनता अपनी सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) सरकार की अधीनता में किसी देश में बसी होती है। राज्य की सत्ता के लिये चार आवश्यक शर्तें हैं—**सर्वप्रथम इसमें जनता** होनी चाहिये। जनता का अभिप्राय समुदाय के रूप में एक साथ जीवन बिताने वाले नर-नारियों के समूह से है, भले ही ये विभिन्न नस्लों, धर्मों या रंगों वाले हों। **दूसरी** शर्त—एक **प्रदेश** का होना आवश्यक है। खानाबदोश जाति राज्य नहीं कहला सकती। **तीसरी** शर्त—**सरकार** का होना है, अर्थात् इसमें जनता के प्रतिनिधियों के रूप में एक या अनेक व्यक्ति कानून के अनुसार देश का शासन करते हों। **चौथी** और अन्तिम शर्त यह है कि यह सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign)

१. हालैंड—एलीमैंट्स आफ ज्युरिसप्रूडेन्स, पृ० ४३

होनी चाहिये, प्रभुसत्ता का अभिप्राय सर्वोच्च सत्ता से है, यह अन्य सभी सांसारिक सत्ताओं से स्वतन्त्र होती है।"[२]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को महत्व देते हुए **फिलीमोर** (Philimore) ने राज्य का यह लक्षण किया है—"राज्य ऐसी जनता है, जो एक निश्चित भूभाग पर स्थायी रूप से निवास करती है, जो एक-से कानूनों, आदतों तथा रिवाजों द्वारा बँधी हुई है, जो एक संगठित सरकार के माध्यम के द्वारा अपनी सीमा के अन्तर्गत सब व्यक्तियों तथा वस्तुओं पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का प्रयोग एवं नियन्त्रण करती है तथा जिसे भूमण्डल के राष्ट्रों के साथ युद्ध एवं संधि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार. प्राप्त है।"[३]

१९३३ में संयुक्त राज्य अमरीका तथा दक्षिण अमरीका के राज्यों के बीच में हुए मांटेविडियो (Montevideo) के समझौते की पहली धारा में राज्य की चार विशेषतायें बताई गयी हैं—(१) स्थायी आबादी, (२) सुनिश्चित प्रदेश, (३) सरकार, (४) अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता। यह क्षमता किसी संघ राज्य (Federation) के सदस्य को नहीं होती, संरक्षित राज्य (Protectorate) भी वैदेशिक विषयों में स्वतन्त्र नहीं होते, अतः उन्हें राज्य नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, भारतीय संघ की विभिन्न इकाइयों—उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल, मद्रास आदि को यह अधिकार नहीं है, अतः 'राज्य' कहलाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा की दृष्टि से उन्हें राज्य नहीं माना जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री **हाल** (Hall) ने राज्य होने के लिये एक आवश्यक शर्त "योरोपियन सभ्यता का अनुयायी होना बताया है।"[४] उसका यह मत है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक योरोपियन सभ्यता की उपज है, इससे विभिन्न प्रकार की सभ्यता रखने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और नियमों को नहीं समझ सकते, अतः उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून से नियन्त्रित होने वाला राज्य नहीं माना जा सकता। वे तभी राज्य बन सकते हैं, जबकि वे विधिवत् किसी संधि द्वारा इस कानून को स्वीकार करें। टर्की को योरोप के सभ्य राज्यों में १८५६ की पेरिस की संधि द्वारा स्वीकार किया गया था। जापान १८८६ में जेनेवा समझौता स्वीकार करने पर सभ्य राज्य माना गया। आजकल एशिया, अफ्रीका के सभी राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये हैं, अतः अब हाल की इस शर्त का कोई महत्व नहीं रहा। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्य होने की एक अन्य आवश्यक शर्त इसे अन्य राज्यों द्वारा दी जाने वाली मान्यता (Recognition) है, जब तक इसे यह मान्यता नहीं मिलती, यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International person) का रूप नहीं धारण कर सकता।

राज्य के उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि इससे मुख्य आवश्यक तत्व जनता

२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, अष्टम संस्करण, पृ० ११९

३. फिलिमोर—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, पृ० ८१

४. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४७-४९

(Population), प्रदेश (Territory), राजनैतिक संगठन या सरकार (Government), प्रभुत्व शक्ति (Sovereignty), तथा अन्य राज्यों द्वारा इसे प्रदान की गई मान्यता (Recognition) है। राज्य के ये तत्व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अनेक विशेषताओं में प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से किसी भी राज्य में निम्न पाँच गुण अवश्य होने चाहियें —(१) किसी प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों को शासित करने का और उन पर कर लगाने का पूरा अधिकार, स्वतन्त्रता (Independence) और प्रभुसत्ता (Sovereignty)। (२) अपनी स्थल, जल और वायुसेनाओं का रखना। (३) अपना पृथक् झण्डा रखना और राजदूत भेजने का अधिकार। (४) युद्ध छेड़ने और शान्ति सन्धि करने का अधिकार। (५) अन्य राज्यों द्वारा इसकी सत्ता का स्वीकार किया जाना।

राज्यों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य (Fundamental Rights and Duties of States)—जिस प्रकार एक राज्य में सब नागरिकों के कुछ मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य माने जाते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कानूनी व्यक्तित्व (Juristic Personality) रखने वाले राज्यों के कुछ मूलभूत अधिकार स्वीकार किए जाते हैं। सं० रा० संघ द्वारा स्थापित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) ने राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का एक प्रारम्भिक रूप (Draft) तय्यार किया है। इसमें निम्न चौदह अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का परिगणन है—(१) स्वतन्त्रता का अधिकार। (२) अपने प्रदेश में सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के प्रयोग का अधिकार। (३) अन्य किसी राज्य के आन्तरिक और बाह्य मामलों में हस्तक्षेप न करने का कर्त्तव्य। (४) किसी अन्य राज्य के प्रदेश में गृहयुद्ध की अग्नि न भड़काने का कर्त्तव्य। राज्य का यह भी फर्ज है कि वह अपने प्रदेश में विद्यमान किसी संगठन को दूसरे राज्य के गृहयुद्ध में सहायता न करने दे। (५) प्रत्येक राज्य का अन्य राज्यों के साथ समानता का अधिकार। (६) प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नस्ल, लिंग, भाषा, धर्म के किसी भी भेद-भाव के बिना मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में सबके साथ समान रूप से व्यवहार करे।(७) प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा व्यवस्था को संकट में डालने वाली परिस्थितियाँ न उत्पन्न होने दे। (८) प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे देशों के साथ अपने विवादों का निर्णय शान्तिपूर्ण उपायों से करे। (९) प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग करे, दूसरे राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को शक्ति के प्रयोग से या इसकी धमकी द्वारा खतरे में न डाले। (१०) प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि सं० रा० संघ के अधिकार पत्र की नवीं धारा का उल्लंघन करने वाले को या जिसके विरुद्ध सं० रा० संघ निरोधात्मक कार्यवाही कर रहा है, उसको कोई सहायता न दे। (११) प्रत्येक राज्य को यह चाहिये कि वह नवीं धारा का उल्लंघन करके प्राप्त किये गये किसी प्रदेश में ऐसा करने वाले राज्य को मान्यता प्रदान न करें। (१२) प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह सशस्त्र हमले से वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करे। (१३) प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह

संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतों से उत्पन्न होने वाले दायित्वों का पूरी ईमानदारी के साथ पालन करे। (१४) प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि अन्य राज्यों के साथ उसका आचरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार हो तथा इस सिद्धान्त के अनुकूल हो कि प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सर्वोच्च सत्ता का अनुसरण करने वाली हो। राज्य के उपर्युक्त अधिकारों में स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार विशेष महत्व रखते हैं।

राज्यों की स्वतन्त्रता का अधिकार, इसका स्वरूप तथा इसकी मर्यादा (The Right of Independence)—प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता (Independence) का पूरा अधिकार है, अपने क्षेत्र में उसे पूरी प्रभुसत्ता (Sovereignty) प्राप्त है। हालैण्ड ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह दो प्रकार की होती है: (१) बाह्य प्रभुसत्ता (External sovereignty)—इसका अभिप्राय दूसरे देशों के बाहरी नियन्त्रण के आधीन न होना है। (२) आन्तरिक प्रभुसत्ता (Internal sovereignty)—इसका अर्थ अपने क्षेत्र में सब कार्यों पर पूरा अधिकार रखना है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने देश का संविधान बनाने की तथा किन्हीं भी आवश्यक कानूनों का निर्माण करने की पूरी स्वतन्त्रता है, वह अपने देश का शासन प्रबन्ध करने में सर्वथा स्वाधीन है, उसे अपने देश की विदेशनीति निर्धारित करने की पूरी आजादी है। वह चाहे तो भारत की भाँति विभिन्न शक्तिशाली गुटों से पृथक् रहने (Non-alignment) की नीति अपना सकता है या पाकिस्तान की भाँति दूसरे देशों के साथ सैनिक संधियों की नीति वांछनीय समझते हुए उसे ग्रहण कर सकता है। उसे दूसरे देशों के साथ युद्ध छेड़ने और संधि करने के पूरे अधिकार हैं। वह अपने देश के नागरिकों तथा अपने क्षेत्र में स्थित विदेशियों के साथ मनचाहा व्यवहार कर सकता है, उसे अपने नागरिकों तथा विदेशियों की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है। उसे अपने नागरिकों पर अपने क्षेत्र में तथा विदेशों में भी पूरा अधिकार है, वह अपने नागरिकों को दूसरे देशों से बुला सकता है और उन पर मुकदमा चला सकता है।

राज्य द्वारा अपने प्रदेश में असीम अधिकार और शक्ति रखने के कारण आस्टिन (Austin) ने प्रभुसत्ता को अपरिमेय (Illimitable) कहा है। उसका यह मत है कि राज्य की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता को किसी प्रकार भी मर्यादित, सीमित और परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

किन्तु आस्टिन का यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। राज्य की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से अमर्यादित और असीम हो, ऐसी बात नहीं है। इस पर अनेक पाबन्दियाँ और मर्यादायें होती हैं। **पहली** मर्यादा एक राज्य द्वारा दूसरे देशों के साथ की गई द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय संधियाँ (Multilateral treaties) होती हैं, इनसे राज्य अपने पर कई पाबन्दियाँ लागू करते हैं। **दूसरी** मर्यादा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नियमों की है। कोई भी सभ्य राज्य सामान्य रूप से इन नियमों का उल्लंघन नहीं करता। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों या विदेशियों से मनमाना व्यवहार करने की स्वतन्त्रता होते हुए भी इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि उसका व्यवहार दूसरे देशों

में क्षोभ या असन्तोष उत्पन्न करने वाला न हो। इसीलिये अपने राज्य में आने वाले विदेशी राजाओं, शासनाध्यक्षों तथा राजनीतिक प्रतिनिधियों को विशेष अधिकार तथा राज्य के कानूनी बन्धनों से अनेक प्रकार की उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्रदान की जाती हैं। प्रत्येक राज्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने प्रादेशिक समुद्र (Territorial sea) की सीमा में विदेशों के व्यापारी जहाजों को सुरक्षित रूप से गुजरने का अधिकार देगा। प्रत्येक देश यद्यपि दूसरे राज्य के प्रदेश की सीमा का अतिक्रमण करने की स्वतन्त्रता रखता है, किन्तु वह सदैव ऐसा न करने का पूरा प्रयत्न करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने अन्य राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण नीति के व्यवहार की प्रतिज्ञा करते हुए दूसरे देशों के साथ युद्ध छेड़ने के अपने अधिकार पर बहुत बड़ी पाबन्दी लगा ली है।

आपेनहाइम ने यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखने की आवश्यकता के कारण वर्तमान काल के स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों को कुछ अंशों में अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करना पड़ा है।[५] स्टार्क ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए यह लिखा है—"वर्तमान समय में शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र हो, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हितों की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्रता पर कुछ पाबन्दियाँ लगाना स्वीकार न किया हो। अधिकांश राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सदस्य हैं, इससे इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय नीति के इन मामलों में अपने स्वतन्त्र विवेक पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाना स्वीकार कर लिया है। अतः सम्भवतः आजकल यह कहना अधिक सत्य है कि राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) का अभिप्राय शक्ति के उस अवशिष्ट अंश (Residium of Power) से है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित बन्धनों का पालन करने के बाद उसके पास शेष बचा रहता है।"[६] वस्तुतः वर्तमान युग में राज्यों की प्रभुसत्ता विश्व की महाशक्तियों के दो शक्तिशाली गुटों में बँट जाने के कारण बहुत क्षीण हो गई है। रूस तथा अमरीका के साथ वारसा, सीटो, नाटो, तथा सैण्टो सन्धि संगठनों में सम्मिलित होने वाले देश इनके साथ सैनिक और आर्थिक समझौते करके अपनी प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता को काफी अंशों में तिलांजलि दे चुके हैं।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties of States due to Independence)—स्टार्क के मतानुसार राज्यों की स्वतन्त्रता के कारण उन्हें निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं—

(क) अपने घरेलू मामलों को नियन्त्रित करने का अनन्य (Exclusive) अधिकार।

(ख) विदेशियों को अपने देश में प्रवेश की अनुमति देने का तथा इन्हें निकालने का अधिकार।

५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, अष्टम संस्करण पृ०, १२३
६. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ सं०, पृ० ८३३

(ग) अन्य देशों में इसके दूतों के विशेषाधिकार।

(घ) इसके प्रदेश में हुए अपराधों पर इसका एकमात्र क्षेत्राधिकार।

इन अधिकारों के साथ राज्य के निम्नलिखित तीन कर्तव्य भी हैं—

(अ) दूसरे राज्यों के प्रदेश पर प्रभुसत्ता के कार्य न करने का कर्तव्य।

(आ) दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता तथा सर्वोच्च सत्ता को भंग करने वाले कार्यों को स्वयं न करने का कर्तव्य तथा अपने नागरिकों को ऐसे कार्य करने से रोकने का कर्तव्य।

(इ) दूसरे राज्य के कार्यों में बाधा न डालने का कर्तव्य।[७]

(अ) पहला कर्तव्य—दूसरे राज्य के प्रदेश में प्रभुसत्ता के कार्य न करना—यदि कोई राज्य दूसरे राज्य में अपने कार्यकर्ता इस उद्देश्य से भेजता है कि वे उस राज्य के कानून के विरुद्ध कार्यों को करने वाले व्यक्तियों को पकड़ कर ले आयें तो वह अपने ऊपर बताये गये कर्तव्य का तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है। १९३५ में एक जर्मन शरणार्थी पत्रकार **बर्थोल्ड जेकब** (Berthold Jacob) स्विट्ज़रलैण्ड में निवास कर रहा था, उसे जर्मनी की नात्सी पार्टी के व्यक्ति यहाँ से अपहरण करके जर्मनी ले गये, वहाँ उसको जेल में डाल दिया गया। स्विस सरकार ने इस आधार पर जर्मनी से जेकब को वापिस करने की माँग की कि यह स्विट्ज़रलैण्ड की स्वतन्त्रता का घोर अतिक्रमण (Violation) था। स्विस सरकार के कड़े रुख के कारण जर्मन सरकार को जेकब स्विट्ज़रलैण्ड को लौटाना पड़ा। जून १९६० में नात्सी जर्मनी में ६० लाख यहूदियों के वध के लिये उत्तरदायी समझे जाने वाले भूतपूर्व गेस्टापो अधिकारी कर्नल आइकमान (Eichmann) को कुछ इज़रायली अर्जेण्टायना से भगाकर इज़राइल ले आये, वहाँ की सरकार ने इज़राइलियों के इस कार्य को अपनी प्रभुसत्ता का हनन और घोर अतिक्रमण समझा। उसने इज़राइल से इसे लौटाने को कहा और इज़राइल द्वारा आइकमान न लौटाये जाने पर उसने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् में उठाया। सुरक्षा परिषद् ने २४ जून १९६० को इस विषय में अर्जेण्टायना का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि इज़राइल नात्सी नेता आइकमान के अपहरण के लिये उसे पर्याप्त क्षतिपूर्ति (Adequate reparations) प्रदान करे, जो सं० रा० संघ के तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मानदण्डों के अनुरूप हों। इसके साथ ही इस प्रस्ताव पर यह अमरीकी संशोधन भी स्वीकार कर लिया गया कि एक सदस्य-राज्य की प्रभुसत्ता को हानि पहुँचाने वाले ऐसे कार्यों की पुनरावृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है। प्रत्येक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता के आदर करने का सिद्धान्त **कार्फू चैनल केस** (Corfu Channel Case 1949) में स्वीकार किया गया था (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। इस मामले में न्यायालय की सम्मति थी कि इस जलप्रणाली में ब्रिटिश विध्वंसकों को हानि पहुँचने के तीन सप्ताह बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा अल्बानिया के प्रादेशिक

[७] स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ ८४

समुद्र में नवम्बर १९४६ में सुरंगें साफ करने का कार्य अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।

राज्य का ऊपर बताया **दूसरा (आ)** कर्त्तव्य यह भी है कि वह अपनी सीमाओं में पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध राजनीतिक आतंकवादी (Terrorist) कार्य करने वाले व्यक्तियों को ऐसे कार्यों से रोके। १९३४ में मार्सेल्ज़ के बन्दरगाह में यूगोस्लाव राजा एलेक्ज़ेण्डर की मेसीडोनियन आतंकवादियों द्वारा हत्या पर यह प्रश्न उग्र रूप में उठा। यूगोस्लाविया ने राष्ट्रसंघ में हंगरी की सरकार पर यह आरोप लगाया कि उसके राज्य में हत्या की तय्यारियाँ की गयीं, किन्तु उसने इनकी जानबूझ कर उपेक्षा की। राष्ट्रसंघ ने इस प्रश्न का निर्णय करते हुए कहा कि इस विषय में प्रत्येक राज्य के दो कर्त्तव्य हैं—(१) इसे अपने प्रदेश में राजनीतिक उद्देश्य से किसी आतंकवादी कार्य को न तो प्रोत्साहित करना चाहिए और न बर्दाश्त करना चाहिए। (२) राजनीतिक ढंग के स्वरूप वाले आतंकवादी कार्यों के दमन का पूरा प्रयत्न करना चाहिए और विदेशी सरकार की प्रार्थना पर उसे इस विषय में पूरी सहायता देनी चाहिए। चीन की साम्यवादी सरकार ने अपने १० जुलाई १९५८ के नोट में भारत सरकार से यह कहा था कि भारत में कलिम्पोंग चीनविरोधी प्रचार, षड्यन्त्र और विघटनकारी कार्यवाहियों का अड्डा बना हुआ है, इससे चीन की "प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता को बड़ा खतरा है।" भारत सरकार को ऐसी विध्वंसात्मक कार्यवाहियों का दमन करना चाहिए। भारत सरकार ने अपने २ अगस्त १९५८ के पत्र में चीन द्वारा दिए गए प्रमाणों का खण्डन करते हुए यह आश्वासन दिया था कि "भारत सरकार अपने प्रदेश में चीन की गणराज्य सरकार के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होने देगी"। चीनी प्रधानमंत्री चौ एन-लाई ने नैपाल सरकार को जुलाई १९६० के आरम्भ में लिखे अपने पत्र में यह कहा था कि वह अपने देश में तिब्बत के विद्रोहियों को अपनी चीन विरोधी कार्यवाहियों का अड्डा न बनने दे, विद्रोहियों को दिया गया कोई प्रोत्साहन चीन द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जायगा।

दूसरे राज्य के मामलों में **हस्तक्षेप**[८] न करना प्रत्येक राज्य का **तीसरा (इ)** महत्वपूर्ण कर्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में हस्तक्षेप (Intervention) की एक विशेष परिभाषा है। इसका लक्षण करते हुए आपेनहाइम ने लिखा है—"यह एक राज्य द्वारा वास्तविक स्थिति को बनाये रखने या बदलने के उद्देश्य से दूसरे राज्य के कार्यों में तानाशाही ढंग से बाधा डालना (Dictatorial interference) है।"[९]

८. अंग्रेजी के Intervention तथा Interference के लिए हिन्दी में प्रायः हस्तक्षेप शब्द प्रयोग होता है। वस्तुतः दोनों शब्दों में सूक्ष्म अन्तर है। Interference ऐसा हस्तक्षेप है, जिसका मुख्य उद्देश्य किसी कार्य को रोकना या अड़ंगा डालना है, किन्तु Intervention ऐसा हस्तक्षेप है, जिसका उद्देश्य मतभेद दूर करना या परिस्थिति में संशोधन और सुधार करना है। यहाँ पहले के लिये दखल या विघ्न डालना और दूसरे के लिये हस्तक्षेप या अन्तरागमन शब्द का प्रयोग किया गया है।

९. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८३

जैक्सन के शब्दों में 'हस्तक्षेप एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता का तानाशाही ढंग से अतिक्रमण करना (dictatorial or imperative violation) है'। उपर्युक्त दोनों लक्षणों से यह स्पष्ट है कि हस्तक्षेप दूसरे राज्य द्वारा पहले राज्य की इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक उसके कार्यों में बाधा डालना तथा उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध चलने के लिये विवश करना है। इसमें सदैव हस्तक्षेप करने वाले राज्य की यह धमकी छिपी रहती है कि उसकी इच्छा पूरी न होने पर इसका दूसरे राज्य की राजनैतिक स्वतन्त्रता पर प्रभाव पड़ सकता है। हाइड ने इस विशेषता पर बहुत बल दिया है और स्टार्क ने लिखा है कि इससे कम उग्रता वाला कार्य हस्तक्षेप नहीं कहला सकता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वह निषिद्ध नहीं है। ऐसे तानाशाही हस्तक्षेप का सुन्दर ऐतिहासिक उदाहरण १८९५ में रूस, फ्रांस, और जर्मनी द्वारा संयुक्त रूप से चीन को दी गयी यह धमकी थी कि वह जापान को शिमोनोसेकी की सन्धि द्वारा दिए गए लिआओटुंग के प्रायद्वीप को उससे वापिस ले ले। जापान को अपनी इच्छा के विरुद्ध बाधित होकर यह प्रदेश चीन को वापिस करना पड़ा था। हस्तक्षेप के विभिन्न प्रकारों का आगे विस्तृत वर्णन किया जायगा।

राज्यों की समानता का अधिकार (Right to Equality)—यद्यपि क्षेत्रफल, जनसंख्या, शक्ति, समृद्धि तथा सभ्यता की दशा को देखते हुए विश्व के राज्यों में बहुत अधिक विभिन्नता और वैषम्य पाया जाता है, किन्तु फिर भी इन सब में इस दृष्टि से साम्य है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में समान समझे जाते हैं। राज्यों की समानता का यह अभिप्राय है कि सब राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य तुल्य हैं। फेनविक (Fenwick) ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—"प्रत्येक राज्य को अपनी राष्ट्र की सुरक्षा करने का वैसा ही अधिकार है तथा दूसरे की सुरक्षा (security) को बनाये रखने का वैसा ही कर्तव्य है, जैसा अन्य राज्यों को अपनी सुरक्षा करने और दूसरे की सुरक्षा बनाये रखने का है। प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता का समान अधिकार है, इसके अनुसार वह बिना किसी हस्तक्षेप के अपनी घरेलू तथा वैदेशिक नीति का इच्छानुसार निर्धारण कर सकता है। अपनी सीमाओं में उसे पूरा क्षेत्राधिकार प्राप्त है किन्तु इसके साथ ही उसका यह भी कर्तव्य है कि वह दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे। प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश के क्रय-विक्रय करने का, महासमुद्रों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने का, राजदूतों के आदान-प्रदान का और संधियाँ तथा समझौते करने का समान अधिकार है।" सं० रा० संघ के अधिकार पत्र में यह कहा गया है कि इसके संगठन का आधार सब सदस्य राज्यों की सर्वोच्च समानता (sovereign equality) का सिद्धान्त है।

आपेनहाइम के मतानुसार राज्यों की कानूनी समानता का सिद्धान्त मानने के चार परिणाम हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विवादों में सब राज्यों के समान होने के कारण एक राज्य को एक ही वोट देने का अधिकार होता है। सं० रा० संघ में सं० रा० अमरीका और रूस जैसे महाशक्तिशाली और विशाल राज्यों को घाना या ट्यूनिसिया के राज्य की भाँति एक ही वोट प्राप्त है। (२) कानूनी तौर से छोटे और

निर्बल राज्यों का तथा बड़े और प्रबल राज्यों का वोट समान महत्व रखता है। (३) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य पर अधिकार-क्षेत्र का दावा नहीं कर सकता। अतः किसी राज्य के राजा पर दूसरा राज्य अपने न्यायालय में अभियोग नहीं चला सकता। किसी पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के रणपोतों पर तथा अन्य पोतों पर किसी दूसरे राज्य में मामला नहीं चल सकता (देखिये प्रथम परिशिष्ट में **मिघेल बनाम जोहोर के सुल्तान** का मामला)। (४) एक राज्य के न्यायालय सामान्य रूप से दूसरे राज्य के सरकारी कार्यों की वैधता के बारे में कोई सन्देह नहीं प्रकट करते।

यद्यपि कानूनी तौर से राज्यों के अधिकारों की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। बड़े राज्यों को छोटे राज्यों की अपेक्षा अनेक विशेष अधिकार प्राप्त हैं। सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद् में पाँच बड़े राज्यों—सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और माओ त्सेतुंग के साम्यवादी चीन को स्थायी रूप से पाँच सीटें मिली हुई हैं, जबकि अन्य राज्यों को इसमें चुनाव द्वारा स्थान प्राप्त होता है। इसमें सब राज्यों को जनरल असेम्बली जैसा समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। इसके साथ ही इन पाँच महाशक्तियों को वीटो (Veto) या निषेधाधिकार मिला हुआ है, अन्य राज्यों को ऐसा अधिकार नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका जैसे महादेशों के राजनीतिक प्रतिनिधियों को राजदूत (Ambassador) कहा जाता है, जबकि स्विट्ज़रलैंड जैसे छोटे राज्यों के प्रतिनिधि केवल मन्त्री (Minister) कहलाते हैं। अतएव सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst) ने यह ठीक ही लिखा है कि "सब राज्यों की समानता का विचार सर्वथा असत्य है। उनके आकार-प्रकार, जनसंख्या, प्रदेश, भौतिक साधनों और समृद्धि में महान् वैषम्य होने के कारण वे बराबर नहीं हैं। वे केवल एक दृष्टि से बराबर हैं कि उन सबको अपने घरेलू मामलों में इच्छानुसार व्यवस्था करने का पूरा अधिकार है।" ब्रियर्ली (Brierly) ने इस सिद्धान्त की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"यह कहना सत्य नहीं है कि सब राज्यों के अधिकार समान होते हैं······राजनीतिक रूप से महाशक्तियों को चिरकाल से राज्यों में प्रधानता मिली हुई है, राष्ट्र संघ तथा सं० रा० संघ के विधानों में इसे कानूनी प्रधानता में परिणत किया गया है। कुछ राज्य महाशक्तियों के संरक्षित (Protectorate) राज्य हैं, कुछ राज्यों का अधिकार क्षेत्र समर्पण (Capitulations) की पद्धति के कारण सीमित हो गया है। कुछ राज्यों को अपनी प्रजा के अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति ऐसी अनेक कानूनी बाध्यताओं का पालन करना पड़ता है, जिनसे अन्य राज्य मुक्त हैं।"[१०] फेनविक के मतानुसार १९१४ में ही यथार्थवादियों (Realists) ने कानूनी सिद्धान्तों और कठोर तथ्यों में इतना विरोध पाया कि वे समानता के सिद्धान्त को कानूनी विरोधाभास (Paradox) समझने लगे।

राज्यों का वर्गीकरण (Classification of States) : **(क) स्वतन्त्र राज्य** (Independent States)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से राज्यों को कई वर्गों

१०. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ् नेशन्स, पृ० १२४

में बाँटा जाता है। पहला वर्ग स्वतन्त्र (Independent) राज्यों का है। ये सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न (Sovereign) होने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उपयुक्त विषय है। वैस्टलेक (Westlake) के मतानुसार राज्य की स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण से मुक्ति या स्वाधीनता है। सं० रा० अमरीका या फ्रांस स्वतन्त्र हैं, क्योंकि अपने आन्तरिक शासन में या वैदेशिक सम्बन्धों में वह सब प्रकार के नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त है। स्वतन्त्र राज्य न केवल अपने देश के आन्तरिक शासन प्रबन्ध में इच्छानुसार व्यवस्था करने में स्वतन्त्र होता है, किन्तु उसे दूसरे देशों के साथ संधि, विग्रह करने तथा वैदेशिक सम्बन्ध बनाये रखने की पूर्ण स्वाधीनता होती है, इसमें यह किसी विदेशी अथवा बाह्य सत्ता से नियन्त्रित नहीं होता।

(ख) परतन्त्र या पराधीन राज्य (Dependent States)—ओपेनहाइम ने सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्यों को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना है। किन्तु लार्ड बर्कनहैड (Birkenhead), वैस्टलेक प्रभृति अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं का मत इसके प्रतिकूल है। वैस्टलेक के मतानुसार किसी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनने के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह स्वतन्त्र हो। यदि किसी राज्य की आन्तरिक और वैदेशिक मामलों में कार्य करने की स्वतन्त्रता अन्य किसी राज्य द्वारा मर्यादित या सीमित कर दी जाती है तो यह परतन्त्र या पराधीन राज्य होता है। इसे नियन्त्रित करने वाले राज्य के साथ इसका वश्यता (subordination) का सम्बन्ध होता है, जैसे ब्रिटिश युग में १४ अगस्त १९४७ तक भारत ग्रेट ब्रिटेन का वशवर्ती था।

(ग) संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (Composite International Person)—प्रायः राज्य एक सरल अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जाता है, इसमें एक ही राजनैतिक सत्ता और सरकार होती है। किन्तु कई बार दो या अधिक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य इस प्रकार संयुक्त होते हैं कि वे एक ही राज्य प्रतीत होते हैं। कई राज्यों से मिलकर बनने के कारण ऐसा राज्य सरल नहीं, किन्तु संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होता है। ऐसा राज्य मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है:—

(अ) वास्तविक संगम (Real Union)—जब दो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) राज्य एक संधि द्वारा एक सामान्य राजा के अधीन संयुक्त होते हैं और अन्य देशों के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं तो यह संयुक्त राज्य वास्तविक संगम कहलाता है। ये राज्य घरेलू विषयों में अपनी विभिन्नता और स्वाधीनता बनाये रखते हैं, किन्तु वैदेशिक सम्बन्धों की दृष्टि से एक राज्य के समान कार्य करते हैं। इन्हें एक बनाने वाली संधि में यह व्यवस्था की जाती है कि वे एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ सकते और न ही पृथक् रूप से किसी विदेशी शक्ति से लड़ाई कर सकते है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ये एक होते हैं। किन्तु उन्हें पृथक् रूप से दूसरे देशों के साथ संधि करने का अधिकार रहता है। वर्तमान समय में इस प्रकार का कोई संगम नहीं हैं। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण आस्ट्रिया और हंगरी का १८६७ के समझौते द्वारा एकीकरण था। इसके अनुसार आस्ट्रिया ने हंगरी को अपना पृथक् राज्य और सरकार बनाने की अनुमति दी, किन्तु हंगरी का राजा तथा आस्ट्रिया का सम्राट् एक ही व्यक्ति फ्रांसिस

जोसेफ माना गया। यह दोनों का संयुक्त शासक था। दोनों देशों के वैदेशिक मामलों का, युद्ध तथा आर्थिक नीति का संचालन दोनों के संयुक्त मन्त्री करते थे और वे संयुक्त संसद् (Joint Parliament) के प्रति उत्तरदायी होते थे। यह संघ प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक चलता रहा। इसका दूसरा उदाहरण नार्वे और स्वीडन के राज्यों का १८१४ से १६०५ तक एक राजा के नीचे एकीकरण था। डेन्मार्क और आइसलैण्ड का इस प्रकार का एकीकरण १६४४ में समाप्त हुआ।

(आ) व्यक्तिगत संगम (Personal Union)—जब दो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य तथा पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखने वाले राज्य केवल इस आकस्मिक घटना के कारण संयुक्त हो जाते हैं कि एक ही व्यक्ति दोनों का राजा है तो यह व्यक्तिगत संगम होता है। ऐसे राज्य वैदेशिक मामलों की दृष्टि से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखते हैं। यह इनका वास्तविक संगम से बड़ा महत्वपूर्ण भेद है। ग्रेटब्रिटेन और हनोवर में इस प्रकार का व्यक्तिगत संगम १८१४ से १८३७ तक रहा, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग में १८१५ से १८६० तक और बेल्जियम तथा कांगो फ्री स्टेट में १८८५ से १६०६ तक।

(इ) प्रसंधान (Confederation)—कुछ पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले राज्य किसी सन्धि द्वारा किसी विशेष प्रयोजन के लिये आपस में इस प्रकार संयुक्त होते हैं कि उनकी प्रभुसत्ता पूरे तौर से बनी रहती है, वे केवल कुछ कार्यों के लिये ही अपना विशिष्ट केन्द्रीय संगठन बनाते हैं, किन्तु इसके अधिकार विशेष प्रयोजनों तक ही सीमित होते हैं। राज्यों का ऐसा समुदाय प्रसंधान कहलाता है, इसमें केन्द्रीय संयुक्त सरकार की शासन-सत्ता राज्यों पर निर्भर होती है, उन राज्यों में रहने वाले नागरिकों पर इन्हें कोई अधिकार नहीं होता। कुछ उदाहरणों से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायगी। उत्तरी अमरीका के १३ राज्यो ने १७७६ में इंगलैण्ड की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया तथा इससे सफलतापूर्वक संघर्ष करने और स्वतन्त्र होने के लिये एक प्रसंधान (Confederation) बनाया। इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध में सफलता पाने के बाद इसे भंग किया जा सकता था, किन्तु बाद में इसने संघराज्य (Federation) का रूप धारण कर लिया। १८१५ में वियना कांग्रेस ने ३८ पूर्णप्रभुतासम्पन्न जर्मन राज्यों का जर्मन प्रसंधान (German Federation) बनाया। इसका मुख्य अंग डायट (Diet) नामक एक सभा थी, इसमें सब राज्य अपने प्रतिनिधि या दूत भेजते थे। डायट का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विषयों तक सीमित था, और यह केवल इतना ही था कि डायट की आज्ञाओं को न मानने वाले सदस्य-राज्य के विरुद्ध अन्य राज्य युद्ध छेड़ सकते थे, अन्य अवस्थाओं में सदस्य-राज्यों का परस्पर युद्ध करना सर्वथा वर्जित था। डायट (Diet) को अपने सदस्यों के आन्तरिक शासन प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। इसमें सदस्य-राज्यों को कुछ वैदेशिक विषयों में विदेशी राज्यों से सीधा सम्बन्ध करने का भी अधिकार था। प्रसंधान राज्यों के मुख्य उदाहरण हालैण्ड (१५८०–१७६५), जर्मनी (१८१५–६६), स्विट्जरलैण्ड (१२६१–१७६८, १८१५–१८४८), राइन (१८०६–१८१३) हैं। इसमें केन्द्रीय सरकार बड़ी निर्बल होती है, बहुत कम अधिकार रखती

है, उसके प्रयोजन अत्यन्त सीमित होते हैं, इनकी पूर्ति के बाद प्रसंधानित राज्य (Confederated State) प्रायः पृथक् होने की प्रवृत्ति रखते हैं। अतएव यह व्यवस्था अब लुप्त हो गई है, इस समय विश्व में एक भी प्रसंधान नहीं है।

(ई) संघ (Federation)—संघ अथवा संघीय राज्य (Federation state) कई पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों के स्थायी सम्मिलन से बनता है, इसे न केवल सदस्य-राज्यों पर अपितु राज्यों के नागरिकों पर भी पूरा अधिकार होता है। इसका निर्माण प्रायः राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि द्वारा तथा इनकी विधान निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) द्वारा बनाये गए संविधान द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, १७८७ ई० में ब्रिटिश प्रभुता से स्वतन्त्र हुए अमरीका के राज्यों ने अपना संविधान बना कर संयुक्त राज्य अमरीका का संघ राज्य बनाया। अन्य संघ राज्यों के उदाहरण स्विट्ज़रलैंण्ड (१८४८ से), मैक्सिको (१८५७ से), अर्जेण्टाइना (१८६० से), कनाडा (१८६७ से), जर्मनी (१८७१–१९१८), ब्राजील (१८९१ से) तथा सोवियत संघ (१९१८ से) हैं। संघ अपने सदस्य-राज्यों के साथ एक नवीन राज्य का रूप धारण करता है, इसे सदस्य-राज्यों पर तथा उनके नागरिकों पर पूरा अधिकार होता है। इसमें प्रभुसत्ता संघ एवं सदस्य-राज्यों में बँटी होती है, सदस्य-राज्य अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण रूप से स्वाधीन होते हुए भी संघीय राज्य के नियन्त्रण में रहते हैं।

प्रसंधान (Confederation) और संघ (Federation) दोनों के पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का सम्मिलन होते हुए भी अनेक **महत्वपूर्ण भेद** हैं। **पहला** भेद तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रसंधान कोई राज्य नहीं है, क्योंकि इसमें प्रभुसत्ता सदस्य-राज्यों में निहित होती है और वे अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बनाये रखते हैं। संघीय राज्य में प्रभुसत्ता केन्द्र तथा राज्यों में बँटी होती है, किन्तु वैदेशिक नीति का निर्धारण और संचालन संघीय सरकार द्वारा होता है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसका ही विशेष महत्व होता है, न कि इससे सदस्य-राज्यों का। प्रायः संघ के सदस्य-राज्य कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार नहीं रखते। इसका एक महत्वपूर्ण अपवाद १९१४ से पहले का संघीय जर्मन राज्य था, क्योंकि इसके सदस्य राज्यों को सन्धियाँ करने तथा राजदूत आदान-प्रदान करने का अधिकार था। इन दोनों का **दूसरा** भेद यह है कि प्रसंधान में केन्द्रीय सरकार का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction) राज्यों तक सीमित होता है, किन्तु संघीय सरकार राज्यों तथा इनके नागरिकों पर अपना अधिकार रखती है। **तीसरा** भेद यह है कि प्रसंधान राज्यों का एक शिथिल सम्मिलन होता है, किन्तु संघ इनका सुदृढ़ संगठन होता है। **चौथा** भेद यह है कि प्रसंधान विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अल्पकालिक और अस्थायी संगठन होता है, किन्तु संघ स्थायी सम्मिलन होता है, इसमें सम्मिलित होने के बाद इससे पृथक् होना असम्भव है। **पाँचवाँ** भेद यह है कि प्रसंधान में प्रभुसत्ता केवल राज्यों में निहित होती है, संघ में यह सत्ता केन्द्रीय या संघीय सरकार और राज्यों में बँटी होती है। **छठा** भेद यह है कि प्रसंधान में केन्द्रीय सरकार सदस्य राज्यों के नागरिकों के साथ सम्पर्क में नहीं आती, ये केवल अपने राज्य के ही नागरिक रहते हैं। किन्तु संघ में संघीय सरकार को विभिन्न राज्यों में रहने वाली

जनता के साथ सीधा सम्पर्क करने का अधिकार होता है। **सातवाँ** भेद यह है कि प्रसंधान में इसके सदस्य-राज्यों की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता अपने क्षेत्र में बनी रहती है, किन्तु संघ में सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता का अन्त होकर एक नए राज्य का निर्माण होता है। **आठवाँ** भेद यह है कि प्रसंधान में एक नागरिक केवल अपने राज्य की नागरिकता प्राप्त कर सकता है, किन्तु संघ में वह इसकी तथा राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेता है।

(घ) वशवर्ती राज्य (Vassal States)—स्टार्क के शब्दों में "जब कोई राज्य किसी अधीश्वर या अधिपति (suzerain) के पूर्ण नियन्त्रण में हो तो उसकी वश्यता में रहने के कारण यह वशवर्ती राज्य कहलाता है। इसकी स्वतन्त्रता मर्यादित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसकी सत्ता बिल्कुल नगण्य है। फिर भी कुछ वशवर्ती राज्य विशिष्ट परिस्थितियों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाये रखते हैं। मिश्र ने टर्की का वशवर्ती राज्य होते हुए भी उसकी सहमति लिये बिना विदेशी राज्यों के साथ व्यापारिक और डाकविषयक संधियाँ की थीं। मिश्र की यह स्थिति १९१४ तक बनी रही। बल्गारिया की टर्की के साथ यही स्थिति १८७८ से १९०८ ई० तक रही। १८७८ तक सर्बिया और रूमानिया भी टर्की के वशवर्ती राज्य थे। सामान्य रूप से वशवर्ती राज्य का विदेशी राज्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि इसका अधिपति इसकी स्वाधीनता को पूरी तरह से हड़प लेता है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वही इसका प्रतिनिधित्व करता है। आन्तरिक मामलों में स्वाधीन होने के कारण इसमें प्रभुसत्ता आंशिक (Partial sovereignty) होती है, किन्तु वैदेशिक मामलों में पराधीन होने के कारण इसे 'राष्ट्रों के परिवार' का सदस्य नहीं माना जाता। ब्रिटिश काल में हैदराबाद, काश्मीर आदि की भारतीय रियासतें ग्रेट ब्रिटेन के अधीन होने के कारण स्वतन्त्र वैदेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नहीं रख सकती थीं। भारत के सुप्रीम कोर्ट ने इस विषय का विवेचन **कमिश्नर ऑफ इन्कमटैक्स आन्ध्र प्रदेश बनाम एच. ई. एच मीर उस्मान अली बहादुर** के मामले में किया है (देखिये प्रथम परिशिष्ट)।

(ङ) संरक्षित राज्य (Protectorate)—जब कोई निर्बल राज्य किसी शक्तिशाली राज्य के साथ संधि करके अपने आपको उसके संरक्षण में ले आता है तो वह संरक्षित राज्य कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप इस राज्य की नीति का निर्धारण तथा महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय एवं वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन इसका संरक्षण करने वाले राज्य के हाथ में आ जाता है। संरक्षित राज्य में तथा वैयक्तिक कानून की अभिभावकता (Guardianship) की संस्था में काफी सादृश्य है।

संरक्षित राज्य अनेक प्रकार के होते हैं। इनका स्वरूप निर्बल और प्रबल राष्ट्र के बीच की गई सन्धि की शर्तों पर निर्भर होता है। किन्तु संरक्षित राज्य होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि इन दो राज्यों के अतिरिक्त कोई तीसरा राज्य या महाशक्ति उसे मान्यता प्रदान करे। ऐसा होने पर ही संरक्षक राज्य संरक्षित राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतिनिधित्व कर सकता है। किसी अधिपति के आधिपत्य में रहने वाले वशवर्ती राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कोई पृथक् स्थिति नहीं होती, किन्तु संरक्षित राज्य निर्बल और पराधीन होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनता

है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) की स्थिति रखता है। यह संरक्षक राज्य का पुछल्ला मात्र नहीं होता। संरक्षक राज्य द्वारा किसी अन्य देश से युद्धरत होने पर यह आवश्यक नहीं कि संरक्षित राज्य भी उस देश से स्वयमेव लड़ाई छेड़ दे, संरक्षक राज्य द्वारा की गई संधियाँ संरक्षित राज्य पर बाधित रूप से लागू नहीं होतीं। **आयोनियन जहाजों** (Ionian Ships) **के मामले** से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१८१५ की पेरिस की सन्धि के अनुसार आयोनियन द्वीपों को इंगलैंड के एकमात्र संरक्षण में स्वतन्त्र एवं स्वाधीन घोषित किया गया था। १८५४ में ग्रेट ब्रिटेन और रूस में क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया, इसमें कृष्ण सागर में कुछ आयोनियन जहाजों को ब्रिटिश क्रूजरों ने इस आधार पर पकड़ लिया कि ब्रिटिश संरक्षण में होने के कारण आयोनियन ब्रिटिश प्रजाजन हैं, उसके शत्रु के साथ उनका व्यापार करना अवैध है। किन्तु इस युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने आयोनियन द्वीपों की ओर से रूस के विरुद्ध युद्ध की कोई घोषणा नहीं की थी, अतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि संरक्षित राज्य होते हुए भी आयोनियन द्वीपों की स्वतन्त्र सत्ता कहाँ तक है और क्या वे अपने संरक्षक राज्य के शत्रु के साथ व्यापार कर सकते हैं। इस विषय में यह निर्णय किया गया कि इंगलैण्ड और रूस का युद्ध छिड़ जाने मात्र से ही आयोनियन द्वीप इसमें सम्मिलित नहीं हो जाते, अतः रूस के साथ उनका व्यापार अवैध नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि संरक्षित राज्य अपने आन्तरिक अथवा बाह्य मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता न रखते हुए भी एक पृथक् राजनीतिक सत्ता रखता है, अतः वह अपने युद्ध आदि की घोषणा अपने संरक्षक राष्ट्र से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में करता है। यही कारण है कि जब १६४० में इटली ने जर्मनी की ओर से मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा की तो उसके संरक्षित राष्ट्र सैन मेरिनो (San Marino) ने पृथक् रूप से युद्ध घोषणा की।

संरक्षित राज्यों का विकास पिछली दो शताब्दियों में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद के विकास के कारण हुआ। अब इसकी क्षीणता के साथ इनका ह्रास हो रहा है। जिन राज्यों या प्रदेशों को सीधे रूप में अपना वशवर्ती बनाने में दूसरे देशों का प्रबल विरोध होता या अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न होता, उनको किसी राज्य के संरक्षण में मान लिया जाता था। एशिया तथा अफ्रीका में इस प्रकार के बहुत से संरक्षित राज्य थे। इन महाद्वीपों में नवजागरण से तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद का अन्त होने से अब ऐसे देशों की संख्या बहुत कम रह गई है। उदाहरणार्थ, पहले फ्रांस का अफ्रीका में ट्यूनिस और मोरक्को पर, हिन्द चीन में टोंकिन, तथा कम्बोडिया पर, स्पेन का मोरक्को पर, अंग्रेजों का १६१४ से १६२२ तक मिश्र पर तथा मलाया प्रायद्वीप के राज्यों पर संरक्षण था। किन्तु १६५७ में ट्यूनिस पर १८८१ से चला आने वाला फ्रांस का संरक्षण यहाँ स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना के साथ समाप्त हो गया, इसी प्रकार फ्रांस और स्पेन दोनों ने १६५६ में मोरक्को को सम्पूर्णप्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य मान लिया। कम्बोडिया ने २५ सित० १६५५ को अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। मलाया के नौ राज्यों का संघ ३१ अगस्त १६५७ को ब्रिटिश संरक्षण से मुक्त हो गया। योरोप में इस समय दो छोटे देश संरक्षित राज्य हैं। पहला फ्रांस

और स्पेन की सीमा पर पिरेनीज़ पर्वतमाला का छोटा-सा राज्य एण्डोरा (Andorra, क्षेत्रफल १७५ वर्ग मी०, जनसंख्या ५,२००) फ्रांस और स्पेन के संयुक्त संरक्षण और आधिपत्य में है तथा दूसरा सैन मेरिनो (San Marino, क्षेत्रफल ३८ वर्ग मी०, जनसंख्या १४०००) इटली के संरक्षण में है। १८८० में ग्रेट ब्रिटेन तथा चीन के साथ हुई संधि के अनुसार सिक्किम पर ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार किया गया था, भारत ने स्वतन्त्र होने के बाद सिक्किम के साथ एक संधि द्वारा उस पर अपना संरक्षण स्थापित किया है, इसके अनुसार उसे आन्तरिक विषयों में पूरी स्वतन्त्रता है, किन्तु उसकी रक्षा, वैदेशिक नीति तथा संचार साधनों का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है।

(च) सहराज्य (Condominium)—जब किसी विशेष प्रदेश या क्षेत्र पर दो या दो से अधिक बाह्य शक्तियों का संयुक्त नियन्त्रण होता है तो इसे सहराज्य कहा जाता है। १८९८ में ब्रिटिश फौजों द्वारा सूडान की विजय के बाद इस पर एक सन्धि द्वारा मिश्र और ग्रेट ब्रिटेन का संयुक्त आधिपत्य स्थापित किया गया। १९३६ में पुनः एक संधि द्वारा इसकी पुष्टि की गयी। किन्तु १९५३ में एक समझौते द्वारा इस सहराज्य की समाप्ति की व्यवस्था करते हुए यह निश्चय किया गया कि सूडानी स्वयमेव जनमत द्वारा इसका निर्णय करें कि वे मिश्र के साथ मिले रहना चाहते हैं या पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। १९ दिसम्बर १९५५ को इस प्रश्न पर हुई मतगणना के बाद १ जनवरी १९५६ से सूडान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया है। सहराज्य का दूसरा उदाहरण प्रशान्त महासागरवर्ती न्यू हेब्रीडीज का टापू है, इस पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त शासन है। सहराज्य में जनता पर यद्यपि दोनों देशों की संयुक्त प्रभुसत्ता (Joint sovereignty) होती है, किन्तु शासन करने वाले राज्यों के अधिकार क्षेत्र पृथक् होते हैं और इनमें निवास करने वालों पर ही उनकी प्रभुसत्ता होती है।

(छ) राष्ट्रमंडल (Commonwealth of Nations)—यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक सुदीर्घकालीन विकास है। ब्रिटिश साम्राज्य में से सर्वप्रथम शनैः-शनैः ब्रिटिश जनसंख्या रखने वाले प्रदेशों में कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करके स्वाधीन उपनिवेश या डोमिनियन (Dominion) का दर्जा प्राप्त किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य अंग भी स्वतन्त्र होकर डोमिनियन बनने लगे, १९४७ में भारत और पाकिस्तान स्वाधीन होने के बाद इसका अंग बने, ग्रेट ब्रिटेन द्वारा एशिया और अफ्रीका के अधीनस्थ दूसरे राज्यों को स्वतन्त्रता देने की नीति से इसके सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। १९४८ में इसके सदस्यों के लिये डोमिनियन शब्द का प्रयोग कम होने लगा और इसमें अन्य जातियों की संख्या बढ़ने से राष्ट्रमण्डल के साथ ब्रिटिश शब्द के विशेषण का भी परित्याग कर दिया गया। इस समय राष्ट्रमण्डल के सदस्य प्रत्येक प्रकार से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य हैं। वे किसी देश के साथ संधि कर सकते हैं, उन्हें आन्तरिक मामलों में पूरी स्वाधीनता है। वे अपनी इच्छानुसार कोई भी कानून बना सकते हैं, ब्रिटिश पालियामेंट द्वारा बनाया कोई भी कानून उन पर लागू नहीं होता। वे स्वतन्त्र रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा छेड़े गये किसी युद्ध में सम्मिलित होना या

न होना पूर्ण रूप से उनकी इच्छा पर निर्भर है। इसके सदस्य एक दूसरे के साथ युद्ध भी कर सकते हैं और तटस्थ भी रह सकते हैं। वैदेशिक और बाह्य विषयों में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उन्हें दूसरे देशों के साथ दूतों के आदान-प्रदान का पूरा अधिकार है, वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का विषय बनते हैं। भारत और जन० १९७२ तक पाकिस्तान राष्ट्रमण्डल के सदस्य थे, फिर भी पाकिस्तान ने काश्मीर पर अधिकार करने के लिये भारत पर आक्रमण किया और दोनों के इस विवाद का अब तक कोई अन्तिम हल नहीं हुआ। राष्ट्रमंडल के सदस्य एक दूसरे के साथ स्वतन्त्र देशों की भाँति संधियाँ करते हैं, १९४४ में आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड ने अनज़क (Anzac) समझौता किया था। स्टार्क के कथनानुसार पिछले सात वर्षों में इसके सदस्य-राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में राष्ट्रमंडलीय नियमों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का प्रयोग बढ़ने लगा है। मंडल के विभिन्न देशों में हाई कमिश्नरों की स्थिति १९५२ के British Diplomatic Immunities Act द्वारा राजनीतिक प्रतिनिधियों और राजदूतों के समकक्ष हो गयी है।

किन्तु पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी मण्डल के सदस्य अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि वे सब देशों की सामान्य समस्याओं पर एक दूसरे से विचार-विमर्श करते रहें और परस्पर सम्बन्ध बनाये रखें। भारत ने यद्यपि अपने को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य घोषित किया है, किन्तु फिर भी वह इंगलैण्ड के राजा को राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष तथा इसके स्वाधीन राष्ट्रों के 'स्वतन्त्रतापूर्वक सम्मिलन का प्रतीक' मानता है। पाकिस्तान राष्ट्रमण्डल के देशों द्वारा बंगला देश को मान्यता देने के कारण इससे पृथक् हो गया है।

राष्ट्रमंडल की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिलकुल निराली है। यह संघीय राज्य नहीं है क्योंकि इसका कोई ऐसा संगठन या अंग नहीं है, जिसे सदस्य-राज्यों तथा उनके नागरिकों पर कोई अधिकार हो। यह प्रसंधान (Confederation) भी नहीं है, क्योंकि इसके सदस्य-राज्यों को संयुक्त बनाने वाली कोई संधि नहीं है और न ही इन पर अधिकार रखने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता या शक्ति है। यह वास्तविक संगम (Real union) भी नहीं है, क्योंकि इन राज्यों को संयुक्त करने वाली कोई संधि नहीं है। स्टार्क के शब्दों में "राष्ट्रमंडल न तो कोई अधिराज्य (Super state) है और न ही संघ। यह स्वतन्त्र और समान राज्यों का समूह है।"[११] इसके सब कार्य राज्यों के माध्यम से होते हैं। यद्यपि लन्दन में राष्ट्रमंडल के प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन होते हैं, इनका उद्देश्य सामान्य नीति का निर्धारण होता है, फिर भी इसके सदस्यों में तीव्र मतभद होते हैं; १९५६ में स्वेज नहर के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा हस्तक्षेप पर इसके सदस्यों में उग्र विवाद था, १९६० में दक्षिण अफ्रीका की जातिभेद (Apartheid) की नीति पर भी ऐसा ही विवाद था। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस पर प्रकाश डालते हुए यह ठीक ही कहा था—"सदस्यों में मतभेद होते हुए भी राष्ट्रमंडल का विकास हुआ है। कई बार सदस्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थ होते हैं, वे प्रतिकूल

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९४
१२. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९५

दिशाओं में इसे ले जाने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी वे आपस में मित्र की भांति मिलते हैं, एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं, और जहाँ तक हो सके कार्य करने के एक सामान्य मार्ग को ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रमंडल के सदस्य आन्तरिक एवं वैदेशिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता रखते हैं। उनकी प्रभुसत्ता केवल इसी बात से मर्यादित होती है कि १६३० की शाही परिषद् में उन्होंने शान्ति और युद्ध के महत्व-पूर्ण मामलों में पारस्परिक विचार-विमर्श करने का निश्चय किया था। किन्तु इससे अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के बारे में उन पर कोई प्रतिबन्ध लागू नहीं होता। वे पूरी प्रभुसत्ता वाले राज्य होने के कारण अपना पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हैं।

(ज) तटस्थीकृत राज्य (Neutralised States)—स्टार्क ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि "तटस्थीकृत राज्य उसे कहते हैं जिसकी स्वतन्त्रता तथा राज-नीतिक और प्रादेशिक अखण्डता को स्थायी रूप से बनाये रखने की गारण्टी महाशक्तियाँ एक सामूहिक समझौते द्वारा प्रदान करती हैं और इस प्रकार गारण्टी पाने वाला देश यह शर्त स्वीकार करता है कि वह आत्मरक्षा के अतिरिक्त दूसरे राज्य पर आक्रमण नहीं करेगा और न ही ऐसी मैत्रीसन्धियों में सम्मिलित होगा, जिससे उसकी निष्पक्षता को आंच आये तथा उसे युद्ध करने के लिये बाधित होना पड़े।"[११]

शान्ति बनाये रखने के लिये तटस्थीकरण दो उद्देश्यों से किया जाता है (क) लघु राज्यों की शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से रक्षा की जाय ताकि कहीं ऐसा न हो कि शक्तिशाली राज्य छोटे राज्यों को हड़प कर अधिक शक्तिशाली हो जायं और इस प्रकार विभिन्न बड़े राज्यों का शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) बिगड़ जाय, एक राज्य अन्य सभी राज्यों से अधिक शक्तिशाली हो जाय। (ख) महाशक्तियों के राज्यों की सीमाओं के बीच में वर्तमान अन्तस्थ राज्यों (Buffer States) की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय। ये दोनों उद्देश्य आगे दिये जाने वाले बेल्जियम और स्विट्ज़रलैंड के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेंगे।

तटस्थीकरण के लिये यह अनिवार्य है कि यह सामूहिक संविदा (Collective contract) द्वारा सम्पन्न हो। जिस देश का तटस्थीकरण करना हो, उससे सम्बन्ध रखने वाली महाशक्तियाँ मिलकर एक संधि द्वारा उसे स्थायी रूप से यह दर्जा प्रदान करें, जैसे १५ नवम्बर १८३१ की संधि द्वारा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, बेल्जियम, प्रशिया और रूस ने बेल्जियम की स्थायी तटस्थता स्वीकार की। कोई राज्य एकपक्षीय रूप से (Unilaterally) स्वयं अपने तटस्थीकरण की घोषणा नहीं कर सकता। अतएव जब १६३८ में स्विट्ज़रलैंड ने अपनी स्वतन्त्रता और तटस्थता की घोषणा स्वयं करने के बाद इसे राष्ट्रसंघ से स्वीकार कराना चाहा तो रूसी प्रतिनिधि श्री लिटविनोव ने इस पर यह आपत्ति उठायी कि वह सभी सम्बद्ध राज्यों से समझौता

---

११. वही, पृ० १००

किये बिना ऐसा नहीं कर सकता ।

तटस्थीकृत (Neutralised) राज्य पर संधि द्वारा यह प्रतिबन्ध लगाया जाता है कि वह आत्मरक्षा के अतिरिक्त दूसरे देश के साथ युद्ध नहीं छेड़ सकता तथा वह उस राज्य को लड़ाई में घसीटने वाली सैनिक संधियाँ और समझौते नहीं करेगा । इन प्रतिबन्धों से उसकी प्रभुसत्ता कुछ अंशों में मर्यादित हो जाती है, किन्तु इस कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता ।

तटस्थीकृत राज्यों के निम्न चार कर्तव्य समझे जाते हैं—(१) आत्मरक्षा के अतिरिक्त युद्ध में सम्मिलित न होना । (२) दूसरे देशों के साथ सैनिक संधियों और समझौतों में न शामिल होना । (३) आक्रमण होने की दशा में पूरी शक्ति के साथ अपनी रक्षा करना तथा तटस्थीकरण की गारण्टी देने वाले देशों से इसके लिये सहायता माँगना । (४) अन्य राज्यों के बीच युद्ध छिड़ने की दशा में तटस्थता के नियमों का पालन करना । तटस्थीकरण की गारण्टी करने वाली महाशक्तियों के निम्न कर्त्तव्य हैं—(१) तटस्थीकृत प्रदेश पर न तो किसी प्रकार का आक्रमण करना और न इसे करने की धमकी देना । (२) जब तटस्थीकृत राज्य पर दूसरा देश आक्रमण करे तो महाशक्तियाँ सेना द्वारा उसकी सहायता करें और अपनी गारण्टी की रक्षा करें ।

तटस्थीकरण (Neutralisation) **और तटस्थता** (Neutrality) **में बड़ा मौलिक अन्तर है ।** तटस्थीकरण स्थायी होता है, उसका अनुसरण युद्धकाल में तथा शान्ति के समय समान रूप से किया जाता है । किन्तु तटस्थता का पालन अन्य राज्यों द्वारा युद्ध छेड़ दिये जाने पर किया जाता है, यह स्थायी नहीं होती, युद्ध छिड़ने के बाद कोई राष्ट्र जब तक चाहे तटस्थ रह सकता है और जब चाहे इसका परित्याग करके युद्ध में सम्मिलित हो सकता है । किन्तु तटस्थीकृत राज्य ऐसा नहीं कर सकता, उसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा सदैव युद्ध से पृथक् रहने का दर्जा प्रदान किया गया है । केवल आक्रमण होने की दशा में ही वह युद्ध में सम्मिलित होता है । तटस्थीकरण औदासीन्य (Neutralism) से भिन्न है, क्योंकि इसका अर्थ रक्षापरक सैनिक सन्धियों से पृथक् या उदासीन रहना है ।

तटस्थीकृत राज्यों के महत्वपूर्ण उदाहरण स्विट्ज़रलैंड, बेल्जियम, लक्ज़मबर्ग और आस्ट्रिया हैं । वियना कांग्रेस में २० मार्च १८१५ को ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस, पुर्तगाल, प्रशिया, स्पेन, स्वीडन और रूस ने स्विट्ज़रलैण्ड को तटस्थ बनाने के एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये और स्विट्ज़रलैंड ने २७ मई १८१५ को इसे स्वीकार किया । उस समय से उसने अपनी तटस्थता की पूरी रक्षा की है, वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी इसलिये नहीं बना कि इसके चार्टर के अनुसार उसे संघ द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक कार्यवाही में सहयोग देने के लिये बाध्य होना पड़ता । बेल्जियम का राज्य १८३१ में बना, इंगलिश चैनल पर ब्रिटिश प्रदेश के बिल्कुल सामने अवस्थित होने के कारण इंगलैंड इसे किसी विदेशी शक्ति के हाथ में नहीं पड़ने देना चाहता था, अतः इसके जन्म के साथ ही १५ नवम्बर १८३१ को इसे स्थायी रूप

से तटस्थ बनाने की एक सन्धि पर ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, बेल्जियम, फ्रांस, प्रशिया और रूस ने हस्ताक्षर किये। इसकी पुष्टि १६ अप्रैल १८३६ की **लन्दन की संधि** द्वारा की गयी। किन्तु १६१४ में जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण के लिये इसकी तटस्थता भंग की, इस पर ग्रेट ब्रिटेन इसकी रक्षा के लिये प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ। युद्ध के बाद बेल्जियम के राजा ने एक घोषणा द्वारा बेल्जियम की तटस्थता के समाप्त होने की घोषणा की और वर्साय की सन्धि (धारा ३१) में मित्र राष्ट्रों ने इसे स्वीकार कर लिया। हिटलर के सत्तारूढ़ होने पर जब उसने लोकार्नो समझौते को भंग किया, राइन प्रदेश में अपनी सेनायें भेजीं तो बेल्जियम ने पुनः तटस्थता की घोषणा की। २४ अप्रैल १६३७ को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने तथा १३ अक्टूबर १६३७ को जर्मनी ने इसकी तटस्थता को सुरक्षित रखने का वचन दिया। किन्तु हिटलर की सेनाओं ने इस वचन को भंग करते हुए १० मई १६४० को बेल्जियम पर आक्रमण किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बेल्जियम आत्मरक्षा के लिय नाटो (Nato) संधि संगठन में सम्मिलित हो गया (अप्रैल १६४६), अतः अब वह तटस्थीकृत राज्य नहीं रहा। लक्ज़मबर्ग १८१५–१८६० तक हालैण्ड के साथ व्यक्तिगत संगम (Personal Union) में रहा। हालैण्ड का राजा ही इसका ग्रैण्ड ड्यूक था। किन्तु यह जर्मन प्रसंधान (Confederation) का सदस्य था। प्रशिया को १८५६ के बाद इसमें सेनायें रखने का अधिकार मिला। १८६६ में प्रशिया द्वारा आस्ट्रिया को परास्त करने के बाद जर्मन प्रसंधान समाप्त हो गया तथा नैपोलियन तृतीय ने इसे हालैण्ड के राजा से खरीदने का प्रयत्न किया, प्रशिया को इस बात पर आपत्ति थी। दोनों का संघर्ष दूर करने के लिये १८६७ में लन्दन की संधि द्वारा इसे तटस्थ राज्य माना गया, किन्तु १६१४ में जर्मनी ने इसकी तटस्थता का अतिक्रमण किया। १५ मई १६५५ की संधि के अनुसार आस्ट्रिया स्थायी रूप से तटस्थ राज्य घोषित किया गया है।

(अ) होली सी तथा वैटिकन नगर (Holy See and Vatican City)—रोम के पोप की स्थिति, पद और सत्ता के लिये होली सी (Holy See) शब्द का प्रयोग होता है, रोम के निकट सौ एकड़ में फैला हुआ पोप का निवास स्थान वैटिकन नगर कहलाता है। मध्य युग में पोप इटली में विशाल भूप्रदेश का शासक था। १६वीं शती के मध्य में जब इटली के देशभक्तों ने अनेक राज्यों में विभक्त अपनी मातृभूमि को एक राजनीतिक सत्ता के नीचे लाने का निश्चय किया तो पोप ने इसका घोर विरोध किया। इसकी परवाह न करते हुए १८७० तक इटली के देशभक्तों ने न केवल विभिन्न छोटे राज्यों का एकीकरण पीडमाण्ट के राजा के नेतृत्व में किया, अपितु पोप के प्रदेशों को भी छीन लिया और उसकी राजधानी रोम पर अधिकार कर लिया। इस पर पोप अपने निवास स्थान वैटिकन में चला गया और उसने यह घोषणा की कि वह वैटिकन में बन्दी है। फिर भी इटली की सरकार ने पोप के पद और प्रतिष्ठा को देखते हुए **'गारण्टियों के कानून'** (Law of Guarantees) द्वारा पोप को सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों के शासनाध्यक्षों की भाँति कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये। किन्तु पोप ने इन्हें लेना स्वीकार नहीं किया क्योंकि इटली की संसद् द्वारा पास किया गया यह कानून

भविष्य में किसी भी अगली संसद् द्वारा बदला जा सकता था। पोप का यह कहना था कि यह कानून अन्य राज्यों द्वारा भी पास होना चाहिये ताकि इसमें कोई परिवर्तन न हो सके तथा उसकी स्थिति सुरक्षित रह सके। पोप और इटालियन सरकार में इस प्रश्न पर बहुत समय तक बड़ा कटु विवाद चलता रहा।

मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के बाद १९२९ में पोप तथा इटालियन सरकार में हुई एक सन्धि (Lateran Treaty) द्वारा इस समस्या का समाधान किया गया। इसमें इटली ने रोम के पोप (होली सी) को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पूर्ण सत्तासम्पन्न प्रभु (Sovereign) स्वीकार कर लिया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वैटिकन नगर की सीमाओं में उसे पूर्ण राजसत्ता दे दी गयी। इसके निवासियों को पृथक् नागरिकता के अधिकार दिये गये। पोप को अन्य देशों के साथ अपने दूतों तथा राजनीतिक प्रतिनिधियों के आदान-प्रदान का अधिकार मिला।

इस समय वैटिकन की स्थिति स्थायी रूप से तटस्थीकृत प्रदेश की है, कोई भी दूसरा राज्य इसकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। द्वितीय विश्वयुद्ध में सभी योद्धा राज्यों ने इसकी तटस्थता को बनाये रखा। वैटिकन नगर एक सर्वोच्च प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य है और पोप को उसका अध्यक्ष होने के नाते राजाओं के सब अधिकार प्राप्त हैं। वैटिकन यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है, किन्तु उसका प्रदेश और जनसंख्या बहुत कम होने से उसका अधिकारक्षेत्र बहुत ही सीमित है। उपर्युक्त संधि में पोप ने "सांसारिक प्रतिद्वन्द्विताओं से तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों" से पृथक् रहने की इच्छा व्यक्त की थी। अतः पोप का राज्य अन्य सांसारिक राज्यों से सर्वथा भिन्न है, उसकी इन राज्यों में गणना नहीं हो सकती। वैटिकन सं० रा० संघ का सदस्य नहीं है।

(ग) मैण्डेट पद्धति (Mandate System)—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर मित्रराज्यों द्वारा जर्मनी और टर्की से जीते हुए प्रदेशों की व्यवस्था के लिये राष्ट्रसंघ के विधान की धारा २२ में इस पद्धति का प्रतिपादन किया गया था। विजित प्रदेशों को विजेताओं के साम्राज्य का अंग बनाने के स्थान पर संघ की संरक्षकता में इन्हें लिखित समझौतों की कुछ शर्तों के साथ इनके शासन प्रबन्ध का दायित्व सौंपा गया। ये समझौते या संघ द्वारा शासन के लिये दी गई आज्ञायें शासनादेश (Mandate) कहलाते हैं। ये जिन महाशक्तियों को प्रदान किये गये, वे आदेश प्राप्त या आदेशप्रापक (Mandatory) कहलाते हैं। जिन भूभागों के लिये आदेश दिये गये थे, उन्हें आदिष्ट (Mandated) कहा जाता है। आदिष्ट प्रदेश सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए थे, इनका उत्थान सभ्य राज्यों का पवित्र कर्त्तव्य और अमानत समझा गया, मैण्डेट वाले प्रदेशों को विजेता राष्ट्रसंघ की अनुमति के बिना अपने साम्राज्य में नहीं मिला सकते थे।

ये कई दृष्टियों से **राज्य में मिलाये, अंगीकृत या अनुबद्ध** (Annexed) किये जाने वाले प्रदेशों से अनेक भेद रखते थे—(१) अनुबद्ध प्रदेश पर इसे अपने राज्य में मिलाने वाला मनमाना शासन कर सकता है, आदिष्ट (Mandate) प्रदेश पर यह शासन संघ के निरीक्षण और तत्वावधान में होता था। (२) अनुबद्ध प्रदेश पर विजेता का पूरा

स्वामित्व होता है, आदिष्ट प्रदेश पर आदेशप्रापक का कोई ऐसा स्वत्व नहीं था, वह उसको पवित्र धरोहर के रूप में दिया गया था। (३) अनुबद्ध प्रदेश के सम्बन्ध में विजेता उसे अपने राज्य में मिलाने, किसी दूसरे को देने आदि का पूरा अधिकार रखता है, किन्तु आदेशप्रापक राज्य संघ की स्वीकृति के बिना कोई कार्य नहीं कर सकते थे। (४) विजेता को अपने अनुबद्ध प्रदेश के नागरिकों को सेना में भर्ती करने तथा प्रशिक्षित करने का पूरा अधिकार होता है, किन्तु 'बी' तथा 'सी' वर्ग (देखिये नीचे) के मैण्डेट प्राप्त करने वाली शक्तियां अपने आदिष्ट प्रदेश में केवल आन्तरिक पुलिस या स्थानीय प्रतिरक्षा के लिये ही नागरिकों को फौज में भर्ती कर सकती थीं। (५) आदिष्ट प्रदेश (Mandated territory) के निवासी स्वयमेव आदेश प्राप्त राज्य की राष्ट्रीयता नहीं प्राप्त कर सकते थे। (६) अनुबद्ध प्रदेश में विजेता अपनी मनचाही आर्थिक व्यवस्था लागू कर सकता है, वह इस प्रदेश में विदेशी शक्तियों को व्यापार करने से रोक सकता है। किन्तु 'ए' तथा बी वर्ग के आदिष्ट प्रदेशों के लिये आदेशप्रापक (Mandatory) राज्यों पर यह दायित्व डाला गया था कि वे इनके सम्बन्ध में मुक्त द्वार (Open door) की नीति का अनुसरण करेंगे तथा किसी देश को इनके साथ व्यापार करने से नहीं रोकेंगे। (७) अनुबद्ध प्रदेश में विजेता इच्छानुसार शासन कर सकता है। किन्तु आदिष्ट प्रदेश के शासन के लिये मैण्डेट प्राप्त करने वाली शक्ति के लिये यह आवश्यक था कि वह इस ढंग से शासन करे कि इस प्रदेश का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास हो। इसे प्रतिवर्ष मैण्डेट के शासन पर राष्ट्रसंघ को एक रिपोर्ट देनी पड़ती थी। राष्ट्रसंघ इन प्रदेशों की प्रगति देखने के लिये अपने प्रतिनिधि भेज सकता था। संघ द्वारा मैण्डेटों के निरीक्षण के लिये दस सदस्यों का **स्थायी शासनादेश आयोग** (Permanent Mandate Commission) था। इसके अधिकांश सदस्य शासनादेशप्रापक देशों से भिन्न देशों के होते थे। यह आयोग आदिष्ट प्रदेश के प्रतिनिधि की उपस्थिति में इसके शासन के बारे में संघ को भेजी गई रिपोर्ट पर विचार करता था। आदिष्ट प्रदेश का कोई भी निवासी संघ को इसके शासन के सम्बन्ध में अपनी शिकायतों का आवेदनपत्र भेज सकता था। इन सब प्रतिबन्धों के कारण आदिष्ट प्रदेश अनुबद्ध प्रदेशों (Annexed territories) से सर्वथा भिन्न थे।

राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र की धारा २२ के अनुसार मैण्डेट **तीन वर्गों** में बाँटे गये थे। **प्रथम श्रेणी** (Class A) में तुर्क साम्राज्य के वे प्रदेश थे "जिनका विकास इस अवस्था तक हो चुका था कि वे अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र माने जा सकते हैं, पर वे जब तक अपने पांवों पर खड़े नहीं हो जाते तब तक उन्हें मैण्डेट प्राप्त करने वाले राज्यों का प्रशासनसम्बन्धी परामर्श और सहायता मिलती रहनी चाहिये।" इस श्रेणी में इराक और पेलेस्टाइन का मैण्डेट ग्रेट ब्रिटेन को तथा सीरिया और लेबनान का शासनादेश फ्रांस को प्रदान किया गया।

द्वितीय श्रेणी (Class B) में मध्य अफ्रीका के ऐसे प्रदेश सम्मिलित थे "जिनके शासन-प्रबन्ध के लिये मैण्डेट पाने वाले देश पूरा उत्तरदायित्व रखते थे और उन्होंने इस दृष्टि से शासन करना था कि निवासियों को अन्तःकरण और धर्म की

स्वतन्त्रता हो, दासप्रथा, शस्त्र और शराब के व्यापार जैसी कुप्रथाओं का निरोध हो, इनमें सैनिक और नौसैनिक अड्डे न बनाये जायं; पुलिस के प्रयोजन के अतिरिक्त निवासियों को सैनिक शिक्षा न दी जाय।" 'बी' श्रेणी के मैण्डेटों में ब्रिटिश कैमरून, ब्रिटिश टोगोलैण्ड तथा टांगानिक्या ग्रेट ब्रिटेन को; फ्रेंच कैमरून तथा फ्रेंच टोगोलैण्ड फ्रांस को, तथा रुआंडा उरुण्डी बेल्जियम को प्राप्त हुए।

तृतीय श्रेणी (Class C) में ऐसे मैण्डेट थे, जो अत्यन्त अल्पाकार, बहुत कम आबादी वाले, सभ्यता के केन्द्रों से दूर और मैण्डेट प्राप्त करने वाले राज्यों के प्रदेश के साथ भौगोलिक सान्निध्य रखते थे, इन कारणों से इनका सर्वोत्तम प्रशासन इन्हें मैण्डेट पाने वाले देशों का अंग बनाकर ही किया जा सकता था। किन्तु इनके प्रशासन में स्थानीय जनता के हितों का पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक था। इस प्रकार के मैण्डेटों में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका दक्षिणी अफ्रीका के संघ को, समोआ न्यूज़ीलैण्ड को, नौरू ग्रेट ब्रिटेन को, प्रशान्त महासागर में भूमध्यरेखा से उत्तर के जर्मन टापू जापान को, तथा इसके दक्षिण के टापू आस्ट्रेलिया को दिये गये। मैण्डेट व्यवस्था १९१९ से १९४६ तक चलती रही, इसके बाद इसका स्थान न्यास पद्धति ने ले लिया है।

(ट) न्यास पद्धति (Trusteeship System)—सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ७५ में यह व्यवस्था की गयी है कि वह न्यास प्रदेशों के प्रशासन और देखभाल के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति की स्थापना करेगा। यह पद्धति इन तीन प्रकार के प्रदेशों पर लागू होती है (धारा ७७)—(क) राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र की धारा २२ के अनुसार आदिष्ट अथवा मैण्डेट वाले प्रदेश, (ख) द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित राज्यों से छीने गये प्रदेश, (ग) राज्यों द्वारा स्वेच्छापूर्वक न्यास पद्धति के लिये सं० रा० संघ को प्रदान किये गये प्रदेश। मैण्डेट प्राप्त करने वाले अधिकांश राज्यों ने स्वेच्छापूर्वक अपने प्रदेशों को न्यास पद्धति में रखना स्वीकार कर लिया है। इसका एकमात्र अपवाद दक्षिण अफ्रीका का यूनियन है, उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट को न्यास प्रदेश नहीं होने दिया तथा सं० रा० संघ द्वारा इसके निरीक्षण के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्शात्मक सम्मति माँगी गयी थी। ११ जुलाई, १९५० को न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय किया कि "दक्षिण अफ्रीका इस प्रदेश को न्यास पद्धति में देने के लिये बाध्य नहीं है, फिर भी राष्ट्रसंघ का उत्तराधिकारी होने के नाते सं० रा० संघ का राष्ट्रसंघ के स्थान पर इसके निरीक्षण का पूरा अधिकार है। दक्षिण अफ्रीका के यूनियन को इसके शासन-प्रबन्ध की वार्षिक रिपोर्टें जनरल असेम्बली को देनी चाहियें।" किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने अभी तक इस पर संघ के निरीक्षण का अधिकार स्वीकार नहीं किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित राज्यों से छीने गये प्रदेशों में इटली का सुमालीलैण्ड तथा जापान के प्रशान्त महासागर के टापू उल्लेखनीय हैं। सुमालीलैण्ड १३ अप्रैल १९५० को न्यास प्रदेश के रूप में इटली को १० वर्ष के लिये सौंपा गया था, २ दिसम्बर, १९६० को यह प्रदेश स्वतन्त्र राज्य बन गया। जापान को मैण्डेट के रूप में

मिले हुए टापू सामरिक क्षेत्र (Strategic area) वाले न्यास प्रदेश के रूप में सं० रा० अमरीका ने प्राप्त किये हैं। चार्टर में इनकी व्यवस्था जानबूझकर इसलिये की गयी थी कि सं० रा० अमरीका इन टापुओं को अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक समझता है और अटलाण्टिक चार्टर की घोषणा के कारण वह इन्हें सीधे रूप से अपने राज्य का अंग नहीं बना सकता था।[१४] अभी तक किसी राज्य ने न्यास पद्धति के लिये स्वेच्छापूर्वक कोई प्रदेश नहीं प्रदान किये।

न्यास पद्धति के मौलिक उद्देश्य (Objects of Trusteeship System)—चार्टर की धारा ७६ के अनुसार ये निम्नलिखित हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना, (२) न्यास प्रदेशों के निवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षासम्बन्धी उन्नति, प्रत्येक प्रदेश को उसकी अवस्थाओं के अनुसार, उसकी जनता द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गयी इच्छा के अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर प्रगतिशील विकास करना (३) जाति, लिंग, भाषा, धर्म के भेदभाव के बिना मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति प्रतिष्ठा को बढ़ाना, (४) संसार की जातियों में एक दूसरे पर निर्भर रहने की भावना को उन्नत करना, (५) संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों के लिये सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक मामलों में समान व्यवहार को प्राप्त कराना, (६) सं० रा० संघ के सभी सदस्य-राज्यों के नागरिकों के लिये न्यास के प्रशासन में समता का व्यवहार।

उपर्युक्त उद्देश्य बहुत उदार, व्यापक और विशाल हैं। इनमें से कुछ तो ब्रियर्ली के शब्दों में उदात्त संकल्प-मात्र हैं।[१५] फिर भी इनमें पहले दो उद्देश्य विशेष महत्व रखते हैं। पहला अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की वृद्धि है, इसे न्यास प्रदेशों की स्वतन्त्रता की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण यह स्पष्ट है। कुछ न्यास प्रदेशों की व्यवस्था के सम्बन्ध में महाशक्तियों में प्रबल मतभेद था, यदि इन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में न्यास न बनाया जाता तो तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा से विश्वशान्ति संकट में पड़ जाती। अतः डंकन हॉल ने यह लिखा है कि न्यास प्रदेश "अन्तर्राष्ट्रीय सीमांत के ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ प्रतिस्पर्धी महाशक्तियों के राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव की तथा उनकी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की सीमांत रेखायें एक-दूसरे से टकराती है।"[१६] इस संघर्ष को बचाना न्यास पद्धति का प्रथम उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य न्यास प्रदेशों को शनैः-शनैः स्वाधीन बनाना है। इसमें संघ को बड़ी सफलता मिली है। इस समय अधिकांश न्यास प्रदेश स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर हो चुके हैं और अनेक उसे प्राप्त भी कर चुके हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से जिस देश को न्यास प्रदेश का शासन सौंपा जाता है उसे **प्रशासक सत्ता** (Administering authority) कहा जाता है। यह सत्ता एक या अनेक राज्य हो सकते हैं। प्रशासक सत्ता संघ के साथ एक समझौते द्वारा

१४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १६३–६४

१५. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६२

१६. डंकन हॉल—ब्रिटिश यीयर बुक ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, १६४७, पृ० ४०

इस प्रदेश को कुछ शर्तों पर शासन के लिये प्राप्त करती है। यह इस प्रदेश में शान्ति, सुशासन और सुरक्षा के लिये उत्तरदायी होती है; सुरक्षा की दृष्टि से यह अपने प्रदेश में सैनिक, हवाई तथा नौसैनिक अड्डे स्थापित कर सकती है, किलेबंदियाँ बना सकती है, प्रदेश में अपनी सेनायें रख सकती है और निवासियों को सैनिक प्रशिक्षण दे सकती है। प्रशासक सत्ता का मुख्य दायित्व इस प्रदेश को 'स्वशासन या स्वतन्त्रता' के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। वह इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य राज्यों के नागरिकों के साथ समान व्यवहार करने को बाध्य है, किंतु यह समान व्यवहार वह अन्य देशों के नागरिकों को तभी प्रदान करेगी, जबकि वे अपने देश में इस प्रदेश के निवासियों के साथ उत्तम व्यवहार करेंगे। इस प्रकार न्यास पद्धति में मैण्डेट पद्धति की इन प्रदेशों के लिये हानिप्रद मुक्त द्वार (Open door) नीति का परित्याग कर दिया गया है।

न्यास प्रदेश की प्रशासन सत्ता का दर्जा ब्रियर्ली के शब्दों में 'उत्तरदायी संरक्षित राज्य' (Responsible Protectorate) के संरक्षक राज्य जैसा है। इसके कुछ दायित्व और कर्त्तव्य इस प्रदेश के नागरिकों के प्रति होते हैं और कुछ संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति।

सामान्य रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली न्यास प्रदेश सम्बन्धी सब कार्य करती है। किन्तु न्यास प्रदेश के प्रशासन के लिये किये जाने वाले समझौते में इसके किसी भाग को 'सामरिक क्षेत्र' माना जा सकता है। ऐसे प्रदेशों के सम्बन्ध में सारे कार्य सुरक्षा परिषद् करती है। अन्य प्रदेशों के शासन की देखभाल करना जनरल असेम्बली का कार्य है और वह न्यास परिषद् की सहायता से यह कार्य करती है।

न्यास परिषद् (Trusteeship Council) संघ का महत्वपूर्ण अंग है। जनरल असेम्बली की अध्यक्षता में उसके निम्नलिखित कार्य हैं—(१) प्रशासक सत्ता द्वारा भेजी गयी रिपोर्टों पर विचार, (२) जनरल असेम्बली के परामर्श से न्यास प्रदेशों के निवासियों के प्रार्थनापत्रों को लेना तथा इन पर विचार करना, (३) प्रशासक सत्ता की सहमति से न्यास प्रदेशों के निरीक्षण के लिये प्रतिनिधिमण्डल भेजना, (४) न्यास-प्रदेशवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक प्रगति के सम्बन्ध में प्रश्नावलियाँ तैयार करना, (५) न्यास समझौतों के अनुसार अन्य आवश्यक कार्य करना। न्यास परिषद् का संगठन संघ के तीन प्रकार के सदस्य-राज्यों से होता है—(क) न्यास प्रदेश का प्रशासन करने वाले राज्य, (ख) सुरक्षा परिषद् के ऐसे स्थायी सदस्य, जो न्यास प्रदेशों के प्रशासक न हों, (ग) तीन वर्ष के लिये जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित राज्य। इनकी संख्या इतनी होनी चाहिये कि न्यास परिषद् में न्यास का प्रशासन करने तथा न करने वाले राज्यों के सदस्य समान संख्या में हों।

न्यास प्रदेशों के प्रशासन का निरीक्षण-कार्य करते हुए न्यास परिषद् के पास अपने निर्णयों को लागू कराने की शक्ति नहीं है। यह केवल प्रशासक सत्ताओं द्वारा भेजी वार्षिक रिपोर्टों का विचार और मूल्यांकन कर सकती है, न्यास प्रदेशों के निवासियों की शिकायतें और प्रार्थनापत्र सुन सकती है, इनमें अपने मिशन या निरीक्षकमण्डल

भेज सकती है। किन्तु ये सब कार्य विचारात्मक हैं, वह इन प्रदेशों के सम्बन्ध में सिफारिशें ही कर सकती है, उसके पास इन्हें क्रियान्वित कराने के लिये आवश्यक प्रशासकीय सत्ता नहीं है।

मैण्डेट पद्धति तथा न्यास पद्धति में कुछ मौलिक भेद हैं—(क) न्यास पद्धति के उद्देश्य मैण्डेट पद्धति की अपेक्षा अधिक विशाल, उदार तथा व्यापक हैं। इसमें मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं पर बहुत बल दिया गया है। (ख) न्यास पद्धति के उद्देश्यों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है, मैण्डेट पद्धति में ऐसा नहीं था। अतः उसमें मैण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर यह पाबंदी लगाई गई थी कि वे अपने प्रदेश में कोई सैनिक अड्डे नहीं स्थापित करेंगे, निवासियों को पुलिस के अतिरिक्त सैनिक प्रशिक्षण नहीं देंगे। किन्तु न्यास पद्धति में ये प्रतिबन्ध समाप्त हो गये हैं। ओपेनहाइम के मतानुसार सं० रा० संघ के उपर्युक्त उद्देश्य इस आशय के द्योतक हैं कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र ने मैण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर इन प्रदेशों में फौजी भर्ती और किलेबन्दी करने के जो प्रतिबन्ध लगाये थे, उनका परित्याग कर दिया गया है। (ग) न्यास पद्धति में मैण्डेट पद्धति की 'मुक्त द्वार' (Open door) नीति का परित्याग किया गया है। (घ) न्यास परिषद् का संगठन स्थायी मैण्डेट कमीशन से सर्वथा भिन्न है। मैण्डेट कमीशन के सदस्य वैयक्तिक योग्यता के आधार पर चुने जाते थे। किन्तु न्यास परिषद् में सदस्यों का चुनाव राज्यों के आधार पर होता है; इसके सदस्य व्यक्ति नहीं, राज्य होते हैं; यद्यपि राज्यों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने प्रतिनिधित्व के लिये विशेष रूप से योग्य व्यक्ति चुनें। इसका परिणाम यह है कि न्यास परिषद् की कार्यक्षमता घट गई है। **ब्रियर्ली** के मतानुसार मैण्डेट कमीशन अधिक क्षमता से कार्य करने वाला था, वह औपनिवेशिक प्रशासकों की कठिनाइयों और दायित्वों को भली भाँति समझता था। "यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि न्यास परिषद् अपना कार्य इतनी अच्छी तरह करने में समर्थ होगी। मैण्डेट कमीशन की दूसरी विशेषता यह थी कि इसके सदस्यों की बहुसंख्या मैण्डेट न रखने वाले राज्यों की होती थी। किन्तु न्यास परिषद् में न्यास प्रदेशों के प्रशासन से सम्बन्ध न रखने वाले सदस्यों की संख्या पचास प्रतिशत रह गई है।" (ङ) न्यास पद्धति के कार्य मैण्डेट पद्धति की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल हैं।

पहले अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में मैण्डेटों की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में उग्र विवाद था। किन्तु न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध में ऐसा कोई विवाद नहीं है। न्यास प्रदेशों पर प्रशासन करने वाले राज्य इनके प्रभु (Sovereign) नहीं हैं, क्योंकि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में न्यास के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इनका प्रशासन कर रहे हैं। **ब्रियर्ली** के कथनानुसार "जैसे वैयक्तिक कानून में सम्पत्ति रखने के दो प्रकार हैं—वैयक्तिक स्वामित्व और न्यास (Trust), उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सरकार या शासन के दो ढंग हैं—(१) प्रभुसत्ता और (२) मैण्डेट या न्यास।" जिस प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को विशेष उद्देश्य के लिये

दी गई अमानत या धरोहर उसकी सम्पत्ति नहीं बन सकती और वह उसका मनमाना उपयोग नहीं कर सकता, इसी प्रकार प्रशासक-राज्य को न्यास प्रदेश पर कोई स्वामित्व या प्रभुसत्ता नहीं होती।[१७] किन्तु इसके न होने पर भी उसे न्यास प्रदेश के सम्बन्ध में बहुत व्यापक अधिकार होते हैं। वह इन प्रदेशों में हवाई, सैनिक तथा नौसैनिक अड्डे स्थापित कर सकता है, इन प्रदेशों को अन्य प्रदेशों के साथ मिलाकर चुंगी और प्रशासन की दृष्टि से संघों का निर्माण कर सकता है।[१८]

१७. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६७
१८. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६६

सातवां अध्याय

राज्यों की मान्यता

(Recognition of States)

मान्यता का लक्षण (Definition of Recognition)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवहार की दृष्टि से मान्यता (Recognition) असाधारण महत्व रखती है। राज्यों द्वारा किसी नए राज्य की मान्यता ही उसे राष्ट्रों के परिवार का सदस्य बनाती है; जब तक उसे यह स्वीकृति नहीं मिलती, तब तक शक्तिशाली राज्य होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के कानून और व्यवहार में उसे कोई स्थान नहीं प्राप्त होता। नई राजनीतिक सत्तायें मान्यता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) धारण करती हैं। अतः **फेनविक** (Fenwick) ने मान्यता का लक्षण करते हुए लिखा है कि "यह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के एक वर्तमान सदस्य द्वारा ऐसे राज्य या राजनीतिक दल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को विधि पूर्वक स्वीकार करना है, जिसके साथ अब तक इसके सरकारी सम्बन्ध नहीं थे।" **जेस्सप** (Jessup) के मतानुसार "किसी राज्य की मान्यता द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि उसे मान्यता देने वाले राज्य की दृष्टि में मान्यता दी जाने वाली सत्ता राज्य की सब विशेषताओं से सम्पन्न है।"[1] वह अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य रखती है, मान्यता द्वारा राजनीतिक दृष्टि से संगठित और एक निश्चित प्रदेश पर बसे मानव-समाज को अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अंग मान लिया जाता है। **आपेनहाइम** (Oppenheim) के मतानुसार "केवल मान्यता द्वारा ही कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनता है।"

प्रायः जब किसी राज्य को अन्य राज्यों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है तो उससे पहले उसके पास निश्चित भूप्रदेश, स्थायी जनसंख्या, सरकार और अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए। किन्तु राजनीतिक विवादों और कूटनीतिक स्वार्थों के कारण विभिन्न राष्ट्र मान्यता प्रदान करने में किन्हीं सर्वमान्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों ने पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया को इन राज्यों के निर्माण से बहुत पहले ही मान्यता प्रदान की थी। किन्तु इन्हीं राष्ट्रों ने बोल्शेविक क्रान्ति के बाद १९१६ में स्थापित रूस की साम्यवादी सरकार को कई वर्षों तक मान्यता नहीं प्रदान की। सं० रा० अमरीका ने इजराइल राज्य की स्थापना के कुछ घंटों के भीतर ही उसे मान्यता दी, किन्तु चीन की साम्यवादी सरकार को उसका शासन स्थापित होने के २० वर्ष बाद भी उसने अब तक स्वीकार नहीं किया। राजनीतिक

१. जेस्सप—ए माडर्न लॉ आफ नेशन्स, पृ० ४३

उलझनों के कारण तथा मान्यताओं के विविध प्रकार होने से स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक बड़ा जटिल और क्लिष्ट अंग बताया है।[२]

मान्यता-विषयक सिद्धान्त (Theories of Recognition)—मान्यता के सम्बन्ध में दो मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला **निर्माणात्मक** (Constitutive) और दूसरा **घोषणात्मक** (Declaratory) या **प्रमाणात्मक** (Evidentiary) सिद्धान्त कहलाता है। **पहले** सिद्धान्त के अनुसार मान्यता द्वारा ही राज्य का निर्माण होता है, यही इसे जन्म देती है। जब तक किसी राज्य को मान्यता नहीं दी जाती, तब तक उसकी कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं होती। इस मत के जन्मदाता हेगल (Hegal) तथा मुख्य समर्थक ओपेनहाइम (Oppenheim), जेलिनिक (Jellinek) और हालैण्ड (Holland) हैं। ओपेनहाइम के मतानुसार केवल मान्यता द्वारा ही राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मिलता है। हालैण्ड के शब्दों में राज्य उस समय तक परिपक्वावस्था (Maturity) को नहीं प्राप्त करता, जब तक वह मान्यता की मुहर से अंकित न हो; ऐसा होने पर ही वह अपने सब अधिकारों का पूर्ण उपभोग कर सकता है।

दूसरे सिद्धान्त के मुख्य समर्थक पिट काब्बेट (Pit Cobbett), हाल (Hall) वैगनर, फिशर और ब्रियर्ली (Brierly) हैं। इनके मतानुसार राज्य का निर्माण और जन्म मान्यता देने से बहुत पहले हो चुका होता है। पहले से विद्यमान राज्य को मान्यता प्रदान करना केवल उसके राज्य होने की घोषणा (Declaration) मात्र करना है अथवा यह उस राज्य की सत्ता का प्रमाण या साक्षी होता है, अतः इसे घोषणात्मक या प्रमाणात्मक सिद्धान्त कहते हैं। मान्यता किसी राज्य को जन्म नहीं देती, किन्तु पहले से विद्यमान राज्य को स्वीकृति प्रदान करती है। यह एक राजनीतिक कार्य है, इसका उद्देश्य नए राज्य के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना होता है। राज्य के अस्तित्व या सत्ता का मान्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है; यह मान्यता से पहले ही विद्यमान होती है।

ये दोनों सिद्धान्त सर्वथा विरोधी हैं। **स्टार्क** (Starke) का यह मत है कि सच्चाई सम्भवतः इन दोनों के बीच में है। कुछ परिस्थितियों में पहला सिद्धान्त सत्य होता है और इनसे विभिन्न परिस्थितियों में दूसरा सिद्धान्त सच्चा जान पड़ता है। मान्यता प्रायः राजनीतिक कारणों से दी जाती है, अतः इसे राज्य का निर्माण करने वाला कहा जा सकता है। इस स्थिति में पहला सिद्धान्त ठीक होगा। किन्तु कई बार मान्यता देने में कानूनी कारणों के आधार पर पर्याप्त विलम्ब किया जाता है। उदाहरणार्थ, १९१८ में स्थापित रूस की साम्यवादी सरकार को ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, फ्रांस, आदि ने काफी समय तक इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि उसने जारशाही के शासनकाल में लिए गये इन देशों के ऋणों को अदा करने से इन्कार किया था। इस परिस्थिति में राज्य प्रायः तभी मान्यता प्रदान करते हैं, जब उन्हें इसके बदले में नई सरकार में से कुछ लाभ प्राप्त हों। उनका मान्यता में विलम्ब करना ही यह सूचित करता है कि उसमें राज्य की विशेषताएँ विद्यमान हैं, किन्तु किन्हीं राजनीतिक कारणों से वे उसे मान्यता नहीं दे रहे हैं।

२. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १०८

यदि कई राज्य किसी नए राज्य को मान्यता देते हैं तो किसी एक राज्य द्वारा उसे मान्यता न देना इस पर कोई प्रभाव नहीं डालता। मान्यता का अभाव किसी राज्य या सरकार की सत्ता के अभाव को नहीं प्रकट करता। उदाहरणार्थ, साम्यवादी चीन को यद्यपि सं० रा० अमरीका ने १९७१ तक मान्यता नहीं प्रदान की थी, किन्तु इसके न होने से यह नहीं कहा जा सकता था कि साम्यवादी चीन की सत्ता नहीं है। अतः इस दृष्टि से दूसरा घोषणात्मक सिद्धान्त ही सत्य प्रतीत होता है।

इस सिद्धान्त के अधिक सत्य होने के कुछ अन्य भी प्रमाण हैं : (१) यदि नवीन राज्य के न्यायालयों में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस राज्य का जन्म कब हुआ था तो इसका निर्णय अन्य राज्यों के साथ इसकी सन्धियाँ करने के समय से आरम्भ नहीं किया जाता, अपितु इसका जन्मकाल वह समझा जाता है, जबकि इसने राज्य होने की सब आवश्यकताओं को पूरा किया था। (२) नये राज्य की स्वीकृति भूतप्रभावी (Retroactive) होती है अर्थात् न्यायालय नई सरकार को मान्यता देने के बाद किए गए इसके कार्यों को ही वैध नहीं मानते, अपितु मान्यता दिए जाने से पूर्व भूतकाल में उस समय से उसके कार्यों को वैध मानते हैं, जब से नई सरकार ने कार्य करना आरम्भ किया था। इससे यह स्पष्ट है कि मान्यता से पहले भी नई सरकार की सत्ता थी। उपर्युक्त दोनों प्रमाणों में दिए गये नियम मुख्य रूप से इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि कोई ऐसा काल नहीं होना चाहिए कि जब किसी प्रदेश में किसी राज्य या सरकार का अभाव हो। राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासन-सत्ता के लिए सातत्य (Continuity) का होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो मध्यवर्ती अराजककाल में नागरिकों द्वारा किये गये व्यवहार तथा संविदायें अवैध हो जायेंगी क्योंकि उस समय कोई मान्यता-प्राप्त सरकार नहीं थी। अतएव दूसरे सिद्धान्त में ही अधिक सच्चाई जान पड़ती है।

प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री **लौटरपैक्ट** (Lauterpacht) ने मान्यता पर लिखे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में निर्माणात्मक सिद्धान्त को इसीलिए अधिक ठीक बताया है कि यह राज्यों के आचरण तथा सुनिश्चित कानूनी सिद्धान्तों के अनुरूप है। उसका यह मत है कि जब कोई नया राज्य सरकार या राज्य होने की आवश्यक शर्तों को पूरा कर लेता है तो प्रत्येक राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति यह कर्त्तव्य है कि वह नये राज्य को मान्यता प्रदान करे। १९४८ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी इसी प्रकार की सम्मति प्रकट की थी कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को इसके नये सदस्य बनाते हुए चार्टर की धारा ४ में उम्मीदवारी के लिए दी गयी शर्तों पर विचार करना चाहिये, राजनीतिक स्वार्थों को दृष्टि से इस प्रश्न पर सोचना उचित नहीं है।

किन्तु स्टार्क ने लौटरपैक्ट के उपर्युक्त मत को सही नहीं माना।[१] यदि वास्तव में राज्य कानूनी दृष्टि से विचार करने के बाद मान्यता प्रदान करते तो यह प्रश्न इतना जटिल नहीं होता। वस्तुतः राज्य इस पर राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से विचार करते हैं। सं० रा० अमरीका ने १९४८ में इजराइल की सरकार ने स्वीकार करने में इतनी जल्दी

१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०९।

की कि सं० रा० संघ में अमरीका के प्रतिनिधिमंडल को इसका ज्ञान समाचारपत्रों से हुआ किन्तु चीन की साम्यवादी सरकार को वह उसका शासन स्थापित होने के २१ वर्ष बाद भी मान्यता नहीं दी। लौटरपैख्ट के मतानुसार राज्य की आवश्यक शर्तें पूरी करने वाली सरकार को मान्यता दिया जाना कानूनी कर्त्तव्य है। किन्तु यदि कोई राज्य यह कर्त्तव्य पूरा नहीं कर रहा तो उससे यह कर्त्तव्य कैसे पूरा कराया जाय ? इस विषय में एक आधुनिक उदाहरण बंगला देश को विभिन्न राजनीतिक स्वार्थों के कारण कई देशों द्वारा मान्यता न दिया जाना था। पाकिस्तान यह नहीं चाहता था कि उससे पृथक् होने वाले बंगला-देश को कोई अन्य देश मान्यता प्रदान करे, उस के प्रबल अनुरोध के कारण काफी देर तक अधिकांश मुस्लिम देशों तथा उसके प्रबल पक्षपाती सं० रा० अमरीका और चीन ने उसे मान्यता मान्यता नहीं दी। फिर, प्रत्येक कर्त्तव्य के साथ अधिकार होता है। मान्यता देना यदि कर्त्तव्य है तो अधिकार भी है। यह अधिकार मान्यता चाहने वाले राज्य का समझा जाय या अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का। इसका निश्चय राज्यों के व्यवहारों से हो सकता है, किन्तु वे ऐसा कोई भी अधिकार नहीं स्वीकार करते। अतः लौटरपैख्ट का मत ठीक नहीं प्रतीत होता है।

वस्तुतः मान्यता देने या न देने के सम्बन्ध में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अनुसरण नहीं करते; इसका निर्धारण राजनीतिक हितों की दृष्टि से किया जाता है और मान्यता न होने पर भी राज्यों की सत्ता स्वीकार की जाती है। सं० रा० अमरीका के अपील न्यायालय में १९२३ में Walfsohn V. Russian Socialist Federated Soviet Republic के मामले में यह निर्णय दिया था कि यद्यपि सोवियत सरकार को सं० रा० अमरीका ने अभी मान्यता प्रदान नहीं की, फिर भी वह तथ्यानुसार (De facto) सरकार है और इसीलिए अमरीकन न्यायालयों में उस पर कोई मामला नहीं चल सकता। इससे यह स्पष्ट है कि मान्यता का दूसरा घोषणात्मक सिद्धान्त ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से अधिक सत्य है।

मान्यता देने की विधियाँ (Modes of According Recognition)—किसी नये राज्य को प्रायः निम्नलिखित विधियों से मान्यता प्रदान की जाती है :—

(क) **सन्धि करना**—मान्यता देने वाला राज्य नये राज्य के साथ **सन्धि** (Treaty) **करके** उसे मान्यता प्रदान करता है। ये सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं, कुछ सन्धियों में मान्यता का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता है, जैसे सं० रा० अमरीका ने स्वतन्त्र होने के बाद फ्रांस से सन्धि की थी। इस सन्धि में यद्यपि स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया था कि फ्रांस सं० रा० अमरीका को स्वीकार करता है, किन्तु इसकी शर्तें ऐसी थीं, जो कि केवल स्वतन्त्र राज्यों के बीच हो सकती थीं। दूसरे प्रकार की सन्धियों में राज्यों की स्वीकृति का स्पष्ट उल्लेख होता है जैसे जर्मनी ने १८८४ में कांगो फ्री स्टेट के साथ सन्धि करके उसे स्वीकार किया।

(ख) **सं० रा० संघ की सदस्यता**—राष्ट्र संघ या संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश नये राज्यों को मान्यता प्रदान करता है। कनाडा जैसे ब्रिटिश डोमिनियनों को राष्ट्र संघ की सदस्यता से मान्यता प्राप्त हुई। सं० रा० संघ ने लिबिया आदि अनेक नये राज्यों

को मान्यता प्रदान की है। किसी राष्ट्र के संघ का सदस्य बन जाने पर उसे सब राज्यों से एक साथ सामूहिक मान्यता (Collective recognition) मिल जाती है। उसे विभिन्न राज्यों से पृथक्-पृथक् मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती [देखिये पूर्वोक्त (क) विधि]।

(ग) राजनीतिक प्रतिनिधियों तथा दूतों के आदान-प्रदान (Exchange of Diplomatic Envoys) से।

(घ) मान्यता देने वाले राज्य की एकपक्षीय घोषणा (Unilateral Declaration) द्वारा, इजराइल राज्य की स्थापना के दस मिनट के भीतर सं० रा० अमरीका की सरकार ने एक घोषणा द्वारा उसे स्वीकार कर लिया।

(ङ) मान्यता देने वाले कई राज्यों के सामूहिक नोट या घोषणा (Collective Declaration) द्वारा। ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली, उत्तरी जर्मनी, रूस तथा टर्की के प्रतिनिधियों ने एक प्रोतोकोल पर २४ जनवरी, १८७१ को हस्ताक्षर करके जर्मन साम्राज्य को मान्यता प्रदान की थी।

(च) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा** भी मान्यता प्राप्त होती है। १८३१ में बेल्जियम की स्थापना के बाद उसे महाशक्तियों के लन्दन सम्मेलन में सम्मिलित होने से मान्यता मिली। पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया पेरिस सम्मेलन में भाग लेने तथा वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने से राज्य माने गये।

स्पष्ट और ध्वनित मान्यता (Express and Implied Recognition)—जब कोई राज्य किसी नई राजनीतिक सत्ता को किसी घोषणा या सन्धिपत्र द्वारा मान्यता प्रदान करता है तो यह स्पष्ट (Express) होती है, अतः इसे स्पष्ट मान्यता कहते हैं। किन्तु कई बार अनेक राजनीतिक कारणों से कुछ राज्य नई सत्ता को स्पष्ट मान्यता तो नहीं प्रदान करते, किन्तु उसके साथ इस प्रकार के कई व्यवहार करते हैं, जिनसे यह ध्वनि या परिणाम निकाला जा सकता है कि वे उस सत्ता को मान्य समझते हैं। इसे ध्वनित (Implied) मान्यता कहते हैं। किसी राज्य के निम्नलिखित व्यवहारों से यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि उसने नई राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया है:—

(१) **द्विपक्षीय सन्धि** (Bilateral Treaty)—यदि मान्यता देने वाला राज्य नई राजनीतिक सत्ता के साथ कोई सन्धि करता है तो इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने उसे स्वीकार कर लिया है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण १९२२ में सं० रा० अमरीका की चांग काई शेक के राष्ट्रवादी चीन के साथ की गयी सन्धि व्यापारिक सन्धि है। १९७१ तक सं० रा० अमरीका चीन की जिस सरकार को साम्यवादी सरकार की तुलना में वास्तविक समझता था, उसे उसने १९२८ में इस प्रकार स्पष्ट रूप से मान्यता दी थी।

(२) **दौत्य सम्बन्धों की स्थापना**—जब मान्यता देने वाला राष्ट्र किसी नई राजनीतिक सत्ता के साथ अपने दूतों का आदान-प्रदान करता है तो उससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने उसे स्वीकार कर लिया है, क्योंकि दौत्य सम्बन्ध राज्यों में ही स्थापित होते हैं।

(३) किसी नये राज्य में अन्य राज्य द्वारा वाणिज्य दूत (Consul) को

नियुक्त करने वाले अधिकार पत्र (Exequator) से भी यही परिणाम निकाला जाता है। नये राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेना, मान्यता प्राप्त राज्यों के साथ सन्धि-वार्ता करना तथा बहुपक्षीय सन्धियों में हस्ताक्षर करना भी उनकी ध्वनित मान्यता का सूचक होता है। किन्तु कई बार बहुपक्षीय सन्धियों (Multilateral) में कुछ राज्य स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर देते हैं कि इस पर हस्ताक्षर करने का यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिये कि वे हस्ताक्षर करने वाले सभी राज्यों को मान्य समझते हैं। १६ अक्टूबर १९५३ को सम्पन्न हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय खांड समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह उस पर चीन की ओर से चीन की राष्ट्रवादी (Nationalist) सरकार के हस्ताक्षर वैध नहीं मानता है।

एकाकी तथा सामूहिक मान्यता (Single and Collective Recognition)—प्राय: एक राज्य को अन्य राज्य वैयक्तिक एवं पृथक् रूप से मान्यता देते हैं। एक राज्य द्वारा दी जाने वाली यह मान्यता एकाकी (Single) कहलाती है। किन्तु कई बार अनेक राज्य मिलकर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या समझौते द्वारा नये राज्यों को सामूहिक (collective) मान्यता प्रदान करते हैं। १८७८ में बर्लिन कांग्रेस ने रूमानिया बल्गारिया, सर्बिया, मोण्टीनीग्रो को मान्यता दी थी, १९२१ में मित्रराष्ट्रों ने इस्टोनिया तथा अल्बानिया को स्वीकार किया था। सामूहिक मान्यता वैयक्तिक मान्यता की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होती है।

अतिक्षिप्र (Precipitate) **मान्यता**—किसी राज्य में क्रान्ति होने पर जब इसका कोई अंश पृथक् होकर अपनी स्वतन्त्र सरकार स्थापित करने की घोषणा करता है तो दूसरे देशों के सम्मुख इसे मान्यता देने का जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। उस समय अन्य राज्य यह देखते हैं कि ऐसी घोषणा करने वाली नई सरकार की सत्ता अपने प्रदेश में सुदृढ़ रूप से सुप्रतिष्ठित तो हो गई है या नहीं। यदि इस समय जल्दबाजी में मान्यता दी जाय तो यह अतिक्षिप्र मान्यता होती है। कई बार ऐसी मान्यता क्रान्ति वाले देश में पहले से ही विद्यमान सरकार के साथ अन्यायपूर्ण, उसकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने वाली तथा उसके घरेलू मामलों में अनुचित हस्तक्षेप करने वाली होती है।

वास्तविक तथा कानूनी मान्यता (De facto and De jure Recognition)—स्टार्क के शब्दों में "विधित: (De jure) या कानूनी मान्यता का अर्थ यह है कि मान्यता देने वाले राज्य के मतानुसार विधिपूर्वक स्वीकार किया जाने वाला राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित आवश्यकताओं को पूरा करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में प्रभावशाली भाग ग्रहण करने की क्षमता रखता है। वास्तविक (De facto) मान्यता का यह आशय है कि मान्यता देने वाले राज्य की दृष्टि में मान्यता दिया जाने वाला राज्य अस्थायी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपर्युक्त आवश्यकताओं को पूरा करता है।"[४] प्राय: यह मान्यता किसी देश में क्रान्ति, विद्रोह या राज्य-परिवर्तन होने के बाद ऐसी नई राजसत्ता को दी जाती है, जो अपने नियंत्रण में विद्यमान प्रदेश पर पूरा अधिकार

४. De facto का शब्दार्थ है तथ्य की दृष्टि से और De jure का आशय है कानूनी दृष्टि से

रखती है, स्वतन्त्र होती है; किन्तु पूर्ण रूप से सुस्थिर नहीं होती और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ पूरी तरह नहीं निभा सकती। सोवियत रूस के उदाहरण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा। १६१७ की बोलशेविक क्रान्ति के बाद नई साम्यवादी सरकार की सत्ता यद्यपि रूस में अच्छी तरह जम गई थी, किन्तु कई वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका ने इसे वास्तविक (de facto) सरकार मानते हुए भी कानूनी (de jure) सरकार नहीं माना, क्योंकि यह कई अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व पूरा करने के लिए तैयार नहीं थी, इसने ज़ार की पुरानी रूसी सरकार द्वारा दूसरे राज्यों से लिए गए ऋणों को अदा करना अस्वीकार कर दिया था, यह रूस में विदेशी प्रजाजनों की ज़ब्त की हुई सम्पति को वापिस लौटाने को तैयार नहीं थी।

वर्तमान समय में किसी राज्य में क्रान्ति द्वारा सरकार का परिवर्तन होने पर उसे विधितः या कानूनी (de jure) मान्यता देने से पहले वास्तविक या तथ्यतः (de facto) मान्यता दी जाती है। वास्तविक मान्यता कानूनी मान्यता का पूर्वरूप होती है, यह वस्तुतः मान्यता देने वाली सरकार को अनेक कठिनाइयों और झंझटों से बचा लेती है। एक ही प्रदेश में दो सरकारें होने पर ऐसी मान्यता देने वाला राज्य दोनों को प्रसन्न रखता है। उसका यह मत होता है कि इस प्रदेश में एक विध्यनुसार कानूनी सरकार अवश्य है, "इसके पास प्रभुसत्ता होनी चाहिए थी, किन्तु इस समय यह उससे वंचित है।" तथ्यानुसार वास्तविक सरकार को यह कहा जाता है कि' 'वस्तुतः इस प्रदेश पर इसका अधिकार है, भले ही यह अन्यायपूर्ण या अल्पकालीन हो।" तथ्यानुसार मान्यता इसलिए दी जाती है कि इससे मान्यता देने वाले राज्य को अनेक प्रकार के आर्थिक लाभ प्राप्त होते हैं। यह इस प्रकार इस राज्य में अपने नागरिकों की सम्पत्ति और स्वार्थों की रक्षा कर सकती है क्योंकि इस प्रदेश में कानूनी सरकार की प्रभुता का अन्त हो जाने से वह इस कार्य में असमर्थ होती है, अतएव वह यहाँ वास्तविक प्रभुता रखने वाली सरकार को तथ्यानुसार मान्यता देकर इस लाभ को प्राप्त करती है और जब यह नया राज्य पूरी तरह सुदृढ़ हो जाता है तो इसे विध्यनुसार मान्यता दी जाती है।

किन्तु विध्यनुसार मान्यता देते हुए कुछ बातों का ध्यान रखा जाता है, एक निश्चित नीति का अनुसरण किया जाता है और कुछ शर्तें पूरी होने पर ही यह मान्यता दी जाती है। श्री स्मिथ ने इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति का वर्णन करते हुए लिखा है— "सौ वर्ष से भी अधिक समय से इस देश (ग्रेट ब्रिटेन) की सामान्य नीति यह रही है कि यह किसी नये राज्य या सरकार को विध्यनुसार मान्यता प्रदान करने से पहले उसमें कुछ शर्तों को पूरा करने पर बल दे। हमारी पहली शर्त (नये राज्य के) सुदृढ़ और स्थायी होने का आश्वासन है। दूसरी शर्त के अनुसार हम ऐसे प्रमाण माँगते रहे हैं जिनसे यह प्रकट हो कि सरकार को जनता का सामान्य समर्थन प्राप्त है। तीसरी शर्त इस बात पर बल देना है कि नए राज्य में अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूर्ण करने की सामर्थ्य तथा इच्छा है।" इससे यह स्पष्ट है कि विध्यनुसार मान्यता पाने के लिए तीन आवश्यक तत्व

है। इसका सामान्य अनुवाद 'वास्तविक' और 'कानूनी' किया जाता है, किन्तु शब्दार्थ की दृष्टि से इनके लिए क्रमशः यथातथ्य, तथ्यानुसार और यथाविधि, विधितः और विध्यनुसार शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।

हैं—(१) नए राज्य तथा शासन की सुदृढ़ता तथा स्थायित्व, (२) जनता का समर्थन, (३) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व पूरा करने की इच्छा और सामर्थ्य।

दोनों प्रकार की मान्यताओं के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं। ग्रेट ब्रिटेन ने सोवियत सरकार को तथ्यानुसार (de facto) मान्यता १६ मार्च, १९२१ को प्रदान की और १ फरवरी, १९२४ को विध्यनुसार (de jure) मान्यता। १९३६ में इटली द्वारा एबीसीनिया की विजय को ब्रिटिश सरकार ने तथ्यानुसार तथा १९३८ में विध्यनुसार मान्यता दी। स्पेन के गृहयुद्ध (१९३६–३८) में इसने पहले जनरल फ्रांको की सरकार द्वारा जीते गये प्रदेशों में उसे तथ्यानुसार तथा बाद में समूचा स्पेन जीतने पर उसे विध्यनुसार मान्यता दी। इज़राइल की सरकार को सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार मान्यता क्रमशः १५ मई, १९४८ तथा जनवरी, १९४९ को एवं २९ जनवरी, १९४९ और अप्रैल, १९५० को दी। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि तथ्यानुसार मान्यता विध्यनुसार मान्यता का पूर्वरूप और इसे देने की भूमिका-मात्र होती है। इसे अस्थायी या रद्द किया जाने योग्य समझना ठीक नहीं है।

मान्यता के कानूनी पहलुओं की दृष्टि से ब्रिटिश कानून के अनुसार दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा तथ्यानुसार (de facto) स्वीकार की गई सरकार विध्यनुसार (de jure) मान्यता प्राप्त सरकार की भाँति सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सरकार होती है। दोनों सरकारों की मान्यता भूतप्रभावी (Retroactive) होती है, अर्थात् यह मान्यता भले ही किसी समय दी जाय, किन्तु इसका प्रभाव भूतकाल में उस समय से समझा जाता है जब इस सरकार की स्थापना हुई थी। किन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दौत्य सम्बन्ध केवल विध्यनुसार मान्यता प्राप्त सरकार के साथ ही स्थापित किए जाते हैं।

तथ्यानुसार (de facto) तथा विध्यनुसार (de jure) सरकारों के अधिकारों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। इस अवस्था में ब्रिटिश न्यायालयों के निर्णयानुसार तथ्यानुसार सरकार के अधिकारों को न्यायोचित समझा जाता है। यह इस विषय के दो प्रसिद्ध मामलों Bank of Ethiopia *v.* The National Bank of Egypt and Liguori (1937, ch. 513) तथा S. S. Arantzazu Mendi *v.* The Government of Republican Spain (1939), A. C. 266 से स्पष्ट है। इनका विस्तृत विवरण प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है, यहाँ संक्षिप्त उल्लेख ही पर्याप्त होगा। पहले मामले में १९३६ में एबीसीनिया जीतने के बाद तथा इंगलैंड से तथ्यानुसार मान्यता पाने के बाद इटली की सरकार ने कुछ नियम बनाये, ये एबीसीनिया से भागे हुए तथा उसके विध्यनुसार शासक माने जाने वाले सम्राट् हेलसिलासी द्वारा बनाये गये नियमों से विरोध रखते थे। जब यह मामला ब्रिटिश न्यायालय में लाया गया तो न्यायाधीश क्लौसन (Clauson) ने यह निर्णय दिया कि विध्यनुसार शासक का अधिकार और सत्ता सैद्धान्तिक है, वह अपने नियमों को लागू करने की शक्ति नहीं रखता। किन्तु इटली की सरकार का एबीसीनिया के प्रदेश पर पूरा प्रभुत्व है, वह तथ्यानुसार सरकार है; अतः उसके बनाये हुए नियम विध्यनुसार शासक की सरकार द्वारा बनाये नियमों से प्रबल हैं।

दूसरे मामले में स्पेन के गृहयुद्ध (१६३६–३६) के समय वैध (Legitimate) एवं अभिद्रोही (Insurgent) सरकार के अधिकारों में संघर्ष था। ग्रेट ब्रिटेन स्पेन की गणराज्यवादी सरकार को विध्यनुसार (de jure) मानता था, किन्तु इसके साथ ही वह जनरल फ्रांको की अभिद्रोही सरकार को उस प्रदेश में तथ्यानुसार या वास्तविक मानता था, जिसे इसने जीतकर अपने नियंत्रण में कर लिया था। ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय में स्पेन की विध्यनुसार सरकार ने फ्रांको की सरकार द्वारा पकड़े गये एक जहाज को प्राप्त करने के लिए "तथ्यानुसार सरकार" पर दावा किया था। इस जहाज की रजिस्ट्री विल्बओ बन्दरगाह में हुई थी। इस पर फ्रांको की सरकार का अधिकार हो गया, अतः फ्रांको सरकार की प्रार्थना पर उक्त जहाज ग्रेट ब्रिटेन ने उसे दे दिया। इसकी पुनः प्राप्ति के लिए स्पेन की विध्यनुसार सरकार ने फ्रांको की सरकार पर ब्रिटिश न्यायालय में इस आधार पर मुकदमा चलाया कि यह विद्रोही सरकार है, स्पेन के समूचे प्रदेश पर इसका आधिपत्य नहीं, अतः यह पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य नहीं है, इसे यह जहाज नहीं मिलना चाहिए। इसके विरुद्ध फ्रांको की अभिद्रोही सरकार का यह कथन था कि तथ्यानुसार मान्यता प्राप्त होने के कारण वह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सरकार है, अतः वह दूसरे देश के न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से उन्मुक्त (Immune) है, ब्रिटिश न्यायालय को उसके विरुद्ध अभियोग सुनने का कोई अधिकार नहीं है। लार्ड सभा के प्रधान न्यायाधीश लार्ड एटकिन ने इस मामले में जनरल फ्रांको के पक्ष में निर्णय दिया।

तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार सरकारों में उपयुक्त निर्णयों के अनुसार जहाँ तक देशीय कानून (Municipal law) का सम्बन्ध है, **तथ्यानुसार तथा विध्यनुसार सरकारों में कोई बड़ा अन्तर** नहीं रहा। फिर भी न्यायाधीश लौटरपैक्ट ने इनका एक बड़ा कानूनी अन्तर यह बताया है कि तथ्यानुसार सरकार की मान्यता द्वारा इसे मान्यता देने वाली सरकार इसकी राजनीतिक शक्ति के बाह्य रूप को स्वीकार करते हुए इसके प्रदेश में अपने व्यापार की एवं अन्य स्वार्थों की सुरक्षा कर लेती है, किन्तु इस सरकार द्वारा किये जाने वाले अवैध कार्यों के दोषमार्जन (Condoning) की जिम्मेदारी से बच जाती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में निम्नलिखित **तीन सूक्ष्म अन्तर** हैं—(१) विध्यनुसार (de jure) मान्यता प्राप्त सरकार ही मान्यता देने वाले राज्य के प्रदेश में विद्यमान अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करने का दावा का सकती है। (२) विध्यनुसार (de jure) सरकार ही राज्य के उत्तराधिकारी के मामले में पुराने राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकती है। (३) तथ्यानुसार (de facto) स्वीकार की गई सरकार को दूतों के आदान-प्रदान का तथा इन्हें दिये जाने वाले विशेषाधिकारों के उपयोग का अधिकार नहीं होता।

राजनीतिक परिस्थितियों का मान्यता पर प्रभाव (The Effect of Political Conditions on Recognition)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परम्परागत पुरानी विचार-धारा के अनुसार राज्य मान्यता के विषय में पूरी स्वतन्त्रता रखते हैं। यह उनकी इच्छा है कि वे किसी नये राज्य को स्वीकृति प्रदान करें या न करें, इस विषय में उन पर कोई कानूनी बाध्यता नहीं है। मान्यता का प्रश्न कानूनी नहीं है, किन्तु राजनीतिक महत्व रखता है। राजनीतिक परिस्थितियों का मान्यता पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर राज्य बहुधा नये राज्यों को कई बार बहुत जल्दी और कई बार बहुत देर में मान्यता प्रदान करते हैं।। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और सं० रा० अमरीका ने पोलैण्ड तथा चैकोस्लोवाकिया (Czechoslovakea) को इनके निर्माण से बहुत पहले ही मान्यता प्रदान की थी क्योंकि ये जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध में उसके साथ थे। दूसरी ओर बोल्शेविक क्रान्ति के बाद १९१७ में रूस में स्थापित साम्यवादी सरकार को ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका ने बहुत वर्षों बाद मान्यता प्रदान की क्योंकि वे राजनीतिक दृष्टि से रूस में स्थापित कम्युनिस्ट सरकार को बड़ी शंका और भय की दृष्टि से देखते थे। साम्यवादी रूस ने ज़ारशाही की पुरानी सरकार द्वारा स्वीकार की गयी सन्धियाँ तथा लिये गये कर्जों की अदायगी के दायित्वों को स्वीकार नहीं किया था। इस विषय में अमरीकी परराष्ट्र मन्त्री ह्यू जेस ने कहा था—"रूस के मामले में इस विषय में बड़ी आसान कसौटी है और यह बड़ा मौलिक महत्व रखती है। यह कसौटी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को सद्भावना (Good faith) के साथ पूरा करने की है। मैं सद्भावना को अत्यधिक महत्वपूर्ण इसलिए मानता हूँ कि शब्दों का बोलना बड़ा आसान है, किन्तु ऐसे आश्वासनों का क्या लाभ जब कि विधिसम्मत दायित्वों (Valid obligations) तथा अधिकारों को खण्डित किया जाय और सम्पत्ति जब्त कर ली जाय।" रूस ने ब्रिटिश तथा अमरीकन सरकारों के कर्ज़ देने से मना किया था, इन दोनों देशों की कम्पनियों की रूस में स्थित सम्पत्ति राष्ट्रीय-करण कानून द्वारा ज़ब्त कर ली थी, अतः इन दोनों देशों ने इसे क्रमशः १९२१ तथा १९३३ तक कोई मान्यता प्रदान नहीं की थी।

फ्रांस सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–१७६३) में ग्रेट ब्रिटेन से पराजित होने के कारण उसका घोर शत्रु था। अतः जब अमरीका ने अपनी स्वतन्त्रता की तथा इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तो फ्रांस ने न केवल उस नये राज्य को १७७८ में स्वीकार किया, अपितु उसे युद्ध में सहायता दी। पानामा नहर की भौगोलिक स्थिति के कारण सं० रा० अमरीका पानामा राज्य में अपने अनुकूल सरकार रखना चाहता था। जब यहाँ १९०३ में कोलोम्बिया (Colombia) से पृथक् होकर ऐसी सरकार की स्थापना क्रान्ति द्वारा हुई तो सं० रा० अमरीका ने क्रान्ति के तीन दिन बाद ही नई सरकार को मान्यता प्रदान की।

राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मान्यता देने या न देने के दो सुन्दर उदाहरण इज़राइल और साम्यवादी चीन हैं। १४ मई, १९४८ की मध्यरात्रि को पेलेस्टाइन पर ग्रेट ब्रिटेन का मैण्डेट या शासनादेश (Mandate) समाप्त होना था। इससे पहले ही यहूदियों के संगठन (Zionist organisation) ने इज़राइल के यहूदी राज्य की स्थापना करने का तथा इसकी अस्थायी सरकार बनाने का निश्चय किया और वाशिंगटन में राष्ट्रपति को १४ मई को इस बात की सूचना दी गई कि वाशिंगटन के समय के अनुसार १४ मई १९४८ की शाम को छः बजे (इज़राइल की राजधानी तेल अवीव के अनुसार १२ बजे मध्यरात्रि) के एक मिनट बाद इज़राइल के स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना होगी। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने शाम को ६ बजकर ११ मिनट पर यहूदी राज्य की अस्थायी सरकार

को इज़राइल के नये राज्य की तथ्यानुसार सत्ता (De facto authority) मानने की स्वीकृति प्रदान की।[५] इससे स्पष्ट है कि अमरीकी सरकार इज़राइल को मान्यता प्रदान करने का निश्चय पहले ही कर चुकी थी और उसने राज्य की स्थापना के १० मिनट के भीतर ही इसे मान्यता प्रदान कर दी।

दूसरी ओर भारत सरकार ने इस राज्य को इसके स्थापित होने के सवा दो वर्ष बाद १७ सितम्बर १९५० को मान्यता प्रदान की और मान्यता देने के बाद अब तक इसके साथ दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic relations) स्थापित नहीं किये। इसके दो मुख्य कारण थे।[६] पहला तो यह कि इज़राइल का राज्य अरब मुसलमानों का कट्टर विरोधी था, भारत के मुसलमान इस विषय में अरब के मुसलमानों से सहानुभूति रखते थे। १५ अगस्त १९४७ को धर्म के आधार पर भारत का बँटवारा होकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बने थे, पाकिस्तान बन जाने पर भी भारत में मुसलमान पर्याप्त संख्या में थे, ये केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में एवं अनेक उच्च राजकीय पदों पर आसीन थे। इस विषय में उनकी भावना बिल्कुल स्पष्ट थी, उनकी उपेक्षा करके सहसा मान्यता प्रदान करने के कुछ अनिष्ट परिणाम हो सकते थे। अतः भारत सरकार ने इस प्रश्न पर तुरन्त कोई निर्णय नहीं किया। दूसरा कारण यह था कि मिश्र, सीरिया आदि अरब राज्य भारत के मित्र थे, वे निरन्तर इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि भारत सरकार उनके कट्टर शत्रु इज़राइल को किसी प्रकार की मान्यता प्रदान न करे। अतः भारत सरकार ने भारतीय मुसलमानों और मित्र अरब राज्यों को रुष्ट न करने के उद्देश्य से इस प्रश्न को उस समय टाल दिया और दो वर्ष बाद इज़राइल राज्य के सुदृढ़ होने तथा उसका विरोध कम होने पर इसे मान्यता प्रदान की।

साम्यवादी चीन की मान्यता के सम्बन्ध में भी राजनीतिक कारणों से दो विरोधी दृष्टिकोण रहे हैं। ३१ अक्टूबर १९४९ को पेकिंग में चीनी जनता के गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गयी थी। यह साम्यवादी सरकार च्यांग काई शेक की राष्ट्रीय सरकार को हटाकर, उससे समूचा चीनी महाद्वीप जीतकर स्थापित हुई थी और इसने च्यांग काई शेक को फारमूसा टापू में भागने के लिए बाध्य कर दिया। वाशिंगटन ने साम्यवादी चीन को हिंसा पर आधारित होने के कारण २२ वर्ष तक मान्यता नहीं दी। किन्तु सोवियत रूस तथा उसके साथी देशों ने साम्यवादी चीन को तत्काल मान्यता प्रदान की। साम्यवादी गुट से बाहर के देशों में बर्मा के बाद इसे मान्यता प्रदान करने वाला पहला देश भारत था। इसने इसके स्थापित होने के तीन महीने बाद इसे ३० दिसम्बर १९४९ को मान्यता प्रदान की। इसे मान्यता देने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए १७ मार्च १९५० को श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"जब यह स्पष्ट हो गया कि नई चीनी सरकार का चीन की लगभग समूची मुख्य भूमि पर अधिकार है, जब यह बिल्कुल स्पष्ट था कि यह सरकार सुदृढ़ है और कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इसका स्थान ले सके या इसे हटा सके तो हमने नई सरकार को मान्यता दी और यह सुझाव दिया कि हम दूतमण्डलों का आदान-

५. अमेरिकन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ७१०

६. वही, पृ० ४०३

प्रदान कर सकते हैं।"[७] भारत द्वारा चीन को मान्यता देने के एक सप्ताह बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हर्श लौटरपाख्त (Hersch Lauterpacht) ने लगभग इन्हीं आधारों पर साम्यवादी चीन को मान्यता देने का समर्थन किया और ब्रिटिश सरकार ने इसे मान्यता प्रदान की।

सरकारों की मान्यता (Recognition of Governments)—जब किसी राज्य में क्रान्ति, विद्रोह या षड्यन्त्र द्वारा सरकार में परिवर्तन होता है तो इसकी मान्यता का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस समय मान्यता देने के लिए दो कसौटियों का प्रयोग किया जाता है। पहली वस्तुगत कसौटी (Objective Test) है। इसके अनुसार यह देखा जाता है कि क्या नई सरकार का राज्य के अधिकांश प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण (Effective Control) है, दूसरी आत्मगत कसौटी (Subjective Test) है। इसका यह अभिप्राय है कि क्या नई सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा सं० रा० संघ के चार्टर द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले दायित्वों को स्वीकार करती है और उनका पालन करती है। ऊपर चीन की साम्यवादी मान्यता के सम्बन्ध में जो दो विरोधी दृष्टिकोण दिये गये हैं, वे इन दोनों कसौटियों को पृथक्-पृथक् रूप से लगाने का परिणाम हैं। साम्यवादी चीन को मान्यता देने वाले रूस, भारत, इंगलैण्ड आदि देश वस्तुगत कसौटी (Objective Test) का प्रयोग करते हुए यह कहते हैं कि चीन को इसलिए मान्यता देनी चाहिए कि उसका चीन की मुख्यभूमि पर अधिकार है तथा उसे वहाँ की जनता का पूरा समर्थन प्राप्त है। भारत सरकार ने साम्यवादी सरकार को उस समय तक मान्यता नहीं प्रदान की, जब तक कि च्यांग काई शेक की सरकार चीन की मुख्य भूमि की राजधानी चुंगकिंग से भागकर पहले जापान के अधिकार वाले फारमोसा टापू में नहीं चली गई। दूसरी ओर अमरीका इस विषय में आत्मगत कसौटी (Subjective Test) को महत्वपूर्ण समझता है, उसे १९७१ तक यह विश्वास नहीं हुआ कि साम्यवादी चीन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करेगा, तब तक उसने उसे मान्यता नहीं प्रदान की। सोवियत रूस को उसने इसी आधार पर उसकी स्थापना के १६ वर्ष बाद मान्यता दी थी।

किन्तु यदि कोई सरकार अन्य राज्यों द्वारा मान्यता नहीं प्राप्त करती तो इसका यह आशय नहीं है कि उसकी सत्ता ही नहीं है। मान्यता न होने पर भी उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है और ऐसी सरकार के कार्य इसलिये अवैध नहीं होते कि उसे मान्यता नहीं मिली हुई है। **टिनोको के मामले** (Tinoco Case) में इसको भलीभांति स्पष्ट किया गया था। यह मामला इस प्रकार था। जनवरी १९१८ में कोस्टा रिका (Costa Rica) की सरकार को टिनोको नामक व्यक्ति ने बदल दिया और अगले दो वर्ष तक कोस्टा रिका में इसी का शासन बना रहा। इस समय नया संविधान लागू किया गया। अगस्त १९१९ में यहाँ पुनः क्रान्ति हुई और टिनोको को पदच्युत करके पुराना शासन विधान लागू कर दिया गया। १९२२ में एक कानून Law of Nullities द्वारा कोस्टा रिका की सरकार ने टिनोको के शासनकाल में सम्पन्न किये गये सभी ठेकों (Contracts)

७. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४०२

को अवैध घोषित कर दिया। टिनोको सरकार ने अपने शासनकाल में एक ब्रिटिश कम्पनी को कुछ रियायतें प्रदान की थीं और वह सरकार रायल बैंक ग्राफ कनाडा नामक ब्रिटिश कम्पनी की बहुत ऋणी हो गई थी। १६२२ के उपर्युक्त कानून से ब्रिटिश कम्पनी की रियायतें तथा ऋण रद्द हो गये। इस पर ब्रिटिश सरकार ने यह दावा किया कि १६२२ का कानून इन रियायतों और ऋणों पर लागू नहीं होता। इस विवाद का निर्णय करने के लिए सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री टाफ्ट पंच बनाए गये।

इस मामले में ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि दो वर्ष नौ महीने तक टिनोको सरकार कोस्टा रिका की तथ्यानुसार (De facto) तथा विध्यनुसार (de jure) सरकार थी, वह समूचे प्रदेश पर जनता की इच्छा से शासन कर रही थी। बाद में आने वाली सरकारें अपने किसी कानून से पहली सरकार द्वारा किये गये ऐसे कार्यों के दायित्व से मुक्त नहीं हो सकती, जो दायित्व ब्रिटिश प्रजाजनों पर प्रभाव डालते हों, वह किसी कानून से उनकी सम्पत्ति नहीं जब्त कर सकती। ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। टिनोको सरकार द्वारा बनाए गये कानून के अनुसार दिये गये ठेकों को वर्तमान सरकार को पूरा करना चाहिये।

इसके विरुद्ध कोस्टा रिका की सरकार का यह कहना था कि टिनोको की सरकार विध्यनुसार या तथ्यानुसार सरकार नहीं थी, उसके साथ किये गये ब्रिटिश कम्पनियों के ठेके वैध नहीं हैं क्योंकि इस प्रकार के कार्य १८७१ के पुराने संविधान के प्रतिकूल थे। ग्रेट ब्रिटेन ने इस सरकार को मान्यता नहीं प्रदान की थी, अतः उसकी दृष्टि से यह सरकार थी ही नहीं, ऐसी सरकार के साथ ब्रिटिश प्रजाजनों के ठेकों को किसी प्रकार वैध नहीं माना जा सकता।

किन्तु पंच ने कोस्टा रिका का यह तर्क नहीं स्वीकार किया कि ग्रेट ब्रिटेन द्वारा मान्यता न दिये जाने के कारण टिनोको सरकार की सत्ता नहीं थी। इस विषय में न्यायाधीश ने डा० जान बेसेट मूर (John Basset Moore) के निम्न वचन को प्रामाणिक माना—"सरकार में अथवा राज्य की आन्तरिक नीति में होने वाले परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं डालते। एक राजतन्त्र गण-राज्य में और गणराज्य राजतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है, निरंकुश शासन का स्थान वैधानिक शासन लेता है और इससे विपरीत परिवर्तन भी हो सकता है, यद्यपि सरकार बदलती है, तथापि इसका राष्ट्र के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ··· राज्य अपनी पहली सभी सरकारों के उत्तरदायित्वों का पालन करने के लिए बंधा हुआ है।" अतः पंच ने इस मामले में कोस्टा रिका का तर्क नहीं स्वीकार किया।

यद्यपि उपर्युक्त मामले में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा टिनोको सरकार की मान्यता को महत्व नहीं दिया गया तथापि कई अवस्थाओं में किसी सरकार को मान्यता न देने के कुछ प्रभावशाली परिणाम होते हैं। विदेशी राज्य या सरकार के प्रतिनिधि तथा इनकी सम्पत्ति प्रत्येक देश में वहाँ की कानूनी प्रक्रिया से मुक्त होती है। दूसरे देश ने इस बारे में जो कानून या नियम बनाये हैं, उसके बारे में अपने देश में न्यायालय कोई संदेह या विवाद नहीं कर सकते। किन्तु ये न्यायालय विदेशी सरकार की मान्यता के सम्बन्ध में अपने देश

की सरकार का निर्णय अन्तिम समझते हैं, यदि विदेशी सरकार को मान्यता नहीं दी गई तो उसकी सम्पत्ति को कानूनी प्रक्रिया से मुक्ति नहीं मिल सकती। यह Luther *v.* Sagor के मामले से स्पष्ट हो जायगा।

इसमें १९१७ की क्रान्ति से पहले, रूस में इमारती लकड़ी का काम करने वाली वादी (Plaintiff) ब्रिटिश कम्पनी का माल सोवियत सरकार के आदेश से ज़ब्त कर लिया गया, इस माल को रूसी सरकार ने प्रतिवादी ब्रिटिश कम्पनी को बेच दिया। इस पर वादी ने इस माल पर दावा करते हुए इसकी वसूली के लिए ब्रिटिश न्यायालय में उस पर मुकद्दमा चलाया। उस समय तक ब्रिटिश सरकार ने रूस की सरकार को मान्यता नहीं प्रदान की थी, अतः निचले न्यायालय ने रूसी सरकार की सत्ता स्वीकार न करते हुए उस माल पर वादी का अधिकार समझा और उसके पक्ष में फैसला किया।

किन्तु इस मामले की अपील उपरली अदालत में जाने के समय तक ब्रिटिश सरकार रूस की सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान कर चुकी थी। इससे स्थिति बिल्कुल बदल गई। मान्यता प्राप्त होने के बाद इस माल पर रूसी सरकार का अधिकार माना गया। अन्त र्ष्ट्रीय सौजन्य (Comity of Nations) के नियमों के अनुसार विदेशी सरकार की सम्पत्ति के विषय में कोई मामला नहीं चल सकता, उसे इससे उन्मुक्ति (Immunity) प्राप्त होती है, अतः उपरली अदालत ने इस माल पर रूसी सरकार का स्वत्व मानने के कारण इस विषय में वादी की प्रार्थना अस्वीकार करते हुए निचले न्यायालय के निर्णय को पलट दिया। यह सोवियत सरकार को मान्यता मिलने के कारण हुआ। इस विषय में न्यायाधीश स्क्रुटन (Scrutton) ने लिखा था "रूसी सरकार से माल खरीदने वाले का उस पर पूरा स्वत्व है, इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। उसे यह उन्मुक्ति इसलिए प्राप्त है कि उसे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्य मान लिया गया है। यदि कोई सरकार जनता की सम्पत्ति बिना मुआवजा दिये छीनती है तो उसके प्रतिकार का उपाय यह है कि उसे सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य (Sovereign State) स्वीकार ही न किया जाय।"

कई बार क्रान्तियों और सन्धियों द्वारा किसी राज्य या सरकार के **प्रदेश की सीमाओं में परिवर्तन** हो जाते हैं। इसका मान्यता पर प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः इस विषय में यही स्थिति है कि नये राज्य और सरकार को पुराने राज्य का उत्तराधिकारी मानते हुए उसे पूर्ववत् मान्यता दी जाय। किन्तु कई बार इस विषय में जटिल प्रश्न उत्पन्न होने के कारण मान्यता का निर्णय करना सुगम नहीं होता। जब दो राज्य मिलकर एक होते हैं तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या एक ने दूसरे को अपना अंग (Annex) बना लिया है या दोनों ने अपना पुराना पृथक् व्यक्तित्व त्याग कर एक नये राज्य का निर्माण किया है। उदाहरणार्थ, पिछली शताब्दी में जब इटली प्रायद्वीप के विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों का एकीकरण (unification) हुआ तो इसके परिणामस्वरूप इटली को नया राज्य समझना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु वस्तुतः इटली अपने को पीडमाण्ट के पुराने राज्य में अन्य राज्यों के मिलने से बना बृहत् रूप समझता था। यूगोस्लाविया पहले सर्बिया का छोटा सा राज्य था, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुराने आस्ट्रियन साम्राज्य के

विभिन्न दक्षिणी स्लावो-क्रोट-स्लोविन आदि जातियों वाले प्रदेशों को सर्बिया में जोड़कर यूगोस्लाविया का राज्य बनाया गया। इसे जर्मन-यूगोस्लाव सम्मिलित पंच अधिकरण (German-Yugoslav Mixed Arbitral Tribunal) ने सर्बिया का पुराना राज्य माना, नया राज्य नहीं स्वीकार किया। किन्तु कैलिफोर्निया के एक न्यायालय ने Artukovic *v.* Boyle के मामले में यह निर्णय किया[८] कि यूगोस्लाविया पुराने सर्बिया का बृहत् रूप नहीं है, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर जन्म लेने वाला नया राज्य है।

१९५८ में मिश्र और सीरिया ने मिलकर जब संयुक्त अरब गणराज्य का रूप धारण किया तो इसे दोनों राज्यों से मिलकर बनने वाली ऐसी इकाई समझा गया जो दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाली थी। जब कोई राज्य कई टुकड़ों में विभक्त होता है तो यह कहना कठिन होता है कि क्या पुराना राज्य समाप्त हो गया है तथा इसका स्थान दो तीन नये राज्यों ने ले लिया है अथवा पुराना राज्य अपना प्रदेश कम होने पर भी पुरानी सत्ता बनाये रखता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से बहुत अधिक प्रदेश छीन लिया गया, वहाँ राजतन्त्र के स्थान पर गणराज्य की स्थापना की गयी। इससे नवीन आस्ट्रिया के राज्य में इतने मौलिक परिवर्तन हुए कि इसे पुराने राज्य के लघुरूप के स्थान पर नया राज्य माना गया। किन्तु टर्की के गणराज्य के विषय में इससे विपरीत स्थिति स्वीकार की गयी। १९वीं शताब्दी में टर्की एशिया तथा दक्षिण पूर्वी योरोप में फैला हुआ विशाल उस्मानिया (Ottoman) साम्राज्य था, बाद में इसमें रहने वाली विभिन्न जातियों के द्वारा इसके अनेक प्रदेशों से स्वतन्त्र राज्य बना लेने से इस साम्राज्य में क्षीणता आने लगी और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह बहुत क्षीण और छोटा रह गया, कमाल पाशा ने कई शताब्दियों से चले आने वाले खलीफाओं के निरंकुश शासन को समाप्त करके यहाँ गणराज्य की स्थापना की। किन्तु आकार एवं शासन पद्धति में इतने मौलिक परिवर्तन आने पर भी Ottoman Debt Arbitration के मामले में पंच यूजीन बोरेल (Eugene Borel) ने इसे नया राज्य न मानकर उस्मानिया राज्य का वर्तमान रूप माना। अतः इस विषय में गूल्ड (Gould) का यह कथन सत्य है कि सामान्य रूप से किसी राज्य में प्रादेशिक परिवर्तन और शासन पद्धति के परिवर्तन आने पर भी यह वही पुराना राज्य माना जाता है, किन्तु जब ये परिवर्तन बहुत मौलिक हों, इसकी जनसंख्या और बनावट में ऐसे परिवर्तन आ जायं कि नया राज्य पुराने राज्य से बिल्कुल न मिलता हो तो इसे नया राज्य समझना चाहिये।

निर्वासित सरकारों की मान्यता (Recognition of Governments in Exile)—निर्वासित सरकार ऐसे देश की सरकार होती है, जिसके प्रदेश पर दूसरे राज्य ने आक्रमण करके अधिकार कर लिया हो और वहाँ की सरकार दूसरे देश में चली गई हो। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब हिटलर ने पोलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क, हालैण्ड, फ्रांस आदि देशों पर आक्रमण कर सेनाओं द्वारा अधिकार कर लिया तो इन देशों की सरकारें लन्दन चली गईं और वहाँ से अपनी मातृभूमि को शत्रु के पंजे से मुक्त कराने का प्रयत्न

८. अमेरिकन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, १९५३, पृ० ३१९

करती रहीं। उस समय इन सरकारों से सारा प्रदेश छिन चुका था, किन्तु मित्र राष्ट्र इन्हीं सरकारों को मान्यता प्रदान करते रहे क्योंकि ये स्वदेश को स्वतन्त्र कराने के प्रयास में संलग्न थीं। यदि युद्ध समाप्त होने तथा शान्ति सन्धि होने के बाद ऐसी निर्वासित सरकार स्वदेश की भूमि पर पुनः नियंत्रण न प्राप्त कर सके तो उसकी मान्यता समाप्त हो जाती है।

स्टिमसन का मान्यता-विषयक सिद्धान्त (Stimson's Doctrine of non-recognition)—जून १९३२ में जब जापान ने मंचूरिया के चीनी प्रान्त पर आक्रमण किया तो सं० रा० संघ अमरीका के विदेशमन्त्री श्री स्टिमसन ने यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि सं० रा० अमरीका १९२८ की **पेरिस की सन्धि** (Pact of Paris) को तोड़कर किये जाने वाले किसी समझौते, संधि या स्थिति को मान्यता नहीं प्रदान करेगा क्योंकि पेरिस की संधि पर सं० रा० अमरीका, जापान और चीन के हस्ताक्षर हैं। उसका यह कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़कर उत्पन्न की गई परिस्थिति को मान्यता द्वारा वैधता प्रदान करना ठीक नहीं है। यदि जापान बलपूर्वक चीन के मंचूरिया प्रदेश को हड़प लेता है तो दूसरे देशों को मंचूरिया पर जापान के अधिकार को मान्यता नहीं देनी चाहिये। राष्ट्र संघ ने ११ मार्च १९३२ को पास किये एक प्रस्ताव में स्टिमसन के उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा कि संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी ऐसी स्थिति, संधि या समझौते को स्वीकार न करें जो राष्ट्र संघ के विधान के अथवा पेरिस की संधि के प्रतिकूल हो। किन्तु राष्ट्र संघ ने १९३६ में एबीसीनिया पर इटली के अधिकार को स्वीकार करके स्वयं इस व्यवस्था का उल्लंघन किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद महाशक्तियों ने पुनः इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि सं० रा० संघ के चार्टर को भंग करने वाली किसी व्यवस्था को मान्यता नहीं दी जानी चाहिये।

एस्ट्रेडा सिद्धान्त (The Estrada Doctrine)—इस सिद्धान्त का आशय यह है कि राज्यों को मान्यता देने की प्रथा बिल्कुल समाप्त कर दी जाय। यह सिद्धान्त मेक्सिको के विदेशमन्त्री जेनारो एस्ट्रेडा (Genaro Estrada) ने १९३० में अपने विदेशी राजदूतों के निर्देशों में प्रतिपादित किया था, अतः यह उनके नाम से प्रसिद्ध है। इन निर्देशों (Instructions) में यह कहा गया था कि मेक्सिको भविष्य में षड्यन्त्रों या क्रान्तियों द्वारा किसी देश की सरकार में परिवर्तन आने पर इस विषय में कोई मान्यता प्रदान नहीं करेगा। इस समय यद्यपि मान्यता देने का सिद्धान्त प्रचलित है, किन्तु यह बहुत दुस्साहसपूर्ण (*Presumptuous*) हैं क्योंकि इसमें यह अधिकार मान लिया जाता है कि किसी विदेशी राज्य की कानूनी स्थिति का निर्णय दूसरा राज्य करे। इस प्रकार का निर्णय राज्यों की स्वतन्त्रता (State independence) और प्रभुसत्ता (sovereignty) के अधिकारों पर कुठाराघात करता है और दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनुचित रूप से हस्तक्षेप करता है। अतः मेक्सिको की सरकार किसी विदेशी राज्य की सरकार में परिवर्तन होने पर उसके साथ अपने दूतों का सम्बन्ध बनाये रखेगी, किन्तु नई सरकार की मान्यता के विषय में कोई सम्मति प्रकट नहीं करेगी। मान्यता देने का सिद्धान्त दूसरे देशों की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप करने के कारण बड़ा अपमानजनक (Insulting) प्रतीत होता है।

स्वर्लियन (Svarlien) के मतानुसार एस्ट्रेडा सिद्धान्त में यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया है कि राजदूत राज्यों को भेजे जाते हैं, सरकारों को नहीं; राज्यों की सत्ता निरन्तर बनी रहती है, सरकारों की सत्ता इस प्रकार निरन्तर नहीं बनी रहती।[९]

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा मान्यता (Recognition by International Organizations)—पहले (पृ० १५८) यह बताया जा चुका है कि कई बार नये राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य बनने से मान्यता प्राप्त हो जाती है। **राष्ट्रसंघ** (League of Nations) की स्थापना के बाद राज्यों की मान्यता के विषय में दो प्रश्न उत्पन्न हुए—(१) क्या किसी राज्य को राष्ट्र संघ का सदस्य बनने से पहले अन्य राज्यों से मान्यता पाना आवश्यक है? (२) क्या राष्ट्रसंघ में प्रवेश से किसी राज्य को अन्य राज्यों से मान्यता प्राप्त होती है? यह स्मरण रखना चाहिये कि संघ में प्रवेश द्वारा किसी राज्य को जो सामूहिक (Collective) मान्यता प्राप्त होती है, वह विभिन्न राज्यों द्वारा दी जाने वाली वैयक्तिक (Individual) मान्यता से भिन्न है। कई बार किसी राज्य को मान्यता देने का प्रश्न संघ में उपस्थित होने पर कुछ सदस्य इसे मान्यता देने के पक्ष में वोट देते थे और कुछ विरोध में। यदि बहुमत से इसे मान्यता देने का प्रस्ताव पास हो जाता है तो विरोध में वोट देने वाले राज्यों को क्या इसे मान्यता देनी आवश्यक है? इस जटिल एवं विवादास्पद प्रश्न का विवेचन **सोवियत यूनियन बनाम लक्ज़मबर्ग एण्ड सार कम्पनी** (Soviet Union *v.* Luxembourg and Saar Co.) के मामले में निर्णय करते हुए कहा गया था—"एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को मान्यता देने के लिए यह आवश्यक नही है कि वह स्पष्ट (Express) रूप से की जाय। १८ सितम्बर १९३४ को सोवियत यूनियन को राष्ट्रसंघ में प्रवेश की अनुमति दी गयी। लक्ज़मबर्ग भी इस संघ का सदस्य है। यह सत्य है कि लक्ज़मबर्ग के प्रतिनिधि ने संघ की असेम्बली में सोवियत यूनियन के संघ में प्रवेश के प्रश्न पर वोट नहीं दिया, किन्तु संघ के संविधान की धारा १, पैरा २ के अनुसार कोई भी राज्य असेम्बली के दो-तिहाई मतों से संघ का सदस्य बन सकता है। यह स्पष्ट है कि बहुमत का निर्णय उन राज्यों पर भी लागू होता है, जो इसे सदस्य बनाने के पक्ष में न हों अथवा जिन्होंने इसके विरुद्ध वोट दिया हो। संघ के संविधान की धारा (Article) १० के अनुसार संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करें। इस कर्त्तव्य का पालन तभी हो सकता है जब राज्य एक-दूसरे को मान्यता प्रदान करें। अतः इससे यह परिणाम निकलता है कि राष्ट्रसंघ में सोवियत यूनियन का प्रवेश इस बात का सूचक है कि लक्ज़मबर्ग ने भी सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान कर दी है।" किन्तु अर्जण्टायना, बेल्जियम तथा स्विट्ज़रलैंड ने राष्ट्रसंघ का सदस्य होते हुए भी सोवियत रूस को संघ का सदस्य बन जाने के बाद भी मान्यता प्रदान नहीं की।[१०] इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य हो जाने के बाद भी नये राज्य के लिए अन्य राज्यों से पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप से मान्यता प्राप्त करना आवश्यक है।

९. स्वर्लियन—दी इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १०८

१०. स्वर्लियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० १०२

सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ४ के अनुसार चार्टर के दायित्वों (Obligations) को स्वीकार करने वाले शान्तिप्रेमी राज्य इसके सदस्य हो सकते हैं। संघ में प्रवेश का निर्णय सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। इस विषय में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऐसा राज्य संघ का सदस्य बन सकता है जिसे अभी तक अन्य राज्यों से मान्यता न मिली हो। इसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि जो राज्य संघ का सदस्य बनता है, उसे अन्य राज्यों द्वारा स्वत: अस्पष्ट रूप में मान्यता प्राप्त हो जाती है। जनरल असेम्बली का निर्णय इस विषय में राज्यों की इच्छा का सूचक है और जब वह किसी राज्य को सदस्य बनाता है तो अस्पष्ट रूप से अन्य राज्य उसे मान्यता प्रदान करते हैं। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) को एक स्पष्ट व्यवस्था बना देनी चाहिए ताकि भविष्य में इस विषय में कोई संदेह न रहे।

सामूहिक मान्यता (Collective Recognition)—उपर्युक्त संदेह को दूर करने के लिए अनेक विधिशास्त्रियों ने सामूहिक मान्यता की पद्धति का समर्थन किया है। ८ मार्च, १९५० को सं० रा० संघ के महामन्त्री के निर्देश से तैयार किये गए एक स्मरण-पत्र (Memorandum) में अनेक कानूनवेत्ताओं की सम्मति के आधार पर इस पर बल दिया गया था कि विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी राज्य को मान्यता देने की प्रचलित पद्धति के स्थान पर सं० रा० संघ द्वारा सब राज्यों की ओर से सामूहिक मान्यता देने की प्रणाली शुरू की जानी चाहिए। इसके प्रमुख समर्थक लौटरपाख्ट (Lauterpacht) ने कहा है कि यह पद्धति इस समय भी प्रचलित है और इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। १८३० में लन्दन की सन्धि (Treaty of London) द्वारा यूनान को तथा १८३१ की सन्धि द्वारा बेल्जियम को मान्यता दी गयी थी। १८७८ की बर्लिन की सन्धि करने वाले राज्यों ने बाल्कान प्रायद्वीप के कुछ राज्यों को स्वीकार किया था, १९१३ के लन्दन सम्मेलन द्वारा अल्बानिया के नये राज्य को मान्यता दी गयी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विभिन्न सन्धियों द्वारा पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया आदि नये राज्यों को मान्यता मिली थी।[11]

किन्तु सामूहिक मान्यता के विरुद्ध दो प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं। पहली तो यह कि लौटरपाख्ट द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त उदाहरण ठीक नहीं हैं, ये सामूहिक मान्यता (Collective Recognition) के नहीं, किन्तु समकालीन मान्यता (Simultaneous Recognition) के उदाहरण हैं। किसी संधि के माध्यम से मान्यता देना राज्यों के समूह द्वारा मान्यता देना नहीं है, किन्तु समूह के विभिन्न राज्यों द्वारा **पृथक्-पृथक् रूप से एक साथ और एक ही समय में** मान्यता देना है। दूसरी युक्ति यह है कि ऐसी व्यवस्था से राज्यों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र संकुचित हो जायगा, अतः इस समय इस व्यवस्था को कोई भी राज्य मानने को तय्यार नहीं है। यह सम्भव है कि प्रौद्योगिकी (Technology) तथा व्यापार की जो शक्तियाँ अब तक राज्यों की स्वतन्त्रता के क्षेत्र को मर्यादित करती

११. स्वर्लियन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०९

हैं, वे भविष्य में इतनी प्रबल हो जाएं कि उस समय सामूहिक मान्यता न केवल वांछनीय, अपितु आवश्यक समझी जाय, सं० रा० सघ ऐसी सामूहिक मान्यता प्रदान करने लगे।

मान्यता-विषयक सं० रा० अमरीका की नीति (The Recognition Policy of U. S. A.)—सं० रा० अमरीका की परम्परागत पुरानी नीति यह है कि मान्यता किसी भी तथ्यानुसार (de facto) सरकार या शासन को देनी चाहिये, भले ही वह क्रान्तिकारी शासन हो, पिछली सरकार को बलपूर्वक हटाकर स्थापित हुई हो, वह वैध (Legitimate) शासक न हो, किन्तु यदि वह सरकार देश पर सुदृढ़ शासन करने का सामर्थ्य रखती है तो उसे स्वीकार किया जाना चाहिये। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय १७७२ में विदेशमंत्री थामस जेफरसन (Thomas Jefferson) ने इसका प्रतिपादन करते हुए कहा था कि—"यह हमारे इन सिद्धान्तों के अनुकूल है कि हम किसी भी ऐसी सरकार को ठीक (Rightful) समझें जो जनता की ठोस रूप से (Substantially) उद्घोषित इच्छा से बना दी गई हो।" "हम किसी भी राज्य को वह अधिकार देने का निषेध नहीं कर सकते, जिस पर हमारी अपनी सरकार की स्थापना हुई है, इस अधिकार के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अपनी इच्छानुसार किसी भी पद्धति से शासन कर सकता है, इसे अपनी इच्छा से बदल सकता है, यह विदेशी राज्यों के साथ अपना कार्य अपनी इच्छानुसार उचित समझे जाने वाले किसी भी माध्यम से कर सकता है। यह माध्यम राजा, सम्मेलन, (Convention), असेम्बली, कमेटी, राष्ट्रपति या इस सरकार से चुना जाने वाला कोई भी रूप हो सकता है।"

१८४८ में योरोप के विभिन्न देशों में क्रान्तियों की बाढ़ आने पर सं० रा० अमरीका के विदेशमंत्री बुकानन (Buchanan) ने जेफरसन के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की। १८५१ में एक षड्यन्त्र द्वारा जब नैपोलियन तृतीय फ्रांस का सम्राट् बना तो अमरीकी विदेशमंत्री वैबस्टर ने फ्रांस में अपने राजदूत को लिखा—"राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय से अब तक इस सिद्धान्त को सं० रा० ने सदैव स्वीकार किया है कि प्रत्येक राज्य को अपनी इच्छा के अनुसार अपना शासन करने का अधिकार है, यह अपने विवेक से अपनी शासन संस्थाओं को बदल सकता है और अपना वैदेशिक कार्य जिन अभिकर्त्ताओं (Agents) से चलाना उचित समझे, उन एजेण्टों का प्रयोग कर सकता है।"

१९वीं शताब्दी में अमरीका की मान्यता-विषयक नीति इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। किन्तु १९१४ से इसमें मौलिक परिवर्तन आने लगे। इस वर्ष राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने मेक्सिको के हुएर्टा (Huerta) शासन को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि वह केवल सैनिक तानाशाही (Military despotism) हैं क्योंकि "कानून पर आधारित सरकार के साथ ही सहयोग संभव है, न कि स्वेच्छाचारी शक्ति पर आश्रित सरकार के साथ।" इसी समय से मान्यता के लिए एक दूसरी शर्त भी आवश्यक स्वीकार की जाने लगी, यह 'अमरीकन हितों' को सुरक्षित रखने की इच्छा तथा सामर्थ्य थी। राष्ट्रपति हार्डिंग ने इसी आधार पर १ जनवरी १९२० से ३१ अगस्त १९२३ तक मेक्सिको में शासन करने वाले ओब्रेगोन (Obregon) की सरकार को तथा निक्सन ने ५ अप्रैल १९७२ तक बंगला देश को मान्यता नहीं प्रदान की।

१९१७ की रूसी क्रान्ति द्वारा स्थापित सोवियत सरकार को चौदह वर्ष तक मान्यता न देने से सं० रा० अमरीका की मान्यता सम्बन्धी नीति में मौलिक परिवर्तन आया। २१ मार्च १९२३ को इस नई नीति का समर्थन करते हुए विदेशमंत्री ह्यूजेस ने कहा कि "किसी सरकार को मान्यता के विषय में मौलिक प्रश्न यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों (International obligations) के पालन करने की योग्यता तथा इच्छा कहाँ तक रखती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शासन की स्थिरता (Stability) महत्वपूर्ण है, आवश्यक है। कुछ ऐसा कहते हैं कि मान्यता के लिये केवल यही आवश्यक है। किन्तु ऐसी स्थिरता का क्या लाभ जिसका उपयोग (अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के) परित्याग (Repudiation) और जब्ती (Confiscation) की नीति का अनुसरण करने में किया जाये। रूस के मामले में हमारे पास मौलिक महत्व रखने वाली एक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने की सद्भावना की है।" पहले यह बताया जा चुका है कि इसी आधार पर सं० रा० अमरीका ने बाईस वर्ष बीत जाने के बाद ही साम्यवादी चीन को नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मान्यता प्रदान की।

किन्तु चीन के अपवाद के अतिरिक्त सं० रा० अमरीका ने एशिया तथा अफ्रीका में योरोपियन साम्राज्यवाद से मुक्त होने वाले सभी देशों को मान्यता प्रदान की है। यद्यपि मान्यता के लिए यह आवश्यक नहीं समझा जाता है कि वह देश स्वतन्त्र हो, किन्तु सं० रा० अमरीका ने कुछ देशों में राजदूत भेजकर उसको स्वतन्त्र होने से पहले ही मान्यता प्रदान की थी। भारतवर्ष यद्यपि १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु अमरीकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत का असाधारण महत्व अनुभव करते हुए उसकी स्वतन्त्रता का कार्य अग्रसर करने के उद्देश्य से १८ दिसम्बर, १९४२ को भारत में राजदूत के पद वाले व्यक्ति को नियत कर भारत को मान्यता प्रदान की।[१२] इसी प्रकार साइप्रस यद्यपि १६ अगस्त, १९६० को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु सं० रा० अमरीका ने १ अगस्त को ही उसे मान्यता दे दी।

इस समय सं० रा० अमरीका की यह नीति है[१३] कि ब्रिटेन, फ्रांस, बैल्जियम आदि की विदेशी प्रभुत्ता से अथवा न्यास प्रदेश (Trust Territories) वाले देशों के स्वतन्त्र होते ही, अथवा उनके सं० रा० संघ का सदस्य बनने पर उन्हें मान्यता प्रदान की जाय। सं० रा० अमरीका ने निम्नलिखित राज्यों को उनके स्वतन्त्र होने के साथ ही मान्यता प्रदान की है। इन राज्यों के नामों के साथ कोष्ठक में उनकी स्वतन्त्रता तथा सं० रा० अमरीका द्वारा मान्यता की तिथि दी गयी है—इजराइल (१५ मई, १९४८), बेल्जियन कांगो (३० जून, १९६०), फ्रेंच कांगो (१५ अगस्त, १९६०), केन्द्रीय अफ्रिका (१३ अगस्त, १९६०), घाना (६ मार्च, १९५७), आइवरी कोस्ट (७ अगस्त, १९६०), मलगासी गणराज्य (२३ जून, १९६०), मलाया संघ (३१ अगस्त, १९५७), मारीतानिया इस्लामी गणराज्य (२८ नवम्बर, १९६०), पाकिस्तान (१५ अगस्त १९४७), फिलिप्पाइन (४ जुलाई, १९४६), सेनेगाल (२० जून, १९६०), सियर्रा

१२. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ७१२

१३. देखिये उपर्युक्त जर्नल, पृ० ७०३७–२०

लिब्रोन (२८ अप्रैल, १९६१), सोमालिया (१ जुलाई, १९६०), टोगो गणराज्य (२० अप्रैल, १९६०), अपर वोल्टा (५ अगस्त, १९६०)। इन सब राज्यों को सं० रा० संघ की सदस्यता बाद में प्राप्त हुई। इसके साथ ही सं० रा० अमरीका ने सं० रा० संघ की सदस्यता पाने वाले प्रायः सभी राज्यों को मान्यता प्रदान की है। नये राज्य विदेशी प्रभुता से स्वतन्त्र होते ही संघ के सदस्य बनते हैं, संघ की सदस्यता के बाद उन्हें सं० रा० अमरीका से मान्यता मिलती है।

भारत की मान्यता-विषयक नीति (India's Policy of Recognition of States and Governments)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पहले बीस वर्षों में भारत ने सामान्यतः अन्य देशों की भाँति सभी नये राज्यों को मान्यता प्रदान की है। ऐसी मान्यता देने में भारत ने सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि ज्यों ही किसी नये राज्य में राज्य की सब मौलिक विशेषतायें (Conditions of Statehood)—स्वतन्त्रता, अपने प्रदेश पर पूरा नियन्त्रण आदि पूरा हो जाय तो इसे मान्यता प्रदान कर दी जाय। भारत ने इसके लिए अपने प्रदेश पर सरकार के नियंत्रण की प्रभावशालिता (Effectiveness) को एक महत्वपूर्ण कसौटी माना है और वैधता (Legitimacy) के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं दिया। भारत ने क्रान्ति के बाद स्थापित होने वाली सभी सरकारों को माना है, भले ही वे कम्युनिस्ट हों या सैनिक। इस विषय में फ्रांको का स्पेन ही एकमात्र अपवाद है। साम्यवाद के आंतक के कारण सं० रा० अमरीका की, राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय से चली आने वाली मान्यता-विषयक नीति में मौलिक परवर्तन हुआ है और पश्चिमी देश साम्यवादी देशों को मान्यता देने में संकोच करते रहे हैं, किन्तु भारत ने कभी ऐसा नहीं किया। सं० रा० अमरीका ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के पालन की कसौटी को अधिक महत्व दिया है, किन्तु भारत ने इसे महत्व न देते हुए प्रादेशिक नियंत्रण की प्रभावशालिता (Effectiveness) को अधिक महत्व दिया है। उसके मत में मान्यता न तो दण्ड है और न पुरस्कार, न यह आपको पसन्द आने वाली बात है और न ही न पसन्द आने वाली।[१४] आप किसी सरकार को चाहें या न चाहें, किन्तु यदि उसका अपने प्रदेश पर सुदृढ़ शासन है तो आपको उसे मान्यता देनी ही चाहिये।

किन्तु इस विषय में एक महत्वपूर्ण अपवाद है। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय भारत को विभाजन के कारण भीषण दुष्परिणाम भोगने पड़े हैं, अतः वह ऐसे विभाजन का घोर विरोधी है। इसके साथ ही उसकी वैदेशिक नीति शीतयुद्ध (Cold War) से तथा दोनों गुटों से अलग रहने (Non-alignment) की है, अतः उसने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों गुटों के द्वारा विभक्त देशों की सरकारों को मान्यता नहीं प्रदान की, यद्यपि इनका अपने प्रदेश पर प्रभावशाली नियंत्रण है। इसके प्रमुख उदाहरण उत्तरी वियतनाम (Vietnam) तथा दक्षिणी वियतनाम, उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया तथा पूर्वी जर्मनी के राज्य हैं।

भारत सरकार मान्यता देने का कार्य प्रत्यक्ष रूप से प्रायः स्पष्ट घोषणा द्वारा

१४. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, पृ० ४२३

नहीं करती, किन्तु राजनयिक सम्बन्ध (Diplomatic relations) स्थापित करके अप्रत्यक्ष रूप से करती है।[१४क] श्री नेहरू ऐसी मान्यता को कागजी मान्यता (Paper recognition) समझते हैं, जिसमें दौत्य सम्बन्ध न स्थापित करके केवल मान्यता की घोषणा की जाती है। भारत में श्री नेहरू तथा अन्य नेता मान्यता को राजनयिक मान्यता (Diplomatic recognition) कहते हैं। केवल इज़राइल इसका महत्वपूर्ण अपवाद है। यहाँ कुछ उदाहरणों से भारत की मान्यता-विषयक नीति को स्पष्ट किया जायेगा।[१५]

(क) साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीति—चीन में १ अक्तूबर, १९४९ को साम्यवादी सरकार स्थापित होते ही उसने अन्य सरकारों से अपनी मान्यता की प्रार्थना की। उस समय चीन में भारत के राजदूत श्री पणिक्कर ने लिखा है कि साम्यवाद से कोई सहानुभूति न होने पर भी भारतीय नेता साम्यवादी चीन को मान्यता देने के पक्ष में थे, तत्कालीन गवर्नर जनरल श्री राजगोपालाचारी तथा सरदार वल्लभभाई पटेल इस विषय में मन्दगामी नीति का अनुसरण करना चाहते थे।[१६] श्री पणिक्कर का यह विचार था कि साम्यवादी चीन को उस समय स्वीकार किया जाय, जब राष्ट्रवादी चीन को चुंगकिंग के प्रदेश से खदेड़ दिया जाय और चीन की मुख्यभूमि में उसके पास किसी प्रदेश पर अधिकार न रहे। यह सम्मति मानी गई प्रतीत होती है। ज्यों ही च्यांग काई शेक की सरकार ने चुंगकिंग छोड़कर फारमोसा में शरण ग्रहण की तो सारे एशियाई चीन पर साम्यवादियों का निष्कण्टक एवं प्रभावशाली प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस पर ३० दिसम्बर, १९४९ को भारत सरकार के विदेश विभाग की एक प्रेस विज्ञप्ति में यह कहा गया है कि भारत ने चीन की सरकार के साथ दूत-सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया है।

साम्यवादी चीन को मान्यता मुख्य रूप से, श्री नेहरू के कथनानुसार, इस आधार पर दी गई थी कि "उसका चीन की समूची भूमि पर प्रभावशाली नियंत्रण है, यह सुदृढ़ शासन है और इसके किसी अन्य शक्ति द्वारा हटाये जाने की संभावना नहीं है।" आपेनहाइम ने लिखा है कि किसी देश में जो सरकार अधिकांश जनता से स्वाभाविक रूप से अपनी आज्ञाओं का पालन (Habitual obedience) कराती हो, इसके स्थिर बने

१४ (क). इस विषय में दो महत्वपूर्ण अपवाद वियतनाम और बंगलादेश की मान्यता है। ७ जन. १९७२ को भारत ने उत्तरी वियतनाम के साथ राजदूतस्तर के सम्बन्ध स्थापित कर मान्यता देने की अपनी परम्परागत नीति में एक नये परिवर्तन का श्रीगणेश किया। इससे पहले भारत ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विभाजित देशों उत्तरी कोरिया-दक्षिणी कोरिया, उत्तरी वियतनाम-दक्षिणी वियतनाम से समान दूरी की, दोनों के साथ वाणिज्यदूत स्तर के एक जैसे संबन्ध रखने तथा ऐसे किसी देश में राजदूत न रखने की नीति अपनाई थी। यह उस समय रूस और अमरीका की महाशक्तियों के शीतयुद्ध से पृथक् रहने वाली नीति का परिणाम था। उस समय भारत मास्को तथा वाशिंगटन दोनों को सन्तुष्ट रखना चाहता था। दिसम्बर १९७१ के पाक भारत युद्ध में वाशिंगटन की प्रबल पाकपक्षपाती नीति के कारण भारत की नीति में उपर्युक्त परिवर्तन हुआ है। बंगलादेश की मान्यता का आगे वर्णन किया जायगा।

१५. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५, १९६१, (पृ० ३९८ से ४२४) में श्री के० पी० मिश्र ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

१६. पणिक्कर—इन टू चायनाज़, पृ० ३७

रहने की संभावना हो, इसी सरकार को इस राज्य का प्रतिनिधि समझना चाहिए, इसी कारण इसे मान्यता प्राप्त करने का अधिकार है।"[१७] सरकारों की मान्यता के सम्बन्ध में अधिकांश राज्यों का व्यवहार प्रभावशालिता (Effectiveness) के इस सिद्धान्त पर आधारित है। सं० रा० संघ में भारत के प्रतिनिधि सर बी० एन० राव ने कहा था कि भारत ने आपेनहाइम द्वारा प्रतिपादित इसी सिद्धान्त के आधार पर साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की थी।

१९६२ में यद्यपि चीन ने भारत पर बर्बर आक्रमण करके उसका कई हजार वर्गमील का प्रदेश दबा लिया है, तथापि भारत उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर चीन को मान्यता देने तथा उसे सं० रा० संघ का सदस्य बनाने का समर्थन करता रहा। सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली के १८वें अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधिमंडल की नेता श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने १४ सितम्बर, १९६३ को न्यूयार्क में एक प्रेस सम्मेलन में कहा था कि भारत अब भी यह विश्वास रखता है कि साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ का सदस्य बनाया जाना चाहिए।

(ख) इज़राइल-विषयक नीति—पहले (पृ० १६४) यह बतलाया जा चुका है कि १५ मई, १९४८ को इज़राइल राष्ट्र का जन्म होते ही सं० रा० अमरीका ने इसे मान्यता प्रदान की, १७ मई को सोवियत रूस ने इसे स्वीकार किया, किन्तु भारत ने इसे १७ दिसम्बर, १९५० को मान्यता दी। इससे पहले इस विषय में भारतीय पार्लियामेंट में निरन्तर प्रश्न उठाए जाते रहे, इज़राइल की सरकार इस विषय में निरन्तर आग्रह करती रही, फिर भी इसे मान्यता देने में विलम्ब हुआ। इसके दो कारण थे—भारतीय मुसलमानों की भावना का इस विषय में आदर करना तथा अरब राज्यों द्वारा इज़राइल की मान्यता का विरोध। पहले (पृ० १६५) इन्हें स्पष्ट किया जा चुका है।

किन्तु इसके साथ ही विलम्ब का एक कारण यह भी था कि इस समय भारत सरकार इज़राइल तथा अरब राज्यों में समझौता कराने का प्रयत्न कर रही थी।[१८] भारत सरकार ने दिसम्बर, १९४९ में साम्यवादी चीन की सरकार की स्थापना के कुछ महीने बाद ही इसे मान्यता प्रदान की थी, इज़राइल का प्रश्न अनिश्चित काल के लिए टाला नहीं जा सकता था, अतः १७ सितम्बर, १९५० को इसे भी मान्यता दी गई।

इसे मान्यता देने के कारण स्पष्ट करते हुए विदेश विभाग के एक प्रवक्ता ने कहा कि इज़राइल की सरकार दो वर्ष से स्थापित है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वह स्थिर बनी रहेगी। इसका **तीसरा** कारण यह बताया गया कि इज़राइल सं० रा० संघ में तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भारत का तथा अन्य देशों का सहयोग कर रहा है। चौथा कारण यह था कि इज़राइल को अधिक देर तक मान्यता न देने से इसमें विलम्ब का मूल उद्देश्य —इज़राइल तथा अरब राज्यों में समझौता कराने का प्रयास व्यर्थ हो जाता।[१९]

(ग) स्पेन-विषयक नीति—स्पेन में जनरल फ्रांको की सेनाओं ने २८ मार्च, १९३९

१७. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, पृ० १२७

१८. अमरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६१, पृ० ४०७

१९. वही, पृ० ४०८

को राजधानी मैड्रिड पर अधिकार कर लिया था और ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इससे पहले २ फरवरी, १९३९ को फ्रांको की सरकार को मान्यता प्रदान की थी। फ्रांको हिटलर और मुसोलिनी की सहायता से प्रबल हिंसा, हत्या और विनाश के बाद लोकतन्त्र के समर्थक स्पेनिश साम्यवादियों को क्रूरतापूर्वक कुचलकर अपना निरंकुश शासन स्थापित कर सका था। धुरीराष्ट्रों का साथी होने से मित्रराष्ट्र स्पेन के विरोधी थे। भारत भी स्पेन के लोकतन्त्र का कट्टर विरोधी तथा निरंकुश शासन का समर्थक होने से उसका आलोचक था। १२ दिसम्बर १९४६ को जनरल असेम्बली ने इन्हीं कारणों से स्पेन को सं० रा० संघ का सदस्य बनने से रोकने का प्रस्ताव पास किया तथा संघ के सदस्यों को स्पेन से राजदूत वापिस बुलाने तथा राजनयिक संबन्ध तोड़ने का निर्देश दिया।

किन्तु बाद में इस नीति में परिवर्तन आने लगा। ४ नवम्बर, १९५० को जनरल असेम्बली में स्पेन-विषयक उपर्युक्त प्रस्ताव को रद्द करने का प्रस्ताव आया, इस पर भारत, इंगलैंड और फ्रांस तटस्थ रहे। इसके बाद स्पेन के प्रति भारत की नीति में निरन्तर परिवर्तन आने लगा। अक्टूबर, १९५० में स्पेन से व्यापारिक समझौते की वार्ता आरम्भ हुई, १९५२ में भारत सरकार ने बार्सीलोना में एक भारतीय वाणिज्य दूतावास (Consulate) खोलने की चर्चा स्पेन से शुरू की। १९५५ में जब स्पेन सं० रा० संघ का सदस्य बना तो भारत ने उसके पक्ष में वोट दिए और इस पर प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद यह स्वाभाविक था कि भारत स्पेन को मान्यता प्रदान करे। २५ मई, १९५६ को विदेश मंत्रालय द्वारा यह घोषणा की गयी कि यह निश्चय किया गया है कि भारत सरकार और स्पेन की सरकार के मध्य राजनयिक संबंध स्थापित किये जायें और राजदूतों का आदान-प्रदान हो।[२०] इस प्रकार फ्रांको सरकार की स्थापना के १५ वर्ष बाद तथा अपनी स्वतन्त्रता के ९ वर्ष बाद भारत ने इसे मान्यता प्रदान की।

स्पेन को मान्यता देने के कई कारण थे। पहला और सबसे बड़ा कारण इसका राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना था। श्री नेहरू ने लोकसभा में इस सम्बन्ध में यह कहा था कि "हमारी यह नीति है कि हम किसी भी ऐसे राज्य को मान्यता प्रदान करें, जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाला तथा सं० रा० संघ का सदस्य हो।" स्पेन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि उसके साथ नीति के प्रश्नों पर हमारा मतभेद है, फिर भी हमने उसे मान्यता दी है। स्पेन को मान्यता देने में विलम्ब का कारण भारत का उससे उग्र सैद्धान्तिक मतभेद था, उसे स्पेन की तानाशाही, उसका रक्तपात और हत्याकाण्ड का ढंग पसन्द नहीं था,

२०. भारत सरकार मान्यता और राजदूतों के आदान-प्रदान को एक ही समझती है और जब वह किसी देश के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करती है तो इसका यह आशय है कि वह उसे मान्यता प्रदान कर रही है। इसमें एकमात्र अपवाद इजराइल है। किन्तु अन्य कुछ देश मान्यता तथा दूतों के आदान-प्रदान को अभिन्न नहीं, किन्तु सर्वथा भिन्न समझते हैं। २१ मार्च १९५१ को हाउस आफ कामन्स में ब्रिटिश पर-राष्ट्रमंत्री ने घोषणा की थी कि "किसी राज्य या सरकार की मान्यता के प्रश्न को उसके साथ दूत-सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिये, यह पूर्ण रूप से राज्य की इच्छा पर निर्भर है।" इसका यह आशय है कि यदि हम किसी नई सरकार या राज्य को उसके राजनीतिक सिद्धान्तों के कारण पसन्द नहीं करते तो भी हमें उसे मान्यता देनी पड़ेगी, किन्तु उसके साथ दूत-सम्बन्ध रखना आवश्यक नहीं है।

इसलिए उसे स्पेन से घोर घृणा थी। किन्तु समय ने इसकी तीव्रता को मन्द बनाया और राजनीति की परिवर्तित परिस्थितियों में भारत ने स्पेन को स्वीकार किया और इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया कि प्रबल सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी विरोधी सिद्धान्त रखनेवाले राज्यों की सत्ता को अस्वीकार करने का अधिकार किसी राज्य को नहीं है।

स्पेन को मान्यता देने के कुछ अन्य कारण भी बताये जाते हैं।[21] पहला कारण पुर्तगाल द्वारा गोआ, दमन, दीव को स्वतन्त्र न करने तथा इन प्रदेशों में भारतीयों का उग्र दमन करने के कारण पुर्तगाल के साथ भारत के सम्बन्धों का बिगड़ना था। इसके परिणामस्वरूप अगस्त, १९५५ में दोनों देशों के राजनयिक सम्बन्ध पूर्णरूप से भंग हो गये। इस पर पुर्तगाल ने यह प्रचार किया कि भारत की नीति ईसाइयों का तथा रोमन कैथोलिकों का विरोध करने वाली है। स्पेन के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित होने के दो बड़े लाभ कहे जाते थे, पहला तो यह कि स्पेन का भारतीय दूतावास पुर्तगाल-विषयक सब समाचार भारत को पहुँचाने में सहायक होगा। दूसरा लाभ यह था कि इससे यह भ्रांति दूर होगी कि भारत सरकार ईसाइयों तथा रोमन कैथोलिकों की विरोधी है। इस कल्पना में कुछ सत्यता सम्भव है।

बंगला देश की मान्यता—भारत सरकार ने ६ दिसम्बर १९७१ को आठ मास के लम्बे विचार के बाद बंगला देश को संसद में एक घोषणा द्वारा मान्यता दी। यह १९४७ से पाकिस्तान का अंग था, किन्तु पश्चिमी पाकिस्तान २३ वर्ष तक एक 'उपनिवेश' के रूप में इसका आर्थिक शोषण अपनी समृद्धि के लिए करता रहा। इस कारण बंगाल में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हुआ और बंगाली शेख मुजीबर्रहमान के नेतृत्व में प्रान्तीय स्वतन्त्रता के लिए प्रबल आन्दोलन करने लगे। पाकिस्तान का नया संविधान बनाने के लिए दिसम्बर १९७० में हुए चुनावों में शेख के नेतृत्व में बंगला देश के लिए प्रान्तीय स्वाधीनता की मांग करने वाली अवामी लीग पार्टी ने बंगला देश की १६९ सीटों में १६७ सीटें जीतीं। इससे यह स्पष्ट था कि बंगाली जनता शेख के साथ थी, किन्तु पाकिस्तान के राष्ट्रपति याहिया खां ने २५ मार्च १९७१ की रात को जब शेख को गिरफ्तार करवा के बंगला देश की प्रान्तीय स्वायत्तशासन की मांग को क्रूर एवं भीषण सैनिक दमन से कुचलना चाहा तो बंगला देश की जनता ने पाकिस्तान की दासता से मुक्त होने के लिए स्वतन्त्रता-संग्राम शुरू कर दिया। १० अप्रैल १९७१ को बंगलादेश ने स्वाधीनता की घोषणा की तथा अपनी स्वतन्त्र सरकार का निर्माण किया, भूतपूर्व ईस्ट बंगाल रेजिमैंट तथा ईस्ट पाकिस्तान राइफल्स की भूतपूर्व पाकिस्तानी सेनाओं ने मुक्तिवाहिनी का रूप धारण कर इस्लामाबाद के शासकों से सशस्त्र संघर्ष आरम्भ कर दिया।

१५ अक्टूबर १९७१ को बंगलादेश के प्रधानमंत्री श्री ताजुद्दीन अहमद ने भारत की प्रधानमंत्री को लिखे एक पत्र में यह सूचित किया कि "उनकी मुक्तिवाहिनी का आधे बंगला देश पर पूर्ण नियंत्रण और प्रभुत्व है, इस क्षेत्र में बंगला देश की सरकार ने प्रभावशाली नागरिक प्रशासन स्थापित किया है, बंगला देश की जनता का उन्हें पूरा सहयोग

२१. अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६१, पृ० ४०८

प्राप्त है, अतः भारत सरकार को बंगलादेश को मान्यता प्रदान करनी चाहिए।" भारत के विभिन्न राजनीतिक दल भारत सरकार पर मार्च १९७१ से ही निरन्तर यह दबाव डाल रहे थे कि बंगला देश को तुरन्त मान्यता देनी चाहिए। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वतन्त्रता के लिए वीरतापूर्वक संघर्ष करने वाले बंगला देश के साथ पूर्ण सहानुभूति रखते हुए भी इसे उचित अवसर पर मान्यता देने का आश्वासन दिया था क्योंकि भारत शान्तिपूर्ण रीति से इस समस्या का समाधान चाहता था। पाकिस्तानी सैनिक शासकों के बर्बर अत्याचारों से बचने के लिए भारत में एक करोड़ बंगाली शरणार्थी आ गये। इससे भारत की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ पड़ा। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने पत्रों द्वारा तथा विदेशयात्रा में संसार के सभी प्रमुख देशों से यह अनुरोध किया कि वे पाकिस्तान पर दबाव डाल कर शेख मुजीबुर्रहमान के साथ याहिया खां का समझौता करायें और इस समस्या का शांन्तिपूर्ण समाधान किया जाय। किन्तु वाशिंगटन और पेकिंग का समर्थन प्राप्त होने के कारण पाकिस्तान ने ऐसा समझौता करने की आवश्यकता नहीं समझी, उसने भारत पर बंगला देश को सहायता देने का आरोप लगाया तथा ३ दिसम्बर १९७१ को भारत के हवाई अड्डों पर प्रबल आक्रमण करके भारत के साथ युद्ध छेड़ दिया।

लड़ाई शुरू हो जाने पर जब शान्तिपूर्ण समाधान की कोई आशा नहीं रही तो ६ दिसम्बर को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने संसद में बंगला देश को मान्यता देने की घोषणा की। इस अवसर पर मान्यता देने के कारणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा "पिछले चुनाव में पूर्वी बंगाल की जनता को लोकतान्त्रिक विजय मिली थी; पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने भी यह स्वीकार किया था कि शेख मुजीबुर्रहमान उनके देश में प्रधानमंत्री होंगे। शेख ने तथा उनकी पार्टी ने पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार के विरोध में अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, किन्तु अचानक पाकिस्तान की पाशविक सैनिक कार्यवाही के बाद उनके लिए स्वतन्त्रता की घोषणा के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया। मुक्तिवाहिनी के नेतृत्व में बंगलादेश की जनता जिस एकता, संकल्प और साहस के साथ लड़ी है, उसे सारे विश्व ने स्वीकार किया है। बंगला देश की जनता के न्यायोचित संघर्ष में हमारे देश की सहानुभूति होना स्वाभाविक था, किन्तु हमने भावना में बहकर यह मान्यता नहीं दी। यह काम वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य को विचार में रख कर किया गया है। बंगला देश की सम्पूर्ण जनता के विद्रोह और संघर्ष में सफलता से यह स्पष्ट हो गया है कि पाकिस्तान बंगलादेश की जनता को पुनः अपने नियंत्रण में नहीं ला सकता है। बंगलादेश की सरकार की वैधता के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि अब सारी दुनिया यह जान गई है कि यह सरकार अपनी जनता के जिस प्रबल बहुमत की इच्छा को प्रकट करती है, वैसे प्रबल बहुमत के समर्थन का दावा बहुत कम सरकारें कर सकती हैं।" इस प्रसंग में श्रीमती गांधी ने अमरीकन राष्ट्रपति जेफर्सन के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहा कि बंगला देश की सरकार को "राष्ट्र की ऐसी इच्छा का समर्थन प्राप्त है जो ठोस रूप से प्रकट की गई है। इस समय जिस पाकिस्तान का समर्थन करने के लिए बहुत से देश उत्सुक हो रहे हैं, उस पाकिस्तान के सैनिक शासन पर यदि यह कसौटी लागू की जाय तो यह पता लगेगा कि पश्चिमी पाकिस्तान में भी यह सरकार जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अब चूंकि

पाकिस्तान भारत के साथ लड़ रहा है अतः अब हमें ऐसी कोई झिझक नहीं है कि हमारा यह कार्य इस समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान में बाधक होगा, अथवा हमारा यह कार्य दूसरे देश के मामले में हस्तक्षेप समझा जायगा।" बंगला देश को मान्यता देने के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बंगलादेश की सरकार के साथ आरम्भ से ही पूरी सहानुभूति होने पर भी उसने इसे मान्यता उसी समय दी, जब इसका बंगलादेश पर प्रभावशाली नियंत्रण हो गया और पाकिस्तान द्वारा भारत पर हमला करने के कारण इस समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान की कोई संभावना नहीं रही। भारत सरकार द्वारा यह पहली ऐसी मान्यता है, जो संसद में घोषणा करके की गई है इससे पहले साम्यवादी चीन तथा अन्य देशों की मान्यता दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर के की गई थी।[२१(क)]

मान्यता विषयक हौल्स्टाइन सिद्धान्त तथा पाकिस्तानी नीति—द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद जब पश्चिमी जर्मनी के प्रधानमंत्री (चांसलर) कोनरैड एडीनौवर (Konrad Adenauer) थे तो उनके विदेश मन्त्री डाक्टर हौल्स्टाइन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि पूर्वी जर्मनी को जो कोई देश मान्यता प्रदान करेगा उस देश के साथ पश्चिमी जर्मनी अपना राजनयिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेगा क्योंकि पश्चिमी जर्मनी यह नहीं चाहता था कि पूर्वी जर्मनी को उससे पृथक् राज्य के रूप में कोई मान्यता दी जाय, वह उसे अपने देश का ही अंग समझता था अतः वह उसे पृथक् रूप से मान्यता देने के कार्य को शत्रुतापूर्ण मानता था। उसने यह सिद्धान्त इसीलिए प्रतिपादित किया था कि कोई भी देश पूर्वी जर्मनी को मान्यता न प्रदान करे। किन्तु इस सिद्धान्त की सफलता में शुरू से ही सन्देह था क्योंकि रूस ने पूर्वी जर्मनी को मान्यता दी थी और पश्चिमी जर्मनी में यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह इस प्रश्न पर मास्को से विवाद कर सके और उससे अपने सम्बन्ध विच्छिन्न करे। इसके बाद युगोस्लाविया द्वारा पूर्वी जर्मनी को मान्यता देने पर भी पश्चिमी जर्मनी मौन रहा और यह सिद्धान्त राजनीतिक परिहास विषय का बन गया है। फिर भी पाकिस्तान ने बंगला-देश के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अपनाया है। १९७१ के भारत पाक युद्ध के दौरान जब भारत ने ६ दिस० १९७१ को बंगला देश को मान्यता दी तो पाकिस्तान ने इसे शत्रुतापूर्ण कार्य मानते हुए फौरन भारत से राजनयिक सम्बन्ध भंग कर दिया। युद्ध समाप्त होने के बाद सर्वप्रथम बल्गेरिया, पोलैण्ड, मंगोलिया, बर्मा और नैपाल ने बंगला देश को मान्यता दी। पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो यह चाहते थे कि कोई भी देश इस्लामाबाद के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतन्त्र होने वाले बंगला देश को मान्यता न दे। उन्होंने इसे रोकने के लिए हौल्स्टाइन की उपर्युक्त नीति अपनायी, और बल्गेरिया तथा पोलैण्ड के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध फौरन तोड़ दिये ताकि अन्य देश इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि बंगला देश को मान्यता देने का कार्य पाकिस्तान शत्रुतापूर्ण समझता है और इस प्रकार की घोषणा करने वाले देशों के साथ वह अपने सम्बन्ध भंग कर देगा। किन्तु पोलैण्ड के उपविदेशमन्त्री ने यह घोषणा की कि बंगला देश को मान्यता देना पाकिस्तान विरोधी कार्य नहीं है, यह केवल

२१ (क) बंगलादेश की मान्यता के अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी पहलुओं के विवेचन के लिए देखिये एस० के० मुखर्जी—बंगलादेश एण्ड इण्टरनेशनल लॉ, कलकत्ता १९७१, इंडियन जर्नल आफ् इंटरनेशनल ला, अप्रैल १९७१, पृ० २५१–२६६

वास्तविकता को स्वीकार करना है। यह समझना कठिन है कि हम साढ़े पांच करोड़ की आबादी वाले पाकिस्तान को तो मान्यता दें किन्तु साढ़े सात करोड़ की आबादी वाले बंगला देश को स्वीकार न करें, जिसकी वैध रूप से चुनी गई सरकार और पार्लियामैण्ट है। वस्तुतः पाकिस्तान ने जल्दी ही यह अनुभव किया कि उसने जल्दबाजी में राजनयिक सम्बन्ध तोड़े हैं अतः बर्मा द्वारा बंगला देश को मान्यता देने के बाद उसने उसके साथ अपने सम्बन्ध नहीं तोड़े किन्तु राजदूत को वापिस बुलाया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिस प्रकार हाल्स्टाइन तथा पश्चिमी जर्मनी पूर्वी जर्मनी को मान्यता देने से अन्य देशों को नहीं रोक सके उसी प्रकार राष्ट्रपति भुट्टो भी अन्य देशों को बंगला देश को मान्यता देने से और उसकी वास्तविकता स्वीकार करने से नहीं रोक सकेंगे। रूस द्वारा बंगलादेश को मान्यता देने पर पाकिस्तान उससे अपने सम्बन्ध भंग करने का साहस नहीं कर सका। ब्रिटेन को मान्यता देने से रोकने के लिए पाकिस्तान ने ३० जन० १९७२ को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग होने की घोषणा की, फिर भी ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों ने बंगलादेश को मान्यता प्रदान की और अन्य देश भी उसे मान्यता दे रहे हैं।*

युद्धावस्था की मान्यता (Recognition of Belligerency)—सामान्यतः किसी राज्य में विद्रोह होना उसकी अपनी घरेलू घटना है, अन्य राज्य इस विषय में सर्वथा उदासीन रहते हैं; किन्तु कई बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वे उदासीन नहीं रह सकते। उन्हें इस विषय में कार्यवाही करने के लिए बाधित होना पड़ता है और दोनों पक्षों को युद्धावस्था या युध्यमानता (Belligerency) की मान्यता देनी पड़ती है। ब्रियर्ली के मतानुसार ऐसी मान्यता देने से पहले दो शर्तों का होना आवश्यक है[२२]—(१) विद्रोह का स्वरूप इतना विशाल और व्यापक बन गया हो कि इसने वास्तविक युद्ध का रूप धारण कर लिया हो। विद्रोहियों ने एक संगठित सरकार बना कर निश्चित प्रदेश पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया हो, इनकी सरकार युद्ध के नियमों के पालन पर ध्यान दे रही हो और युद्धकालीन स्वतन्त्र शासक की भाँति कार्य कर रही हो। (२) अन्य राज्यों का इस लड़ाई से पृथक् रहना सम्भव न हो। पड़ोसी राज्यों के प्रदेश में से सेनायें गुजरने से अथवा समुद्र में दोनों पक्षों द्वारा युद्ध छेड़ देने पर अन्य राज्य तटस्थ नहीं रह सकते। उन्हें यह निश्चय

* बंगला देश की मान्यता कई दौरों में से होकर गुजरी है। पहले दौर में इसे पाकिस्तान द्वारा हमला होने पर भारत ने तथा भूटान ने दी। दूसरे दौर में रूस के प्रभाव में विद्यमान पूर्वी योरोप के देशों पूर्वी जर्मनी (११ जन, १९७२), बलगारिया, पोलैण्ड तथा मंगोलिया ने दी। इनमें पूर्वी जर्मनी के साथ पाकिस्तान के कूटनीतिक संबन्ध नहीं थे, शेष देशों के साथ उसने अपने सम्बन्ध भंग कर दिये। इसके बाद तीसरे दौर में बंगला देश के पड़ोसी बर्मा (१६ जन.) तथा नेपाल (१३ जन.) ने इसे मान्यता दी। पाकिस्तान ने बर्मा से सम्बन्ध भंग न करते हुए केवल अपना राजदूत ही वापिस बुलाया। किन्तु २३ जन. को जब युगोस्लाविया ने ढाका को मान्यता दी तो पाकिस्तान ने इससे भी राजनयिक सम्बन्ध भंग कर लिये। इसके बाद रूस (२४ जन.) चैकोस्लोवाकिया (२५ जन.) हंगरी (२६ जन.) ने इसे मान्यता दी। चौथे दौर में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेण्ड द्वारा मान्यता दिया जाना था। इसे रोकने के लिए पाकिस्तान ने ३१ जन. १९७२ को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पृथक् होने की घोषणा की।

२२. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १३६

करना होगा कि जिस समुद्री प्रदेश में संघर्ष हो रहा हैं, वहाँ क्या उनके जहाजों की शस्त्रादि विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओं को ले जाने के लिए तलाशी ली जाय, उनके जहाज़ नाकाबन्दी भंग करने के लिये पकड़े जाएं या नहीं। दूसरा राज्य यदि इन कार्यों का विरोध करता है तो उसे जबर्दस्ती लड़ाई में कूदने के लिए बाधित होना पड़ेगा। इससे बचने का यही मार्ग है कि दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता देकर उन्हें युध्यमान अथवा लड़ाई करने वाला (Belligerent) मान लिया जाय। इस मान्यता के बाद ही दूसरा राज्य अपने को तटस्थ रखता हुआ उसके लाभ प्राप्त कर सकता है।

युद्धावस्था की मान्यता देने वाला राष्ट्र यह मान लेता है कि दोनों पक्षों में युद्ध की स्थिति है। यह दोनों के लिए समान रूप से लाभप्रद है। ऐसी मान्यता देने वाला राज्य इससे तटस्थ रहने वाले देश के सब अधिकार और सुविधायें प्राप्त कर लेता है तथा ऐसी मान्यता दिये जाने वाले राज्य को यह लाभ होता है कि वह अपने विद्रोहियों द्वारा अन्य राज्यों को हानि पहुँचाने वाले कार्यों के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। सर एन्थनी ईडन ने १९३७ में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"युद्धावस्था की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है कि आप एक प्रदेश में दो परस्पर विरोधी सरकारों में से किसे वैध मानते हैं। इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विचार का केवल इतना ही तात्पर्य है कि यह युद्धावस्था के अधिकार प्रदान करती है, ये अधिकार मान्यता प्रदान करने वाले तथा इसे प्राप्त करने वाले राज्यों के लिए सुविधाजनक होते हैं।"

युद्धावस्था की मान्यता से लड़ने वाले दोनों पक्षों को तथ्यानुसार (de facto) अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त होता है, वे अन्य देशों से ऋण ले सकते हैं, विनिषिद्ध सामग्री के लिए जहाज़ों की तलाशी ले सकते हैं, ऐसी सामग्री जब्त कर सकते हैं, उनके जहाज़ों को मान्यता देने वाले देश के बन्दरगाहों में जा सकते हैं। मान्यता देने वाले देशों को तटस्थता के नियमों का पालन करना पड़ता है।

युद्धावस्था की मान्यता से विद्रोहियों को बड़ा लाभ पहुँचता है और सुविधायें मिलती हैं, अतः कोई भी राज्य अपने विद्रोहियों को ऐसा लाभ पहुँचाने वाली मान्यता देने के कार्य को अच्छा नहीं समझता। अतः इस प्रकार की मान्यता देना बड़ा जटिल कार्य होता है। इस मान्यता को विद्रोह के दबाने में लगी हुई सरकार असामयिक, अनुचित और शत्रुतापूर्ण समझती है। १८६१ में सं० रा० अमरीका में गृहयुद्ध छिड़ने पर ब्रिटिश सरकार द्वारा दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता प्रदान किये जाने पर वाशिंगटन ने इसका विरोध किया था। उसका कहना था कि दक्षिणी राज्यों के विद्रोह ने युद्ध का रूप नहीं धारण किया, यदि यह वास्तव में युद्ध था तो ब्रिटिश सरकार को ऐसी मान्यता देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि ऐसी मान्यता न दिये जाने से उसके जहाज़ों को बड़ी क्षति पहुँच रही है। इसी प्रकार १९वीं शती के पूर्वार्ध में स्पेन की प्रभुत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वाले दक्षिण अमरीका के राज्यों को सं० रा० अमरीका द्वारा युद्धावस्था की मान्यता प्रदान करना स्पेन के लिए बड़े संताप का विषय था, वह इसे असामयिक समझता था। १९३६–३९ के स्पेन के गृहयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस की सहानुभूति स्पेन के गणराज्य के साथ थी, किन्तु फ्रांको के विद्रोही

पक्ष को नाराज़ करने में कई खतरे थे। अतः इस समय इन देशों ने दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता नहीं दी, किन्तु अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नई नीति को एक समझौते द्वारा अपनाया। इसके अनुसार समझौता करने वाले देशों ने यह निर्णय किया कि वे अपने देशवासियों द्वारा किसी पक्ष को हथियार नहीं भेजने देंगे। यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से गणराज्यवादी वैध सरकार के लिए अन्यायपूर्ण थी क्योंकि उसके विरोधी जनरल फ्रांको के पक्ष को इटली और जर्मनी से पर्याप्त सहायता मिल रही थी।

सह-युद्धावस्था (Co-belligerency)—प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों ने पोलिश राष्ट्रीय समिति की अध्यक्षता में इनकी ओर से लड़ने वाली सेना को सह-युद्धावस्था की मान्यता दी थी। इसी प्रकार दूसरे विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली इटालियन सेनाओं को तथा जनरल डिगाल की अध्यक्षता में लड़ने वाली फ्रेंच सेनाओं को ऐसी मान्यता दी थी। इस मान्यता के परिणामस्वरूप इन्हें एक मान्यता प्राप्त राज्य की सशस्त्र सेनाओं के अधिकार प्राप्त हो गये। आगे यथास्थान इन अधिकारों का विस्तृत वर्णन होगा।

अभिद्रोह की मान्यता (Recognition of Insurgency)—युद्धावस्था की मान्यता यह सूचित करती है कि किसी राज्य में विद्रोह या गृहयुद्ध की अवस्था में विद्रोहियों के पास एक बड़े निश्चित प्रदेश पर नियंत्रण और अपनी संगठित सरकार है, किन्तु उनकी स्थिति अभी ऐसी नहीं है कि उसे नये राज्य की मान्यता दी जा सके। किन्तु यदि क्रांतिकारी अपने देश के बड़े भाग पर अपना सुदृढ़ नियंत्रण रखते हुए भी मातृभूमि की सरकार के प्रति शक्तिशाली विरोध और संघर्ष जारी रख सकें तो इनकी स्थिति क्या होगी? यह अवस्था दक्षिणी अमरीका के राज्यों में प्रायः उत्पन्न होती रहती थी, अतः वहाँ इसका समाधान करने के लिए अभिद्रोह की स्थिति (Status of Insurgency) की मान्यता का विकास किया गया। यह इसलिए करना पड़ा कि सं० रा० संघ अमरीका के अनेक नागरिक इस विद्रोह में भाग लेते थे और सहायता पहुँचाते थे। यदि उन्हें केवल विद्रोही समझा जाय तो उन्हें सामान्य विद्रोहियों की भाँति फांसी की सज़ा दी जा सकती थी। किन्तु उन्हें अभिद्रोही मान लेने वाले राज्य यह समझते थे कि इस प्रकार इनमें भाग लेने वाले व्यक्ति विद्रोहियों का दण्ड पाने से बच जायेंगे तथा वे तटस्थ देशों से मातृदेशों को पहुँचाई जाने वाली शस्त्रास्त्र सामग्री की सहायता को रोक सकेंगे। सं० रा० अमरीका की सरकार यह नहीं चाहती थी कि उसके नागरिक विद्रोहियों को सहायता पहुँचायें तथा उसकी तटस्थता के नियमों का उल्लंघन करें।[२३] यह इसी प्रकार हो सकता था कि विद्रोहियों द्वारा मातृभूमि के साथ संघर्ष को युद्ध की मान्यता दे दी जाय। ओपेनहाइम के मतानुसार प्रायः ऐसा होता है कि गृहयुद्ध को 'युद्धावस्था' की मान्यता नहीं दी जा सकती, ऐसा होने की अवस्थायें निम्नलिखित हैं—विद्रोहियों का एक संगठित सत्ता के नेतृत्व में कार्य न करना, विस्तृत प्रदेश पर नियंत्रण न होना, विद्रोहियों द्वारा युद्ध के नियमों के पालन की असमर्थता। इस दशा में इन्हें अभिद्रोही का दर्जा देकर इनको तथ्यानुसार (de facto) शासन-

२३. फेनविक—इण्टरनेशनल ला, पृ० १४७–४८

सत्ता मान लिया जाता है, परिणामस्वरूप इस प्रदेश में अन्य राज्य अपने नागरिकों की तथा व्यापार की सुरक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं।

मान्यता देने के आधार (Bases of Recognition)—किसी नये राज्य को मान्यता प्रधान रूप से राजनीतिक कारणों से दी जाती है, फिर भी कुछ ऐसी अवस्थायें हैं जिनके पूरा होने पर ही मान्यता दी जाती है। प्रायः राज्यों के विदेश विभाग मान्यता देने के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक समझते हैं:—(१) नये राज्य का बाह्य शक्ति के नियंत्रण में न होना,[२३(क)] उसका स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) होना। (२) इस राज्य की सरकार की सुदृढ़ता और स्थायित्व। (३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के दायित्वों को पालन कर सकने की इच्छा तथा सामर्थ्य। इन आवश्यक शर्तों के पूरा होने पर ही मान्यता दी जा सकती है।

किन्तु अधिकांश राज्य मान्यता पर राजनीतिक दृष्टि से विचार करते हैं। इसी कारण साम्यवादी चीन की सरकार को इसके स्थापित होने के २२ वर्ष बीतने पर ही सं० रा० अमरीका से मान्यता १९७१ में मिली और वह सं० रा० संघ का सदस्य बन सका। सं० रा० अमरीका १९७१ तक चीन की पुरानी राष्ट्रीय सरकार को ही चीन की कानूनी सरकार मानता रहा। उस समय सारे चीनी महाद्वीप में साम्यवादी शासन था, राष्ट्रवादी सरकार को चीन की भूमि से भागकर फारमोसा टापू में शरण लेनी पड़ी थी, यहाँ चांग काई शेक की सत्ता अमरीकी सहायता के आधार पर ही है। चीन की जनता का अधिकांश भाग साम्यवादी सरकार का पोषक है। ग्रेट ब्रिटेन ने चीन में अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण साम्यवादी सरकार को स्वीकार कर लिया है। भारत, सोवियत रूस तथा अन्य अनेक देश इसे मायन्ता प्रदान कर चुके हैं। भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि चीन की साम्यवादी सरकार को भारत ने अनेक कारणों से स्वीकार किया है, समूचे चीनी महाद्वीप में साम्यवादी शासन इतनी सुदृढ़ता से सुप्रतिष्ठित हो चुका है कि इसे वहाँ से हटाया नहीं जा सकता, राज्यों को मान्यता देने में वैयक्तिक रुचि या इच्छा का प्रश्न नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर सं० रा० अमरीका का १९७१ तक यह कहना था कि चीन अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के पालन की इच्छा नहीं रखता, वह पड़ोसी देशों पर आक्रमण करके इनकी अवहेलना करता है, अतः उसे मान्यता नहीं दी जानी चाहिए और सं० राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाना चाहिए।

मान्यता के परिणाम (Consequences of Recognition)—नये राज्यों को मान्यता प्रदान करने के कई कानूनी परिणाम होते हैं, इसे अन्तर्राष्ट्रीय तथा देशीय कानून (Municipal Law) की दृष्टि से कई अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

२३ (क). पाकिस्तान ने बंगलादेश को मान्यता देने का विरोध इस आधार पर भी किया है कि बंगलादेश स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वहाँ भारतीय सेनायें विद्यमान हैं। १८ फर० १९७२ को फ्रांस ब्रिटेन, रूस को बंगला देश की मान्यता के विरोध में एक पत्र भेजते हुए इस्लामाबाद की सरकार ने इस बात पर बल दिया था कि भारतीय सेनाओं के कारण बंगलादेश पर ढाका की सरकार का प्रभावशाली नियंत्रण नहीं है, भारतीय सेनाओं के लौट जाने पर ही इस की मान्यता के प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए (टाइम्ज आफ इंडिया, नई दिल्ली १८ फरवरी, १९७२, पृ० १)।

जब तक किसी राज्य को मान्यता नहीं मिलती तब तक उसे निम्नलिखित हानियाँ (Disabilities of Unrecognised State) सहन करनी पड़ती हैं—(क) ऐसा राज्य इसे स्वीकार न करने वाले राज्यों की अदालतों में अभियोग नहीं चला सकता। Russian Socialist Federated Soviet Republic *v*. Cibrario के मामले के निर्णय में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया था—"एक विदेशी शक्ति हमारे न्यायालयों में अपना मामला अपने किसी अधिकार के कारण नहीं लाती, किन्तु इसका यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) से उत्पन्न होता है। जब तक सं० रा० अमरीका किसी राज्य को मान्यता नहीं देता, तब तक उसके साथ इस सौजन्य का अभाव होता है।"

(ख) उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार किसी मान्यता रहित सरकार के कार्यों को क्रियान्वित करने का कार्य इसे स्वीकार न करने वाले राज्यों के न्यायालय कभी नहीं करेंगे।

(ग) अमान्य सरकार के प्रतिनिधि दूतों को दिये जाने वाले विशेषाधिकारों की तथा उन्मुक्तियों की माँग नहीं कर सकते।

(घ) जिस राज्य की सरकार को मान्यता नहीं प्राप्त हुई, उसे मिलने वाली सम्पत्ति उस सरकार के प्रतिनिधि प्राप्त कर लेते हैं, जो नई सरकार द्वारा हटा दी जाने पर भी दूसरे देशों की दृष्टि में कानूनी सरकार है।

नये राज्य के मान्यता प्राप्त कर लेने पर उसकी उपर्युक्त अयोग्यतायें और हानियाँ दूर हो जाती हैं। उसे निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं—

(१) मान्यता देने वाले राज्य के न्यायालयों में मान्यताप्राप्त राज्य मुकद्दमा चला सकता है।

(२) इसके कानूनों और कार्यों को अन्य राज्य स्वीकार करते हैं और क्रियान्वित करते हैं।

(३) अपनी सम्पत्ति तथा राजदूतों के सम्बन्ध में दूसरे देशों के न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से इसे उन्मुक्ति (Immunity) मिल जाती है।

(४) मान्यता देने वाले राज्य के अधिकार-क्षेत्र में विद्यमान सम्पत्ति का दावा करने और प्राप्त करने का अधिकार मान्यता पाने वाले राज्य को मिल जाता है।

(५) इसे अन्य राज्यों के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने का और संधियाँ करने का अधिकार मिल जाता है।

(६) मान्यता भूतप्रभावी (Retroactive) होती है। यद्यपि मान्यता क्रान्ति या विद्रोह से उत्पन्न होने वाली सरकार के स्थापित होने के काफी समय बाद दी जाती है, किन्तु एक बार दिये जाने के बाद इसका प्रभाव भूतकाल में इस सरकार की स्थापना के समय से होता है। इस समय में हुआ सम्पत्ति का विनिमय तथा अन्य बहुत से कानूनी व्यवहार मान्यता न होने पर अवैध समझे जाते, किन्तु मान्यता इन सब कार्यों को वैध बना देती है। मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के न्यायालय इनकी वैधता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कर सकते।

आठवाँ अध्याय

राज्य-उत्तराधिकार

(State Succession)

राज्य उत्तराधिकार का स्वरूप (Nature of State Succession)—जब किसी राज्य का कोई प्रदेश उसकी प्रभुसत्ता और आधिपत्य से निकलकर दूसरे राज्य को प्राप्त होता है तब पहले राज्य को पूर्वाधिकारी (Predecessor) तथा दूसरे को उत्तराधिकारी (Successor) राज्य कहा जाता है तथा इस प्रक्रिया को उत्तराधिकार (Succession) कहते हैं। **आपेनहाइम** ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों (राज्यों) का उत्तराधिकार उस समय होता है, जबकि एक या अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति किसी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति की स्थिति में कुछ परिवर्तन आने के कारण उसका स्थान ले लेते हैं।"[१] उदाहरणार्थ, १९४७ में ब्रिटिश पार्लियामैण्ट द्वारा पास किये गए एक कानून द्वारा ब्रिटिश सत्ता में रहने वाला प्रदेश भारत और पाकिस्तान नामक दो पृथक् डोमिनियन राज्यों में विभक्त हो गया। ब्रिटिश भारत के पूर्वाधिकारी राज्य के स्थान पर भारत और पाकिस्तान के दो उत्तराधिकारी राज्य बन गये, एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान दो नये अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों ने ले लिया।

कुछ विधिशास्त्रियों (Jurists) ने उत्तराधिकार शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। वे वैयक्तिक कानून (Private Law) की शब्दावली से लिए गए इस शब्द का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्रों में वांछनीय नहीं समझते। स्टार्क का यह मत है कि जिस प्रकार वैयक्तिक कानून में एक व्यक्ति के मृत होने पर उत्तराधिकारी उसका स्थान पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेता है, ऐसा राज्यों में नहीं होता।[२] **ब्रियर्ली** के शब्दों में "उत्तराधिकार प्रधान रूप से वैयक्तिक कानून का सिद्धान्त है। इससे यह सूचित होता है कि कुछ अंशों में राज्य की समाप्ति की तुलना व्यक्ति की मृत्यु से की जा सकती है। किन्तु शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से राज्यों की कभी मृत्यु नहीं होती, उनकी जनसंख्या और प्रदेश लुप्त नहीं होते, इनका केवल राजनीतिक परिवर्तन होता है।"[३] यहाँ मुख्य रूप से किसी प्रदेश की प्रभुसत्ता में परिवर्तन होता है, इसमें पूर्वाधिकारी के अधिकार और दायित्व नवीन राज्य को मिल जाते हैं। आपेनहाइम ने लिखा है: "राज्यों का व्यवहार यह प्रदर्शित करता है कि राष्ट्रों के कानून के अनुसार सामान्य उत्तराधिकार नहीं होता। एक अन्तर्राष्ट्रीय

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, ८वां संस्करण,, पृ० १५७
२. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, ४र्थ संस्करण, पृ० २४९
३. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ०१४३

व्यक्ति की समाप्ति के साथ व्यक्ति के रूप में इसके सब अधिकार और कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं।" फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उत्तराधिकारी राज्य को पूर्वाधिकारी राज्य से कुछ अधिकार और दायित्व प्राप्त होते हैं।

वैयक्तिक उत्तराधिकार जिस प्रकार मृत्यु और दिवालियापन आदि अनेक कारणों से होता है, उसी प्रकार राज्य का उत्तराधिकार किसी राज्य के युद्ध में पराजय, विजय, विघटन आदि कई कारणों से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी के परास्त होने पर उसका विशाल साम्राज्य पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया व युगोस्लाविया में बँट गया। जर्मनी द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के दो राज्यों में विभक्त है। विजय के अन्य उदाहरण जापान द्वारा १९१० में कोरिया पर तथा १९३६ में इटली द्वारा एबीसीनिया पर प्रभुत्व प्राप्त करना था।

राज्यों के उत्तराधिकार में इनके व्यक्तित्व का प्रश्न बड़ा जटिल और मनोरंजक है। क्या किसी राज्य के दूसरे प्रदेशों के साथ मिलने पर उसका व्यक्तित्व पुराना ही बना रहता है या उसे नया व्यक्ति समझना चाहिए? कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस विषय में कोई एक नियम नहीं है। १८७० में इटली के विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों के एकीकरण से प्रादुर्भूत राज्य को नया राज्य समझना सर्वथा स्वाभाविक है, किन्तु वह स्वयं अपने को अन्य राज्यों के सम्मिलन से वृद्धि को प्राप्त हुआ पीडमाण्ट का पुराना राज्य समझता था। किन्तु इसके विपरीत कैलिफोर्निया के एक न्यायालय ने Artukovic *v.* Bayle के मामले में यह निर्णय दिया था कि युगोस्लाविया पुराने सर्बिया के राज्य का बृहत् रूप नहीं, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बना हुआ नया राज्य है। इसी प्रकार जब एक राज्य का विघटन होकर उसके दो या अधिक राज्य बनते हैं तो यह कहना कठिन है कि क्या पुराना राज्य समाप्त हो गया है, अथवा वह अभी तक विद्यमान है और केवल उसका प्रदेश नये राज्यों में बन जाने से घट गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनने वाला आस्ट्रिया का गणराज्य संभवतः एक नया राज्य था, न कि आस्ट्रिया-हंगरी के पुराने साम्राज्य की परम्परा अविच्छिन्न रखने वाला संकुचित प्रदेश और नई शासन-प्रणाली वाला राज्य। इसके विपरीत टर्की के गणराज्य को खलीफा के तुर्क साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी समझा जाता था, यद्यपि उसके भूतपूर्व प्रदेशों से अनेक राज्यों का निर्माण हो चुका है।

उत्तराधिकार के दो प्रकार (Two kinds of Succession)—(१) **सार्वभौम उत्तराधिकार** (Universal Succession)—जब एक राज्य का समूचा प्रदेश दूसरे राज्य द्वारा पूर्ण रूप से अपने में मिला लिया जाता है तो पहले राज्य की सारी भूमि पर उत्तराधिकारी राज्य का प्रभुत्व हो जाने के कारण यह सार्वभौम उत्तराधिकार कहलाता है। यह प्रधानतः निम्न रूपों द्वारा सम्पन्न होता है—(क) **विजय द्वारा**—विजेता राज्य विजित राज्य का सारा प्रदेश जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लेता है, जैसा १९०१ में ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिलाया। एबीसीनिया और कोरिया के उदाहरणों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। (२) **कई राज्यों द्वारा मिलकर एक संघ या संघीय राज्य बनाना**—१८७१ में अनेक जर्मन

राज्यों ने मिलकर जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया। १ फरवरी १९५८ को मिश्र और सीरिया ने मिलकर संयुक्त अरब गणराज्य को जन्म दिया। (३) **विभाजन**—जब एक राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के स्थान पर उसकी प्रभुता दो राज्यों या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों को मिलती है, जैसे १९४७ में ब्रिटिश भारत से भारत और पाकिस्तान के दो नये राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

(ख) आंशिक उत्तराधिकार (Partial Succession)—जब उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य के समूचे प्रदेश या भूमि की प्रभुसत्ता न ग्रहण करके उसके कुछ अंश या हिस्से का स्वामी बनता है तो इसे आंशिक उत्तराधिकार कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(१) जब एक राज्य का कुछ प्रदेश मातृभूमि से विद्रोह करके स्वतन्त्र राज्य बनता है, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्रता की घोषणा करके तथा युद्ध करके १७७६ में स्वतन्त्र राज्य बना। (२) जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के कुछ हिस्से को विजय द्वारा या हस्तान्तर (Cession) द्वारा प्राप्त करता है, जैसे सं० रा० अमरीका को १८४७ में कैलिफोर्निया का प्रदेश प्राप्त हुआ। (३) विघटन द्वारा—जब एक पूर्ण प्रभुता सम्पन्न (Sovereign) राज्य अपनी स्वतन्त्रता खोकर किसी दूसरे राज्य के आधिपत्य या संरक्षण में चला जाता है; १९३८ में म्युनिख में चैकोस्लोवाकिया का इसी प्रकार का विघटन हुआ था।

राज्य-उत्तराधिकार के परिणाम (Consequences of Succession)—जब उत्तराधिकार द्वारा एक राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान दूसरा राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति ग्रहण करता है तो प्रभुसत्ता के परिवर्तन के साथ दोनों के अधिकारों और दायित्वों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। कई बार इसे सन्धियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। किन्तु इस विषय में कोई सर्वसम्मत नियम या व्यवस्थायें नहीं हैं, प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हितों की दृष्टि से उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार का प्रयत्न किया जाता है। इसमें अत्यधिक वैविध्य और जटिलताएँ पायी जाती हैं। यहाँ उत्तराधिकार द्वारा प्रभावित होने वाले कुछ प्रमुख अधिकारों और दायित्वों का वर्णन किया जायगा।

(अ) संधि-विषयक अधिकार और दायित्व (Treaty rights and Obligations)—इस विषय में उत्तराधिकारी राज्य के अधिकार इस बात पर निर्भर हैं कि उसका उत्तराधिकार किस प्रकार का है। यदि यह सार्वभौम है, स्वेच्छापूर्वक अथवा विजय द्वारा पूर्वाधिकारी राज्य उत्तराधिकारी में पूर्णरूप से विलीन हो चुका है तो उसकी सब सन्धियाँ समाप्त हो जाती हैं। राजनीतिक अथवा दूसरे देशों के साथ मैत्री के लिए की गई सन्धियों के विषय में यह बात पूर्ण रूप से लागू होती है और व्यापारिक सन्धियों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। उदाहरणार्थ, १८९६ में जब फ्रांस ने मैडागास्कर टापू को अपने साम्राज्य में मिलाया तो उसने ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका द्वारा मैडागास्कर की रानी के साथ की गई व्यापारिक संधियों की कोई परवाह न करते हुए वहाँ फ्रेंच सरकार के नियम लागू कर दिये। जापान ने कोरिया में ऐसा किया था। अतः कीथ ने यह सत्य ही लिखा है कि विजेता राज्य उत्तराधिकार में कोई संधियाँ नहीं प्राप्त करते। इसे **कोरी स्लेट का सिद्धान्त** (Clean Slate Theory) भी कहते हैं, क्योंकि नया राज्य

पिछली सब संधियों को धो-पोंछ कर कोरी स्लेट पर सर्वथा नई संधियाँ लिखता है। मैकनेयर (Mcnair) के शब्दों में "पूर्वाधिकारी राज्य से अविच्छिन्न सम्बन्ध न रखने वाले राज्य संधियों के दायित्वों को कोरी स्लेट से शुरू करते हैं।" ब्रिटिश विधिशास्त्रियों में हाल, हालैण्ड, आपेनहाइम 'कोरी स्लेट का सिद्धान्त' के अनुयायी हैं, किन्तु वैस्टलेक इसे नहीं मानता। अमरीकी विधिवेत्ताओं में ह्वीटन, हर्सबी तथा फेनविक इसके पक्षपाती और कैण्ट, फील्ड तथा वूल्जी इसके विरोधी हैं। व्यापार और प्रत्यर्पण (Extradition) की संधियाँ भी पुराने राज्य के साथ समाप्त हो जाती हैं।

किन्तु पुराने राज्य द्वारा की गई निम्नलिखित प्रकार की संधियाँ नये राज्यों को स्वीकार करनी पड़ती हैं—(क) सामान्य उपयोगिता की संधियाँ तथा समझौते—डाक, तार, टेलीफोन, दास-व्यापार निषेध, स्वास्थ्य, मादक द्रव्य निषेध आदि के समझौते इसी प्रकार के हैं। १९४७ में पाकिस्तान भारत से पृथक् हो गया, किन्तु १९२१ में भारत ने स्त्रियों के अनैतिक व्यापार की रोकथाम के लिए जिस अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये, वह पाकिस्तान पर भी लागू समझा गया। इसी प्रकार भारत द्वारा स्वीकार किये गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन समझौते भी पाकिस्तान के लिए मान्य समझे गये। (ख) स्थानीय अधिकारों तथा प्रादेशिक अधिकारों की संधियाँ—कई बार समाप्त होने वाले राज्य की संधियाँ तथा परम्परायें उसकी भूमि, नदियों, सड़कों, रेलों, सीमान्त रेखाओं, नदियों के नौचालन, अपने प्रदेश में होकर रास्ते का अधिकार तथा अन्य सुविधाओं (Easements) के बारे में होती हैं। नये राज्य को इनका पालन करना पड़ता है।

ब्रियर्ली[४] के मतानुसार कुछ संधियाँ प्रदेश-व्यवस्थापक (Dispositive) होती हैं, ये किसी प्रदेश को कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रदान करती हैं जो वैयक्तिक कानून की परवत्ता (Servitudes) तथा सुविधाओं (Easements) से सादृश्य रखती हैं, "जब कोई राज्य इस प्रकार की संधि से प्रभावित प्रदेश को ग्रहण करता है तो यह केवल इस प्रदेश को ही नहीं लेता, किन्तु इससे सम्बद्ध संधियों और दायित्वों को भी ग्रहण करता है। तटस्थीकरण की अथवा सीमावर्ती नदी के प्रयोग को नियंत्रित करने वाली संधियाँ ऐसी संधियों के उदाहरण हैं।"

किन्तु जब एक राज्य का थोड़ा-सा ही प्रदेश दूसरे राज्य को मिलता है तो इसके संधि-विषयक अधिकारों तथा दायित्वों में कोई परिवर्तन नहीं आता। इसी प्रकार जब किसी राज्य का कोई अंश पृथक् होकर नया राज्य बनता है तो पुराने राज्य को सब संधियों का पालन करना पड़ता है।

(आ) साम्पत्तिक अधिकार (Public Property Rights)—राज्य की प्रभुसत्ता में परिवर्तन के समय इस प्रदेश में विद्यमान पूर्वाधिकारी राज्य की सब सार्वजनिक सम्पति (Public property), बैंक, सरकारी इमारतें, सरकारी रुपया, सरकारी रेलें उत्तराधिकारी राज्य को मिलती हैं। उत्तराधिकारी राज्य विदेशों में इसकी चल, अचल सम्पत्ति का अधिकारी होता है। इसे पिछली सरकार की सड़कों, नदियों, रेलों

४. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४५

आदि के तथा अन्य प्रकार के टैक्स वसूल करने का अधिकार होता है।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Polish Upper Silesia (merits) के मामले में यह कहा था कि संधि न होने पर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का परम्परागत (Customary) नियम है कि राज्य उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप मिलाये जाने वाले प्रदेश की सम्पत्ति नये राज्य को प्राप्त होती है। वर्साय संधि की धारा सं० २५६ इस धारणा को पुष्ट करती है। ब्रिटिश न्यायालयों ने Hail Selasie *v.* Cable S. Wireless Co. Ltd. के मामले में इस नियम का समर्थन किया था (देखिये परिशिष्ट प्रथम)। इसमें कम्पनी द्वारा ईथियोपिया की सरकार को दी जाने वाली राशि के सम्बन्ध में चांसरी डिवीजन के न्यायालय ने यह निर्णय किया था कि यह हेलसिलासी को दी जानी चाहिए। उस समय ब्रिटिश सरकार उसे ईथियोपिया का विध्यनुसार (De jure) शासक मानती थी। किन्तु जब इस मामले की अपील ऊपर के न्यायालय में ले जायी गई, तब तक ब्रिटिश सरकार इटली के राजा को ईथियोपिया का विध्यनुसार सम्राट स्वीकार कर चुकी थी, अतः निचले न्यायालय का निर्णय बदलते हुए उपर्युक्त धनराशि पर इटली के राजा का अधिकार माना गया क्योंकि उत्तराधिकार द्वारा वह हेलसिलासी का स्थान ग्रहण कर चुका था। सं० रा० अमरीका के गृहयुद्ध में इंगलैंड में विद्यमान दक्षिणी राज्यों की सरकार (Confederate government) की सम्पत्ति के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त लागू करते हुए ब्रिटिश सरकार ने लिबरपूल में शरण ग्रहण करने वाले दक्षिणी राज्यों का एक युद्धपोत Shenandoah सं० रा० अमरीका की सरकार को प्रदान किया था।

किसी प्रदेश में विजय द्वारा प्रभुसत्ता का परिवर्तन होने पर भी वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं आता, ये यथापूर्व बने रहते हैं। United States *v.* Sercheman के मामले में प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने लिखा था—"जनता की राजभक्ति में परिवर्तन होता है, पुरानी प्रभुसत्ता (Sovereign) से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न होता है, किन्तु एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध और साम्पत्तिक अधिकार अपरिवर्तित ही बने रहते हैं।"

(इ) संविदात्मक दायित्व (Contractual Liability)—क्या पूर्वाधिकारी पुराने राज्य द्वारा किये गये ठेकों व संविदाओं द्वारा उत्पन्न जिम्मेदारी और दायित्वों का पालन करना उत्तराधिकारी राज्य के लिए आवश्यक है? आपेनहाइम की इस विषय में यह सम्मति है कि—"राज्यों के आधुनिक व्यवहार की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐसे नियमों को स्थापित करने की ओर है जिनके अनुसार उत्तराधिकारी राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि उसे यह उत्तराधिकार भले ही किसी रीति—हस्तान्तर (Cession), अंगीकरण (Annexation) या विघटन (Dismemberment) से मिला हो, किन्तु वह निजी व्यक्तियों द्वारा प्राप्त साम्पत्तिक, सांविदिक (Contractual) तथा रियायतें प्रदान करने वाले (Concessionary) अधिकारों का सम्मान करेगा।" इस विषय में निम्न मामलों में दिया गया निर्णय आपेनहाइम के उपर्युक्त मत का विरोधी है।

पहले मामले West Rand Central Gold Mining Co. *v.* The King में ब्रिटिश न्यायालय ने यह घोषणा की थी कि "विजय करने वाली प्रभुसत्ता सम्पन्न शक्ति विजित प्रदेश के आर्थिक दायित्वों के सम्बन्ध में कोई भी ऐसी शर्तें बना सकती है, जिन्हें वह ठीक समझती है। इन्हें स्वीकार करना पूर्ण रूप से उसकी इच्छा पर है।" इससे यह स्पष्ट है कि उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य के आर्थिक दायित्वों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है, वह इच्छानुसार इन दायित्वों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ब्रियर्ली ने इस पर टिप्पणी करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि आपेनहाइम का मत इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यथार्थ स्थिति से आगे की अवस्था को सूचित करता है और ब्रिटिश न्यायालय का निर्णय इस स्थिति से पिछड़ा हुआ है।[५]

स्थायी न्यायालय ने इस विषय का कई बार संकेत करते हुए भी इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया। किन्तु वैयक्तिक अधिकारों के सम्बन्ध में उसने German settelers in Poland के मामले में यह निर्णय दिया था : "विद्यमान कानून के अनुसार प्राप्त वैयक्तिक अधिकार की समाप्ति प्रभुसत्ता के परिवर्तन के साथ नहीं होती।" प्रथम विश्वयुद्ध से पहले प्रशिया के राज्य ने एक विशेष प्रकार की संविदा के साथ कुछ जर्मन व्यक्तियों को नई भूमियों पर बसाया था, इसके अनुसार कुछ शर्तें पूरी हो जाने पर भूमि पर बसने वाले को इसका पूरा स्वामित्व मिल जाता था। युद्ध के बाद यह प्रदेश पोलैण्ड को दे दिया गया। पोलिश सरकार ने जर्मनों को इन जमीनों से बेदखल करना चाहा, उसका यह कहना था कि प्रशिया ने इस प्रदेश में जर्मन जनसंख्या बढ़ाने के लिए ही इस प्रकार की सुविधायें प्रदान करने वाली संविदायें की थीं, अतः वह इन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस उद्देश्य को सत्य स्वीकार करते हुए भी पोलिश सरकार के दावे को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उक्त संविदाओं द्वारा प्राप्त हुए वैयक्तिक अधिकार उत्तराधिकारी राज्य में यथापूर्व बने रहते हैं और वह इन्हें देने से इन्कार नहीं कर सकता। उत्तराधिकारी राज्य द्वारा पूर्वाधिकारी राज्य के उन्हीं दायित्वों को अस्वीकार करना न्यायपूर्ण ठहराया जा सकता है, जो उसके विरुद्ध युद्ध करने के उद्देश्य से उठायें गये हों।

रियायती (Concessionary) अधिकारों के सम्बन्ध में यह स्थिति है कि किसी राज्य द्वारा अपनी समाप्ति से पूर्व व्यक्तियों या कम्पनियों को प्रदान किए गए रियायती अधिकार उत्तराधिकारी राज्य को स्वीकार करने पड़ते हैं। Mavrommatis Palestine Concessions वाले मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह स्थिति स्वीकार करते हुए कहा था कि टर्की राज्य का उत्तराधिकारी पेलेस्टाइन प्रशासन इस बात के लिए बाध्य है कि टर्की द्वारा जेरूसलेम में कुछ काम करने के लिए एक यूनानी प्रजाजन को दी गयी रियायतों को स्वीकार करे और क्रियात्मक रूप दे। Sopran *v.* Koszeg Local Railway Co.—Arbitral Award के मामले में यह निर्णय किया गया था कि रियायतों के कानूनी अधिकारपत्र (Deed) द्वारा जो सुविधाएँ किसी वैयक्तिक कम्पनी

५. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४७

को प्राप्त होती हैं, राष्ट्रीय सत्ता के परिवर्तन के साथ उनका अन्त नहीं किया जा सकता।

(ई) सार्वजनिक ऋण (Public Debts)—इस विषय में राज्यों के व्यवहार और आचरण में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। फिर भी सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि उत्तराधिकारी राज्य अपने पूर्वाधिकारी राज्य द्वारा लिए गए समस्त सार्वजनिक ऋणों के लिए उत्तरादायी होता है, बशर्ते कि ये ऋण पूर्वाधिकारी राज्य ने उत्तराधिकारी राज्य के निवासियों को हानि पहुँचाने के या उसके विरुद्ध युद्ध चलाने आदि के उद्देश्य से न लिए हों। कई बार किसी प्रदेश को अपना अंग बनाने वाले राज्य उसके सार्वजनिक ऋण चुकाने की कानूनी जिम्मेवारी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। १८६० में इटली ने आस्ट्रिया से लोम्बार्डी का प्रदेश लेते हुए उसके स्थानीय ऋण का उत्तरदायित्व लिया था। कई बार किसी राज्य का अल्प प्रदेश लेते हुए उसके सामान्य ऋण के कुछ अंश अदा करने की जिम्मेवारी ली जाती है, जैसी १८६६ में प्रशिया ने डेन्मार्क से श्लेसविग-हालस्टाइन का प्रदेश ग्रहण करते हुए ली थी। कई बार आंशिक उत्तरदायित्व कानूनी जिम्मेवारी स्वीकार किए बिना ही ले लिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में ऐसा ही किया था। बहुधा सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में संधियों में भी व्यवस्था की जाती है। वर्साय की संधि के अनुसार जिन राज्यों को जर्मन प्रदेश दिया गया, उन्हें १ अगस्त १९१४ तक के जर्मन राष्ट्रीय ऋण के कुछ अंश उतारने के लिए जिम्मेवार बनाया गया। इसी प्रकार १० सितम्बर १९१९ को आस्ट्रिया के साथ हुई सां जर्मे की संधि की धारा २०३ के अनुसार आस्ट्रिया को आस्ट्रिया हंगरी के पुराने साम्राज्य के राष्ट्रीय ऋण के केवल उतने अंश के लिए उत्तरदायी बनाया गया, जो २८ जुलाई १९१४ तक उसकी रेलों, खानों आदि की सम्पत्ति की जमानत पर लिया गया था। इसी प्रकार इस साम्राज्य के विघटन से बनने वाले राज्यों को उसके राष्ट्रीय ऋण का कुछ अंश उतारने की जिम्मेवारी दी गई थी।

१९४७ में भारत का विभाजन होने के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों अविभक्त भारत के उत्तराधिकारी राज्य थे। इन दोनों में अविभक्त भारत की केन्द्रीय सरकार की जमापूँजी और देनदारियों का बँटवारा किया गया। विशेषज्ञों की विभागीय उपसमितियों ने रेल, डाक तार, डाकखाने, टकसाल आदि की सम्पत्ति का विभाजन किया। इंगलैंड से अविभक्त भारत को पौण्ड पावने (Sterling balances) का जो ऋण लेना था, वह समानुपात से दोनों में बाँटा गया। किन्तु शरणार्थियों द्वारा दोनों देशों में छोड़ी गई निष्क्रान्त सम्पत्ति (Evacuee Property) के बारे में दोनों राज्यों में कोई संतोषजनक समझौता अब तक नहीं हो सका। बंगलादेश पाकिस्तान से विद्रोह करके दिसम्बर १९७१ में स्वतन्त्र हुआ है, उसने पाकिस्तान द्वारा लिये गये ऋणों का अदा करने का दायित्व स्वीकार नहीं किया है।

(उ) जिह्म (Tort)—पूर्वाधिकारी राज्य के गलत कार्य से किसी व्यक्ति को पहुँची हुई हानि या जिह्म (tort) के लिए नया राज्य बिल्कुल उत्तरदायी नहीं समझा जाता। १९१० में एक समझौते द्वारा एक ऐंग्लो-अमेरिकन आर्थिक दावा न्यायाधिकरण (Anglo-American Pecuniary Claims Tribunal) ने इस

विषय में अपना स्पष्ट निर्णय दिया था, यह मामला इस प्रकार था—दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को ग्रेट ब्रिटेन द्वारा जीता जाने से पहले इसके राष्ट्रपति क्रूगर तथा न्यायालयों में एक संघर्ष छिड़ गया, इसमें क्रूगर ने प्रधान न्यायाधीश को पदच्युत कर दिया, न्यायालयों को कार्यपालिका का वशवर्ती बना दिया। न्यायाधिकरण की सम्मति में इस स्थिति में उत्पन्न कानूनी 'अराजकता' में एक अमरीकी नागरिक राबर्ट ई० ब्राउन को अपने सोने की खानों के कुछ दावों के सम्बन्ध में न्यायालयों से न्याय नहीं प्राप्त हो सका, इससे उसको बड़ी हानि उठानी पड़ी। सं० रा० अमरीका ने दक्षिण अफ्रीका के गण-राज्य का उत्तराधिकारी होने से ग्रेट ब्रिटेन द्वारा ब्राउन को हुई हानि के लिए उसके हर्जाने के दावे का समर्थन किया। इस मामले की बहस में अमरीकी प्रतिनिधि को यह स्वीकार करना पड़ा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नष्ट हुए (defunct) राज्य के गलत कार्यों से हुई हानि के उत्तरदायित्व को सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया जाता। न्यायाधिकरण ने इस मामले को खारिज करते हुए यह कहा कि विजय द्वारा प्रदेश प्राप्त करने वाले राज्य पर ऐसा कोई दायित्व नहीं है, जिससे यह अपने पूर्वाधिकारी राज्य द्वारा किये गये गलत कार्य को ठीक करने के कोई निश्चित उपाय करे। सर सेसिल हर्स्ट ने इस स्थिति का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है—"विजेता जिसे अपने राज्य में मिलाता है, वह पूर्वा-धिकारी राज्य का प्रदेश है। वह न तो उस राज्य का और न ही उसकी सरकार का अपने राज्य में समावेश करता है। जब एक बार यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह ज्ञात होगा कि सही सिद्धान्त के आधार पर विजेता को पहली सरकार के जिह्म कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराना असम्भव है, क्योंकि ये जिह्म तो सरकार के थे, प्रदेश के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(ऊ) सदस्यता (Membership)—अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता के सम्बन्ध में यह निश्चित हो चुका है कि यह उत्तराधिकारी राज्य को नहीं प्राप्त होती। आयरिश फ्री स्टेट ग्रेट ब्रिटेन से पृथक् होकर स्वतन्त्र राज्य बनने पर, राष्ट्रसंघ में नये सदस्य के रूप में प्रविष्ट हुई थी। डेन्मार्क से पृथक् होने वाले आइसलैण्ड ने १६४४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता स्वतन्त्र रूप में प्राप्त की थी। १६४७ में भारत का विभाजन होने पर इसी नियम के अनुसार भारत सं० रा० संघ का सदस्य बना रहा, किन्तु पाकिस्तान को ३० सितम्बर १६४७ को इसका नया सदस्य बनना पड़ा। उस समय सं० रा० संघ के सहायक मन्त्री ने इस विषय में अपनी सम्मति देते हुए कहा था—"ऐसी अवस्थाओं में पृथक् होने वाला हिस्सा नया राज्य समझा जाता है, शेष बचा हुआ अंश सब अधिकारों और कर्त्तव्यों के साथ वर्तमान राज्य के रूप में बना रहता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तराधिकार (Succession in International Organization)—जब एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को समाप्त करके उसी उद्देश्य तथा प्रयोजन के लिए नया संगठन स्थापित किया जाता है तो इनके उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार के प्रश्न द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर उठे, क्योंकि इस समय पुराने राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय, हवाई यातायात, अन्तर्राष्ट्रीय आयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय सैनिटरी ब्यूरो के स्थान पर क्रमशः सं० रा०

संघ न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक हवाई संगठन और विश्व स्वास्थ्य संगठन बनाये गये। आपेनहाइम के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने के लिए" यह आवश्यक है कि उन सब अवस्थाओं में उत्तराधिकार को स्वीकार किया जाय, जहाँ दोनों संगठनों के उद्देश्यों में एकता हो।[६]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने International Status of South Africa के मामले में अपनी परामर्शात्मक सम्मति देते हुए उपयुक्त मत का समर्थन किया था। इसके कथनानुसार सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली को इस प्रदेश की देखभाल के कार्य करने की वही कानूनी सत्ता प्राप्त थी, जो दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट प्राप्त प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ को प्राप्त थी, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन इस बात के लिए बाध्य है कि वह इस पर जनरल असेम्बली का निरीक्षण और नियंत्रण स्वीकार करे और इसे प्रशासन के सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट दे। न्यायालय की सम्मति में दक्षिण अफ्रीका अब तक दिसम्बर १९२० के मैण्डेट वाला प्रदेश है। किन्तु जनरल असेम्बली द्वारा किया जाने वाला निरीक्षण मैण्डेट पद्धति के निरीक्षण कार्य से अधिक नहीं होना चाहिए।

संयुक्त अरब गणराज्य निर्माण के कानूनी पहलू (Legal Aspects of the formation of U. A. R.)—राज्य उत्तराधिकार के प्रसंग में सं० अरब गणराज्य के निर्माण और विघटन से उत्पन्न कानूनी परिणामों का निर्देश उचित प्रतीत होता है। ईजिप्ट और सीरिया के राज्यों ने सर्वसम्मत मतदान द्वारा २२ फरवरी १९५८ को दोनों देशों को मिलाकर सं० अरब गणराज्य (United Arab Republic) नामक राज्य बनाया। २ मार्च को इसमें यमन का राज्य भी सम्मिलित हुआ तथा तीनों राज्य मिलकर United Arab States बने। १ फरवरी १९५८ को की गई एक घोषणा के अनुसार ईजिप्ट तथा सीरिया के राज्यों की एक विधानसभा, एक झण्डा तथा एक सेना बनाने का निश्चय किया। सं० अरब गणराज्य न तो वैयक्तिक संगम (Personal Union) था और न ही प्रसंधान (Confederation), क्योंकि इसमें ईजिप्ट और सीरिया न तो राज्य थे और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International Person)। यह वास्तविक संगम (Real Union) भी नहीं था क्योंकि ऐसा संगम नये राज्य का निर्माण नहीं करता। यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य का अन्तर्लय (absorption) नहीं था क्योंकि इसमें ईजिप्ट और सीरिया दोनों का पृथक् व्यक्तित्व समाप्त हो गया था। युजीन कोटरैन (Eugen Cotran) ने इसे सर्वथा नये प्रकार का विलय (Merger) बताया है, यह संगम (Union) न होकर एकता (Unity) थी।[७]

किन्तु इन दोनों के साथ मिलने वाले यमन राज्य के मेल से बने सं० अरब राज्यों (United Arab States) की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। सं० अरब गणराज्य

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, पृ० १६८

७. यूजीन कोटरैन—सम लीगल एस्पैक्टस् आफ दी फारमेशन आफ् दी यूनाइटिड अरब रिपब्लिक एण्ड यूनाइटिड अरब स्टेट्स, इण्टरनेशनल एण्ड कम्पेरेटिव लॉ, क्वार्टरली, पृ० ९५९, पृ० ३४६

और यमन दोनों की प्रभुसत्ता (Sovereignty) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International personality) थे, अतः यह दो पूर्ण रूप से प्रभुसत्ता सम्पन्न (Sovereign) राज्यों का प्रसंधान (Confederation) था।

सं० रा० अरब गणराज्य के अस्थायी संविधान की धारा ६ के अनुसार इन दोनों राज्यों के साथ जो संधियां पहले की गई थीं वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का अनुसरण करते हुए "अपने उन पुराने क्षेत्रों के लिए वैध बनी रहेंगी, जिनके लिए ये की गई थीं।" धारा ५६ के अनुसार भविष्य में सब संधियाँ सं० अरब गणराज्य के राष्ट्रपति द्वारा की जाएँगी। सं० अरब राज्यों में संयुक्त अरब गणराज्य (United Arab Republic) तथा यमन राज्य—दोनों को पृथक् संधियाँ करने का अधिकार था।

सं० रा० संघ (U. N. O.) में पहले ईजिप्ट और सीरिया पृथक् रूप से सदस्य थे और इनके दो प्रतिनिधि हुआ करते थे। सं० अरब गणराज्य बन जाने पर इसने १ मार्च १९५८ को सं० रा० संघ के महामंत्री को सूचित किया कि अब सं० रा० संघ में इसका एक ही प्रतिनिधि होगा और सं० रा० संघ से सम्बद्ध सभी संगठनों में यही स्थिति होगी। इस राज्य के निर्माण के समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) में ईजिप्ट और सीरिया के दो प्रतिनिधि थे। किन्तु इसमें संविधान की धारा २ के पैरा २ के अनुसार इसमें एक समय में एक देश के दो सदस्य नहीं हो सकते, अतः विधि आयोग ने इन दोनों सदस्यों में से एक का त्याग-पत्र स्वीकार किया। ईजिप्ट और सीरिया दोनों पहले सं० रा० संघ के सदस्य थे, अतः इनके संयुक्त होने पर नये सं० अरब गणराज्य को भी संघ का सदस्य मान लिया गया और इसमें सदस्यता के लिए पृथक् रूप से आवेदनपत्र नहीं देना पड़ा। ब्रियर्ली ने लिखा है कि यदि इन दोनों में से कोई पहले संघ का सदस्य न होता तो उस समय क्या स्थिति होती? यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बड़ा रोचक प्रश्न है।[८]

किन्तु यह सं० अरब गणराज्य देर तक नहीं चला। सितम्बर १९६१ में सीरिया में एक राजनीतिक षड्यन्त्र के बाद यह घोषणा की गई कि सीरिया इस गणराज्य से पृथक् हो गया है, सीरिया के बाद २६ दिसम्बर १९६१ को यमन भी सं० अरब गणराज्यों से पृथक् हो गया। सीरिया सं० रा० संघ का आरम्भिक सदस्य था, सं० अरब गणराज्य से पृथक् होने के बाद उसने पुनः इसकी सदस्यता के लिए आवेदन पत्र दिया और वह इसका सदस्य बना लिया गया।

राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भारतीय परिपाटी और व्यवहार (Indian Practice with reference to State Succession)—१९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून (Indian Independence Act) के अनुसार विभाजन के बाद हमारे देश में राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कई जटिल समस्यायें उत्पन्न हुई और भारतीय न्यायालयों के सामने इस विषय के अनेक विवाद उपस्थित हुए। यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं और मामलों का निर्देश

८. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ् नेशन्स, छठा संस्करण, पृ० १५६

दिया जायगा।

पहली समस्या भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की थी—विभाजन से भारत और पाकिस्तान के दो राष्ट्र उत्पन्न हुए थे। क्या इन दोनों को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की मान्यता दूसरे देशों से नये सिरे से प्राप्त करनी थी ? इस विषय में हाल द्वारा प्रतिपादित **व्यक्तित्व के सिद्धान्त** (Personality Theory) को माना गया।[१] उसके मतानुसार 'राज्य-उत्तराधिकार की समस्या की कुंजी व्यक्तित्व हैं'। जिस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति अपना अंगभंग होने के बाद जीवित रहने पर अपना पुराना व्यक्तित्व बनाये रखता है, उसी प्रकार विभाजन के बाद भी यदि पुराना राज्य जीवित रहता है तो उसे पहले राज्य के सब पुराने अधिकार और दायित्व प्राप्त रहते हैं तथा विभाजन के परिणामस्वरूप बनने वाले अन्य राज्यों को नवीन कानूनी सत्तायें (Legal Entities) समझा जाता है। ब्रिटिश भारत ने १६१६ की वर्साइ संधि (Treaty of Versailles) पर हस्ताक्षर किये थे, इस प्रकार उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त हुआ था, वह राष्ट्रसंघ तथा सं० रा० संघ का सदस्य था। १६४७ में इसका विभाजन होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या भारत के साथ पाकिस्तान भी स्वत: इस कारण के आधार पर सं० रा० संघ का सदस्य बन गया है कि दोनों विभाजन के बाद ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी थे। इस विषय में भारतीय सरकार का यह दृष्टिकोण था कि व्यावहारिक और कानूनी दृष्टि से पुराने भारत की सत्ता बनी हुई है, केवल इसमें से कुछ प्रान्त अलग हुए हैं, अत: उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया है। सं० रा० संघ के सचिवालय (Secretariate of U. N. O.) ने इस प्रश्न पर विचार करके भारत के दृष्टिकोण से सहमति प्रकट करते हुए लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह ऐसी स्थिति है, जिसमें एक विद्यमान राज्य का एक भाग इससे पृथक् होकर एक नया राज्य बन जाता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भारत की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, यह अपने सभी सन्धि-अधिकारों एवं दायित्वों के साथ बना हुआ है। अत: इसे सं० रा० संघ की सदस्यता के सभी अधिकार और दायित्व प्राप्त हैं। इससे पृथक् होकर बनने वाला पाकिस्तान नवीन राज्य है। इसे पुराने राज्य की संधियों से प्राप्त होने वाले अधिकार तथा दायित्व नहीं मिलेंगे, अत: यह सं० रा० संघ का सदस्य नहीं रहेगा। इससे यह स्पष्ट था कि भारत का विभाजन आंशिक उत्तराधिकार (Partial Succession) का उदाहरण था। इसमें भारत को पुराने सभी अधिकार प्राप्त रहे, उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व और संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता पूर्ववत् बनी रही, किन्तु पाकिस्तान को नवीन राज्य होने के कारण इसे नये सिरे से प्राप्त करना पड़ा।

भारत और पाकिस्तान का विभाजन यद्यपि आंशिक उत्तराधिकार का उदाहरण था, किन्तु भारत में मिलने वाली देशी राज्यों का इसमें मिलना **पूर्ण उत्तराधिकार** (Total Succession) का उदाहरण है क्योंकि भारत में विलीन होने के बाद इन्हें कोई स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नहीं प्राप्त हुई।

१. हाल—इण्टरनेशनल लॉ (अष्टम संस्करण, १६२६) पृ० ११४

दूसरी समस्या निजी व्यक्तियों के कानूनी हितों (Legal Interest of Private Individuals) की थी। इस विषय में पहला प्रश्न **प्राप्त अधिकारों के तथा राज्य-कृत्य के सिद्धान्तों** (Doctrine of Acquired Rights and Act of State) का था। कोई नया राज्य स्थापित होने पर विभिन्न व्यक्तियों के सम्पत्ति विषयक अथवा अन्य अधिकारों में राजा या शासन बदलने से कोई परिवर्तन नहीं आता, उन्हें इस क्षेत्र में वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पिछले राज्य में प्राप्त थे। इसी को **प्राप्त अधिकारों का सिद्धान्त** कहा जाता है। उदाहरणार्थ, १६४७ में भारत और पाकिस्तान के नये राज्य बने, किन्तु इन दोनों देशों में रहने वाले व्यक्तियों को अपनी जमीन जायदाद पर, एक दूसरे के साथ व्यवहार में, अनुबन्ध (Contracts) आदि में जो अधिकार प्राप्त थे, वे नया राज्य बनने पर भी प्राप्त रहे। यदि ऐसा न हो तो समाज में बड़ी अव्यवस्था, आपाधापी और कुहराम मच जाय।[१०] अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन सं० रा० अमरीका के प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने U. S. *v.* Percheman के मामले में करते हुए कहा था—"इस विषय में यह टिप्पणी करना उचित है कि विजय द्वारा किसी प्रदेश को जीतने के बाद विजेता के लिए प्रायः इससे अधिक कुछ करना अस्वाभाविक होता है कि वह पिछले राजा को हटा दे तथा देश का शासन अपने हाथ में ले ले। यदि (प्रत्येक विजय के बाद) सामान्य रूप से सम्पति को जब्त कर लिया जाय, वैयक्तिक अधिकारों को समाप्त कर दिया जाय तो कानून का रूप धारण करने वाली राष्ट्रों की आधुनिक परिपाटी (usage) का अतिक्रमण होगा, कानून तथा अधिकार की उस भावना का हनन होगा जिसे समूचा सभ्य जगत् स्वीकार करता है। किसी प्रदेश की विजय होने पर वहाँ की जनता राजा के प्रति अपनी निष्ठा बदलती है, पुराने राजा से उनका सम्वन्ध हो जाता है, किन्तु उनके एक दूसरे के साथ सम्बन्ध तथा उनके सम्पत्ति विषयक अधिकार पूर्ववत् बने रहते हैं।"[११] आपेनहाइम ने इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि राज्यों के आधुनिक व्यवहार ने इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम बना दिया है कि उत्तराधिकारी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह निजी व्यक्तियों के सम्पत्ति-विषयक, अनुबन्धात्मक (Contractual), रियायतों सम्बन्धी (Concessionary सभी प्रकार के प्राप्त कानूनी अधिकारों का सम्मान करे, भले ही नया राज्य किसी दूसरे राज्य द्वारा प्रदेश दिये जाने से (Cession), नया प्रदेश अपने राज्य में मिलाने से या किसी प्रदेश के विघटन से उत्पन्न हुआ हो।"

किन्तु इन 'प्राप्त अधिकारों' (Acquired Rights) को नये राज्य में पाने में कई बार बड़ी कठिनाई होती है और इनका विरोध **राज्य-कृत्य** (Doctrine of Act of State) **के सिद्धान्तों** के आधार पर किया जाता है। राज्य-कृत्य का अभिप्राय किसी प्रदेश पर विजय सन्धि आदि भी किसी भी प्रकार से प्रभुसत्ता (Sovereignty) पाना है, प्रभुसत्ता राज्य का विशेष गुण है, अतः इसे ग्रहण करने को राज्य का विशेष कार्य

१०. एस० के० अग्रवाल—इण्टरनेशनल लॉ
११. यू० एस० सुप्रीम कोर्ट ७ पीटर्स ५१, पृ० ८६–७

या राज्य-कृत्य (Act of State) कहते हैं। इस प्रकार राज्य-कृत्य से उत्पन्न होने वाले विवादों पर किसी भी देश के न्यायालय में विचार नहीं किया जा सकता। इस का सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए प्रिवीकौन्सिल ने अपने एक निर्णय में कहा था—[१२] "प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य जब पहली बार किसी प्रदेश को प्राप्त करता है तो इसे राज्य-कृत्य कहा जाता है। इसमें इस बात का महत्व नहीं है कि उसे यह प्रभुसत्ता किस प्रकार प्राप्त हुई है। सब दशाओं में एक ही परिणाम उत्पन्न होता है। इसे प्रदेश का कोई भी निबासी नवीन शासक द्वारा स्थापित यहाँ के न्यायालय में अपने ऐसे अधिकारों को ही प्राप्त कर सकता है, जिनको नये शासक ने अपने अफसरों के माध्यम से स्वीकार किया है। उसके ऐसे अधिकार उसे कोई लाभ नहीं पहुँचा सकते, जो अधिकार उसे पहले के शासकों के समय में प्राप्त थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि किसी प्रदेश को प्रदान करने वाली सन्धि (Treaty of Cession) में यह शर्त लिखी गयी है कि वहाँ के कुछ निवासी कुछ विशेष अधिकारों का उपयोग करते रहेंगे तो इससे भी उन्हें यह अधिकार नहीं प्राप्त होता है कि वे इन अधिकारों को राष्ट्रीय न्यायालयों (Municipal Courts) द्वारा लागू (Enforce) करवा सकें। इन्हें लागू करवाने का अधिकार केवल सन्धि करने वाले पक्षों (High Contracting Parties) को ही होता है"।

ग्रेट ब्रिटेन की प्रिवी कौन्सिल द्वारा प्रतिपादित 'राज्य-कृत्य' का यह सिद्धान्त पहले बताये गये मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'प्राप्त अधिकारों के सिद्धान्त' के सर्वथा प्रतिकूल है। अमेरिकन सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १६२३ में German Settlers Case में स्वीकार करते हुए जर्मन प्रदेश के पोलैण्ड में चले जाने पर, वहाँ के व्यक्तियों के पोल नागरिक बन जाने पर भी उनके पुराने जर्मन अधिकारों को उन्हें प्रदान किया था। किन्तु भारत के विभाजन के बाद भारतीय न्यायालयों ने प्रिवी कौन्सिल के उपयुक्त निर्णयों का अनुसरण करते हुए यह माना है कि देशी राज्यों के साथ हुए समझौते राज्य-कृत्य हैं और इनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवाद भारतीय न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। सुप्रीमकोर्ट ने १६५१ में State of Seraikella *V.* Union of India (A I R, 1951 58 253) में इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया था। किन्तु अन्य मामलों में यह स्थिति स्वीकार की थी कि यदि नया राज्य इन अधिकारों को देता या स्वीकार करता है तो इन्हें लागू (Enforce) किया जा सकता है। निम्न उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सरदार मिहर्नसिंह ब० एस० डी० ओ० (नहर) के मामले में नाभा राज्य ने प्रार्थी के पिता को बिना कोई कर दिये, सदा के लिए एक निश्चित मात्रा में सिंचाई के लिए पानी लेने का अधिकार दिया था। १६४८ में नाभा पेप्सू (PEPSU, Patiala East Panjab States Union) के राज्य में मिल गया। १६५२ में प्रार्थी से आबियाना या सिंचाई कर (Waterrates) मांगा गया, किन्तु पहले चार वर्ष तक उससे कोई कर नहीं मांगा गया था। चूंकि पेप्सू के प्रशासन की सामान्य व्यवस्थाओं के अध्यादेश [General

---

१२. सेक्रेटरी आफ् स्टेट वि० सरदार रुस्तम खाँ ए आई आर (१६४१) पी० सी० ६४

Provisions (Administration) ordinance 2000 5-B. K.] ने उपर्युक्त वैयक्तिक कानून (रोजनामचा आदेश) को रद्द नहीं किया था, अतः पेप्सू हाईकोर्ट ने यह परिणाम निकाला कि प्रार्थी के अधिकार को नये शासन ने स्वीकार कर लिया है। न्यायालय की दृष्टि में ऐसी स्वीकृति कानून द्वारा स्पष्ट अथवा ध्वनित (Implied) समझौते से दी जा सकती है। D. D. Cement Company *V.* I. T. Commissioner के मामले में भी सुप्रीमकोर्ट ने इस प्रश्न पर विचार किया था। इसमें जीन्द के राजा ने अप्रैल १९३८ को एक व्यक्ति के साथ अपने राज्य में सीमेण्ट का कारखाना बनाने के लिए एक समझौता किया, इसमें उसे कुछ रियायतें तथा आयकर छूट प्रदान की। २७ मई १९३८ को इस समझौते के अनुसार एक कम्पनी बनी तथा उसे सब रियायतें दी गईं। ५ मई १९४८ को जीन्द पेप्सू के राज्य में सम्मिलित हुआ। २४ नव० १९४९ को पेप्सू के राजप्रमुख ने भारत के संविधान को स्वीकार करने की घोषणा की, १३ अप्रैल १९५० को पेप्सू ने भारत की केन्द्रीय सरकार के साथ वित्तीय एकता की योजना स्वीकार की तथा यहाँ भारत सरकार के कर के नियम लागू हुए। इस मामले में यह विचारणीय प्रश्न था कि प्रार्थियों पर १९४९–५० के वर्ष का आयकर पटियाला के कानून के अनुसार लगाया जाय अथवा १९३८ में जीन्द के राजा द्वारा किये गये समझौते की शर्तों के अनुसार लगाया जाय। प्रार्थियों की यह युक्ति थी कि १९३८ का समझौता एक विशेष समझौता था, जीन्द के पेप्सू में सम्मिलित होने पर उसे पेप्सू ने भी स्वीकार कर लिया, अतः पेप्सू का राजप्रमुख इसे रद्द करने वाला आदेश नहीं निकाल सकता था। किन्तु सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीश का यह कहना था कि यह समझौता राज्य-कृत्य (Covenant of State) है, यह स्वतन्त्र राज्यों के राजाओं द्वारा पास की गई एक ऐसी सन्धि थी, जिसके अनुसार उन्होंने अपने प्रदेश की प्रभुसत्ता एक नवीन राज्य के राजा को प्रदान की थी। "यह स्वतन्त्र राज्यों के बीच में तय होने वाला मामला था, इस विषय में उत्पन्न होने वाला कोई भी विवाद भारत के राष्ट्रीय (municipal) न्यायालयों द्वारा नहीं, अपितु राजनयिक कार्यवाही (Diplomatic action) द्वारा तय होना चाहिए, इससे यदि तय न हो तो इसका समाधान शक्ति द्वारा किया जाना चाहिए।"

१९६३ में सुप्रीमकोर्ट ने Promod Chandra Dev. *V.* The State of Orissa में इस विषय में पिछले सभी मामलों के निर्णयों पर विचार करते हुए निम्नलिखित परिणाम निकाले—

(१) राज्य-कृत्य (Act of State) का अभिप्राय यह है कि एक ऐसे प्रदेश पर प्रभुसत्ता के अधिकार ग्रहण किये जायं, तो अब तक इसका अंग नहीं था। ये अधिकार विजय, संधि अथवा किसी अन्य प्रकार से प्राप्त हो सकते हैं। ये कार्य किसी विशेष तिथि को सार्वजनिक घोषणा द्वारा किया जाता है। (२) प्रभुसत्ता के पूर्ण अधिकार ग्रहण करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया में कई वर्ष का भी समय लग सकता है। (३) राज्य-कृत्य के अधिकार का मूल कोई राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) नहीं होता, अपितु यह कानून से ऊपर उठे हुए साधनों (Ultra-legal and supra-legal means) से सम्पन्न किया जाता है, अतः राष्ट्रीय न्यायालयों को इस बात का कोई भी अधिकार नहीं है कि वे राज्य-

कृत्य के क्षेत्र में आने वाले किसी कार्य की वैधता या औचित्य की जांच करें। यह बात निजी (Private) अधिकारों तथा सार्वजनिक अधिकारों (Public rights) के दोनों क्षेत्रों में लागू होती है, इन में राष्ट्रीय न्यायालयों को जाँच करने, इन पर निर्णय देने तथा अपने निर्णयों को लागू करने का अधिकार नहीं है। (४) नई प्रभुशक्ति द्वारा स्वीकार किये जाने वाले राष्ट्रीय न्यायालयों को केवल ऐसे अधिकारों के बारे में जाँच निर्णय करने का अधिकार है, जिन्हें नई प्रभुशक्ति द्वारा, समझौते द्वारा अथवा किसी अन्य विधि से स्वीकार करना मान लिया हो। (५) नई प्रभुशक्ति ने किसी अधिकार को स्वीकार किया है या नहीं, इसे सिद्ध करने का दायित्व उस व्यक्ति पर है, जो इस अधिकार की मांग कर रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रिवी कौन्सिल में तथा भारत के सुप्रीम कोर्ट ने राज्य उत्तराधिकार के बाद निजी व्यक्तियों के अधिकारों के स्वतः बने रहने (automatic continuance) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, वे उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करते हैं, जिन्हें स्पष्ट या अस्पष्ट (Implied) रूप मे नये शासक ने स्वीकार किया हो। इसे सिद्ध करने का दायित्व भी इस अधिकार की माँग करनेवाले व्यक्ति पर है।

तीसरी समस्या भारत के विभाजन तथा रियासतों के भारत में विलय होने पर **अनुबन्धीय उत्तरदायित्व** (Contractual liability) की थी। इसके भी कई रोचक मामले भारतीय न्यायालयों के सामने आये हैं[13] इनमें एक मामला Gwalior R. S. W. Co. *V.* Union of India का था। ग्वालियर के महराजा ने १९४७ में ग्वालियर राज्य में बिड़ला बन्धुओं द्वारा स्थापित किये जाने वाले कुछ कारखानों तथा उद्योगों के लिए १२ वर्ष तक आयकर से छूट दी थी। १९४८ में ग्वालियर का मध्यभारत में विलय हुआ। १९५०–५१ में पहले मध्यभारत की तथा बाद में केन्द्र की सरकार द्वारा बिड़ला कम्पनी से आयकर की मांग की गई। कम्पनी ने महाराजा के १९४९ के आदेश के आधार पर इस कर से मुक्ति की मांग की। हाईकोर्ट का यह कहना था कि धारा २९५ (i) (b) के अनुसार मध्यभारत के सब दायित्व केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हुए, भारतीय आयकर कानून ने प्रार्थी को महाराजा द्वारा दी गई विशेष रियायतों को किसी कानून से रद्द नहीं किया, अतः कम्पनी को कर से छूट पाने का दावा ठीक और सुप्रतिष्ठित है।

चौथी समस्या संधियों की है। भारत का विभाजन होने पर सं० रा० संघ के सचिवालय ने भारत को पुराने ब्रिटिश भारत का उत्तराधिकारी माना था। अतः यह ब्रिटिश भारत की और ब्रिटिश सम्राट् (Crown) द्वारा विदेशी राज्यों के साथ की गई संधियों से बँधा हुआ था। पाकिस्तान नया राज्य होने के कारण कानूनी दृष्टि से इन संधियों के पालन के दायित्व से बच सकता था। किन्तु इसका प्रतिकार १९४८ में भारतीय स्वतन्त्रता कानून (अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था) आदेश (Indian Independence [International Agreements] Order) द्वारा किया गया। इससे संधियों के

---

13. Union of India *V.* Champa Lal Looma & Co., AIR (1957) S.C. 652; Panna Lal Mukherji *V.* Union of India AIR (1957) Col. 156.

अधिकारों तथा दायित्वों के बारे में समुचित व्यवस्था की गई। इस विषय में न्यायालयों के सामने कोई मामला नहीं आया । देशी राजाओं के साथ की गई तथा ब्रिटेन द्वारा की गई संधियों के बारे में भारतीय कानून में यह कहा गया था कि इस कानून के लागू होते ही वे समाप्त हो जायेंगी। ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के मध्य अपराधियों को सौंपने के लिए की गई प्रत्यर्पण संधियाँ (Extradition Treaties) भी इन राज्यों के भारतीय संघ में तथा आस-पास के राज्यों में विलय होते ही समाप्त हो गईं। इस विषय में सुप्रीम कोर्ट ने Ram Babu Saxena *V.* State के मामले में विस्तृत विचार किया था (देखिये, प्रथम परिशिष्ट)। इसमें संयुक्त प्रान्त में गिरफ्तार होने वाले एक व्यक्ति राम बाबू ने १८६९ में राजस्थान की टोंक रियासत द्वारा तत्कालीन भारत सरकार के साथ की गई संधि (Anglo-Tonk Extradition Treaty) के आधार पर अपनी उन्मुक्ति (Immunity) का दावा करते हुए यह कहा था कि यह संधि भारत द्वारा देशी राज्यों के साथ की गई यथापूर्व समझौतों (Standstill Agreements) के कारण अभी तक जीवित है। किन्तु सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश श्री आर० के० मुकर्जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि जब कोई राज्य दूसरे राज्य का अंग बनकर या उसमें विलीन होकर अपना जीवन समाप्त कर देता है तो विलीन होने वाले राज्य के साथ की गई सब संधियाँ समाप्त हो जाती हैं, जैसे हनोवर के प्रशिया राज्य में बलपूर्वक मिलाये जाने के बाद उसके साथ की गई सब संधियों का अन्त हो गया, टैक्सास के सं० रा० अमेरिका में सम्मिलित होने पर उसकी पिछली संधियाँ समाप्त हो गईं। टोंक के राजस्थान में मिलने की परिस्थितियों में कुछ भेद होते हुए भी १८६९ की प्रत्यर्पण संधि परिवर्तित परिस्थितियों में बिल्कुल लागू नहीं की जा सकती है।

पाँचवीं समस्या पुराने कानूनों तथा कानूनी पद्धति की मान्यता की थी। इस विषय में विद्यमान परिषदों और न्यायालयों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस सुप्रसिद्ध नियम का पालन किया है कि पुराने राज्य के कानून नये उत्तराधिकारी राज्य में उस समय तक चलते रहते हैं जब तक इनमें कोई परिवर्तन न किया जाय। जब कई राज्य आपस में मिलकर एक संघ बनाते हैं, उस समय भी नये राज्य के विभिन्न प्रदेशों में इनके पुराने राज्यों के कानून नया परिवर्तन किये जाने तक पूर्ववत् चलते रहते हैं।[१४]

छठी समस्या सिविल सर्विस तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं (Public Services) की थी। भारतीय सिविल सर्विस ब्रिटिश शासन में एक विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग था और इसकी विशेषता यह थी कि यह ग्रेट ब्रिटेन के मन्त्रीमंडल के एक सदस्य भारतमन्त्री के सीधे संरक्षण में थी। इस विषय में सुप्रीम कोर्ट ने State of Madras *v.* Rajgopalan के मामले में यह निर्णय दिया था कि भारतीय स्वतन्त्रता कानून द्वारा एक पूर्ण रूप से स्वाधीन और प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का जन्म हुआ, इस विषय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर इस नये राज्य के उत्पन्न होने से

१४. इस विषय के भारतीय मामलों के लिये देखिये एस. के. अग्रवाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७३–८५।

पिछली सरकार के तथा इसके सेवकों के बीच में हुए सेवासम्बन्धी अनुबन्ध स्वतः समाप्त हो गये हैं। इस मामले में मद्रास सरकार ने इंडियन सिविल सर्विस के एक पुराने कर्मचारी राजगोपालन को १५ अगस्त १९४७ के बाद अपनी सेवा में रखने से इन्कार किया था (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। किन्तु भारतीय स्वतन्त्रता कानून (१९४७) में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि नई सरकार भारतमन्त्री द्वारा नियुक्त किये गये सिविल सर्विस के कर्मचारियों को अपनी सेवा में रखती है तो वे अपनी सेवा की पुरानी शर्तों तथा सुविधाओं का उपभोग करेंगे। एन० बख्शी ब० ए० जी० बिहार (N. Bakshi *V.* A. G. Bihar) के मामले में इस नियम का पालन किया गया। श्री बख्शी सिविल सर्विस के पुराने कर्मचारी थे, नई सरकार में उन्हें कार्य करने की अनुमति दी गई। सिविल सर्विस के कर्मचारियों के बीबी-बच्चों को १९२४ के पुराने नियमों के अनुसार इंगलैण्ड जाने का मार्गव्यय और भत्ता मिलता था। १९४७ के बाद जब बख्शी ने इसकी मांग की तो बिहार सरकार के महालेखा परीक्षक (Accountant General) ने पुराने नियमों के आधार पर मार्ग व्यय को देने से इन्कार किया। पटना हाईकोर्ट ने इस पर विचार करते हुए यह निर्णय दिया कि भारतीय स्वतन्त्रता कानून में इस विषय में पुराने नियमों और भत्तों को सुरक्षित बनाये रखने की गारण्टी दी गई है, अतः प्रार्थी अपनी पत्नी और बच्चों के इंगलैण्ड ले जाने का मार्गव्यय पाने का अधिकारी है। इसी प्रकार आसाम हाईकोर्ट ने एक अन्य मामले में (Hiranmaya *V.* State of Assam A. I. R. 1954 Assam 224) यह निर्णय दिया था कि सेवाओं के बारे में दी गई गारण्टी किसी विशेष स्थान के बारे में नहीं, अपितु पद के विषय में लागू होती है। इस मामले में विभाजन से पहले हिरण्यमय नामक व्यक्ति आसाम की शिक्षा सेवा (Assam Education Service) में सिलहट में एक कालिज में लेक्चरर के पद पर कार्य कर रहा था। विभाजन के बाद सिलहट पाकिस्तान में चला गया और आसाम सरकार ने भारत में सेवा करने के बारे में उसकी सहमति प्राप्त करने के बाद भी उसे सेवामुक्त कर दिया। हिरण्यमय ने India (Provisional Constitution) Order 1947 के आधार पर अदालत से इस विषय में अपनी नौकरी को बनाये रखने के अधिकार की मांग की। आसाम सरकार का यह कहना था कि सिलहट के पाकिस्तान में चले जाने के कारण सरकार के पास वादी को नौकरी पर रखने का कोई पद नहीं रहा है। आसाम हाईकोर्ट ने इस प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए कहा कि वादी की नियुक्ति सिलहट स्थान पर नहीं, किन्तु आसाम की शिक्षा-सेवा में लेक्चरर के पद पर हुई थी। यह पद उसे आसाम के वर्तमान प्रदेश के किसी कालिज में दिया जाना चाहिए, सिलहट के आसाम में चले जाने से वहाँ कार्य करने वाले व्यक्ति को आसाम सरकार अपने पद से वंचित नहीं कर सकती है। आसाम हाईकोर्ट ने प्रार्थी के इस दावे को स्वीकार किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून नये शासक को इस बात के लिए बाधित नहीं कर सकता है कि नया शासक सेवा करने वाले पुराने व्यक्तियों को सेवा की पुरानी शर्तें और अधिकार प्रदान करे। नया शासक जिन पुराने सेवकों की सेवायें समाप्त कर देता है, उनको मुआवजा देने की कोई व्यवस्था नहीं है। सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता लौटरपाक्ट

(Lauterpacht) का यह मत है कि यद्यपि नये राज्यों को पुराने सेवकों की सेवायें समाप्त करने का अधिकार है, फिर भी प्राप्त अधिकारों के सिद्धान्त (Doctrine of acquired rights) के आधार पर ऐसे व्यक्तियों को मुआवजा पाने का अधिकार है। भारत, बर्मा और सीलोन में राज्य परिवर्तन होने पर पदच्युत किये जाने वाले राजकीय सेवकों को मुआवजा दिया गया था। राजगोपालन वाले उपर्युक्त मामले में सुप्रीम कोर्ट के नियमों (Statutes) की दृष्टि से ही विचार किया था, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से नहीं।[15] इस विषय में लौटरपाख्ट का उपर्युक्त मत सही प्रतीत होता है। किन्तु भारतीय न्यायालयों ने इस विषय में सुनिश्चित सम्मति नहीं दी थी।

१५. एस. के. अग्रवाल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८६

नवाँ अध्याय

राज्य का प्रदेश

(Territory of the State)

प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty)—राज्य की एक मुख्य विशेषता उसके पास प्रदेश का होना है, इसमें उसका कानून लागू होता है तथा उसे सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है। यही प्रादेशिक प्रभुसत्ता है। इसका यह अर्थ है कि राज्य के प्रदेश में विद्यमान व्यक्तियों पर तथा सम्पत्ति पर केवल मात्र उसी राज्य की प्रभुसत्ता है, किसी अन्य राज्य को इस प्रदेश में कोई अधिकार नहीं है। यह विचार दीवानी कानून के वैयक्तिक सम्पत्ति पर स्वामित्व की कल्पना से ग्रहण किया गया है। मैक्स ह्यूबर ने Island of Palmas Arbitration के मामले में प्रादेशिक प्रभुसत्ता का लक्षण करते हुए कहा था—"राज्यों के सम्बन्ध में प्रभुसत्ता का अर्थ स्वतन्त्रता है। भूमण्डल के एक भाग में स्वतन्त्रता का आशय यह है कि यहाँ केवल मात्र एक राज्य को राज्य सम्बन्धी कार्य करने का अधिकार है।" 'एक जंगल में एक शेर' की लोकोक्ति के अनुसार 'एक प्रदेश में एक राज्य की प्रभुसत्ता' होती है।

प्राय: यह कहा जाता है कि प्रादेशिक प्रभुसत्ता अविभाज्य (Indivisible) होती है, किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता है। सहराज्यों (Condominium) में यह सत्ता दो राज्यों में बँटी होती है। पट्टे पर दिये प्रदेशों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। चीन ने रूस, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन को अपने कई प्रदेश पिछली शताब्दी के अन्त में पट्टे पर दिये थे। १९४० में पचास पुराने विध्वंसक पोतों के बदले ग्रेट ब्रिटेन ने सं० रा० अमरीका को अपने अनेक सैनिक और असैनिक अड्डे ९९ वर्ष के पट्टे पर प्रदान किये थे। ऐसे प्रदेशों में दोनों राज्यों की प्रभुसत्ता होती है। कई बार यह सत्ता अनेक राष्ट्रों से बने संगठन के पास न्यास (Trust) या अमानत के रूप में होती है, जैसे १९३५ तक सार का प्रशासन राष्ट्रसंघ के पास था। फिर भी स्थूल रूप से सब राज्यों की अपने प्रदेशों में पूर्ण प्रभुसत्ता होती है।

राज्य की सीमा (Boundaries of a State)—राज्य द्वारा उपभोग की जाने वाली प्रादेशिक प्रभुसत्ता राज्य की सीमाओं से मर्यादित होती है, राज्य इन्हीं के भीतर अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग कर सकता है। राज्य की ये सीमायें दो प्रकार की होती हैं—

(क) प्राकृतिक सीमायें (Natural Boundaries)—इनका निर्माण नदियों, पर्वतों, झीलों, मरुस्थलों, समुद्रतटों से होता है। भारत तथा पाकिस्तान की पंजाब की सीमा का कुछ भाग रावी नदी है, भारत और चीन की सीमा हिमालय की उच्च पर्वत-

माला है। प्राकृतिक सीमा का एक दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि यह प्रकृति द्वारा निर्धारित वह सीमा है, जहाँ तक राज्य सुरक्षा की दृष्टि से अपने प्रदेश का विस्तार करना आवश्यक समझता हैं। मार्शल फोश का कहना था कि फ्रांस का प्राकृतिक सीमान्त राइन नदी है, उसकी राजनीतिक सीमा इस नदी तक होनी चाहिए। श्री विन्सेण्ट स्मिथ ने हिन्दूकुश पर्वत को भारत का उत्तर-पश्चिमी वैज्ञानिक सीमान्त कहा है।

(ख) कृत्रिम (Artificial) सीमायें दो देशों को विभक्त करने वाली काल्पनिक रेखायें होती हैं। प्रायः दीवारों, स्तम्भों, डण्डों आदि से इनका सीमांकन (Demarcation) किया जाता है, कई बार अक्षांश रेखाओं (Latitudes) से इनका निर्धारण होता है, जैसे उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सीमा ३८वीं उत्तरी अक्षांश रेखा है। संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा की सीमा १६वीं उत्तरी अक्षांश रेखा है।

देशों की सीमा-निर्धारण का प्रश्न बड़ा जटिल है। इससे प्रायः अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में अलास्का की सीमा के सम्बन्ध में १६०४ में विवाद हुआ था। अगस्त, १६५६ से भारत-चीन सीमा विवाद ने गम्भीर रूप धारण किया, २० अक्टूबर, १६६२ को इसी कारण चीन ने भारत पर आक्रमण किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सीमा-विवाद का निर्णय करने के लिए अनेक सीमा आयोग बनाये गये। भारत-पाकिस्तान की सीमा का निर्धारण यद्यपि १६४७ में रैडक्लिफ निर्णय द्वारा किया गया, फिर भी १२ वर्ष तक कुछ प्रदेशों के सम्बन्ध में विवाद चलते रहे और इनका निर्णय अक्टूबर, १६५६ में हुआ।

इन विवादों का एक बड़ा कारण प्राकृतिक सीमाओं के निर्धारण में उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइयाँ हैं। जलीय सीमाओं में **नदियों का सीमा-निर्धारण** बड़ा पेचीदा प्रश्न है। सीमावर्ती नदियों के सम्बन्ध में यह समस्या है कि इनमें किस रेखा को सीमा माना जाय और इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन किस प्रकार किया जाय। नौचालन की योग्यता न रखने वाली नदियों के सम्बन्ध में विशेष संधियों के अभाव में सामान्य सिद्धान्त यह है कि सीमान्त रेखा नदी की मुख्य धारा के बीच में से होकर गुजरती है, नदी के दोनों किनारों के सब मोड़ों और घुमावों के साथ यह घूमती जाती है। यह **मध्यरेखा** (Median line) कहलाती है और इसे १६१६–२० की शांति-संधियों द्वारा स्वीकार किया गया था। नौचालन योग्य (Navigable) नदियों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि इनमें सीमान्त रेखा सबसे गहरी नौचालन योग्य प्रणाली (Channel) की मध्य-रेखा (Median line) में से होकर गुजरती है, इसे Thalweg कहा जाता है। १६१६–२० की शांति-संधियों में इसे स्वीकार किया गया था। कई बार संधियों द्वारा नदी के किनारों को ही सीमान्त बना दिया जाता है। इसमें नदी की समूची धारा (Bed) दूसरे राज्य का भाग माना जाता है।

पर्वतों के सम्बन्ध में प्रायः जलविभाजक पहाड़ों की शिखर-श्रेणी को सीमान्त रेखा माना जाता है। १६१४ के शिमला सम्मेलन में भारत और तिब्बत की सीमा निर्धारित करते हुए मैकमेहोन रेखा (McMahon line) में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया था। झीलों तथा देश की भूमि से घिरे समुद्र की सीमान्त रेखा का निर्धारण

करते हुए इनकी गहराई, नौचालन के लिए उपयोग, इसकी बनावट और संरूपण (Configuration) का ध्यान रखा जाता है। सामान्यतः यहाँ भी सीमांत रेखा मध्यरेखा (Median line) का अनुसरण करती है। सीमा सम्बन्धी इन सामान्य सिद्धान्तों के संक्षिप्त परिचय के बाद अब अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रकार के प्रदेशों पर विचार किया जायगा।

नदियाँ (Rivers)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इनके दो भेद किये जाते हैं—**(क) राष्ट्रीय नदियाँ** (National rivers)—ये अपने मूल उद्गमस्रोत से मुहाने तक एक ही राष्ट्र के प्रदेश में से होकर गुजरती हैं। हिमालय में गंगोतरी से निकल कर कलकत्ता के पास समुद्र में गिरने वाली गंगा भारत की राष्ट्रीय नदी है। राष्ट्रीय नदियों पर उस राष्ट्र की पूरी प्रादेशिक प्रभुसत्ता होती है, जिस प्रदेश में से होकर ये नदियाँ गुजरती हैं। इन नदियों में किसी अन्य राज्य को नौचालन आदि के कोई अधिकार नहीं प्राप्त होते।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ (International Rivers)—जब कोई नदी कई राज्यों के प्रदेश में से होकर गुजरती है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय नदी कहलाती है। पंजाब की सतलुज, व्यास, रावी, चनाब, जेहलम इस प्रकार की नदियाँ हैं। इनका उद्गम हिमालय की पर्वतमाला में है। ये कुछ दूर तक भारतीय प्रदेश में बहने के बाद पाकिस्तान में चली जाती हैं। इनसे निकली नहरों के पानी के सम्बन्ध में दोनों देशों के निर्माण के बाद से १९६० तक निरन्तर विवाद चलता रहा। योरोप में कई राज्यों में से होकर गुजरने वाली राइन, डैन्यूब, आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ हैं।

प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रदेश में से होकर गुजरने वाले नदी के भाग पर पूरा अधिकार रखता है, किन्तु इनमें अन्य राज्यों द्वारा नौचालन (Navigation) के अधिकार के सम्बन्ध में बड़ा विवाद रहा है। क्या यह सब राज्यों को समान रूप से है या केवल नदी-तटवर्ती (Riparian) राज्यों को है? ग्रोशियस का यह मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में गुजरने का अधिकार (Right of passage) सब राज्यों को है, किन्तु यह विचार व्यवहार में सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया गया और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत (Customary) सिद्धान्त के रूप में भी मान्य नहीं हुआ। नौचालन की स्वतन्त्रता स्वीकार करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री इस अधिकार की व्याख्या कई प्रकार से करते हैं। इनमें तीन पक्ष हैं—(क) कुछ लेखक नदी में गुजरने का अधिकार केवल शान्तिकाल में ही मानते हैं। (ख) अन्य लेखकों का यह मत है कि यह अधिकार केवल उन्हीं राज्यों को है, जिन के प्रदेशों में होकर नदी गुजरती है। (ग) तीसरे पक्ष का यह मत है कि गुजरने के अधिकार पर किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं होनी चाहिए, किन्तु प्रत्येक राज्य को अपनी सीमाओं में नदी के उपयोग के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार है। स्टार्क के मतानुसार इनमें दूसरा पक्ष अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि नदी के उपरले भाग वाले राज्यों को समुद्र तक पहुँचने की सुविधा दिया जाना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।[1]

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्सन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १७४

योरोप में **अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता** अनेक संधियों का परिणाम है। इनका आरम्भ १८१४ की पेरिस की संधि से तथा १८१५ की वियना कांग्रेस से हुआ। १९१९–२० की संधियों में तथा राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में किये गये समझौतों में इन्हें संपुष्ट किया गया। इनके अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक योरोप की बड़ी नदी-पद्धतियों के सम्बन्धों में कुछ प्रतिबन्धों के साथ नौचालन की स्वतन्त्रता सब राज्यों को प्राप्त हो गई थी। अन्य महाद्वीपों की बड़ी नदियों में नौचालन के बारे में इसी प्रकार के प्रादेशिक समझौते हुए।

अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में किसी बड़ी नदी में नौचालन के अधिकार का एक सुन्दर उदाहरण **डैन्यूब** नदी है। १७२५ मील लम्बी यह नदी जर्मनी से निकलकर आस्ट्रिया, हंगरी होते हुए यूगोस्लाविया में प्रवेश से पहले रूमानिया-बल्गारिया की सीमा बनाती है और फिर रूमानिया होते हुए कृष्णसागर में प्रवेश करती है। १८५६ में पेरिस की घोषणा द्वारा इसमें सब देशों के लिए स्वतन्त्र नौचालन (Free Navigation) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और इसे एक योरोपियन कमीशन के निरीक्षण में रखा गया। इस कमीशन के सदस्य दोनों प्रकार के राज्य थे—नदीतटवर्ती (Riparian) तथा नदी-तट से न लगने वाले राज्य (Non-Riparian)। इस कमीशन को डैन्यूब के निचले हिस्से में नौचालन प्रशासन के व्यापक अधिकार थे। १९१९ की **वर्साइ संधि** ने इस नदी का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया। १९२१ के एक डैन्यूब समझौते द्वारा उपर्युक्त कमीशन के अधिकारों को संपुष्ट किया गया और डैन्यूब के उपरले और निचले भागों में नौचालन की व्यवस्था के लिए दो कमीशन बनाये गए। यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक बनी रही। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९४७ में पेरिस की शांति परिषद् में बल्गारिया, हंगरी और रूमानिया के साथ की गई संधियों में एक धारा यह भी जोड़ी गई कि डैन्यूब नदी पर सब देशों को समान रूप से नौचालन की स्वतन्त्रता होगी। १९४८ में इस विषय में एक नया समझौता तैयार करने के लिए बेलग्रेड में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका के प्रतिनिधियों की इच्छा के विरुद्ध बहुमत से यह निर्णय किया कि डैन्यूब नदी के कमीशन के सदस्य केवल इसके नदीतट से सम्बन्ध रखने वाले राज्य हों। उपर्युक्त तीनों देशों ने इसे इस आधार पर अवैध कहा कि इससे अनदीतटवर्ती राज्यों (Non-Riparian States) के पहली संधियों से प्राप्त अधिकार उनसे छिन जाते हैं। इस सम्मेलन द्वारा तय किये गये समझौते की पहली धारा के अनुसार डैन्यूब नदी में नौचालन की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई है, किन्तु इसमें १९२१ के समझौते की पहली धारा का यह अंश निकाल दिया गया कि नदीतटवर्ती तथा अनदीतटवर्ती राज्यों के साथ व्यवहार में कोई अन्तर न हो।[२]

२. **ब्रिटिश यीअर बुक आफ इण्टरनेशनल लॉ, १४८, पृ० ३९८-४०४। १५ मई, १९५५ को आस्ट्रिया पर युद्धकालीन सैनिक अधिकार समाप्त करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, फ्रांस, रूस तथा आस्ट्रिया में जो संधि हुई है, उसकी धारा ३१ में डैन्यूब में नौचालन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।**

१६१६–२० की शांति-संधियों में योरोप की अन्य नदियों का भी अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया गया, राष्ट्रसंघ के पारगमन तथा संचार संगठन (Transit and Communication Organisation) ने सब नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता के संबंध में अभिसमय (Conventions) कराने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के दो समझौते १६२१ में **बार्सीलोना** में स्वीकार किये गये। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौचालन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और विभिन्न राज्यों में से होकर माल की ढुलाई की स्वतन्त्रता प्रदान करने के सम्बन्ध में नियम बनाये गये। १६२० में राष्ट्रसंघ के इस विषय में हुए समझौतों के आधार पर नदियों के कानून के एकीकरण का प्रयास किया। २२ जुलाई, १६५६ को एशियाई नदियों के नौचालन में सुविधायें प्रदान करने वाले **बैंकाक अभिसमय** को स्वीकार किया गया। ८ दिसम्बर १६७० को सं० रा० संघ की महासभा द्वारा पास किये गये एक प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्गों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को सौंपा गया है।

किन्तु इन सब संधियों और समझौतों के होते हुए भी स्टार्क की सम्मति में अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में गुजरने के सामान्य अधिकार का नियम स्थापित नहीं हुआ, यह अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए कल्पनालोक का आदर्श (Too utopian an ideal for international law) बना हुआ है।[3] फिर भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि नदीतटवर्ती राज्यों को नौचालन के सम्बन्ध में मनमाने और अत्यधिक चुंगी लगाने वाले कानून नहीं बनाने चाहियें, अनदीतटवर्ती राज्यों के साथ भेद-भाव का बर्ताव नहीं होना चाहिए।

नदी-जल के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावट डालने और हानिप्रद उपयोग के संबंध में अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई निश्चित नियम नहीं बने। इस विषय में सामान्य सिद्धान्त केवल यही कहा जा सकता है कि किसी नदीतटवर्ती राज्य को नदी के पानी का ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे अन्य राज्यों के नौचालन को क्षति या कोई हानि पहुँचे। इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १६३७ में Diversion of Water from the Meuse case में 'समान बंटवारे' (Equitable apportionment) का सिद्धान्त लागू किया था। पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstruction and Development) ने भारत और पाकिस्तान के बीच १६४८ से चले आने वाले नहरी पानी विवाद में इसी सिद्धान्त को १६५२ तथा १६५४ में लागू करके इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया। पाकिस्तान का यह कहना था कि सिन्ध तथा पंजाब की पांचों नदियों के ऊपरी हिस्से भारत में हैं, वह अपने हिस्से में सतलुज पर भाखड़ा-नांगल जैसे बांध बनाकर पाकिस्तान की बाढ़-नियंत्रण की, सिंचाई तथा पनबिजली के विकास की योजनाओं में बड़ी बाधा डाल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का इस विषय में यह सुझाव था कि दोनों देशों में नदियों का बँटवारा कर दिया जाय; पश्चिम की तीन नदियों—सिन्ध, जेहलम, और चनाब का पूरा पानी

३. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६

पाकिस्तान ले तथा पूर्व की तीन नदियों—रावी, व्यास और सतलुज का पानी भारत को मिले। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए पाकिस्तान को नई योजक नहरें (Link Canals) बनानी पड़ेंगी, वह इस व्यय की बहुत बड़ी राशि भारत से लेना चाहता है। इस प्रश्न का समाधान सिन्धु जल-संधि (Indus Water Treaty) द्वारा किया गया है। इस पर १९ दिसम्बर, १९६० को हस्ताक्षर हुए तथा १२ फरवरी, १९६१ को दोनों देशों ने इसका अनुसमर्थन (Ratification) किया। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।[४]

सिन्धु जलसंधि (Indus Waters Treaty)—सिंधु नदी पंजाब की पाँच सहायक नदियों—जेहलम, चनाब, रावी, व्यास, सतलुज के साथ मिलकर संसार की एक महान् नदी-पद्धति का तथा सिन्धु के मैदान का निर्माण करती है। इनमें प्रतिवर्ष नील नदी से दुगना, दजला और फरात के सम्मिलित जल से तीन गुना पानी बहता है। ये सभी नदियाँ हिमालय की उच्च पर्वतमालाओं से निकलती हैं और इन नदियों से निकाली गई नहरों से ३ करोड़ वर्गमील भूमि की सिंचाई होती है। यह विश्व में सिंचाई की सबसे बड़ी व्यवस्था है। १९४७ से पहले ब्रिटिश युग में इन नदियों के पानी के बँटवारे के प्रश्न पर सिन्ध और पंजाब के प्रान्तों में काफी विवाद था। १९४७ में भारत का विभाजन होने पर सिन्ध का मैदान तथा यह नहर पद्धति दो हिस्सों में बँट गई और इन नदियों के पानी के बारे में दोनों देशों में जटिल एवं उग्र विवाद उत्पन्न हो गये। पाकिस्तान इन नदियों के निचले हिस्से में था और भारत उपरले हिस्से में। पाकिस्तान के प्रदेश की सिंचाई करने वाली नहरों के उद्गम-स्थान (Headworks) भारत में थे। इन नदियों के पानी के बँटवारे ने उग्र अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का रूप धारण कर लिया।

१९५१ में निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक ने पाकिस्तान और भारत को इस समस्या के समाधान में बैंक की सहायता का सुझाव दिया। जब दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया तो बैंक की ओर से जनरल व्हीलर को इस विवाद के मुख्य प्रश्न-नदियों के पानी के बँटवारे का कार्य सौंपा गया। व्हीलर ने इस विषय में निम्न प्रस्ताव रखे—(१) तीन पूर्वी नदियों—रावी, व्यास और सतलुज का पानी भारत के उपयोग के लिए रहना चाहिए। (२) सिन्धु, जेहलम, चनाब का पानी पाकिस्तान के उपयोग में आना चाहिए। (३) एक ऐसा संक्रमण-काल (Transition period) होना चाहिए, जिसमें, पाकिस्तान पूर्वी नदियों से लिये जाने वाले पानी से होने वाली सिंचाई के बदले पश्चिमी नदियों से नई योजक नहरें (Link Canals) बनाये। (४) भारत इन नई योजक नहरों के निर्माण का व्यय पाकिस्तान को दे। पाकिस्तान इन प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं था, भारत नई योजक नहरों के निर्माण का पूरा व्यय देने का सामर्थ्य नहीं रखता था। चार वर्ष तक दोनों देशों में विश्वबैंक समझौता कराने का प्रयत्न

४. इस संधि के मूल रूप के लिए देखिये अमेरिकन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५ १९३१, पृ० ७९७–८२२; कीसिंग्स आर्काइव्स, १९६०, पृ० १७६५५.

करता रहा और आस्ट्रेलिया, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, न्यूज़ीलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका तथा विश्व बैंक इस कार्य में आर्थिक सहायता एवं सहयोग देने को तैयार हो गये ? इसके लिए Indus Basin Development Fund Agreement किया गया। अगस्त, १६५६ तक सिन्धु-जलसंधि की सब शर्तों पर दोनों पक्षों की सहमति हो गई। ये शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) पूर्वी नदियों—रावी, व्यास और सतलुज का पानी कुछ अपवादों के साथ भारत को मिले। सबसे बड़ा अपवाद यह है कि संक्रमण काल में जब तक पाकिस्तान पश्चिमी नदियों से पानी लेने के लिए अपनी नई योजक नहरें नहीं बना लेता तब तक भारत उसे इस के एक परिशिष्ट में निर्धारित की गई मात्रा में पानी देता रहेगा। संक्रमण-काल (Transition period) दस वर्ष का होगा, किन्तु इसे अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है।

(२) (क) तीन पश्चिमी नदियों—सिन्ध, जेहलम तथा चनाब के पानी का उपयोग पाकिस्तान करेगा। भारत इन नदियों के जल के पाकिस्तान द्वारा उपयोग में बाधा नहीं डालेगा। किन्तु इस संधि की शर्तों के अनुसार उसे पाकिस्तान की सीमा से ऊपर नदियों के पानी से बिजली बनाने तथा सिंचाई करने का पूरा अधिकार होगा। वह इन नदियों से जम्मू, काश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश में बाढ़-नियंत्रण के ऐसे उपाय कर सकेगा, जिनका पाकिस्तान पर बुरा प्रभाव न पड़े। (ख) इन नदियों के जल का उपयोग विद्युत् के उत्पादन-कार्य में कर सकेगा। (ग) २८,५०,००० एकड़ फुट के पानी का संग्रह विभिन्न कार्यों के लिए कर सकेगा।

(३) पाकिस्तान दस वर्ष के भीतर पश्चिमी नदियों से पानी लेने वाली नई योजक नहरों का निर्माण करेगा, ताकि उसे पूर्वी नदियों से पानी लेने की आवश्यकता न रहे और भारत इसका पूरा प्रयोग करे। इसके लिए पाकिस्तान को ४०० मील लम्बी नहरें तथा दो बड़े बाँध बनवाने पड़ेंगे। भारत इसके लिए दस समान किश्तों में ६ करोड़ २० लाख पौण्ड (१७ करोड़ ४० लाख डालर) देगा। यदि पाकिस्तान यह कार्य दस वर्ष में पूरा न कर सका तो ११वें वर्ष किश्त में ५ प्रतिशत की, १२वें वर्ष १० प्रतिशत की तथा १३वें वर्ष १६ प्रतिशत की कमी हो जायगी।

(४) सिंचाई की नई नहरों के तथा अन्य आवश्यक कार्यों के निर्माण के लिए ६० करोड़ डालर की **सिन्धु घाटी विकास निधि** (Indus Basin Development Fund) होगी। इसमें (क) ६४ करोड़ डालर सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रे-लिया, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी और न्यूज़ीलैण्ड देंगे। (ख) भारत १७ करोड़ ४० लाख डालर देगा। (ग) ८ करोड़ पाकिस्तान विश्व बैंक से ऋण लेकर देगा।

(५) इस संधि की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने के लिए दोनों सरकारों द्वारा नियत किये गये दो सदस्यों का आयोग होगा।

(६) इस संधि के विषय में उत्पन्न विवाद यदि आयोग के सदस्यों द्वारा हल न हो सकें तो इसके लिए एक तटस्थ विशेषज्ञ (Neutral Expert) नियुक्त करने तथा पंच न्यायालय (Court of Arbitration) नियत करने का भी इसमें निर्देश है।

इस सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय श्री नेहरू ने कराची में कहा था कि "यह दो पड़ोसी देशों के बीच में एकता और सहयोग का प्रतीक है।" अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के पानी के बँटवारे के विवाद के बारे में यह बड़ी महत्वपूर्ण सन्धि है।[५]

प्रादेशिक समुद्र[६] (Territorial Sea)—समुद्री सीमा वाले राज्यों के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह नियम है कि समुद्र में कुछ मील की दूरी तक का प्रदेश राज्य की सीमा में माना जाय। यहाँ उस राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial sovereignty) होती है। यही प्रदेश प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) या समुद्री मेखला (Marine belt) कहलाता है।

अनेक ऐतिहासिक तथा युक्तियुक्त विचारों के आधार पर समुद्री मेखला पर राज्य का प्रभुत्व माना जाता है। पहले अनेक समुद्री राज्यों ने यह दावा किया था कि उनके स्थलीय प्रदेश के साथ लगने वाले समूचे महासमुद्र (High sea) पर उनका अधिकार है, किन्तु इस विशाल सागर पर प्रभुता स्थापित करना उनके लिए सम्भव नहीं था। शनैः-शनैः यह अनुभव किया जाने लगा कि समुद्र पर उतनी ही दूर तक तटवर्ती राज्य की प्रभुता मानी जाय जहाँ तक उस राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाय अथवा जितनी दूर तक के प्रदेश में यह राज्य अपना अधिकार पूर्ण रूप से जमाने की सामर्थ्य रखता हो। समुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के साथ इस विचार का विकास हुआ और १८वीं शताब्दी तक यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था। बिनकरशोयेक (Bynkershoek) ने सर्वप्रथम इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'समुद्र पर प्रभुसत्ता के निबन्ध' (De dominio maris dissertatio) में यह नियम बनाया कि राज्य की सत्ता समुद्र में उतनी चौड़ाई तक विस्तीर्ण होनी चाहिए जहाँ तक उसकी तटवर्ती तोपों के गोले मार कर सकें। यही उसका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है—Terrae potestas finitur ubi finitur armorum vis (प्रादेशिक प्रभुता का विस्तार शस्त्रों की शक्ति के क्षेत्र तक होता है)।

प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध में दो प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं—(१) समुद्री तट के **किस हिस्से** से प्रादेशिक समुद्र की नाप आरम्भ की जाय। (२) प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई **कितने मील** मानी जाय। पहले प्रश्न के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त यह है कि इस नाप की आधार रेखा (Base line) भाटे में समुद्र के पानी हटने की सबसे पिछली रेखा होनी चाहिए, इसे निम्न जलचिन्ह (Low watermark) कहा जाता है

५. चिली और बोलिविया के मध्य लौका (Louca) नदी के पानी के सम्बन्ध में विवाद के लिए देखिये—दी इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, अप्रैल, १९६३ के अंक में लेकारोस का लेख—इण्टरनेशनल रिवर्स—दी लौका केस, पृ० १३३–१५०। ६६ राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के सम्बन्ध में विभिन्न समझौते किये हैं। इनके संक्षिप्त परिचय के लिए देखिये अमरीकन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड ५५ (१९६१), पृ० ६४५–६६९ में क्लैगट Clagett) का लेख।

६. इसके लिए अंग्रेजी में Territorial Waters शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसके स्थान पर 'प्रादेशिक समुद्र' का ही प्रयोग वांछनीय समझा है। इसके लिए Marine belt (समुद्री मेखला) तथा Marginal Sea (सीमावर्ती समुद्र) शब्द का भी प्रयोग होता है।

प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई के सम्बन्ध में पहले सामान्य सिद्धान्त तीन मील का था, किन्तु अब इसमें कई संशोधन प्रस्तावित किये जा रहे हैं।

बिनकरशोयेक ने उपर्युक्त सिद्धान्त के विषय में तोप के गोले की मार की दूरी के नियम पर बल दिया था। वास्तव में यह उससे पहले ऐसे तटस्थ (Neutral) समुद्री प्रदेश की सीमा थी, जिसके भीतर नौयुद्ध नहीं हो सकते थे। तोप के गोले की मार को निश्चित मीलों में निर्धारित करने का श्रेय किसे दिया जाय, यह अभी तक अनिश्चित है। ब्रियर्ली का मत है कि उन दिनों तोप के गोले की मार तीन मील नहीं थी, अतः इस नियम का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।[७] कुछ स्कैण्डेनेवियन देशों में तटस्थ समुद्र की सीमा समुद्री मीलों में निश्चित की जाती थी। फ्रांस ने १८वीं शती की कुछ सन्धि-चर्चाओं में तीन मील की सीमा का सुझाव दिया था। कानूनी साहित्य में १८वीं शती के अन्त में इसका सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले दो इटालियन गेलियानी (Galiani) तथा आजुनी (Azuni) थे। १९वीं शताब्दी में विधिशास्त्रियों तथा न्यायालयों ने तीन मील की सीमा को व्यापक रूप से स्वीकार किया। **एन्ना** (Anna) के मामले में १८०५ में लार्ड स्टोवेल ने इसका समर्थन किया। १८१८ की **एंग्लो-अमेरिकन मत्स्यग्रहण सन्धि** में तीन मील के नियम को अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप में स्वीकार किया गया और इसी समय से ग्रेट ब्रिटेन इसका प्रबल समर्थक है और इस सीमा को बढ़ाने का विरोध करता रहा है। सं० रा० अमरीका तथा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्य देश इसी सीमा के पोषक हैं।

दूसरी ओर नार्वे, स्वीडन, स्पेन तथा पुर्तगाल प्रादेशिक समुद्र की सीमा को बढ़ाने के पक्ष में हैं। कुछ राज्य यह दावा करते हैं कि मछली पकड़ने आदि विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रादेशिक समुद्र की विभिन्न सीमायें होनी चाहियें। सीमा के मीलों में विभिन्नता का एक कारण यह भी है कि समुद्री प्रक्रोश (Marine League) की नाप सब देशों में एक जैसी नहीं है, ग्रेट ब्रिटेन में यह तीन मील है, अतः वहाँ प्रादेशिक समुद्र की सीमा ३ मील है। स्कैण्डेनेवियन देशों में यह चार मील है, इसीलिए वहाँ की समुद्री मेखला ४ मील होती है। इस विषय में **स्टार्क** का कथन सत्य है कि "तीन मील की सीमा को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सामान्य नियम नहीं कहा जा सकता।" इस विषय में केवल इतना ही कहना सम्भव है कि प्रादेशिक समुद्र की **न्यूनतम सीमा** तीन मील है, अधिकतम सीमा के बारे में इसे सत्य नहीं माना जा सकता। १९३० में हेग के संहिताकरण सम्मेलन (Codification Conference) में इस समुद्री मेखला की चौड़ाई के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि नार्वे, स्वीडन आदि देशों ने तीन मील की सीमा का विरोध किया। १९५८ तथा १९६० का समुद्री कानून सम्मेलन भी इस प्रश्न का हल नहीं कर

१९५८ का समुद्री कानून सम्मेलन—प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई पर विवाद (Conference on the Law of Sea—Dispute over limit of Territorial Waters)—२४ फरवरी से २८ अप्रैल, १९५८ तक जेनेवा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के

७. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १७७

८७ राज्यों का सम्मेलन समुद्री कानून से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिए बुलाया गया था। इसमें मुख्य रूप से प्रादेशिक समुद्र की सीमा एवं चौड़ाई के सम्बन्ध में विस्तृत विचार हुआ, किन्तु इस विषय में विभिन्न देशों के दृष्टिकोण में इतना प्रबल तथा गम्भीर मतभेद था कि इस प्रश्न पर कोई निर्णय या समझौता नहीं हो सका। अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग (International Law Commission) ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में इस प्रादेशिक समुद्र की किसी मर्यादा या सीमा का निर्देश न करते हुए केवल इतना ही कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसकी सीमा आधाररेखाओं से १२ मील से आगे बढ़ाने की अनुमति नहीं देता। कुछ देशों ने इससे यह परिणाम निकाला कि आयोग ने १२ मील की **मर्यादा** सीमा स्वीकार कर ली है, किन्तु अन्य देशों ने इसे पुरानी परम्परा के आधार पर तीन मील तक ही रखने पर बल दिया। इस सम्मेलन में विभिन्न देशों ने प्रादेशिक समुद्र की निम्नलिखित सीमायें निश्चित करने पर बल दिया—

(१) **तीन मील[८] की सीमा**—इसके मुख्य समर्थक ग्रेट ब्रिटेन, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अधिकांश देश, फ्रांस, यूनान, जापान, हालैण्ड तथा सं० रा० अमरीका थे।

(२) **चार मील की सीमा** का समर्थन डेन्मार्क, नार्वे, तथा स्वीडन ने किया।

(३) **छः मील की सीमा** का प्रतिपादन भारत, इटली तथा स्याम ने किया।

(४) **बारह मील की सीमा** के समर्थक घाना, ग्वाटीमाला, इंडोनेशिया, मैक्सिको, सऊदी अरब, वेनेजुएला तथा सोवियत रूस थे। सोवियत रूस के प्रतिनिधि प्रोफेसर तुनकिन का यह मत था कि प्रत्येक देश को स्थानीय परिस्थितियों की तथा 'वैध राष्ट्रीय हितों'' की सुरक्षा की दृष्टि से १२ मील तक के क्षेत्र में अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। भारतीय प्रतिनिधि श्री अशोक कुमार सेन ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि भारत ने पहले ही अपने प्रादेशिक समुद्र के लिए छः मील की सीमा निश्चित की है।[९] पेरू के प्रतिनिधि ने कहा कि दक्षिण अमरीका के प्रशान्त महासागर तीरवर्ती राज्यों ने १९५४ के सैण्टियागो सम्मेलन में समुद्र के २० मील तक के प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा की है। विभिन्न देशों ने प्रादेशिक समुद्र की सीमा के सम्बन्ध में अपने पक्ष का समर्थन विभिन्न युक्तियों के आधार पर किया।[१०] किन्तु इस सम्मेलन में इस प्रश्न पर सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका।

दूसरा समुद्री सम्मेलन—समुद्र के कानून पर विचार करने के लिए बुलाये गये दूसरे जेनेवा सम्मेलन (Second U. N. Conference on the Law of Sea) ने १७ मार्च से २६ अप्रैल, १९६० तक प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई तथा ऐसे संस्पर्शी क्षेत्र की

---

८. इस प्रकरण में मील का अभिप्राय समुद्री मील (Nautical mile) से है। यह ६,०७६ फुट होता है जबकि सामान्य मील ५,२८० फुट होता है। तीन समुद्री मील स्थल के ३½ मील के बराबर होता है।

९. भारत ने १९६७ में अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा १२ मील तक बढ़ाने की घोषणा है पाकिस्तान १९६५ में ही इस प्रकार अपनी समुद्री सीमा का विस्तार कर चुका है।

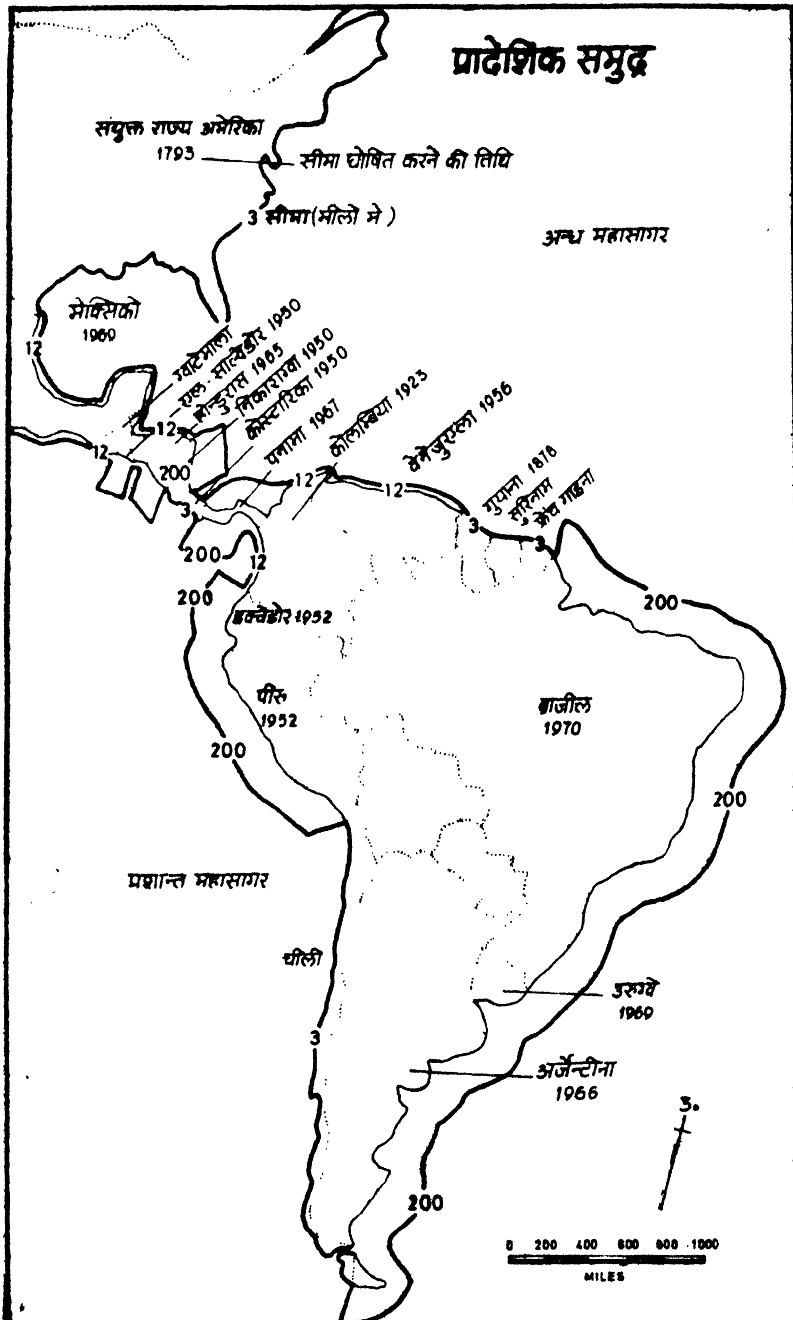
१०. कीसिंग्स काण्टेम्परेरी आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर, १९५८, पृ० १६४११-४१३।

चौड़ाई पर पुनः विचार किया, जिसमें तटवर्ती राज्यों को मछली पकड़ने के अनन्य अधिकार हों। इन दोनों प्रश्नों पर १६५८ में सम्मेलन में कोई सहमति नहीं हो सकी थी। किन्तु यह सम्मेलन भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सका।

१६७३ का तीसरा समुद्री सम्मेलन—दक्षिण अमरीका के राज्यों द्वारा प्रादेशिक समुद्र की सीमा का २०० मील तक विस्तार—१६७३ में पुनः तीसरी बार प्रादेशिक समुद्र की सीमा के प्रश्न पर विचार के लिए जेनेवा में ८६ राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र होंगे। किन्तु इस विषय में कोई सर्वसम्मत समझौता होने की सम्भावना बहुत कम है, क्योंकि सं० रा० अमरीका तथा रूस प्रादेशिक समुद्र की सीमा को १२ मील से अधिक बढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं, किन्तु द० अमरीका के लगभग १ दर्जन देश इस सीमा को २०० मी० तक बढ़ाने पर तुले हुए हैं, उन का यह कहना है कि मास्को तथा वाशिंगटन इस सीमा के विस्तार का विरोध इसलिए करते हैं कि वे अविकसित देशों को समुद्री सम्पदा से वंचित रखना चाहते हैं। इस समय सं० रा० अमरीका के जहाज दक्षिण अमरीका के विभिन्न देशों के समुद्री तटों के आसपास मछलियां पकड़ते हैं और ये देश वाशिंगटन को ऐसा करने से रोक रहे हैं। इस कारण वाशिंगटन का कई देशों से संघर्ष हो रहा है, ब्राजील ने जून १६७१ से २०० मील की प्रादेशिक समुद्र की सीमा के नियम को प्रभावशाली रूप से लागू करने के लिए अपनी तटवर्ती सीमा में वायुयानों तथा जलपोतों द्वारा कड़ी चौकसी शुरू कर दी, इस सीमा के भीतर जापान, दक्षिणी कोरिया, गुयाना तथा सुरीनाम के मछली पकड़ने वाले जहाजों को भगा दिया। किन्तु सं० रा० अमरीका के जहाजों ने इस सीमा के भीतर मछली पकड़ना जारी रखा, ब्राजील पर दबाव डालने के लिए सं० रा० अमरीका ने कहवे का दाम ऊँचा रखने के लिए इस देश को सहायता देने के उद्देश्य से बनाये गये कानून को समाप्त कर दिया। इक्वेडोर जैसे पिद्दी देश ने अपने समुद्र तट के पास सं० रा० अमरीका के मछली पकड़ने वाले २६ जहाज जब्त कर लिये, इस पर वाशिंगटन ने क्विटो को सैनिक सामग्री बेचना बन्द कर दिया तथा २५० लाख की आर्थिक सहायता के कार्यक्रम को बन्द करने की धमकी दी, इस पर क्विटो ने सं० रा० अमरीका के ३७ व्यक्तियों के एक सैनिक प्रतिनिधि मंडल को अपने देश से निकाल दिया। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रादेशिक समुद्र की सीमा इस समय कितने कटुविवाद को उत्पन्न कर रही है। संलग्न मानचित्र (पृ० २१६) में यह बताया गया है कि द० अमरीका के विभिन्न देश अपनी समुद्री सीमा का विस्तार किस प्रकार कर रहे हैं। इसमें विभिन्न देशों के साथ उनके द्वारा मीलों में मानी जाने वाली समुद्री सीमा तथा इस सीमा को घोषित करने के वर्ष का निर्देश किया गया है।

इस समय तक दक्षिण अमरीका के दस राज्य २०० मी० की सीमा की घोषणा कर चुके हैं। कुछ देश २०० मी० तक अपना अधिकार केवल मछली पकड़ने तक ही सीमित करते हैं, किन्तु अन्य देश इस पर अपनी पूर्ण प्रादेशिक प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहते हैं। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर गिनी ने १३० मी० तक, सियर्रा लिओन ने २०० मी० तक प्रादेशिक समुद्र की घोषणा की है।

यदि २०० मी० की सीमा को मान लिया जाय तो सं० रा० अमरीका के एक विधि वेत्ता जान स्टीवन्सन के मतानुसार खुले समुद्रों का २५ प्रतिशत से ५० प्रतिशत


प्रादेशिक समुद्र
संयुक्त राज्य अमेरिका
1793
सीमा घोषित करने की तिथि
3 सीमा (मीलों में)
अन्ध महासागर
मेक्सिको
1969
ग्वाटेमाला
एल. साल्वेडोर 1950
होन्डुरास 1965
निकारागुवा 1950
कोस्टारिका 1950
पनामा 1967
कोलम्बिया 1923
वेनेजुएला 1956
गुयाना 1878
सुरिनाम
फ्रेंच गाइना
इक्वेडोर 1952
पीरू
1952
ब्राजील
1970
प्रशान्त महासागर
चीली
उरुग्वे
1969
अर्जेन्टीना
1966
उ.
0 200 400 600 800 1000
MILES

भाग विभिन्न राष्ट्रों का प्रदेश माना जायगा, इन में समुद्रीजहाज़ इन के निर्दोष गमन (Innocent Passage) के नियम के अधिकार पर विभिन्न बन्दरगाहों में निर्बंध रूप से आ जा सकेंगे। किन्तु हवाई यातायात में बड़ी बाधा उत्पन्न हो जायगी क्योंकि वायुयानों को विभिन्न राष्ट्रों का प्रदेश माने जाने वाले समुद्रों के ऊपर उड़ने के लिए इन से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होगा। अगस्त १९७१ में वाशिंगटन ने यह सुझाव दिया था कि सब देश १२ मील की समुद्री सीमा मान लें, किन्तु इससे भी बड़ी कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी। संसार में लगभग १०० ऐसे अत्यधिक चलने वाले जलमार्ग हैं, जो २४ मी० से कम चौड़ाई के हैं। ये जब उपर्युक्त नियम के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों के प्रदेश का अंग बन जायेंगे तो इन को सब देशों के लिए खुला रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करना आवश्यक हो जायगा। इस प्रकार के जलमार्ग स्वेज नहर, जिब्राल्टर, जलडमरूमध्य, इंगलिश चैनल, रक्त सागर का प्रवेश द्वार—बाबलमन्दब, इंडोनीशिया तथा फिलिपाइन्स के विभिन्न जलडमरूमध्य हैं। दक्षिण अमरीका के देश वाशिंगटन के १२ मील की समुद्री सीमा के प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए पेरू के विदेश मन्त्रालय के एक अधिकारी ने कहा था—वे (सं० रा० अमरीका के अधिकारी) वस्तुतः यह चाहते हैं कि २०० मी० के क्षेत्र को दो भागों में बांट दिया जाय; १२ मी० का क्षेत्र हमें दिया जाय तथा १८८ मील० का क्षेत्र वे ले लें।"[11] इस परिस्थिति में १९७३ के समुद्री सम्मेलन में प्रादेशिक समुद्र की सीमा के विषय में समझौता होने की आशा बहुत कम है।

प्रादेशिक समुद्र का समझौता—(Convention on the Territorial Sea and the Contiguous Zone)—१९५८ का समुद्री कानून सम्मेलन यद्यपि प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई के बारे में कोई निर्णय नहीं कर सका, किन्तु उसने इसके अन्य प्रश्नों पर एक समझौता स्वीकार किया।[12] इसकी प्रमुख व्यवस्थायें इस प्रकार हैं—

(क) प्रादेशिक समुद्र का स्वरूप और लक्षण—इस समझौते की धारा १ व २ के अनुसार एक राज्य की प्रभुसत्ता उसके स्थलीय प्रदेश से परे उसके समुद्रतट के साथ लगी हुई समुद्री मेखला (**या प्रादेशिक समुद्र**), प्रादेशिक समुद्र के ऊपर के आकाश पर तथा इसके तल पर तथा अधोभूमि पर भी विस्तीर्ण होती है। प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई समुद्रतट के साथ निम्नतम जलरेखा से नापी जाती है (धारा ३)। बहुत कटे-फटे तटों के सम्बन्ध में सीधी आधाररेखाओं का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। इसकी धारा ७ में खाड़ियों के सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया है कि वही खाड़ियाँ किसी देश का आन्तरिक समुद्र (Internal waters) समझी जायेंगी, जिनका मुहाना २४ मील से अधिक चौड़ा न हो। इससे अधिक चौड़े मुंह वाली खाड़ियों में राज्य का अधिकार केवल २४ मील की चौड़ाई तक माना जायगा।

(ख) निर्दोष गमन का अधिकार (Right of Innocent Passage)—इस समझौते की धारा १४ में सभी राज्यों को प्रादेशिक समुद्र में गुजरने का निर्दोष अधिकार

११. टाइम, १६ अगस्त १९७१, पृ० ३१
१२. कीसिंग्स आर्काइब्ज, १९५८, पृ० १६४१३–१४

दिया गया है। वे सामान्य रूप से यात्रा करते हुए इसमें रुक सकते हैं, लंगर डाल सकते हैं। यात्रा तभी तक निर्दोष (Innocent) रहती है, जब तक यह तटवर्ती राज्य की "शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षा को हानि नहीं पहुँचाती।" किन्तु विदेशी जहाजों की यात्रा उस समय 'निर्दोष' नहीं समझी जा सकती, जब वे तटवर्ती राज्य द्वारा बनाये गये नियमों का पालन न करें। इस प्रदेश में पनडुब्बियों को पानी के ऊपर, अपने देश का झण्डा प्रदर्शित करते हुए यात्रा करनी चाहिए।

तटवर्ती राज्य को विदेशी जहाजों की निर्दोष यात्रा में कोई बाधा नहीं डालनी चाहिए। वह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से इनकी यात्रा अस्थायी रूप से बन्द कर सकता है, किन्तु ऐसा करते हुए उसे सभी विदेशी जहाजों के लिए एक जैसी व्यवस्था करनी चाहिए, इसमें कोई भेदभाव या पक्षपात नहीं करना चाहिए (धारा १५)। महासमुद्रों के विभिन्न भागों को जोड़ने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन (Navigation) के लिए प्रयोग में आने वाले जलडमरूमध्यों का मार्ग कोई देश अस्थायी रूप से बन्द नहीं कर सकता (धारा १६)। सऊदी अरब ने यह व्यवस्था स्वीकार नहीं की। प्रादेशिक समुद्र में निर्दोष यात्रा करने वाले जहाजों को तटवर्ती राज्य द्वारा बनाये सभी कानूनों और नियमों का पालन करना चाहिए (धारा १७)।

इस अभिसमय की धारा १८ से २३ द्वारा यह व्यवस्था की गयी है—(१) तटवर्ती राज्य विदेशी जहाजों के अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने पर कोई विशेष चुंगी या कर तब तक नहीं लगा सकते जब तक कि वे इसके बदले में कोई विशेष सुविधा या लाभ न पहुँचायें। ऐसी चुंगी सब जहाजों पर सामान्य रूप से लगनी चाहिए, इसमें कोई भेदभाव या पक्षपात उचित नहीं है। (२) प्रादेशिक समुद्र में विदेशी जहाजों पर किये गये अपराधों के बारे में तटवर्ती राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं है। (३) तटवर्ती राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे विदेशी जहाज पर सवार किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में दीवानी कार्यवाही करने के लिए जहाज़ को रोकें या किसी दीवानी कार्यवाही के लिए किसी जहाज को बन्दी बनायें। वे तभी ऐसा कर सकते हैं, जब विदेशी जहाज ने उनके प्रादेशिक समुद्र में कोई दीवानी कार्यवाही के लिये उपयुक्त अपराध किया हो। (४) ये नियम उन सब विदेशी जहाजों पर लागू होते हैं, जो किसी विदेशी सरकार की सम्पत्ति हैं और जिनका उपयोग व्यापारिक कार्यों के लिए हो रहा है।

(ग) **संस्पर्शी क्षेत्र** (Contiguous Zones)—इस समझौते की धारा २४ में तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) के साथ लगे हुए महासमुद्रों के संस्पर्शी क्षेत्र के स्वरूप और नियमों का वर्णन है। इसमें संस्पर्शी क्षेत्र की सीमा तट की आधाररेखा से १२ मील तक निश्चित की गयी है। इस क्षेत्र में तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने प्रदेश तथा प्रादेशिक समुद्र में होने वाले चुंगी, वित्त, आव्रजन (Immigration) एवं स्वास्थ्य-विषयक (Sanitary) नियमों के उल्लंघनों को रोक सके तथा ऐसा उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे सके।

अन्तिम प्राविधान (Concluding Provision)—इस अभिसमय की अन्तिम धाराओं (२५–३२) में ये व्यवस्थायें हैं—(१) इससे पहले किये गये इस विषय के

अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों तथा अभिसमयों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। (२) इस अभिसमय पर सं० रा० संघ के सदस्य-राज्यों द्वारा हस्ताक्षर करने की अवधि ३१ अक्टूबर, १६५८ तक है। (३) इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों को अपने राज्यों की विधान-सभाओं से इसका अनुसमर्थन (Ratification) कराना पड़ेगा। इसकी कोई अवधि नहीं है। (४) बाईस राज्यों द्वारा इसका अनुसमर्थन हो जाने के ३० दिन बाद यह अभिसमय लागू समझा जायेगा। (५) इसके लागू होने के पाँच वर्ष तक इस पर हस्ताक्षर करने वाला कोई देश इसकी किसी व्यवस्था के संशोधन की माँग कर सकता है। इस पर कोई कार्यवाही करने या निर्णय करने का अधिकार सं० रा० संघ की असेम्बली को होगा।

प्रादेशिक समुद्र में तटवर्ती राज्य की पूर्ण प्रभुसत्ता होते हुए भी परम्परागत (Customary) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह सिद्धान्त है कि शान्तिकाल में व्यापारी जहाजों को इसमें **निर्दोष** (Innocent) अथवा **अनाक्रमणात्मक** (Innoffensive) रूप से गुजरने का अधिकार है। किन्तु ऐसे जहाज प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने का अधिकार नहीं रखते, जिनमें तटवर्ती राज्य की सुरक्षा, सुव्यवस्था, आमदनी तथा अन्य हितों को हानि पहुँचाने वाली वस्तुयें या व्यक्ति लदे हों। इस समुद्र में आने वाले जहाजों के लिए स्थानीय नियमों का पालन आवश्यक है। किन्तु विदेशी राज्यों के रणपोतों को, सामान्य नियम के के रूप में प्रादेशिक समुद्र में होकर गुजरने का अधिकार नहीं है। यद्यपि शान्तिकाल में प्रथा के अनुसार इन्हें अपने समुद्री प्रदेश में गुजरने की अनुमति दे दी जाती है।"[13] Corfu Channel Case (देखिये प्रथम परिशिष्ट) में यह निर्णय दिया गया था कि शान्ति-काल में विदेशी रणपोतों को अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग (Highway) समझे जाने वाले प्रादेशिक समुद्र में '**निर्दोष प्रयाण**' (Inoffensive Passage) का पूरा अधिकार है और इन्हें इस अधिकार के प्रयोग से रोका नहीं जा सकता।

संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zones)—कुछ राज्य संस्पर्शी क्षेत्रों (Contiguous Zones) के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। इसका आशय यह है कि—(क) सब प्रयोजनों के लिए प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई एक जैसी नहीं हो सकती। (ख) समुद्र-तट से विभिन्न प्रकार की दूरियाँ रखने वाले अनेक क्षेत्र होते हैं, प्रादेशिक प्रभुता के पूर्ण अधिकारों से सर्वथा भिन्नता रखने वाले अनेक प्रकार के विशेषाधिकार और क्षेत्राधिकार यहाँ तटवर्ती राज्यों को प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांस इस प्रकार के कई क्षेत्र स्वीकार करता है—तट से तीन मील तक का मत्स्यक्षेत्र केवल फ्रेंच प्रयोजनों के लिए सुरक्षित समझा जाता है। तटस्थता (Neutrality) का क्षेत्र छः मील तक माना जाता है। इसमें विदेशी रणपोत लंगर नहीं डाल सकते। इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने भी स्वीकार किया है।

प्रादेशिक समुद्र में तटवर्ती राज्य की पूर्ण प्रभुसत्ता स्वीकार करने से इन राज्यों को दो महत्वपूर्ण अधिकार मिलते हैं—(१) इस क्षेत्र में मछली पकड़ने का अधिकार ये अपने प्रजाजनों के लिए सुरक्षित रखते हैं। विदेशी राज्य तटवर्ती राज्य के साथ संधि

१३. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६

द्वारा ही यहाँ मत्स्यग्रहण का अधिकार रखते हैं। (२) अनुतटयात्रा (Cabotage) का अधिकार तटवर्ती राज्य केवल अपने प्रजाजनों और जहाजों के लिए सुरक्षित रख सकता है। इस का अभिप्राय एक ही देश के दो बन्दरगाहों के बीच समुद्री यात्रा की व्यवस्था है। अपने देश के बन्दरगाहों में व्यापारिक ढुलाई तथा सवारियों के ले जाने के सम्बन्ध में कोई भी तटवर्ती राज्य विदेशी जहाजों पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसमें जेनेवा के समुद्री कानून सम्मेलन के नियम उपर दिये जा चुके हैं।

एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला—प्रादेशिक समुद्र के कानून पर अभी हाल में दो घटनाओं का प्रभाव पड़ा है। **पहली घटना** Anglo-Norwegian Fisheries Case में १९५१ में किया गया अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय है और दूसरी घटना इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का कार्य है। मत्स्यक्षेत्र वाले मामले में न्यायालय के सम्मुख विचारणीय प्रश्न यह था कि नार्वे की सरकार द्वारा १९३५ में प्रकाशित एक सरकारी आदेश द्वारा बनाये गये मत्स्यग्रहण क्षेत्र (Fisheries) ठीक हैं या नहीं। ग्रेट ब्रिटेन का यह कहना था कि यह आज्ञा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल है। इस आज्ञा में नार्वे के तट पर मुख्य भूमि की तथा इसमें दूरवर्ती ४८ बिन्दुओं की आधाररेखाओं से ४ मील तक के समुद्री प्रदेश की सीमायें निश्चित करके एक क्षेत्र बनाया गया था। इसमें नार्वेवासियों का मछली पकड़ने का एक मात्र अधिकार माना गया था। नार्वे का तट बहुत कटा-फटा है, इसमें निम्न जलचिन्ह (Low water mark) को आधाररेखा न स्वीकार कर, इसे समुद्र में काफी आगे से शुरू किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि इसमें समुद्र के काफी बड़े भाग प्रादेशिक समुद्र में आ गये और अन्य देश इसमें मछली पकड़ने के अधिकार से वंचित हो गये। न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि नार्वे सरकार की इस आज्ञा से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम का खण्डन नहीं होता। ये समुद्र सदियों से केवल नार्वेजियन मछियारों का मत्स्यक्षेत्र रहे हैं। नार्वे का तट विशेष रूप से कटा-फटा होने से उसके लिए ऐसी आधाररेखा बड़े युक्तियुक्त ढंग से निश्चित की गई हैं। यह आवश्यक नहीं है कि आधाररेखा (Base line) निम्न जलचिन्ह का अनुसरण करे, इतना ही पर्याप्त है कि यह 'तट की सामान्य दिशा' का अनुगमन करे और नार्वे ने ऐसा ही किया है।[१४]

ब्रियर्ली ने इस निर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नवीन तत्व समाविष्ट करने वाला माना है। इसमें अब तक आधाररेखा (Base line) के लिए माना जाने वाला निम्न जलचिन्ह (Low water mark) का नियम छोड़ते हुए केवल यही कहा गया है कि आधाररेखा "एक युक्तियुक्त ढंग से" खींची जानी चाहिए। स्टार्क ने इस निर्णय से तीन परिणाम निकाले हैं[१५]—(१) यदि कोई तटवर्ती राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र को निर्धारित करने वाली आधाररेखाओं की तर्कानुकूलता के सम्बन्ध में किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सन्तोष करा सकता है और उसे यह विश्वास दिला सकता है कि ये रेखायें

१४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १७५

१५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६२

अनमाने ढंग से नहीं खींची गई तो वह इस रीति का अनुसरण कर सकता है। (२) ऐसी आधाररेखाओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे तट पर निम्न जलचिन्ह के समानान्तर खीची जायें। इनके लिए समुद्रतट की सामान्य दिशा का अनुसरण आवश्यक है। (३) खाड़ियों का जल भी कुछ अवस्थाओं में प्रादेशिक समुद्र का अंग समझा जा सकता है, भले ही इनका मुंह इसके दो स्थानीय सिरों से नापे जाने पर १० मील से अधिक हो। सामान्यत: खाड़ियों के सम्बन्ध में यह नियम है कि इनकी १० मील तक की चौड़ाई देश की आन्तरिक सीमा में समझी जाती है, इसके बाद ३ मील का प्रादेशिक समुद्र माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९५६ में अपनी आठवी बैठक में इस विषय में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—(क) राज्यों के व्यवहार को देखते हुए संस्पर्शी क्षेत्रों (Contiguous Zones) के सिद्धान्तों को कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए। संस्पर्शी क्षेत्रों की दूरी १२ मील से अधिक नहीं होनी चाहिए, इनमें राज्यों को प्रभुसत्ता के नहीं, किन्तु निरीक्षण और नियंत्रण के सामान्य अधिकार होने चाहियें ताकि इनमें चुंगी, वित्त और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन हो सके। इन क्षेत्रों को सुरक्षा की दृष्टि से मान्यता नहीं देनी चाहिए। (ख) प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई किसी भी दशा में १२ मील से अधिक नही होनी चाहिए। **एंग्लो-नार्वेजियन फिशरीज** केस के अनुसार प्रादेशिक समुद्र को नापने की सीधी आधाररेखाओं को मान्यता दी जानी चाहिए, बशर्ते कि इस देश का तट वहुत कटा-फटा हो और इसमें छोटे टापुओं की बड़ी संख्या हो, फिर भी इस आधाररेखा को तट की सामान्य दिशा का अनुसरण करना चाहिए।

प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध में दक्षिण अमरीका के चिली, इक्वेडोर और पेरू राज्यों ने १९५२ में सैण्टियागो में तथा १९५४ में सीमा में प्रादेशिक समझौते किए। इनके अनुसार संस्पर्शी समुद्र की चौड़ाई २०० मील मानी गई है। किन्तु इस क्षेत्र को इतना विशाल बनाने वाले समझौते अभी तक के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल नहीं हैं।

जलडमरूमध्य (Straits)—छ: मील से कम चौड़े जलडमरूमध्य प्रादेशिक समुद्र का अंग होते हैं। इससे अधिक चौड़ाई के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों मे मतभेद है। कुछ इसे खाड़ी मानकर प्रादेशिक समुद्र का भाग बना देते हैं। १९७३ में ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका ने जुआन डि फूका के १० से २० से मील तक चौड़े जलडमरूमध्य को ऐसा मानकर इसके मध्यभाग को दोनों देशों की सीमान्त रेखा तयकिया था। जो जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री महामार्ग बनाते हैं, उनके प्रादेशिक समुद्र में से होकर गुजरने का अधिकार विदेशों के व्यापारी और लड़ाकू-दोनों प्रकार के जहाजों को होता है। Corfu Channel Case में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग (Highway) का लक्षण करते हुए लिखा था कि इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि यह दो खुले समुद्रों को मिलाने वाला मार्ग हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन के लिए इसका प्रयोग होता हो। खुले समुद्र को एक प्रादेशिक खाड़ी या भूमि से घिरे समुद्र से मिलाने वाले जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग नहीं हैं जैसे उपर्युक्त जुआन डि फूका का जलडमरूमध्य प्रशान्त महासागर को प्यूजेट खाड़ी के साथ मिलाने के कारण यह स्थिति नहीं रखता है।

कुछ जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में विशेष नियम और संधियाँ होती हैं। भूमध्यसागर को कृष्णसागर के साथ जोड़ने वाले बास्फोरस और डार्डनल्ज जलडमरूमध्य इसी प्रकार के हैं। ये पहले टर्की के पूर्ण अधिकार में थे। १८४१ के एक समझौते के द्वारा यह तय किया गया कि विदेशी रणपोत इसमें नहीं आ सकेंगे। इसका यह तटस्थीकरण १९१४ तक बना रहा। इसके बाद मित्रराज्यों ने इसे जीत लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इनका विसैन्यीकरण (Demilitarisation) करके इन्हें सब देशों के जहाजों के लिए खोल दिया गया तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को इसका प्रबन्ध सौंप दिया गया। कमालपाशा की विजय के बाद लौज़ान की संधि द्वारा १९२३ में इसे शान्तिकाल एवं युद्धकाल में व्यापारी और लड़ाकू जहाजों के लिए समान रूप से खुला रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण को हटा दिया गया, इस पर टर्की की प्रभुसत्ता मानी गई। १९३६ के मोण्ट्रू अभिसमय (Montreaux Convention) के अनुसार टर्की को इसमें पुनः किलेबन्दी करने तथा इसे सैनिक दृष्टि से सन्नद्ध करने का अधिकार दिया गया। इसके नियंत्रण का अन्तर्राष्ट्रीय आयोग हटाकर इस पर टर्की की पूरी सर्वोच्च सत्ता कुछ शर्तों के साथ प्रदान की गई।

खाड़ियाँ और आखात (Bays and gulfs)—इनके सम्बन्ध में एंग्लो-नार्वेजियन फिशरीज वाले मामले ने बड़ा प्रभाव डाला है (पृ० २२०)। इससे पहले ग्रेट ब्रिटेन में यह परिपाटी थी कि छः मील की चौड़ाई तक खाड़ियों को आन्तरिक जल समझा जाता था, प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखा छः मील चौड़ाई को दोनों स्थलीय सिरों से मिलाने वाली रेखा मानी जाती थी. इससे आगे तीन मील तक का समुद्र प्रादेशिक समझा जाता था। अन्य देशों में छः मील की चौड़ाई के स्थान पर १० मील की चौड़ाई तक की खाड़ी आन्तरिक जल का भाग मानी जाती थी। अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने उपर्युक्त निर्णय से इस विषय में ये नियम बन गये हैं—(१) जब कुछ खाड़ियों या आखातों के जल को चिरकाल से तटवर्ती राज्य अपना आन्तरिक जल समझता है, तथा अन्य राज्य भी उसके इस व्यवहार का लम्बी और युक्तियुक्त प्रथा द्वारा पूर्ण समर्थन करते रहे हों, तो यह व्यवहार अन्य राज्यों द्वारा मान्य स्वीकार किया जाना चाहिए। (२) यदि ऐसा व्यवहार या प्रथा न हो, तो भी तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह आर्थिक आवश्यकता अथवा खाड़ी के साथ प्राचीन सम्बन्ध के आधार पर खाड़ी के जलों को प्रादेशिक समुद्र में सम्मिलित करने की घोषणा करे। (३) तट की बनावट और कटाव को देखते हुए प्रादेशिक समुद्र को निर्धारित करने वाली आधाररेखायें तट की सामान्य दिशा का अनुसरण करते हुए खींची जानी चाहिएँ। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने यह सुझाव दिया है कि खाड़ी के उतने भाग का ही पानी आन्तरिक या प्रादेशिक समझा जाना चाहिए, जिसका मुहाना १५ मील से अधिक चौड़ा न हो। १९६० के समुद्री कानून सम्मेलन ने यह सीमा २४ मील बढ़ा दी है।

महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf)—यह एक भूगर्भशास्त्रीय परिभाषा है। महाद्वीपों के साथ लगा हुआ समुद्रतट इस प्रकार बना हुआ है कि वह महाद्वीपों के स्थलीय अंश का ही अंग है, वह काफी दूर तक शनैः-शनैः गहरा होते हुए

अन्त में सहसा २०० मीटर (६०० फुट) या इससे अधिक गहरा हो जाता है। समुद्र के निम्नतम तल पर खड़े व्यक्ति को यह एक ऊँचा ताक (Shelf) जैसा दिखाई देता है, अतः ६०० फुट तक से कम गहरा ढालू प्रदेश महाद्वीपीय समुद्रतल कहलाता है। पहले इस प्रदेश का कोई महत्व नहीं था, किन्तु अब वैज्ञानिक साधनों की उन्नति से यन्त्र लगाकर इस प्रदेश की खुदाई द्वारा यहाँ से अनेक प्रकार के खनिज—कोयला, तेल, तथा अन्य सामग्री प्राप्त की जाने लगी है।

२८ सितम्बर, १९४५ को अमरीकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह घोषणा की कि सं० रा० अमरीका के महाद्वीप के साथ लगे हुए महाद्वीपीय तल का सम्बन्ध सं० रा० अमरीका से है और वह इसकी प्राकृतिक सामग्री पर क्षेत्राधिकार और नियंत्रण (Jurisdicition and control) का दावा रखता है। इस घोषणा से आठ हजार वर्ग मील का समुद्रतल उसके अधिकार में आ गया, यह उसके १३ मूल राज्यों के क्षेत्रफल से दुगना है। अलास्का में यह रेखा कई सौ मील तक चली गई है। पूर्वी तट पर इस तल की चौड़ाई २० से २५० मील तक तथा पश्चिमी तट पर १ से ५० मील तक है। सं० रा० अमरीका के बाद मैक्सिको (अक्टूबर, १९४५), अर्जण्टायना (११ अक्टूबर, १९४६), चिली (जून, १९४७), पेरू, (अगस्त, १९४७), तथा कोस्टा रिका (नवम्बर, १९४९) ने अपने देशों के साथ लगे समुद्री तल के सम्बन्ध में सर्वोच्च प्रभुसत्ता के इस प्रकार के दावे किये।[१९]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए यह सर्वथा नवीन समस्या है। इसमें जहाँ एक ओर तटवर्ती राज्यों को उनके प्रदेश के साथ लगे समुद्रों में विद्यमान प्राकृतिक साधनों के उपयोग

१९. अमरीका की घोषणा में यह भी कहा गया था कि महाद्वीपीय समुद्रतल का ऊपर के महासमुद्रों पर तथा इनमें स्वतन्त्र तथा निर्बाध नौचालन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि यह महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of High Seas) में कोई बाधा नहीं डालता। क्लार्क तथा रैनट आदि लेखकों ने ट्रूमैन के इस सिद्धान्त एवं खोज की कोलम्बस की अमरीका की खोज से तुलना की है और यह कहा है कि यह इतिहास की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है (इंडियन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ, अप्रैल, १९६३, पृ० १९२-९३)।

वस्तुतः इस विषय में सबसे पहले नियम बनाने वाला पुर्तगाल था। उसने १९१० में १०० फैदम (६०० फीट) गहराई वाले अपने समुद्रतट में विदेशी जहाजों को जाल डालकर मछलियाँ पकड़ने (Trawling) से रोक दिया। १९१६ में रूस ने दुनिया के दूसरे देशों को यह सूचित किया कि वह अपने तट से कुछ दूरी पर विद्यमान कई टापुओं को इस आधार पर अपना समझता है कि वे साइबेरिया महाद्वीप का ही भाग हैं। २६ फरवरी, १९४२ को ग्रेट ब्रिटेन तथा वेनेजुएला ने पेरिया की खाड़ी (Gulf of Paria) के समुद्रतलीय क्षेत्रों के बारे में संधि की। यह इसलिये महत्वपूर्ण थी कि वेनेजुएला को ब्रिटिश ट्रिनीडाड से पृथक् करने वाला ३५ मील चौड़ा समुद्र बहुत उथला है और इस समुद्रतल के नीचे पेट्रोल मिलने की संभावना थी, अतः इस संधि द्वारा एक कृत्रिम रेखा द्वारा दोनों देशों के अधिकार क्षेत्र की सीमा निश्चित की गयी।

दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों—चिली और पेरू ने अपने समुद्रतल के साथ २०० मील तक की दूरी के सागर को अपना प्रदेश घोषित किया। अल् साल्वेडोर (El Salvador) राज्य के १९५० के संविधान में कहा गया है कि इस राज्य के प्रदेश में निम्न जलचिन्ह से २०० समुद्री मील तक के समीपवर्ती समुद्र इनके ऊपर का आकाश, भूमि के नीचे का भाग तथा महाद्वीपीय समुद्रतल सम्मिलित है। लौटरपैक्ट ने यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से ये दावे निराधार हैं। (आपेनहाइम १।६३२) और स० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने इनके विरुद्ध प्रतिवाद किया है।

का अधिकार देना, उनकी सुरक्षा और साधनों की वृद्धि की दृष्टि से वांछनीय प्रतीत होता है वहाँ दूसरी ओर इससे महासमुद्रों में नौचालन की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होने तथा जटिल और कटु अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के उत्पन्न होने की आशंका है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश लौटरपैक्ट (Lauterpacht) का मत है कि महाद्वीपीय समुद्र-तल के सम्बन्ध में किये जाने वाले दावे युक्तियुक्त हैं, इन्हें तल तक सीमित न करके सभी अधःसमुद्रीय (Submarine) क्षेत्रों में लागू करना चाहिए। महाद्वीपीय समुद्रतल पर तटवर्ती राज्य के कानूनी अधिकार का आधार संस्पर्शिता (Contiguity) का सिद्धान्त तथा अन्य राज्यों द्वारा तटवर्ती राज्य के दावों का स्वीकार किया जाना है।

ब्रियर्ली (Brierly) ने महाद्वीपीय तल पर तटवर्ती राज्य के अधिकार को स्वीकार करने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि ऐसा न करके समुद्रतल को अस्वामिक (Res nullius) घोषित किया जाय तो कोई भी विदेशी राज्य यहाँ समुद्र के गर्भ की प्राकृतिक सम्पत्ति निकालने के लिए आवेशन (Occupation) द्वारा इस पर अधिकार कर सकता है और इससे तटवर्ती राज्य के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः महाद्वीपीय तल की प्राकृतिक सम्पदा निकालने का एकमात्र अधिकार कानून द्वारा (Ipso jure) तटवर्ती राज्य को मिलना चाहिए, आवेशन अथवा अंगीकरण (Annexation) द्वारा इसको पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। ये अधिकार समुद्रतल की अधोभूमि तक ही सीमित रहने चाहिएँ, इसके ऊपर के महासमुद्रों में होने वाले नौचालन या मछली पकड़ने पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।[१७]

१९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने महाद्वीपीय समुद्रतल के बारे में अपने **नियमों** का जो प्रारम्भिक रूप तैयार किया, उसमें निम्न बातों पर बल दिया गया है— (१) तटवर्ती राज्यों को महाद्वीपीय समुद्रतल के प्राकृतिक साधनों को प्राप्त करने के पूरे 'प्रभुसत्तासम्पन्न' अधिकार होने चाहिएँ। (२) किन्तु इस तल के उपरिशायी (Superjacent) जलों तथा महासमुद्रों और आकाश पर इनको कोई अधिकार नहीं होंगे। (३) इनके कार्यों से समुद्र के अन्दर डाली गई तारों की व्यवस्था को कोई हानि नहीं पहुँचनी चाहिए। (४) नौचालन में और मछलीगाहों में इन कार्यों से कोई बाधा या हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। (५) समुद्र के तल में से प्राकृतिक पदार्थ निकालने के लिए लगाये जाने वाले यन्त्रों तथा अन्य साधनों के निर्माण की सूचना अन्य राज्यों को दी जानी चाहिए। (६) जब एक ही महाद्वीपीय समुद्रतल के साथ दो राज्य स्पर्श करते हों तो दोनों में कोई समझौता या संधि न होने की दशा में इनकी सीमान्त रेखा इनके प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखाओं से समदूरी (Equidistance) के सिद्धान्त पर निर्धारित की जानी चाहिए।

महाद्वीपीय समुद्रतल का १९५८ का अभिसमय (Convention of 1958 on Continental Shelf)—सं० रा० संघ की अध्यक्षता में २४ फरवरी से २८ अप्रैल, १९५८ तक जेनेवा में होने वाले ८७ राष्ट्रों के **समुद्र के कानून** (Law of Sea) पर

१७. ब्रियर्ली—दि लॉ आफ नेशन्स, पृ० १८३

विचार के लिए बुलाए गये सम्मेलन ने इस जटिल प्रश्न पर विचार करके एक अभिसमय या समझौता किया। इसके पक्ष में ५७ मत तथा विपक्ष में ३ मत थे। आठ देश मतदान में तटस्थ रहे। इस समझौते की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं।

इसकी पहली धारा (Article 1) में महाद्वीपीय समुद्रतल का लक्षण किया गया है। यह विचार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बिल्कुल नया है और इससे पहले इस विषय में विभिन्न राष्ट्रों की कोई संधि नही हुई। इसमें महाद्वीपीय समुद्रतल की परिभाषा में दो बातें कही गयी हैं—[१८](१) यह समुद्रतट का समीपवर्ती (adjacent) वह समुद्रतल (Seabed) तथा अध:समुद्री (Submarine) प्रदेशों का वह निम्न धरातल (Subsoil) है, जो प्रादेशिक समुद्र की सीमा से बाहर उस स्थान तक है जहाँ तक समुद्र २०० मीटर गहरा हो। यह **उससे भी आगे तक भी हो सकता है,** बशर्ते कि इस गहराई में समुद्रतल के प्राकृतिक साधनों का दोहन (Exploitation) हो सके।

(२) द्वीपों के समीपवर्ती समुद्रतटों के अध:समुद्री प्रदेशों के सम्बन्ध में महाद्वीपों की उपर्युक्त व्यवस्था लागू करनी चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि महाद्वीपों का प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) से २०० मीटर की गहराई तक का समुद्र महाद्वीपीय समुद्रतल है।

इसके समुद्रतल में **प्राकृतिक साधनों के दोहन** (Exploitation of Natural Resources) का एकमात्र अधिकार इस अभिसमय की धारा २ के अनुसार तटवर्ती राज्य को दिया गया है। वह यहाँ के खनिज तथा अन्य जीवन न रखने वाले (Non-living) एवं जीवित (Living) प्राणियों में अचल, गतिहीन या स्थावर जीव-जन्तुओं (Sedentary species) का दोहन या उपयोग कर सकता है। निश्चल जीव-जन्तुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि "ये सीप (Oyster) जैसे ऐसे प्राणी हैं, जो इनकी फसल के समय या तो समुद्रतल में निश्चल (Immobile) पड़े रहते हैं अथवा तब तक गतिशील नहीं हो सकते, जब तक कि वे समुद्रतल के निरन्तर भौतिक सम्पर्क में न आयें।"[१९] इससे यह स्पष्ट है कि (१) तटवर्ती राज्य को समुद्री तल

१८. कीसिंग्स आर्काइव्ज १९५८, पृ० १६४१५–६

१९. "Organisms (such as oysters) which at the harvestable stage are either immobile under the seabed or cannot move except in constant physical contact with the seabed or the subsoil."

अचल मछलीगाहों (Sedentary fisheries) के सम्बन्ध में यह लक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है तथा लगभग दस वर्ष के विचार-विमर्श के बाद स्वीकार किया गया है। वस्तुत: समुद्र में चल और अचल प्राणियों के सम्बन्ध में विशुद्ध वर्गीकरण बड़ा जटिल प्रश्न है। इसके मुख्य वर्ग ये हैं–(१) कुछ समुद्री जन्तु बिल्कुल निश्चल (Immobile) होते हैं, (२) कुछ केवल कुछ फुट तक गति करते हैं और (३) कुछ प्राणी काफी दूर तक गति करने और तैरने का सामर्थ्य रखते हैं। अचल (Sedentary) वर्ग में प्राय: समुद्रतल से भौतिक रूप से संबद्ध स्पंज, मूंगा (Coral, edible mussels) को सम्मिलित किया जाता है। कुछ प्राणी आरम्भिक जीवन में तैरने वाले तथा बाद में निश्चल हो जाते हैं, कुछ शुरू में निश्चल तथा बाद में गतिशील होते हैं। अत: उपर्युक्त समझौते में दिये गये लक्षण में यह स्पष्ट किया गया है कि ये फसल के समय (Harvestable Stage) निश्चल होने चाहियें। इसके साथ ही ये 'समुद्रतल पर या उसके नीचे निश्चल

में पाई जाने वाली केवल उन्हीं वस्तुओं के उपयोग का अधिकार है, जो इसमें निश्चल एवं निष्क्रिय रूप से स्थिर पड़ी रहती हैं। अतः यह व्यवस्था समुद्र के गतिशील प्राणियों पर नहीं लागू होती। (२) समुद्री तल की वस्तुओं के उपयोग का अधिकार होने पर भी इससे ऊपर के महासमुद्रों (High Seas) पर भी इसके उपर के आकाश (Air-space) पर तटवर्ती राज्य को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है (धारा ३)।

तटवर्ती राज्य को यद्यपि महाद्वीपीय समुद्री तट के प्राकृतिक साधनों के उपयोग तथा दोहन के लिए आवश्यक सभी तर्कसंगत उपायों (Reasonable measures) के प्रयोग का अधिकार है, किन्तु ऐसा करते हुए तटवर्ती राज्य को समुद्री तल में बिछाई गई तारों, पाइप लाइनों को बनाये रखने या नई तारों के डालने में कोई बाधा नहीं डालनी चाहिए। समुद्री तल का उपयोग करते हुए तटवर्ती राज्यों को निम्नलिखित कार्यों में कोई अनुचित बाधा (Unjustifiable interference) नहीं डालनी चाहिए—(क) जहाजों का आना जाना (Navigation), मछली पकड़ना, समुद्र में रहने वाले जीवित प्राणियों का संरक्षण (Conservation), (ख) समुद्र-विषयक (Oceanograpic) प्रकाशित होने वाली खोजें। इन विषयों का पालन करते हुए तटवर्ती राज्य अपने समुद्री तल के प्राकृतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक यन्त्र लगाने (Installations) का अधिकार रखता है। इस कार्य के लिए उपयुक्त सूचना देने के बाद उसे इन क्षेत्रों में ५०० मीटर चौड़ाई के सुरक्षित क्षेत्र (Safety Zone) स्थापित करने चाहिएँ। इनकी सीमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रकाश की बत्तियाँ तथा पैराक पीपे (Buoys) लगाने चाहिएँ, किन्तु ऐसे क्षेत्रों को द्वीप का दर्जा नहीं मिलेगा। वे तटवर्ती राज्य की भूमि नहीं समझे जायेंगे, इससे तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र की सीमा में कोई अन्तर नहीं आयेगा। तटवर्ती राज्य इस बात का पूरा प्रयत्न करेगा कि समुद्र में रहने वाले जीव-जन्तुओं को उसके कार्यों से किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। महाद्वीपीय समुद्रतल की वैज्ञानिक खोज के लिए तटवर्ती राज्य की अनुमति आवश्यक होगी, किन्तु यदि इसकी प्रार्थना इस कार्य की योग्यता रखने वाली संस्थाओं (Qualified institutions) द्वारा की जायगी तो तटवर्ती राज्य सामान्य रूप से इस प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करेगा। यह विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान होगा तथा तटवर्ती राज्य को इसमें भाग लेने तथा इसके परिणामों को प्रकाशित करने का अधिकार होगा।

यदि कोई समुद्री तल दो या अधिक राज्यों के निकट पड़ता है तो इसमें प्रत्येक राज्य की सीमा आपसी समझौते से तय होगी। ऐसा समझौता न होने तथा सीमा निर्धारित करने की अन्य विशेष परिस्थितियाँ न होने की दशा में यह ऐसी मध्यरेखा (Median line) होगी, जिसका प्रत्येक बिन्दु उन आधाररेखाओं (Base lines) से समान दूरी पर होगा, जिसके अनुसार प्रत्येक देश के प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई नापी जाती है।

रहने वाले' हों। यद्यपि इस लक्षण से कठिन आवरण वाले (Crustaceans) केंकड़े, झींगामछली (Lobster) के सम्बन्ध में स्थिति अनिश्चित है, फिर भी उपर्युक्त लक्षण ने अचल मछलीगाहों के स्वरूप को पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित कर दिया है। इस विषय के विवेचन के लिए देखिये— अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, खंड ५५, १९६१, पृ० ३५९–३७३।

ब्राज़ील-फ्रांस झींगामछली विवाद (Brazil-France Lobster Dispute)—इस प्रसंग में ब्राज़ील और फ्रांस के **झींगा मछली विवाद** (The Lobster Dispute) का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इस विवाद ने ३० जनवरी, १९६३ को तब बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया, जब ब्राज़ील के उत्तर-पूर्वी समुद्रतट से ६७ मील की दूरी पर झींगामछलियों को पकड़ने वाली फ्रांस की तीन नौकाओं को यह कहा गया कि यहाँ फ्रांस को मछली पकड़ने का कोई अधिकार नहीं है। ब्राज़ील के जंगी जहाज अवैध रूप से मछलियाँ पकड़ने के अपराध में इन फ्रेंच नौकाओं को पकड़कर नैटाल (Natal) के बन्दरगाह में ले गये। इस पर दोनों देशों में बड़ी उत्तेजना और तनाव बढ़ा तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। दोनों देशों के राष्ट्रपतियों ने पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करके इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया और इसके परिणामस्वरूप तीनों फ्रेंच नौकाओं को झींगामछली पकड़ने की अनुमति दे दी गई, किन्तु १९ फरवरी, १९६३ को इस अनुमति को रद्द करते हुए ब्राज़ील की सरकार ने फ्रेंच नौकाओं को इस क्षेत्र से पुनः हट जाने को कहा।

इस विवाद का मूल कारण यह है कि दक्षिण अमरीका के अन्य राज्यों की भाँति ब्राज़ील ६० मील तक के महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf) को अपना राष्ट्रीय प्रदेश मानता है और यह कहता है कि झींगामछलियाँ इस समुद्री तट पर चलकर आने वाली प्राणी हैं, वे मछलियों (Fish) से भिन्न हैं, अतः इन पर उसका स्वामित्व है, फ्रांस इनको यहाँ से नहीं पकड़ सकता। दूसरी ओर फ्रांस का यह कहना है कि ब्राज़ील को समुद्री तल के साथ संलग्न सभी वस्तुओं—घोंघें (Oysters), स्पंज, मूंगे (Corals) आदि निश्चल वस्तुओं पर पूर्ण अधिकार है, किन्तु झींगामछलियाँ गतिशील प्राणी हैं, वे समुद्र में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करती हैं, उन्हें मछली समझना चाहिए। उनको समुद्री तल से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिए, अतः मछलियों की भाँति इनके शिकार का पूरा अधिकार फ्रांस को है। ब्राज़ील तट के पास समुद्री झींगामछलियाँ फ्रांस के लिए विशेष महत्व रखती हैं क्योंकि फ्रांस के पास इसकी प्राप्ति के पुराने प्रधान स्रोत—अफ्रीका के निकट मारीतानिया (Mauritania) के समुद्रतट पर ये मछलियाँ लगभग समाप्त-प्राय हैं। अतः फ्रांस ने १९ फरवरी को ब्राज़ील की माँग का प्रतिरोध करने के लिए अपने एक रणपोत Tartu को विवादास्पद समुद्री प्रदेश में जाने का आदेश दिया (२२ फरवरी)। इस पर ब्राज़ील ने इसी दिन अपने दो विध्वंसक पोतों (Destroyers) को यहाँ जाने का आदेश भेजा, ब्राज़ील की नौसेना को युद्ध के लिए सावधान कर दिया गया। इस संघर्ष की स्थिति में विवाद के शांतिपूर्ण समाधान के लिए दोनों देशों में वार्ता आरम्भ हुई और अन्त में फ्रांस ने २ अप्रैल, १९६३ को यह घोषणा की कि वह ब्राज़ील के साथ हो रहे इस विवाद को निर्णय के लिए हेग के पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय को सौंप रहा है।

महाद्वीपीय समुद्रतल के विषय में भारत की नीति (Policy of India in respect of Continental Shelf)—भारतीय संविधान की धारा २९७ में यह कहा गया है—"भारत के प्रादेशिक समुद्र के भीतर विद्यमान सब भूमि, खनिज तथा अन्य मूल्यवान् पदार्थ (भारतीय) संघ (Union) के अधिकार में रहेंगे और इनका प्रयोग संघ के उद्देश्यों के लिए किया जायगा।" इसमें प्रादेशिक समुद्र से आगे के समुद्र का कोई उल्लेख

नहीं है, क्योंकि जिस समय भारतीय संविधान का निर्माण हुआ था, उस समय महाद्वीपीय समुद्रतल के विचार का श्रीगणेश ही हुआ था। इस कमी को पूरा करने के लिए राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपर्युक्त घोषणा के समान ३० अगस्त, १९५५ के असाधारण गजट आफ् इण्डिया में भारत के राष्ट्रपति की ओर से निम्नलिखित घोषणा की गई—

"चूंकि यह ज्ञात हुआ है कि महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf) के सागरतल तथा अधोभूमि (Seabed and Subsoil) में मूल्यवान् प्राकृतिक साधन विद्यमान हैं और आधुनिक प्राविधिक प्रगति (Technological progress) द्वारा ऐसे साधनों का उपयोग सम्भव बना दिया गया है।

"और चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार द्वारा यह निश्चित हो चुका है कि व्यवस्थित रूप से ऐसे साधनों के अन्वेषण और उपयोग के लिए प्रत्येक समुद्रतट वाले राज्य को अपने प्रदेश के साथ लगे हुए महाद्वीपीय समुद्रतल के सागरतल और इसकी अधोभूमि पर प्रभुसत्ता वाले अधिकार (Sovereign rights) हैं।

"अतः अब मैं भारत का राष्ट्रपति, राजेन्द्रप्रसाद, गणराज्य के छठे वर्ष में यह घोषणा करता हूँ कि भारत को इसके प्रदेश से लगे हुए तथा प्रादेशिक समुद्र से परे के महाद्वीपीय समुद्रतल की अधोभूमि में पूर्ण, अनन्य (Exclusive) तथा प्रभुसत्तापूर्ण अधिकार हैं, और उसे सदैव ऐसे अधिकार प्राप्त रहे हैं।"

इस घोषणा में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह कि ट्रूमैन की घोषणा के समान इसमें महाद्वीपीय समुद्रतल के ऊपर के महासमुद्रों के जल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। ट्रूमैन की घोषणा में यह कहा गया था कि इसमें नौचालन की निर्बाध स्वतन्त्रता पूर्ववत् बनी रहेगी। भारतीय घोषणा में केवल सागरतल और अधोभूमि (Seabed and Subsoil) पर ही 'प्रभुसत्ता वाले अधिकारों' की घोषणा की गई है।

दूसरी बात यह है कि इसमें समुद्रतल का सीमा-निर्धारण नहीं किया गया और यह नहीं बताया गया कि यह कहाँ से शुरू होगा तथा कहाँ तक समुद्र में इसकी अवधि समझी जायगी। इसका आरम्भ तो प्रादेशिक समुद्र की समाप्ति के साथ होता है। प्रादेशिक समुद्र की मर्यादा के विषय में पहले विभिन्न राज्यों के व्यवहार का उल्लेख किया जा चुका है। भारत सरकार ने २२ मार्च, १९५६ को एक घोषणा में यह कहा था कि 'भारत प्रादेशिक समुद्र उपर्युक्त आधाररेखा से छः समुद्री मील (१ समुद्री मील ६०७६ फुट) की दूरी तक विस्तीर्ण होंगे।

इसी प्रकार सागर के भीतर समुद्री तल की सीमा कहाँ तक होगी, इस विषय में घोषणा स्पष्ट न होने के कारण भारत सरकार के प्रतिनिधियों के अन्य वक्तव्यों से इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस विषय में आगे बताये जाने वाले संविधान के संशोधन को उपस्थित करते समय विधिमन्त्री अशोक कुमार सेन ने यह कहा था कि अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यह निश्चित हो चुका है कि महाद्वीपीय समुद्रतल समुद्र के नीचे का प्रादेशिक समुद्र से २०० मील की गहराई तक का प्रदेश है।[२०] संभवतः इसमें मीटर

२०. इंडियन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, अप्रैल, १९६३, पृ० १९६

के स्थान पर मील कहने की भूल हो गई है। पहले यह बताया जा चुका है कि जेनेवा के अभिसमय के अनुसार यह २०० मीटर की गहराई तक का समुद्रतल है और यदि इससे भी अधिक गहरे समुद्रतल के प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जाना संभव हो तो यह २०० मीटर की गहराई से अधिक का समुद्रतल भी हो सकता है।

भारत के राष्ट्रपति की उपर्युक्त घोषणा के बाद भारतीय संविधान की धारा २६७ में संशोधन के लिए संविधान का **पन्द्रहवाँ संशोधन बिल** (The Fifteenth Amendment Bill) १९६२ में पेश किया गया था। इसमें यह कहा गया था कि संविधान की धारा २६७ में प्रादेशिक समुद्र के बाद 'या महाद्वीपीय समुद्रतल' (Or the Continental Shelf) के शब्द जोड़ दिये जायें। इस संशोधन के अनुसार अब इस पर भारतीय संघ (Union) का अधिकार माना जायगा। यह संशोधन लोकसभा ने मई, १९६३ में पास कर दिया।

इस संशोधन में बड़ी महत्वपूर्ण व्यवस्था यह है कि महाद्वीपीय समुद्रतल पर स्पष्ट रूप से संघ का अधिकार माना गया है। संयुक्त राज्य अमरीका में इस विषय पर पहले विवाद था कि महाद्वीपीय समुद्रतल पर संघीय सरकार का अधिकार माना जाय या उस समुद्रतल के निकटवर्ती राज्य का। **सं० रा० अमरीका बनाम टैक्सास** (U. S. *v.* Texas, 1950, 339, U. S., 707) के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय किया था कि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा और वैदेशिक मामलों के संचालन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रादेशिक समुद्र से परे के समुद्रतल के साधनों पर सं० रा० अमरीका के संघ का स्वत्व माना जाय (धारा १९)। भारतीय संविधान के उपर्युक्त संशोधन में इस प्रकार के विवाद की संभावना नहीं, क्योंकि इसमें स्पष्ट रूप से महाद्वीपीय समुद्रतल पर संघीय सरकार का अधिकार माना गया है।

महाद्वीपीय समुद्रतल पर अधिकार के आधार (The basis of claims to Continental Shelf)—इस विषय में भारतवर्ष की धारणा अन्य राज्यों से मिलती है। इस संम्बन्ध में दो विरोधी दृष्टिकोण हैं। पहला तो यह है कि समुद्रतल पर अधिकार आवेशन (Occupation) से होता है, यह पहले अस्वामिक (Res nullies) होता है, इस पर जो पहले अधिकार कर ले, यह उसका हो जाता है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि महाद्वीपीय समुद्रतल समीपवर्ती प्रदेश का ही समुद्र में बढ़ा हुआ प्रदेश है और इस पर स्वाभाविक रूप से उस देश की प्रभुसत्ता होनी चाहिए, जिसका उस प्रदेश पर स्वत्व है। आपेनहाइम[२१] के मतानुसार निम्नलिखित कारणों के आधार पर तटवर्ती राज्य को अपने महाद्वीपीय समुद्रतल के साधनों और स्रोतों के एक मात्र उपयोग और उपभोग का अधिकार होना चाहिए—तटवर्ती राज्य का इस समुद्रतल के साथ प्रत्यक्ष लगा होना (Direct proximity), महाद्वीपीय समुद्रतल का समीपवर्ती भूप्रदेश का स्वाभाविक बढ़ा हुआ भाग (Natural prolongation) होना, महाद्वीपीय समुद्रतल तथा इसके पास

२१. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, प्रथम खण्ड (अष्टम संस्करण), पृ० ६३४। इस विषय में ३१ जून, १९३० को सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये महत्वपूर्ण निर्णय के लिए देखिए कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६०, पृ० १७४८८

की मुख्यभूमि के खनिज पदार्थों का मिलकर एक संग्रह (Common pool) बनाना, महाद्वीपीय समुद्रतल के साधनों के उपयोग में तटवर्ती राज्य का विशेष हित होना, भौगोलिक दृष्टि से तटवर्ती राज्य का इन आधारों के उपयोग करने में सर्वोत्तम स्थिति में होना, तटवर्ती राज्य द्वारा अपने साथ लगे समुद्री तल के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए अन्य राज्यों को अनुमति देने की विधिसम्मत अनिच्छा। ये सब कारण महाद्वीपीय समुद्रतल पर तटवर्ती राज्य की प्रभुसत्ता के दावे को न्यायोचित एवं तर्कसंगत ठहराते हैं।[२२]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने भी दूसरे दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा है कि समुद्रतल और इसके नीचे की भूमि अस्वामिक नहीं समझी जा सकती, यह इस पर सर्वप्रथम आवेशन करने वाले की नहीं मानी जा सकती।⋯यह संभव नहीं है कि इस विषय में भौगोलिक तत्व की उपेक्षा की जाय, भले ही इस तत्व को तथा समुद्रतल तथा उसके पास के भू-प्रदेश का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए हम सामीप्य (Propinquity), संस्पर्शिता (Contiguity), भौगोलिक अविच्छिन्नता (Geographical Continuity), परिशिष्ट या तादात्म्य (Appurtenance or identity) आदि शब्दों का प्रयोग करें। समुद्री कानून के सम्मेलन (Conference on the Law of Sea) में भारतीय प्रतिनिधि ने इसी मत का समर्थन किया था और कहा था कि यदि आवेशन (Occupation) द्वारा समुद्री तल पर अधिकार का सिद्धान्त मान लिया गया तो यह राज्यों के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को गम्भीर क्षति पहुँचायेगा।[२३]

महाद्वीपीय समुद्रतल के विचार का विकास यह सूचित करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं के कारण किस प्रकार इस विषय में नियमों का विकास हो रहा है। आरम्भ में इसका इस दृष्टि से बहुत विरोध किया गया था कि यह महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of High Seas) के सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त में बाधा डालने वाला है। किन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि विभिन्न राज्यों की भोजन-सामग्री तथा अन्य साधनों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उन्हें समुद्रतलवर्ती प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग का अधिकार इस रीति से देना चाहिए कि इसमें महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर कोई आंच न आये। इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने लिखा है कि यह (महासमुद्रों की स्वतन्त्रता) एक ऐसे विकास को नहीं रोक सकती, जो आयोग की सम्मति में सारी मानव जाति को लाभ पहुँचा सकता है। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसका महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर कोई प्रभाव न पड़े।[२४]

उत्तरी सागर महाद्वीपीय समुद्रतल (North Sea Continental Shelf) **की सीमा निर्धारण** (Delimitation) **का मामला**—महाद्वीपीय समुद्र तल की सीमा निर्धारण सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी पूरी तरह निश्चित नहीं है। इस विषय में हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने २० फरवरी १९६९ को एक महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए इसकी विभिन्न

२२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, पृ० ६६२–६३

२३. इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९६३, पृ० १९४

२४. वही, पृ० १९२

समस्याओं पर विस्तृत विचार किया है। यह मामला डेनमार्क, हालैण्ड और पश्चिमी जर्मनी (Federal Republic of Germany) द्वारा न्यायालय के सम्मुख २० फरवरी १९६७ को लाया गया था। ब्रिटेन तथा हालैण्ड के निकटवर्ती समुद्रों में—उत्तरीसागर के समुद्र तल में प्राकृतिक गैस और तेल के विशाल प्राकृतिक भण्डार मिले हैं और इसी प्रकार जर्मनी, डेनमार्क और हालैण्ड के पास के उत्तरी सागार में इस प्रकार के गैस और तेल मिलने की संभावना है। इसके परिणामस्वरूप उत्तरी सागर का आर्थिक महत्व बहुत बढ़ गया है। ये तीनों देश उसके प्राकृतिक साधनों का दोहन करने के लिए इसके अधिक से अधिक प्रदेश पर अपना राष्ट्रीय अधिकार स्थापित करना चाहते हैं। इनके राष्ट्रीय अधिकार की सीमा का निर्धारण किस सिद्धान्त के आधार पर किया जाय, इस सम्बन्ध में इन तीनों देशों में गम्भीर मतभेद थे। डेन्मार्क और हालैण्ड की यह मान्यता थी कि महाद्वीपीय समुद्रतल की सीमा का निर्धारण १९५८ के महाद्वीपीय समुद्र तल के अभिसमय की धारा ६ के अनुसार समानदूरी (Equidistance) की पद्धति से होनी चाहिए। यह एक ऐसी काल्पनिक रेखा है जिसका प्रत्येक बिन्दु क ख नामक दो राज्यों की तटीय रेखा से समान दूरी पर होता है। पश्चिमी जर्मनी ने इस पद्धति का विरोध इस आधार पर किया कि उत्तरी सागर की तटीय रेखा की रचना (Configuration) जर्मनी के तट के पास नतोदर अथवा बीच में से दबी हुई है। यदि यहाँ समान दूरी के सिद्धान्त को सीमा निर्धारण के लिए लागू किया गया तो उसे केवल २३ हजार वर्ग किलोमीटर का समद्रतल प्राप्त होगा। डेन्मार्क तथा हालैण्ड के समुद्रतल की रचना उन्नतोदर अथवा ऊपर की ओर बढ़ी हुई है। इस प्रकार उन्हें साठ हजार वर्ग मील का समुद्रतटीय प्रदेश प्राप्त होगा। इस प्रकार का विभाजन इन दोनों के समुद्रतट के सामने के हिस्से (Costal frontage) की लम्बाई के अनुपात में नहीं है, अतः जर्मनी को इस पद्धति से ३६ हजार वर्ग किलोमीटर का और समुद्री प्रदेश मिलाना चाहिए। उत्तरी सागर के प्रदेशों में सीमा निर्धारण का आधार समान दूरी की पद्धति नहीं होनी चाहिए अपितु प्रत्येक देश के सामने के समुद्रीतट की लम्बाई के अनुपात में प्राप्त हो सकने वाली समुद्रतटीय रेखा का न्यायोचित और समान भाग होना चाहिए।

समुद्रतट के बंटवारे के आधार के सम्बन्ध में उपर्युक्त गम्भीर मतभेद को प्रस्तुत करते हुए प० जर्मनी, हालैण्ड, और डेन्मार्क ने न्यायालय से यह मांग की कि वह अन्तर-राष्ट्रीय कानून के ऐसे सिद्धान्त और नियम बताये जिनके आधार पर ये देश पारस्परिक समझौते से अपनी समुद्रतटीय सीमाओं का निर्धारण करें। न्यायालय ने दो वर्ष तक इस प्रश्न पर विचार करने के बाद अपने निर्णय में डेन्मार्क और हालैण्ड के इस दावे को रद्द कर दिया कि सीमा निर्धारण १९५८ के जेनेवा अभिसमय की धारा ६ के अनुसार समान दूरी की पद्धति के आधार पर किया जाना चाहिए। इसे निम्नलिखित दो कारणों के आधार पर अस्वीकार किया गया। पहला कारण यह था कि पश्चिमी जर्मनी ने १९५८ के जेनेवा अभिसमय को संपुष्ट (ratify) नहीं किया था अतः वह इसे मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य नहीं था। दूसरा कारण समान दूरी का नियम रिवाज के तौर पर माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नहीं है। इसके साथ ही न्यायालय ने पश्चिमी जर्मनी का यह

दावा भी स्वीकार नहीं किया कि महाद्वीपीय समुद्रतल के बंटवारे का आधार समुद्रतटीय रेखा के अनुपात में न्यायोचित और समान अंश होना चाहिए। न्यायालय की सम्मति में प्रत्येक देश को समुद्र में अपने भूप्रदेश के स्वाभाविक बढ़ाव वाले महाद्वीपीय समुद्रतल पर अधिकार है और यहां मूल प्रश्न न्यायपूर्ण बंटवारे का नहीं अपितु सीमा निर्धारण का है। अतः न्यायालय ने इस मामले में निम्नलिखित निर्णय किया—१—सीमा निर्धारण के लिए समान दूरी (Equidistance) के सिद्धान्त का उपयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक (Obligatory) नहीं है। २—सीमा निर्धारण की कोई अन्य पद्धति भी अनिवार्य रूप से आवश्यक मानी जा सकती है। ३—महाद्वीपीय समुद्रतल की सीमा का निर्धारण समझौते से तथा न्यायपूर्ण सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक देश के पास महाद्वीपीय समुद्रतल के वे सभी भाग रहें जो समुद्र में इसके भूप्रदेश का स्वाभाविक बढ़ाव (Natural prolongation) और विस्तार हों।

गहरे समुद्रतल (Deep seabed) **पर प्रभुत्व की नवीन समस्या**—इस समय जहाँ मनुष्य एक ओर अन्तरिक्ष में चन्द्र, शुक्र, मंगल आदि ग्रह-उपग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर वैज्ञानिक उन्नति से उसने न केवल महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental shelf) में विद्यमान प्राकृतिक सम्पत्ति—पेट्रोल, लोहा, कोयला प्राप्त करना शुरू कर दिया है, अपितु महाद्वीपीय समुद्रतल से आगे के अत्यन्त गहरे समुद्रतलों से भी प्राकृतिक सम्पत्ति निकालने के साधनों का आविष्कार करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। समुद्र के गर्भ में विद्यमान अनन्त सम्पत्ति का अनुमान इन थोड़े से तथ्यों से भली भाँति किया जा सकता है।[२५] केवल प्रशान्त महासागर में एल्यूमीनियम की इतनी मात्रा है कि १९६० में संसार में इसकी खपत के हिसाब से यह बीस हजार वर्ष तक चल सकती है, जब कि पृथ्वी पर विद्यमान खानों का एल्यूमीनियम केवल १०० वर्ष तक ही काम दे सकता है, इसी प्रकार मैंगनीज़ तथा ताम्बे के समुद्री भंडार क्रमशः ४ लाख और ६००० वर्ष तक चल सकते हैं, जब कि पृथ्वी के भण्डार क्रमशः १०० वर्ष तथा ४० वर्ष के लिए ही हैं। समुद्र के खारे जल को मीठा बनाने के तथा उसमें खेती करने के परीक्षण इतनी तेजी से हो रहे हैं कि १९८० तक समुद्रों में अनाज की पैदावार बड़े पैमाने पर होने लगेगी, भूमि पर खेती समुद्री खेती की तुलना में नगण्य रह जायगी। एक वर्गमील समुद्री जल से लाखों टन नमक तथा अन्य खनिजों के अतिरिक्त ६५ टन (१ टन=२७ मन) चाँदी तथा २५ टन सोना पाने की संभावना की जा रही है। इस विषय में कितनी तेजी से प्रगति हो रही है, यह इससे स्पष्ट है कि थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया और मलायेशिया इस समय समुद्र से रांगा (Tin), दक्षिण अफ्रीका हीरे, फिनलैण्ड तथा न्यूज़ीलैण्ड लोहा तथा इंगलैण्ड और कनाडा कोयला प्राप्त कर रहे हैं। सबसे अधिक विलक्षण प्रगति पेट्रोल, गंधक और गैस के क्षेत्र में हुई है। १९४७ में सं० रा० अमरीका के महाद्वीपीय समुद्रतल में विद्यमान तेल भंडार का अनुमान ३३ अरब (Billion) पीपे था (१ पीपा=३१½ गैलन) तथा २½ करोड़ पीपे

---

२५. टाइम्ज़ आफ इंडिया, दिल्ली, २ दिसम्बर १९६७, पृ० ६

तेल समुद्र से निकाला जाता था। १९६५ में समुद्री तेल के भण्डार का अनुमान बढ़कर १०० अरब हो गया है और समुद्र से पहले की अपेक्षा लगभग दस गुणा या २४ करोड़ पीपे तेल निकाला जा रहा है। समुद्र में इस अनन्त वैभव का महत्व उस समय और भी अधिक बढ़ जाता है, जब हम यह देखते हैं कि भूमण्डल का तीन-चौथाई भाग समुद्रों से घिरा हुआ है। इस अनन्त प्राकृतिक सम्पत्ति के अतिरिक्त समुद्रतल का दूसरा नवीनतम उपयोग प्रतिरक्षात्मक कार्यों के लिए है। समुद्र की गहराइयों में शत्रु देशों को हानि पहुँचाने के लिए फेंके जाने वाले प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डे स्थापित किये जा सकते हैं, इनका बड़ा लाभ यह है कि समुद्र के भीतर छिपे होने के कारण पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले अन्तरिक्षयान इनका पता नहीं लगा सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों कारणों से गहरे समुद्रों का महत्व भविष्य में बढ़ने की तथा इसके प्रभुत्व के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होने की आशंका है। इस समय सब देशों ने सागर के महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental shelf) पर निकटवर्ती देशों का स्वामित्व माना है। अब इससे आगे के बहुत गहरे समुद्री के तल पर स्वामित्व की जटिल समस्या उत्पन्न होगी। इसका कारण इन समुद्रों के तल पर पाई जाने वाली अनन्त प्राकृतिक सम्पत्ति और इनका सामरिक दृष्टि से उपयोग करना है। जिस प्रकार भूमण्डल पर उपनिवेश और सैनिक अड्डे पाने के लिए विभिन्न राष्ट्रों में होड़ हुआ करती थी, वैसी ही होड़ भविष्य में समुद्रतल के अड्डों तथा सम्पत्ति के लिए होने की संभावना है। १९६७ में माल्टा ने इस महत्वपूर्ण नवीन समस्या की ओर सं० रा० संघ का ध्यान खींचा है।

समुद्रतल के कानून के सम्बन्ध में दो नई घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। पहली घटना १७ दिसम्बर १९७० को संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा पास किया गया प्रस्ताव संख्या २७५० (XXV) है। इसके अनुसार वर्तमान राष्ट्रीय सीमाओं से परे के महासमुद्रों के तल को (seabed) तथा इनके नीचे की जमीन को शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के पूर्णरूप से सुरक्षित रखने पर बल दिया गया है और यह घोषणा की गई है कि यहाँ पाये जाने वाले साधनों का उपयोग समूची मानव जाति की भलाई की दृष्टि से किया जाना चाहिए। दूसरी घटना ७ दिसम्बर १९७० को समुद्रतल में या उसके नीचे सामूहिक विनाश के आणविक आयुधों तथा अन्य हथियारों के रखने पर पाबन्दी लगाने वाली संधि (Treaty on the Prohibition of the Emplacement of Nuclear Weapons and Other Weapons of Mass Destruction on the Sea-Bed and the Ocean Floor and in the Sub-soil thereof.)। इस संधि के अनुसार समुद्रतल में किसी प्रकार के हथियारों को रखने की मनाही कर दी गई है। समुद्री कानून के सम्बन्ध में विस्तृत विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने १९७३ में एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया है।

नहरें (Canals)—किसी एक राज्य के प्रदेश में से होकर गुजरनेवाली नहरों पर उस राज्य की प्रादेशिक प्रभुता होती है। इनका कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व नहीं है। किन्तु अनेक राष्ट्रों के यातायात के लिए महत्व रखने वाली नहरें किसी एक राज्य के प्रदेश में से गुजरने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय समझी जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध

विभिन्न महासमुद्रों को जोड़ने वाली ऐसी नहरों से है, जिनका लाभ अनेक राज्य उठाते हैं। इस प्रकार की तीन नहरें हैं—पानामा, कील, और स्वेज़।

(क) पानामा नहर (Panama Canal)—यह मध्य अमरीका के पानामा राज्य में से होते हुए अन्ध महासागर को प्रशान्त महासागर से जोड़ती है। इस नहर के यातायात के नियमों की व्यवस्था १९०१ की ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमरीका की हे-पौन्सेफोटे (Hay-Pauncefote) सन्धि तथा १९०३ और १९०६ के समझौतों के अनुसार होती है। १९०१ की संधि की एक धारा में यह व्यवस्था है कि "यह नहर निश्चित नियमों का पालन करने वाले सब राष्ट्रों के व्यापारिक और सामरिक जहाजों के लिए समानता की शर्तों पर खुली रहेगी।" इस सन्धि में यह भी कहा गया था कि इसका परिवेष्टन (Blockade) कभी नहीं किया जायगा और इसमें शत्रुता का कोई कार्य नहीं होगा। प्रथम विश्वयुद्ध में सं० रा० अमरीका ने सब राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों को इसमें से गुजरने दिया, किन्तु युद्धकारी देशों के रणपोतों के गुजरने पर पाबन्दी लगाई। जब सं० रा० अमरीका स्वयं युद्ध में सम्मिलित हुआ तो उसने नहर में शत्रु के सभी जहाजों का गुजरना बन्द कर दिया। इस संधि द्वारा इस प्रदेश के तटस्थीकरण की व्यवस्था होने पर भी सं० रा० अमरीका पानामा नहर की सुरक्षा के लिए आवश्यक रक्षात्मक कार्यवाही कर सकता है। उसे पानामा नहर के क्षेत्र में स्थायी रूप से नियंत्रण का तथा सेना रखने का अधिकार है। पानामा गणराज्य की इस प्रदेश में प्रभुसत्ता केवल कानूनी और नाममात्र की है, वास्तविक तथ्यानुसार (De facto) सत्ता वाशिंगटन के पास है। २५ जनवरी, १९५५ की सं० रा० अमरीका-पानामा की पारस्परिक सहयोग की संधि से भी यही ध्वनि निकलती है।

कील नहर (Kiel Canal)—यह उत्तरी सागर को बाल्टिक सागर से जोड़ती है। यह पूर्ण रूप से जर्मन प्रदेश में है और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इस पर जर्मनी की पूरी सर्वोच्च सत्ता और पूर्ण अधिकार था। १९१९ की वर्साय की संधि में यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी के साथ लड़ाई न करने वाले सभी राज्यों के व्यापारिक और रणपोतों के लिए यह समानता के आधार पर खुली रहेगी। १९२३ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Wimbledon के मामले में इस नहर की स्थिति पर प्रकाश डाला। **विम्बलडन** एक ब्रिटिश जहाज था। एक फ्रेंच कम्पनी ने इसे किराये पर लिया था। २१ मार्च, १९२१ को जर्मन अधिकारियों ने इस जहाज को कील नहर से इस आधार पर नहीं गुजरने दिया कि यह रूस के साथ युद्ध करने वाले पोलैण्ड के लिए रण-सामग्री ले जा रहा है। न्यायालय ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि जर्मन सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह इस जहाज को नहर में से गुजरने देती क्योंकि वर्साय सन्धि द्वारा कील नहर ऐसे सब राष्ट्रों के जहाजों के लिए खुली रखी गई है, जो जर्मनी के साथ शान्तिपूर्वक रहते हों, वे आपस में किसी दूसरे युद्ध में संलग्न हो सकते हैं, किन्तु इसमें तटस्थ रहने वाला जर्मनी इन राज्यों को जाने वाले जहाज नहीं रोक सकता। ४ नवम्बर, १९३६ को जर्मनी ने कील नहर सम्बन्धी वर्साय सन्धि की धारा अस्वीकार करने की घोषणा की तथा १६ जनवरी, १९३७ को जर्मन नौसेना की उच्च सत्ता द्वारा प्रकाशित एक आदेश से प्रत्येक राष्ट्र के जहाजों के लिए नहर में प्रवेश

करने से पूर्व अनुमति लेने का नियम बना दिया गया।

स्वेज नहर (Suez Canal)—यह रक्तसागर को भूमध्य सागर से जोड़ती है। इसे एक फ्रेंच कम्पनी ने बनाया था। बाद में ग्रेट ब्रिटेन ने इसके काफी बड़े हिस्से खरीद लिए। इस नहर के सम्बन्ध में २९ अक्टूबर, १८८८ को कुस्तुन्तुनिया का समझौता हुआ। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, स्पेन, हंगरी, फ्रांस, जर्मनी हालैण्ड, इटली, टर्की ने भाग लिया। इस सन्धि की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें इस प्रकार थीं—(१) यह युद्ध एवं शान्तिकाल में खुली रहेगी, इसका परिवेष्टन (Blockade) कभी नहीं होगा। (२) नहर के क्षेत्र में शत्रुता का कोई कार्य नहीं होगा। प्रत्येक जंगी जहाज को प्रवेश के २४ घण्टे के भीतर नहर छोड़ देनी होगी। नहर में या इसके बन्दरगाहों में युद्ध-सामग्री को कभी लादा या उतारा नहीं जा सकता। (३) सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ताओं में से प्रत्येक राज्य नहर में अपने दो जंगी जहाज रख सकता है, किन्तु युद्धकारी देशों को इसमें अपने रणपोत रखने का अधिकार नहीं है। स्वेज नहर मिश्र के प्रदेश में से होकर गुजरती थी। १९१४ तक यह टर्की के अधीन था। प्रथम विश्वयुद्ध में टर्की के सम्मिलित होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने इसे अपने संरक्षण में लिया। १९२२ में इसने मिश्र की स्वतन्त्रता स्वीकार करते हुए भी स्वेज नहर के सुरक्षा-विषयक अधिकार अपने पास सुरक्षित रखे। २६ अगस्त, १९३६ को मिश्र तथा ग्रेट ब्रिटेन में हुई एक सन्धि के अनुसार स्वेज नहर को मिश्र का अविभाज्य अंग माना गया, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के विविध भागों में सम्पर्क का महत्वपूर्ण साधन होने से ब्रिटेन को इस बात की अनुमति दी गई कि वह इस प्रदेश में उस समय तक नहर की रक्षा के लिए अपनी सेनायें रख सकता है, जब तक मिश्री सेना इसकी रक्षा करने में समर्थ न हो। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस सन्धि का पूरा पालन हुआ किन्तु युद्ध समाप्त होते ही मिश्र ने ब्रिटिश फौजों को हटाने की मांग की। लम्बी सन्धि चर्चा के बाद २७ जुलाई, १९५४ को दोनों देशों के बीच काहिरा में हुए समझौते के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने २० महीने में अपनी सेनायें हटाना स्वीकार कर लिया तथा साथ ही नहर के सम्बन्ध में १८८८ के समझौते का पालन करते हुए इस अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखने वाली नहर में नौचालन की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर बल दिया गया। इस समय मिश्र को आस्वान बाँध के निर्माण के लिए बहुत बड़ी धनराशि की आवश्यकता थी, जब सं० रा० अमरीका, इंगलैण्ड और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को इस कार्य के लिए धन देना अस्वीकार किया तो उसने जुलाई, १९५६ में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की विश्व को स्तब्ध करने वाली घोषणा की। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने पहले तो मिश्र के इस कार्य की घोर निन्दा की तथा बाद में इज़राइल के साथ मिलकर उस पर आक्रमण कर दिया (अक्टूबर, १९५६)। बाद में इन्हें वहाँ से अपनी फौजें वापिस बुलानी पड़ीं। २५ अप्रैल, १९५७ को मिश्री सरकार ने यह घोषणा की कि वह १८८८ के समझौते के सभी दायित्वों का पालन करेगी और नहर के प्रशासन के सम्बन्ध में होने वाली शिकायतों को निर्णय के लिए पंचायती कमेटी को देना तथा उसका निर्णय मानना दोनों पक्षों के लिए आवश्यक होगा। १८८८ की सन्धि करने वाले राज्यों में इस सन्धि की धाराओं की व्याख्या के सम्बन्ध में कानूनी प्रश्नों पर मतभेद होने पर मिश्र ने इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अनिवार्य क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया। मिश्र

इस नहर को सब देशों के लिए खुला रखते हुए भी पेलेस्टाइन के प्रश्न पर शत्रुता रखने वाले इज़राइल के लिए माल ले जाने वाले जहाजों को इस नहर में से नहीं गुजरने देता है। डेन्मार्क का इज़राइल माल ले जाने वाला एक जहाज **इंग टाफ्ट** (Inge Toft) ८ महीने तक मिश्री अधिकारियों ने पोर्ट सईद में रोके रखा। अन्त में ५ फरवरी, १९६० को सारा माल बन्दरगाह में उतार देने पर ही मिश्र ने इस जहाज को मुक्त किया।

आकाश पर प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Sovereignty over Air)—वायुयानों के आविष्कार और विकास से पहले किसी राज्य के ऊपर विद्यमान आकाश की कोई महत्ता नहीं थी, किन्तु वर्तमान समय में हवाई यातायात के विकास में आश्चर्यजनक उन्नति से तथा यू–२ जैसे ७० हजार फुट की उँचाई पर उड़ने वाले वायुयानों, स्पूतनिकों तथा राकेटों के आविष्कार से इसे असाधारण महत्व प्राप्त हो गया है। गार्नर के मतानुसार किसी प्रदेश के आकाश को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) उच्चतम भाग—यह वायु की कमी और तापमान की अधिकता के कारण मनुष्य के आवास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। आजकल विभिन्न स्पूतनिकों और राकेटों द्वारा इस प्रदेश के अन्वेषण हो रहे हैं और जब मनुष्य यहां की प्राकृतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके यहां अपने अन्तरिक्ष यान (Space ships) ले जाने लगेगा तो इस प्रदेश की महत्ता बढ़ जायेगी। (२) निम्नतम भाग-भूमि से ऊपर का ३३० मीटर तक का प्रदेश—इसमें ऊँचे मकान, डाक तार, रेडियो विभाग की तारें, ऊँचे खम्भे आदि होते हैं। (३) मध्यवर्ती भाग—यह हवाई यातायात और रेडियो के संदेश प्रेषण के लिए उपयोगी होता है।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले आकाश की प्रभुत्ता के सम्बन्ध में प्रमुख सिद्धान्त स्टार्क के मतानुसार निम्नलिखित थे[२६]—(१) खुले समुद्रों तथा अनधिकृत प्रदेश (Unoccupied territory) के ऊपर का आकाश सबके लिए पूर्ण रूप से खुला है। (२) राज्य की प्रादेशिक प्रभुता में विद्यमान भूमि और समुद्र के ऊपर वाले आकाश के बारे में ये मत प्रचलित थे—(क) राज्य को अपने प्रदेश के उपर के आकाश पर असीम ऊँचाई तक पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त है, उसे विदेशी वायुयानों को अपने प्रदेशों में आने से रोकने का अधिकार है। (ख) आकाश का उच्चतम उपरिशायी (Superjacent) भाग महासमुद्रों की भाँति सब देशों के लिए खुला हुआ है। (ग) समुद्री मेखला (Maritime belt) और खुले समुद्र की भांति राज्य की आकाश में प्रादेशिक प्रभुता कुछ निश्चित ऊँचाई तक होती है, उसके ऊपर का अन्तरिक्ष स्वामीहीन और सबके लिए समान रूप से खुला होता है। (घ) एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि आकाश के उच्च भाग में किसी राज्य का स्वामित्व नहीं होता, फिर भी वह इसमें विदेशी वायुयानों के यातायात को नियंत्रित कर सकता है। (ङ) यद्यपि राज्य को अपने प्रदेश के उपरिशायी आकाश पर पूरी प्रादेशिक प्रभुता होती है, फिर भी उसे इसमें विदेशों के असैनिक विमानों को यातायात के लिए मार्ग देना पड़ता है, विदेशों के सैनिक वायुयानों को इस आकाश में से जाने से रोकने का उसे पूरा अधिकार है।

२६. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४१

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर यह अनुभव किया गया कि इस विषय में राज्यों द्वारा क्रियात्मक रूप से एक ही सिद्धान्त माना जा सकता है कि उन्हें अपने आकाश पर **असीम ऊँचाई तक** (Usque ad Coleum) पूरी प्रादेशिक प्रभुसत्ता है। १६१६ में पेरिस में हवाई यातायात के नियंत्रण की समस्याओं पर विचार करने के लिए विभिन्न राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से शान्तिकाल में हवाई यातायात के उपर्युक्त नियम बनाये गये। इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(क) प्रथम धारा में राज्यों की अपने प्रदेश के आकाश में पूरी प्रभुसत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया था—"इस समझौते को करने वाले राज्य यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश और प्रादेशिक समुद्र के ऊपर आकाश पर पूर्ण तथा अनन्य (Complete and exclusive) प्रभुसत्ता प्राप्त है। (ख) शान्तिकाल में इस समझौते में सम्मिलित देशों के विमानों को अन्य राज्यों के आकाश में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए निर्दोष उड़ान (Innocent passage) की पूरी स्वतन्त्रता होगी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियों को ऐसी उड़ानों के लिए संबद्ध राज्यों से अनुमति प्राप्त करनी होगी। (ग) किसी देश में एक विमान की रजिस्ट्री तभी होगी, जबकि उस पर पूरा स्वामित्व उस देश के नागरिकों का हो। एक वायुयान की रजिस्ट्री एक से अधिक देशों में नहीं हो सकती। (घ) वायुयान पर अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के समय इसकी राष्ट्रीयता और रजिस्ट्री के चिह्न अंकित होने चाहियें। (ङ) निजी वायुयानों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यात्रा करते समय इनकी रजिस्ट्री का प्रमाणपत्र, जहाज के यात्रा योग्य होने का प्रमाणपत्र, चालकों के के पास चालन-योग्यता के प्रमाणपत्र, सवारियों की सूची आदि निर्धारित सामग्री होनी चाहिए। (च) किसी राज्य के अधिकारियों को अपनी सीमा में आनेवाले वायुयानों के आवश्यक कागज़ात जाँचने का अधिकार होगा। (छ) राज्यों के सैनिक वायुयान दूसरे राज्यों के आकाश पर विशेष आज्ञा के बिना नहीं उड़ सकते; पुलिस, चुंगी आदि से सम्बन्ध रखने वाले वायुयान पारस्परिक समझौते से दूसरे राज्य में जा सकते हैं। (ज) हवाई यातायात के लिए राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission for Air Navigation) बनाया गया। इसका कार्य सम्मेलन द्वारा निश्चित किये कर्त्तव्यों का पालन, हवाई यातायात की आवश्यक सूचनाओं का संग्रह तथा हवाई नक्शों का प्रकाश था।

पेरिस सम्मेलन में सं० रा० अमरीका तथा कई अन्य अमरीकन राज्य सम्मिलित नहीं हुए थे। इनका सम्मेलन १६२८ में हवाना में हुआ। इसने पेरिस सम्मेलन जैसी व्यवस्थायें कीं। अन्तर केवल इतना ही था कि **हवाना** में मुख्य रूप से व्यापारिक समझौता हुआ और इसने कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं स्थापित किया।

१२ अक्टूबर १६२६ के वारसा समझौते (Warsaw Convention) **में** विमानों द्वारा की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ढुलाई, यात्रियों और माल-विषयक नियम, विमानवाहक की जिम्मेदारी आदि के अनेक नियम बनाये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इस प्रकार के कई अन्य समझौते भी हुए, किन्तु इन सबमें दो बातें उल्लेखनीय थीं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियों को इन समझौतों द्वारा निर्दोष यात्रा की

अधिकांश सुविधायें नहीं दी गयी थीं। (ख) विदेशी वायुयानों के भूमि पर उतरने के अधिकार संबद्ध राज्यों की इच्छा पर निर्भर थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध में वायुयानों की विलक्षण उन्नति से समुद्रों और महाद्वीपों के आरपार हजारों मील लम्बी वैमानिक उड़ानें आरम्भ हुईं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियों के विभिन्न राज्यों में वैमानिक यातायात की और इनके लिए उपर्युक्त अड्डों की प्राप्ति की नई समस्यायें उत्पन्न हुईं। इन पर विचार करने के लिए **नवम्बर, १९४४ में शिकागो सम्मेलन** (Chicago Convention) बुलाया गया। इसमें ४० राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय वैमानिक यातायात के प्रश्नों पर विचार किया। इस सम्मेलन का मुख्य विचारणीय विषय प्रत्येक राज्य की हवाई कम्पनियों को प्रदान की जाने वाली **'आकाश की पाँच स्वतन्त्रतायें'** (Five Freedoms of the Air) थीं—(क) बिना भूमि पर उतरे विदेशी राज्य में उड़ान करने की स्वतन्त्रता, (ख) दूसरे राज्यों में यातायात से भिन्न उद्देश्यों के लिए भूमि पर उतरने की स्वतन्त्रता, (ग) वायुयानों से सम्बन्ध रखने वाले देश का माल दूसरे देशों में उतारने की स्वतन्त्रता, (घ) वायुयानों द्वारा स्वदेश लौटते हुए मार्ग में स्वदेश के लिए यात्री तथा माल लादने की स्वतन्त्रता, (ङ) दो विदेशी राज्यों में माल की ढुलाई की स्वतन्त्रता। इन पाँचों स्वतन्त्रताओं को सम्मेलन में सं० रा० अमरीका ने बड़ी प्रबलता के साथ रखा, किन्तु अन्य देशों ने इनके समर्थन में विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। केवल पहली दो स्वतन्त्रताओं के पक्ष में ही बहुमत प्राप्त हो सका। अतः इस सम्मेलन को बाधित होकर दो प्रकार के समझौते करने पड़े—(क) **अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सेवा पारगमन समझौता** (The International Air Services Transit Agreement)—इसमें पहली दो स्वतन्त्रतायें स्वीकार की गयीं थी। (ख) **अन्तर्राष्ट्रीय हवाई परिवहन समझौता** (International Air Transport Agreement)—इसमें पाँचों स्वतन्त्रतायें स्वीकार की गयी थीं और यह समझौता करने वाले राज्य अन्य राज्यों के विमानों को अपने राज्य के आन्तरिक यातायात के लिए रोक सकते थे। अधिकांश राज्यों ने पहले समझौते पर हस्ताक्षर किये, दूसरे पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों की संख्या सम्मेलन में सम्मिलित राज्यों के आधे से भी कम थी। इन दो समझौतों के अतिरिक्त इस सम्मेलन ने **अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक उड़ान पर एक समझौता** (Convention on International Civil Aviation) किया। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन था; विमानों के संचालन, इनके चालकों तथा यात्रियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य, चुंगी आदि के नियमों का उल्लेख था। इसने एक **अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक हवाई यात्रा संगठन** (International Civil Aviation Organization) की स्थापना की। इस संगठन ने १९४७ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी समझौते सम्पन्न कराये हैं। जैसे १९४८ का Convention of the International Recognition of Rights in Aircraft, १९५२ का Convention on damage caused by third Foreign Aircraft to third Parties on the Surface.

बाह्य अन्तरिक्ष की प्रभुता की नवीन समस्या—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आकाश के ऊँचे हिस्सों तथा बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space) में प्रादेशिक प्रभुता का

प्रश्न वी–२ तथा अन्त:महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के आविष्कार से और पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाले कृत्रिम उपग्रहों तथा स्पूतनिकों के कारण बहुत जटिल हो गया है। स्टार्क ने यह ठीक ही लिखा है कि इस क्षेत्र में हुए वैज्ञानिक विकास के कारण आकाश की प्रभुता के सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण आवश्यक होगा।[२७] १ मई, १६६० को अमरीका के एक यू–२ विमान ने रूसी आकाश पर उड़ान करके उसकी प्रादेशिक प्रभुता का अतिक्रमण करते हुए इस प्रश्न को बड़े उग्र रूप में उपस्थित किया है। सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति आइज़नहावर ने नई परिस्थितियों में सब देशों के लिए 'खुले आकाश' (Open Skies) का प्रस्ताव रखा है, किन्तु रूस के तीव्र विरोध के कारण इसके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में स्वीकृत होने की कोई आशा नहीं है। रूस ने १ मई, १६६० को अमरीका के यू–२ विमान को तथा १ जुलाई, १६६० को आर० बी०–४७ नामक निरीक्षण-विमान को अपने प्रदेश में मार गिराया है।

उपर्युक्त घटनाओं के कारण यह तो निश्चित है कि अपने राज्य के प्रदेश पर विद्यमान आकाश में असीम ऊँचाई तक (Usque ad Coleum) पूर्ण प्रभुसत्ता का पुराना अन्तर्राष्ट्रीय नियम खण्डित हो गया है। ५० से २३० मील तक ऊँचे तापक्षेत्र (Thermosphere) वाले आकाश में विभिन्न राज्यों ने वी–२ प्रक्षेपणास्त्र तथा रेडियो लहरें भेजकर अन्य राज्यों की पूर्ण प्रभुता की सीमाओं का अतिक्रमण किया है। इससे ऊपर के आकाश में विभिन्न देशों के कृत्रिम उपग्रहों के भ्रमण के सम्बन्ध में १६५७-५८ में महाशक्तियों द्वारा कोई आपत्ति नहीं उठायी गई। रूस के स्पूतनिक इस समय अमरीका के प्रादेशिक आकाश में घूम रहे हैं और अमरीका के उपग्रह रूसी आकाश का परिभ्रमण कर रहे है। १६५७ की नि:शस्त्रीकरण वार्ता में महाशक्तियों ने यह स्वीकार किया था कि बाह्य अन्तरिक्ष छोड़ने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि इनके छोड़ने का उद्देश्य शान्तिपूर्ण और वैज्ञानिक अनुसंधान हो। किन्तु उपग्रहों का दुरुपयोग भी संभव है, इनसे शान्ति भंग की संभावना हो सकती है। उस समय इनके सम्बन्ध में बनाये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय नियम अधिकारों के दुरुपयोग के बारे मे बनाये जाने वाले दीवानी सिद्धान्तों के आधार पर होंगे।

आजकल अन्तरिक्ष में मनुष्य-संचालित राकेट और विमान भेजने के तथा चाँद आदि तक पहुँचने के प्रयत्न हो रहे हैं। पहले सोवियत रूस ने राकेट में लाइका कुतिया तथा सं० रा० अमरीका ने बन्दर भेजे; इनके बाद पुरुष और स्त्रियाँ भेजी जा रही हैं। क्या ये राकेट दूसरे देश के आकाश पर विद्यमान अन्तरिक्ष का आवेशन (Occupation) कर सकते हैं ? अन्तरिक्षगामी राकेटों के मार्गों का नियंत्रण का हवाई मार्गों के नियंत्रण की भांति सम्भव

सं० रा० संघ तथा बाह्य अन्तरिक्ष (U. N. O. and Outer Space)—१६५७ से बाह्य अन्तरिक्ष की समस्याओं पर सं० रा० संघ तथा इसकी विभिन्न कमेटियाँ विचार कर रही हैं। इस विचार-विमर्श में बाह्य अन्तरिक्ष के कानूनी दर्जे (Legal

२७. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४८

status) के सम्बन्ध में चार प्रकार के दृष्टिकोण रखे गये हैं—(१) पहले दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य अन्तरिक्ष, चन्द्र तथा अन्य ग्रह अस्वामिक (Res nullius) प्रदेश हैं, राज्य इन पर आवेशन (Occupation) आदि उन्हीं साधनों से अधिकार कर सकते हैं, जिनसे वे भूमण्डल पर बिना स्वामी के प्रदेशों पर अधिकार करते हैं।[२८] (२) दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अन्तरिक्ष पर तथा आकाश के ग्रह-नक्षत्रों पर अधिकार करना असम्भव तथा अनुचित है। (३) तीसरा दृष्टिकोण यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष तथा ग्रह-नक्षत्र व्यक्तियों के शाश्वत उपयोग के लिए खुले रहने चाहियें। (४) चौथा दृष्टिकोण यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष तथा आकाशीय पिण्डों पर कोई राज्य अपना वैयक्तिक स्वामित्व या नियंत्रण नहीं स्थापित कर सकता। यह हवा और पानी की तरह सबके सामान्य उपयोग की वस्तु (Res ominum communis or res extra commercium) है। इस पर ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित किया जाना चाहिए कि इन क्षेत्रों का दुरुपयोग न हो तथा इससे अन्य राज्यों को खतरा या नुकसान न पहुँच सके। मार्च, १९५८ में सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली की पहली कमेटी में इस विषय पर विचार करते समय पेरू के प्रतिनिधि ने कहा था कि इसे सार्वजनिक उपयोग की वस्तु समझते हुए भी इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने चाहिए और इस विषय में सबसे बड़ा प्रतिबन्ध लैटिन की इस कहावत में है कि दूसरों के अधिकारों को हानि न पहुँचाओ (alterum non ledere) दस वर्षों के सतत प्रयत्न से अब बाह्य अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण संधि हो गई है।

बाह्य अन्तरिक्ष संधि (Outer Space Treaty)—सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने १९ दिसम्बर १९६६ को बाह्य अन्तरिक्ष में चन्द्र एवं अन्य खगोलीय पिण्डों में अनुसंधान के सम्बन्ध में भिन्न कार्य करने के सिद्धान्तों के बारे में एक संधि (Treaty on the principles governing the Activities of States in the Exploration and Use of Outer Space including the moon and other celestial bodies) का प्रस्ताव पास किया। २७ जनवरी, १९६७ को सोवियत संघ, सं० रा० अमरीका तथा इंगलैण्ड ने तथा ३ मार्च १९६७ को भारत ने हस्ताक्षर किये। राष्ट्रपति जानसन ने इसे १९६३ की अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि के बाद शस्त्रों के नियंत्रण के विकास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संधि कहा है। यह संधि ब्रिटिश विदेशमंत्री ब्राउन के शब्दों में कानून के शासन (Rule of law) के क्षेत्र को विस्तीर्ण करती है। सं० रा० संघ में सं० रा० अमरीका के प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने इस संधि पर हस्ताक्षर करते समय कहा था "कि इस पर सब सदस्य-राज्य गर्व कर सकते हैं। यह शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग है। यह संधि एक महान् ऐतिहासिक प्रगति को सूचित करती है, १९५९ में **दक्षिण ध्रुवविषयक संधि** (Antarctic Treaty) हुई, १९६३ में **अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध संधि** (Test Ban Treaty) हुई **और अब** यह संधि हो रही है। हमें आशा है कि शान्ति का निर्माण करने वाले ऐसे समझौते बढ़ते चले जायेंगे।" यह संधि पिछले दस वर्षों में सं० रा०

२८. इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—इंडियन जनरल आफ इंटरनेशनल लॉ, जनवरी, १९६३, पृ० १ से ४३ तथा इसमें निर्दिष्ट साहित्य।

संघ में बाह्य अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण उपयोग के सम्बन्ध में पास किये गये अनेक प्रस्तावों तथा प्रयत्नों का परिणाम थी। इसकी महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं[२८]—

इसकी **पहली** व्यवस्था यह है कि चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों एवं उपग्रहों सहित बाह्य अन्तरिक्ष में खोज करने का तथा इनके उपयोग करने का अधिकार सब देशों को समान रूप से प्राप्त होगा। इसमें विभिन्न राष्ट्रों में कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। बाह्य अन्तरिक्ष में वैज्ञानिक अनुसंधान की स्वतन्त्रता सभी देशों को होनी चाहिए तथा सब राज्यों द्वारा ऐसे अनुसंधान में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए (धारा १)। **दूसरी** व्यवस्था यह है कि कोई भी देश बाह्य अन्तरिक्ष के किसी स्थान पर, चन्द्रमा पर अथवा किसी अन्य ग्रह पर अपने राष्ट्र के स्वामित्व अथवा प्रभुत्व का दावा इसके उपयोग करने के या इस पर अधिकार (Occupation) करने के कारण के आधार पर नहीं कर सकता है (धारा २)। इसका यह अभिप्राय है कि सं० रा० अमरीका या रूस में से कोई देश चाँद पर या शुक्र ग्रह पर पहले पहुँच कर उस पर अपना झण्डा गाड़ता है, उस पर अपना अधिकार स्थापित करता है और उसका उपयोग करता है, तो भी इससे उसे यह अधिकार न होगा कि वह इसे अमरीका या रूस के राज्य का अंग बना सके, चांद आदि पर कोई भी देश अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता, ये देश सभी देशों को अनुसंधान और उपयोग के लिए समान रूप से सुलभ और उपलब्ध रहेंगे। **तीसरी** व्यवस्था यह है कि सभी देश बाह्य अन्तरिक्ष में अपने अनुसंधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के अनुसार—विशेषतः सं० रा० संघ के चार्टर के अनुसार करेंगे तथा इन कार्यों का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द और सहयोग को बढ़ाना होगा (धारा ३)। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तरिक्ष में अनुसंधान का उद्देश्य सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए युद्ध एवं आक्रमण के लिए नहीं होना चाहिए। इसकी **चौथी** व्यवस्था बाह्य अन्तरिक्ष तथा ग्रहों का उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही करना है। इसकी चौथी धारा में कहा गया है कि इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देश यह वचन देते हैं कि वे पृथ्वी के चारों ओर की कक्षा (Orbit) में कोई ऐसा पदार्थ नहीं स्थापित करेंगे, जिसमें आणविक आयुध अथवा बहुत बड़ी जनता का विध्वंस करने वाले कोई हथियार लदे हुए हों, तथा वे चन्द्रमा या अन्य ग्रहों पर भी ऐसे कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं रखेंगे। सभी देश चन्द्रमा का तथा अन्य ग्रहों का उपयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही करेंगे। वे इन पर कोई सैनिक अड्डे या किलेबन्दियाँ नहीं स्थापित करेंगे, इन शस्त्रों के बारे में कोई परीक्षण नहीं करेंगे तथा किसी प्रकार की सैनिक गतिविधियाँ या कार्य नहीं करेंगे धारा (४)। **पाँचवीं** व्यवस्था यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष में किसी देश के किसी कार्य से यदि किसी दूसरे देश को कोई हानि पहुँचेगी तो क्षति पहुँचाने वाला देश इस क्षति को पूरा करने के बारे में अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूर्ण करेगा। (धारा ७)। अन्तरिक्ष में अनुसंधान के लिए अपने राकेट या यान भेजते समय सब देश इस बात का पूरा ध्यान रखेंगे कि इनसे दूसरे देशों को कोई हानि न पहुँचे, बाह्य

---

२८. इण्डियन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ६१ तथा संधि के लिए देखिये पृ० ८४–९३

अन्तरिक्ष का वातावरण विषाक्त या दूषित न हो। **छठी** व्यवस्था यह है कि बाह्य अन्तरिक्ष के अनुसंधान में सब देश एक-दूसरे को समान रूप से सहायता देंगे, एक-दूसरे के हितों का ख्याल रखेंगे। वे अपने अनुसंधान के परिणामों की सं० रा० संघ के महा-सचिव को सब सूचनायें देते रहेंगे और वे इनका प्रकाशन तत्काल एवं प्रभावशाली ढंग से करेंगे (धारा ११)।

अनेक आलोचकों ने इस संधि के कई बड़े दोषों का निर्देश किया है। **पहला** दोष यह है कि इसमें बाह्य अन्तरिक्षविषयक अनुसंधानों के शान्तिपूर्ण उपयोग पर बल देते हुए भी इसकी चौथी धारा में जिन स्थानों पर सैनिक अड्डे स्थापित करने का निषेध किया गया है, वहाँ केवल 'चन्द्रमा तथा अन्य खगोलीय पिण्डों' (Moon and celestial bodies) का उल्लेख किया गया है। इसमें बाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space) को जानबूझ-कर छोड़ दिया गया है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यहाँ ऐसे अड्डे स्थापित किये जा सकते हैं। **दूसरा** दोष यह है कि इसमें कोई धारा ऐसी नहीं है, जो स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था करती हो कि **बाह्य अन्तरिक्ष में सभी कार्य** शान्तिपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जायेंगे, ऐसी व्यवस्था के अभाव में अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले राकेटों द्वारा जासूसी के तथा सैनिक गतिविधियों के कार्य किये जा सकते हैं। भारत एवं अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने इस संधि में ऐसी धारा जोड़ने पर बहुत बल दिया था। किन्तु सोवियत संघ और सं० रा० अमरीका का यह कहना था कि बाह्य अन्तरिक्ष में सैनिक कार्यों को रोकने की इस संधि में व्यवस्था की जाए तो अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले यानों के निरीक्षण और नियंत्रण का प्रश्न उत्पन्न होगा, इसकी व्यवस्था किये बिना यह धारा बेकार होगी। इस समस्या पर १८ राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन विचार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्णराव ने उस सभा में यह भी कहा था कि जब इस संधि में निरीक्षण की कोई व्यवस्था किये बिना बाह्य अन्तरिक्ष में घूमने वाले यानों पर आणविक अस्त्र रखने की पाबन्दी लगाई गई है तो उपर्युक्त धारा को भी निरीक्षण की व्यवस्था के बिना जोड़ा जा सकता है।[२९] **तीसरा** दोष यह है कि इसमें कोई ऐसी धारा नहीं रखी गई जिससे यह व्यवस्था की जाती कि बाह्य अन्तरिक्ष से कोई ऐसा प्रचार नहीं किया जाना चाहिए, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को एवं राज्यों के उत्तम पड़ोसी बने रहने के प्रीतिपूर्ण सम्बन्धों को कोई खतरा उत्पन्न हो। भविष्य में कृत्रिम उपग्रहों द्वारा टैलीविज़न का कार्यक्रम प्रसा-रित होने के कारण इस प्रकार की सम्भावनायें बढ़ रही हैं। सं० रा० संघ के महामन्त्री यू थाण्ट ने इस संधि के दोषों को स्वीकार करते हुए कहा था—"मुझे यह देखकर खेद होता है कि अभी तक बाह्य अन्तरिक्ष में सैनिक कार्यवाहियाँ करने का द्वार बन्द नहीं हुआ है।" किन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह संधि बाह्य अन्तरिक्ष कानून में अन्तर्राष्ट्रीय की प्रभुता का क्षेत्र विस्तीर्ण करके एक नवयुग का श्रीगणेश करने वाली तथा निःशस्त्री-करण की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग उठानेवाली है।

परवत्ता (Servitudes)—जब किसी राज्य को अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभुसत्ता

२९. इंडियन जर्नल आफ् इण्टरनेशनल लॉ

रखते हुए भी इस प्रदेश में किसी अन्य राज्य के कुछ अधिकार स्वीकार करने पड़ते हैं तो इसे परवत्ता (Servitude) कहते हैं। आपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है—"राज्य की परवत्ता (State servitude) किसी राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर सन्धि द्वारा लगाये गये वे अपवादात्मक (Exceptional) प्रतिबन्ध हैं, जिनसे एक राज्य के समूचे या आंशिक प्रदेश को किसी दूसरे राज्य के विशेष उद्देश्य या स्वार्थ की पूर्ति या सेवा करने के लिए बाधित होना पड़ता है।"[३०] स्टार्क के मतानुसार ये सन्धि द्वारा राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता पर लगाए ऐसे असाधारण प्रतिबन्ध हैं, जिनसे इस राज्य के प्रदेश पर ऐसी शर्तें या पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं, जो दूसरे राज्य के हितों को पूरा करें।[३१] इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण आल्सेस का हुनिञ्जन (Huningen) नगर है, १८१५ की शान्ति की संधि द्वारा इस पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि समीपवर्ती स्विस कैण्टन बेसल (Basle) के हितों को दृष्टि में रखते हुए इस नगर की कभी किलेबन्दी न की जाय। १८७१ में यह नगर जर्मनी के तथा १९१९ में पुनः फ्रांस के अधिकार में आया, किन्तु इसकी यह परवत्ता बनी रही। इसी प्रकार कोई राज्य अपने प्रदेश में दूसरे राज्य की सेनायें रखने के लिए बाधित हो सकता है।

परवत्ता का विषय (Object) सदैव किसी राज्य के प्रदेश का अंश, भूमि या प्रादेशिक समूह होता है। राज्य किसी प्रदेश के सम्बन्ध में परवत्ता द्वारा इस प्रकार बँध जाता है कि वह किसी अन्य राज्य को उस प्रदेश में किन्हीं कार्यों के करने—जैसे मछली पकड़ने, रेल बनाने, समुद्री तार बिछाने से रोक नहीं सकता। ये अधिकार वस्तुगत (In rem) होते हैं, चाहे किसी देश में कोई राज्य-परिवर्तन हो, वह किसी दूसरे देश का अंग बने, तो भी परवत्ता प्रदेश के साथ सम्बद्ध होने के कारण यथापूर्व बनी रहती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में हुनिञ्जन नगर की किलेबन्दी न करने की परवत्ता जर्मन एवं फ्रेंच दोनों शासनों में समान रूप से बनी रही।

परवत्ता के चार प्रकार हैं—(१) **निश्चयात्मक** (Affirmative)—जब किसी राज्य को दूसरे राज्य के प्रदेश में सन्धि द्वारा अनेक कार्य करने जैसे रेल बनाने, चुंगीघर स्थापित करने, सेनायें गुजारने, कुछ किलों में फौजें रखने, बन्दरगाह का उपयोग करने के अधिकार मिलते हैं तो यह निश्चयात्मक परवत्ता होती है। (२) **निषेधात्मक** (Negative)—जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को सन्धि द्वारा अपने प्रदेश में किलेबन्दी न करने, सेना न रखने आदि के निषेधात्मक कार्यों के लिए बाधित करता है तो यह निषेधात्मक परवत्ता होती है। (३) **सैनिक** (Military)—परवत्ता में एक राज्य दूसरे राज्य पर उसके प्रदेश में सेनायें रखने या न रखने, किलेबन्दी करने आदि पर सैनिक प्रतिबन्ध लगाता है। (४) **आर्थिक** (Economic)—परवत्ता का उद्देश्य एक राज्य के प्रदेश में दूसरे राज्य को व्यापारिक तथा अन्य इसी प्रकार के लाभ पहुँचाने के लिए दी गई सुविधायें हैं, जैसे विदेशी समुद्रों में मछली पकड़ने का, नदियों में

३०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, पृ० ५३६

३१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७३

स्वतन्त्र नौचालन का, रेल बनाने का या टेलीग्राफ या समुद्री तार बिछाने का अधिकार। परवत्ता दो देशों के समझौतों से उत्पन्न होती है और इसी प्रकार समझौतों द्वारा इसका अन्त भी किया जा सकता है।

दीवानी कानून की परवत्ता के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रवेश अत्यन्त आधुनिक है। इसे अब तक केवल दो मामलों में प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है— North Atlantic Coast Fisheries Arbitration (1910) तथा The Wimbledon (1924)। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों ने इन दोनों मामलों में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। पहले मामले में सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में उत्तरी अटलांटिक महासागर के कुछ प्रदेशों में मछली पकड़ने के अधिकार के सम्बन्ध में विवाद था। दोनों पक्षों की सहमति से यह मामला २७ जनवरी, १९०९ को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पंचों को सौंपा गया। सं० रा० अमरीका का यह दावा था कि न्यूफाउण्डलैण्ड के कुछ भागों में उसे मछली पकड़ने का अधिकार है; इस मछलीगाह के सब नियम उसकी, कनाडा की तथा ग्रेट ब्रिटेन की सहमति से बनने चाहियें, न कि केवल पिछले दोनों देशों की सहमति से। उसने अपने दावे का समर्थन परवत्ता के आधार पर किया। पंचों का निर्णय था कि १८१८ तक ब्रिटिश अथवा अमरीकी राजनीतिज्ञों को परवत्ता के सिद्धान्त का कोई ज्ञान नहीं था; इसके आधार पर सं० रा० अमरीका को मछली पकड़ने के अधिकारों की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती थी। दूसरे मामले की घटनाओं का कील नहर के प्रकरण में पहले (पृ० २३४) उल्लेख किया जा चुका है। इसमें भी परवत्ता के आधार पर कील नहर में विम्बलडन के प्रवेश को वैध सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु न्यायाधीश शूकिंग (Schucking) के अतिरिक्त अन्य जजों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

न्यायाधीश लौटरपैक्ट ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में परवत्ता के सिद्धान्त के प्रवेश से बड़ी भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं। स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए निरर्थक समझा है—"इस प्रकार का सुझाव देने के अनेक कारण हैं कि यह सिद्धान्त वस्तुतः आवश्यक नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून से इसे अच्छी तरह निकाला जा सकता है। इस दृष्टिकोण की पुष्टि इस बात से होती है कि उपर्युक्त दोनों मामलों में परवत्ता के आधार पर किये गये दावों को (न्यायालयों द्वारा) अस्वीकार किया गया है।"[३२]

३२. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७४

दसवां अध्याय

प्रदेश प्राप्त करने और खोने के प्रकार

(Modes of Acquiring and Losing Territories)

किसी राज्य द्वारा नया प्रदेश प्राप्त करने और उस पर प्रभुसत्ता स्थापित करने के पाँच प्रकार हैं--(१) आवेशन (Occupation), (२) चिरकालिक भुक्ति या भोग (Prescription), (३) उपचय (Accretion), (४) हस्तान्तर (Cession), (५) विजय (Conquest)। ये वैयक्तिक सम्पत्ति प्राप्त करने के प्रकारों से गहरा सादृश्य रखते हैं। इनके अतिरिक्त एक छठा प्रकार पंचनिर्णय (Arbitration) और सातवां प्रकार महाशक्तियों के शान्ति-सम्मेलन भी हैं। यहाँ क्रमशः इन सब का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(१) **आवेशन** (Occupation)—जब कोई राज्य किसी स्वामीहीन प्रदेश में आकर तथा प्रवेश करके उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है तो इसे आवेशन कहा जाता है। ब्रियर्ली के शब्दों में इसका अभिप्राय ऐसा प्रदेश प्राप्त करना है, जो किसी अन्य राज्य का भाग न हो।[1] यह प्रदेश पाने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकार है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जनक ग्रोशियस के शब्दों में यह प्रदेश प्राप्त करने का "एकमात्र स्वाभाविक और मौलिक प्रकार है।" इसका लक्षण स्टार्क के शब्दों में ऐसे प्रदेश पर प्रभुसत्ता (Sovereignty) स्थापित करना है, जिस पर किसी अन्य राज्य का अधिकार न हो, चाहे ऐसे प्रदेश का नवीन अन्वेषण हो या इस पर किसी राज्य ने अपना अधिकार छोड़ दिया हो।[2] इस समय अत्यन्त शीतल ध्रुवीय प्रदेशों को छोड़कर भूमण्डल के शेष सभी भूभागों और द्वीपों पर किसी न किसी राज्य की सत्ता स्थापित हो चुकी है, अतः भविष्य में आवेशन का कोई महत्व नहीं होगा। किन्तु १५वीं-१६वीं शताब्दियों में योरोपियन जातियों द्वारा भूमण्डल के नये प्रदेशों के अन्वेषण के समय तथा १९वीं शताब्दी में अफ्रीका के बंटवारे के समय इसका बहुत महत्व रहा है, और अब भी विभिन्न राज्यों में किसी प्रदेश के सम्बन्ध में विवाद होने पर अपने दावे के समर्थन में इस प्रकार को मुख्य आधार बनाया जाता है। इसकी बहुत-सी कानूनी बातें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने Legal Status of Eastern Greenland के मामले में तय की थीं।

इस विवाद का आरम्भ १९३१ में नार्वे द्वारा पूर्वी ग्रीनलैण्ड के कुछ हिस्सों में अपने आवेशन की घोषणा से हुआ। इस घोषणा के बाद डेन्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

१. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १५१

२. स्टार्क—इण्टरनेशनल टू इंट्रोडक्शन लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३५

से यह प्रार्थना की कि नार्वे की इस घोषणा को अवैध घोषित किया जाय क्योंकि इस प्रदेश पर तथा इस सारे टापू पर डेन्मार्क की प्रभुसत्ता है। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह बताया कि आवेशन द्वारा अधिकार पाने में दो प्रधान तत्व हैं—(१) सर्वोच्च प्रभु के रूप में इस प्रदेश के शासन-कार्य करने का इरादा या इच्छा, (२) सत्ता का वास्तविक प्रयोग। दूसरे शब्दों में किसी प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता का अधिकार स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका आवेशन प्रभावशाली (Effective) हो। यह बस्ती बसाने से और किला बनाने से हो सकता है। इनसे यह ज्ञात होता है कि वह इस प्रदेश पर न केवल अधिकार जमाने की इच्छा रखता है, अपितु वह इसका नियंत्रण भी कर सकता है। न्यायालय उसके सम्मुख उपस्थित किये गये प्रमाणों से इस निश्चय पर पहुँचा कि १७२१ के बाद डेन्मार्क के कार्यों से यह स्पष्ट था कि वह सारे ग्रीनलैण्ड को अपने अधिकार में रखना चाहता है। किन्तु नार्वे ने इस टापू के जिन हिस्सों पर दावा किया, वहाँ डेन्मार्क की बस्तियाँ नहीं थी। अतः डेन्मार्क को आवेदन के दूसरे महत्वपूर्ण तत्व—सत्ता के वास्तविक प्रयोग के प्रमाण देने पड़े। उसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह था कि १६३१ तक किसी अन्य राज्य ने उस प्रदेश पर प्रभुत्व का दावा नहीं किया था। इसके साथ ही उत्तरध्रुवीय और अत्यन्त दुर्गम प्रदेश होने से यहाँ निरन्तर सत्ता-प्रयोग के उदाहरण दिखाना सम्भव नहीं था। फिर भी डेन्मार्क ने समूचे ग्रीनलैण्ड पर लागू होने वाले अनेक कानूनों और प्रशासनात्मक कार्यों के उदाहरण दिये, अन्य देशों के साथ उसकी संधियों में ग्रीनलैण्ड का उल्लेख तथा आधुनिक काल में अनेक राज्यों द्वारा इस टापू पर उसके अधिकार को स्पष्ट मान्यता उसके प्रबल प्रमाण थे, अतः न्यायालय ने उसके पक्ष में निर्णय देते हुए कहा कि जब नार्वे ने इस प्रदेश पर अपना दावा किया तब वह स्वामीहीन भूमि (Terra nullius) नहीं था, अतः इस पर आवेशन द्वारा उसका स्वत्व स्थापित नहीं हो सकता।

आवेशन के प्रभावशाली होने की शर्त से यह स्पष्ट है कि किसी नये शासकहीन प्रदेश के अन्वेषण-मात्र से किसी देश को उस पर प्रभुत्व नहीं मिल जाता। १५वीं-१६वीं शताब्दियों में इस सिद्धान्त का बोलबाला था। स्पेन वाले यह दावा करते थे कि १५५५ में एक स्पेनवासी अमेरिगो वेस्पुच्ची (Amerigo Vespucci) उत्तरी अमरीका के तट पर सबसे पहले उतरा था, अतः सारा उत्तरी अमरीका उनका है; इंगलैण्ड वालों का दावा यह था कि एक ब्रिटिश नाविक जान केबट १५५४ में वहां पहुँचा था, अतः यह प्रदेश उनका है। पुर्तगाल, फ्रांस तथा अन्य योरोपियन देश भी अन्वेषण के आधार पर भूमण्डल के विभिन्न भागों और द्वीपों पर अपना अधिकार करने की घोषणा करते थे। अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून में किसी देश द्वारा किसी नये प्रदेश की खोज से उस पर उसका केवल **असम्पूर्ण आगम या अधिकार** (Inchoate Title) समझा जाता है, इसकी पूर्णता प्रभावशाली आवेशन (Effective occupation) से होती है। असम्पूर्ण अधिकार का आशय यह है कि उसे इस प्रदेश से अन्य राज्यों को हटाने का अस्थायी अधिकार मिल जाता है। यह अधिकार उतने तर्कसंगत समय के लिए होता है, जो इस स्थान के आवेशन के लिए उपयुक्त हो। इस अवधि में वह अपनी इच्छानुसार उसका आवेशन कर सकता है, अन्य राज्य इस बीच में वहाँ उसके अधिकार का सम्मान करेंगे, किन्तु यदि वह

इस अवधि में प्रभावशाली आवेशन नहीं करता तो उसका यह असम्पूर्ण अधिकार समाप्त हो जाता है। १९०६ ई० में Island of Palmas के मामले में हेग के पंचायती न्यायालय के पंच मो० ह्यूबर (Huber) ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा की थी।

पालमास का टापू फिलिप्पाइन द्वीपसमूह तथा तथा पूर्वी द्वीपसमूह के मध्य में अवस्थित है। उस समय पूर्वी द्वीपसमूह पर डचों का अधिकार था। वे इस टापू पर भी अपना स्वत्व समझते थे। दूसरी ओर सं० रा० अमरीका ने फिलिप्पाइन द्वीपसमूह को स्पेन से १८९८ की संधि द्वारा प्राप्त किया था। यह टापू स्पेन द्वारा खोजा गया था। स्पेन का उत्तराधिकारी होने के नाते इस पर सं० रा० अमरीका अपना अधिकार मानता था। मो० ह्यूबर ने इस विषय में अपना निर्णय देते हुए कहा कि स्पेन ने इस टापू का पता लगाया है, किन्तु स्पेनवासी यहाँ आकर नहीं बसे, उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों के साथ कोई सम्पर्क नहीं स्थापित किये और टापू पर उन्होंने अपना प्रभुत्व नहीं जमाया। यदि यह मान लिया जाय कि १६वीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किसी प्रदेश की खोज से उस पर स्वामित्व मिल जाता था तो यह असम्पूर्ण अधिकार (Incoate Title) था, इस अधिकार को स्पेन ने तर्कसंगत (Reasonable) अवधि के भीतर इस टापू पर वास्तविक स्वामित्व स्थापित करके सम्पूर्ण या सुनिश्चित अधिकार (Definitive Title) नहीं बनाया। अतः स्पेन का इस पर कोई अधिकार नहीं है और सं० रा० अमरीका द्वारा स्पेन का उत्तराधिकारी होने के नाते इस टापू पर किया गया दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता। १६७७ से इस टापू में हालैण्ड ने "निरन्तर और शान्तिपूर्ण रीति से अपनी सत्ता का प्रदर्शन" (Continuous and peaceful display of authority) किया है, अतः इस पर डच प्रभुत्व स्वीकार किया जाना चाहिए।

१९५३ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इंगलिश चैनल के कुछ बहुत छोटे टापुओं के स्वामित्व के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के विवाद का निर्णय करते हुए Minquiers and Ecrehos के मामले में उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन किया तथा राजकीय कार्यों के वास्तविक प्रयोग (Actual exercise of State functions) पर बल दिया था। इन कार्यों का अभिप्राय स्थानीय प्रशासन, स्थानीय क्षेत्राधिकार, इस पर लागू होने वाले कानूनों और नियमों का निर्माण है। किसी राज्य के द्वारा एक प्रदेश में इन कार्यों का निरन्तर किया जाना वहां उस राज्य की प्रभुसत्ता का प्रबल प्रमाण है। इस आधार पर इन टापुओं में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उपर्युक्त राजकीय कार्यों के निरन्तर किये जाने से न्यायालय ने इन पर ग्रेट ब्रिटेन का दावा स्वीकार किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी प्रदेश पर आवेशन द्वारा अधिकार स्थापित करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है—

(१) **अस्वामित्व** (Res nullius)—यह प्रदेश अधिकार किये जाने के समय किसी अन्य राज्य के स्वामित्व में नहीं होना चाहिए, वस्तुतः इस सिद्धान्त का विकास ही दीवानी कानून के लावारिसी माल पर अधिकार के विचार से हुआ है। पहले यह बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ग्रीनलैण्ड पर नार्वे के अधिकार के दावे को इस आधार पर खारिज कर दिया कि इस पर डेन्मार्क की प्रभुसत्ता पहले से ही विद्यमान

है। आवेशन (Occupation) हड़पने या अनधिग्रहण (Usurpation) से भिन्न है। हड़पने में ऐसा कार्य करने वाला किसी प्रदेश में पहले से विद्यमान राजसत्ता को बल के प्रयोग द्वारा हटाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। किन्तु आवेशन के लिए इस प्रदेश में राजसत्ता का सर्वथा अभाव आवश्यक है। अत: आवेशन केवल ऐसे प्रदेश का हो सकता है, जिसकी खोज अभी हुई हो या जहाँ किसी राजसत्ता या शासन का अभाव हो।

(२) **प्रभुसत्ता स्थापित करने की इच्छा और इरादा**—किसी प्रदेश के आवेशन के लिए यह आवश्यक है कि उस पर अधिकार करने की इच्छा और इरादा भी हो। यह निरन्तर शान्तिपूर्ण रीति से वास्तविक सत्ता के प्रदर्शन द्वारा व्यक्त होता है। इसकी ऊपर पालमास तथा ग्रीनलैण्ड वाले मामलों में व्याख्या की जा चुकी है। कई बार सत्ता का प्रदर्शन प्रदेश की परिस्थितियों को देखते हुए नहीं हो सकता। इस दशा में इस पर स्वामित्व का इरादा व्यक्त करना ही पर्याप्त समझा जाता है। फ्रांस और मेक्सिको के Clipperton Island विवाद में पंच ने १९३१ में फैसला देते हुए यही सिद्धान्त स्वीकार किया। यह मैक्सिको के पश्चिमी तट से ६७० मील दूर एक उजाड़ टापू है। १८५८ में फ्रांस ने इसको अपने राज्य का अंग बताते हुए हवाई द्वीप की सरकार को इसकी सूचना दी। उसने यह एक स्थानीय पत्र में प्रकाशित की। फ्रांस ने इस पर आधिपत्य स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, इस बीच में मैक्सिको ने इसका प्रभावशाली आवेशन (Effective occupation) किया, किन्तु १९३१ में इसे पंच ने इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि फ्रांस ने जब इस पर अधिकार किया था, उस समय यह अस्वामिक भूमि (Territorium nullius) थी; उसके बाद फ्रांस निरन्तर इस पर अपने स्वत्व की घोषणा करता रहा और इसे अपने अधिकार में करने का इरादा प्रकट करता रहा। (३) किसी नये प्रदेश का केवल अन्वेषण या खोज ऐसा करने वाले देश को इस पर असम्पूर्ण अधिकार (Inchoate Title) ही प्रदान करता है। इसे पूर्ण बनाने के लिए इस पर सत्ता स्थापित करने के कार्य किये जाने चाहियें। झण्डा गाड़कर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा करना, बस्ती बसाना और प्रशासन के प्रबन्ध की व्यवस्था करना इस प्रकार के कार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में इस प्रश्न पर कुछ मतभेद है कि किसी प्रदेश के आवेशन को वैध बनाने के लिए इसे आवेशित करने वाले राज्य द्वारा अन्य राज्यों को इसकी सूचना देना आवश्यक है या नहीं। हालैण्ड और पिट काब्वेट इसे आवश्यक समझते हैं, किन्तु आपेनहाइम के मतानुसार यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आवश्यक नियम नहीं है।

आवेशन के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इससे कितना बड़ा भूभाग इसे आवेशित करने वाले राज्य के प्रभुत्व में आता है। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—(१) **सातत्य** (Continuity) **का सिद्धान्त**—इसके अनुसार किसी प्रदेश को आवेशित करने वाला राज्य अपनी प्रभुता का विस्तार इस प्रदेश के साथ लगे हुए भूभाग में उतने बड़े क्षेत्र तक करता है, जहाँ तक का प्रदेश उसकी सुरक्षा तथा निवास की भूमि के स्वाभाविक विकास के लिए आवश्यक हो। (२) **संस्पर्शिता** (Contiguity)

का सिद्धान्त—इसके अनुसार आवेशन करने वाला राज्य अपनी प्रभुता का विस्तार इस प्रदेश के साथ भौगोलिक दृष्टि से संस्पर्श करने वाले पड़ोसी प्रदेशों पर भी करता है। ये दोनों सिद्धान्त बड़े अस्पष्ट और व्यापक हैं, अभी तक इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निश्चित नियम निर्धारित नहीं हुए हैं।

किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों ने उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के जनशून्य हिमाच्छादित प्रदेशों के सम्बन्ध में **खण्ड सिद्धान्त** (Sector Principle) का महान् विवाद उत्पन्न किया है। हवाई यातायात, अणु-शक्ति द्वारा संचालित समुद्र के गर्भ में बर्फ को काटते हुए ध्रुवीय प्रदेश के आर-पार जाने वाली नाटिलस जैसी पनडुब्बियों तथा अन्त:महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के कारण इन प्रदेशों की सामरिक महत्ता बढ़ गयी है और अनेक देश ध्रुवीय प्रदेशों के विभिन्न अंशों पर खण्ड सिद्धान्त द्वारा अपनी प्रभुता का दावा कर रहे हैं। इसके अनुसार ध्रुवीय प्रदेशों के समीपवर्ती राज्य अपने देश की स्थानीय सीमा और तटीय रेखाओं से भूमण्डल पर उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवों तक खींची गई रेखाओं के भीतर आने वाले खण्डों पर, चाहे वे समुद्र हों या भूमि, अपनी प्रभुता का दावा करने लगे हैं। सोवियत यूनियन, नार्वे, डेन्मार्क कनाडा और सं० रा० अमरीका ने उत्तरी ध्रुव के विभिन्न खण्डों पर अपने अधिकार का दावा किया है और दक्षिणी ध्रुव मे ऐसा दावा करने वाले चिली, अर्जण्टायना और ग्रेट ब्रिटेन हैं। इन प्रदेशों की दुर्गमता और आवासशून्यता के कारण यहां आवेशन की उपर्युक्त शर्तें—बस्ती बसाना तथा प्रशासन की व्यवस्था करना पूरी नहीं हो सकती, अतः अपने दावों का औचित्य सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त का आविष्कार किया गया है। वस्तुतः ये दावे इन खण्डों में भविष्य में पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के इरादों की सूचनायें मात्र हैं। यदि यहाँ खोज का सिद्धान्त माना जाता तो दक्षिणी ध्रुव पर पहले पहुँचने तथा अपना झण्डा गाड़ने वाले एमण्डसेन के देश नार्वे का प्रभुत्व मानना चाहिए था। नार्वे ने १६२४ में ऐसा दावा भी किया था, किन्तु सं० रा० अमरीका ने इसे स्वीकार नहीं किया। खण्ड सिद्धान्त को अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई मान्यता नहीं प्राप्त हुई।

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश (Antarctica) के सम्बन्ध में १ दिसम्बर, १६५६ को बारह राज्यों—अर्जण्टाइना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, चिली, फ्रांस, जापान, न्यूज़ीलैण्ड, नार्वे, दक्षिण अफ्रीका के संघ, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन, तथा सं० रा० अमरीका ने ३० वर्ष तक चलने वाली दक्षिण ध्रुवीय संधि (Antarctica Treaty) पर हस्ताक्षर किये थे। इसके अनुसार इन देशों ने यह निश्चय किया है कि (१) सब देशों को शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए दक्षिणी ध्रुव के महाद्वीप का उपयोग करने का अधिकार होगा। (२) इस प्रदेश में सब देश अपने प्रादेशिक दावों और झण्डों को स्थगित (Freeze) कर देंगे। (३) दक्षिणी ध्रुव के प्रदेश में सब सैनिक कार्यवाहियाँ निषिद्ध होंगी। (४) ऐसी कार्यवाहियाँ रोकने के लिए एक पारस्परिक निरीक्षण पद्धति (Mutual Inspection System) को स्थापित किया जायगा। ५० लाख वर्ग मील में लागू होने वाली यह पहली अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण पद्धति है। इसमें कोई संदेह नहीं कि **दक्षिणी ध्रुव की यह संधि** (Antarctic Treaty) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्व रखती है और इसने इस क्षेत्र में विभिन्न राज्यों के दावों को तथा झगड़ों को कुछ समय के लिए शान्त कर दिया है।**

चाँद पर अधिकार (Occupation of Moon)—क्या कोई राष्ट्र चाँद पर, मंगल पर तथा अन्य ग्रहों पर अपना अधिकार स्थापित कर सकता है? १९६१ से राकेटों द्वारा मनुष्य को बाह्य अन्तरिक्ष में भेजे जाने के सफल प्रयत्नों से[१] इस प्रश्न को असाधारण महत्व प्राप्त हो गया है। राकेटों की वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति को देखते हुए यह असम्भव नहीं प्रतीत होता है कि अगले कुछ वर्षों में रूस या अमरीका का कोई अन्तरिक्ष-यात्री चाँद पर पहुँच कर वहाँ अपना झण्डा गाड़ दे। क्या इससे आवेशन द्वारा रूस या अमरीका का स्वामित्व चाँद पर स्थापित हो जायगा?

पहले यह बताया जा चुका है कि आवेशन (Occupation) द्वारा किसी प्रदेश पर आधिपत्य के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं। पहली शर्त इसका अस्वामिक (Res-nullius) अथवा कोई मालिक न होना है; तथा दूसरी शर्त इस पर किसी प्रकार का वास्तविक शासन स्थापित करना है। आपेनहाइम के शब्दों में प्रभावशाली आवेशन (Effective Occupation) के लिए स्वामित्व (Possession) और प्रशासन (Administration) आवश्यक है। स्वामित्व का यह अर्थ है कि किसी राज्य द्वारा अब तक किसी के स्वामित्व में न विद्यमान प्रदेश पर प्रभुसत्ता पाने के उद्देश्य से इसे अपने अधिकार में लाना। प्रशासन का तात्पर्य वहाँ किसी का प्रकार का अपना शासन-प्रबन्ध स्थापित करना है। आवेशन के लिए दोनों शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

चाँद के आवेशन के सम्बन्ध में पहली शर्त कुछ अंशों में पूरी हो सकती है। रूस या अमरीका का कोई अन्तरिक्ष-यात्री यहाँ सबसे पहले पहुँचकर अपना झण्डा गाड़ सकता है। किन्तु पहले पालमास टापू के मामले में यह बताया जा चुका है कि किसी प्रदेश की खोज-मात्र से उसपर केवल असम्पूर्ण अधिकार (Inchoate Title) मिलता है। यह वास्तविक नियंत्रण या शासन स्थापित करने की दूसरी शर्त पूरी होने पर ही पूर्ण स्वामित्व तथा सुनिश्चित अधिकार (Definitive Title) बन सकता है। पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी तथा वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति को देखते हुए यह संभव नहीं प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में चाँद पर पृथ्वी से वास्तविक प्रशासन और नियंत्रण स्थापित किया जा सकेगा। इसके अभाव में चाँद पर किसी राज्य का अधिकार माना जाना संभव नहीं है।

(२) **चिरकालीन भुक्ति** (Prescription)—जब कोई राज्य चिरकाल तक

३. अन्तरिक्ष में राकेट द्वारा मनुष्यों को भेजकर वहाँ के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्य और सूचनायें एकत्र करने में इस समय रूस और अमरीका में होड़ लगी हुई है। रूस को इस बात का श्रेय है कि उसने बाह्य अन्तरिक्ष में पहला पुरुष और पहली स्त्री भेजी है। उसके अन्तरिक्ष यात्री कालक्रम से ये हैं—मेजर गागारिन (१२ अप्रैल, १९६१), मेजर तीतोव (७ अगस्त, १९६१), मेजर निकोलेयेव (११ अगस्त, १९६२), श्री पोपोविच (१२ अगस्त, १९६२), वेलारी वायकोवस्की तथा वेलेन्तीना तेरिश्कोवा (१४ जून तथा १६ जून १९६३), रूस के पाँचवें-छठे युगलय त्री अन्तरिक्ष-यात्री थे। वायकोवस्की ने ८२ बार तथा २६ वर्षीया युवती तेरिश्कोवा ने ४९ बार पृथ्वी की परिक्रमा की। सं० रा० अमरीका के पहले चार अन्तरिक्ष-यात्री ये हैं—श्री शेपर्ड (५ मई, १९६१), कैप्टेन ग्रिसोम (२१ जुलाई, १९६१), श्री ग्लैन (२ फरवरी, १९६२), मेजर कूपर (१५ तथा १६ मई, १९६३)।

ऐसे प्रदेश में अपनी वास्तविक प्रभुसत्ता बनाये रखता है, जहाँ वस्तुतः कानूनी तौर से किसी दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता है, तो यहाँ पहले राज्य की सत्ता मानी जाने लगती है। यही चिरकालिक भुक्ति है। आपेनहाइम ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"यह किसी प्रदेश पर इतने अधिक समय तक निरन्तर तथा अनिर्बाध (Undisturbed) रूप में प्रभुसत्ता के प्रयोग द्वारा उस प्रदेश पर प्रभुसत्ता पाना है, जो इस ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप यह विश्वास उत्पन्न कर सके कि वर्तमान स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल है।"[४] स्टार्क ने इसकी बहुत सरल परिभाषा करते हुए लिखा है—"चिरकालिक भुक्ति से उत्पन्न होने वाला अधिकार किसी अन्य राज्य की प्रभुसत्ता वाले प्रदेश पर बहुत लम्बे समय तक तथ्यानुसार (De facto) प्रभुसता बनाये रखने का परिणाम होता है।"[५] इसका आवेशन से महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि वह अस्वामिक प्रदेश (Res nullius) पर होता है और भुक्ति वाले प्रदेश पर दूसरे का स्वामित्व होता है।

यह वस्तुतः दीवानी कानून की विपरीत भुक्ति (Adverse possession) का अन्तर्राष्ट्रीय रूपान्तर है और बहुत लम्बे समय के भोग के बाद प्राप्त होता है। दीवानी कानून में इस काल की अवधि निश्चित है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसे सुस्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया गया। ग्रोशियस (Grotius) के मतानुसार ऐसा अनिर्बाध अधिकार स्मरणातीतकाल से होना चाहिए। वैटल ने इसे "वर्षों की काफी बड़ी संख्या" (Considerable number of years) बताया था। १८७१ की वाशिंगटन की संधि में यह अवधि ५० वर्ष तय की गई थी। ब्रिटिश गायना के पंचनिर्णय (१८९९) में यह अवधि २० वर्ष मानी गई थी।

पुराने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री ग्रोशियस और वैटल इसे बहुत अधिक महत्व देते थे, किन्तु रिवियर (Revier) तथा डमोर्टेन्स (Damortens) जैसे विधिवेत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी कोई सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रियर्ली ने इस परस्पर विरोधी परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है—"एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून चिरकालिक भुक्ति को स्वीकार नहीं करता, यह भुक्ति के पीछे विद्यमान सिद्धान्त को तो मानता है, किन्तु इस सिद्धान्त के अभी वैसे विशद नियम नहीं बने, जैसे अन्य कानूनी पद्धतियों में पाये जाते हैं। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी महत्ता नगण्य सी प्रतीत होती है।"

(३) उपचय या अभिवृद्धि (Accretion)—स्टार्क के शब्दों में उपचय का अधिकार तब उत्पन्न होता है, जब किसी राज्य की प्रभुसत्ता में विद्यमान प्रदेश में प्राकृतिक कारणों से नये प्रदेश की वृद्धि होती है और वह नया प्रदेश इसमें सम्मिलित होता है। इसमें किसी औपचारिक (Formal) कार्यवाही या घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। वह वृद्धि शनैः-शनैः अथवा सहसा दोनों प्रकार से हो सकती है। ग्रोशियस ने इस विषय में नदियों की भूसम्पत्ति वाले रोमन कानून के सिद्धान्त ही लागू किये थे। इसका

४. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खंड १, पृ० ५७६

५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १४०

मुख्य सिद्धान्त है—accesio cedat principali अर्थात् बढ़ी हुई वस्तु प्रधान वस्तु का अनुसरण करती है।

यह वृद्धि निम्न रूपों से होती है—नदियों द्वारा लाई मिट्टी से शनैः-शनैः बनी हुई भूमि या आवृद्धि (Alluvion), समुद्र द्वारा इस प्रकार बढ़ाई हुई भूमि, डेल्टा, नदी के मध्य में बनने वाले टापू। इन सब अवस्थाओं में वृद्धि मुख्य भमि के स्वामी की समझी जाती है। यदि किसी राज्य के प्रादेशिक समुद्र में नये टापू बन जायें तो इसका परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक समुद्र की सीमा को इन टापूओं के अन्तिम छोर से नापा जाता है, राज्य का समुद्री क्षेत्राधिकार पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो जाता है। Anna नामक स्पेनिश जहाज के मामले में ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय ने इसी सिद्धान्त को लागू किया था। १८०५ में ग्रेट ब्रिटेन और स्पेन के युद्ध में एक ब्रिटिश जहाज ने उक्त स्पेनिश जहाज को मिसिसिपी नदी के मुहाने के पास पकड़ा। इसमें यह प्रश्न उठाया गया कि यह कार्य सं० रा० अमरीका के प्रादेशिक समुद्र में हुआ था या नहीं। यदि इसे समुद्र के तट पर बने बालिसे (Balise) के किले से नापा जाता तो यह घटना तीन मील के प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर हुई थी, किन्तु यदि "मुख्य भूमि की ड्योढ़ी का काम देने वाले, मिट्टी के बने टापुओं से नापा जाता तो यह घटना तीन मील की प्रादेशिक सीमा से बाहर हुई थी।" न्यायालय ने उपचय से बने इन टापुओं को मुख्य भूमि का भाग मानते हुए इस कार्य को सं० रा० अमरीका की प्रादेशिक सीमा से बाहर माना।

(४) **हस्तान्तर** (Cession)—ब्रियर्ली के शब्दों में यह एक राज्य द्वारा किसी प्रदेश पर विद्यमान अपना अधिकार दूसरे राज्य को प्रदान करता है।[६] इसमें प्रादेशिक प्रभुता एक राज्य के हाथ से निकलकर दूसरे राज्य के हाथ में चली जाती है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी राज्य की प्रभुसत्ता की यह मौलिक विशेषता है कि राज्य को अपने प्रदेश के हस्तान्तर का पूरा अधिकार है।

किसी प्रदेश का हस्तान्तर ऐच्छिक (Voluntary) और अनैच्छिक दोनों प्रकार का हो सकता है। ऐच्छिक हस्तान्तर बिक्री, विनिमय और दान द्वारा होता है। इसके उदाहरण १८६७ में रूस द्वारा अलास्का का प्रदेश सं० रा० अमरीका को बेचना था, १८९० में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी द्वारा हेलिगोलैण्ड और ज़न्ज़ीबार का विनिमय हुआ था। विक्रय द्वारा सं० रा० अमरीका ने १८०० में लुइसियाना, १८१९ में फ्लोरिडा और १८५३ में गैडसडन प्राप्त किये। १८१६ में डेन्मार्क ने अमरीका को डेनिश वैस्टइंडीज बेचा था। विनिमय का एक प्रसिद्ध उदाहरण १८७८ में रूमानिया द्वारा डेन्यूब के उत्तर में बेसारबिया का प्रदेश रूस को देकर इसके बदले में रूस से डेन्यूब के दक्षिण में डोब्रुजा का प्रदेश लेना था। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को स्वतन्त्र उपहार के रूप में प्रदेश भेंट करने के भी कुछ उदाहरण हैं। १८५१ में ग्रेट ब्रिटेन ने ईरी (Erie) झील की हार्स शो रीफ (Horse shoe Reef) को इसलिए सं० रा० अमरीका को भेंट किया कि वह इस पर दोनों देशों के नौसंचालन को सुविधाजनक बनाने के लिए प्रकाशस्तम्भ का निर्माण

६. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १५५

करे। आस्ट्रिया ने १८५९ में लम्बार्डी का तथा १८६६ में वेनिस का प्रदेश फ्रांस को इसलिये दे दिया कि उसे यह सार्डीनिया को न देना पड़े। १८७८ की बर्लिन की संधि द्वारा बोस्निया तथा हर्जेगोविना प्रशासन के लिए आस्ट्रिया को प्रदान किये गये थे। अनैच्छिक (Involuntary) हस्तान्तर युद्ध में हारने वाले राज्य को विजेता के प्रति करना पड़ता है। १८७० के फ्रांस-जर्मन युद्ध में फ्रांस को हारने पर अपने आल्सेसलोरेन के प्रदेश जर्मनी को देने पड़े थे।

हस्तान्तर में यह आवश्यक है कि हस्तान्तरित प्रदेश पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित किया जाय, किन्तु वास्तविक स्वामित्व की स्थापना से पहले हस्तान्तर की संधि द्वारा इसकी संपुष्टि अवश्य होनी चाहिए। आपेनहाइम के मतानुसार इस संधि के बाद ही वास्तविक हस्तान्तर होना चाहिए। किन्तु युद्ध द्वारा जीते प्रदेश के हस्तान्तर के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकती, वे पहले ही विजेता राष्ट्र के अधिकार में होते हैं।

प्रदेशों के हस्तान्तर से कई बार इनमें रहने वालों को नये राज्य की प्रभुता में जाना बड़ा कष्टदायक प्रतीत होता है, अतः १९वीं शती की अनेक हस्तान्तर संधियों में व्यक्तियों को अपनी पुरानी नागरिकता बनाये रखने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती थी। १० मई, १८७१ की फ्रेंकफोर्ट की संधि में फ्रांस के आल्सेस-लोरेन प्रदेश जर्मनी को देते हुए यह शर्त रखी गई थी कि उन प्रदेशों में रहने वाले जो व्यक्ति अपनी फ्रेंच नागरिकता बनाये रखना चाहते हों, वे २ अक्टूबर, १८७२ तक फ्रांस में जाकर बस सकते हैं, और इस बीच में उन्हें इन प्रदेशों में विद्यमान अपनी स्थावर सम्पत्ति बेच देनी चाहिए। ४ अगस्त, १८१६ को डेनिश वैस्टइंडीज़ की हस्तान्तर की संधि में इस प्रदेश के निवासियों के लिए डेन्मार्क की नागरिकता बनाये रखने के सम्बन्ध में बड़ी उदार व्यवस्थायें की गई थीं।

कई बार हस्तान्तर के समय निवासियों का **जनमत संग्रह** (Plebiscite) भी किया जाता है। १९वीं शती में यह विधि बड़ी लोकप्रिय थी। १८५८ में सार्डीनिया ने लम्बार्डी, वेनेशिया तथा इटालियन डचियों को अपने राज्य में मिलाने से पूर्व इनमें जनमत-संग्रह लिये थे। १८६० में फ्रांस ने सेवाय और नीस को अपने राज्य में सम्मिलित करने से पूर्व जनमत लिया था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपर साइलीशिया में सीमा सम्बन्धी विवाद का समाधान जनमत-संग्रह द्वारा किया गया, सार का प्रदेश भी जर्मनी को इसी आधार पर लीग से १९३५ में प्राप्त हुआ था। भारत ने पहले काश्मीर के लिए जनमत-संग्रह का प्रस्ताव रखा था, किन्तु बाद में परिस्थितियों के बदल जाने के कारण वह अब इसे मान्य नहीं समझता, यद्यपि पाकिस्तान अब भी जनमत-संग्रह द्वारा ही काश्मीर का भाग्य-निर्णय कराना चाहता है।

(५) **विजय** (Conquest)—युद्ध में सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु को पराजित कर उसका प्रदेश अपनी प्रभुता में ले लेना विजय कहलाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने **पूर्वी ग्रीनलैण्ड के मामले** में इसके सम्बन्ध में कहा था—"विजय तभी प्रभुसत्ता की हानि का कारण बनती है, जब दो राज्यों में युद्ध हो और इनमें से एक के पराजित होने पर उसके पास विद्यमान प्रदेश की प्रभुसत्ता विजेता राज्य को प्राप्त हो जाय।" आपेनहाइम के मतानुसार विजय द्वारा किसी प्रदेश पर अधिकार करने के लिए उसके स्वामी को सैनिक दृष्टि से हराना ही पर्याप्त नहीं है, हराने के बाद विजेता द्वारा इस प्रदेश को अपने राज्य

का अंग बनाने अथवा अंगीकरण (Annexation) की घोषणा होनी चाहिए। प्रायः सम्बद्ध राज्यों को एक नोट भेजकर अंगीकरण की इच्छा या इरादा अभिव्यक्त किया जाता है। यदि ऐसा इरादा न व्यक्त किया जाय तो विजेता को विजित प्रदेश पर प्रभुता प्राप्त नहीं होती। प्रदेश के अंगीकरण के बाद शत्रु-राज्य का अन्त और युद्ध की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार से होने वाली युद्ध की समाप्ति **वशीकरण** (Subjugation) कहलाता है। अतः विजय द्वारा नहीं, किन्तु वशीकरण द्वारा शत्रु का प्रदेश विजेता को प्राप्त होता है। शत्रु के जीते हुए प्रदेश पर भले ही विजेता की वास्तविक सत्ता हो, किन्तु इसके अंगीकरण से पहले तक इस पर शत्रु की प्रभुसत्ता (Sovereignty) बनी रहती है; अंगीकरण के बाद विजेता को यह प्रभुता मिलती है। इस प्रकार अंगीकरण (Annexation) विजय को वशीकरण (Subjugation) में परिवर्तित करता है।

स्टार्क ने अंगीकरण (Annexation) के दो प्रकार बताये हैं—(क) युद्ध में शत्रु को पराभूत करके उसका प्रदेश अपने राज्य में मिलाना, जैसे १९३६ में इटली ने एबीसीनिया को जीतकर उसे अपने राज्य का अंग बनाया। (ख) कई बार यह अंगीकरण ऐसे देशों का भी होता है, जो अंगीकृत (Annexed) किये जाने के समय अंगीकर्त्ता (Annexing) राज्य की पूरी अधीनता (Subordination) में थे। उदाहरणार्थ जापान ने १९१० में कोरिया का अंगीकरण किया, किन्तु यह इससे पहले ही इसकी अधीनता में था।

यदि विजेता राज्य शत्रु के विजित प्रदेश को अपने राज्य में न मिलाने की इच्छा की घोषणा करे तो विजेता को विजित पर कोई प्रभुसत्ता नहीं मिलती। द्वितीय विश्व-युद्ध में जर्मनी यद्यपि मित्रराष्ट्रों द्वारा पूरी तरह जीत लिया गया था, किन्तु फिर भी इस पर उनकी प्रभुता स्थापित नहीं हुई क्योंकि वे घोषणा कर चुके थे कि जर्मन सरकार द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण करने पर वे उसका कोई प्रदेश अपने राज्यों में सम्मिलित नहीं करेंगे।

विजय और हस्तान्तर (Cession) में सूक्ष्म अन्तर है। जब किसी शत्रु-राज्य को जीतकर उसका प्रदेश अंगीकरण (Annexation) द्वारा प्राप्त किया जाता है तो यह विजय होती है। हस्तान्तर में शत्रु को परास्त करने के बाद **शान्ति सन्धि** द्वारा उसका प्रदेश हस्तगत किया जाता है। विजय आवेशन (Occupation) से इस अंश में भिन्न है कि आवेशन में अस्वामिक (Res nullius) प्रदेश पर प्रभुता स्थापित की जाती है और विजय में एक प्रदेश पर शत्रु की विद्यमान प्रभुता को सैनिक बल द्वारा हटा कर अपनी प्रभुता स्थापित की जाती है।

विजय द्वारा प्रदेशप्राप्ति की वैधता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विशेषज्ञों ने इस दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन किया है कि राष्ट्रसंघ के निर्माण ने, १९२८ के केलाग-ब्रीआं पैक्ट में सं० रा० संघ के चार्टर ने युद्ध को अवैध घोषित किया है, इनके समझौतों तथा चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने यह घोषणा की है कि वे युद्ध एवं बलप्रयोग के उपाय को निन्दनीय समझते हैं। ऐसी घोषणा करने के बाद इन राज्यों को यह अधिकार नहीं रह जाता है कि वे विजय को प्रदेशप्राप्ति का वैध उपाय समझें।

लौटरपैक्ट (Lauterpacht) ने इस विषय में सत्य ही लिखा है—"उपर्युक्त समझौते जिस हद तक युद्ध का निषेध करने वाले हैं, उस हद तक वे उस राज्य की विजय को अवैध बना देते हैं, जिस राज्य ने स्वयमेव स्वीकार किये गये अपने दायित्वों के सर्वथा प्रतिकूल युद्ध का सहारा लिया है। कोई भी अवैध कार्य सामान्यतः कानून तोड़ने वाले राज्य के लिए हितकर परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता है।"[७] इस विषय में न्यायशास्त्र के एक सुप्रसिद्ध नियम Ex injuria jus non oritus को लागू किया जाता है, इसका यह अभिप्राय है कि कोई अवैध कार्य ऐसा करने वाले व्यक्ति के किसी कानूनी अधिकार का स्रोत या मूल नहीं बन सकता है। युद्ध यदि अवैध कार्य है तो वह किसी राज्य को इस साधन के द्वारा किसी प्रदेश पर अपना कानूनी अधिकार स्थापित करने में सहायक नहीं हो सकता है। जेनिंग्स (Jennings) ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि इस विषय में यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या (युद्ध के) एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय अपराध को किसी प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने के लिए इस कारण के आधार पर न्यायोचित समझा जा सकता है कि इस अपराध को करने में सफलता मिली है।[८] यदि युद्ध एवं विजय को प्रदेशप्राप्ति का न्यायोचित आधार माना जाय तो मुसोलिनी द्वारा एबीसीनिया की विजय को न्यायपूर्ण मानना पड़ेगा। किन्तु इस विषय में कैलसन (Kelsen) ने परम्परागत पुराने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है[९]—एक राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाले व्यवहार द्वारा न केवल किसी प्रदेश को प्राप्त कर सकता है, अपितु इसे अपने अधिकार में बनाये रख सकता है। ऐसा प्रदेश कानूनी तौर से उसी राज्य का समझा जाता है जो अवैध कार्य से भी इस पर प्रभावशाली स्वामित्व स्थापित करता है। यह वस्तुतः प्रभावशालिता (Effectiveness) के सिद्धान्त का प्रयोग कर के ही किया जाता है।

(६) **सम्मेलन का निर्णय** (Award)—स्टार्क उपर्युक्त पाँच प्रकारों के अतिरिक्त एक नया प्रकार विभिन्न राज्यों के सम्मेलन का निर्णय भी बताता है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद पेरिस में मित्रराष्ट्रों का शान्ति-सम्मेलन हुआ था, इसने वर्साय की संधि (Treaty of Versailles), सांजर्मे की संधि (Treaty of St. Germain) तथा नयी की संधि (Treaty of Neuilly) द्वारा विभिन्न प्रदेशों की प्रभुसत्ता अन्य देशों को प्रदान की थी।[१०]

(७) **पट्टा** (Lease)—यह भी प्रदेश पाने का एक प्रकार है। चीन ने १८९८ में कियाओ चौ जर्मनी को, वेई-हाई-वेई ग्रेट ब्रिटेन को, क्वांग चौचान फ्रांस को, तथा २५ वर्ष के लिए पोर्ट आर्थर रूस को पट्टे पर प्रदान किया। १९०३ में पानामा के गण-राज्य ने पानामा नहर-क्षेत्र सं० रा० अमरीका को स्थायी पट्टे पर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में २७ मार्च, १९४१ को ग्रेट ब्रिटेन ने ९९ वर्ष के पट्टे पर कैरिबियन समुद्र के तथा

७. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ० ५२४

८. जेनिंग्स—दी एक्विजीशन आफ् टैरिटरी इन इण्टरनेशनल लॉ, १९६३, पृ० ५४

९. कैलसन—प्रिन्सिपल्ज आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९५६, पृ० २१४

१०. इनके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—हरिदत्त वेदालंकार द्वारा लिखित 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध', पहला अध्याय।

समीपवर्ती अन्य समुद्रों के अनेक नौसैनिक और हवाई अड्डे सं० रा० अमरीका को प्रदान किये।

प्रदेश खोने के प्रकार (Modes of loosing territory)—ये प्रदेश प्राप्त करने की विधियों से सादृश्य रखते हैं। इनके मुख्य प्रकार त्याग (Dereliction), चिरकालिक भुक्ति (Prescription), प्राकृतिक कार्य (Operations of Nature), हस्तान्तर, विजय और विद्रोह (Revolt) हैं। त्याग आवेशन से तथा प्राकृतिक कार्य उपचय से मिलते हैं। त्याग का अभिप्राय यह है कि किसी प्रदेश के स्वामी ने उसमें अपनी प्रभुता या सत्ता का प्रयोग करना छोड़ दिया है। यदि पुराना राज्य इसमें शासन करने की इच्छा रखता है तो यह त्याग (Dereliction) नहीं समझा जायगा। अतः इसके लिए प्रदेश छोड़ने के साथ इस पर प्रभुता रखने की इच्छा छोड़ना भी आवश्यक है। सैण्ट लूशिया टापू तथा डेलागोआ खाड़ी इसके उदाहरण हैं।

प्राकृतिक कार्य (Operations of Nature) का अभिप्राय ज्वालामुखी पर्वतों के उत्क्षेप से प्रदेश की हानि, समुद्र में टापूओं का नष्ट होना, सीमावर्ती नदी की धारा में सहसा परिवर्तन होना है। यदि समुद्री तट के टापू लुप्त हो जाते हैं तो टापुओं के सिरे से नापी जाने वाली प्रादेशिक समुद्र की सीमा समुद्री तट से नापी जाती है और इस प्रकार इसमें ह्रास आ जाता है। सीमावर्ती नदी के बहाव में परिवर्तन आने से किसी राज्य का बहुत-सा प्रदेश कटाव के कारण घट जाता है। मातृभूमि के विरुद्ध सफल विद्रोह (Revolt) द्वारा कोई प्रदेश स्वतन्त्र हो सकता है और इस प्रकार मातृभूमि का प्रदेश घट जाता है। इस प्रकार के विद्रोहों के कुछ उदाहरण ये हैं—१६वीं शताब्दी में १५७६ ई० में हालैण्ड द्वारा स्पेन के विरुद्ध तथा १८वीं शताब्दी में १७७५ ई० में अमरीका के १३ उपनिवेशों का इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह; १६वीं शताब्दी में १८२२ में ब्राजील ने पुर्तगाल के विरुद्ध, १८३० में बेल्जियम ने हालैण्ड के विरुद्ध तथा यूनान, रूमानिया और बलगारिया ने टर्की के खलीफा के विरुद्ध कामयाब बगावत की। २०वीं शती के पूर्वार्ध में इसका प्रसिद्ध उदाहरण चीन में कम्युनिस्टों द्वारा च्यांग-काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार के विरुद्ध किया गया सफल विद्रोह है। इससे चीन की मुख्य भूमि में राष्ट्रवादी सरकार की प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से नष्ट हो गई। पाकिस्तान के पूर्वीभाग (बंगलादेश) द्वारा १६७१ में पश्चिमी पाकिस्तान के विरुद्ध किया गया सफल विद्रोह इसका नवीनतम उदाहरण है, इसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र बंगलादेश की स्थापना हुई है।

ग्यारहवाँ अध्याय

हस्तक्षेप

(Intervention)

प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने राज्य का प्रबन्ध करे, संविधान का निर्माण करे तथा दूसरे देशों के साथ संधियाँ करे। किन्तु कई बार ऐसा होता है कि कोई अन्य राज्य या अनेक राज्य इसके मामलों में दखल देते हैं, इसे कोई ऐसा काम करने के लिए बाधित करते हैं, जो इसकी इच्छा के विरुद्ध होता है। **लारेन्स** ने इस प्रकार के दखल को **हस्तक्षेप** (Intervention) कहा है।[1] **बियर्ली** ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—"यह दूसरे राज्य के घरेलू या वैदेशिक मामलों में दखल देने के ऐसे कार्यों तक सीमित है, जिनसे राज्य की स्वतन्त्रता का भंग होता है। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को उससे स्वयं किये जाने वाले कार्य के सम्बन्ध में केवल परामर्श देना इस अर्थ में हस्तक्षेप नहीं कहला सकता, हस्तक्षेप का स्वरूप आज्ञात्मक (Imperative) होना चाहिए। यह या तो शक्ति के प्रयोग द्वारा बलपूर्वक किया गया होना चाहिए या इसके पीछे बल-प्रयोग की धमकी होनी चाहिए। इसके तानाशाही और आदेशात्मक (Dictatorial) स्वरूप को पहले स्पष्ट किया जा चुका है।"[2]

हस्तक्षेप के प्रकार (Kinds of Intervention)—**स्टार्क** ने हस्तक्षेप के चार प्रकार बताये हैं[3]—(१) **कूटनीतिक या राजनयिक** (Diplomatic) **हस्तक्षेप**—१८९५ में रूस, फ्रांस और जर्मनी ने जापान पर अपना कूटनीतिक दबाव डालकर उसे इस बात के लिए विवश किया कि वह शिमोनोसेकी की संधि द्वारा उसे दिया गया लिआओटुंग का प्रायद्वीप चीन को वापिस कर दे। (२) **आन्तरिक** (Internal) **हस्तक्षेप**—यह एक राज्य द्वारा किसी दूसरे राज्य में संघर्ष, विद्रोह या गृहयुद्ध करने वाले दो पक्षों में से किसी एक को सहायता प्रदान करना है, जैसे कोरिया में चीनी गणराज्य वालों ने दक्षिण कोरिया के शासन के साथ संघर्ष करने वाले उत्तरी कोरिया को सहायता प्रदान की थी। (३) **बाह्य** (External) **हस्तक्षेप**—जब कोई राज्य दूसरे राज्य के साथ लड़ने वाले देश के विरुद्ध युद्ध में कूदता है तो यह बाह्य हस्तक्षेप होता है, जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी की लड़ाई में ११ जून १९४० को इटली ने जर्मनी की ओर से इस युद्ध में हस्तक्षेप किया। (४) **दण्डात्मक** (Punitive) **हस्तक्षेप**—इस में एक

१. लारेन्स—प्रिन्सिपिल्ज आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ११९

२. बियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ३०८

३. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० ८६

राज्य किसी अन्य राज्य द्वारा हानि पहुँचाये जाने या संधिभंग का बदला लेने के लिए इसके विरुद्ध युद्ध के अतिरिक्त अन्य दण्डात्मक कार्यवाही करता है, जैसे कोई राज्य किसी अन्य राज्य को संधिपालन के लिए बाध्य करने के लिए उसका शान्तिपूर्ण परिवेष्टन (Peaceful Blockade) करता है, उस देश का अन्य देशों के साथ समुद्री सम्बन्ध बिल्कुल विच्छिन्न कर देता है (देखिये बीसवाँ अध्याय)।

हस्तक्षेप करने का कारण (Grounds of Intervention)—हस्तक्षेप करने के उचित कारणों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद हैं। स्टार्क ने निम्न पाँच अवस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से हस्तक्षेप को वैध माना है[४]—(क) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की व्यवस्था के अनुसार कई राज्यों द्वारा सामूहिक (Collective) हस्तक्षेप, जैसे १९५० में कोरिया के मामले में हस्तक्षेप। (ख) विदेश-स्थित अपने नागरिकों के अधिकारों की तथा सम्पत्ति की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया हस्तक्षेप। (ग) आत्मरक्षा के लिए तथा सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिए किया गया हस्तक्षेप। (घ) अपने संरक्षित राज्य के मामलों में हस्तक्षेप। (ङ) यदि कोई राज्य सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का घोर उल्लंघन करता है तो अन्य राज्यों को इस मामले में हस्तक्षेप का अधिकार है। आपेनहाइम ने इसके अतिरिक्त हस्तक्षेप के दो अन्य कारण भी माने हैं: (च) यदि किसी राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा कुछ पाबन्दियाँ लगाई जायें और वह इनका पालन नहीं करे तो संधि से सम्बद्ध अन्य राज्यों को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है। जैसे १९१४ में बेल्जियम की तटस्थता की संधि का भंग होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने इसमें हस्तक्षेप किया। (छ) जब किसी संधि द्वारा कोई राज्य जिसी अन्य राज्य में एक निश्चित राजवंश का शासन या शासनपद्धति निश्चित कर देता है तो इसमें परिवर्तन होने की दशा में दूसरे राज्य को हस्तक्षेप का अधिकार होता है। ब्रियर्ली ने हस्तक्षेप को कानूनी तौर से केवल तीन अवस्थाओं में उचित माना है—आत्मरक्षा, प्रत्यपहार (Reprisals), संधि द्वारा प्राप्त अधिकार का प्रयोग।[५] वस्तुतः राज्य अन्य अनेक कारणों से दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करते रहे हैं। यहाँ हस्तक्षेप के कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षिप्त विचार किया जायगा।

(१) **आत्मरक्षा** (Self-defence)—व्यक्ति की भाँति एक राज्य को भी वास्तविक अथवा सम्भावित आक्रमण से रक्षा करने का पूरा अधिकार है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा ५१ में "सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के उपायों को अवलम्बन करने से पहले तक" दूसरे राज्य के सशस्त्र आक्रमण से रक्षा करने का अधिकार राज्यों को दिया गया है।[६] आत्मरक्षा के लिए दूसरे राज्य में हस्तक्षेप का सुन्दर उदाहरण १८३७ में **केरोलाइन** (Caroline) **स्टीमर की घटना** है। इस समय कनाडा में विद्रोह हुआ। इसमें केरोलाइन नामक एक अमरीकन जहाज नियाग्रा नदी में से होकर

४. स्टार्क—दी इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० ८७

५. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ३१२

६. इसकी विशद व्याख्या के लिए देखिये—ब्रिटिश यीअर बुक आफ् इंटरनेशनल लॉ, १९६१, ब्राउनली—दी यूज आफ फोर्स इन सैल्फ-डिफेन्स, पृ० १८३ से २६८

अमरीकन प्रदेश से विद्रोहियों के लिए सैनिक तथा रणसामग्री को लाकर उनकी सहायता करता था। अमरीकन सरकार अपने प्रदेश में होने वाले इस अवैध कार्य को या तो बन्द नहीं करना चाहती थी या बन्द कर सकने में असमर्थ थी। इस पर कनाडियन सैनिकों ने नियाग्रा नदी की सीमा पार की, अमरीकन नागरिकों से संघर्ष किया और विद्रोहियों को मदद पहुँचाने वाले केरोलाइन जहाज को नियाग्रा के जलप्रपात में बहाकर नष्ट कर दिया। इसके बाद दोनों राज्यों में हुए वाद-विवाद में संयुक्त राज्य अमरीका ने इस बात से इन्कार नहीं किया कि उपर्युक्त परिस्थितियों में यह हस्तक्षेप उचित था। ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि अत्यावश्यक गम्भीर परिस्थितियों के कारण उनका कार्य समुचित था। दोनों में मतभेद केवल इस घटना के तथ्यों के बारे में था। इस विषय में अमरीकन विधिशास्त्री हाइड (Hyde) ने ठीक ही लिखा है—"ब्रिटिश सेना ने वही कार्य किया, जो संयुक्त राज्य स्वयं करता, बशर्ते कि इसके पास अपना कर्त्तव्य पूरा करने के साधन और इच्छा होती।"

इस मामले में आत्मरक्षा के सिद्धान्त का निर्धारण करते हुए अमरीकन विदेश-मंत्री **डेनियल वेबस्टर** (Daniel Webster) ने कहा था, "आत्मरक्षा की आवश्यकता के लिए यह सिद्ध करना अनिवार्य है कि यह 'तात्कालिक और प्रचुर' (Instant and overwhelming) है तथा किसी अन्य साधन का विकल्प छोड़ने वाली या विचार के लिए समय देने वाली नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि इसमें की गई कार्यवाही बहुत अधिक या अयुक्तियुक्त नहीं होनी चाहिए। आत्मरक्षा की आवश्यकता द्वारा उचित ठहराया गया कार्य इस आवश्यकता के अनुरूप सीमित होना चाहिए।" उदाहरणार्थ, उपर्युक्त घटना में ब्रिटिश सेनायें केरोलाइन को नष्ट करके अपनी सीमा में लौट आईं; उनका यह कार्य सर्वथा समुचित था, किन्तु यदि वे इससे आगे बढ़कर अमरीकन प्रदेश पर अधिकार करने का कार्य करतीं तो यह हस्तक्षेप अनुचित होता। प्रायः आत्मरक्षा में सफलता पाने के बाद शत्रु के प्रदेश को अधिकाधिक हथियाने की इच्छा स्वाभाविक होती है। अतः इस विषय में इस प्रतिबन्ध का बहुत महत्व है। १९३१ में जापान द्वारा मंचूरिया में हस्तक्षेप करने का पहला अवसर भले ही आत्मरक्षा की दृष्टि से समुचित हो, किन्तु इसके बाद चीन में उसके अपने साम्राज्य के विस्तार के कार्य आत्मरक्षा की दृष्टि से उचित नहीं माने जा सकते।

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री हस्तक्षेप के लिए आवश्यक आत्मरक्षा (Self-defence) को उपर्युक्त अर्थ में सीमित नहीं समझते, वे इसे आत्मसंरक्षण (Self-preservation) के रूप में विशद करना चाहते हैं। उनके मतानुसार आत्मसंरक्षण प्रत्येक राज्य का मौलिक अधिकार है। **हाल** के शब्दों में "सुव्यवस्थित समाजों में रहने वाले व्यक्तियों तक को आत्मसंरक्षण का पूर्ण अधिकार होता है। स्वतन्त्र राज्यों के साथ भी ऐसा ही है, उन्हें सब अवस्थाओं में अपनी रक्षा का अधिकार है। अन्ततोगत्वा राज्यों के सब कर्त्तव्य आत्मसंरक्षण में समा जाते हैं।"[७]

ब्रियर्ली ने हस्तक्षेप के लिए आत्मसंरक्षण की उपर्युक्त व्यापक परिभाषा की

७. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, अष्टम संस्करण, पृ० ६५ तथा ३२२

आलोचना करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि यदि इस प्रकार की व्याख्या सही मानी जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के प्रत्येक कार्य को न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। २ अगस्त १९१४ को जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का भंग करते हुए उस पर आक्रमण का जघन्य कार्य किया, किन्तु आत्मसंरक्षण की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार इसे कानूनी दृष्टि से उचित सिद्ध किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे अनैतिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता। इस विषय में हाल द्वारा प्रतिपादित व्यक्तियों के आत्मसंरक्षण के अधिकार को राष्ट्रीय कानून का उदाहरण बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों को भी इस अधिकार के कारण दूसरे व्यक्तियों की हत्या करने का अधिकार नहीं है। ब्रियर्ली द्वारा दिये गए कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। लार्ड बेकन ने एक बार ऐसे उदाहरण की कल्पना की थी कि समुद्र में एक जहाज का विध्वंस हो जाने पर उसके दो यात्री एक तख्ते को पकड़ लेते हैं। किन्तु वह तख्ता दो व्यक्तियों का बोझ नहीं उठा सकता, अतः एक व्यक्ति दूसरे को उससे हटाकर समुद्र में ढकेल देता है, इंगलिश कानून की दृष्टि से उसका यह कार्य हत्या समझा जायगा, आत्मसंरक्षण की युक्ति के आधार पर इसे न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। एक अन्य मामले R. v. Dudley and Stephens 1884 में समुद्र में तूफान से बही जाने वाली किश्ती में दो व्यक्ति तथा एक लड़का सवार थे, कई दिन बाद जब उनकी भोजन सामग्री और जल समाप्त हो गया तो उन दोनों व्यक्तियों ने बच्चे को मारकर खा लिया। बाद में इन्हें हत्या का दण्ड दिया गया यद्यपि जूरी ने यह स्वीकार किया कि यदि यह बच्चा न खाया जाता तो तीनों व्यक्ति मर जाते। 'विलियम ब्राउन' (William Brown) जहाज में भी इससे सादृश्य रखने वाली घटना हुई। इस जहाज के आइसबर्ग से टकराने पर इसकी सवारियाँ किश्तियों में उतारी गईं, एक किश्ती चू रही थी, उसमें ज्यादा सवारियाँ लद गईं, इन सबके डूबने का डर था, एक व्यक्ति ने किश्ती का बोझ हलका करने के लिए कुछ यात्रियों को समुद्र में ढकेल दिया, इस व्यक्ति को न्यायालय ने हत्या का अपराधी माना। उपर्युक्त दोनों उदाहरण आत्मसंरक्षण के हैं, यदि राष्ट्रीय कानून में वास्तव में कोई ऐसा अधिकार होता तो उपर्युक्त व्यक्ति हत्या के दोषी न ठहराये जाते। उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में ये कार्य रक्षात्मक (Defensive) नहीं थे क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध किए गए थे, जिनसे किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं था। अतः राष्ट्रीय कानून प्रत्येक दशा में व्यक्ति को आत्मसंरक्षण का अधिकार नहीं देता, बल्कि यह कुछ अवस्थाओं में मर जाना उसका कानूनी कर्त्तव्य समझता है। इस अवस्था में हाल द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून में आत्मसंरक्षण के सिद्धान्त को मानना भ्रान्तिपूर्ण है।[८]

यह सत्य है कि १९३२ में जापान ने आत्मसंरक्षण के नाम पर चीन पर आक्रमण किया था, रूस ने १९३९ में फिनलैण्ड पर हमला किया, १९५० में चीन ने इसी आधार पर कोरिया और तिब्बत के मामलों में हस्तक्षेप किया और १९५६ में रूस ने हंगरी के मामले में दखल दिया। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन कार्यों को न्याय्य

८. ब्रियर्ली—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१७-८

नहीं ठहराया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आत्मरक्षा के लिए हस्तक्षेप तभी न्यायोचित है, जब खतरा बिल्कुल सामने तथा तात्कालिक हो, इसे हटाने का अन्य कोई उपाय न हो, तथा सं० रा० संघ ने इस विषय में कोई कार्यवाही न की हो।

इस विषय में सर्वोत्तम आधुनिक उदाहरण भारत द्वारा पाकिस्तान के विरुद्ध दिसम्बर १९७१ में की गई कार्यवाही है। पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में दिसम्बर १९७० के चुनावों में शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग पार्टी प्रबल बहुमत से विजयी हुई, किन्तु पाकिस्तान के राष्ट्रपति याहिया खां ने लोकमत की अवहेलना करते हुए सैनिक शक्ति द्वारा पूर्वी बंगाल की स्वायत्त शासन की भावना को कुचलने के लिए घोर पाशविक अत्याचार तथा भीषण नरसंहार किया, इससे भयभीत होकर अपनी जान बचाने के लिए एक करोड़ शरणार्थी बंगाल से भाग कर भारत आये, इन के भारी बोझ से भारत के लिए कई भीषण समस्यायें पैदा हो गईं। भारत ने सं० रा० अमरीका तथा अन्य देशों से इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए तथा बंगालियों की रक्षा करने के लिए कहा, किन्तु वे देश इसे पाकिस्तान का आन्तरिक मामला मानते हुए, हस्तक्षेप के लिए तैयार नहीं हुए। वाशिंगटन तथा पेकिंग के पाकिस्तानपक्षपाती रुख के कारण सं०रा० संघ द्वारा इस मामले में हस्तक्षेप संभव नहीं था। अतः जब ३ दिसम्बर १९७२ को पाकिस्तानी हवाई जहाजों ने भारत के हवाई अड्डों पर हमला किया तो आत्मरक्षा के लिए भारत द्वारा बंगलादेश के बारे में हस्तक्षेप करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था, अतः उस की यह कार्यवाही सर्वथा न्यायोचित थी।

(२) **सन्धि के अधिकारों को लागू करना** (Enforcement of Treaty Rights)—ब्रियर्ली ने इसका उदाहरण १९०३ की हवाना की सन्धि दी है। इसके अनुसार क्यूबा ने यह स्वीकार किया था कि सं० रा० अमरीका उसकी स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए तथा कुछ अन्य अवस्थाओं में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। सं० रा० अमरीका ने कई बार इस अधिकार का प्रयोग किया, किन्तु १९३४ की सन्धि द्वारा उपर्युक्त सन्धि को रद्द कर दिया गया। १८६३ की सन्धि के अनुसार फ्रांस, रूस और ग्रेट ब्रिटेन ने यूनान की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी थी, १९१६ में उन्होंने यहाँ वैधानिक सरकार पुनः स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप किया।

(३) **मानवीयता** (Humanity)—लारेन्स ने मानवीयता को हस्तक्षेप का न्यायोचित कारण माना है। इसके कुछ प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित हैं—१८७८ ई० में रूस ने टर्की के खलीफा की सरकार द्वारा बलगारिया में ईसाइयों पर होने वाले भीषण अत्याचारों के प्रतिरोध के लिए उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ा था। हिटलर द्वारा यहूदियों पर किये गए अत्याचारों के कारण अन्य देशों ने जर्मनी की बहुत भर्त्सना की थी और न्यूरेम्बर्ग में अनेक युद्धापराधियों पर यहूदियों पर अत्याचार करने का आरोप लगाया गया था। दक्षिणी अफ्रीका की जातीय भेदभाव (Apartheid) की नीति के विषय में सं० रा० संघ ने १९५२ में तीन व्यक्तियों का आयोग बनाया था, २१ मार्च १९६० को शार्पेविल्ले में रंगभेद के पास कानूनों (Pass Laws) के विरुद्ध प्रदर्शनकारियों के अफ्रीकी सरकार द्वारा उग्र दमन पर समूचे सभ्य जगत् ने भीषण रोष प्रकट किया और सुरक्षा परिषद् ने इस विषय

में दक्षिण अफ्रीका की निन्दा का प्रस्ताव पास किया। सं० रा० संघ द्वारा जातिवध और शरणार्थियों के दर्जे के सम्बन्ध में किये गए समझौते इस दृष्टि से किये गये हैं कि बिना किसी जातीय भेदभाव के सब मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त हों।

१९६९ में नाइजीरिया के तथा १९७१ में पाकिस्तान के गृहयुद्धों में मानवीयता के आधार पर अन्य देशों द्वारा तथा सं० रा० संघ द्वारा हस्तक्षेप की मांग की गई थी। बंगलादेश (पूर्वी पाकिस्तान) में पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार ने मार्च १९७१ ई० में बड़े पैमाने पर बंगाली जनता के योजना बद्ध रीति से विध्वंस करने की नीति अपनाई, भारत ने इसकी ओर संसार का ध्यान आकृष्ट करते हुए विश्व के प्रमुख देशों से इस में हस्तक्षेप करने के लिए कहा। किन्तु सं०रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, चीन आदि बड़े देशों द्वारा इसे पाकिस्तान का घरेलू मामला समझा जाने के कारण मानवीयता के आधार पर हस्तक्षेप न्यायोचित होते हुए इस मामले में सं० रा० संघ द्वारा कोई कार्यवाही नहीं की गई।

(४) **शक्ति-संतुलन** (Balance of Power)—१६४८ में वैस्टफालिया की सन्धि के बाद से योरोप की राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त रहा है कि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति-संम्पन्न न हो, सब राज्यों में शक्ति-संतुलन बना रहे। १६४८ की यूट्रैक्ट की संधि के, १८१६ की वियना कांग्रेस के, १८५६ की पेरिस कांग्रेस के, १८७८ की बर्लिन कांग्रेस के अधिकांश निर्णय इसी सिद्धान्त के आधार पर किये गए। १८५६ का क्रीमिया युद्ध ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा टर्की के साम्राज्य को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया गया था, ताकि इसे दबाकर रूस दक्षिण-पूर्वी योरोप में अधिक शक्तिशाली न हो जाय। बाल्कान प्रदेश में प्रभुता के लिए १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आस्ट्रिया तथा रूस में प्रबल होड़ थी, इस प्रदेश के राज्यों में अधिकांश हस्तक्षेप इन दोनों के तथा ग्रेट ब्रिटेन के शक्तिसंतुलन को बनाये रखने के लिए किये गये। १८८६ में तथा १८९७ में ग्रीस और टर्की के मामलों में महाशक्तियों ने इस उद्देश्य से हस्तक्षेप किया। १९१३ में अल्बानिया का स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिए टर्की में दखल दिया गया। इन सभी हस्तक्षेपों में योरोपियन राज्यों के उद्देश्य बड़े स्वार्थपूर्ण थे और उन्होंने छोटे राज्यों के हितों को अपने हितों की पूर्ति के लिए बलिदान करने में संकोच नहीं किया। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि "लुटेरे राज्य यदि लूट के बँटवारे पर पहले ही सहमत हो जायें तथा इन मामलों में कम दिलचस्पी लेने वाले पड़ोसी राज्यों को चुप करा सकें तो उनकी लूट का शिकार बनने वाले देश अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे।"

(५) **वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप** (Intervention due to financial reasons)—कई बार किसी देश के दिवालिया होने या उसकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब होने पर उसे कर्ज देने वाले देश उसके मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। पिछली शताब्दी में यह योरोपियन शक्तियों द्वारा अफ्रीका तथा एशिया में साम्राज्य विस्तार करने का एक प्रभावशाली उपाय था। मिश्र इसी कारण पराधीनता के पाश में जकड़ा गया, वह इङ्गलैण्ड और फ्रांस का कर्जदार था, इन दोनों देशों ने कर्ज की अदायगी के लिए इस पर द्वैध (Dual) नियन्त्रण स्थापित किया। १८८२ में फ्रांस इस मामले में पीछे हट गया और इंगलैण्ड ने मिश्र पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली।

(६) **गृहयुद्धों में हस्तक्षेप** (Intervention in Civil Wars)—किसी राज्य में विद्रोह होने की दशा में पड़ोसी राज्यों पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। क्या इस अवस्था में पड़ोसी राज्यों को दूसरे राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना उचित है? १८१५ की वियना कांग्रेस ने योरोप में फ्रेंच क्रांति की विरोधी भावनाओं को पुष्ट करने वाले, लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता की अवहेलना करने वाले राज्यों की स्थापना की थी, इन भावनाओं के दमन के लिए आस्ट्रिया, रूस और प्रशिया के राजाओं ने पवित्र संघ (Holy Alliance) बनाया। आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री मैटरनिख लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के प्रसार को छूत की बीमारी की तरह योरोप के राज्यों में फैलने से रोकना चाहता था। उसके नेतृत्व में १८२० में ट्रोप्पौ के प्रोतोकोल (Protocol of Troppau) में किसी देश में क्रांति होने पर इसमें दूसरे राज्यों द्वारा हस्तक्षेप का अधिकार माना गया। इसके अनुसार १८२१ में नेपल्ज़ और लम्बार्डी के राज्यों में क्रान्ति होने पर आस्ट्रिया ने, तथा स्पेन में क्रांति होने पर फ्रांस ने अपनी सेनाएं भेज कर क्रांतिकारियों का दमन किया और निरंकुश स्वेच्छाचारी शासकों का समर्थन किया। १८२७ में ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रांस ने यूनान को स्वतन्त्र कराने के लिए हस्तक्षेप किया। १८४६ में रूस ने आस्ट्रिया को हंगरी का विद्रोह दबाने में सैनिक सहायता प्रदान की। १६३४-३८ के स्पेन के गृहयुद्ध में जर्मनी तथा इटली की सरकारों ने स्पेन की गणराज्यवादी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जनरल फ्रांको को बहुमूल्य मदद पहुँचाई। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर ग्रेट ब्रिटेन, यूगोस्लाविया, अल्बानिया और बल्गारिया ने यूनान के गृहयुद्ध में विभिन्न पक्षों को सहायता दी।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से महाशक्तियाँ उपर्युक्त सभी कारणों से दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करती रही हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से केवल ब्रियर्ली और स्टार्क द्वारा बताई गई उपर्युक्त परिस्थितियों में ही हस्तक्षेप किया जा सकता है।

मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine)—कुछ राज्य हस्तक्षेप सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अपर्याप्त समझते हुए अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किसी विशेष क्षेत्र में अन्य राज्यों को हस्तक्षेप न करने की घोषणा और चेतावनी देते हैं। इस प्रकार की सबसे प्रसिद्ध घोषणा सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति मनरो ने १८२३ में कांग्रेस को भेजे अपने संदेश में की थी। उस समय अमरीका को दो ओर से योरोपियन राज्यों द्वारा नई दुनिया के मामलों में हस्तक्षेप करने का खतरा था। अलास्का रूस के अधिकार में था और वह अमरीका के उत्तर-पश्चिमी तट से अपने अतिरिक्त अन्य सभी देशों के जहाजों को हटाने का प्रयत्न कर रहा था। दूसरा कारण योरोप में रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया के सम्राटों द्वारा उदार, लोकतंत्रीय तथा राष्ट्रीयता के विचारों वाली क्रांतियों का विविध राज्यों में दमन करने के लिए 'पवित्र संघ' (Holy Alliance) का संगठन था। यह फ्रांस द्वारा स्पेन में क्रांति की आग बुझा चुका था, अब दक्षिण अमरीका के स्पेनिश प्रदेशों में स्पेन की प्रभुता के विरुद्ध क्रांति की चिंगारियाँ भड़कने लगी थीं। 'पवित्र संघ' के राज्य इनका भी दमन करना चाहते थे। इन्हें इस कार्य से पृथक् रहने पर बल देते हुए राष्ट्रपति मनरो के उपर्युक्त संदेश में यह कहा गया था—(१) अमरीकन महाद्वीप

के प्रदेश स्वतन्त्र और स्वाधीन स्थिति प्राप्त कर चुके हैं। अब भविष्य में ये प्रदेश किसी योरोपियन शक्ति द्वारा भावी उपनिवेश का विषय नहीं बनाये जायेंगे। (२) हमने योरोपियन शक्तियों की लड़ाइयों में तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों में कभी कोई भाग नहीं लिया और न ही ऐसा भाग लेने की हमारी इच्छा है। (३) सं० राज्य अमरीका ने, योरोप के युद्धों में कभी हस्तक्षेप नहीं किया और न ही कभी वह ऐसा हस्तक्षेप करेगा। किन्तु वह अपनी शान्ति और सुख के हितों की दृष्टि से योरोपियन शक्तियों को इस बात की अनुमति नहीं दे सकता कि **"वे अमरीका के किसी भाग में अपनी राजनीतिक पद्धति का विस्तार करें तथा दक्षिण अमरीकी गणराज्यों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करें।** यदि वे इस गोलार्द्ध के किसी हिस्से में अपनी राजनीतिक पद्धति के प्रसार का कोई प्रयास करेंगे तो हम इसे अपनी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक समझेंगे।" इसमें से पहली बात रूस के अलास्का में आगे बढ़ने के विरुद्ध चेतावनी थी और तीसरी बात का उद्देश्य 'पवित्र संघ' के राज्यों को यह बताना था कि वे स्पेन की प्रभुता से मुक्त हुए दक्षिण अमरीकी राज्यों को दुबारा स्पेन का गुलाम बनाने की कोई चेष्टा न करें। राष्ट्रपति मनरो द्वारा इस नीति की घोषणा होने के कारण यह 'मनरो सिद्धान्त' कहलाता है।

मनरो सिद्धान्त अमरीकन विदेश नीति का प्रमुख आधार रहा है और आवश्यकता पड़ने पर इससे अनेक नये अनुमान और परिणाम निकाले गये हैं। १८४८ में राष्ट्रपति पोक (Polk) ने इसकी यह व्याख्या की थी कि यह एक गैर-अमरीकन राज्य को अमरीकन भूमि का स्वेच्छापूर्वक हस्तान्तर करने से रोकता है। १८९५ में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने यह घोषणा की कि इस सिद्धान्त के अनुसार उसे ब्रिटिश गायना तथा वेनेजुएला के मध्य वास्तविक सीमान्त रेखा निर्धारित करने का अधिकार है। इस अवसर पर अमरीकी विदेशमंत्री श्री ओलनी (Olney) ने यहाँ तक घोषणा की कि इस गोलार्द्ध में सं० रा० अमरीका लगभग 'प्रभु' (Sovereign) है और उसका 'आदेश ही कानून है'। १९०४ में राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वैल्ट ने यह दावा किया कि इस सिद्धान्त से सं० रा० अमरीका को 'अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की शक्ति' के अधिकार मिले हैं। ब्रियर्ली ने लिखा है कि कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि जो सिद्धान्त दक्षिण अमरीका के राज्यों में योरोपियन हस्तक्षेप को रोकने के उद्देश्य से बनाया गया था, अब उसका एकमात्र प्रयोजन इन दोनों देशों में हस्तक्षेप का अनन्य अधिकार सं० राज्य को प्रदान करना है। कई बार सं० राज्य अमरीका ने इसके आर्थिक पहलू पर बहुत बल दिया है और इस गोलार्द्ध में अन्य शक्तियों के आर्थिक प्रभाव की वृद्धि पर रोष प्रकट किया है। किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से **उत्तम पड़ोसी की नीति** (Good Neighbour Policy) **अंगीकरण करने पर** सं० रा० अमरीका ने इस सिद्धान्त को अपने मूल रूप में लागू करने का यत्न किया है।[६]

मनरो सिद्धान्त का अनुसरण सं० रा० अमरीका ने अपने हितों की पूर्ति के उद्देश्य से किया है। ब्रियर्ली के शब्दों में "यह अपने आप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल नहीं

६. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८८

है, किन्तु यह निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नहीं है।" सं० रा० संघ के चार्टर में प्रादेशिक समझौतों के रूप में इस सिद्धान्त को कुछ अंशों में स्वीकार किया गया है।

जापान ने अपने प्रभाव-क्षेत्र में मनरो सिद्धान्त जैसी नीति अपनाई थी। १९३४ से १९४१ तक जापान चीन में तथा सुदूर-पूर्व में अपने लिए वैसी विशेष स्थिति का दावा करता था, जैसा मनरो सिद्धान्त में सं० राज्य अमरीका के लिए किया गया था।

ड्रेगो तथा नेहरू सिद्धान्त (Drago and Nehru Doctrines)—१९०२ में अर्जेण्टायना का विदेशमन्त्री श्री लुइस ड्रेगो था। उस समय ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी ने अपने नागरिकों के ऋणों को वेनेजुएला से वसूल करने के लिए उसका शान्तिपूर्वक परिवेष्टन (Blockade) किया हुआ था। यह उस राज्य के मामलों में प्रबल हस्तक्षेप था। ड्रेगो ने इसका प्रतिवाद करते हुए यह घोषणा की कि किसी राज्य को अपने नागरिकों का ऋण दूसरे राज्य से वसूल करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य के सार्वजनिक ऋण अदा नहीं करता तो यह उसे उस राज्य में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं प्रदान करता। उसके मतानुसार ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्वीकार करने का परिणाम शक्तिशाली राज्यों द्वारा निर्बल राष्ट्रों का विनाश होगा। ड्रेगो केवल सार्वजनिक ऋण वसूल करने के लिये सैनिक शक्ति के प्रयोग का घोर विरोधी था। यह सिद्धान्त उसी के नाम पर **ड्रेगो सिद्धान्त** कहलाता है। १९०७ के हेग समझौते में इसे स्वीकार कर लिया गया, किन्तु इसमें यह संशोधन किया गया कि सशस्त्र हस्तक्षेप तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कर्जदार या अधमर्ण देश इस मामले में मध्यस्थ या पंच का प्रस्ताव तथा निर्णय मानना अस्वीकार कर दे।

नेहरू सिद्धान्त मनरो सिद्धान्त की भांति भारत की पुर्तगाली बस्तियों में लिस्बन का शासन बनाये रखने वाली शक्तियों को यह चेतावनी थी कि इस विषय में उनका कोई भी हस्तक्षेप भारत को सहन न होगा। २६ जुलाई १९५५ को श्री नेहरू ने भारतीय संसद में यह घोषणा की—"पुर्तगालियों द्वारा गोआ को अपनी प्रभुता में बनाये रखना भारतीय मामलों में निरन्तर दखल देना है। मैं एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि किसी अन्य शक्ति द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप भारत की राजनीतिक पद्धति में हस्तक्षेप करना होगा।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में पिछली दशाब्दी में हंगरी में रूस के तथा तिब्बत में चीन के हस्तक्षेप ने कई जटिल प्रश्न उत्पन्न किये हैं। अतः यहाँ संक्षेप में इन दोनों की चर्चा की जायगी।

हंगरी में रूस का हस्तक्षेप (Russian Intervention in Hungary)—१९५६ में सोवियत रूस ने हंगरी में हस्तक्षेप किया। इसके सम्बन्ध की प्रमुख घटनायें इस प्रकार हैं: १९४९ में हंगरी में जनता का गणराज्य (Peoples' Republic) स्थापित हुआ तथा इसका नया संविधान बना। इस समय की सरकार के शासन को अत्याचार-पूर्ण समझते हुए तथा इसके कुशासन से असन्तुष्ट होकर जनता ने अक्टूबर १९५६ में विद्रोह किया एवं गृहयुद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों की मांग थी कि इमरे नेगी (Imre Nagy)

को प्रधानमंत्री बनाया जाय। यह प्रधानमंत्री बना, इसने जनता की मांग पूरी करते हुए शासन में अनेक सुधार किये तथा स्वतन्त्र चुनाव (Free elections) कराने की आज्ञा दी। सोवियत यूनियन को यह सहन न हुआ तथा शूमैन के शब्दों में रूस ने इसमें हस्तक्षेप किया—"४ नवम्बर १९५६ की रविवार को उषाकाल में हजारों सोवियत टैंक बुडापैस्ट (हंगरी की राजधानी) में तथा अन्य बड़े नगरों में आ गये। सारे विरोध का क्रूरतापूर्वक दमन किया गया।" इमरे नेगी के मन्त्रिमण्डल को कुचला गया। प्रधानमंत्री को जान बचाने के लिए यूगोस्लाव दूतावास में शरण लेनी पड़ी। काडार (Kadar) के प्रधान-मन्त्रित्व में सोवियत रूस की सहायता से क्रांतिकारी मजदूरों तथा किसानों की नई सरकार बनी। इस समय के भीषण सरकारी दमन से बचने के लिए १,७५,००० हंगेरियन आस्ट्रिया तथा अन्य देशों में आ गये और वहाँ शरणार्थी बने।

अमरीकी सरकार ने रूस के हंगरी में हस्तक्षेप का प्रश्न सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद् में पेश किया, किन्तु यहाँ रूस ने वीटो का प्रयोग करते हुए इस मामले में आये अमरीकी प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इस पर ९ नवम्बर १९५६ को इस विषय पर विचार करने के लिए अमरीका ने जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलवाया। इसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि रूस हंगरी से अपनी सेनायें हटा ले, ताकि वहां सं० रा० संघ की अध्यक्षता में स्वतन्त्र चुनाव हो सकें। सोवियत रूस के प्रबल विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव दो-तिहाई बहुमत से पास हो गया। १९ नवम्बर १९५६ को रूस के विदेश-मंत्री ने यह आश्वासन दिया कि हंगरी में स्थिति सामान्य होते ही रूसी फौजें वापिस बुला ली जाएंगी। १२ दिसम्बर १९५६ को एक प्रस्ताव में जनरल असेम्बली ने रूस की निन्दा इसलिए की कि उसने 'हंगरी की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का अपहरण करके, हंगेरियन जनता के मौलिक अधिकारों में बाधा डालकर चार्टर का उल्लंघन किया है।' १० जून १९५६ को असेम्बली ने हंगरी की स्थिति के अन्वेषण के लिए पाँच सदस्यों की विशेष समिति बनाई। इस समिति ने हंगरी से भाग कर आये सौ व्यक्तियों से भेंट की और अपनी जाँच के आधार पर सोवियत रूस को हंगरी में हस्तक्षेप का दोषी ठहराया (२० जून १९५७)।

इस विषय में यह विचारणीय है कि इस मामले में सोवियत रूस का हस्तक्षेप क्या वैध एवं न्यायोचित था। सोवियत रूस के प्रतिनिधि शेपिलोव ने १९ नवम्बर १९५६ को अपनी सरकार का दृष्टिकोण रखते हुए कहा था—"हमें इस बात का ध्यान रखना है कि हंगरी की सीमा सोवियत यूनियन के साथ लगी हुई है, हंगरी ने रूस के साथ पारस्परिक सहायता और सहयोग की वारसा संधि (Warsaw Pact) की हुई है। हंगरी में यदि प्रतिगामी शक्तियों की विजय होती है तो वे इसे न केवल सोवियत यूनियन के विरुद्ध अपितु पूर्वी योरोप के अन्य देशों के विरुद्ध भी हमला करने का अड्डा बना लेंगे।" सोवियत रूस की ओर से इस हस्तक्षेप को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए कई युक्तियाँ दी जाती हैं। पहली युक्ति यह है कि सोवियत यूनियन ने हंगरी के प्रधान-मंत्री इमरे नेगी तथा काडार द्वारा सहायता की प्रार्थना करने पर ही अपनी फौजी मदद भेजी है। दूसरी युक्ति यह है कि वारसा संधि के कारण सोवियत रूस किसी भी आक्रमण

के विरुद्ध हंगरी की सहायता करने के लिए वचनबद्ध है। इस संधि का पालन करने के लिए वहाँ सेना भेजना आवश्यक था। **तीसरी** युक्ति आत्मरक्षा की है। यह कहा जाता है कि हंगरी में गृहयुद्ध से सोवियत संघ की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया था, यदि यहाँ प्रतिगामी शक्तियों की विजय हो तो इसे रूस पर आक्रमण का अड्डा बनाया जा सकता था। **चौथी** युक्ति यह है कि हंगरी का गृहयुद्ध हंगरी की न्यायपूर्ण, वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण (Armed attack) था। इससे सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ५१ में वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया था। इसे दूर करने के लिए किया गया रूसी हस्तक्षेप चार्टर के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है।

किन्तु इसके विपरीत रूसी हस्तक्षेप को अवैध मानने वालों की युक्तियाँ इस प्रकार हैं: (१) सं० राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा ५१ में वर्णित सशस्त्र आक्रमण एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर होना चाहिए। हंगरी में ऐसी स्थिति नहीं थी। यह उस राज्य के दो दलों में झगड़ा था, अतः यहाँ किसी विदेशी शक्ति द्वारा ऐसा कोई आक्रमण या हस्त-क्षेप नहीं था, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा हो और जिसे रोकने के लिये रूस द्वारा फौजें भेजना जरूरी हो। (२) हंगरी के गृहयुद्ध से रूस की शान्ति और सुरक्षा को कोई खतरा नहीं था। (३) सोवियत संघ की वारसा संधि की शर्तों के सर्वथा प्रतिकूल हंगरी में हस्तक्षेप किया क्योंकि इस संधि में कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले सब देश एक-दूसरे की प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता का आदर करेंगे, एक-दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (४) सोवियत संघ का हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के प्रतिकूल है। यह कानून आत्मरक्षा के लिए ऐसे हस्तक्षेप की अनुमति नहीं देता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध विद्वान् हाइड ने लिखा है कि दूसरे राज्य में कोई हस्तक्षेप इसलिए वैध नहीं हो सकता कि यह किसी संधि की शर्त को पूरा करने के लिए अथवा संघर्ष करने वाले किसी दल की प्रार्थना पर किया गया है। ऐसा हस्तक्षेप सदैव अवैध रहता है। अतः इन कार्यों से सोवियत संघ का हंगरी में हस्तक्षेप अनावश्क और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के प्रतिकूल था।

तिब्बत में चीन का हस्तक्षेप—पहले तिब्बत चीन से सर्वथा स्वतन्त्र राज्य था। १७२० ई० में छठे दलाई लामा के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मंगोलों और तिब्बतियों में झगड़ा होने पर चीन के मांचू सम्राट् कांग हसी (Kang Hsi) ने तिब्बत में सेना भेजकर इसकी राजधानी ल्हासा पर अधिकार कर लिया तथा तिब्बत पर चीन का आधिपत्य (Suzerainty) माना जाने लगा। किन्तु मांचू वंश निर्बल होने पर यह आधिपत्य नाम-मात्र का ही रह गया। सितम्बर १९०४ में भारत की ब्रिटिश सरकार तथा तिब्बत में एक संधि हुई। इससे तिब्बत ने ब्रिटिश सरकार को तिब्बत में प्रभुसत्ता के कुछ अधिकार दिये। इसकी धारा ९ के अनुसार तिब्बत ग्रेट ब्रिटेन की अनुमति के बिना अपना प्रदेश किसी दूसरी शक्ति को नहीं दे सकता था, विदेशी शक्तियाँ इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती थीं, वह विदेशी राज्यों अथवा उनके प्रजाजनों को अपने देश में प्रवेश की अनुमति नहीं दे सकता था, उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक सुविधायें भी नहीं दे सकता था। इस संधि में चीन का कोई उल्लेख नहीं था। किन्तु १९०६ में तिब्बत को चीन तथा ग्रेट

ब्रिटेन के आधिपत्य में माना गया। १६११ में चीन ने तिब्बत पर हमला किया और दलाई लामा ने भारत में शरण ली। १६१२ में तिब्बत ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। परन्तु ३ जुलाई १६१४ की ग्रेट ब्रिटेन, चीन तथा तिब्बत की संधि की धारा २ के अनुसार यह स्वीकार किया गया कि तिब्बत चीन के आधिपत्य में है। १६२६ में भारत ने तिब्बत से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया तथा इस पर चीनी आधिपत्य नाममात्र ही रह गया। उन्होंने चीनियों को खम प्रान्त में खदेड़ दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में तिब्बत के दर्जे के सम्बन्ध में महाशक्तियों में पर्याप्त मत-भेद था। ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा था कि तिब्बत एक प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है, उन्होंने युद्ध करके चीन से स्वाधीनता प्राप्त की है। अमरीकी सरकार का यह मत था कि तिब्बत चीनी साम्राज्य का भाग है, ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस दोनों इस बात पर चीन का आधिपत्य स्वीकार कर चुके हैं। इस युद्ध में चीन को सहायता पहुँचाने का महत्वपूर्ण मार्ग तिब्बत में से होकर था। तिब्बत नहीं चाहता था कि चीन को उस प्रदेश में से गुजरने वाले मार्ग से सहायता मिले। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन के दबाव के कारण उसने ऐसा स्वीकार कर लिया, पर यह घोषणा की कि वह स्वतन्त्र प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है। १६४६ में चीन के संविधान में तिब्बत को भी प्रतिनिधित्व दिया गया, किन्तु तिब्बत अपने को स्वतन्त्र समझता था, अतः उसका कोई भी प्रतिनिधि चीन की राष्ट्रीय परिषद् में नहीं बैठा।

१६४६ में चीन में साम्यवादी शासन स्थापित होने पर पुनः तिब्बत-चीन संघर्ष आरम्भ हो गया। चीन ने इसे वशवर्ती बनाने के लिए १६५० में तिब्बत पर आक्रमण किया। चीन का यह दावा था कि उसने यह आक्रमण "३० लाख तिब्बतियों को साम्राज्य-वादी अत्याचार से मुक्त करने तथा चीन के पश्चिमी सीमान्त को सुदृढ़ करने के लिए किया है।" तिब्बत की सरकार ने इस प्रश्न को सं० रा० संघ में उठाया और यह कहा कि "तिब्बती जाति संस्कृति और भूगोल की दृष्टि से चीनियों से भिन्न है।" सं० रा० संघ ने इस प्रश्न पर विचार उस समय तक स्थगित रखा, जब तक दोनों देशों के मध्य चल रही संधिवार्त्ता का परिणाम न निकले। २५ मई १६५१ को चीन और तिब्बत में हुए समझौते के अनुसार चीन को तिब्बत के वैदेशिक मामलों के लिए उत्तरदायी माना गया तथा तिब्बत पर चीन का आधिपत्य मान लिया गया। १६५४ में दलाई लामा तथा पंचन लामा ने पेकिंग में चीन की राज्य परिषद् की बैठक में भाग लिया और यह तय हुआ कि तिब्बत के स्वायत्त प्रदेश (Autonomous Region) के लिए एक कमेटी स्थापित की जाय और दलाई लामा इसके सभापति हों। किन्तु कमेटी के हाथ में कोई अधिकार न था, सभी निर्णय चीनियों द्वारा किये जाते थे। इससे तिब्बत में असंतोष बढ़ा, कई स्थानों पर चीन के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। १६५६ में ये विद्रोह बहुत बढ़ गये। इस समय चीनियों ने दलाई लामा को बिना मंत्रियों तथा अंगरक्षकों के एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। इस पर तिब्बत की जनता ने दलाई लामा का महल घेर लिया और यह माँग की कि वह चीनियों का निमन्त्रण अस्वीकार कर दे और तिब्बत की स्वतन्त्रता की घोषणा करे। इस पर चीनी सेनायें ल्हासा में प्रविष्ट होकर गोली चलाने लगीं। दलाई लामा ने तिब्बत से भाग कर भारत में शरण ली (३१ मार्च १६५६)। २० जून को मसूरी से

एक वक्तव्य देते हुए दलाई लामा ने बताया कि १९५६ से चीनियों ने तिब्बत में ६५,००० असैनिक तिब्बतियों की हत्या की है, एक बड़ी संख्या में इन्हें चीन में निर्वासित किया है, १००० मठ नष्ट किये हैं, बौद्धधर्म के उन्मूलन का पूरा प्रयास किया है और ५ लाख चीनी तिब्बत में बसाये हैं। ९ सितम्बर १९५९ को एक तार द्वारा दलाई लामा ने सं० रा० संघ के महामंत्री को संघ की बैठक में तिब्बत पर चीन के आक्रमण के १९५० में स्थगित विषय पर पुनर्विचार करने को कहा। २५ सितम्बर को मलाया तथा आयर्लेण्ड ने इस विषय में एक प्रस्ताव उपस्थित किया, इसमें यह कहा गया था कि तिब्बत में वहाँ की जनता के मौलिक मानवीय अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का हनन हो रहा है, यह सं० रा० के चार्टर तथा १० दिसम्बर १९५८ को असेम्बली द्वारा पास किये मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के प्रतिकूल है। तिब्बतियों के "मौलिक मानवीय अधिकारों का, विशिष्ट सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन बिताने के अधिकार का सम्मान किया जाना चाहिए।" इस प्रस्ताव में असेम्बली से यह कहा गया था कि वह अपनी समूची नैतिक शक्ति से तिब्बत में शान्ति स्थापित करे और तिब्बती जनता को उनके मौलिक अधिकार प्राप्त कराये। सोवियत संघ के प्रबल विरोध के बावजूद दो दिन की बहस के बाद २१ अक्टूबर को यह प्रस्ताव पास हो गया।

२३ अक्टूबर को पेकिंग रेडियो में इस प्रस्ताव को 'अवैध, गैरकानूनी तथा चीन को बदनाम करने वाला तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने वाला' बताया गया था। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि चीन का कार्य तिब्बत में सर्वथा न्यायोचित नहीं था। उसने १९५१ की संधि का पूरा पालन नहीं किया, इसके बाद तिब्बत का गला घोंटने का प्रयत्न किया। तिब्बतियों ने जब हताश और निराश होकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विद्रोह किया तो उनका भीषण दमन किया गया और उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

बारहवां अध्याय

क्षेत्राधिकार[1]

(Jurisdiction)

सामान्य रूप से प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश में निवास करने वाले व्यक्तियों और विद्यमान सम्पत्ति के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले सभी कानूनी विवादों को सुनने और निर्णय करने का अधिकार होता है। इस प्रदेश के समूचे क्षेत्र में उसकी प्रभुसत्ता विस्तीर्ण होने से उसे स्वत्व प्राप्त होना स्वाभाविक है। अपने प्रादेशिक क्षेत्र में इस अधिकार के होने के कारण इसे क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) कहा जाता है। लार्ड मैकमिलन ने इसकी व्याख्या करते हुए इंगलैण्ड के सम्बन्ध में यह लिखा है—"अन्य सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों की भाँति इस राज्य की प्रभुसत्ता की यह एक वास्तविक विशेषता है कि इसे अपनी प्रादेशिक सीमाओं के भीतर विद्यमान सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर क्षेत्राधिकार हो तथा इन सीमाओं में उत्पन्न होने वाली सभी दीवानी और फौजदारी मामलों पर विचार करने का अधिकार हो।" इंगलैण्ड और अमरीका में किसी व्यक्ति या वस्तु के इनके प्रदेश में विद्यमान होने से ही उन्हें इन पर यह क्षेत्राधिकार प्राप्त हो जाता है। स्टार्क के मतानुसार इन दोनों देशों के चारों ओर समुद्र से घिरे रहने के कारण इस सिद्धान्त का विकास हुआ है। दूसरी ओर योरोपियन महाद्वीप में राज्यों की स्थलीय या नदियों की सीमायें होने के कारण विभिन्न राज्यों में अधिक आवागमन और यातायात सम्बन्ध हैं, अतः वहाँ राज्य के अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) के सिद्धान्त में कुछ उदारता पायी जाती है।

राज्यों द्वारा अपने प्रदेश में उपभोग किये जाने वाले क्षेत्राधिकार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून कुछ प्रतिबन्ध लगाता है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में निवास करने वाले दूसरे देशों के राजदूत और उसके प्रादेशिक समुद्र (Territorial sea) में आने वाले विदेशी जहाज यद्यपि पूर्णरूप से उसकी प्रादेशिक प्रभुसत्ता के क्षेत्र में हैं, तथापि वे उस देश के अन्य व्यक्तियों या जहाजों की भाँति पूर्ण रूप से उसके क्षेत्राधिकार में नहीं हैं, कुछ अंशों में उसके क्षेत्राधिकार की सीमा से बाहर समझे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के क्षेत्राधिकार की कुछ मर्यादायें और सीमायें मानता है। इनको न समझने से अनेक जटिल

१. यह अंग्रेजी के Juridiction शब्द का भारतीय संविधान में स्वीकृत किया गया हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी में इस शब्द के दो प्रधान अर्थ होते हैं—(क) किसी विशेष मामले को सुनने और उस पर विचार करने का कानूनी अधिकार या सत्ता। इसे विचाराधिकार कह सकते हैं। (ख) वह क्षेत्र जहाँ तक किसी राज्य या न्यायालय का अधिकार माना जाता है। इसके लिये हिन्दी में पुराना शब्द अधिकारक्षेत्र है।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न और विवाद उत्पन्न होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के क्षेत्राधिकार की सीमाओं का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

प्रादेशिक समुद्र में क्षेत्राधिकार (Jurisdiction in Territorial Waters)—पहले (पृ० २१२) यह बताया जा चुका है कि राज्य की भूमि के साथ लगा तीन मील तक की चौड़ाई का समुद्र उसके प्रदेश का अंग समझा जाता है। यहाँ तटवर्ती राज्य को पूरी प्रभुसत्ता प्राप्त है, इस पर केवल एक ही मर्यादा या प्रतिबन्ध है, यह इस प्रादेशिक समुद्र में से दूसरे देशों के जहाजों के निर्दोष गमन का अधिकार (Right of Innocent Passage) है। सब देश शान्तिकाल में अपने प्रादेशिक समुद्र में दूसरे देशों के व्यापारिक तथा सामरिक पोतों को गुजरने देते हैं। कोरफू चैनल (Corfu Channel) वाले मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह फैसला किया था कि शान्तिकाल में दो महासमुद्रों को जोड़ने वाले अन्तर्राष्ट्रीय महामार्ग बने हुए जलडमरूमध्य के प्रादेशिक समुद्र में रणपोतों को गुजरने का अधिकार है (देखिये ऊपर पृ० २२१)।

'निर्दोष गमन' का शब्द अपने अधिकारों तथा मर्यादाओं को भलीभाँति सूचित करता है। पहली बात यह है कि यह 'गमन' या गुजरने का अधिकार है, प्रादेशिक समुद्र का प्रयोग दूसरे देशों के जहाज मार्ग के रूप में कर सकते हैं। दूसरी शर्त यह है कि यह गमन निर्दोष होना चाहिए, इसका यह अभिप्राय है कि इस तरह गुजरने वाला जहाज नौचालन और बन्दरगाह की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में बनाये गये स्थानीय नियमों का पालन करेगा और ऐसा कार्य नहीं करेगा, जिससे तटवर्ती राज्य में शान्तिभंग का भय हो। इससे यह स्पष्ट है कि तटवर्ती राज्यों को इन जहाजों पर कुछ क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं, किन्तु इसकी मात्रा स्पष्ट और निश्चित नहीं है, इस जहाज पर सवार व्यक्तियों पर तटवर्ती राज्य द्वारा अपने दीवानी और फौजदारी कानून लगाने के बारे में कुछ संदेह है। इस विषय में कुछ मामलों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

१८७६ में एक ब्रिटिश न्यायालय के सम्मुख **फ्रांकोनिया** जहाज का R. v. Reyn का मामला आया। यह एक जर्मन जहाज था, अपनी उपेक्षा से यह एक ब्रिटिश जहाज से टकराया, परिणामस्वरूप ब्रिटिश जहाज डोवर से दो मील की दूरी पर समुद्र में डूब गया, इसमें प्राणहानि भी हुई। फ्रांकोनिया के कप्तान पर मानवहत्या के लिए मुकदमा चलाया गया। उस समय तक यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील की चौड़ाई तक मानी जाती थी, किन्तु पार्लियामेंट ने इस प्रदेश में विदेशियों द्वारा फौजदारी अपराध करने पर ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा उसके सुने जाने का कोई कानून नहीं बनाया था। इसके अभाव में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि विदेशी जहाज पर एक विदेशी व्यक्ति द्वारा प्रादेशिक समुद्र में किये गये फौजदारी अपराध सुनने का क्षेत्राधिकार ब्रिटिश न्यायालय को नहीं है। इस निर्णय से अनेक ब्रिटिश विधिशास्त्री स्तब्ध रह गये, इसके दुष्परिणामों को दूर करने के लिए १८७८ का प्रादेशिक समुद्र क्षेत्राधिकार कानून (Territorial Waters Jurisdiction Act) बनाया गया, इसके अनुसार ब्रिटिश न्यायालयों को तीन मील की समुद्री सीमा के भीतर हुए अपराधों को सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया। यदि ये अपराध विदेशी नागरिक द्वारा किये

गये हों तो विदेशमंत्री की अनुमति से ही उसके विरुद्ध मामला चलाया जा सकता है।

दीवानी मामलों के सम्बन्ध में विदेशी जहाजों की तटवर्ती राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति का सिद्धान्त Chief capitano के मामले में स्वीकार किया गया था। यह एक ब्रिटिश जहाज था। जब यह सं० रा० अमरीका के प्रादेशिक समुद्र में से गुजर रहा था तो एक अमरीकन कारपोरेशन ने इसके मालिकों से कुछ राशि वसूल करने के लिए इसे पकड़वा दिया। अमेरिकन न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि इस जहाज को अवैध रूप से पकड़ा गया है।

१९३० में **हेग के संहिताकरण सम्मेलन** (Hague Codification Conference) ने इस विषय में निम्नलिखित नियम बनाये थे:—(१) तटवर्ती राज्य को अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने वाले किसी जहाज पर घटित हुए अपराध के विषय में उस समय तक कोई गिरफ्तारी या जाँच नहीं करनी चाहिए, जब तक कि इस अपराध के प्रभाव जहाज की सीमा से बाहर न पड़ें या अपराध से तटवर्त्ती देश की शांति के भंग का भय या प्रादेशिक समुद्र की सुव्यवस्था की हानि न हो या जब तक जहाज के कप्तान द्वारा स्थानीय अधिकारियों की सहायता लेने की प्रार्थना न की गई हो (धारा ८)। (२) धारा ६ के अनुसार कोई तटवर्ती राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने वाले जहाज की गिरफ्तारी या मार्ग परिवर्तन इसलिए नहीं कर सकता कि उस पर सवार किसी व्यक्ति के विरुद्ध दीवानी कार्यवाही की जा सके। (३) तटवर्ती राज्य किन्हीं दीवानी कार्यवाहियों को पूरा कराने के उद्देश्य से जहाज को उस समय तक नहीं पकड़ सकता, जब तक कि ये कार्यवाहियाँ ऐसे दायित्वों के सम्बन्ध में हों, जिन्हें जहाज ने इस राज्य के प्रादेशिक समुद्र की यात्रा में या इस यात्रा के उद्देश्य से ग्रहण किया हो।

"तैरते टापू" का सिद्धान्त (The Principle of Floating Island)—कुछ विधिशास्त्रियों का यह मत है कि किसी राष्ट्र की ध्वजा फहराने वाला जहाज क्षेत्राधिकार की दृष्टि से उस राष्ट्र के प्रदेश का अंग समझा जाना चाहिए। यह जहाज चाहे महासमुद्र में हो या प्रादेशिक समुद्र में, इसे ध्वजा वाले देश का तैरता हुआ टापू समझना चाहिए और इसमें ध्वजा वाले देश का कानून लागू होता है और इस पर होने वाले अपराधों की सुनवाई का अधिकार उसी देश को है।

किन्तु इस सिद्धान्त को न्यायालयों तथा प्रमुख विधिशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया। १९४१ में R. *v.* Gordon-Finlayson के मामले में ब्रिटिश न्यायालय ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा था—"जहाज अपनी ध्वजा वाले राज्य का अंश नहीं हो सकता, यद्यपि इस जहाज पर उस राज्य का क्षेत्राधिकार अपने प्रदेश की भाँति होता है।" ब्रियर्ली ने इस पर यह आक्षेप किया है[२] कि इसे मान लेने के बड़े बेहूदा परिणाम होंगे। यदि यह जहाज अपने ध्वजराज्य का प्रदेश है तो इस जहाज के चारों ओर तीन मील तक का सागर क्या प्रादेशिक समुद्र माना जायगा ? यह प्रदेश जहाज की यात्रा के साथ बदलता रहेगा, दो विभिन्न देशों के जहाजों की टक्कर होने पर बड़ी कठिनाई उत्पन्न होगी।"

२. ब्रियर्ली—दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ० २३८–९

हाल ने भी इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है,[3] अतः इस सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जाता है।

बन्दरगाहों में क्षेत्राधिकार (Jurisdiction in Ports)—बन्दरगाह राज्य के प्रदेश का अंग है, यहाँ राज्य की प्रादेशिक प्रभुता होते हुए भी, इसमें प्रविष्ट होने वाले विदेशी जहाजों के बारे में विशेष नियम हैं।[4] व्यापारी जहाजों पर बन्दरगाह में प्रवेश करते ही स्थानीय कानून लागू हो जाते हैं। किन्तु यदि कोई जहाज समुद्री तूफान से प्रताड़ित होकर विवशता की दशा में बन्दरगाह में शरण लेता है तो उसे स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्त समझा जाता है, किन्तु इसे किसी स्थानीय नियम या कानून का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन की परम्परा के अनुसार ब्रिटिश बन्दरगाहों में आने वाले व्यापारी जहाजों पर उसका पूरा क्षेत्राधिकार माना जाता है। फौजदारी मामलों में ब्रिटिश अधिकारी सामान्य रूप से तब तक हस्तक्षेप नहीं करते, जब तक उनसे सम्बद्ध देशों के वाणिज्य दूत (Consuls) या अन्य प्रतिनिधि इसके लिए प्रार्थना नहीं करते। सं० रा० अमरीका में जहाज सम्बन्धी विषयों को दो भागों में बाँटा जाता है: (क) जहाज की आन्तरिक व्यवस्था और अनुशासन, (ख) बन्दरगाह में शान्ति और सुव्यवस्था का बना रहना। पहले प्रकार के मामलों में तटवर्ती राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता। किन्तु दूसरी दशा में Wildenhus के मामले में सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि यदि अपराध भयंकर हो, तटवर्ती जनता में इससे क्षोभ हो तो प्रादेशिक राज्य को इस मामले पर विचार का अधिकार होता है। इस कारण एक अमरीकन बन्दरगाह में आये हुए बेल्जियम जहाज पर एक बेल्जियन द्वारा दूसरे बेल्जियन की हत्या करने पर यह मामला तटवर्ती राज्य का विषय माना गया। फ्रांस की व्यवस्था भी सं० रा० अमरीका में मानी जाने वाली स्थिति से मिलती है।

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का विस्तार (Extension of Territorial Jurisdiction)—वर्तमान समय में यातायात के साधनों की उन्नति के कारण यह सम्भव हो गया है कि एक देश में अपराध की तैयारी की जाय, आवश्यक सामग्री एकत्र की जाय तथा दूसरे देश में अपराध किया जाय। अतः प्रादेशिक क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने की आवश्यकता अनुभव की गई है।[5] यह विस्तार दो प्रकार के सिद्धान्तों के आधार पर है—

(१) **कर्तृगत प्रादेशिक सिद्धान्त** (Subjective territorial principle)—इसके अनुसार किसी राज्य को ऐसे अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार है, जिन्होंने अपने अपराधों का कार्यारम्भ तो उस राज्य में किया है, किन्तु उसकी पूर्ति दूसरे राज्य में की। उदाहरणार्थ, भारत के जाली सिक्के पाकिस्तान में बनाकर यहाँ उनका प्रसार किया जा सकता है, इसमें कार्यारम्भ पाकिस्तान में तथा उसकी परिणति भारत में हुई है।

३. हाल—इंटरनेशनल लॉ, ८वां संस्करण, पृ० ३०१–४

४. इस विषय में १९५८ के जेनेवा के समुद्री कानून सम्मेलन द्वारा बनाये गये नियमों (धारा १९ तथा २०) की आलोचना के लिये देखिये दी अमेरिकन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, खं० ५५, १९६१, पृ० ७७–९६।

५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८३

पाकिस्तान को ऐसे व्यक्तियों को दण्ड देने का अधिकार है। मादक द्रव्यों के व्यापार में भी ऐसा होता है। १९२० के British Dangerous Drugs Act के अनुसार दूसरे देश के कानून द्वारा किसी दवाई सम्बन्धी अपराध में ग्रेट ब्रिटेन में अपराध में सहायता देने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।

१९२९ तथा १९२६ के जेनेवा के Convention for the Suppression of Counterfeiting Currency तथा Convention for the Suppression of the Illicit Drug Traffic में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

(२) **कर्मगत प्रादेशिक सिद्धान्त** (Subjective territorial principle)—जब कोई अपराध करने वाला (कर्त्ता) एक राज्य में हो और उससे प्रभावित होने वाला कर्म (object) दूसरे राज्य में और यह दूसरे राज्य की सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव डालता हो तो दूसरे राज्य को पहले राज्य के अपराध करने वाले व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार है। स्टार्क द्वारा किये गये दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी : दो राज्यों के सीमान्त प्रदेश में एक व्यक्ति एक राज्य की सीमा के भीतर से उस सीमा के दूसरी ओर खड़े व्यक्ति को अपनी गोली का निशाना बनाता है। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन का एक व्यक्ति झूठे बहानों और वायदों से जर्मनी के एक व्यक्ति से रुपया मांगता है। इन दोनों में अपराध करने वालों के अपराध का फल दूसरे देश में रहने वालों को भोगना पड़ता है। इन मामलों में दण्ड देने के लिए प्रादेशिक सिद्धान्त का विस्तार कर दिया गया है। इसके अनुसार अपराधी अपराध करने के समय भले ही उस राज्य की सीमा से बाहर हो, जहाँ इस अपराध का प्रभाव पड़ा है, तो भी उसे इसका दण्ड भोगना पड़ता है और अपराध से प्रभावित राज्य को ऐसे मामले में विदेशियों को दण्डित करने का अधिकार है।

इसका सबसे सुन्दर उदाहरण **लोटस जहाज** (S. S. Lotus) का मामला है। (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। इसमें फ्रेंच जहाज लोटस की गलती से उसकी टक्कर टर्की के जहाज बोज़कोर्ट से हुई। इस टक्कर से तुर्क जहाज को क्षति पहुँची और आठ तुर्क कालकवलित हुए। यह घटना महासमुद्र में हुई। जब लोटस कुस्तुन्तुनिया के बन्दरगाह में पहुँचा तो उस पर तुर्की की सरकार ने मुकदमा चलाया। फ्रेंच जहाज के कप्तान के विदेशी होने तथा टक्कर के महासमुद्र में घटित होने के कारण इस विषय में तुर्क न्यायालय का क्षेत्राधिकार न होने का तर्क उपस्थित किया गया। किन्तु १९२७ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इसे अस्वीकार करते हुए यह निर्णय दिया कि (१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जो एक विदेशी राज्य द्वारा उसकी सीमाओं से बाहर किये गये अपराध के विषय में क्षेत्राधिकार से उस राज्य को वंचित करता हो। (२) "अनेक देशों के न्यायालय, यहाँ तक कि फौजदारी कानून को विशद प्रादेशिक स्वरूप देने वाले न्यायालय—फौजदारी कानून की यह व्याख्या करते हैं कि अपराध किये जाने के समय अपराधी भले ही दूसरे राज्य के प्रदेश में हो, किन्तु ये अपराध उसी राज्य में किये समझे जायेंगे, बशर्ते कि अपराध का एक तत्व—विशेष रूप से इसके प्रभाव उस राज्य में पड़े हों।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के इस निर्णय से राज्यों को विदेशी जहाजों पर फौजदारी मामले चलाने का अधिकार प्राप्त हो गया। योरोप के समुद्री व्यापारियों को इससे

बड़ी चिन्ता हुई। विदेशों के फौजदारी कानून की अज्ञानता के कारण विदेशी न्यायालयों में अपनी सफाई की समुचित कार्यवाही में उन्हें बड़ी कठिनाई होने की सम्भावना थी और इस निर्णय के कारण उन पर अपने राज्य में तथा घटना से प्रभावित राज्य में दोहरा मुकद्दमा चलाया जा सकता था। विदेशी न्यायालयों में कार्यवाही करके जहाजों को रोका जा सकता था, अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सामुद्रिक परामर्शदाता एसोसियेशन की ओर से राष्ट्रसंघ की इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समिति Advisory and Technical Committee for Communications and Transports को दिये गये एक आवेदनपत्र में इस स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हुए इसे सुधारने की प्रार्थना की गई। मई १९५२ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक समिति की संयुक्त सामुद्रिक समिति ने इस विषय पर विचार किया और ब्रुसेल्ज़ के Penal Jurtisdiction in Matters of Collisions or Accidents of Navigation में लोटस के मामले में दिये गये उपर्युक्त निर्णय से प्रतिकूल नियम स्वीकार किया गया। १९५८ के Geneva Convention on the Regime of High Seas में भी यही सिद्धान्त माना गया है।

विदेशियों पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction over Aliens)—सामान्य रूप से किसी राज्य को अपने राज्य में रहने वालों पर वैसा ही क्षेत्राधिकार है, जैसा अपने नागरिकों पर। कोई भी विदेशी जिस देश में रहता है, वह वहाँ के राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। विदेशियों द्वारा दूसरे देशों में किये हुए अपराधों के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं: पहला पक्ष ऐसे अपराधों पर राज्य का क्षेत्राधिकार मानता है और दूसरा इसे अस्वीकार करता है। **कटिंग** (Cutting) के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक अमरीकन नागरिक कटिंग को १८८६ में मेक्सिको जाने पर वहाँ की सरकार ने इसलिए गिरफ्तार कर लिया कि उसने एक मेक्सिकन नागरिक मेडीना की मानहानि करते हुए सं० रा० अमरीका के टेक्सास राज्य के एक समाचारपत्र में लेख लिखा था। मेक्सिकन सरकार उपर्युक्त दूसरे पक्ष के अनुसार यह मानती थी कि उसे कटिंग को दण्ड देने का अधिकार है, क्योंकि मेक्सिको के कानून के अनुसार विदेशियों को विदेशों में किये गये अपराधों के लिए मेक्सिको के राज्य में दण्ड दिया जा सकता है। किन्तु अमरीकी सरकार पहले पक्ष के अनुसार यह कहती थी कि किसी राज्य को उसकी सीमा से बाहर किये गये अपराध पर विदेशी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार नहीं है। वाशिंगटन ने कटिंग की रिहाई की माँग करते हुए कहा कि कटिंग ने मेक्सिको में कोई अपराध नहीं किया, क्योंकि मानहानि वाले लेख का प्रसार मेक्सिको में नहीं किया गया, अतः मेक्सिको की सरकार को इस विषय में कोई क्षेत्राधिकार नहीं है। मेक्सिको की सरकार ने सं० रा० अमरीका का कथन स्वीकार नहीं किया, यद्यपि अपील होने पर वादी द्वारा अपना केस वापिस ले लेने पर कटिंग स्वयमेव मुक्त हो गया। १८८९ में मेक्सिको ने सं० रा० अमरीका के पक्ष को युक्तियुक्त समझते हुए भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए संधि कर ली।

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ (Immunities from Territorial Jurisdiction)—सामान्य रूप से राज्य के प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्तियों पर राज्य

का क्षेत्राधिकार होता है, किन्तु इस सामान्य नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं—(क) विदेशी राज्य और उनके अध्यक्ष, (ख) विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधि, (ग) विदेशों के सार्वजनिक जहाज, (घ) विदेशों की सेनायें, (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें।

(क) विदेशी राज्य और उसके अध्यक्ष (Foreign States and Heads of States)—इन पर न्यायालयों में कोई मुकद्दमा उस समय तक नहीं चलाया जा सकता, जब तक कि ये स्वयमेव इन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार स्वेच्छापूर्वक न स्वीकार कर लें। इनको राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्त करने के मूल कारण के सम्बन्ध में स्टार्क ने अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है[६]—

पहला सिद्धान्त Par in parem non habet imperium का है। इसका अर्थ यह है कि एक प्रभुसत्ता का क्षेत्राधिकार केवल अपने वशवर्ती अधीनस्थ व्यक्तियों पर हो सकता है, दूसरी प्रभुसत्ता पर कभी नहीं हो सकता। **दूसरा** सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय शील या सौजन्य (Comity) का है, इसके कारण सब राज्य एक-दूसरे के शासनाध्यक्षों को अपने प्रदेश में क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान करते हैं। **तीसरा** सिद्धान्त यह वास्तविक तथ्य है कि किसी विदेशी राज्य के विरुद्ध दिया गया राष्ट्रीय न्यायालय का कोई निर्णय क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। इसे लागू करने का प्रयत्न शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जायगा। **चौथा** सिद्धान्त यह है कि किसी राज्य द्वारा विदेशी राजा या उसके प्रतिनिधि को अपनी भूमि में आने देना ही यह सूचित करता है कि वह दूसरे राज्य को कुछ मुक्तियाँ या छूटें प्रदान करता है।

विदेशी राज्यों तथा राजाओं को ब्रिटिश कानून की दृष्टि से दो प्रकार की मुक्तियाँ मिली हुई हैं—(१) किसी विदेशी राजा पर कानूनी कार्यवाही द्वारा कोई मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता है।(२) विदेशी राजा के स्वामित्व में या नियन्त्रण में विद्यमान सम्पत्ति को किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा जब्त नहीं किया जा सकता। १९३९ में हाऊस आफ लार्ड्स ने **क्रिस्टिना** (Crestina) के मामले में इन नियमों को बड़ी स्पष्टता से प्रतिपादित किया। यह एक स्पेनिश जहाज था, स्पेनिश गृहयुद्ध के दिनों में यह कार्डिफ के ब्रिटिश बन्दरगाह में आ गया। स्पेन की गणराज्य की सरकार की ओर से स्पेन के वाणिज्य दूत ने इस पर स्वामित्व पा लिया। इस जहाज के मालिकों ने इसके स्वामित्व का दावा किया, किन्तु स्पेनिश सरकार की प्रार्थना पर उसकी सम्पत्ति होने से यह दावा खारिज कर दिया गया। **अरन्तजाजू मेन्दी** (Arantzazu Mendi) के मामले में फ्रांको की सरकार को तथ्यानुसार मान्यता प्रदान करने के कारण इस जहाज पर उसका स्वत्व माना गया और विदेशी सरकार होने के नाते उसे न्यायालय की प्रक्रिया से मुक्त समझा गया (देखिये प्रथम परिशिष्ट से।

इस विषय में भारत के सुप्रीम कोर्ट द्वारा निर्णय किया गया एक **नैपाली हवाई कम्पनी का मामला** (Royal Nepal Airline *v.* Manorama Meharsing Legar) उल्लेखनीय है (देखिये प्रथम परिशिष्ट)। इस में सुप्रीम कोर्ट ने नैपाली राजदूत की यह

६. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८६

प्रार्थना स्वीकार की थी कि राजकीय हवाई कम्पनी नैपाल राज्य का एक अंग है, इस कारण इस पर भारतीय न्यायालयों में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता, यह उनके क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त है।

विदेशी राज्य न केवल अन्य राज्यों के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से तथा कानूनी कार्यवाही से मुक्त हैं, अपितु उन्हें यह विशेषाधिकार भी प्राप्त है कि वे अन्य राज्यों के न्यायालयों में अपने कुछ अधिकारों की प्राप्ति के लिए कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं। ऐसा मामला चलाने पर वे इस विषय में दूसरे पक्ष द्वारा किये जाने वाले दावों पर विचार के लिये स्थानीय न्यायालयों का क्षेत्राधिकार मौन रूप से स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु इस विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए विदेशी राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे दूसरे देशों में अपना दण्डविधान या करविषयक कानून (Revenue laws) अभियोग चलाकर लागू करवा सकें। इस विषय का सुप्रसिद्ध मामला Queen of Holland (Married Women) *v*. Drukker है। इस में १९२८ में हालैण्ड की रानी ने एक ब्रिटिश न्यायालय (Court of Chancery) में एक डच प्रजाजन ड्रकर के विरुद्ध इंगलैण्ड में उसकी जायदाद को पाने के लिए मामला चलाया था। रानी के दावे का आधार डच कानून के अनुसार डच प्रजाजनों की जागीरों पर लगाया जाने वाला एक उत्तराधिकार कर (Succession Tax) था। रानी ड्रकर की मृत्यु होने पर इंगलैण्ड में विद्यमान उसकी जागीर पर डच कानून के अनुसार लगाये जाने वाले कर को प्राप्त करना चाहती थी। इस मामले में ब्रिटिश न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा था—"इस विषय में यह नियम अच्छी तरह से निश्चित हो चुका है और लगभग पिछले २०० वर्ष से लागू भी किया जा रहा है कि ब्रिटिश अदालतें विदेशी राजाओं को लाभ पहुँचाने के लिए विदेशी राज्यों के करों की वसूली का कार्य नहीं करेंगी, इस विषय में किये गये वे किसी भी दावे पर विचार नहीं करेंगी। अतः इस दावे को तथा मामले को खारिज किया जाता है। चूंकि एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य ने इस न्यायालय में आकर इसका क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया है, अतः मैं यह आदेश देने की स्थिति में हूँ कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य इस मामले में हुए व्यय को प्रदान करे।"[७]

(ख) विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधि (Diplomatic Representatives of Foreign States)—विदेशी राजदूत राज्य के क्षेत्राधिकार से फौजदारी मामलों में पूर्ण रूप से तथा दीवानी मामलों में आंशिक रूप से उन्मुक्त होते हैं। कई देशों में इस सम्बन्ध में कानून बनाये हुए हैं। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में राजदूतों को इस प्रकार के विशेषाधिकार तथा मुक्तियाँ प्रदान करने वाले निम्न कानून हैं—१७०८ का Diplomatic Privileges Act, १९५० का International Organizations (Immunities and Privileges Act) तथा १९५२ का Diplomatic Immunities (Commonwealth Countries and Republic of Ireland Act)। राजदूतों के मुख्य विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

७. हडसन—केसेज, पृ० ५०१

(क) जिस देश में किसी व्यक्ति को राजदूत बनाकर भेजा जाता है वहाँ की फौजदारी कार्यवाहियों से तथा पुलिस के क्षेत्राधिकार से उसे पूरी स्वतन्त्रता होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस देश के फौजदारी कानून का अथवा पुलिस के नियमों का पालन करना उसका कर्त्तव्य नहीं है। किन्तु यदि वह इनका पालन नहीं करता तो उसके विरुद्ध राज्य केवल यही कार्यवाही कर सकता है कि उसकी सरकार को इसकी राजनयिक रूप में शिकायत की जाय और यदि स्थिति बहुत गम्भीर हो जाय तो वह उसे अपने देश से निकाल दे।

(ख) वह राज्य की दीवानी कार्यवाहियों से भी मुक्त होता है, उसे अदालत में गवाही देने के लिए भी नहीं बुलाया जा सकता। एक पक्ष के अनुसार उसकी कानूनी प्रक्रिया से छूट वहीं तक होती है, जहाँ तक वह उसके सरकारी कर्त्तव्य पूरा करने में बाधा न डाले। किन्तु यदि राजदूत कोई वैयक्तिक व्यापार करता है, तो इस विषय में वह देश के दीवानी कानून की प्रक्रिया से मुक्त नहीं है।

किन्तु ब्रियर्ली की सम्मति में आजकल राज्यों का सामान्य व्यवहार इस छूट को पूर्ण रूप से लागू करता है।[८] ग्रेट ब्रिटेन के १७०८ के कानून के शब्द इसका बड़े प्रबल शब्दों में प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार राजदूत को गिरफ्तार करने वाले, उसकी सम्पत्ति को जब्त करने वाले सब आदेश निरर्थक एवं शून्य (Null and void) हैं। ऐसे आदेशों को जारी करने वाले तथा इन्हें क्रियान्वित करने वाले 'राष्ट्रों के कानून के उल्लंघन-कर्त्ता' समझे जाते हैं। किन्तु यदि कोई राजदूत स्वेच्छापूर्वक देश के दीवानी कानून का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर ले तो यह उस पर लागू होगा।

(ग) राजनयिक व्यक्ति कुछ अंशों में राज्य के करों से भी मुक्त होते हैं। इस विषय में विभिन्न देशों में अलग-अलग नियम हैं। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में किसी ब्रिटिश कम्पनी में लगाई पूँजी के राजदूत को प्राप्त होने वाले लाभ में से कर काट लिया जाता है। किन्तु राजदूत के वेतन पर राज्य आयकर नहीं लगा सकता। उसके वैयक्तिक उपयोग के लिए मँगाये गये पदार्थों पर प्रायः तटकर नहीं लगाया जाता। राजनयिक व्यक्ति से राज्य कर की वसूली नहीं कर सकता है।

(घ) राजदूत का निवासस्थान अनतिक्रम्य (Inviolable) समझा जाता है, राज्याधिकारी उसकी सीमा में राजदूत की अनुमति के बिना नहीं प्रविष्ट हो सकते। यदि दूतावास में किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार करना हो, जिसे क्षेत्राधिकार से इस प्रकार की उन्मुक्ति या छूट प्राप्त नहीं है तो उसके लिए उचित मार्ग यह है कि राज-दूत से यह प्रार्थना की जाय कि वह उसका समर्पण करा दे। इस प्रार्थना को स्वीकार या अस्वीकार करना दूत का कार्य है। किन्तु राजदूत अपने दूतावास को स्थानीय न्याय की प्रक्रिया से बचकर भागने वाले व्यक्तियों का शरण-स्थल नहीं बना सकता और न ही इसमें अपना क्षेत्राधिकार बनाने का कोई अधिकार रखता है। १८९६ में प्रसिद्ध चीनी क्रान्तिकारी नेता सनयातसेन चीन से राजनीतिक कारणों से भाग कर लन्दन आये, उन्हें

८. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २१३

फुसलाकर चीनी दूतावास लाया गया और यहाँ चीन भेजने के लिए उन्हें कैद कर लिया गया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने लन्दन के चीनी दूतावास को चीनी प्रदेश बनाने का प्रतिवाद किया और अन्य में बाधित होकर चीनी दूतावास को सनयातसेन को मुक्त करना पड़ा।

(ङ) राजनयिक प्रतिनिधि की उन्मुक्तियाँ (Immunities) और छूटें उसके परिवार तथा अनुचर वर्ग पर भी लागू होती हैं, प्रायः राजदूत अपने दूतावास के जिन व्यक्तियों के लिए ये उन्मुक्तियाँ चाहते हैं, उनकी एक सूची विदेश मंत्रालय को दे देते हैं। राजदूत के सरकारी स्टाफ के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य नौकरों के लिए इन विशेषाधिकारों को स्वीकार करने के विषय में सब देशों में एक जैसी व्यवस्था नहीं है। इंगलैण्ड में १७०८ के कानून के अनुसार राजदूतों के घरेलू नौकरों को दीवानी कार्यवाहियों से उस अवस्था में मुक्त किया गया है, जबकि वे किसी व्यापार-कार्य में न लगे हों। ये नौकर सम्भवतः फौजदारी कानून के क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं हैं।

राजदूतों के उपर्युक्त विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ उनके कार्यकाल का अन्त होते ही समाप्त नहीं हो जातीं। ये उस समय तक दी जाती हैं, जब तक कि वे अपना कार्य समेट कर सम्मान सहित देश से लौटकर नहीं चले जाते। किन्तु यह सुविधा राजदूत-पद से हटाये व्यक्तियों को नहीं मिलती और न ही दूतावास के ऐसे व्यक्तियों को, जिनको राजदूत ने इनसे वंचित कर दिया है। यदि कोई राजदूत राज्य के विरुद्ध जासूसी का काम करता है तो प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्ति का उसका विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है।

राजदूतों को उपर्युक्त विशेषाधिकार इसी सिद्धान्त के आधार पर दिये गये हैं कि उन्हें अपने देश का सरकारी कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए,[९] इसमें किसी प्रकार की बाधा या हस्तक्षेप डालना उचित नहीं है। राजदूतों के उपर्युक्त अधिकार और उन्मुक्तियाँ उनके सरकारी और निजी (Private)—दोनों प्रकार के कार्यों के लिए हैं। ग्रेट ब्रिटेन ने १९५५ में इन अधिकारों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय कानून Diplomatic Immunities Restrictions Act बनाया है। इसके अनुसार जो देश अपने यहाँ ब्रिटिश राजदूतों की वैयक्तिक कार्यों के लिए अपने क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ नहीं प्रदान करते, ग्रेट ब्रिटेन में उन देशों के राजदूतों से यह सुविधा आर्डर-इन-कौंसिलो द्वारा छीनी जा सकती है।

वाणिज्य-दूतों (Consuls) को राजनयिक प्रतिनिधि नहीं समझा जाता, वे अपने वैयक्तिक कार्यों के लिए प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं होते, किन्तु सरकारी कार्यों के लिए उन्हें यह उन्मुक्ति प्राप्त है।

(ग) सार्वजनिक जहाज (Public Ships of Foreign States)—सार्वजनिक जहाज एक बड़ी व्यापक परिभाषा है, इसमें सरकारी तथा सरकार द्वारा काम में लाये जाने वाले जलपोत, रणपोत, सामान लादने वाले तथा सवारियों का परिवहन करने वाले विभिन्न प्रकार के जलपोत सम्मिलित हैं। विदेशी बन्दरगाहों में ऐसे जहाज

९. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९३

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जाते हैं। इसके तीन सुप्रसिद्ध ये उदाहरण हैं— **स्कूनर एक्सचेन्ज** (Schooner Exchange) एक अमरीकी जलपोत था। इसे १८१० में नैपोलियन ने पकड़ लिया और फ्रांस का सरकारी जहाज बना लिया। जब यह पोत अमरीका पहुँचा तो इसके पुराने मालिक ने इसे पुनः प्राप्त करने के लिए कानूनी कार्यवाही की। १८१२ में सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश जॉन मार्शल ने Schooner Exchange *v.* McFaddon के मामले में यह निर्णय किया कि यह पोत सार्वजनिक है, अतः यह अमरीकन न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त है। **दूसरा** मामला **पार्लमैण्ट बेल्जे** (Parlement Belge) का है, यह बेल्जियम का डाक ले जाने वाला सरकारी जहाज था। डोवर के बन्दरगाह में यह एक इंगलिश जहाज से टकरा गया। ब्रिटिश जलपोत के मालिकों ने इस टक्कर से हुई क्षतिपूर्ति के लिए इस पर १८८० में ब्रिटिश न्यायालय में दावा किया, किन्तु न्यायालय ने इस जहाज को बेल्जियम के राजा की सम्पत्ति होने के कारण सार्वजनिक माना और इसलिए अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त स्वीकार किया।

तीसरा उदाहरण **पेसारो** (Pesaro) नामक इटालियन जहाज का Brizzi Brothers Co *v.* Steamship Pesaro नामक मामला है। अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने इसमें इटली की सरकार के स्वामित्व में विद्यमान तथा इसके द्वारा सामान्य व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त किये जाने वाले पेसारो नामक जहाज के विरुद्ध लाये गये मामले पर विचार करने से इन्कार करते हुए कहा था—"जब कोई राज्य अपने देश की जनता का व्यापार बढ़ाने के लिए अथवा राज्यकोष की आय में वृद्धि करने के लिए किसी जलयान पर स्वामित्व स्थापित करता है, उसका उपयोग माल की ढुलाई के लिए करता है तो यह उसी अर्थ में सार्वजनिक जहाज (Public Ship) हो जाता है, जिस अर्थ में युद्धपोत (Ships of War) सार्वजनिक जहाज हैं, क्योंकि हमें किसी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिपाटी (Usage) का पता नहीं है, जिसके अनुसार शांतिकाल में अपने देश की जनता का आर्थिक कल्याण नौसैना रखे जाने की अपेक्षा किसी भी प्रकार से कम महत्व रखने वाला सार्वजनिक प्रयोजन समझा जाता हो।" अतः राज्य के व्यापारिक जहाज उसके जंगी जहाजों की भाँति विदेशी राज्यों के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त हैं।

पार्लमैण्ट बेल्जे के उदाहरण से स्पष्ट है कि सार्वजनिक जहाज के विदेशी बन्दरगाह में प्रविष्ट होने पर इसके साथ टक्कर होने पर भी हर्जाना वसूल करने की कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सार्वजनिक जहाजों को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता है। उन्हें स्थानीय राज्य के स्वास्थ्य तथा क्वारण्टीन (Quaranteen) सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता है और यह राज्य के अपराधियों तथा तटकर कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों को कोई सहायता नहीं दे सकता। यदि इसके कर्मचारी तट पर जाकर राज्य का कोई कानून तोड़ते हैं तो वे इसके कानूनी परिणामों से नहीं बच सकते। यद्यपि ऐसे अवसरों पर बन्दरगाहों के अधिकारी ऐसे अपराधियों को पकड़कर जहाज के अधिकारियों को सौंप देते हैं, राज्य के प्रादेशिक समुद्र में होने पर भी इस पर किये गये अपराध के सम्बन्ध में स्थानीय सरकार कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। फेनविक आदि कुछ विधिशास्त्रियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति तट पर अपराध करने

के बाद भागकर ऐसे जहाजों पर शरण लेता है तो तटवर्ती राज्य उसके समर्पण की माँग नहीं कर सकता, उसे इसके लिए कूटनीतिक कार्यवाही करनी चाहिए। किन्तु इसके विपरीत ब्रियर्ली ग्रादि कुछ ग्रन्य लेखकों का यह मत है कि ऐसे ग्रपराधी स्थानीय पुलिस को सौंप दिये जाने चाहिएँ। ग्रपराधियों को ऐसे जहाजों पर ग्रसाधारण ग्रवस्था में मानवीय कारणों के ग्राधार पर ही शरण दी जानी चाहिए।

(घ) **विदेशी सेनाग्रों पर क्षेत्राधिकार** (Jurisdiction over Foreign Armed Forces)—यदि एक देश की सेनायें दूसरे देश में जाती हैं तो उन्हें प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial Jurisdiction) से कुछ ग्रंशों में ही उन्मुक्ति मिलती है। इसका स्वरूप ग्रौर मात्रा परिस्थितियों के ग्रनुसार बदलती रहती है। सेनापति को तथा सैनिक न्यायालयों को सैनिकों द्वारा किये गये ग्रपराधों पर विचार का ग्रनन्य ग्रधिकार होता है। ये ग्रपना कार्य क्षमतापूर्वक करते रहें, इस दृष्टि से स्थानीय न्यायालयों को इनके क्षेत्राधिकार से वंचित समझा जाता है। यदि स्थानीय न्यायालय सैनिकों के मामले में दखल देने लगें तो सैनिक ग्रनुशासन को बड़ा धक्का पहुँचेगा। इस विषय में ग्रमरीकन दृष्टिकोण यह है कि किसी देश में ग्राने वाली सेनाग्रों को स्थानीय क्षेत्राधिकार से पूर्ण रूप से उन्मुक्ति मिलनी चाहिए, किन्तु ग्रास्ट्रेलिया ग्रौर ग्रेट ब्रिटेन इसे स्वीकार नहीं करते। Wright *v.* Cantrell के मामले में ग्रास्ट्रेलिया के न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि यदि स्थानीय नागरिक को हानि पहुँचाने वाले किसी विदेशी सैनिक को स्थानीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में लाया जाय तो इससे सेना की कार्यक्षमता को कोई खतरा नहीं पहुँचेगा।

(ङ) **ग्रन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की क्षेत्राधिकार से मुक्ति** (Immunity of International Institutions from Jurisdiction)—सं० रा० संघ ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंगठन (I. L. O.) जैसी संस्थाग्रों को ग्रन्तर्राष्ट्रीय समझौतों तथा राष्ट्रीय कानूनों के द्वारा स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की गई है। इस विषय में सं० रा० संघ की जनरल ग्रसेम्बली ने १९४६ तथा १९४७ में Conventions on the Privileges and Immunities of the United Nations and of the Specialised Agencies स्वीकार किया था। ग्रेट ब्रिटेन ने १९५० में British International Organisations Immunities and Privileges Act तथा सं० रा० ग्रमरीका ने १९५४ में United States Federal International Organisations Immunities Act पास किया था।

महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार (Jurisdiction on High Seas)—**एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामले** (देखिये ऊपर पृ० २२०) के निर्णय के ग्रनुसार महासमुद्र (High Sea) या खुला समुद्र (Open Sea) समुद्र के उन भागों को कहते हैं—(१) जो प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) न हों, (२) जो ग्रान्तरिक समुद्र (Inland Waters) न हों ग्रर्थात् प्रादेशिक समुद्र की ग्राधाररेखाग्रों के भीतर न ग्राते हों। मोटे तौर पर खुले समुद्र की परिभाषा यह है कि यह तीन मील की चौड़ाई वाले प्रादेशिक समुद्र से ग्रागे की विस्तीर्ण जलराशि होती है। वर्तमान समय में इस पर किसी

देश का स्वामित्व या प्रादेशिक प्रभुता नहीं मानी जाती। यह सब देशों के लिये समान रूप से खुली हुई है, इसमें सब देशों के जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक नौसंचालन कर सकते हैं और यहाँ समुद्रतलवर्ती प्राकृतिक सम्पत्ति का दोहन कर सकते हैं। **महासमुद्रों की स्वतन्त्रता'** (Freedom of High Seas) के सिद्धान्त का यही अर्थ है कि ये समुद्र किसी विशेष देश की प्रभुसत्ता में नहीं माने जाते, किन्तु सब राज्यों के उपयोग के लिए समान रूप से खुले हुए हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस **सिद्धान्त का विकास** शनैः-शनैः हुआ है। १५वीं-१६वीं शताब्दियों में योरोपियन जातियों के भूमण्डल के विभिन्न महाद्वीपों—अमरीका आदि की खोज के लिए समुद्रमन्थन आरम्भ हुआ। इससे पहले तक समुद्रों पर प्रभुता स्थापित करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इस समय विभिन्न शक्तियों ने अनेक महासमुद्रों पर प्रभुसत्ता का दावा किया। वेनिस ने एड्रियाटिक सागर पर, इंगलैंड ने उत्तरी समुद्र तथा इंगलिश चैनल पर तथा अटलांटिक सागर के बड़े भाग पर तथा डेन्मार्क और स्वीडन ने बाल्टिक सागर पर इस प्रकार के दावे किये। उस समय इन दावों के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद था, किन्तु इस सिद्धान्त पर कोई मतभेद नहीं था कि राज्यों को समुद्र पर इस प्रकार की प्रभुसत्ता स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। प्रायः राज्य जिन महासमुद्रों पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करते थे, उनमें पुलिस की भाँति पूरी देखभाल और समुद्री डाकुओं का निराकरण किया करते थे तथा इस सेवा के बदले वे इस पर साम्पत्तिक अधिकार का दावा करते थे। इसके अनुसार इस प्रदेश की मछलीगाहों को ठेके पर उठाने, यहाँ से गुजरने वाले जहाजों से कर वसूल करने तथा अपने देश के झण्डे की सलामी लेने का वे अपना विशेष अधिकार समझते थे। कई बार ये समुद्र दूसरे देशों के जहाजों के लिए बिलकुल बन्द कर दिये जाते थे।

१६वीं शताब्दी में स्पेन और पुर्तगाल द्वारा अपने समुद्रों के उपर्युक्त अधिकारों के दुरुपयोग के कारण महासमुद्रों की प्रादेशिक प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। इसके परिणामस्वरूप महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का जन्म हुआ। पोप अलेक्जेण्डर षष्ठ (Alexander VI) ने १४९३ की अपनी एक आज्ञा द्वारा नई दुनिया को स्पेन और पुर्तगाल में बाँट दिया। इसके अनुसार स्पेन समूचे प्रशान्त महासागर तथा मेक्सिको की खाड़ी पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करने लगा, पुर्तगाल ने हिन्द महासागर और अन्धमहासागर के बड़े हिस्सों पर अपने स्वामित्व की घोषणा की। दोनों देश अन्य योरोपियन राज्यों को इन विशाल क्षेत्रों से निकालने का प्रयत्न करने लगे।

१६०९ में पुर्तगाल के इन दावों का खण्डन करने के लिए ग्रोशियस ने **स्वतन्त्र समुद्र** (Mare Liberum) नामक निबन्ध लिखा, इसमें सर्वप्रथम सुस्पष्ट रीति से समुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। उसने इन पर प्रादेशिक प्रभुसत्ता का खण्डन दो प्रकार के तर्कों से किया था—

(१) महासमुद्र किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति इसलिए नहीं माना जा सकता कि कोई देश प्रभावशाली रूप से इसका आवेशन (occupation) नहीं कर सकता तथा इस पर अपना स्वामित्व नहीं रख सकता।

(२) सब व्यक्तियों द्वारा उपयोग में आने वाली तथा कभी समाप्त न हो सकने वाली वस्तुओं पर स्वामित्व स्थापित करने का अधिकार प्रकृति किसी को प्रदान नहीं करती। जिस तरह खुली हवा पर कोई मिलकियत नहीं जमा सकता, वही स्थिति खुले समुद्र की है। यह **सब राष्ट्रों की सम्पत्ति** (Res gentium) है।

आरम्भ में ग्रोशियस के समुद्री स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का बड़ा विरोध हुआ। इंगलैण्ड में जॉन सेल्डन ने १६३५ में **'बन्द समुद्र'** (Mare clausum) नामक ग्रन्थ में ग्रोशियस के तर्कों का खण्डन किया। किन्तु शनैः-शनैः सब राज्यों को यह अनुभव हुआ कि यह सिद्धान्त उनके स्वार्थों की दृष्टि से बड़ा लाभप्रद है। हॉल ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए बताया है[१०] कि कई बार एक ही समुद्र के सम्बन्ध में अनेक राष्ट्रों द्वारा प्रादेशिक प्रभुता का दावा किये जाने पर सब राज्यों को बड़ी असुविधा उठानी पड़ती थी। इन राज्यों को शीघ्र ही यह ज्ञान हुआ कि समुद्रों पर प्रादेशिक प्रभुता को स्थापित करने का कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है, इसकी उपयोगिता केवल युद्ध में है, उस समय शक्तिशाली नौसेना के अभाव में इन प्रदेशों पर दावा करना निरर्थक है। समुद्रों की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सब राष्ट्रों में सम्पर्क की स्वाधीनता बनाये रखने की दृष्टि से लाभप्रद था, अतः १९वीं शताब्दी तक यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया।

स्टार्क के कथनानुसार **'खुले समुद्र की स्वतन्त्रता'** में निम्नलिखित तत्वों का समावेश होता है[११]—(१) महासमुद्रों पर कभी किसी विशेष महाशक्ति की प्रभुसत्ता स्थापित नहीं हो सकती है। (२) महासमुद्रों में सब देशों के व्यापारिक जहाजों एवं युद्धपोतों को नौचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। (३) सामान्य रूप से किसी राज्य को इसमें अपने राष्ट्र का झण्डा फहराने वाले जहाजों के अतिरिक्त अन्य देशों के जहाजों पर अपना क्षेत्राधिकार प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। (४) सामान्यतः एक राज्य इसका झण्डा फहराने वाले जहाज पर ही अपने क्षेत्राधिकार के प्रयोग का अधिकार रखता है। (५) प्रत्येक राज्य और उसके नागरिकों को इस बात का अधिकार है कि वे महासमुद्रों में अधःसमुद्रीय तारें तथा तेल के पाईप बिछा सकें, मछलीगाहों का उपयोग कर सकें और वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए समुद्र का उपयोग कर सकें। (६) महासमुद्रों के ऊपर के आकाश में सब देशों के हवाई जहाजों को उड़ान करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध (Limits on the Freedom of High Seas)—महासमुद्रों की स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता तथा अराजकता में न परिणत हो जाय, इसलिये इसमें चलने वाले जहाजों के सम्बन्ध में निम्नलिखित मर्यादायें और प्रतिबन्ध लगाये गये हैं—

(१) महासमुद्रों में यात्रा करने वाले सार्वजनिक और वैयक्तिक जलपोत उस देश के क्षेत्राधिकार में समझे जाते हैं, जिस देश की ध्वजा उन पर फहरा रही हो। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन की ध्वजा फहराने वाले जहाज पर महासमुद्र में किये गये अपराधों पर

१०. हॉल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८९

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २०८–९

विचार का अधिकार ब्रिटिश न्यायालयों को होगा।

(२) कोई भी जलपोत किसी देश की ध्वजा उससे पूरा अधिकार और स्वीकृति पाने के बाद ही अपने पोत पर लगा सकता है। उसे जिस राज्य द्वारा ध्वजा (Flag) लगाने का अधिकार दिया गया हो, उसके अतिरिक्त अन्य किसी देश की ध्वजा वह अपने जहाज पर नहीं लगा सकता।

(३) प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी को अपने देश की ध्वजा का दुरुपयोग न करने दे। यदि कोई जहाज इस प्रकार का दुरुपयोग करता है तो वह राज्य उस जहाज को पकड़ कर जब्त कर सकता है।

(४) किसी भी राज्य के युद्धपोत संदेहास्पद पोतों को उनका झण्डा दिखाने के लिए कह सकते हैं। जो जहाज किसी सामुद्रिक राज्य का समुचित झण्डा नहीं दिखा सकता, उसे रक्षा पाने का कोई अधिकार नहीं, उसकी जब्ती की जा सकती है।

(५) महासमुद्रों में यात्रा करने वाले जहाजों के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (Right of Visit and Search) होता है।

(६) महासमुद्रों में दो पोतों की टक्कर होने पर **लोटस** के मामले में दिये गए निर्णय के अनुसार इस टक्कर से प्रभावित जहाज जिस देश का होता है, उसके न्यायालयों को विदेशी जहाजों के विरुद्ध मामले सुनने का अधिकार होता है। किन्तु १९५२ के ब्रुसेल्ज सम्मेलन ने तथा १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपनी आठवीं बैठक में टक्कर की दशा में टकराने वाले जहाजों पर उनके झण्डे वाले देश का क्षेत्राधिकार स्वीकार किया है।

(७) युद्ध के समय महासमुद्रों पर युद्धकारी सामुद्रिक देशों के अधिकारों में बहुत वृद्धि हो जाती है। युद्धकारी देश तटस्थ देशों के जहाजों का निरीक्षण और तलाशी इस दृष्टि से ले सकते हैं कि वे कहीं विनिषिद्ध (Contraband) युद्ध-सामग्री का वहन तो नहीं कर रहे। किसी देश के गृहयुद्ध में दोनों पक्ष युद्धावस्था की मान्यता (Recognition of Beiligerency) पा लेने पर (देखिये पृ० १८२) महासमुद्रों में इस प्रकार विदेशी जहाजों की तलाशी का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा विभिन्न राज्य एक-दूसरे को महासमुद्रों के कुछ भागों पर शान्तिकाल के विशेष उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से विदेशी जहाजों के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार प्रदान करते हैं। इनका स्वरूप ऐसे समझौतों के नामों से ही स्पष्ट है—जैसे Convention for the Protection of Submarine Cables, 1884. Convention for regulating the Police of the North Sea Fisheries, 1882. The Convention respecting the Liquor Traffic in the North Sea, 1887. The General Act of Brussels of 1890, for the Repression of the African Slave Trade. Interim Convention of February 9, 1957, for the conservation of North Pacific Fur Seal Herds.

(९) महासमुद्रों में अणु बम सम्बन्धी परीक्षण करते हुए इनके कुछ विशाल प्रदेशों को नौचालन के लिए बन्द करने के अधिकार पर आजकल अन्तर्राष्ट्रीय विधि-

शास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। इन परीक्षणों में उत्पन्न रेडियमधर्मी धूलि विकरण (Radio-active fall out) से समुद्र में चलने वाले जहाजों पर सवार व्यक्तियों को स्थायी रूप से हानि पहुँच सकती है। अतः अमरीका आदि कुछ देश ऐसे परीक्षण करने से पहले इस परीक्षण से प्रभावित होने वाले महासमुद्र में सब देशों को अपने जहाज न भेजने की चेतावनी और सूचना देते हैं। क्या उनका इस प्रकार का कार्य इस प्रदेश को नौचालन के लिए बन्द करके महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचाता? कुछ देश वस्तुतः ऐसा समझते हैं। किन्तु ऐसे परीक्षण करने वाले देशों का तर्क यह है कि इस प्रकार समुद्र बन्द करना सर्वथा युक्तियुक्त है, इससे महासमुद्रों की स्वतन्त्रता को कोई बड़ी आंच नहीं आती, क्योंकि यह कार्य अल्पकालिक और अस्थायी होता है, आत्मरक्षा के लिए यह उसी प्रकार वैध है, जैसे महासमुद्रों में युद्धपोतों द्वारा नकली लड़ाई और तोपखाने के परीक्षण जायज होते हैं।

(१०) तटवर्ती राज्य को विदेशी जहाजों से अपनी सुरक्षा तथा प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में भीषण संकट उत्पन्न होने की दशा में यह अधिकार है कि वह अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा से बाहर महासमुद्र में भी आत्मरक्षा के आधार पर ऐसे विदेशी जहाजों के विरुद्ध कार्यवाही करे।

(११) तटवर्ती राज्यों को महासमुद्रों में तेजी से पीछा करने (Hot pursuit) का अधिकार प्राप्त होता है।

(१२) महासमुद्रों में प्रत्येक देश को समुद्री डाकुओं (Pirates) को नष्ट करने का अधिकार है।

महासमुद्रों के सजीव साधनों के संरक्षण तथा मछली पकड़ने का समझौता (Convention of Fishing and Conservation of thc Living Resources of the High Seas, 1960)—महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त ने सब देशों को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे इन समुद्रों में पाये जाने वाले प्राकृतिक साधनों को प्राप्त करने तथा मछलियाँ आदि पकड़ने का पूरा अधिकार रखते हैं और ऐसा कार्य करने वाले जहाजों को महासमुद्रों में पूरी तरह स्वतन्त्रता है, कोई देश किसी दूसरे को ऐसे कार्य से नहीं रोक सकता। किन्तु कई बार कुछ देश यह कार्य ऐसे ढंग से कर सकते हैं कि इससे प्राकृतिक सम्पत्ति और प्राणियों के विनाश की संभावना उत्पन्न हो सकती है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि विभिन्न देश महासमुद्रों में प्राकृतिक सम्पत्ति के दोहन के सम्बन्ध में ऐसी संधियाँ और समझौते करें जिनसे इस सम्पत्ति की सुरक्षा और संरक्षण (Preservation) हो सके और सब देश इससे देर तक लाभ उठाते रहें। यह १८६२ तथा १६०२ के Behring Sea Fur Seal Arbitrations के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

बेहरिंग समुद्र साइबेरिया और अलास्का के मध्य में प्रशान्त एवं उत्तरी ध्रुवीय (Arctic Sea) सागरों को मिलाने वाला है। यहाँ बड़े मुलायम बालों की खाल या समूर (Fur) वाली सील (Fur Seal) मछलियाँ बड़ी संख्या में मिलती हैं। समूर के लिए इनका शिकार किया जाता है। पहले मामले में सं० रा० अमरीका ने सील मछलियों के

कुछ कनाडा वासी शिकारी पकड़ लिये, इसका यह कारण था कि ये महासमुद्रों में सीलों का अन्धाधुन्ध शिकार करते हुए गर्भवती सील मछलियों को भी पकड़ रहे थे, इससे यह आशंका थी कि सं० रा० अमरीका के अधीन अलास्का से सील मछलियों का वंश खत्म हो जायगा। दूसरे मामले में रूस ने सं० रा० अमरीका के इस प्रकार सील का शिकार करने वाले व्यक्तियों को पकड़ा। इनके शिकार से रूसी सील मछलियों का वंश लुप्त होने की संभावना थी। इन दोनों मामलों में न्यायाधिकरण (Tribunal) ने यह युक्ति नहीं स्वीकार की कि तटवर्ती राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने तट के निकटवर्ती महासमुद्रों में बहुमूल्य प्राकृतिक साधनों के संरक्षण के लिए विदेशी जहाजों पर कोई पाबन्दी या रोक लगा सकता है। न्यायालय का मत था कि संधि न होने की दशा में तटवर्ती राज्य संरक्षण सम्बन्धी नियम केवल अपने जहाजों पर ही लागू कर सकता है। इस निर्णय के बाद समुद्र में ह्वेल तथा सील मछलियों के अंधाधुन्ध एवं विनाशकारी रूप से पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अनेक देशों में संधियाँ की गयी हैं। किन्तु ये संधियाँ केवल संधि करने वाले राज्यों पर ही लागू होती हैं, अन्य राज्यों को महासमुद्रों में ऐसा विध्वंसपूर्ण शिकार करने से नहीं रोका जा सकता।

इस विषय का महत्व अनुभव करते हुए १९५८ के समुद्री कानून के जेनेवा सम्मेलन (२४ फरवरी से २८ अप्रैल) ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा बनाया हुआ एक समझौता Convention on Fishing and Conservation of the Living Resources of High Seas स्वीकार किया है।[१२] इसकी धारा १ से ३ तक **सामान्य अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का** वर्णन करते हुए कहा गया है कि सब राज्यों को अपने नागरिकों के लिए यह अधिकार प्राप्त है कि वे महासमुद्रों में मछली पकड़ सकते हैं, बशर्ते कि वे निम्नलिखित शर्तों का पालन करें (१)—संधियों से उत्पन्न होने वाले दायित्व, (२) तटवर्ती राज्यों के हित एवं अधिकार, (३) इस समझौते में आगे दी जाने वाली व्यवस्थायें। सब राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे भोजन प्राप्ति की मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए महासमुद्रों में जीवित प्राणियों के संरक्षण के लिए किये जाने वाले उपायों में एक-दूसरे का सहयोग करें। यदि महासमुद्रों के किसी भाग में दो या अधिक राज्यों के नागरिक शिकार करते हों तो प्रत्येक राज्य को अन्य राज्यों के साथ यहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति के संरक्षण का समझौता कर लेना चाहिए। यदि यह समझौता न हो सके तो इस कार्य के लिए पाँच सदस्यों का एक आयोग बनाना चाहिए।

तटवर्ती राज्यों को यह अधिकार है कि वे अपने प्रादेशिक समुद्र के साथ लगे हुए महासमुद्रों में जीवित प्राणियों के संरक्षण के लिए किये जाने वाले उपायों में भाग लें, भले ही उसके नागरिक यहाँ मछलियाँ न पकड़ते हों। यहाँ शिकार करने वाले अन्य देशों को तटवर्ती राज्य के साथ इस विषय में समझौता कर लेना चाहिए ताकि प्राकृतिक साधनों का संरक्षण भली भांति हो सके। दूसरे राज्यों को यहाँ ऐसे उपायों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जो तटवर्त्ती राज्य द्वारा ग्रहण किये गये उपायों के प्रतिकूल हों। यदि इन उपायों के बारे

१२. कीसिंग्स कांटेम्परेरी आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ५ अक्टूबर १९५८, पृ० १६४१५

में तटवर्त्ती राज्यों से छः महीने तक समझौता नहीं हो पाता तो तटवर्ती राज्य एकपक्षीय (Unilaterally) रूप से संरक्षण के उपायों को ग्रहण कर सकता है, किन्तु ये अन्य राज्यों पर निम्न दशाओं में लागू हो सकते हैं—(१) मछलीगाहों की वर्तमान स्थिति के ज्ञान की दृष्टि से आवश्यक रूप से बरते जाने वाले उपाय। (२) ये उपाय उपयुक्त वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर होने चाहियें। (३) ये विदेशी मछली पकड़ने वालों पर भेद-भावपूर्ण (Discriminatory) नियम लागू करने वाले नहीं होने चाहियें। इस विषय में होने वाले सभी विवादों का पंचनिर्णय पाँच सदस्यों के पहले बनाये गये आयोग द्वारा किया जायगा।

महासमुद्रों का अभिसमय (Convention on High Seas)—१९५८ के जेनेवा के समुद्री सम्मेलन ने महासमुद्रों के विषय में भी एक महत्वपूर्ण समझौता स्वीकार किया है। इसकी धारा १–२ में **महासमुद्र का यह लक्षण** किया गया है कि ये "समुद्र के वे सब भाग हैं, जो राज्य के प्रादेशिक समुद्र तथा आन्तरिक जलों (Inland Waters) में नहीं आते। ये सब देशों के लिए समान रूप से खुले हुए हैं, इनके किसी भाग पर कोई देश वैध रूप से अपनी प्रभुसत्ता नहीं स्थापित कर सकता।" महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर इस समझौते में तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अनेक प्रतिवन्ध लगाये गये हैं। महासमुद्रों की स्वतन्त्रता में निम्न बातों का समावेश है—नौचालन की स्वतन्त्रता, मछली पकड़ने की स्वतन्त्रता, समुद्र की अधोभूमि में तार तथा पाइप लाइनें बिछाने की स्वतन्त्रता, महासमुद्रों पर उड़ने की स्वतन्त्रता। किन्तु इन सब स्वतन्त्रताओं का उपयोग सब राज्यों द्वारा इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इससे दूसरे राज्यों के हितों द्वारा समुद्र की स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हुए उनके हितों को कोई हानि न पहुँचे। इससे यह स्पष्ट है कि महासमुद्रों का प्रयोग करते हुए यदि दूसरे राज्यों के हितों का ध्यान नहीं रखा जायगा तो यह अधिकारों का दुरुपयोग समझा जायगा।

इसकी धारा ३ में चारों ओर स्थल से घिरे हुए (Landlocked Countries) राज्यों के बारे में यह कहा गया है कि जिन राज्यों का कोई समुद्र तट नहीं होगा उनके लिए समुद्र तक पहुँचने का मार्ग खुला (free access) होना चाहिए। स्थल से घिरे राज्यों को समुद्रतट रखने वाले पड़ोसी देशों द्वारा पारस्परिक समझौते से यह अधिकार दिया जाना चाहिए। यह व्यवस्था इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें पहली बार यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि इसमें बहुत कुछ पारस्परिक समझौते पर छोड़ा गया है, फिर भी इसकी यह व्यवस्था बड़ा महत्व रखती है।

जहाजों की राष्ट्रीयता (Nationality of Ships) के बारे में धारा ५ में विस्तृत नियम दिये गये हैं। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि उसके झण्डे को फहराते हुए जहाज समुद्र में यात्रा करें और वह जहाजों को अपनी राष्ट्रीयता देने की शर्तों का तथा जहाजों की अपने प्रदेश में रजिस्ट्री करने तथा अपना झण्डा फहराने की शर्तों का निश्चय करे। जहाजों पर जिस देश की ध्वजा फहरा रही होगी, वह जहाज उस देश का समझा जायगा, किन्तु राज्य में तथा जहाज में **वास्तविक संबन्ध** (Genuine Link)

होना चाहिए और राज्य का "अपने झण्डे वाले जहाज के शासन प्रबन्ध, प्राविधिक (Technical) तथा सामाजिक विषयों में प्रभावशाली क्षेत्राधिकार और नियंत्रण होना" चाहिये। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से की गई है कि जहाजों पर **'सुविधा के झण्डे'** (Flags of Convenience) लगाने की दूषित प्रथा समाप्त की जा सके। सुविधा के झण्डों' का अभिप्राय यह है कि जहाजों पर पानामा, होण्डुरास लाइबीरिया आदि ऐसे देशों के झण्डे लगाये जायें और इन्हें उन देशों का जहाज माना जाय, जो अपना झण्डा लगाने के लिए कम से कम शर्तों तथा कम से कम नियंत्रण की मांग करते हैं। जहाजों को एक देश का ही झण्डा लगाकर यात्रा करनी चाहिए, अपनी एक यात्रा में या किसी बन्दरगाह पर राष्ट्र के झण्डे को तब तक नहीं बदलना चाहिए, जब तक कि जहाज के स्वामित्व में या रजिस्ट्री में वास्तविक परिवर्तन न हो। यदि कोई जहाज दो या अधिक राज्यों का झण्डा लगाता है, इनका प्रयोग अपनी सुविधा के अनुसार करता है तो इसे किसी देश का भी जहाज नहीं समझा जायगा, यह राष्ट्रीयताहीन (without nationalities) माना जायगा।

महासमुद्रों में जहाजों पर क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के विषय में यह मौलिक सिद्धान्त माना गया है कि संधि की अथवा असाधारण दशा को छोड़कर सामान्य रूप से महासमुद्रों में जहाजों पर केवल उसी राज्य का क्षेत्राधिकार होगा, जिसका झण्डा उस पर फहरा रहा होगा। महासमुद्रों में होने वाली जहाजों की टक्करों के सम्बन्ध में **लोटस** (Lotus) के मामले में दिये गये निर्णय से प्रतिकूल नियम बनाते हुए इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि महासमुद्रों में हुई दुर्घटना के सम्बन्ध में कोई दण्डात्मक या अनुशासनात्मक कार्यवाही केवल दो राज्यों के उपर्युक्त अधिकारियों द्वारा की जा सकती है—(क) उस जहाज पर लगे झण्डे वाला देश या ध्वजराज्य (Flag State), (ख) वह राज्य जिसके नागरिक ने दुर्घटना आदि का अपराध किया है (धारा ११)। ध्वजराज्य को महासमुद्रों में अपने जहाज पर पूर्ण तथा अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) है, दूसरे राज्य केवल तीन दशाओं में इस पर क्षेत्राधिकार रखते हैं—(क) समुद्री डकैती (Piracy), (ख) दास-व्यापार, (ग) तीव्र अनुसरण (Hot Pursuit)। आगे यथा स्थान इनका वर्णन किया जायगा।

कारखानों, यन्त्रों आदि की मलिनताओं तथा गन्दे तेल को समुद्र में डालकर उसके पानी को गन्दा बनाने से रोकने के लिए **कुलषीकरण विरोधी उपायों** (Anti-pollution measures) का निर्देश करते हुए इसमें कहा गया है कि सब देश अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को ऐसे उपाय अपनाने में सहयोग देंगे, जो समुद्र को तथा उसके ऊपर के आकाश को रेडियो एक्टिव तत्वों से या अन्य साधनों से कलुषित एवं मलिन होने से बचाने के उद्देश्य से किये गये हों (धारा २४–२५)।

इस समझौते पर विचार करने वाली कमेटी ने आणविक आयुधों और इनके परीक्षणों से समुद्रजल के गन्दा होने के प्रश्न पर विशेष रूप से विचार किया। जापान के प्रतिनिधि आकिरा ओहा (Akira Oha) ने ११ मार्च १९५८ को इस बात पर बल दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तय किये गये प्रारूप में कहा गया है कि "राज्य

का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे ऐसे सभी कार्य न करें, जिनसे अन्य राज्यों के नागरिकों द्वारा महासमुद्रों के जल का प्रयोग अहितकर (Adverse) हो जाता हो।" जापानी प्रतिनिधि की दृष्टि से इसका यह अभिप्राय था कि महासमुद्रों के जलों को आणविक परीक्षणों द्वारा दूषित नहीं किया जाना चाहिए, अतः इस विषय में स्पष्ट रूप से नियम बनाने चाहियें। किन्तु ब्रिटिश और अमरीकन प्रतिनिधियों का यह मत था कि यह प्रश्न निःशस्त्रीकरण पर तथा आणविक आयुधों के परीक्षणों तथा उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संधिवार्ता से सम्बद्ध है, अतः इस पर यहाँ पृथक् रूप से विचार सम्भव नहीं है।

इस प्रश्न पर विचार के समय तीन प्रस्ताव रखे गये। **पहला** प्रस्ताव सोवियत संघ, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और यूगोस्लाविया की ओर से संयुक्त रूप से पेश किया गया, इसमें महासमुद्रों की स्वतन्त्रता वाली धारा में यह वाक्य जोड़ने को कहा गया था कि "राज्य इस बात के लिए वाध्य हैं कि वे महासमुद्रों में आणविक आयुधों के परीक्षण न करें।" ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, पाकिस्तान तथा टर्की ने उपर्युक्त कारणों के आधार पर इसका विरोध किया। **दूसरा** प्रस्ताव ग्रेट ब्रिटेन ने आणविक आयुधों के प्रश्न को जनरल असेम्बली को सौंपने का किया। इसका विरोध अल्बानिया, चैकोस्लोवाकिया, भारत, जापान, रूमानिया, सोवियत संघ, सं० अरब गणराज्य तथा यूगोस्लाविया ने इस आधार पर किया कि इससे आणविक आयुधों के परीक्षणों से उत्पन्न होने वाली प्रबल आशंका और भीति पूरे रूप से प्रकट नहीं होती। यह प्रस्ताव भी पास नहीं हो सका। अन्त में भारत द्वारा समझौते के रूप में उपस्थित किया गया **तीसरा** प्रस्ताव पास हो गया। इसमें अनेक राज्यों की यह "गम्भीर तथा वास्तविक आशंका स्वीकार की गयी थी कि आणविक विस्फोट महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का उल्लंघन है तथा यह सिफारिश की जाती है कि यह मामला इस बात को ध्यान में रखते हुए जनरल असेम्बली को सौंपा जाय कि आणविक परीक्षणों का प्रश्न अभी असेम्बली में विचारणीय है।[13] इस बात प्रकार इस प्रस्ताव में पहले दो प्रस्तावों का समन्वय था, अतः यह ५० वोटों के बहुमत से पास हो गया, दूसरे के विरोध में जापान, चिली, इक्वेडोर और पेरू के चार वोट थे, सोवियत संघ और उसके समर्थकों तथा यूगोस्लाविया ने इस प्रस्ताव पर वोट नहीं दिया।

महासमुद्र में तीव्र अनुसरण (Hot Pursuit in High Seas)—तटवर्ती राज्य के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उसे यह अधिकार प्रदान किया गया है। इसका यह आशय है कि यदि कोई तटवर्ती राज्य किसी प्रमाण के आधार पर यह समझता है कि किसी विदेशी जहाज ने उसके कानूनों और नियमों का उसके प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर उल्लंघन किया है तो महासमुद्रों में इस जहाज का पीछा करके उसे पकड़ा जा सकता है। तेजी से पीछा करने या तीव्र अनुसरण की शर्तें निम्नलिखित हैं—

(क) यह अनुसरण तत्काल उसी समय से शुरू हो जाना चाहिए जब विदेशी पोत तटवर्त्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र में हो। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसके संस्पर्शी

१३. कीसिंग्स आर्काइव्ज, २७ सितम्बर से ४ अक्टूबर, १९५८, पृ० १६४१५

क्षेत्र (Contiguous Zone–देखिये ऊपर, पृ० २१५) में होने पर इसका अनुसरण वैध माना है।

(ख) अनुसरण निरन्तर तथा निर्बाध (Continuous and uninterrupted) होना चाहिए।

(ग) इस अनुसरण से पहले किसी दृश्य या श्रव्य संकेत द्वारा उसे रुकने के लिए चेतावनी इतनी दूरी से दी गयी हो कि वह उसे दिखाई या सुनाई दे।

(घ) पीछा करने वाले जहाज युद्धपोत या सैनिक विमान हो सकते हैं, अधिकार सम्पन्न गश्ती जहाज हो सकते हैं। तीव्र अनुसरण का सिद्धान्त मुख्य रूप से तटकर के तथा मछलीगाहों के नियम तोड़ने वालों पर लागू किया जाता है। यह अनुसरण राज्य के हितों को मार्मिक हानि पहुँचाने वाले मामलों में ही किया जाता है, कानूनों के क्षुद्र उल्लंघनों पर ऐसा अनुसरण वैध नहीं समझा जाता।"[१४]

१६५८ के महासमुद्रों के अभिसमय में तीव्र अनुसरणविषयक व्यवस्था—१६५८ में ८७ राज्यों के समुद्री कानून सम्मेलन ने महासमुद्रों के अभिसमय (Convention on High Seas) में तीव्र अनुसरण (Hot pursuit) के सम्बन्ध में धारा २३ में निम्न व्यवस्था की है: जब तटवर्त्ती राज्य के पास यह विश्वास करने का उत्तम प्रमाण हो कि किसी जलपोत ने उस राज्य के कानूनों और नियमों का उल्लंघन किया है तो उस विदेशी पोत का तीव्र अनुसरण किया जा सकता है। यह अनुसरण तटवर्त्ती राज्य के आन्तरिक समुद्र (Internal Waters) अथवा प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) में आरम्भ होना चाहिए। यदि विदेशी जहाज संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone) में हो तो इसका अनुसरण तभी किया जा सकता है, जब इसने ऐसे नियमों का उल्लंघन किया हो, जिनके पालन के लिए यह क्षेत्र स्थापित किया गया था। तीव्र अनुसरण का अधिकार पीछा किये जाने वाले विदेशी जहाज के देश के अथवा किसी अन्य देश के प्रादेशिक समुद्र की सीमा के भीतर पहुँचते ही समाप्त हो जाता है। तीव्र अनुसरण का अधिकार केवल इन्हीं जहाजों को है—(क) युद्धपोत, (ख) सैनिक विमान, (ग) राज्य की ओर से विशेष रूप से अधिकार दिये गये जलीय अथवा हवाई जहाज। यदि यह तीव्र अनुसरण किसी विमान द्वारा किया जाय तो इसे उस समय तक पीछा करना चाहिए जब तक तटवर्ती देश का कोई अन्य जहाज उसका पीछा न करने लगे अथवा विमान स्वयमेव नियम उल्लंघन करने वाले जहाज को बन्दी न बना ले। महासमुद्रों में किसी जहाज को बन्दी बनाने के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि तटवर्त्ती राज्य के विमान ने नियम उल्लंघन करने वाले जहाज को केवल देख लिया है, इसके लिए यह आवश्यक है कि इसका पीछा निरन्तर तथा निर्बाध (Uninterrupted) रूप से किया गया हो। यदि किसी जहाज को महासमुद्रों में ऐसी परिस्थितियों में रोका जाय, जिनमें तीव्र अनुसरण न्यायोचित न हो तो इस प्रकार जहाज को ठहराने या रोकने से होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए।

१४. इस सिद्धान्त के विशद विवेचन के लिए देखिये—ब्रिटिश यीअर बुक आफ् इण्टरनेशनल लॉ, १६३१, पृ० ८३

महासमुद्रों में समुद्री डकैती का दमन (Piracy in High Seas)—सब राज्यों को यह अधिकार है कि वे खुले समुद्र में समुद्री डाकुओं (Pirates) या जलदस्युओं का दमन करें। सब देशों के हित की दृष्टि से इनका दमन वांछनीय है, अतः यह अधिकार सार्वभौम रूप से सब राज्यों को प्रदान किया गया है कि जलदस्यु जिस किसी राज्य की पकड़ में आये, वह उसे दण्ड दे। इस प्रकार का नियम बनाने का मूल यह विचार है कि समुद्री डाकू मानव जाति का शत्रु (*Hostis humani genesis*–**सर्वेषां मानवानां शत्रु**) है। अपने जघन्य आचरण के कारण समुद्री डाकू अपनी मातृभूमि से नागरिकता के आधार पर मिलने वाले संरक्षण से वंचित समझा जाता है।

पहले समुद्री डकैती का लक्षण यह किया जाता था कि यह कानून की रक्षा से विवंचित या आततायी (Outlaw) व्यक्तियों द्वारा महासमुद्रों में की जाने वाली हत्या या डकैती है। आपेनहाइम के मतानुसार "यह व्यक्तियों या सम्पत्ति के सम्बन्ध में हिंसा का प्रत्येक ऐसा अनधिकृत कार्य है, जो खुले समुद्र में एक निजी जहाज द्वारा दूसरे जहाज के विरुद्ध किया जाता है, या एक जहाज के विद्रोही नाविक या सवारियाँ इस जहाज के विरुद्ध करती हैं।"[१५] मूर (Moore) का लक्षण बड़ा स्पष्ट है—"समुद्री डाकू वह व्यक्ति है जो किसी राज्य से कानूनी अधिकार पाये बिना एक जहाज पर इस इरादे से हमला करता है कि वह इसकी सम्पत्ति लूट लेगा।" किन्तु अब इसकी परिभाषा काफी व्यापक कर दी गयी है। १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसका लक्षण करते हुए कहा था कि यह वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से किया गया हिंसा, निरोध या लूटपाट का कोई भी अवैध कार्य है, इसे किसी वैयक्तिक जलपोत या विमान पर सवार व्यक्तियों द्वारा महासमुद्रों पर या स्वामीहीन समुद्रों या प्रदेशों पर किसी दूसरे जलपोत, व्यक्तियों या जलपोत की सम्पत्ति के विरुद्ध किया जाता है।

उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि समुद्री डकैती के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं—

(क) यह किसी व्यक्ति या सम्पत्ति के विरुद्ध अनधिकृत हिंसा (Unauthorised violence) का कार्य होना चाहिए।

(ख) यह कार्य खुले समुद्र में होना चाहिए।

(ग) यह एक वैयक्तिक जहाज द्वारा दूसरे वैयक्तिक जहाज के विरुद्ध अथवा विद्रोही नाविकों या सवारियों का अपने जहाज के विरुद्ध होना चाहिए।

(घ) इसके लिये लूटपाट में सफल होना आवश्यक नहीं; इसके लिए किया गया विफल प्रयत्न भी समुद्री डकैती है।

(ङ) इसका लक्ष्य सार्वजनिक नहीं, किन्तु वैयक्तिक है। Ambrose light के मामले में यह फैसला दिया गया था कि महासमुद्र में सन्देहपूर्ण परिस्थितियों में यात्रा करने वाला सशस्त्रपोत जलदस्यु (Pirate) समझा जाना चाहिए। कोई सार्वजनिक पोत जलदस्यु का काम नहीं कर सकता, यह कार्य केवल निजी जहाज द्वारा ही हो सकता

१५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० १, पृ० ६१०

है। एक युद्धकारी देश द्वारा किसी सशस्त्र वैयक्तिक जलपोत को यह काम सौंपा जा सकता है कि वह उसके शत्रु के जहाजों को लूटे, इसे **निजीयोधक** (Privateer) कहते हैं। जब तक यह शत्रु के जहाजों की लूटपाट करता है, तब तक इसका कार्य समुद्री डकैती में नहीं गिना जाता है, किन्तु यदि अन्य राज्यों को लूटने लगे तो यह जलदस्युता होगी। किसी देश में गृहयुद्ध होने की स्थिति में यदि विद्रोहियों को युद्धावस्था की मान्यता न मिली हो तो उनका निजीयोधक जलदस्यु समझा जायगा।

१९२२ में वाशिंगटन के नौ-सम्मेलन में यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि पनडुब्बियों तथा जलपोतों के जो व्यक्ति समुद्री युद्ध के मानवीय नियमों को तोड़ें, उन्हें भी जलदस्युता का दण्ड दिया जाय। १९३७ के स्पेन के गृहयुद्ध में भूमध्यसागर में अनेक व्यापारी जहाज पनडुब्बियों द्वारा नष्ट कर दिये गए। यह समझा जाता था कि ये कार्य इटली की सरकार की आज्ञा से किये गये थे। इनसे युद्ध का संकट उत्पन्न हो गया, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत यूनियन, टर्की, रूमानिया, बल्गारिया, ईजिप्ट और यूगोस्लाविया ने यह समझौता किया कि पनडुब्बियों के ऐसे कार्य जलदस्युता समझे जायें और सब राज्यों की सेनायें इन पनडुब्बियों को नष्ट करने का प्रयत्न करें।

१९५८ के महासमुद्रों के अभिसमय (Convention on High Seas) में समुद्री डकैती के दमन पर बल देते हुए कहा गया है कि सब राज्यों को इसमें अधिकतम सहयोग देना चाहिए (धारा १४–१८)। महासमुद्रों में प्रत्येक राज्य समुद्री डाकुओं के अथवा इनसे नियंत्रित जहाज पकड़ सकता है, ऐसा कार्य करने वालों को बन्दी बना सकता है और समुद्री डाकुओं की सम्पत्ति जब्त कर सकता है (धारा १९)। इस प्रकार की जब्ती तथा डकैती के दमन का कार्य केवल सरकार द्वारा अधिकार प्राप्त युद्धपोत (Warships) या सैनिक विमान अथवा अन्य जहाज कर सकते हैं।

हवाई डकैती या विमानापहरण (Hijacking or air piracy)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में यह एक सर्वथा नवीन विकास है और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विशेषतः पिछले १० वर्षों में हवाई डकैती की घटनाएँ अधिक संख्या में होने लगी हैं। विमानापहरण का सामान्य अभिप्राय यह है कि इसमें आकाश में उड़ते हुए विमान पर बैठे हुए एक किसी व्यक्ति द्वारा अवैध रूप से इसके संचालन में बाधा डाली जावे और वह व्यक्ति इस पर अपना गलत ढंग से नियन्त्रण स्थापित करके इसे अपनी इच्छानुसार इसके निश्चित लक्ष्य से इसे दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रयत्न करे और जबर्दस्ती इसका मार्ग बदल कर इसे दूसरे स्थान पर ले जावे। जनवरी १९४८ से सितम्बर १९७१ के आरम्भ तक इस प्रकार विमानापहरण की १२१ घटनायें हुई हैं।[१६] मई १९६१ से संयुक्त राज्य अमरीका के ५१ विमान इस प्रकार की हवाई डकैती का शिकार हुए हैं और इनमें से ५० विमान क्यूबा ले जाये गये। इनके क्यूबा ले जाने का यह कारण था कि मियामी (अमेरिका) में क्यूबा के बहुत से व्यक्ति बसे हुए थे, किन्तु उन्हें अपनी मातृभूमि क्यूबा जाने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

१६. एलोना ई इवान्स—एअर क्राफ्ट हाई जैकिंग,—इट्स कॉज एण्ड क्योर, खण्ड ६३, १९६९ अमेरिकन जनरल आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६९५।

वे इस प्रकार अवैध रीति से विमान चालकों को गोली का भय दिखाकर उन्हें क्यूबा जाने के लिए विवश करते थे ताकि वे अपनी मातृभूमि में पहुँचे सकें। सितम्बर १६७० में पैलेस्टाइन के गुरिल्ला लोगों ने अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पैन अमेरिकन कम्पनी के चार विमानों का इस प्रकार अपहरण किया। वे इन्हें जोर्डन के मरुस्थल की एक हवाई पट्टी पर ले आये और यहाँ उन्होंने इसका विध्वंस इस उद्देश्य से किया कि अमेरिका पर इसका दबाब पड़े और वह इज़राइल को उनकी बात मानने के लिए बाधित करें। भारत में हवाई डकैती की एक उल्लेखनीय घटना ३१ जनवरी १६७१ को तब हुई जब श्रीनगर से जम्मू आने वाले एक विमान पर सवार दो राजनीतिक मदान्ध व्यक्ति इस विमान को जबर्दस्ती पाकिस्तान में लाहौर ले गये और वहाँ दो दिन बाद २ फरवरी १६७१ को पाकिस्तानी सेनाओं और हवाई अधिकारियों के समक्ष विमान अपहर्ताओं ने इसे फूक दिया। इस प्रकार का जघन्य अपराध करने वाले और भारतीय सम्पत्ति को नष्ट करने वाले अपराधियों को पाकिस्तान की सरकार ने शरण दी और भारत सरकार के आग्रह करने पर भी इनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की।

हवाई डकैती के कारण वर्तमान समय में हवाई यात्रा के खतरे जब बहुत बढ़ने लगे तो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने संयुक्त-राष्ट्र संघ और सुरक्षा परिषद् में इस विषय को उठाया। राष्ट्रपति निक्सन ने संसार के सब देशों से अपील की कि वे हवाई डकैती की चुनौती का सामना करने के लिए तत्काल प्रभावशाली कार्यवाही करें और अरब छापामारों द्वारा अपहरण किये जाने वाले विमानों की घटनाओं को रोकें। संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री ऊ-थान्ट ने विमानापहरण को बर्बर एवं अमानवीय कार्य कहकर इसकी भर्त्सना की। दिसम्बर १६६६ को संघ की महासभा ने अपने एक प्रस्ताव मे हवाई डकैती की घटनाओं पर गहरी चिन्ता प्रकट करते हुए सब राज्यों से यह अनुरोध किया कि वे अपने यहाँ ऐसे राष्ट्रीय कानून बनाएं जिनसे हवाई डकैती को प्रभावशाली ढंग से रोकने के लिए कानूनी कार्यवाही की जा सके। हवाई डकैतों पर मुकदमा चलाकर उन्हें दण्डित किया जा सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक हवाई संगठन (International Civil Aviation and Organization) एक ऐसा समय या समझौता तैयार करे तथा उसे क्रियान्वित करे जिसके अनुसार नागरिक विमानों के इस प्रकार अवैध अपहरण और नियंत्रण को एक दण्डनीय अपराध बना दिया जाय। १२ दिसम्बर १६७१ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह प्रस्ताव ६६ मतों से पास किया। इसी बीच जापान की राजधानी टोकियो में १४ दिसम्बर १६७१ को हस्ताक्षरित हवाई यातायात विषयक एक समझौता (Tokyo Convention on Air Transport) लागू हो गया। इसके अनुसार उड़ते हुए नागरिक विमानों के अवैध अधिकार को रोका गया है और इस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों को यह कर्त्तव्य सौंपा गया है कि इस प्रकार अपहरण किये गये विमानों को उनके वैध स्वामी तक पहुँचा दें और विमानों की रोकी गयी उड़ान को पूर्व निर्धारित दिशा में ले जाने की सब सुविधायें प्रदान करें। भारत ने इसी समझौते पर बल देते हुए पाकिस्तान से यह अनुरोध किया था कि वह लाहौर ले जाये गये विमान को वापिस करे, किन्तु पाकिस्तान ने भारत का यह अनुरोध स्वीकार नहीं किया था। टोकियो समझौते में यह बड़ी कमी है

कि इसके अनुसार विमानापहरण को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपराध नहीं घोषित किया गया था, न ही इसे रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाही की गयी थी, अधिक बल इस बात पर दिया गया था कि विमान की सम्पत्ति असली स्वामी को लौटा दी जाय तथा इसकी उड़ान पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार पुनः शुरू कर दी जाय। फिर भी इस समझौते की धारा १३ तथा १६ में इस बात की व्यवस्था की गयी है कि इस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देश ऐसा अपराध करने वाले व्यक्तियों को हिरासत में लेकर उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करें अन्यथा उनके प्रत्यर्पण की व्यवस्था करें; किन्तु ऐसी कार्यवाही करना राज्यों के लिए आवश्यक (Mandatory) न हो कर उनकी इच्छा पर निर्भर है। इसीलिए पाकिस्तान ने उपर्युक्त अपहरण में भारतीय विमान का अपहरण करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध न तो स्वयं कोई कार्यवाही की, न ही उनको भारत को सौंपा।

इस प्रकार की हवाई डकैती की घटनाओं को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने २५ नवम्बर १६६६ को एक प्रस्ताव पास किया है। इसमें हवाई डकैती के सब प्रकार के कार्यों की निन्दा करते हुए सदस्यों से यह अनुरोध किया गया है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र में ऐसी घटनाओं के रोकने और दबाने के लिए आवश्यक कार्यवाही करें, जो व्यक्ति ऐसा जघन्य अपराध करते है उन पर मुकदमा चलाने तथा उन्हें दण्डित करने की आवश्यक कार्यवाही करें।

यह स्पष्ट है कि हवाई डकैती करने वालों के विरुद्ध वैसी ही कार्यवाही की जानी चाहिए जैसी राज्य अपने प्रदेश में डकैती करने वालों के साथ करता है। हवाई डाकुओं के साथ कोई राष्ट्रीय सहानुभूति नहीं प्रकट करनी चाहिए और इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जघन्य अपराध समझते हुए इसको रोकने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए और अपराधियों को दण्डित करने की प्रभावशाली कार्यवाही करनी चाहिए। भारतीय विमान का अपहरण करने वालों के प्रति पाकिस्तान ने जो शिथिलता दिखाई है उससे हवाई डकैतों को प्रोत्साहन मिलता है।

१६७० का हवाई डकैती निरोध हेग अभिसमय १६ दिसम्बर १६७० को अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक हवाई संगठन (I. C. A. O.) की अध्यक्षता में विश्व के विभिन्न देशों ने हवाई डकैती को रोकने तथा इस समस्या का समाधान करने का नवीनतम प्रयत्न किया है। इसमें टोकियो अभिसमय की कमी को दूर करते हुए विमानापहरण को एक दण्डनीय अपराध बना दिया गया है और इसको रोकने के लिए इस पर हस्ताक्षर कराने वाले राज्यों से कठोर दण्डों की व्यवस्था करने के लिए कहा गया है। किन्तु इसमें हवाई डकैतों पर मुकदमा चलाने के लिए प्रभावशाली व्यवस्था नहीं की गई है। इसमें यह बात भी स्पष्ट रूप से उद्घोषित नहीं की गई है कि हवाई डकैती अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध है। इसे केवल Offence कहा गया है। वस्तुतः हवाई डकैती की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से समुद्री डकैती (Piracy) तथा जातिवध (Genocide) जैसा जघन्य अपराध माना जाए। विमान अपहर्ता समुद्री डाकू तथा युद्ध अपराधी की भांति समूची मानव जाति का शत्रु (Hostis human's generis) और कानून के संरक्षण से वंचित आततायी (outlaw) समझा

जावे और उस पर किसी भी देश में मुकदमा चलाया जा सके। ऐसा होने पर हवाई डाकू को अपने देश से प्राप्त होने वाला संरक्षण समाप्त हो जायगा और इस प्रकार के संरक्षण का प्रोत्साहन न पाने के कारण हवाई डकैती की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से कम होने लगेगी। भारतीय विमान के अपहरण की उपर्युक्त घटना कभी नही हो सकती थी, यदि अपराधियों को पाकिस्तान का संरक्षण पाने की आशा न होती। संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री यू थान्ट ने १५ सितम्बर १९७० को संयुक्त राष्ट्र संघ की रजतजयन्ती के अवसर पर एक भोज में बोलते हुए यह सुझाव दिया था कि हवाई डकैतों की राष्ट्रीयता की कोई परवाह न करते हुए उन पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमा चलाया जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का कार्य विभिन्न देशों की अन्तर्राष्ट्रीय सेवा करने वाले विमानों के विरुद्ध किया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि इस सुझाव पर अमल किया जा सके तो हवाई डकैतों पर निष्पक्ष रूप से अभियोग चलाया जा सकेगा और उन्हें दण्डित किया जा सकेगा।

तेरहवाँ अध्याय

राष्ट्रीयता

(Nationality)

राष्ट्रीयता का स्वरूप तथा लक्षण (Nature and definition of Nationality)—राष्ट्रीयता व्यक्ति और राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली महत्वपूर्ण कड़ी है, क्योंकि राष्ट्रीयता के माध्यम से ही सामान्य रूप से व्यक्ति राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लाभों का उपभोग करते हैं। राष्ट्रीयता और नागरिकता से हीन व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संरक्षण का कोई उपयोग नहीं उठा सकते। यदि उन्हें किसी राज्य से कोई हानि उठानी पड़ती है तो कोई भी राज्य उनका मामला उठाकर उन्हें न्याय दिलाने की क्षमता नहीं रखता है। किन्तु राष्ट्रीयता रखने वाले व्यक्ति के साथ विदेश में ऐसा होने पर उसका राष्ट्र उसे उचित न्याय दिलाने का प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राष्ट्रीयताहीन व्यक्ति की स्थिति अनाथ जैसी है, अतएव राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में असाधारण गरिमा प्राप्त है।

ओपेनहाइम ने राष्ट्रीयता का सबसे सुन्दर और सरल लक्षण करते हुए लिखा है—"एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता उसका किसी राज्य की प्रजा होना और इसलिए इसका नागरिक होना है।"[१] हाइड के मतानुसार "राष्ट्रीयता राज्य और व्यक्ति का एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके कारण राज्य उस व्यक्ति को अपने प्रति निष्ठा (Allegiance) रखने वाला समझता है।" फेनाविक के शब्दों में राष्ट्रीयता "ऐसा बन्धन है जो एक व्यक्ति को एक राज्य के साथ संयुक्त करता है, उसे एक विशेष राज्य का सदस्य बनाता है, इस कारण उसे उस राज्य से संरक्षण पाने का अधिकार मिलता है तथा उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह उस राज्य के बनाये गये कानूनों का पालन करे।" सं० रा० अमरीका मेक्सिको सामान्य दावा आयोग (U. S. Mexico General Claims Commission) ने Re Lynch Claim के मामले में इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा था—"एक मनुष्य की राष्ट्रीयता का मौलिक आधार उसका एक स्वतन्त्र राजनीतिक समुदाय का सदस्य होना है। इस कानूनी सम्बन्ध से नागरिक और राज्य दोनों के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं।"

राष्ट्रीयता का आशय केवल किसी देश की प्रजा होना नहीं, किन्तु इसके साथ कुछ अधिकारों और कर्त्तव्यों का भी उपभोग करना है। हिटलर के समय में १९३५ के जर्मन कानून में प्रजा (Subject) और नागरिक (Citizen) में अन्तर किया गया था। जर्मन प्रजा तभी जर्मन नागरिक बन सकती थी, जबकि उसमें ट्यूटानिक रक्त हो और

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खंड १, अष्टम संस्करण, पृ० ६४२–३

वह जर्मन राष्ट्र की सेवा के लिए उद्यत हो। यहूदियों में यह रक्त नहीं था, अतः उन्हें जर्मन नागरिकता और राष्ट्रीयता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। रूमानिया में यहूदियों को नागरिक मानते हुए भी अनेक अधिकारों से वंचित किया गया था। राष्ट्रीयता को नस्ल का पर्याय समझना भी भ्रान्ति है, भारत के राष्ट्रजनों (Nationals) के लिए यहाँ की किसी नस्ल का होना आवश्यक नहीं है, कोई अंग्रेज या किसी अन्य जाति का व्यक्ति यहाँ आकर नागरिकता के लिए निर्धारित शर्तें पूरी करने के बाद भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण विश्वविख्यात वैज्ञानिक श्री जे० बी० हाल्डेन द्वारा भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त करना है।

राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व (International Importance of Nationality)—स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता के निम्नलिखित परिणाम बताये हैं[२]—

(क) इससे विदेशों में व्यक्ति को राजनयिक साधनों द्वारा रक्षा पाने (Diplomatic protection) का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(ख) यदि कोई राज्य किसी व्यक्ति के गलत कार्यों से हानि उठाता है, तो उस व्यक्ति का राष्ट्र इस राज्य के प्रति इस हानि के लिए उत्तरदायी होता है।

(ग) राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे देशों से अपने नागरिकों के वापिस किये जाने पर उन्हें ग्रहण करे।

(घ) राष्ट्रीयता के कारण नागरिकों को अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा और राजभक्ति रखनी पड़ती है और इस कारण उन्हें अपने राष्ट्र में सैनिक सेवा करनी पड़ती है।

(ङ) एक राज्य को यह सामान्य अधिकार प्राप्त है कि वह दूसरे राज्यों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी अपने नागरिकों का प्रत्यर्पण (Extradition) न करे।

(च) युद्ध के समय किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता द्वारा ही उसकी शत्रुता या मित्रता का निश्चय होता है।

(छ) राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर अपने क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) का प्रयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक क्षेत्राधिकार (Personal Jurisdiction) के मामले में कोई राज्य विदेशों में अपराध कर आने पर भी अपने नागरिक को उस देश को सौंपने से इन्कार कर सकता है। इसी प्रकार कोई देश किसी अन्य देश के नागरिक द्वारा विदेश में इस राज्य के किसी नागरिक के विरुद्ध किये अपराध के सम्बन्ध में उसके अपने देश में आने पर उस पर मुकद्दमा चला सकता है। इस विषय में **कटिंग** के सुप्रसिद्ध उदाहरण का पहले उल्लेख किया जा चुका है। (देखिये ऊपर, पृ० २७५)।

राष्ट्रीयता की प्राप्ति के प्रकार (Modes of Acquisition of Nationality)—**किसी देश की राष्ट्रीयता पाने के पाँच मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—**

(क) जन्म (Birth)—**यह राष्ट्रीयता की प्राप्ति का सबसे स्वाभाविक और महत्वपूर्ण प्रकार है। सब देशों में अधिकांश व्यक्ति इसी प्रकार नागरिक बनते हैं,**

२. **स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० २५१–२**

किन्तु सर्वत्र इसके नियम एक जैसे नहीं हैं, इनमें बड़ी विभिन्नता है।

(अ) जर्मनी जैसे कुछ देशों में यह केवल **रक्त नियम** *(Jus sanguinis)* के आधार पर होती है। इसके अनुसार सन्तान उसी राष्ट्र का नागरिक समझी जाती है, जिसका नागरिक उसके माता-पिता होते हैं। इसमें माता-पिता के रक्त की राष्ट्रीयता के आधार पर सन्तान की राष्ट्रीयता निर्धारित होती है। इसे **पितृमूलक या वंशमूलक राष्ट्रीयता** कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, भारत या ग्रेट ब्रिटेन में उत्पन्न होने पर भी जर्मन माँ-बाप की सन्तान जर्मन होगी, न कि भारतीय या ब्रिटिश।

(आ) **भूमि का नियम** *(Jus soil)*—इसके अनुसार राष्ट्रीयता माता-पिता के रक्त सम्बन्ध पर नहीं, किन्तु केवल मात्र उस भूमि या प्रदेश पर निर्भर होती है, जहाँ कोई बच्चा जन्म लेता है। अर्जण्टायना में ऐसा ही नियम है। अतः उस देश की भूमि में जन्म लेने वाला शिशु भारतीय या ब्रिटिश माँ-बाप की सन्तान होने पर भी अर्जण्टायना का नागरिक माना जायगा। यह **जन्ममूलक नागरिकता** है।

(इ) सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में नागरिकता के उपर्युक्त दोनों नियम समान रूप से स्वीकार किये जाते हैं। वे अपने देश में उत्पन्न सभी व्यक्तियों की सन्तान को अपने देश की नागरिकता प्रदान करते हैं, भले ही उनके माता-पिता अन्य देशों के नागरिक हों। इसके साथ ही, वे अपने नागरिकों की अन्य देशों में उत्पन्न हुई सन्तान को भी अपनी राष्ट्रीयता प्रदान करते हैं। १६४८ में ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून (British Nationalities Act) तथा १६५२ के United States Nationality Act में इसी व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। प्रायः वायुयान और जलयान में जन्म लेने वाले बच्चे जहाज पर झण्डा फहराने वाले देश के नागरिक माने जाते हैं। किन्तु सं० रा० अमरीका के कानून के अनुसार उसके जहाज में जन्म लेने वाले बच्चे यदि विदेशी माता-पिता की सन्तान हैं तो उन्हें अमरीकी राष्ट्रीयता नहीं प्राप्त होती है।

१६५५ के **भारतीय नागरिकता कानून** (Indian Citizenship Act) में उपर्युक्त दोनों नियम माने गये हैं। **भूमि नियम** के अनुसार इसके सैक्शन ३ में यह व्यवस्था की गयी है कि २६ जनवरी १६५० के बाद भारतभूमि में जन्म लेने वाला ऐसा प्रत्येक व्यक्ति भारतीय नागरिक है, जिसके माता-पिता विदेशी राजदूतों की उन्मुक्तियाँ (Immunities) न रखते हों। ऐसे व्यक्तियों की सन्तान भारत में पैदा होने पर भी भारत का नागरिक नहीं बनेगी। सैक्शन ४ में **पितृमूलक** सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा गया है कि २६ जनवरी १६५० के बाद विदेशों में उत्पन्न हुए ऐसे सभी बच्चे भारतीय नागरिक समझे जायेंगे, जिनके पिता सन्तान के जन्म के समय भारतीय नागरिक हों।

(ख) राष्ट्रीयता प्राप्त करने का दूसरा प्रकार—देशीयकरण (Naturalisation) है। जब कोई विदेशी व्यक्ति विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा किसी देश की नागरिकता प्राप्त करता है तो इसे देशीयकरण कहा जाता है। ये प्रक्रियायें विवाह में पत्नी द्वारा पति की राष्ट्रीयता पाना, अवैध सन्तान का वैधता से पिता की नागरिकता पाना (Legitimation), दो नागरिकताओं में विकल्प द्वारा एक का चुनाव करना, किसी देश में अधिवास ग्रहण करने से इसे पाना (Acquisition by domicile), सरकारी

अधिकारी के रूप में नियुक्ति तथा आवेदनपत्र द्वारा पाना है। प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि-शास्त्री केलसन ने लिखा है—"देशीयकरण में राज्य अपनी प्रशासनात्मक कार्यवाही द्वारा किसी विदेशी व्यक्ति को अपनी नागरिकता प्रदान करता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सामान्य नियम विदेशी को उसकी सहमति के बिना अपनी नागरिकता प्राप्त करने का निषेध करता है। अतः देशीयकरण केवल उसी दशा में सम्भव है, जब विदेशी नागरिकता पाने के लिए प्रार्थनापत्र देता है।" यह विशुद्ध रूप से सरकार की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी विदेशी का प्रार्थनापत्र बिना कोई कारण बताये अस्वीकार कर दे।

देशीयकरण से प्राप्त होने वाली नागरिकता पर कई पाबन्दियाँ लगाई जा सकती हैं और इसमें प्राप्त होने वाले अधिकार स्वाभाविक नागरिकता के अधिकारों से कम होते है। उदाहरणार्थ, सं० रा० अमरीका मे कोई देशीयकृत (Naturalised) नागरिक राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हो सकता। १६४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार देशीयकरण के लिए कुछ शर्तों का पूरा करना आवश्यक है, इसका आवेदनपत्र देने की तिथि से पहले १२ मास तक उस व्यक्ति का निरन्तर ग्रेट ब्रिटेन में आवास अथवा राजकीय सेवा करना आवश्यक है, इससे पहले ७ वर्षों में कम से कम चार वर्ष के लिए उसका ग्रेट ब्रिटेन या इसके उपनिवेशों, संरक्षित अथवा न्यास प्रदेशों में रहना, उत्तम चरित्र तथा अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना और भविष्य में इंगलैण्ड में ही रहने का इरादा होना जरूरी है। देशीयकरण का प्रमाण-पत्र गृहमंत्री द्वारा निम्नलिखित कारणों के आधार पर रद्द किया जा सकता है—प्रमाण-पत्र की प्राप्ति के लिए धोखे का प्रयोग, महारानी के प्रति राजभक्ति का अभाव, युद्ध में शत्रुओं के साथ सम्पर्क, ७ वर्ष तक निरन्तर विदेशों में निवास। भारत में **१९५५ के राष्ट्रीयता कानून** के अनुसार देशीयकरण का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने वाले व्यक्ति में निम्न विशेषतायें होनी चाहियें—वह ऐसे देश का नागरिक न हो, जहाँ भारतीयों को नागरिकता प्राप्त करने में कानूनी बाधा है, दूसरे देश की नागरिकता का परित्याग कर देना, प्रार्थना पत्र देने से पहले १२ महीने तक भारत में निवास या भारत सरकार की नौकरी, उत्तम चरित्र, भारतीय भाषा का पर्याप्त ज्ञान, भविष्य में भारत में रहने या नौकरी करने का इरादा। केन्द्रीय सरकार विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्वशान्ति अथवा मानवीय उन्नति के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य या सेवायें करने वाले व्यक्ति को उपर्युक्त विशेषतायें न होने पर भी भारतीय नागरिक बना सकती है, ऐसे व्यक्ति को भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। १९५६ में स्वेज़ नहर पर ब्रिटिश आक्रमण के बाद ब्रिटिश नागरिकता का परित्याग कर भारत आने वाले सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक हाल्डेन को इसी प्रकार भारत का नागरिक बनाया गया था।

(ग) पुनःप्राप्ति (Resumption)—यह तब होता है जब कोई व्यक्ति देशीयकरण तथा विदेशों में निवास से अपनी स्वाभाविक राष्ट्रीयता को एक बार खोने के बाद उसे पुनः प्राप्त करता है।

(घ) वशीकरण (Subjugation)—विजय के बाद किसी प्रदेश के शत्रु द्वारा

अपने राज्य में मिलाये जाने पर उस प्रदेश के नागरिक विजेता देश की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं, जैसे आल्सेस-लारेन के फ्रेंच प्रदेश के १८७० में जर्मन साम्राज्य का अंग बनने पर उसके निवासियों ने फ्रेंच नागरिकता के स्थान पर जर्मन राष्ट्रीयता प्राप्त की।

(ङ) प्रदेश के हस्तान्तर (Cession—देखिये ऊपर अध्याय १०) के समय हस्तान्तरित किये जाने वाले प्रदेश के नागरिक उस देश की राष्ट्रीयता प्राप्त करते हैं, जिसे यह प्रदेश हस्तान्तरित किया जाता है।

राष्ट्रीयता की हानि के पाँच प्रकार (Loss of Nationality, Five Modes) आपेनहाइम के मतानुसार कोई नागरिक निम्नलिखित ढंगों से अपने देश की राष्ट्रीयता से वंचित भी हो सकता है—

(क) मुक्ति (Release or Renunciation)—जर्मनी जैसे कुछ राज्य अपने नागरिकों को यह अधिकार प्रदान करते हैं कि वे अपने राज्य की नागरिकता के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना कर सकते हैं। यह नागरिकों द्वारा अपनी राष्ट्रीयता का स्वेच्छा-पूर्वक किया गया परित्याग है।

(ख) वंचन (Deprivation)—कुछ राज्य अपने राष्ट्रीयता कानूनों में स्पष्ट रूप से उन अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं, जिनमें किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता छीनी जाती है। उदाहरणार्थ, १९५५ के भारतीय नागरिकता कानून के दसवें सेक्शन में इनका विस्तृत विवरण है। इनमें मुख्य दशायें इस प्रकार हैं—देशीयकरण का प्रमाणपत्र धोखे से प्राप्त करना, किसी नागरिक द्वारा भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा के प्रतिकूल किया गया कोई अपना कार्य छिपाना, किसी देश के साथ भारत का युद्ध होने की दशा में शत्रु को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से उसके साथ व्यापार करना, देशीयकरण प्राप्त करने के पाँच वर्ष के अन्दर किसी न्यायालय द्वारा कम से कम २ वर्ष के लिए दण्डित होना, सात वर्ष तक निरन्तर देश से बाहर रहना—विद्याध्ययन या भारत सरकार की या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नौकरी के कारण विदेश में रहने वाले पर यह शर्त लागू नहीं होती। केन्द्रीय सरकार किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वंचित करने से पूर्व उसे इसके कारणों की सूचना देती है, इस विषय में विशेष मामलों का विचार सरकार द्वारा नियुक्त जाँच समिति भी कर सकती है। ग्रेट ब्रिटेन के कानून के अनुसार वहाँ की नागरिकता से वंचित किये जाने के कारणों का पहले उल्लेख हो चुका है।

सं० रा० अमरीका के १९५२ के कानून के अनुसार दूसरे देश की सशस्त्र सेनाओं में सेवा करने वाला, विदेश के चुनाव में वोट देने तथा भाग लेने वाला व्यक्ति अपनी नागरिकता खो बैठता है। इसी प्रकार युद्ध में सं० रा० अमरीका की सेना की नौकरी छोड़ने वाला, देशद्रोह करने वाला तथा युद्ध के समय सैनिक सेवा से बचने के इरादे से सं० रा० अमरीका के क्षेत्राधिकार से बाहर रहने वाला व्यक्ति भी राष्ट्रीयता से वंचित कर दिया जाता है।

(ग) दीर्घकालीन विदेश निवास (Long residence abroad)—**अनेक देशों के राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार कुछ निश्चित अवधि तक निरन्तर विदेश में रहने के**

कारण व्यक्ति की नागरिकता समाप्त हो जाती है। सं० रा० अमरीका में यह अवधि सामान्य रूप से पाँच वर्ष है, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में सात वर्ष है। सरकारी सेवा या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नौकरी में बाहर रहने की दशा में यह नियम लागू नहीं होता है।

(घ) कुछ देशों में बालिग होने पर सन्तान को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अपनी राष्ट्रीयता का चुनाव कर सके। जिन देशों में माता-पिता के विदेशी होने पर भी **जन्ममूलक या भूमि नियम** (Jus soli) की नागरिकता का नियम प्रचलित है, वहाँ यह उचित समझा जाता है कि बच्चे को बड़ा होने पर अपनी जन्मभूमि या पिता के देश में से किसी एक की नागरिकता चयन करने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। भारतीय पिता-माता की सं० रा० अमरीका में पैदा होने वाली संतान को बालिग होने की अवस्था में यह निर्णय करना होगा कि वह सं० रा० अमरीका की या भारत की नागरिकता में से किसे ग्रहण करे और किसका परित्याग करे। १९४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार इस प्रकार की संतान को किसी एक राष्ट्रीयता के परित्याग की विधिवत् घोषणा करनी पड़ती है।

(ङ) **प्रत्यास्थापन** (Substitution)—कुछ राज्यों के कानून के अनुसार दूसरे देश में देशीयकरण (Naturalisation) द्वारा नागरिकता प्राप्त करने पर यह पहले देश की नागरिकता के स्थान पर स्थापित हो जाती है, यह प्रत्यास्थापन है। इससे पहले देश की राष्ट्रीयता समाप्त हो जाती है। १९४८ के ब्रिटिश राष्ट्रीयता कानून के अनुसार दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण करने से ब्रिटिश राष्ट्रीयता स्वयमेव समाप्त नहीं हो जाती, किन्तु सं० रा० अमरीका के कानून में इस अवस्था में पहली नागरिकता के स्वयमेव समाप्त होने की व्यवस्था है।

किसी प्रदेश या राज्य के अन्य राज्य में विलय या हस्तान्तर के बाद पहले देश की नागरिकता स्वयमेव समाप्त हो जाती है, जैसे आल्सेस-लोरेन के पूर्वोक्त उदाहरण (पृ० ३००) में फ्रेंच नागरिकता की समाप्ति।

दोहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality)—विभिन्न देशों के राष्ट्रीयता कानूनों की तथा नागरिकता प्राप्ति की विविध व्यवस्थाओं के कारण कई बार एक व्यक्ति एक राज्य का नागरिक रहते हुए भी दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसे दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, यह ज्ञानवश और अज्ञानवश, जानबूझ कर या बगैर किसी इरादे के दोनों प्रकार से प्राप्त होती है। ग्रेट ब्रिटेन में जर्मन माँ-बाप की सन्तान वहाँ के कानून के अनुसार जन्ममूलक तथा जर्मनी में जर्मन कानून के अनुसार पितृमूलक दोहरी राष्ट्रीयता पा लेती है। अवैध सन्तान की वैधता (Legitimation) की अवस्था में भी ऐसा होता है। इंगलैण्ड में एक जर्मन पिता तथा इंगलिश माता की अवैध सन्तान ब्रिटिश है, किन्तु यदि सन्तान के बाद दोनों के विवाह द्वारा बच्चा वैध हो जाता है तो इसे जर्मन कानून के अनुसार जर्मन नागरिकता भी मिल जायगी। देशीयकरण (Naturalisation) से भी पहली नागरिकता समाप्त न होने पर दोहरी नागरिकता उत्पन्न होती है। इस प्रकार की दोहरी नागरिकता वाले व्यक्तियों को कूटनीतिक भाषा में Subjects mixtes या **मिश्रित प्रजाजन** कहा जाता है।

दोहरी राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियों को युद्ध के समय बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती है। दोनों देश उसे अपना नागरिक समझते हुए उससे उनके प्रति निष्ठा रखने की आशा रखते हैं, ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी का युद्ध छिड़ने की दशा में दोनों की नागरिकता रखने वाले व्यक्ति को दोनों देश सैनिक सेवा के लिए वाध्य कर सकते हैं, ब्रिटिश सरकार उसे जर्मन नागरिक समझते हुए बन्दी बना सकती है। १९१९–२० की शान्ति सन्धियों ने दोहरी राष्ट्रीयता की समस्याओं को बड़ा जटिल बना दिया था। १९३० में हेग के संहिताकरण सम्मेलन (Codification Conference) ने दोहरी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में यह तय किया था कि दोनों राज्य इसे अपना प्रजाजन समझ सकते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति को एक राज्य की नागरिकता उस राज्य की अनुमति से छोड़ देनी चाहिए। तीसरा राज्य इन दोनों में से उसकी प्रभावशाली राष्ट्रीयता (Effective Nationality) को ही स्वीकार करेगा। प्रभावशाली राष्ट्रीयता का अर्थ उस राज्य की नागरिकता है, जिसमें वह स्वाभाविक और मुख्य रूप से रहता है जिसके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दोहरी राष्ट्रीयता का स्पष्टीकरण **केनेवारो मामले** (Canevaro Case) से हो जायगा। केनेवारो के पास इटली और पेरु दोनों देशों की दोहरी राष्ट्रीयता थी। वह पेरु राज्य की भूमि में जन्मग्रहण करने के कारण पेरु का राष्ट्रजन (Peruvian) था और इटालियन पिता की सन्तान होने के कारण इटली के कानून के अनुसार इटली का नागरिक था। पंचनिर्णय (Arbitration) के स्थायी न्यायालय ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा कि उसे पेरु का राष्ट्रजन समझना चाहिए क्योंकि उसने कई अवसरों पर पेरु के नागरिक जैसा व्यवहार किया है। वह कई बार पेरु की सीनेट की सदस्यता के लिए उम्मीदवार खड़ा हुआ, इसके लिए पेरु के नागरिकों के अतिरिक्त कोई खड़ा नही हो सकता। उसने हालैण्ड के महावाणिज्य-दूत (Consul-General) का पद पेरु की सरकार और कांग्रेस से स्वीकृति पाने के बाद ग्रहण किया। "इन अवस्थाओं में पेरु की सरकार का उसे अपना नागरिक समझने तथा इटालियन नागरिक न मानने का पूरा अधिकार है।"

भारत में दोहरी राष्ट्रीयता सम्भव नहीं है। एक भारतीय नागरिक किसी दूसरे देश का नागरिक नहीं हो सकता है। सुप्रीम कोर्ट ने १९६३ में State Trading Corporation of India Ltd. *v.* Commercial Tax Officer (A.I.R., 1963, Sc. 1811) में तथा Mohammad Raza Debstani *v.* State of Bombay (A.I.R., 1966, Sc. 1436) में इस विषय में बड़ा स्पष्ट निर्णय दिया है। पिछले मामले में अपील करने वाला मुहम्मद रजा देबस्तानी एक ईरानी नागरिक था, वह १९३८ में नाबालिग दशा में भारत चला आया था और यहाँ रहने लग गया था, १९४५ में वह ईरानी पासपोर्ट के आधार पर इराक गया, १९४६ में यहाँ वापिस लौटने पर १९३९ के Registration of Foreigners Rules के अनुसार ईरान के नागरिक के रूप में उसकी रजिस्ट्री हुई। इसके बाद वह भारत में निवास की अनुमति (Residential Permit) लेकर यहाँ रहता रहा। १९५७ में इस अनुमति की अवधि समाप्त होने पर उसे भारत छोड़ने का आदेश दिया गया। इस पर उसने बम्बई के सिविल कोर्ट में यह आवेदनपत्र दिया कि वह भारतीय नागरिक होने से विदेशी नहीं है, अतः बम्बई सरकार को उसे इस आधार

पर उसे यहाँ से निकालने की कार्यवाही करने से रोका जाय कि वह विदेशी है। सिविल कोर्ट तथा बम्बई हाईकोर्ट ने उसकी यह प्रार्थना रद्द कर दी। इसके विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील करते हुए उसने यह कहा कि वह भारतीय संविधान की धारा ५ के अनुसार भारत का नागरिक है क्योंकि संविधान लागू होने से पहले पांच वर्ष से वह भारत में निवास (Domicile) कर रहा था। किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने इस युक्ति को स्वीकार न करते हुए कहा कि प्रार्थी जब १९३९ में भारत आया था, उस समय वह नाबालिग था, उस समय अपने पिता के कारण उसका निवास स्थान ईरान था। उसका यह दावा है कि २१ नवम्बर १९४९ से पहले वह ईरानी निवास स्थान को छोड़कर भारतीय निवास स्थान ग्रहण कर चुका था। निवास स्थान के इस परिवर्तन को सिद्ध करने का उत्तरदायित्व (Onus of proof) उस पर है। ऐसा परिवर्तन तभी सिद्ध हो सकता है, जब उसने भारत को अपना घर बनाने का अथवा यहाँ स्थायी रूप से रहने का निश्चय कर लिया हो। उसने यह सिद्ध किया है कि १९३८ से एक वर्ष के अपवाद को छोड़कर वह भारत में निवास करता रहा है। किन्तु उसके इस निवास के प्रमाण के अतिरिक्त उसे इस बात का भी प्रमाण देना चाहिए था कि उसने भारत में ही रहने का इरादा किया था। इस विषय में कोई साक्षी न होने से वह ईरान का ही नागरिक है, भारत का नागरिक नहीं है। अपीलकर्ता ने निवास के लिए अनुमति माँगने वाले अपने पत्रों में अपने को ईरानी नागरिक कहा है, अतः वह भारतीय नागरिक नहीं हो सकता है।

राज्यहीनता (Statelessness)—इसका अर्थ किसी राज्य का नागरिक न होने की दशा है। यह विभिन्न देशों के राष्ट्रीयता कानूनों के परस्पर संघर्ष का परिणाम है। आपेनहाइम ने अनेक अवस्थाओं में इस दशा की उत्पत्ति बतायी है।[3] **पहली** अवस्था में जन्म से मनुष्य को कोई नागरिकता प्राप्त नहीं होती, जैसे जर्मनी में ब्रिटिश माता की अवैध सन्तान, क्योंकि ब्रिटिश तथा जर्मन कानून ऐसी सन्तान को कोई राष्ट्रीयता नहीं प्रदान करते। इस प्रकार नागरिकताहीन व्यक्तियों की अगली सब सन्तानें राष्ट्रीयता से वंचित होंगी। **दूसरी** अवस्था में ऊपर बताये गये कारणों से एक नागरिकता खोने के बाद दूसरी नागरिकता को न पाना है। क्रान्तियों में नई सरकारों के बनने पर प्रायः ऐसा होता है। रूसी क्रान्ति के बाद रूस से दूसरे देशों में गये हुए रूसी स्वदेश वापिस लौटने के अनिच्छुक थे, इनकी रूसी नागरिकता नई सरकार द्वारा समाप्त कर दिये जाने पर ये राज्यहीन हो गये। भारत में इस समय कई हजार राज्यहीन चीनी हैं, ये च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार की राष्ट्रीयता रखते थे, उसके पारपत्रों पर यहाँ आये थे, अब इसका स्थान साम्यवादी सरकार ने ले लिया है, इस सरकार से नई नागरिकता प्राप्त न करने के कारण भारत के ऐसे सभी चीनी राज्यहीन हो गये है। श्रीलंका में इस समय भारत से गये दस लाख ऐसे व्यक्ति हैं, जो भारत की नागरिकता खो चुके हैं और लंका की सरकार ने उन्हें नागरिकता प्रदान नहीं की।

राज्यहीन व्यक्ति की दशा अनाथ जैसी दयनीय होती है। कोई राज्य कहीं भी

३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड १, अष्टम संस्करण, पृ० ६६८

उसके अधिकारों की रक्षा नहीं करता । यह वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जटिल और ज्वलन्त समस्या है । इसकी उग्रता और तीव्रता के कारण दिसम्बर १९४८ के **मानवीय अधिकारों के सार्वभौम घोषणापत्र** के १५वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार है ।" इस समस्या को हल करने के लिए १९३० के हेग संहिताकरण सम्मेलन ने यह व्यवस्था की थी कि जिन बच्चों के माता-पिता अज्ञात हों या जिनकी राष्ट्रीयता अज्ञात हो या न हो तो ऐसे बच्चों को उनके जन्म वाले देश की राष्ट्रीयता प्रदान करनी चाहिए ।

आपेनहाइम ने राज्यहीनता की दशा दूर करने के लिए दो सुझाव दिये हैं—(क) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि के देश की राष्ट्रीयता पाने का अधिकार हो, बशर्ते कि बालिग होने पर वह घोषणा द्वारा अपने माता-पिता की राष्ट्रीयता न ग्रहण करे । (ख) किसी व्यक्ति को दण्डस्वरूप राष्ट्रीयता से वंचित नहीं करना चाहिए और विवाह द्वारा किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता की समाप्ति तब तक नहीं होनी चाहिए, जब तक कि वे नई राष्ट्रीयता न ग्रहण कर लें ।

स्टार्क ने इस परिस्थिति में सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं[४]—(क) राज्य किसी व्यक्ति का विराष्ट्रीयकरण (Denationalisation) तब तक न करें जब तक कि इसके लिए न्यायोचित कारण न हों । (ख) उदार प्रकृति वाले राज्यों को राज्यहीन पुरुषों को अपनी नागरिकता प्रदान करनी चाहिए । (ग) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा इस अरक्षित स्थिति के दुष्परिणामों को दूर किया जाना चाहिए । इस प्रकार का एक समझौता शरणार्थियों के सम्बन्ध में २५ जुलाई १९५१ को सम्पन्न हुआ है । २८ सितम्बर १९५४ को न्यूयार्क में सम्पन्न "राज्यहीन व्यक्तियों की स्थिति सम्बन्धी अभिसमय" (Convention Relating to the Status of Stateless Persons) ने राज्यहीन व्यक्तियों को अनेक लाभ और सुविधायें प्रदान की हैं । अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९५३ में इस स्थिति का अध्ययन करके इसे दूर करने के सम्बन्ध में दो अभिसमयों के प्रारूप (Draft Conventions) स्वीकार किये हैं ।

भारत में राष्ट्रीयताविषयक कानूनों का विकास—हमारे देश में १९४७ में विभाजन के बाद राष्ट्रीयता के अनेक जटिल मामले भारतीय न्यायालयों के सम्मुख आये हैं तथा इस विषय में कुछ नियम तथा कानून बने हैं । १९४७ से पहले भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था, अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रसिद्ध नियम के अनुसार सभी भारतीय ब्रिटिश प्रजाजन (British Nationals) समझे जाते थे क्योंकि जीते गये प्रदेश के सब निवासी विजय के बाद स्वतः विजेता देश की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेते हैं ।[५] १९१४ के The British Nationality and Status of Aliens Act ने उपर्युक्त व्यवस्था को कानूनी रूप प्रदान किया । इस कानून में देशीयकरण (Naturalisation) द्वारा राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक शर्त इंगलिश भाषा का अथवा (कनाडा आदि

४. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण पृ० २५५

५. आपेनहाइम खण्ड १, पृ० ५७१, ६५७, ; हाल पृ० ६८६

में) इसके समान दर्जा रखने वाली (फ्रेंच आदि) किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक था। भारत में अंग्रेजी के समान दर्जा रखने वाली कोई स्थानीय लोकभाषा नहीं थी, अतः हमारे देश के लिए ब्रिटिश कानून में कुछ संशोधन आवश्यक था। १९२६ के Indian Naturalisalition Act द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जिन्हें अंग्रेजी का ज्ञान न हो, उन्हें उस प्रदेश में प्रचलित प्रमुख लोकभाषा का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि १९१४ के कानून के अनुसार भारत में ही भारतीय ब्रिटिश प्रजाजन थे, ग्रेट ब्रिटेन में तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में विदेशी (Alien) समझे जाते थे, केवल आवश्यकता पड़ने पर सौजन्यवश उन्हें ब्रिटिश राजदूतों और वाणिज्यदूतों द्वारा समुचित संरक्षण प्रदान किया जाता था।

१९४७ के **भारतीय स्वतन्त्रता कानून** में नागरिकता के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। अतः १५ अगस्त १९४७ से २६ नवम्बर १९४९ को भारतीय संविधान के लागू होने तक इस विषय में कानूनी शून्यता (Legal vacuum) की स्थिति बनी रही। भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भारतवासियों को 'स्वतन्त्र भारत के नागरिकों' का दर्जा अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु वे अभी तक ब्रिटिश प्रजाजन बने हुए थे। भारत की नागरिकता की शर्तें बिल्कुल अस्पष्ट थीं। इन्हें नवीन भारतीय संविधान में स्पष्ट करते हुए तीन प्रकार के व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना गया (भाग २, धारा ५)। **पहले** प्रकार में इस संविधान के लागू होने के समय भारत में निवास स्थान रखने या अधिवास (Domicile) रखने वाले ऐसे सभी व्यक्ति भारत के नागरिक माने गये, (क) जिनका जन्म भारत में हुआ था। (ख) जिसके माता-पिता में से कोई एक भारत की सीमाओं में उत्पन्न हुआ था। (ग) जो संविधान लागू होने से कम से कम पांच वर्ष पहले से भारत में सामान्य रूप से निवास कर रहा था। **दूसरे** प्रकार में पाकिस्तान से भारत आने वाले ऐसे सभी व्यक्तियों को भारतीय नागरिक माना गया, जो व्यक्ति अथवा उनके माता या पिता १९३५ के भारत सरकार कानून द्वारा निर्धारित भारतवर्ष की सीमाओं में रहते थे तथा १९ जुलाई १९४८ से पहले पाकिस्तान से भारत आये थे अथवा इसके बाद आवेदनपत्र देकर रजिस्ट्री द्वारा भारतीय नागरिक बने थे। **तीसरे** प्रकार के भारतीय नागरिक विदेशों में रहने वाले भारतीय थे। संविधान में भारतीय नागरिकता के सम्बन्ध में इससे अधिक कोई व्यवस्था नहीं की गई थी।

१९५५ में इस विषय में विस्तृत व्यवस्थाएँ करने वाला **भारतीय** नागरिकता **कानून** (The Indian Citizenship Act) बनाया गया। इसके अनुसार भारतीय नागरिकता की प्राप्ति पाँच प्रकार से हो सकती है—(क) जन्म से, (२) वंशपरम्परा से, (ग) रजिस्ट्री द्वारा, (घ) देशीयकरण से, (ङ) किसी नये प्रदेश के भारत में सम्मिलित होने से, (च) पुनःप्राप्ति (Resumption) से। इसका यह अभिप्राय है कि यदि किसी नाबालिग लड़के का पिता भारत की नागरिकता का परित्याग करता है तो इससे लड़का भी भारतीय नागरिकता खो देता है, किन्तु बालिग होने पर लड़का यदि अपने भारतीय नागरिक होने की घोषणामात्र करता है तो इससे उसे भारतीय नागरिकता पुनः प्राप्त हो जाती है। ऐसी घोषणा करते समय इस कानून के अनुसार उसके लिए यह आवश्यक

नहीं है कि वह भारत की नागरिकता ग्रहण करने से पहले दूसरी नागरिकता का परित्याग करे। इस विषय में इस कानून की एक कमी यह है कि अपने पति द्वारा भारतीय नागरिकता का परित्याग करने से अपनी भारतीय नागरिकता स्वतः खोने वाली स्त्री को विधवा होने की या पति को तलाक देने की दशा में घोषणा द्वारा भारतीय नागरिकता को पुनः पाने का अधिकार होना चाहिए था। भारतीय नागरिकता को तीन प्रकार से खोया जा सकता है—(क) परित्याग (Renunciation), (ख) समाप्ति (Termination), (ग) वंचित किया जाना (Deprivation)। परित्याग उस दशा में होता है जब कि दोहरी नागरिकता रखने वाला कोई बालिग व्यक्ति अपनी इच्छा से एक घोषणा के द्वारा अपनी भारतीय नागरिकता को छोड़ देता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति इस प्रकार से भारतीय नागरिकता का परित्याग करने पर भी भारत के प्रति अपने सैनिक कर्त्तव्यों और दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकता है। यदि युद्ध के बीच में कोई भारतीय नागरिक ऐसी घोषणा करता है तो उससे इसके लिए केन्द्रीय सरकार की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक है। दूसरी विधि नागरिकता की समाप्ति या अवसान (Termination) है। जब कोई भारतीय नागरिक स्वेच्छापूर्वक किसी दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण करता है तो उसकी भारतीय नागरिकता स्वतः स्वयमेव समाप्त हो जाती है। इस व्यवस्था का यह प्रयोजन है कि व्यक्ति को दोहरी नागरिकता तथा दोनों देशों में विभक्त निष्ठाओं (divided loyalties) के दुष्परिणामों से बचाया जाय। विवाहित स्त्री को बालिग मानते हुए इस विषय में छूट दी गई है कि दोहरी नागरिकता की दशा में पति द्वारा भारतीय नागरिकता की समाप्ति हो जाने की दशा में वह दूसरी नागरिकता छोड़कर भारतीय नागरिकता को बनाये रख सकती है। तीसरी विधि भारतीय नागरिकता से वंचित किया जाना (Deprivation) है। केन्द्रीय सरकार निम्नलिखित दशायें उत्पन्न होने पर किसी को भारतीय नागरिकता के अधिकार से वंचित कर सकती है—(क) यदि किसी व्यक्ति ने भारतीय नागरिकता के लिए अपनी रजिस्ट्री या देशीयकरण धोखाधड़ी से, झूठे बयान से या तथ्यों को छिपा कर प्राप्त की हो। (ख) वह संविधान के प्रति अस्वामिभक्त या असंतुष्ट रहा हो। (ग) उसने शत्रु के साथ व्यापार करने का अपराध किया हो। (घ) भारतीय नागरिकता पाने के पाँच वर्ष के भीतर यदि उसे किसी दूसरे देश में दो वर्ष के कारावास का दण्ड मिला हो। (ङ) यदि वह सामान्य रूप से सात वर्ष तक देश से बाहर रहा हो तथा उसका यह विदेश निवास विद्यार्थी, सरकारी कर्मचारी, अन्तर्राष्ट्रीय सेवा के करने वाले व्यक्ति (Civil Servant) के रूप में न हो।

१९५५ के कानून की एक विशेषता यह है कि इसमें **राष्ट्रमंडल की नागरिकता** (Commonwealth Citizenship) की व्यवस्था भी की गई है। यह १९४७ में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के देशों के एक सम्मेलन में किये गये समझौते को क्रियान्वित रूप देने के लिए की गई है। इसके अनुसार राष्ट्रमण्डल के किसी अन्य देश के नागरिक को केन्द्रीय सरकार के गजट या राजपत्र में सूचना प्रकाशित करके भारतीय नागरिक के अधिकार पारस्परिकता (Reciprocity) के आधार पर प्रदान कर सकती है। इस व्यवस्था को बनाते समय इसके पक्ष में तीन युक्तियाँ दी गई थीं—(क) राष्ट्रमण्डल की नाग-

रिकता विश्व की नागरिकता (World Citizenship) के लक्ष्य तक पहुँचने में एक महत्वपूर्ण पग है। (ख) लाखों भारतीय ब्रिटिश उपनिवेशों में रहते हैं। यदि इस नागरिकता की व्यवस्था की जाय तो वे या तो अपने निवास वाले देश में पराये हो जायेंगे अथवा भारत से उनका सम्बन्ध विच्छिन हो जायगा। (ग) राष्ट्रमण्डल के एक देश का नागरिक इसके दूसरे देश में इससे परदेसी नहीं रहता है।

किन्तु राष्ट्रमंडल की नागरिकता का यह समर्थन उपर्युक्त कारणों के आधार पर समीचीन नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यह विश्व की नागरिकता के विचार को प्रोत्साहित करने वाला नहीं है, यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता था, जब सब देशों के लिए पारस्परिकता के आधार पर भारतीय नागरिकता के द्वार खुले रखे जाते। इसमें केवल ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों के लिए ही ऐसा किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इस व्यवस्था का विशेष महत्व नहीं है। इस व्यवस्था की क्रियात्मक उपयोगिता कुछ भी नहीं प्रतीत होती है। केन्द्रीय सरकार ने अभी तक राष्ट्रमंडलीय देशों के किसी व्यक्ति को राष्ट्रमंडल की नागरिकता प्रदान करने की घोषणा नहीं की है।

राष्ट्रीयता विषयक भारतीय मामले (Indian cases on Nationality)—१५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन होने पर लाखों आदमियों के पाकिस्तान से हिन्दुस्तान तथा हिन्दुस्तान से पाकिस्तान जाने पर राष्ट्रीयताविषयक अनेक जटिल मामले भारतीय न्यायालयों के सम्मुख आये हैं। भारतीय संविधान की धारा ५ के अनुसार संविधान लागू होने के समय अधिकांश भारतीयों को भारत में निवासस्थान या अधिवास (Domicile) होने से भारतीय नागरिकता प्राप्त हुई थी। किन्तु संविधान में इस शब्द की कहीं स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई थी, अतः इसके लक्षण और स्वरूप के बारे में बहुत विवाद रहा है।

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private International Law) के अनेक लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि अधिवास (Domicile) का लक्षण करना बड़ा कठिन है।[1] ब्रिटिश न्यायाधीश चिट्टी ने इसका लक्षण करते हुए Craignish *v.* Hewitt में लिखा था कि किसी व्यक्ति का अधिवास उस स्थान को कहना चाहिए, जहाँ उसका निवास स्थान निश्चित हो तथा फिलहाल उसका कोई इरादा इस स्थान को छोड़ने का न हो। एक अन्य ब्रिटिश न्यायाधीश किंडरस्ली ने इसकी अधिक विस्तृत व्याख्या करते हुए इस मामले Lord *v.* Calvin में लिखा था—"किसी व्यक्ति का अधिवास समुचित रीति से वह स्थान है, जहाँ उसने स्वेच्छापूर्वक अपने लिए तथा अपने परिवार के निवास के लिए स्थान निश्चित किया है, यह निवास स्थान किसी अस्थायी अथवा विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए नहीं है, अपितु उसका वर्तमान इरादा इस स्थान को उस समय तक अपना स्थायी घर बनाने का है, जब तक कोई अप्रत्याशित घटना उसे किसी अन्य स्थान पर अपना स्थायी निवास बनाने के लिए विवश न करे।" इस प्रकार अधिवास के लिए दो शर्तों का होना आवश्यक है, पहली शर्त किसी स्थान में एक विशेष प्रकार के निवास की घटना या

१. एस० के० अग्रवाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १२२

तथ्य (Factum) है तथा दूसरी शर्त वहाँ रहने का इरादा (Animus) है। इन दोनों के होने पर ही किसी व्यक्ति का अधिवास निश्चित होता है। Rosetta Evelyn *v.* Justin Ataullah के मामले में कलकत्ता हाईकोर्ट ने अधिवास की उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन करते हुए लिखा था—यदि किसी स्थान में स्थायी रूप से रहने का इरादा पाया जाता है और इस इरादे के अनुसार इस प्रकार किसी स्थान में निवास किया जाता है तो यह निवास अल्पकालीन होने पर भी अधिवास को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

सुप्रीम कोर्ट ने Central Bank of India Ltd. *v.* Ram Narain के मामले के विषय में यह सिद्धान्त माना था कि निवास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह निरन्तर बना रहे। रामनारायण नामक व्यक्ति (देखिये परिशिष्ट १) पाकिस्तान में चले जाने वाले मुल्तान नामक नगर में सैण्ट्रल बैंक आफ इंडिया की शाखा में एक कर्मचारी था, वह अपने बाप-दादों के समय से वहाँ रह रहा था, उसका कुछ कारोबार भारत में होडल नामक स्थान में था, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि भारत में उसका कोई घर या निवास स्थान था। पाकिस्तान बनने के बाद भी वह भारत नहीं आया और मुल्तान में ही रहा। यहाँ बैंक में तीन लाख का गोलमाल करके वह भारत आ गया, भारत में उस पर भारत का नागरिक होने के आधार पर इस गबन के लिए मुकद्दमा चलाया गया। किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में रामनारायण को पाकिस्तान बन जाने के बाद भी मुल्तान में स्थायी रूप से वंशपरम्परा से रहने के कारण उसे पाकिस्तान का निवासी माना, भले ही वह भारत चला आया था, किन्तु उसका निवास स्थान निश्चित रूप से पाकिस्तान में था।

अधिवास के लिए इरादे (Intention) के तत्व को महत्वपूर्ण मानते हुए अनेक मामलों का निर्णय किया गया है। Nisar Ahmed *v.* Union of India (A. I. R., 1958, Raj. 65) के मामले में राजस्थान हाईकोर्ट ने यह माना था कि कट्टर मुस्लिम लीगी व्यक्तियों (मुस्लिम लीग के स्थानीय सभापतियों) के सम्बन्ध में यह परिणाम भली भाँति निकाला जा सकता है कि उनका इरादा भारत से पाकिस्तान जाने का है, क्योंकि वे उसे अपना राष्ट्रीय गृह मानते हैं। पंजाब हाईकोर्ट ने Mangal Sain *v.* Shannodevi (A.I.R., 1959, Punjab 175) के मामले में इरादे के आधार पर राष्ट्रीयता निश्चित की थी। इस मामले में मंगलसैन नामक व्यक्ति १९२७ में बाद में पाकिस्तान चले जाने वाले प्रदेश में उत्पन्न हुआ, उसके माता-पिता दो वर्ष की आयु में उसे बर्मा ले गये, १९४२ में समूचा परिवार भारत में लौट आया, कुछ समय जालन्धर रहने के बाद मंगलसैन २½ वर्ष तक पाकिस्तान में चले जाने वाले अपने पैतृक स्थान पर रहा। दिसम्बर १९४४ से अगस्त १९४६ तक उसने जालन्धर में नौकरी की, यहाँ वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में सम्मिलित होकर उसका सक्रिय कार्यकर्त्ता बना और इसकी शाखाओं का विभिन्न जिलों में संगठन करता रहा। जनवरी १९५० में वह पुनः अपने भाइयों के पास बर्मा चला गया। किन्तु उसे वहाँ स्थायी रूप से रहने की अनुमति नहीं मिली और वह भारत लौट आया। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हाईकोर्ट ने यह

परिणाम निकाला कि मंगलसैन ने पाकिस्तान में अपने पैतृक गृह को छोड़कर जालन्धर में अपना निवास स्थान बना लिया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य होने से मंगलसैन का भारत का नागरिक होना भली भाँति प्रमाणित होता है।

भारतीय संविधान की धारा ६–७ में पाकिस्तान से भारत आने वाले भारतीय को भारतीय नागरिकता प्रदान की गई है। इस विषय में यहाँ प्रव्रजन (Migration) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द की व्याख्या पर पर्याप्त मतभेद रहा है और भारतीय न्यायालयों में इस विषय में कई मामले आये हैं। Badruzzaman *v.* State (A. I. R., 1951, All. 16) में इलाहाबाद हाईकोर्ट ने यह लिखा था कि प्रव्रजन में दो विचार हैं—(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, (२) जाने वाले स्थान को भविष्य में अपना निवास स्थान बनाने का इरादा। संविधान में इसका अभिप्राय अपनी राजभक्ति और निष्ठा (Allegiance) को जाने वाले देश से हटाकर निवास के लिए ग्रहण करने वाले नये देश को प्रदान करना है। इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज श्री धवन ने Abida Khatoon *v.* State of U. P. (A. I. R., 1963, Allahabad 260) के मामले में लिखा था कि जब एक भारतीय नागरिक पाकिस्तान में प्रव्रजन करता है तो उसका इरादा अपने मूल निवास स्थान वाले देश को छोड़ने का होता है।

विधवा को अपने पति की नागरिकता प्राप्त होती है। किन्तु इस विषय में कई बार बड़ी जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। Karimun Nisa *v.* State of M. P. (A. I. R., 1955 Nagpur 6) के मामले में ऐसी ही समस्या पैदा हुई थी। इसमें करीमुन्निसा नामक मुस्लिम प्रार्थी नागपुर में पैदा हुई, यहीं उसका पालन-पोषण हुआ, विवाह होने के बाद वह अपने पति के साथ १९४७ में पाकिस्तान चली गई। वहाँ अपने पति की मृत्यु होने पर अनाश्रित और असहाय होने के कारण पाकिस्तान के पासपोर्ट पर १९५२ में वह भारत लौट आई। उसका यह कहना था कि उसका इरादा भारत को स्थायी रूप से छोड़ने का नहीं था, उसने भारत की नागरिकता को कभी नहीं खोया है, यदि खोया भी है तो वह उसे भारत लौटने पर पुनः प्राप्त हो गई है। इस विषय में नागपुर हाईकोर्ट ने ब्रिटिश विधिशास्त्री डायसी के इस सिद्धान्त का अनुसरण किया कि विधवा का अधिवास (Domicile) उस समय तक उसके मृत पति वाला ही होता है, जब तक वह इसे स्वयमेव बदल नहीं लेती है। प्रार्थी जब अपने पति के साथ पाकिस्तान गई तो उसने भारत की नागरिकता खो दी। पति की मृत्यु पर वह अपनी नागरिकता बदल सकती थी, किन्तु उसने इसे बदला नहीं था। जब यह मामला १९५५ में नागपुर हाईकोर्ट में आया, उस समय तक भारतीय नागरिकता के विषय में भारतीय संविधान की धारायें ही लागू होती थीं। किन्तु इसमें से किसी भी धारा के अनुसार वह भारतीय नागरिक नहीं थी, उसपर धारा ५ लागू नहीं होती थी क्योंकि संविधान लागू होने के समय (२६ नवम्बर १९४९) उसका निवास स्थान भारत में नहीं था, धारा ६ के अनुसार भी वह भारतीय नागरिक नहीं हो सकती थी क्योंकि उसने भारत में अपनी नागरिकता की रजिस्ट्री नहीं कराई थी, धारा ७ भी उस पर लागू नहीं होती थी क्योंकि भारत में पुनः बसने के अनुमतिपत्र के आधार पर वह भारत में नहीं आई थी। हाईकोर्ट यह समझता था कि इस मामले में असहाय युवती अपने पति के कार्य

का फल भोग रही है, वह अपने छोटे बच्चों का भरणपोषण भारत में रहने वाले अपने माता-पिता की सहायता के बिना नहीं कर सकती है। फिर भी न्यायालय ने प्रार्थी को भारत का नागरिक नहीं माना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस नियम का अनुसरण किया कि "पति की मृत्यु पर पत्नी का अधिवास (Domicile) उसके पति का ही निवास स्थान समझा जाता है।"

चौदहवाँ अध्याय

प्रत्यर्पण

(Extradition)

प्रत्यर्पण का स्वरूप (The Nature of Extradition)—जब कोई व्यक्ति एक देश में भीषण अपराध करने के बाद उसके दण्ड से बचने के लिए दूसरे देश में भाग जाता है तो पहले देश की प्रार्थना पर दूसरे देश द्वारा उस अपराधी को सौंपना प्रत्यर्पण (Extradition) कहलाता है। लारेन्स ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को ऐसे व्यक्ति का अर्पण करना है, जो पहले राज्य के प्रदेश में विद्यमान है किन्तु जिस पर यह आरोप है कि उसने दूसरे राज्य के प्रदेश में अपराध किया है या दूसरे राज्य के प्रदेश के बाहर अपराध करने पर भी वह इसका प्रजाजन होने के नाते इस देश के अनुसार इस राज्य के क्षेत्राधिकार में आता है।" स्टार्क ने इसे "ऐसी प्रक्रिया (Process) बताया है, जिससे एक राज्य दूसरे राज्य की प्रार्थना पर उसे ऐसा व्यक्ति सौंपता है, जो इसकी प्रार्थना करने वाले राज्य के प्रदेश में इसके कानून के विरुद्ध किए गए अपराध में अभियुक्त (accused) है या उसे दण्डित (convicted) अथवा अपराधी ठहराया जा चुका है, तथा प्रार्थना करने वाले राज्य को तथाकथित अपराधी पर विचार करने का अधिकार है।"[1] इस प्रकार की प्रार्थनायें प्रायः राजनयिक रूप से की जाती हैं।

प्रत्यर्पण कई कारणों से आवश्यक समझा जाता है। सब राज्यों में यह इच्छा सामान्य रूप से पायी जाती है कि प्रत्येक भीषण अपराध करने वाला व्यक्ति अवश्य दण्डित होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसा अपराध करके दूसरे देश में भाग जाता है तो उसे पुनः उस देश में जाकर अभियोग चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरा कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति पर वही राज्य अच्छी तरह से विचार कर सकता है, जिसमें उसने अपराध किया है, क्योंकि वहाँ अपराधी के विरुद्ध आवश्यक साक्षी सुगमतापूर्वक एकत्र हो सकती है, वहाँ मामले की सत्यता निश्चित करने की सुविधायें अधिक हैं और उस राज्य को अपने अपराधियों का दमन करने में अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी और हित है।[2]

---

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, ४र्थ संस्करण, पृ० २६०

२. यह बात सुच्चा सिंह के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। यह पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरो की हत्या करके जनवरी १९६५ में नेपाल भाग गया। भारतीय पुलिस अधिकारियों ने इसे नेपाल में घुसकर पकड़ लिया और नेपाल सरकार से इसे भारत लौटने की प्रार्थना की ताकि यहाँ उसके अपराध के मामले पर समुचित विचार हो सके। नेपाल राज्य के न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार करके सुच्चा सिंह को भारत को सौंप दिया।

यदि अपराधी पर दूसरे राज्य में अभियोग चलाया जाय तो सब साक्षियों का वहाँ मुकद्दमे की समाप्ति तक रहना बड़ा कठिन, असुविधाजनक तथा व्ययसाध्य होगा, अतएव इस अवस्था में अपराधी का प्रत्यर्पण ही श्रेयस्कर उपाय है।

प्रत्यर्पण का विकास (Development of the Law of Extradition)—प्रत्यर्पण के कानून का विकास १९वीं तथा २०वीं शती में हुआ है। १८वीं शती से पहले प्रत्यर्पण बहुत कम होता है। ग्रोशियस, वैटल, और कैण्ट ने समाज की सामान्य शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए भगोड़े अपराधियों के समर्पण का प्रबल समर्थन किया था। प्यूफेनडोर्फ ने अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) के कारण प्रत्यर्पण को आवश्यक बताया था। १८वी शताब्दी में योरोपियन राज्य इस प्रथा को अपनाने लगे। वैटल के कथनानुसार १७५८ में हत्यारों तथा चोरों का प्रत्यर्पण होता था, किन्तु उस समय तक विभिन्न देशों में इसके लिए कोई संधियाँ नहीं थीं। उस समय इनकी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु उन्नीसवीं शती में यातायात के नवीन साधनों—रेलों तथा जहाजों—के अद्भुत विकास के कारण अपराधियों के लिए अपने राज्य से दूरवर्ती देशों में भागना बहुत सुगम हो गया। अतः इनको पकड़ने तथा दण्डित करने के लिए विभिन्न राज्य एक-दूसरे के साथ प्रत्यर्पण संधियाँ (Extradition Treaties) करने लगे। १८७० में ग्रेट ब्रिटेन में इसके लिए कानून बनाया गया। इसका संशोधन १८७३, १८९५, १९०६ और १९३२ में हुआ। ब्रिटिश भारत में अपराध करने वाले व्यक्ति देशी रियासतों में भाग जाया करते थे। अतः भारत में १८७०, १८८१ तथा १९०३ में इसके लिए आवश्यक कानून बनाये गये। १९०३ के भारतीय कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा अपराधी के प्रत्यर्पण से पहले मजिस्ट्रेट द्वारा एक प्रारम्भिक जाँच में यह निश्चित किया जाता है कि अपराधियों के विरुद्ध उपरिदर्शी (Prima facie) साक्षी है या नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यर्पण की माँग गम्भीर एवं सार्वजनिक महत्व के अपराधों के होने पर ही की जाती है। यह बड़ी मन्द और व्ययसाध्य प्रक्रिया है, अतः लघु अपराधों के लिए इस प्रक्रिया का अवलम्बन ठीक नहीं समझा जाता। एडविन डिकिन्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रत्यर्पण के विकास का वर्णन करते हुए लिखा है—"वर्तमान राज्य पद्धति के अभ्युदय तथा यात्रा के साधनों के विकास के साथ अपराधों के निरोध में सब राज्यों का सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बन गया। यह स्पष्ट हो गया कि राज्यों को या तो दूसरे राज्यों के दण्डविधानों को लागू करने के ढंग ढूंढने चाहिएँ या फौजदारी कानून की सर्व-देशव्यापी पद्धति बनानी चाहिए अथवा भगोड़े अपराधियों के समर्पण करने की व्यवस्था करनी चाहिए। पहले विकल्प में गम्भीरतम राजनीतिक कठिनाइयाँ थीं। दूसरा विकल्प काल्पनिक था, अतः तीसरे विकल्प का विकास विभिन्न राज्यों की द्विपक्षीय सन्धियों द्वारा हुआ। १९वीं शती के प्रारम्भ में सन्धि के अभाव में प्रत्यर्पण की आवश्यकता का समर्थन प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों की सम्मति से होने लगा, किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सुप्रतिष्ठित नहीं हुआ।" ह्वीटन के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार्वभौम रूप से माना जाने वाला कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है जिसके अनुसार किसी राज्य के लिए प्रत्यर्पण की संधि करना आवश्यक हो। कोई राज्य दूसरे राज्य से प्रत्यर्पण की माँग को अधिकार के

रूप में नहीं कर सकता, वह अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) अथवा पारस्परिक संधि के आधार पर ही अपराधी को लौटाने का दावा कर सकता है।

प्रत्यर्पणीय व्यक्ति (Extraditable Person)—प्रत्यर्पण की माँग में दो बातें देखनी पड़ती हैं—(१) व्यक्ति प्रत्यर्पण योग्य होना चाहिए। (२) प्रत्यर्पण का अपराध गम्भीर एवं अराजनीतिक होना चाहिए। फ्रांस और जर्मनी जैसे कुछ राज्य विदेशों में अपराध करने वाले अपने देश के नागरिकों या राष्ट्रिकों (National) को प्रत्यर्पण योग्य नहीं समझते, वे उन्हें स्वयं दण्ड देते हैं। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमरीका अपने राष्ट्रिकों का भी प्रत्यर्पण करते हैं बशर्ते कि यह प्रत्यर्पण सन्धि की व्यवस्थाओं के प्रतिकूल न हो। १८७६ में ग्रेट ब्रिटेन ने एक ब्रिटिश नागरिक टौरविल्ला का आस्ट्रिया को प्रत्यर्पण किया क्योंकि यह आस्ट्रिया के टिरोल प्रदेश में अपनी पत्नी की हत्या करके इंगलैण्ड भाग आया था। १८८४ में इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन ने अपने एक प्रजाजन निल्लिस को जर्मनी में धोखा देने के अपराधों के सम्बन्ध में जर्मनी की सरकार को सौंपा था? १९१० में संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने इटली में हत्या करने वाले एक अमरीकी नागरिक पोर्टर चार्लटन को इटालियन सरकार को सौंपा था, किन्तु १८७७ में ज्यूरिक में चोरी करने वाले आल्फ्रेड थामस विलसन को इंगलैण्ड ने स्विट्ज़रलैण्ड द्वारा प्रत्यर्पण की माँग करने पर भी नहीं सौंपा, क्योंकि १८७४ की एंग्लो-स्विस सन्धि के अनुसार दोनों देश अपने नागरिकों का प्रत्यर्पण नहीं कर सकते थे। १९०६ में इसी प्रकार फ्रांस को एक ब्रिटिश प्रजाजन का प्रत्यर्पण १८७६ के एंग्लो-फ्रेंच प्रत्यर्पण संधि का विरोधी होने के कारण नहीं किया गया; १९०८ के समझौते द्वारा अपने देश के नागरिकों का प्रत्यर्पण ऐच्छिक बना दिया गया है।

ब्रियर्ली ने अपने नागरिकों को राज्यों द्वारा प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि इसे दो कारणों से न्यायोचित नहीं माना जा सकता।[३] **पहला** कारण यह है कि कुछ अवस्थाओं में दूसरे देश में किये गए अपराधों के सम्बन्ध में उपयुक्त साक्षी के अभाव में अपराधी के विरुद्ध अभियोग चलाना कठिन होता है, अतः उसके अपराध की सही जाँच के लिए नागरिक होने पर भी उसका प्रत्यर्पण होना चाहिए। **दूसरा** कारण यह है कि दूसरे देश में अपराध के बाद न्यायालय द्वारा दण्डित होने पर भी व्यक्ति भाग सकता है, इस दशा में स्वदेश में उस पर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता क्योंकि न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर एक ही अपराध के लिए एक व्यक्ति पर दो बार अभियोग नहीं चलाया जा सकता। अतः अपने देश के अपराधी नागरिकों को प्रत्यर्पण की माँग होने पर दूसरे देशों को न्याय की दृष्टि से इनका सौंपना उचित है। किन्तु अधिकांश देशों की वर्तमान परिपाटी यही है कि वे अपने नागरिक को दूसरे देशों को नहीं सौंपते।

प्रत्यर्पण के अपराध (Extradition Crimes)—सामान्यतः अपराधियों के प्रत्यर्पण की मांग तभी की जाती है, जब उन्होंने कोई बहुत गम्भीर अपराध किये हों।

३. **ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स**, पृ० २३१

विभिन्न देशों के प्रत्यर्पण कानूनों (Extradition Acts) में ऐसे अपराधों का उल्लेख होता है। ग्रेट ब्रिटेन के कानून में प्रत्यर्पणविषयक गिनाये अपराधों में मुख्य ये हैं—वध (Murder), मनुष्यमारण, नकली सिक्के बनाना, जालसाजी, गबन, चौर्यकर्म (Larceny), झूठे बहानों से रुपया या द्रव्य प्राप्त करना, हिंसावाला लुंठन (Robbery with violence), सेंध लगाना, गृहदाह (Arson), अपहरण, बलात्कार, बच्चे को चुराना, रुपया ऐंठने की धमकी देना, समुद्री डकैती, खतरनाक दवाइयों के कानून तोड़ना, घूसखोरी, झूठी गवाही देना या कूट साक्ष्य (Perjury), महासमुद्रों में जहाज पर कप्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र या विद्रोह, समुद्र में दूसरे जहाजों पर हत्या के उद्देश्य से किये जाने वाले अपराध, समुद्र में किसी जहाज का डुबाना या नष्ट करना। फ्रांस के प्रत्यर्पण कानूनों में अपराधों का नामशः उल्लेख न करते हुए यह कहा गया है कि वहाँ के दण्ड विधान के अनुसार जिन अपराधों में न्यूनतम दण्ड दिया गया है, वे सब प्रत्यर्पण सम्बन्धी अपराध हैं।

आजकल सामान्य रूप से विभिन्न देशों में प्रत्यर्पण संधियाँ (Extradition treaties) दो प्रकार की होती हैं—(१) पुराने ढंग की (Older or classical type) संधियाँ—इनमें प्रत्यर्पण किये जाने योग्य अपराधों की पूरी सूची दी जाती है, जैसे ग्रेट ब्रिटेन के उपर्युक्त कानून में अथवा १९६२ के भारतीय प्रत्यर्पण कानून में। (२) आधुनिक (Modern) संधियाँ—इनमें प्रत्यर्पणयोग्य अपराधों की कोई सूची नहीं होती, किन्तु सामान्य रूप से यह व्यवस्था होती है, कि उन सभी अपराधों के मामलों में प्रत्यर्पण किया जायगा, जो अपराध संधि करने वाले दोनों देशों में समान रूप से दण्डनीय समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ, १९३३ के प्रत्यर्पण के माण्टविडियो अभिसमय (Montevideo Convention on Extradition of 1933) के प्रथम अनुच्छेद (Article 1) के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि किसी व्यक्ति के प्रत्यर्पण की माँग तभी की जा सकती है जब उसका कार्य अपराध हो तथा प्रत्यर्पण की माँग करने वाले तथा उस व्यक्ति को सौंपने वाले दोनों देशों में यह ऐसा अपराध हो, जिसका न्यूनतम दण्ड एक वर्ष की सजा हो। यह समझौता दक्षिण अमरीका में उरुगुए राज्य की राजधानी माण्टविडियो में हुआ था और इसमें अमरीका के अनेक राज्यों के साथ सं० रा० अमरीका भी सम्मिलित हुआ था।

प्रत्यर्पण के कुछ प्रसिद्ध मामले (Case Law on Extradition)—(१) **आइजलर का मामला** (The Eisler Extradition Case)—गैरहार्ट आइजलर (Gerhart Eisler) संयुक्त राज्य अमरीका का एक विदेशी कम्युनिस्ट था। इसे वहाँ कुछ अपराधों के लिए दण्ड दिया गया। इसने अपनी सजा को कम कराने के लिए उच्च न्यायालय में अपील की। अपील के समय यह जमानत पर रिहा किया गया। इस अवस्था में १२ मई, १९४९ को यह न्यूयार्क के बन्दरगाह से रवाना होने वाले पोलैण्ड के एक जहाज बेटरी (S. S. Batory) पर चोरी से सवार होकर सं० रा० अमरीका से भाग निकला। इस जहाज ने इंगलैंड के बन्दरगाह सौथम्पटन पर सबसे पहले रुकना था। अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि जहाज यहाँ पहुँचते ही आइजलर को बन्दी बना लिया जाय तथा उसे सं० रा० अमरीका को दण्ड देने के लिए सौंप

दिया जाय। इस प्रार्थना के अनुसार उसे बन्दी बना कर लंदन में बो स्ट्रीट (Bow Street) के मैजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया। सं० रा० अमरीका में आइज़लर को दो अपराधों पर दण्डित किया गया था। पहला अपराध अमरीकी कांग्रेस की अवज्ञा (Contempt of Congress) था, क्योंकि उसने प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) की एक कमेटी के सम्मुख गवाही देने से इन्कार किया था। उसका दूसरा अपराध यह था कि उसने सं० रा० अमरीका से बाहर जाने की अनुमति माँगने के आवेदन-पत्र में कुछ झूठी बातें लिखी थीं। किन्तु ये दोनों अपराध इंगलैण्ड तथा सं० रा० अमरीका के मध्य में २२ दिसम्बर १९३१ को की गई प्रत्यर्पण संधि में गिनाये गये अपराधों की सूची में नहीं थे। सं० रा० अमरीका की ओर से ब्रिटिश न्यायालय में इस बात पर बल दिया कि आइज़लर का प्रत्यर्पण इसलिए किया जाना चाहिए कि उसने अमरीका से बाहर जाने के आवेदनपत्र में झूठी बातें कही हैं और अमरीकी न्यायालय ने उसे झूठी साक्षी (Perjury) के लिए दण्डित किया है। झूठी गवाही देना दोनों देशों में दण्डनीय अपराध है। अतः आइज़लर का प्रत्यर्पण होना चाहिए।

किन्तु ब्रिटिश कानून के अनुसार झूठी साक्षी (Perjury) का अपराध केवल किसी मुकदमे या अदालती कार्यवाही में ही किया जा सकता है, जब न्यायालय में सच बोलने की शपथ खाकर झूठी गवाही या बयान दिया गया हो। सं० रा० अमरीका में झूठी साक्षी (Perjury) का अर्थ वहाँ के कानून द्वारा बहुत व्यापक बना दिया गया है, इसके अनुसार अदालती कार्यवाही से सम्बन्ध रखने वाले प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न मामलों में दिये जाने वाले हलफनामों (Affidavits) में दिया गया कोई भी झूठा बयान झूठी साक्षी (Perjury) समझा जाता है। ब्रिटिश न्यायाधीश ने इंगलिश कानून का अनुसरण करते हुए आइज़लर द्वारा सं० रा० अमरीका छोड़ने के आवेदनपत्र में कही गई झूठी बात को अदालत में दी गयी झूठी गवाही (Perjury) के अपराध से सर्वथा भिन्न माना। ऐसे झूठा बयान देना इंगलैंड के कानून के अनुसार अपराध नहीं था, अतः सं० रा० अमरीका की आइज़लर को उसे सौंपने की प्रार्थना अस्वीकार कर दी गयी और आइज़लर को बन्धन-मुक्त कर दिया गया।

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण **ब्लैकमर** (Case of Blackmer) का है। इसमें ब्लैकमर नामक व्यक्ति ने अपनी आमदनी के बारे में झूठा विवरण दिया था। इसके बाद वह फ्रांस भाग गया। सं० रा० अमरीका की सरकार ने फ्रेंच सरकार से ब्लैकमर को सौंपने की प्रार्थना की क्योंकि उसने अपनी आय के सम्बन्ध में झूठा बयान देकर Perjury का अपराध किया था। फ्रेंच न्यायालय की व्याख्या के अनुसार आयकर के सम्बन्ध में झूठा बयान देना Perjury के अपराध में सम्मिलित नहीं है। अतः उसने अमरीकी सरकार की प्रत्यर्पण की माँग को स्वीकार नहीं किया।

राजनीतिक अपराध तथा प्रत्यर्पण (Extradition and Political Crimes)—स्टार्क के मतानुसार तीन प्रकार के अपराधों में सामान्य रूप से प्रत्यर्पण नहीं किया जाता[४]—(क) धार्मिक अपराध, (ख) सैनिक अपराध—जैसे सैनिक सेवा

४. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २६३

को छोड़कर भाग जाना, (ग) राजनीतिक अपराध। राजनीतिक अपराधों में प्रत्यर्पण न करने की पद्धति १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद शुरू हुई। इससे पहले ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था। १६वीं-१७वीं शताब्दियों के लेखक राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण के पक्षपाती थे। उस समय विभिन्न देशों की संधियों में ऐसे अपराधी सौंपने की व्यवस्था की जाती थी। किन्तु १७९३ के फ्रेंच संविधान के अनुच्छेद १२० में फ्रांस में उन व्यक्तियों को शरण देने की व्यवस्था की गई, जो अपने देश से 'स्वतन्त्रता के पक्ष में' भाग लेने के कारण निकाले गये हों। फिर भी १८३० तक ऐसे अपराधियों का प्रत्यर्पण होता रहा। इस समय ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड जैसे स्वतन्त्रताप्रेमी देशों में यह विचारधारा प्रबल होने लगी कि निरंकुश राजसत्ता वाले देशों में राजनीतिक स्वाधीनता का संघर्ष करने वालों को इन देशों से अपने यहाँ भाग आने तथा शरण लेने पर निरंकुश राजाओं की सरकारों को नहीं सौंपना चाहिए। १८१५ में जिब्राल्टर के गवर्नर ने स्पेन से आये हुए कुछ राजनीतिक अपराधी मैड्रिड को सौंपे थे, इस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में बड़ा रोष प्रकट किया गया। सर जेम्स मैकिन्तोष ने यह घोषणा की कि प्रत्येक देश के राजनीतिक भगोड़ों को आश्रय देना चाहिए। १८१६ में लार्ड कैसलरे (Castlereagh) ने यह कहा कि केवल राजनीतिक अपराध करने वालों को कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिए। १८२३ में स्विट्ज़रलैण्ड को महाशक्तियों के दबाव के कारण नैपल्ज़ और पीडमाण्ट के विद्रोहों में भाग लेने वाले कुछ अपराधियों के प्रत्यर्पण के लिए विवश होना पड़ा। १८२६ में एक डच विधिशास्त्री ने ऐसे अपराधियों के प्रत्यर्पण करने का सिद्धान्त पुष्ट करते हुए एक विद्वत्तापूर्ण कानूनी ग्रन्थ लिखा। १८३३ में आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस ने राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण की संधियाँ कीं; किन्तु इसी समय बेल्जियम ने अपने प्रत्यर्पण कानून में राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिया। १८३४ में उसने फ्रांस के साथ ऐसी व्यवस्था करने वाली प्रत्यर्पण संधि भी की। फ्रांस ने अन्य देशों के साथ प्रत्यर्पण संधियों में राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण पर पाबन्दी लगाई। अन्य राज्यों ने भी इसका अनुसरण किया और १८६७ के बाद हुई सभी प्रत्यर्पण संधियों में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यह ग्रेट ब्रिटेन, स्विट्ज़रलैंड, बेल्जियम, फ्रांस और सं० रा० अमरीका द्वारा राजनीतिक बन्दियों के विषय में प्रत्यर्पण-विरोधी कड़ा रुख अपनाने के कारण हुआ।

किन्तु अभी तक 'राजनीतिक अपराध' के ठीक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में पूरी सहमति नहीं हो सकी। **आपेनहाइम** के शब्दों में "कुछ लेखक राजनीतिक इरादे (Motive) से किये गए अपराध को राजनीतिक मानते हैं, अन्य लेखक राजनीतिक प्रयोजन (Purpose) की दृष्टि से किया गया अपराध राजनीतिक समझते हैं। कुछ इसके लिए राजनीतिक इरादा और प्रयोजन दोनों आवश्यक मानते हैं। कुछ अन्य लेखक राजनीतिक अपराध की परिभाषा को केवल राज्य के विरुद्ध किये गए कुछ अपराधों के लिए सीमित करना चाहते हैं, जैसे महाराजद्रोह (High treason)। आज तक इस शब्द के समुचित अर्थ के निर्णय के सब प्रयत्न विफल हुए हैं और शायद इसी कारण इस शब्द की संतोषजनक परिभाषा हो सकने की कोई संभावना नहीं है।"

प्रत्यर्पण के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मन सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय ने हालैण्ड में शरण ग्रहण की थी। मित्रराष्ट्रों की सुप्रीम कौंसिल ने वर्साय संधि की धारा २२६ के आधार पर हालैण्ड से जर्मन सम्राट् के प्रत्यर्पण की माँग की। इस धारा में जर्मन सम्राट् पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और संधियों की पवित्रता के उल्लंघन के महापराध के लिए न्यायालय में अभियोग चलाए जाने की व्यवस्था थी। डच सरकार ने ऐसा अभियोग चलाने के लिए जर्मन सम्राट् के प्रत्यर्पण को इस आधार पर अस्वीकार किया कि उसने वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, अतः वह इससे बँधी हुई नहीं है। इसके साथ ही हालैण्ड की पुरानी परम्परा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में पराजित व्यक्तियों को शरण देने की थी।[5] १९२१ में स्पेन के प्रधान मन्त्री दातो (Dato) की हत्या करने के बाद **फोर्ट केस** (Fort Case) में दो व्यक्ति जर्मनी भाग गये। जर्मनी और स्पेन की संधि में यद्यपि राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण का निषेध था, फिर भी जर्मनी ने इन दोनों अपराधियों को इस आधार पर स्पेन को सौंपा कि इनका अपराध बदले के इरादे से किया गया था और इसका प्रयोजन किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति नही था।

दो ब्रिटिश मामलों में **राजनीतिक अपराध की यह कसौटी** तय की गई थी कि जिस राज्य में यह अपराध हो, वहाँ राजनीतिक प्रभुता के लिए संघर्ष करने वाले दो दल होने चाहियें, अपराध का उद्देश्य इस प्रभुता की प्राप्ति हो, इस कसौटी को मान लेने से आतंकवादी (Terrorist) तथा अराजकवादी कार्य राजनीतिक अपराधों की श्रेणी में नहीं आ सकते। १८९१ के **रे कैस्टियोनी** (Re Cationi) के मामले में रे कैस्टियोनी ने स्विट्ज़रलैण्ड के राजनीतिक उपद्रव में भाग लिया, इसमें उसने अपना राजनीतिक पक्ष पुष्ट करने के इरादे से गोली चलाई, अचानक वह गोली रोस्सी नामक निर्दोष व्यक्ति को लगी और वह मर गया। उस पर हत्या का आरोप लगाया गया, वह इससे बचने के लिए इंगलैण्ड भाग गया। स्विस सरकार ने ब्रिटिश सरकार से नरहत्या के लिए इसके प्रत्यर्पण की माँग की, किन्तु ब्रिटिश न्यायालय ने इस आधार पर यह प्रार्थना अस्वीकार की कि कैस्टियोनी का गोली चलाने का उद्देश्य राजनीतिक था, अतः उसका अपराध

५. द्वितीय विश्वयुद्ध में जब मित्रराष्ट्र जीतने लगे तथा जर्मनी और जापान इनकी सेनाओं द्वारा चारों ओर से घिरने लगे तो इस बात की सम्भावना की जाने लगी कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन सम्राट् कैसर की भाँति जर्मनी और जापान के वे नेता तटस्थ देशों में शरण ग्रहण करके बचने का प्रयत्न करें, जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्धापराधों (War crimes) का आरोप हो। अतः ३० जुलाई, १९४२ को राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने यह आशा प्रकट की कि "कोई भी तटस्थ देश अपने प्रदेश में ऐसा आश्रयस्थल नहीं बनायेगा, जिससे ऐसे अपराधियों को अपने कार्यों के न्यायोचित परिणाम से बचने में सहायता मिले।" ३० अक्टूबर, १९४३ को मास्को में त्रिदिवसीय सम्मेलन ने 'जर्मन अत्याचारों के विषय में घोषणापत्र' (Declaration of Grmean Atrocities) में यह कहा कि इस घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले देश अपराधी व्यक्तियों का "पीछा भूमंडल के सुदूरतम छोरों तक करेंगे और उन्हें उन पर दोष लगाने वालों को सौंपेंगे ताकि न्याय हो सके।" जर्मनी के सभी नाज़ी नेता युद्धकारी (Belligerent देशों में ही बन्दी बनाये गये थे, अतः तटस्थ देशों में इनका पीछा करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई।

राजनीतिक है। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन ने **मेउनियर** (Meunier) के अपराध के राजनीतिक न होने से उसका प्रत्यर्पण किया। मेउनियर फ्रेंच अराजकवादी था, उसने पेरिस के होटल में बमविस्फोट किया और इसके बाद वह इंगलैण्ड भाग आया। उसके अपराध में कोई राजनीतिक उद्देश्य न होने के कारण ब्रिटिश सरकार ने उसका प्रत्यर्पण फ्रेंच सरकार को किया।

१९५५ में **कोल्कजिंस्की के मामले** (Kolczynski and others) में ब्रिटिश न्यायालय ने राजनीतिक अपराध की बड़ी व्यापक व्याख्या की। इसमें एक मछली पकडने वाले पोलिश जहाज पर सवार सात नाविकों ने समुद्र में यात्रा करते हुए यह अनुभव किया कि उन पर कड़ी राजनीतिक देखरेख हो रही है, यदि वे स्वदेश वापिस लौटेंगे तो उन्हें अपने राजनीतिक विचारों के लिए कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा। अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने जहाज के कप्तान के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पकड़ लिया और जहाज को निकटतम ब्रिटिश बन्दरगाह में ले गये। यहाँ उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों ने २२ सितम्बर १९५४ को नजरबन्द कर दिया। पोलैण्ड की कम्युनिस्ट सरकार ने इनके प्रत्यर्पण की माँग की, न्यायालय में यह कहा गया कि १८७० के ब्रिटिश प्रत्यर्पण कानून में इसके लिए आवश्यक अपराधों की सूची में एक अपराध महासमुद्रों में जहाज पर विद्रोह करना है, १९३२ की एंग्लो-पोलिश प्रत्यर्पण संधि में भी इसका उल्लेख है, उपर्युक्त पोलिश व्यक्तियों ने यह अपराध किया है, अतः इनका प्रत्यर्पण होना चाहिए।

न्यायालय ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा—"(क) १८७० के प्रत्यर्पण कानून का उद्देश्य राजनीतिक स्वरूप रखने वाले अपराधों के विषय में प्रत्यर्पण को रोकना है। मैजिस्ट्रेट का यह कर्त्तव्य है कि वह सारी साक्षी देखकर यह निश्चित करे कि यह अपराध प्रत्यर्पणयोग्य (Extraditable) है या राजनीतिक स्वरूप रखता है। (ख) अपराध का राजनीतिक स्वरूप प्रत्यर्पण की प्रार्थना के समर्थन में दी गई साक्षी से तथा इसके उत्तर में दी साक्षी से प्रकट होता है। कैस्टियोनी के मामले में 'राजनीतिक स्वरूप' के सम्बन्ध में दी गई परिभाषा बहुत व्यापक नहीं है। न्यायाधीश कैसल्ज के मत में इस परिभाषा में सदैव उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यह विचार करना चाहिए। वर्तमान समय १८९० के उस समय से भिन्न है, जब कैस्टियोनी के मामले का निर्णय किया गया था। उस समय किसी नागरिक के लिए अपना देश छोड़कर दूसरे देश में नया जीवन शुरू करना देशद्रोह नहीं था। उस समय युद्ध न होने पर देश एक-दूसरे के शत्रु नहीं समझे जाते थे। वर्तमान मामले में प्रार्थियों के पास केवल विद्रोह का एकमात्र मार्ग खुला हुआ था। उन्होंने एक राजनीतिक स्वरूप रखनेवाला अपराध किया है और यदि उन्हें पोलिश सरकार को सौंपा जायगा तो वे राजनीतिक अपराध के लिए दण्डित किये जायेंगे। अतएव न्यायालय ने १८७० के प्रत्यर्पण कानून के अनुभाग ३ (१) के अनुसार पोलिश नाविकों को पोलिश सरकार को सौंपने का निषेध किया।

एटेण्टेंट धारा (Attentant Clause)—कई बार कुछ राजनीतिक अपराधों का उद्देश्य राज्य अथवा शासन के अध्यक्ष को मारना होता है। ऐसे अपराधों के राजनीतिक होते हुए भी इनमें प्रत्यर्पण होता है। इसका बड़ा मनोरंजक इतिहास है।

१८६४ में फ्रांस के सम्राट् नैपोलियन तृतीय के वध के उद्देश्य से बेल्जियम में बसे दो फ्रेंच व्यक्तियों ने केले तथा लील के बीच की रेलवे लाइन पर बमविस्फोट किया। फ्रांस ने बेल्जियम से इनके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की। बेल्जियम के न्यायालय ने इस अपराध के राजनीतिक होने के कारण यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। बाद में बेल्जियम ने अपने १८६६ के प्रत्यर्पण कानून का संशोधन करते हुए उसमें Attentant Clause जोड़ी इसके अनुसार सरकार के अध्यक्ष का या उसके परिवार के किसी सदस्य का वध राजनीतिक अपराध नहीं समझा जाना चाहिए। कुछ समय बीतने पर यह व्यवस्था अन्य योरोपियन राज्यों ने भी अपने प्रत्यर्पण कानूनों में सम्मिलित की।

दोहरी अपराधिता (Double Criminality) **का नियम**—अधिकांश राज्य प्रत्यर्पण के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि अपराधी का कार्य प्रत्यर्पण करने तथा इसकी माँग करने वाले दोनों राज्यों में अपराध समझा जाता हो, इस प्रकार यह कार्य दोहरे रूप में अपराध होना चाहिए। यदि यह केवल एक ही राज्य में अपराध है तो प्रत्यर्पण नहीं किया जायगा। दिसम्बर, १९३२ में इलिनायस से भागे हुए अपराधी व्यापारी सेमुअल इन्सल को ग्रीक न्यायालय ने इस आधार पर अमरीका को नहीं सौंपा कि उस पर जो दोष लगाया गया है, वह यूनानी कानून में अपराध नहीं है। इस विषय का दूसरा प्रसिद्ध मामला **आइजलर** (Eisler) का है।

इसका पहले (पृ० ३१४) उल्लेख किया जा चुका है।

अपराध-भेद का सिद्धान्त (The Principle of Speciality)—इसके अनुसार प्रत्यर्पण की माँग करने वाला राज्य अपराधी को केवल उसी अपराध के लिए दण्डित कर सकता है, जिसके आधार पर उसका प्रत्यर्पण किया गया है। यदि प्रत्यर्पण की माँग वाले तथा उस पर मामला चलाये जाने वाले अपराध में भेद है तो न्यायालय इस दशा में उसे मुक्त कर देते हैं। **सं० रा० बनाम रौश्चर** (United States *v.* Rouscher 1886) के मामले में ऐसा ही हुआ था। रौश्चर एक नाविक था, इसे वध के अपराध के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने सं० रा० अमरीका को सौंपा। किन्तु यहाँ उस पर क्रूर तथा असाधारण दण्ड का अपराध लगाकर दण्डित किया गया। इस मामले की अपील होने पर सुप्रीम कोर्ट ने इसका दण्ड रद्द करते हुए इसे इस आधार पर मुक्त कर दिया कि इसे केवल प्रत्यर्पण वाले अपराध के लिए ही दण्डित किया जा सकता है। एक इटालियन न्यायालय ने In re Arrieto के मामले में यह निर्णय किया था कि अभियुक्त की सहमति से तथा प्रत्यर्पण संधि में इस प्रकार की व्यवस्था होने पर प्रत्यर्पण वाले अपराध से भिन्न अपराधों के लिए भी उस पर मुकद्दमा चलाया जा सकता है।

प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सावरकर के मामले का प्रथम परिशिष्ट में विस्तार से उल्लेख किया गया है।

प्रत्यर्पण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इसके लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—(क) राजनीतिक, सैनिक और धार्मिक अपराधों के लिए प्रत्यर्पण नहीं हो सकता है। (ख) प्रत्यर्पित (Extradited) व्यक्ति पर केवल उन्हीं अपराधों के लिये अभियोग चलाया जा सकता है, जिसके आधार पर उसके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की गई थी।

(ग) प्रत्यर्पण की माँग करने वाला राज्य केवल उसी अपराध के लिए अभियोग चला सकता है, जो दोनों देशों में अपराध समझा जाता हो।

अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण—आइकमान का मामला (Extradition by—Abduction—Eichmann Case)—यदि किसी अपराधी व्यक्ति को सामान्य रूप से दूसरी सरकार से प्राप्त किया जा सकता हो तो क्या ऐसी दशा में उसका बल तथा छल से अपहरण करना उचित है ? इस विषय में आइकमान का मामला बड़ा रोचक है। कार्ल एडोल्फ आइकमान को हिटलर ने १९३८ में 'यहूदी प्रवास विभाग' (Bureau of Jewish Emigration) का अध्यक्ष बनाकर उसे यहूदियों को जर्मनी से निकालने तथा इस समस्या के समाधान का कार्य सौंपा। १९३९ में चैकोस्लोवाकिया पर जर्मन अधिकार होने पर इसे वहाँ बसे ३५,००० यहूदियों को बाहर निकालने का कार्य संगठित करने भेजा गया। १९४१ में इसे सुरक्षा एवं यहूदियों के निष्कासन के दोनों विभाग सौंप दिये गए, इसे आइकमान विभाग (Dien stelle Eichmann) का नया नाम दिया गया, इस विभाग का कार्य जर्मनी में तथा जर्मन सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश में लाखों यहूदियों का निर्वासन तथा सफाया करना था। १९४३ में आइकमान ने यहूदियों को मरवाने के लिए विशेष दस्ते (Einsatzgruppen, Special Squads) बनाये। उस समय इन्हें गोली से उड़ाने तथा इनके शवों को गाड़ने की प्रक्रियायें बड़ी मन्द, खर्चीली और झंझट वाली प्रतीत हुईं, अतः आइकमान ने कम खर्च में बड़े पैमाने पर तथा बड़ी जल्दी यहूदियों का सामूहिक नरसंहार करने तथा इनके शवों को भस्म करने के लिए एक गैस Zyclon B का प्रयोग करने की आज्ञा दी। इसमें यहूदियों को बहुत बड़ी संख्या में कमरों में बन्द करके उसमें विषैली गैस भर दी जाती थी, इन गैसगृहों (Gas chambers) से उनका सामूहिक संहार हो जाता था और बिजली की भट्टियों से उनके शव जला दिये जाते थे। १९४४ में आइकमान ने स्वयं वैयक्तिक रूप से हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट से १ लाख ८० हजार से २ लाख तक हंगेरियन यहूदियों को आसविट्ज़ के बन्दीगृहों (Auschvitz concentration Camp) में निर्वासित कराया तथा गैसगृहों में इन्हें मरवाया। आइकमान का यह दावा था कि उसने हिटलर के 'यहूदी प्रश्न के अन्तिम समाधान' के लिए ५ लाख यहूदियों के वध का आयोजन कराया है।[६]

द्वितीय विश्वयुद्ध में ८ मई १९४५ को आइकमान अमरीकी फौजों द्वारा बन्दी बना लिया गया। उस समय इसने अपना नाम और वेष बदल लिया। कुछ समय बन्दी रहने के बाद यह अमरीकन कैम्प से भाग निकला और झूठे नाम से दक्षिण अमरीका के अर्जेण्टायना राज्य में चला गया और वहाँ एक कारखाने में काम करने लगा। किन्तु कुछ यहूदी अपनी जाति के विध्वंसक आइकमान का पता लगाने पर तुले हुए थे। वे पन्द्रह वर्ष तक इसकी खोज में लगे रहे। इस बीच में यहूदियों का राज्य इज़राइल भी बन गया था। ११ मई १९६० को 'यहूदी स्वयंसेवकों' ने इसे अर्जेण्टायना में पकड़ा, एक विमान

६. कीसिंग्स आर्काइव्ज, २५ जून—२१ जुलाई, १९६०, पृ० १७४८९। यहूदियों के रोमांचक नरसंहार के लिए देखिये कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६२, पृ० १८८२९

पर बिठाकर इज़राइल ले आये और उन्होंने यहां पहुँचकर इसे इज़राइल की सरकार को सौंप दिया।

आइकमान के इस प्रकार गुप्तरीति से अर्जेण्टायना में अपहरण पर वहाँ की सरकार का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक था। उसने इज़राइल के इस कार्य का प्रबल विरोध करते हुए ८ जून १९६० के पत्र में यह कहा है कि उसने एक मित्र देश की प्रभुसत्ता का उल्लंघन किया है, आइकमान ने यद्यपि लाखों यहूदियों का नरसंहार किया है, वह अर्जेण्टायना में झूठे नाम से रह रहा था, अतः उसे वहाँ शरण ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं था, फिर भी इज़राइल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करके दूसरे देश में अपनी प्रतिनिधि भेजकर अपहरण का ऐसा कार्य नहीं कर सकता। उसे आइकमान को वापिस लौटा देना चाहिए और इसके बाद उसके प्रत्यर्पण की माँग करनी चाहिए। यदि आइकमान को जातिवध (Genocide) के अपराध के आधार पर लौटाया जाय तो उस पर यह अभियोग या तो जर्मनी में चलाया जाना चाहिए, जहाँ ये अपराध किये गये थे अथवा सं० रा० संघ के जातिवध अभिसमय (Genocide Convention) के अनुसार यह मामला एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष लाया जाना चाहिए। यदि इज़राइल ने उसकी यह प्रार्थना नहीं मानी तो वह यह मामला सुरक्षा परिषद् में ले जायगा।

इसके उत्तर में इज़राइल की सरकार का यह कहना था कि यह कार्य स्वयंसेवकों ने किया है, आइकमान ने अपना समर्पण स्वेच्छापूर्वक अपनी मानसिक शान्ति पाने के लिए किया है, वह आइकमान पर अभियोग इज़राइल में ही चलाना चाहती है, उसे लौटाने के लिए तैयार नहीं है, किन्तु इस काण्ड में अर्जेण्टायना की सरकार की प्रभुसत्ता का जो उल्लंघन हुआ है, उसके लिए वह उससे क्षमा मांगती है।

आइकमान को न लौटाने पर अर्जेण्टायना ने सुरक्षा परिषद् में इस प्रश्न को उठाया। सुरक्षा परिषद् ने २२, २३, जून १९६० को इस प्रश्न पर विचार करके यह निर्णय दिया कि ऐसे कार्यों से राज्य की प्रभुसत्ता का उल्लंघन होता है, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न होता है तथा यदि ऐसे कार्य बार-बार किये जायं तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने की संभावना है, इज़राइल को यह चाहिए कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संघ के चार्टर के अनुसार इस मामले में अर्जेण्टायना को समुचित मुआवजा दे और परिषद् को यह आशा है कि दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहेंगे।

इज़राइल में आइकमान पर ११ अप्रैल १९६१ से मुकद्दमा चलाया गया तथा ३१ मई १९६२ को आइकमान को न्यायालय ने निर्णय के अनुसार प्राणदण्ड दे दिया गया।

आइकमान के मामले में यह प्रश्न उठाया गया था कि इज़राइल इस मामले को चलाने का अधिकार नहीं रखता था क्योंकि जिस समय ये अपराध किये गये थे, उस समय इज़राइल के राज्य का निर्माण ही नहीं हुआ था तथा ये अपराध इज़राइल राज्य की सीमा से बाहर किये गये थे। दूसरा प्रश्न यह था कि क्या इज़राइल द्वारा आइकमान का अर्जेण्टायना से इस तरह अपहरण करना न्यायोचित था। इस विषय में इज़राइल का यह कहना

था कि यदि सामान्य रूप से आइकमान के प्रत्यर्पण की माँग अर्जेण्टायना से की जाती तो वह अवश्य फरार हो जाता, अतः लाखों निरीह, निरपराध यहूदियों के हत्यारे को पकड़ने के लिए यदि अपहरण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियम की कुछ अवहेलना हुई है तो आइकमान के अपराध की गुरुता देखते हुए नैतिक दृष्टि से उसे इस प्रकार पकड़ने में कोई दोष नहीं प्रतीत होता।[7]

आर्टुकोविक का मामला (Artukovic Case)—इसी प्रकार का एक अन्य मामला यूगोस्लाविया के आन्द्रिज्य आर्टुकोविक का है। १९३४ में फ्रांस के बन्दरगाह मार्सेलीज में यूगोस्लाव राजा एलेक्जेण्डर की हत्या हुई, इसके षड्यन्त्र में सर्वप्रथम आर्टुकोविक का नाम लिया गया। १९४१ में जर्मन सेनाओं ने यूगोस्लाविया पर अधिकार कर लिया। उस समय क्रोट लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए एक पृथक् गणराज्य की स्थापना की। आर्टुकोविक क्रमशः इस राज्य में गृहमन्त्री, न्यायमन्त्री तथा राज्य परिषद् का अध्यक्ष बना। वर्तमान यूगोस्लाविया की सरकार का यह दावा है कि इसने अपने शासनकाल में हजारों निर्दोष यूगोस्लावियों का वध बड़ी क्रूरता से कराया।

१९४५ में जर्मनी की हार होने पर आर्टुकोविक ने स्वदेश से भागकर आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड और आयर्लैंड में शरण ली। १९४८ में वह सं० राज्य अमरीका में कैलिफोर्निया में रहने वाले अपने भाई के पास कुछ दिन रहने के लिए झूठे नाम से चला गया। अमरीका में अपने निवास के प्रथम वर्ष में ही उसने आप्रवास (Immigration) के अधिकारियों को अपना असली नाम बता दिया। १९४९–५० में उसने सं० रा० अमरीका में स्थायी रूप से निवास के लिए १९४८ के Displaced Persons Act के अनुसार प्रार्थना की। उसके प्रार्थनापत्र को अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि उसने अमरीका में प्रवेश झूठे नाम से किया था।

१९५१ में यूगोस्लाव सरकार ने उसके प्रत्यर्पण की मांग की। इस पर उसे बन्दी बना लिया गया। अब उसने बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के अन्तर्गत न्यायालय में अपनी मुक्ति के लिए आवेदनपत्र दिया। इस मामले में न्यायाधीश हाल का

---

७. इस मामले के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये—अमेरिकन जर्नल आफ इंटरनेशनल लॉ, १९६१, पृ० १२७–१३५ तथा पृ० ३०७–३५८।

अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण विषयक एक अन्य मामला कांगो (किनशासा) के भूतपूर्व प्रधानमंत्री शोम्बे का है। कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६७, पृ० : अफ्रीकन रिकार्डर, १९६७, पृ० १८७०५)। कांगो की वर्तमान सरकार इसे देशद्रोही, साम्राज्यवादियों का साथ देने वाला, कांगो के प्रथम प्रधानमंत्री लुमुम्बा की हत्या कराने वाला समझती थी। यह कांगो से भाग कर विदेश चला गया था, किन्तु इसकी अनुपस्थिति में भी कांगो के एक न्यायालय में इस पर मामला चला कर मार्च १९६७ में इसे प्राणदण्ड किया गया था। कांगो सरकार किसी प्रकार इसे दण्ड देने के लिये विदेश से स्वदेश लाने के लिए प्रयत्नशील थी। १ जुलाई १९६७ को जब शोम्बे एक ब्रिटिश विमान द्वारा रोम से स्पेन जा रहा था तो जहाज पर सवार कुछ व्यक्तियों ने चालक को इस विमान को जबर्दस्ती अल्जीरिया ले जाने के लिए बाधित किया। इस विमान के अल्जीरिया पहुँचते ही वहाँ की सरकार ने शोम्बे को बन्दी बना लिया तथा २ जुलाई १९६७ को कांगो की सरकार ने अल्जीरिया की सरकार से शोम्बे के प्रत्यर्पण की माँग की।

यह मत था कि १६०२ में सं० रा० अमरीका ने अपराधियों के प्रत्यर्पण की जो संधि सर्बिया राज्य से की थी वह यूगोस्लाविया का सर्वथा नया राज्य बन जाने के कारण उसके साथ की गई नहीं मानी जा सकती, अतः इस संधि के अनुसार उसका प्रत्यर्पण नहीं हो सकता। आर्टुकोविक का यह कहना था कि उसके विरुद्ध जो अपराध लगाये जा रहे हैं, उनका स्वरूप राजनीतिक है। अतः इनके आधार पर उसके प्रत्यर्पण की माँग नहीं की जा सकती। न्यायाधीश ने इस तर्क को स्वीकार करते हुए उसे मुक्त कर दिया।

भारतीय प्रत्यर्पण कानून १६६२ (Indian Extradition Act, 1962)—इस प्रसंग में १६ सितम्बर, १६६२ को राष्ट्रपति की स्वीकृति पाने वाले भारतीय प्रत्यर्पण कानून का उल्लंघन आवश्यक प्रतीत होता है। यह १८८१ के भगोड़े अपराधी अधिनियम (Fugitive Offenders' Act) १८७० तथा १६३२ के प्रत्यर्पण कानूनों (Extradition Acts) तथा १६०३ के भारतीय प्रत्यर्पण कानून का स्थान लेने तथा इनमें समयानुकूल संशोधन करने के लिए बनाया गया है। इस कानून में एक विदेशी राज्य में तथा राष्ट्र-मण्डल (Commonwealth) में भेद किया गया है। इसकी अनुसूची (Schedule) में गिनाये हुए राष्ट्रमण्डल के देश ये हैं—आस्ट्रेलिया, कनाडा, सीलोन, साइप्रस, मलाया, घाना, न्यूज़ीलैण्ड, नाइजीरिया, पाकिस्तान, सियरालिओन, सिंगापुर, टांगानिक्या और ग्रेट ब्रिटेन। यह कानून आयर्लैंड पर राष्ट्रमण्डल के देशों के समान लागू होगा।

इसके अनुभाग (Section) २ में इस कानून में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का लक्षण तथा आशय स्पष्ट किए गए हैं। प्रत्यर्पण के अपराध (Extradition offence) को ऐसा अपराध बताया गया है, जिसके सम्बन्ध में व्यवस्था विदेशी राज्य के साथ की गई प्रत्यर्पण सन्धि में दी गई हो। जिन राज्यों के साथ ऐसी सन्धि नहीं है, उनके सम्बन्ध में ये अपराध इस कानून की दूसरी अनुसूची में वर्णित किये गए अपराध होंगे। इस अनुसूची के अपराध ये हैं—

सदोष हत्या (Culpable murder), हत्या का प्रयत्न, गर्भपात (Miscarriage) कराना, बच्चे का परित्याग (Abandonment), भगाना (Kidnapping), अपहरण (Abduction), दासता (Slavery), जबर्दस्ती श्रम कराना, बलात्कार तथा अप्राकृतिक अपराध (Unnatural offence), अपकर्षण (Extortion), चोरी और डकैती (Robbery and Dacoity), गबन (Criminal misappropriation), सापराध न्यास भंग (Criminal breach of trust), ठगना, रिष्टि (Mischief), जालसाजी वाले दस्तावेजों का प्रयोग, मुद्रासम्बन्धी अपराध, जहाजों को समुद्र में डुबाना या नष्ट करना अथवा इसका प्रयत्न या षड्यन्त्र करना; इसी प्रकार विमानों का विध्वंस करना या इसका प्रयत्न अथवा षड्यन्त्र करना, महासमुद्रों में किसी जहाज पर या विमान पर इसे नष्ट करने के इरादे से आक्रमण करना, महासमुद्रों में जहाज के स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करना, सोने को, हीरों को तथा अन्य बहुमूल्य मणियों को तथा मादक पदार्थों को चोरी से लाना, स्त्रियों तथा लड़कियों का अनैतिक व्यापार या अन्य कोई ऐसा अपराध जो भारतीय दण्ड विधान के अनुसार अथवा भारत सरकार द्वारा प्रकाशित की गई विज्ञप्तियों के अनुसार दण्डनीय अपराध हो। भगोड़ा अपराधी (Fugitive Criminal)

वह व्यक्ति है जिस पर विदेशी राज्य की सीमा में उपर्युक्त प्रत्यर्पण अपराध करने व आरोप है या जिसे ऐसे अपराध के लिए दण्ड मिल चुका है और उसके भारत में भागक आने का संदेह है।

इस कानून के अनुभाग (Section) ३१ में राजनीतिक अपराधों (Politica Crimes) की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि ऐसे भगोड़े अपराधियों को पकड़कर किसी विदेशी राज्य को नहीं सौंपा जायगा, जिनका अपराध राजनीतिक हो या भगोड़ा व्यक्ति उसके मामले पर विचार करने वाले मजिस्ट्रेटों के अथवा केन्द्रीय सरकार के समक्ष सन्तोषजनक रीति से यह प्रमाणित कर सके कि उसके प्रत्यर्पण की मांग इसलिए की जा रही है कि उसे राजनीतिक स्वरूप रखने वाले किसी अपराध के लिए दण्डित किया जा सके। इस कानून के अनुभाग २२ के अनुसार भगोड़े अपराधी ने यह अपराध इस कानून के बनने से पहले किया हो तो भी उसे पकड़कर विदेशी राज्य को सौंपा जा सकता है। अनुभाग २३ में यह व्यवस्था है कि किसी राज्य की प्रभुसत्ता में न आने वाले महासमुद्रों में अथवा वायुमण्डलों में अपराध करने वाले व्यक्तियों को भी दूसरे राज्य को सौंपा जा सकता है। अनुभाग २६ में यह कहा गया है कि यदि केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत होता है कि प्रत्यर्पण की माँग बड़े क्षुद्र कारणों से तथा अच्छे इरादे से नहीं की जा रही, भगोड़े अपराधी को लौटाना अन्यायपूर्ण होगा तो यह अदालत में उसके विरुद्ध चल रही कार्यवाही को किसी भी समय रोक सकती है, इस व्यक्ति को बन्दी बनाने वाले वारण्ट को रद्द करके उसे मुक्त करने का अधिकार रखती है। अनुभाग ३० में यह कहा गया है कि यदि भगोड़े अपराधी के प्रत्यर्पण की मांग कई राज्य करें तो केन्द्रीय सरकार जिस राज्य को उचित समझे उसे भगोड़े का प्रत्यर्पण कर सकती है।

इस कानून के दूसरे तथा तीसरे अध्याय में भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण की मांग के सम्बन्ध में आवश्यक नियमों का निर्देश है। अध्याय ३ के अनुभाग ४ से ११ के अनुसार विदेशी राज्य के भगोड़े अपराधी के प्रत्यर्पण की प्रार्थना उस राज्य के दिल्ली स्थित राजदूत द्वारा या विदेशी सरकार द्वारा केन्द्रीय सरकार को की जानी चाहिए। इस प्रार्थना के आने पर केन्द्रीय सरकार इस मामले की जाँच करने के लिए एक न्यायाधीश को आदेश देगी। न्यायाधीश ऐसा आदेश पाने पर भगोड़े अपराधी को बन्दी बनाने के वारण्ट निकालेगा और यदि इस मामले की जाँच करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि उसके विरुद्ध प्रथम दृष्टि में (Prima facie) मामला सिद्ध हो गया है तो वह भगोड़े अपराधी को जेल भेज सकता है तथा इस विषय में अपनी जाँच की रिपोर्ट तथा अभियुक्त का वक्तव्य केन्द्रीय सरकार को भेज देगा। इस रिपोर्ट और वक्तव्य को प्राप्त करने के बाद यदि केन्द्रीय सरकार इसे विदेशी सरकार को सौंपना उचित समझेगी तो इस विषय में आवश्यक कार्यवाही करेगी।

तारासोव का मामला (Tarasove Case)—उपर्युक्त कानून बनने के बाद इस विषय का सबसे प्रसिद्ध मामला रूसी नाविक तारासोव का है। इसके प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं : २४ वर्षीय वी० एस० तारासोव (Vladislav Stepanovich Tarasov) एक रूसी तेलवाहक (Tanker) जहाज तेहेरनोव्सी (Tehernovci) पर नाविक

था। उस पर यह आरोप था कि उसने इस जहाज में, जब यह महासमुद्र (High Seas) में था तो ७००० रु० की चोरी की और जब यह पोत कलकत्ता के बन्दरगाह में आया तो २५ नवम्बर १९६२ को तारासोव उस जहाज से कूद पड़ा तथा उसने वहीं पास खड़े हुए सं० रा० अमरीका के जहाज Steel Surveyor पर शरण ग्रहण की। इस पर सोवियत दूतावास ने भारत सरकार से प्रार्थना की कि रूस तारासोव पर रूसी अदालत में उसकी चोरी के अपराध के लिए मुकद्दमा चलाना चाहता है, अतः तारासोव उसे सौंप दिया जाय। इस पर भारत सरकार ने यह आदेश दिया कि इस मामले में प्रत्यर्पण का निर्णय करने से पहले इस बात की न्यायिक जाँच (Judicial survey) हो कि सोवियत दूतावास द्वारा तारासोव के विरुद्ध लगाये गए चोरी के आरोप में प्रथम दृष्टि में (Prima facie) मामला बनता भी है या नहीं। इस मामले की जांच पहले कलकत्ता में तथा बाद में दिल्ली में सब डिविजनल मजिस्ट्रेट श्री एन० एल० कक्कड़ ने की। २९ मार्च १९६३ को इस मामले में यह निर्णय दिया गया कि तारासोव के विरुद्ध प्रथम दृष्टि में (Prima facie) मामला नहीं सिद्ध हो पाया, उस पर चोरी का अपराध मनगढ़न्त है।

इस मामले में वादी की ओर से कहा गया कि था कि तारासोव ने रूसी जहाज पर रुपया रखने वाले (Purser) तृतीय साथी (Third Mate) के कमरे से १७ नवम्बर को महासमुद्र में चोरी की। जहाज के कप्तान ब्राउन (M. A. Brown) ने इस मामले की जाँच की, किन्तु उसे २४ नवम्बर की शाम तक किसी व्यक्ति पर शक नहीं हुआ। २४ को जब उसे तारासोव पर शक हुआ तो वह ड्यूटी पर था, अतः वह उससे कुछ पूछ नहीं सका। तारासोव अगले दिन सवेरे रूसी जहाज से समुद्र में कूदा। सं० रा० अमरीका के स्टील सरवेयर जहाज पर चढ़कर उसने सं० रा० अमरीका से शरण मांगी। इस पर सोवियत उप-वाणिज्य दूत लोंद्रेव (Londrev) ने कलकत्ता के दक्षिणी बन्दरगाह के थाने में उसके जहाज से गायब होने की तथा उसे ढूंढकर सोवियत वाणिज्य दूतावास में लौटाने की रिपोर्ट दर्ज करायी। इस रिपोर्ट में चोरी का उल्लेख नहीं था। २८ नवम्बर को वह पकड़ा गया, प्रेज़ीडेन्सी मजिस्ट्रेट ने उसके अभियोग पर विचार किया और उसे दोषी सिद्ध करने के प्रमाणों के अभाव में उसे मुक्त कर दिया। इसी बीच सोवियत दूतावास ने उसके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की और वह ९ जनवरी की दिल्ली के उपर्युक्त मजिस्ट्रेट के वारण्ट पर पुनःगिरफ्तार कर लिया गया; ११ जनवरी १९६३ को दिल्ली लाकर उसके प्रत्यर्पण की जाँच (Extradition Enquiry) शुरू की गई।

इस विषय में तारासोव का कहना था कि वह सर्वथा निर्दोष है, उसने कोई चोरी नहीं की, वह अपने देश से इस आशा से भागना चाहता था कि उसे स्वतन्त्रता का जीवन बिताने का अवसर मिले, वह अत्याचार के भय से आशंकित न रहे, रूस में व्यक्ति कुछ नहीं है, वहाँ विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सोवियत सरकार उसके प्रत्यर्पण की माँग बदले की भावना से कर रही है, रूस में उस पर चोरी के लिए मुकद्दमा नहीं चलेगा, किन्तु यूक्रेनियन दण्ड-विधान की धारा ५६ के अनुसार मुकद्दमा चलेगा। इसमें स्वदेश लौटने से मना करने वाले भगोड़ों को १० से १५ [illegible]

गोली से मारने की व्यवस्था है, भले ही उन्होंने कोई अपराध न किया हो। जब कोई रूसी सोवियत शासन से असंतुष्ट होकर देश से बाहर जाता है तो इसे इसी प्रकार चोरी के अपराध में फँसाया जाता है, उसपर भी इसीलिए झूठमूठ मनगढ़न्त यह अपराध लगाया जा रहा है।

माननीय न्यायाधीश ने इस मामले में तारासोव के पक्ष में निर्णय देते हुए कहा कि चोरी के मामले में दो बातें विचारणीय हैं—(१) चोरी २५ नवम्बर को हुई या १७ नवम्बर को, (२) क्या २५ नवम्बर से पहले तैयार किये गये कागज वास्तविक हैं। उपस्थित की गई साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि कोई चोरी हुई है तो रात के १२ बजे से सवेरे ४ बजे तक २५ नवम्बर को हुई है, जब रूसी जहाज कलकत्ता के किंग जार्ज गोदी (Dock) में था। १७ नवम्बर को कोई चोरी नहीं हुई क्योंकि २५, २६ नवम्बर को दक्षिणी बन्दरगाह (South Port) के थाने में इस विषय में जो रिपोर्टें दर्ज करायी गई हैं, उनमें सोवियत दूतावास ने चोरी का कोई उल्लेख नहीं कराया। चोरी के विषय में फोटो आदि के जो प्रमाण २५ ता० से पहले तैयार किये बताये जाते हैं, वे भी पुलिस को नहीं दिखाये गये। जज की सम्मति में "सोवियत संघ कलकत्ता में इस मामले को चलाने के बारे में बहुत उत्सुक (serious) नहीं था, उसने केन्द्रीय सरकार से प्रत्यर्पण की कार्यवाही आरम्भ करने की प्रार्थना की थी।"

सोवियत दूतावास द्वारा उपस्थित की गयी साक्षियों की कड़ी आलोचना करते हुए न्यायाधीश ने कहा कि विदेशी राज्य ने ऐसी साक्षी नहीं पेश की जो यह प्रदर्शित करे कि चोरी हुई थी। वादी के १२ गवाहों में से केवल एक हीगवाह कप्तान ग्रौन पेश किया गया और उसकी साक्षी विश्वसनीय नहीं है। किसी व्यक्ति को दण्डित करने से पहले उसके विरुद्ध ऐसा प्रबल केस होना चाहिए, यदि ऐसा नहीं हो तो तारासोव को छोड़ दिया जाना चाहिए। अन्यथा इसकी रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को प्रत्यर्पण कानून के अनुभाग ७ (४) के अनुसार आवश्यक कानूनी कार्यवाही करने के लिए देनी चाहिए। ऐसे मामले में केन्द्रीय सरकार यह निर्णय करेगी कि उसका प्रत्यर्पण किया जाय या न किया जाय।[८]

प्रत्यर्पण कानून की व्याख्या करते हुए इस निर्णय में कहा गया था कि प्रत्येक देश इस बात का दावा करता है कि इसे अपने नागरिकों की तथा इसकी शरण में आये प्रत्येक विदेशी की रक्षा करने का सर्वोच्च अधिकार (Sovereign right) प्राप्त है "राज्य ऐसे किसी व्यक्ति को अन्य किसी राज्य को अर्पण करने से इन्कार कर देता है, जिसके बारे में प्रबल केस न हो कि उसने वास्तव में अपराध किया है।" प्रत्यर्पण के मामलों के प्रमाण सामान्य मामलों की अपेक्षा अधिक पुष्ट और प्रबल होने चाहियें। न्यायाधीश ने सोवियत संघ की इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया कि विदेशी राज्य द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणों को कानूनी साक्षी के लिए पर्याप्त समझना चाहिए और इसमें कोई संदेह नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त निर्णय में यह भी कहा गया था कि भारत और सोवियत

८. हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० मार्च, १९६३, पृ० १ तथा ७

संघ के मध्य कोई प्रत्यर्पण संधि (Extradition Treaty) न होने के कारण भगोड़ व्यक्ति को विदेशी राज्य को नहीं सौंपा जा सकता।

प्रत्यर्पण के विषय में स्वर्लियन (Svarlien) ने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि इस युग में यातायात के शीघ्रगामी साधनों के विकास के कारण एक अपराधी के लिए अपने अपराध के स्थल से बचकर भाग निकलना अधिक सरल हो गया है। अतः इस समय पहले की अपेक्षा यह अधिक आवश्यक हो गया है कि अपराधी को दण्ड देने तथा न्याय व्यवस्था के लिए सब देशों में पारस्परिक सहयोग हो। यह मानव समाज के संरक्षण के लिए नितान्त आवश्यक है ताकि इसके कानूनों का उल्लंघन करने वाले दण्ड से बच न सकें। किन्तु दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि समाज के क्रूर तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार से व्यक्ति की रक्षा की जाय।"[९] समाज के ऐसे क्रूरतापूर्ण शासन से व्यक्ति को मुक्ति प्रदान करने के लिये आश्रय के अधिकार की व्यवस्था की गई है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्यर्पण के कानून की विवेचना जुगल किशोर मोर के मामले में की है। इसका परिचय प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है।

आश्रय का अधिकार (Right of Asylum)—प्रत्यर्पण और आश्रय के अधिकार एक-दूसरे के विलोम होते हैं। स्टार्क के शब्दों में प्रत्यर्पण के आरम्भ के साथ आश्रय की समाप्ति हो जाती है। प्रायः राजनीतिक अपराधी दूसरे देशों में आश्रय या शरण ग्रहण करते हैं। जब किसी व्यक्ति को किन्हीं कारणों से अपने देश में प्राण संकट में पड़ने की आशंका होती है तो वह दूसरे देश में आश्रय ग्रहण करता है। मार्च १९५९ में जब दलाई लामा का तिब्बत में निवास करना सुरक्षित नहीं रहा तो उन्होंने ल्हासा से भागकर भारत में आश्रय ग्रहण किया।

स्टार्क (पृ० २७६) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में आश्रय के दो मुख्य तत्व बताये हैं—(१) स्थायी रूप से शरण देना। (२) आश्रय देने वाले राज्य के प्रदेश के अधिकारियों द्वारा पूरा संरक्षण। आश्रय दो प्रकार का होता है—**(क) प्रादेशिक आश्रय** (Territorial Asylum) किसी राज्य द्वारा अपने प्रदेश में किसी व्यक्ति को दिया गया आश्रय, जैसे दलाई लामा को भारत सरकार द्वारा भारत में दिया गया आश्रय।

९. स्वर्लियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ नेशन्स, १९५५, पृ० ४३३

यह श्री एवं श्रीमती धर्मतेजा के उदाहरण से स्पष्ट है। भारत सरकार जयन्ती शिपिंग कम्पनी के लाखों रुपये के गोलमाल और गड़बड़ घोटाले के लिए इन दोनों पर भारत में मामला चलाना चाहती थी, किन्तु ये भागकर सं० रा० अमेरिका चले गये। वाशिंगटन की सरकार से जब भारत सरकार ने इनका प्रत्यर्पण कराना चाहा तो तेजा दम्पती हवाई जहाज से यहाँ से भागकर दक्षिण अमेरिका के कोस्टारिका Costa Rica नामक राज्य में पहुँच गये और इसके राष्ट्रपति के पास उन्होंने शरण ली। कोस्टारिका के साथ भारत की कोई प्रत्यर्पण संधि नहीं है, अतः भारत उससे तेजादम्पति के प्रत्यर्पण की माँग नहीं कर सकता। सं० रा० अमेरिका की कोस्टारिका से प्रत्यर्पण संधि है, किन्तु वह तेजादम्पति की माँग इसलिये नहीं कर सकता कि सं० रा० अमेरिका में तेजा दम्पति का यही अपराध है कि वे जमानत (Bail) देकर भी वहाँ से भाग निकले हैं और यह अपराध प्रत्यर्पण के लिये पर्याप्त कारण नहीं है। कई वर्ष के [illegible]

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना द्वारा स्विट्जरलैण्ड तथा सं० रा० अमेरिका में शरण लेने की घटना इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है। वह दिसम्बर १९६६ में अपने दिवंगत पति (रूस की सरकार ने स्वेतलाना को इस विवाह की स्वीकृति नहीं दी थी) ब्रजेशसिंह के अवशेष लेकर अपने भारतीय पति के घर कालाकांकर (उत्तर प्रदेश) कुछ निश्चित अवधि के लिए आई थी। इस अवधि के समाप्त होने पर किन्हीं कारणों से उसने रूस जाना उचित नहीं समझा और नई दिल्ली में सं० रा० अमेरिका के दूतावास में शरण ग्रहण की और यहाँ के अधिकारियों की सहायता से वह अस्थायी शरण (Temporary asylum) लेने के लिए स्विट्जरलैण्ड पहुँची (११ मार्च १९६७)। यहाँ कुछ समय रहने के बाद वह २१ अप्रैल १९६७ को न्यूयार्क पहुँची और उसने यह कहा कि वह रूस लौटने के स्थान पर यहाँ इसलिए आई है कि "वह आत्माभिव्यक्ति की उस स्वतन्त्रता को चाहती है, जो उसे रूस में प्राप्त नहीं थी।" सं० रा० अमेरिका के सरकारी प्रवक्ता की ओर से कहा गया कि वह यह यहाँ तीन से छः महीने के अनुमति-पत्र (Visitor's Visa) पर आयी है और जब तक चाहे यहाँ रह सकती है।

(ख) प्रदेशबाह्य आश्रय (Extraterritorial Asylum)—यह किसी राज्य द्वारा अपने प्रदेश से बाहर विदेशों में स्थित अपने दूतावासों, युद्धपोतों, व्यापारिक जहाजों में किसी व्यक्ति को शरण देना है। दोनों प्रकार के आश्रयों में मौलिक अन्तर है। पहले प्रकार का आश्रय प्रादेशिक प्रभुता का परिणाम होता है और दूसरा इस प्रभुता को कम करने वाला होता है। प्रत्येक राज्य को पहले प्रकार का आश्रय देने का पूर्ण अधिकार है, बशर्ते कि उसने किसी संधि द्वारा इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार न कर लिया हो। दूसरे प्रकार का आश्रय केवल विशेष अवस्था में किसी व्यक्ति को उत्तेजित भीड़ के आक्रमण से बचाने आदि की असाधारण अवस्थाओं में मानवीय कारणों से दिया जाता है।

(क) प्रादेशिक आश्रय (Territorial Asylum) प्रदान करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। यह राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक मतभेदों के कारण अपने देश से भागने वाले व्यक्तियों को दिया जाता रहा है। इटली, फ्रांस, जर्मनी, सोवियत यूनियन के संविधानों में राजनीतिक कारणों से पीड़ित होने वाले व्यक्तियों को आश्रय देने के अधिकार की घोषणा की गयी है। किसी व्यक्ति को आश्रय लेने का कोई अधिकार नहीं है, आश्रयदाता देश किसी व्यक्ति को आश्रय देने या न देने के मामले में बिल्कुल स्वतन्त्र है। १९४८ के मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को अत्याचार से रक्षा पाने के लिए दूसरे देशों में शरण ग्रहण करने का अधिकार है।" किन्तु यह केवल कोरी घोषणा मात्र है। स्टार्क का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्ति का कोई ऐसा अधिकार नहीं स्वीकार करता। इस विषय की यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हुए आपेनहाइम ने स्पष्ट शब्दों में लिखा—"वर्तमान समय में तथाकथित आश्रय का अधिकार केवल इतना ही है कि प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह किसी पीड़ित विदेशी को अपनी भूमि में प्रवेश करने की तथा उसके प्रदेश में उसके संरक्षण में रहने और इस प्रकार आश्रय लेने की अनुमति दे। इस प्रकार

का विदेशी भगोड़ा अपने आश्रयदाता राज्य के आतिथ्य का उपभोग करता है, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से उसे निरीक्षण में रखना या किसी स्थान पर नजरबन्द करना भी आवश्यक हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों को ऐसा कोई कार्य न करने दे जिससे किसी दूसरे राज्य की सुरक्षा संकट में पड़े।"[१०] भारत ने दलाई लामा को यहाँ आश्रय देते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि वे यहाँ किसी प्रकार का चीन-विरोधी राजनीतिक प्रचार और संगठन नहीं करेंगे, इस दृष्टि से उन पर कड़ी देखरेख रखी गई कि वे ऐसा कोई कार्य न करें।

१९७१ में भारत ने पाकिस्तानी अत्याचारों से बचकर इस देश में आने वाले लगभग एक करोड़ शरणार्थियों को प्रादेशिक आश्रय दिया, इनके रहन-सहन, खानपान की व्यवस्था की। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इससे पहले सम्भवतः इतनी अधिक संख्या में शरणार्थियों का किसी देश में आना नहीं हुआ। बंगला देश के स्वतन्त्र हो जाने पर सभी शरणार्थी १९७२ के आरम्भ में स्वदेश वापिस लौट गये।

(ख) प्रवेशबाह्य आश्रय (Extraterritorial Asylum)—यह पाँच प्रकार का होता है—(१) दूतावास में ली जाने वाली शरण या आश्रय (Asylum in Legations), (२) वाणिज्य दूतावासों (Consulates) में लिया जाने वाला आश्रय, (३) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के भवनों में लिया जाने वाला आश्रय, (४) युद्धपोतों का आश्रय (Asylum in Warships), (५) व्यापारिक जहाजों का आश्रय। इसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण दूतवासों में लिया जानेवाला आश्रय है। इसे राजनयिक आश्रय (Diplomatic Asylum) भी कहते हैं। आगे इसी की चर्चा विशेष रूप से की जायगी।

क्षेत्रीय अधिकारविषयक नवीन दृष्टिकोण—वर्तमान शताब्दी में लाखों मनुष्यों को विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर जिस बड़े पैमाने पर दूसरे देशों में शरण ग्रहण करनी पड़ी है, ऐसे पैमाने पर आबादियों के परिवर्तन की घटनायें इतिहास में पहले कभी नहीं हुई हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी योरोप के देशों से हजारों जर्मन शरणार्थी पश्चिमी देशों में गये, १९४७ में भारत के विभाजन से लाखों आदमी पाकिस्तान से भारत तथा भारत से पाकिस्तान गये, पश्चिमी एशिया में इज़राइल राज्य की स्थापना से तथा अरब-इज़राइल संघर्ष से लाखों अरबों को बेघरबार होकर शरणार्थी बनना पड़ा, साम्यवादी चीन द्वारा तिब्बत पर अधिकार करने के बाद भगोड़े तिब्बतियों का जनप्रवाह नैपाल और भारत को बढ़ रहा है, क्यूबा में साम्यवादी शासन स्थापित होने के बाद यहाँ से भागकर व्यक्ति सं० राज्य में शरण लेने लगे हैं। अफ्रीका के देशों में राजनीतिक उथल-पुथल से जनसंख्याओं के परिवर्तन बहुत बड़ी मात्रा में हो रहे हैं। इन सब परिवर्तनों से लाखों आदमी बेघरबार और अनाश्रित हो गये हैं। अतः एल्फान रीस (Elfan Rees) ने इस शताब्दी को **बेघरबार मनुष्यों की शताब्दी** (Century of the Homless man) कहा है।[११] इस समय प्रादेशिक शरण ग्रहण

१०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ०, खण्ड १, पृ० ६७८
११. इण्डियन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८१

(Territorial asylum) की समस्या बड़ी विकट एवं जटिल हो गयी है और इसके सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण से चिन्तन आरम्भ हुआ है।

इसके परिणामस्वरूप अब इसके मानवीय पहलू पर अधिक बल दिया जाने लगा है। पहले क्षेत्रीय शरण देना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों का एक महत्वपूर्ण अधिकार माना जाता था, राज्य इसका प्रयोग करते हुए अपने प्रदेशों में दूसरे राज्यों के नागरिकों को शरण देते थे। किन्तु अब इसे अत्याचार और उत्पीड़न से बचने के लिए व्यक्तियों का बहुमूल्य अधिकार स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार करते हुए १ जनवरी १९५१ को 'शरणार्थियों के लिए संघ के उच्च आयुक्त' का पद (Office of U. N. High Commissioner for Refugees) स्थापित किया गया। इसे शरणार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण पहुँचाने का कार्य सौंपा गया। १९६० में सं० रा० संघ के मानवीय अधिकार आयोग (U. N. Human Rights Commission) द्वारा शरणविषयक घोषणा का एक प्रारूप (Draft Declaration on Asylum) तैयार करते हुए इसमें यह कहा गया है कि यह राज्य का अधिकार ही नहीं, अपितु कर्तव्य है कि वह अत्याचार से त्राण पाने वाले की इच्छा रखने वालों को अपने प्रदेश में आश्रय प्रदान करे। इस घोषणापत्र पर अपनी सहमति प्रकट करते हुए भारत, बेल्जियम, इंगलैण्ड, पेरु तथा चैकोस्लोवाकिया ने इसी प्रकार की सम्मति प्रकट की थी। किन्तु स्पेन, स्वीडन, हालैण्ड, यूगोस्लाविया ने इसे व्यक्ति का अधिकार मानने पर बल दिया है। १९४८ में हुए अमेरिकन राज्यों के नवम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने मनुष्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों के अमेरिकन घोषणापत्र में यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपराध करने की दशा में, अन्य देशों में उन देशों के कानूनों के अनुसार शरण ग्रहण करने का अधिकार है। १९६४ में हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ (International Law Association) के ५१ वें सम्मेलन में आश्रय के अधिकार पर पास किये गये एक प्रस्ताव में यह कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से व्यक्ति को दूसरे देश में शरण पाने का अधिकार है।

इस विषय में दूसरा विचार **अप्रत्यावर्त्तन के सिद्धान्त** (Principle of non-refoulement) का स्वीकार किया जाना है। इस सिद्धान्त का यह आशय है कि किसी व्यक्ति को उस देश में उसकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती वापिस भेजने या प्रत्यावर्तन की कार्यवाही न की जाय, जिस देश से वह भागकर आया है। वह जिस देश में शरण ग्रहण कर रहा है, यदि वह देश उसे उसके मूल देश (Country of origin) को लौटा देता है तो वह पुनः वहाँ वापिस जाने पर उन्हीं अत्याचारों और उत्पीड़नों का शिकार होगा, जिनसे बचने या परित्राण पाने के लिए उसने दूसरे देश में शरण ली थी। शरणार्थी को उसके मूल देश में लौटाने या प्रत्यावर्त्तन करने से शरण ग्रहण का मूल उद्देश्य और प्रमुख प्रयोजन सर्वथा विफल हो जाता है, अतः इस विषय में अप्रत्यावर्त्तन के सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिये। इसे १९५१ के शरणार्थी समझौते (Refugee Convention) की धारा ३१, ३२ तथा ३३ में मानवीय अधिकारों के आयोग द्वारा १९६० में प्रस्तुत किये गये शरण के अधिकार के

घोषणापत्र के प्रारूप की धारा ३ में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। कई देशों में वहाँ की सरकारों ने इस विषय में बड़ी स्पष्ट घोषणायें की हैं। ऐसे देशों में आस्ट्रिया, स्विट्ज़रलैण्ड और इंगलैण्ड के नाम उल्लेखनीय है।[12] ८ मार्च १९५७ को ब्रिटेन के उपगृहसचिव ने लोकसभा में यह घोषणा की थी—"यदि युक्तियुक्त रूप से इस बात की कल्पना की जा सकती है कि किसी विदेशी का अपने देश में प्रवेश रोकने का यह परिणाम होगा कि उसे ऐसे देश में लौटकर जाना पड़ेगा, जहाँ उसके प्राण संकट में पड़ जायेंगे, अथवा उस पर इस प्रकार का अत्याचार होगा कि वह जीवन बिताने योग्य नहीं रह सकेगा तो उसे सामान्य रूप से इस देश में प्रवेश की अनुमति दी जायेगी, बशर्ते कि उसे अवांछनीय व्यक्ति समझने के कोई ठोस कारण न हो।" इस प्रकार की सरकारी घोषणाओं से अप्रत्यावर्त्तन का सिद्धान्त कई देशों में स्वीकृत हो चुका है।

फिर भी इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने में कई कठिनाइयाँ हैं। किसी देश में शरणार्थियों के अबाध रीति से बड़ी संख्या में आने के कारण कई प्रकार की आर्थिक समस्यायें हो सकती हैं। इनके आधार पर कोई देश शरणार्थियों को अपने देश में आने से रोक सकता है। किन्तु इस समय सामान्य प्रवृत्ति व्यक्ति को संरक्षण की आवश्यकता होने पर मानवीयता के आधार पर उसे शरण देने की ओर अधिक पायी जाती है। राज्य आजकल यदि किसी व्यक्ति को शरण देने से इन्कार करते हैं तो उसकी अस्वीकृति अपनी प्रभुसत्ता के आधार पर नहीं, अपितु इस आधार पर होती है कि शरण माँगने वाले व्यक्ति किन्हीं कारणों से शरण पाने योग्य नहीं हैं। आजकल जब कोई देश किसी व्यक्ति को शरण देने से इन्कार करता है तो उसकी बड़ी आलोचना होती है और यह इस बात को सूचित करती है कि लोकमत सामान्यतः कष्टपीड़ित व्यक्तियों को शरण देने के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है। यह इंगलैण्ड में शरण माँगने वाले दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा: पहला उदाहरण एक स्पेनिश नाविक पेरेज़ सेलेस का मामला (Perez Selles Case) है। इसमें स्पेनिश नागरिक सेलेस को राजनीतिक कारणों के आधार पर अपने देश में सैनिक सेवा करने पर आपत्ति थी, इससे बचने के लिये वह इंगलैण्ड भाग आया। ब्रिटेन के गृहसचिव (Home Secretary) ने उसे स्पेन वापिस लौटाने का निश्चय किया क्योंकि उसकी सम्मति में उसे इंगलैण्ड में राजनीतिक शरण देना न्यायोचित नहीं था। इस पर इंगलैण्ड में प्रबल आन्दोलन हुआ, ६ मार्च १९५८ को लोकसभा में बहुत बहस हुई, इसके परिणामस्वरूप गृहसचिव को इस विषय में उसके देश-निष्कासन के आदेश (Deportation order) को वापिस लेना पड़ा, उसे यह सुविधा दी गई कि वह स्पेन के अतिरिक्त किसी अन्य देश में जा सकता है।[13] दूसरा उदाहरण नाइजीरिया के एनाहोरा (Enahoro) का था। यह १९६३ में उस समय की नाइजीरियन सरकार के विद्रोह करने वाले एक दल (Action Group of Nigeria) का उपसभापति था, यह स्वदेश से भागकर ब्रिटेन में आ गया था। नाइजीरिया की सरकार इस पर संघीय

१२. इण्डियन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० १८६-७

१३. पूर्वोक्त पत्रिका, पृ० १९४

सरकार को उलटने तथा राजद्रोह आदि कई अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाना चाहती थी। उसने भगोड़ा अपराधी कानून (Fugitive Offenders Act) के आधार पर ब्रिटिश सरकार से अपराधी को लौटाने की प्रार्थना की। गृहमन्त्री ने इसे नाइजीरिया को सौंपने का निश्चय किया, किन्तु जनता द्वारा इसका प्रबल विरोध किया गया। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस समय राज्यों में विदेशी नागरिकों को मानवीयता के आधार पर अपने प्रदेश में शरण देने की तथा सामान्य रूप से अपने शरणार्थी को पुराने देश को न लौटाने की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है।

राजनयिक आश्रय (Diplomatic Asylum)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राजदूतों के निवासस्थान उस राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्त माने जाते हैं, जिसमें वे स्थित होते हैं। उदाहरणार्थ, नई दिल्ली की चाणक्यपुरी के सं० रा० अमरीका के दूतावास—रूजवैल्ट भवन में भारतीय पुलिस अमरीकी राजदूत की अनुमति के बिना प्रवेश, तलाशी या किसी को पकड़ने का अधिकार नहीं रखती। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि यदि यहाँ कोई व्यक्ति आश्रय ले ले तो वह पुलिस की पकड़ से बाहर हो जाता है। किन्तु राजदूतों को अपने दूतावासों में विदेशियों को इस प्रकार शरण देने का अधिकार कहाँ तक है, यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ग्रोशियस के समय से इस विषय में विवाद चला आ रहा है। १७वीं, १८वीं शताब्दी में इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया।[१४] स्टार्क ने लिखा है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी दूत को यह सामान्य अधिकार नहीं प्रदान करता कि वह अपने दूतावास में किसी विदेशी को शरण दे सके।[१५]

अपवाद रूप में दूतावास में निम्नलिखित अवस्थाओं में शरण दी जा सकती है—(क) अस्थायी आश्रय (Temporary Asylum) उन व्यक्तियों को दिया जा सकता है, जिनके प्राण उत्तेजित भीड़ से या अव्यवस्था के कारण संकट में पड़े हुए हैं या स्थानीय राजनीतिक भ्रष्टाचार की उग्रता के कारण कोई व्यक्ति दूतावास में भागकर शरण लेने को विवश हो। इस अवस्था में आश्रय देना इसलिए न्यायोचित समझा जाता है कि इससे शरण लेने वाले के प्राणों की या शरीर की भौतिक क्षति से रक्षा अस्थायी रूप से हो जाती है। मानवीयता के आधार पर ऐसी शरण दी जानी चाहिये।

(ख) जहाँ ऐसा आश्रय देने का बाध्यकारी स्थानीय रिवाज (Binding local custom) हो वहाँ यह शरण दी जानी चाहिये।

(ग) जहाँ विशेष संधि द्वारा दूतावास वाले राज्य तथा प्रादेशिक राज्य में राजनीतिक अपराधियों को ऐसा आश्रय देने के अधिकार की व्यवस्था की गई हो, वहाँ यह शरण दी जा सकती है।

आजकल यह माना जाता है कि दूतावास किसी व्यक्ति को अस्थायी रूप से ही ऐसा आश्रय दे सकता है, यदि इस प्रकार शरण लेने वाले व्यक्ति की माँग स्थानीय पुलिस द्वारा की जाय तो उसे यह व्यक्ति सौंप दिया जाना चाहिये। इस विषय में सं०

१४. स्वार्जियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २४६

१५. स्टार्क—वही, पृ० २६६-६७

रा० अमरीका ने १ दिसम्बर १९३२ के अपने एक आदेश में यह घोषणा की थी "एक राजनयिक दूतमंडल के प्रयोजनों में यह सम्मिलित नहीं है कि वह आश्रय प्रदान करे। यह केवल कुछ ऐसे सीमित राज्यों में अनुमति देने वाली (Permissive) स्थानीय परिपाटी के रूप में प्रचलित है, जहाँ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में बार-बार अस्थिरता आती रहती है।···अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इस प्रकार के आश्रय देने का कोई सामान्य नियम नहीं है।"[16]

दूतावास में स्थायी रूप से शरण देने की परिपाटी केवल दक्षिण अमरीकी राज्यों में पायी जाती है। १९२८ में इस विषय में २१ अमरीकी राज्यों ने हवाना अभिसमय (Havana Convention) पर हस्ताक्षर किये थे। इस पर हस्ताक्षर करते हुए सं० रा० अमरीका ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह इस प्रकार के आश्रय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वीकार न करने का अपना अधिकार सुरक्षित रखता है। इस समझौते की कई शर्तों की नई व्याख्या २६ दिसम्बर १९३३ को माण्टीविडियो के नये समझौते में की गई। इसके अनुच्छेद १ में इसका स्पष्ट लक्षण करते हुए कहा गया है "राज्यों के लिये दूतावासों में ऐसे व्यक्तियों को शरण देना वैध नहीं होगा, जिन पर सामान्य अपराधों का आरोप किया गया हो, जिन पर सामान्य न्यायालयों में अभियोग चलाया गया हो, जो दण्डित किये जा चुके हों, जो स्थल एवं जल की सेनाओं की सेवा छोड़कर भाग गये हों।" दूतावासों में राजनीतिक शरण (Political Asylum) दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक मतभेदों के कारण यदि कोई व्यक्ति पीड़ित किया जाता है तो उसे दूतावास में शरण ग्रहण करने का अधिकार है। राजनीतिक अपराध का निर्णय करना शरण देने वाले राज्य का कार्य है। कुछ वर्ष पहले राणाओं की विरोधी पार्टी से परित्राण पाने के लिए नैपाल के राजा ने काटमांडू के भारतीय दूतावास में शरण ली थी। इस विषय में सबसे प्रसिद्ध मामला हया डी ला टार्रे (Haya de la Torre) का अथवा कोलम्बियन-पेरुवियन आश्रय का है।

कोलम्बियन-पेरुवियन आश्रय मामला (Colombian-Peruvian Asylum Case)—यह झगड़ा दक्षिण अमरीका के दो राज्यों—कोलम्बिया तथा पेरु में—एक राजनीतिक नेता के विषय में था। इसका नाम Victor Raul Haya de la Torre था, यह पेरु के वामपक्षी क्रांति दल Alianza Popular Revolutionaria Americana का नेता था, उस पर यह आरोप था कि उसने सैनिक विद्रोह को भड़काया है। उसने पेरु की सरकार के चंगुल से बचने के लिए पेरु की राजधानी लीमा में अवस्थित कोलम्बिया राज्य के दूतावास में शरण ग्रहण की (३ जनवरी १९४९)। इसके बाद कोलम्बिया ने पेरु से यह माँग की कि वह इसे पेरु से सुरक्षित रूप से बाहर यात्रा करने (Safe conduct) की अनुमति दे। इसके विपरीत पेरु ने अपराधी होने के कारण हया डी ला टार्रे को उसे वापिस लौटाने की माँग की। दोनों देशों के विवाद का हल न होने पर कोलम्बिया इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया (१५ अक्टूबर १९४९) और

१६. स्वर्नियन—वही, पृ० २५०

उसने न्यायालय से इस विषय में दो प्रश्नों पर उत्तर चाहा—(१) क्या १८ जुलाई १६११ के बोलिवियन समझौते तथा २० फरवरी १६२८ के हवाना अभिसमय के अनुसार कोलम्बिया शरण देने वाले अपराधों की व्याख्या करने का अधिकार रखता है ? (२) क्या पेरु इस प्रकार शरण दिये गए व्यक्ति को सुरक्षित रूप से यात्रा करने का (Safe conduct) अधिकार देने के लिये बाध्य है ?

२० नवम्बर १६५० को इस मामले में अपना पहला निर्णय देते हुये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि कोलम्बिया ने उसे केवल अपनी ओर से या एक पक्ष से (Unilaterally) राजनीतिक अपराधी माना है, पेरु ऐसा मानने के लिए बाध्य नहीं है, किन्तु पेरु यह भी सिद्ध नहीं कर सका कि यह भगोड़ा शरणार्थी राजनीतिक अपराधी से कुछ अधिक है। इसने कुछ अन्य अपराध किये हैं। राजनयिक आश्रय केवल अविलम्बनीयता (Urgency) की परिस्थितियों में दिया जाना चाहिये, इस मामले में ऐसा नहीं था, यह आश्रय सैनिक विद्रोह के तीन महीने बाद दिया गया। न्यायालय ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि क्या भगोड़ा शरणार्थी पेरु को वापिस कर दिया जाना चाहिये, क्योंकि दोनों पक्षों में से किसी ने इस प्रश्न को नहीं उठाया था।

कोलम्बिया ने दूसरी बार यह मामला न्यायालय के सम्मुख लाते हुए यह प्रार्थना की कि टार्रे को वापिस देने के विषय में न्यायालय अपना निर्णय दे। २७ नवंबर को न्यायालय ने यह प्रार्थना इस आधार पर अस्वीकार की कि दोनों पक्षों ने आरम्भ में यह मामला लाते समय इस मुद्दे (Point) को नहीं उठाया था, अतः न्यायालय इस पर विचार नहीं कर सकता। इसका दूसरा कारण यह भी था कि ऐसा मामला तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक दोनों दलों में निर्णय के सम्बन्ध में विवाद न हो।

इस समय पेरु कोलम्बिया से हया डी ला टार्रे को वापिस करने की माँग कर रहा था। किन्तु कोलम्बिया ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि न्यायालय का निर्णय ऐसा नहीं है, जिससे वह शरणार्थी को पेरु को सौंपने को बाध्य हो। इस पर १३ दिसंबर को यह मामला तीसरी बार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में लाया गया और पूछा गया कि हया डी ला टार्रे अभी तक पेरु की राजधानी लीमा के कोलम्बियन दूतावास में छिपा हुआ है, अब उसके सम्बन्ध में क्या कार्यवाही की जाय।

१३ जून १६५१ को अं० न्यायालय ने इस विषय में अपना तीसरा निर्णय दिया तथा एक के विरुद्ध १३ के मतों से कोलम्बिया का यह दावा स्वीकार किया कि आश्रय देने वाला राज्य अपने शरणार्थी को स्थानीय अधिकारियों को सौंपने को बाध्य नहीं है। किन्तु १६२८ के हवाना अभिसमय के अनुसार राजनीतिक अपराधियों को राजनयिक आश्रय अस्थायी रूप से ही दिया जा सकता है, इस बीच में उसे अपनी सुरक्षा के कुछ अन्य प्रबन्ध कर लेने चाहियें। यह अभिसमय ऐसे आश्रय के समाप्त करने के एक ही उपाय का प्रतिपादन करता है और वह यह है कि सुरक्षित यात्रा का अभय वचन (Safe conduct) प्राप्त करके शरणार्थी उस देश से बाहर चला जाय। किन्तु न्यायालय ने अपने पहले निर्णय में कहा था कि प्रादेशिक राज्य (Territorial State) से सुरक्षित

यात्रा का ऐसा अभय वचन तभी माँगा जा सकता है, जब यह आश्रय "नियमित रूप से दिया एवं लिया गया हो और यदि प्रादेशिक राज्य यह चाहे कि शरणार्थी को देश से बाहर भेज दिया जाय। इस मामले में शरण अनियमित रूप से दे दी गई है, तथा प्रादेशिक राज्य ने शरणार्थी को बाहर भेजने की माँग नहीं की, अतः न्यायालय की सम्मति में उपर्युक्त अभिसमय इस विषय में मौन है कि अब क्या किया जाना चाहिए। इस विषय में अभिसमय की चुप्पी यह सूचित करती है कि ऐसे मामलों में उपर्युक्त निर्णय राजनीतिक सुविधा को देखते हुए किये जाने चाहिएं।" यद्यपि न्यायालय की सम्मति थी कि यह शरण अवैध रूप से दी गई है, इसको फौरन समाप्त कर देना चाहिये। फिर भी इसके साथ उसका यह मत था कि आश्रय देने वाला कोलम्बिया का राज्य राजनीतिक अपराधी को समर्पण करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। इन परस्पर-विरोधी स्थितियों से बचने के लिए न्यायालय के निर्णय में यह कहा गया कि आश्रय को समाप्त करने का उपाय केवल समर्पण ही नहीं है' और अन्त में यह आशा प्रकट की गई थी कि कानूनी स्थिति स्पष्ट हो जाने के बाद दोनों देश सौजन्य एवं उत्तम पड़ोसी की नीति से इस समस्या का समाधान कर लेंगे।

दूतावास आश्रय (Legation Asylum) के इस सुप्रसिद्ध मामले का अन्तिम समाधान करने के लिये १९५३ में दक्षिण अमरीकी राज्यों ने शरणग्रहण कानून की नई व्याख्या स्वीकार की, अन्तर-अमरीकी न्यायिक समिति (Inter-American Judicial Committee) ने ब्यूनोस एयर्स में इस विषय में एक नया अभिसमय (Convention) स्वीकार किया, किन्तु पेरु ने इसके विरुद्ध वोट दिया। अन्त में कोलम्बिया तथा पेरु में इस विषय में एक समझौता हुआ और अप्रैल १९५४ में पाँच वर्ष तक लीमा के कोलम्बियन दूतावास में स्वेच्छापूर्वक बन्दी बने रहने वाले हया डी ला टार्रे को मेक्सिको नगर तक सुरक्षित यात्रा करने (safe conduct) का अभय वचन दिया गया, इस प्रकार इस मामले का पटाक्षेप हुआ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यक्ति

(International Law and the Individual)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति की स्थिति—तीन पक्ष (Three Views)—यह बड़ा जटिल प्रश्न है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्ति का क्या स्थान है। इस विषय में तीन प्रधान पक्ष हैं : सबसे पुराना और परम्परागत (Traditional) पक्ष यह है कि व्यक्ति का इसमें कोई स्थान या महत्व नहीं है, दूसरा अतिवादी पक्ष इसके सर्वथा प्रतिकूल यह मानता है कि व्यक्ति को ही इस कानून में यह गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त है। तीसरा पक्ष दोनों की यह स्थिति मानता है। कानूनी परिभाषा में यह विषय (Subject) और पात्र (Object) का झगड़ा है। सामान्य विधिशास्त्र (General Jurisprudence) में विषय वे व्यक्ति कहलाते हैं, जिन्हें कानून अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान करता है तथा पात्र (Object) वे वस्तुयें होती हैं, जिनके सम्बन्ध में ये अधिकार दिये जाते हैं और कर्त्तव्यों को पूरा करने की जिम्मेवारी दी जाती है। कानूनी शब्दों में उपर्युक्त विवाद इस प्रश्न पर है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय और पात्र क्या हैं? प्राचीन परम्परागत पक्ष यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) केवल राज्य हैं, व्यक्ति इसका विषय कभी नहीं हो सकते। व्यक्ति राष्ट्रीय कानून का विषय होते हैं, क्योंकि इसमें उन्हें कुछ अधिकार और कर्त्तव्य मिलते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ये अधिकार और कर्त्तव्य राज्यों को प्राप्त होते हैं, अतः वही इसका विषय समझे जाने चाहियें। दूसरा पक्ष यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों को ही कुछ अधिकार प्रदान करता है, अतः वही इसका विषय माना जा सकता है। तीसरा पक्ष राज्य और व्यक्ति दोनों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझता है। पहले पक्ष के मुख्य समर्थक सर फ्रेडरिक स्मिथ और ग्रापेनहाइम हैं और दूसरे पक्ष के पोषक हेन्स केलसन, स्टोवैल, हैफ्टर तथा ब्राउन आदि विधिवेत्ता हैं। तीसरा पक्ष फेनविक, श्वार्त्सेजनबर्जर प्रभृति विधिशास्त्रियों ने रखा है। यहाँ क्रमशः इन तीनों का संक्षिप्त प्रतिपादन होगा।

पहला पक्ष—परम्परागत दृष्टिकोण (1. Traditional View)—इसके अनुसार केवल राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बन सकते हैं। सर फ्रेडरिक स्मिथ ने लिखा है—"राष्ट्रों के कानून में राज्य और केवल राज्य न्यायालयों में उपस्थित होने तथा अपनी बात सुना सकने का अधिकार (Locus standi) रखते हैं, अतः केवल वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International personality) को धारण करते हैं।"

आपेनहाइम[1] के मतानुसार क्योंकि राष्ट्रों का कानून मुख्य रूप से राज्यों के बीच का कानून है, अतः सामान्यतः केवल राज्य राष्ट्रों के कानून का विषय होते हैं तथा व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चरम पात्र (Ultimate objects) होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इस पक्ष की पुष्टि में अनेक बातें कही जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और नियमों का निर्माण राज्य करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में वादी-प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही उपस्थित हो सकते हैं। सं० रा० संघ की सदस्यता केवल राज्यों को प्राप्त है। दूसरे देशों में नागरिकों के हितों की रक्षा भी राज्य इन देशों में भेजे गये अपने दूतों तथा राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा करते हैं। राज्य ही अन्य देशों से सन्धियाँ करके नये अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाते हैं। विदेश में न्याय न प्राप्त होने की दशा में कोई व्यक्ति इसे पाने के लिये अपने राज्य की शरण में जाता है। युद्ध के कानून के अनुसार जब एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है तो इससे दूसरे राज्य के सब निवासी पहले राज्य के शत्रु समझे जाते हैं, भले ही वैयक्तिक रूप से वे इस युद्ध के समर्थक न हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विदेशों में राजाओं, शासनाध्यक्षों तथा राजनयिक प्रतिनिधियों को कुछ विशेषाधिकार प्रदान करता है (देखिए ऊपर, पृ० २७७) किन्तु व्यक्तियों को ये अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर बनाये गये राष्ट्रीय कानून के नियमों से प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों की पृष्ठभूमि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अवश्य होता है, किन्तु इनका निर्माण राष्ट्रीय कानूनों से ही होता है। **सर्बियन ऋण** (Serbian Loans) के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि वह केवल राज्यों के विवाद सुन सकता है। ऐसा कोई मामला इस न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जा सकता, जिसमें एक ओर राज्य तथा दूसरी ओर किसी अन्य राज्य के प्रजाजन हों। इन सब तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) केवल राज्य है।

दूसरा पक्ष—अतिवादी दृष्टिकोण (2. Extreme View)—इसका यह मत है कि राज्य मस्तिष्क की कोरी कल्पना मात्र है, व्यक्तियों से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है, राज्य मनुष्य के लिये है, न कि मनुष्य राज्य के लिये। सं० रा० अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा में कहा गया था कि सरकारों का निर्माण शासित जनता की सहमति से होता है, अतः राज्य जनता के आदेश के अनुसार उनका कार्य करने वाले हैं, राज्यों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, उनके कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून से प्राप्त होने वाले अधिकार राज्य के नहीं, किन्तु व्यक्तियों के होते हैं। इसी दृष्टि से **वैस्टलेक** (Westlake) ने लिखा है—"राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य उनका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं।" **स्टोवैल** (Stowell) के मतानुसार "एक व्यक्ति दो प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है—मानवीय प्राणी होने के नाते तथा अपने राज्य का अंग होने की दृष्टि से।" **हैफटर** के कथनानुसार मानवीय प्राणियों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान मौलिक

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० १, अष्टम संस्करण पृ०, ६३६

अधिकार उन्हें "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निकटतम (Immediate) विषय बनाते हैं।" ब्राउन का यह कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समर्थकों की सबसे भयंकर भूल यह है कि वे तोतारटन्त की भाँति बराबर यह कहते हैं कि यह कानून केवल पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न राज्यों के बीच में ही लागू होता है। प्रसिद्ध विधिशास्त्री लौटरपैक्ट (Louterpacht) ने ओपेनहाइम की पुस्तक का संशोधन करते हुये यह लिखा है—राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने का सही अर्थ यह है कि (क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण केवल राज्यों द्वारा हो सकता है। (ख) प्रधान रूप से इसका सम्बन्ध राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्यों से है, व्यक्तियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों से नहीं। (ग) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के समक्ष राज्य ही उपस्थित हो सकते हैं। इस सिद्धान्त में इससे अधिक कोई बात नहीं है। जब हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के आचरण को नियन्त्रित करता है तो हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि इस प्रकार नियन्त्रित किया जाने वाला आचरण राज्यों के अंगरूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों का आचरण है। हेन्स केलसन ने इस पक्ष को पुष्ट करते हुये कहा है—"अन्य सब कानूनों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी मानवीय आचरण के नियन्त्रण के लिये है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त (Norms) व्यक्तियों पर ही लागू होते हैं।"

तीसरा मध्यवर्ती पक्ष (3. Intermediate View)—वर्तमान समय में विधिशास्त्रियों का झुकाव उपयुक्त दोनों पक्षों के मध्य में वर्तमान तीसरे पक्ष को सही मानने का है। इसके अनुसार राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु व्यक्तियों को भी इसका विषय माना जाना चाहिये। फेनविक के शब्दों में व्यक्तियों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य न होते हुए भी, इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जा सकता है। इस कानून की अनेक शाखाओं का राज्य के साथ नहीं, किन्तु व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—अधिवास (Domicile) देश में विदेशियों के अधिकार और कर्त्तव्य, राष्ट्रीय बन्दरगाहों में विदेशी जहाजों के विशेषाधिकार (देखिये ऊपर, पृ० २८१), महासमुद्रों में नौचालन (पृ० २८३-४)। इन विषयों के कानून यद्यपि राज्यों के मध्य बनाये जाते हैं, किन्तु अपने व्यावहारिक प्रयोग में ये वैयक्तिक अधिकार ही समझे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पंच न्याय-अधिकरणों (Arbitration Tribunals) में कई बार व्यक्ति भी वादी-प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होते हैं। अधिग्रहण या नौलुंठन न्यायालयों (Prize Courts) में एक पुरानी प्रथा के अनुसार जहाजों के वैयक्तिक स्वामी अपने अधिकारों की रक्षा के लिये उपस्थित होते हैं। न्यूरेम्बर्ग में जर्मन युद्धापराधियों पर चलाये गये अभियोगों से यह प्रमाणित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भंग के कार्यों के लिये व्यक्तियों को सीधे रूप में उत्तरदायी बनाया जा सकता है। वर्तमान समय में यह अनुभव किया जाने लगा है कि व्यक्ति का कल्याण—भले ही वह किसी देश का हो—बहुत अधिक महत्व रखता है, उसकी दशा सुधारने या उन्नत करने से केवल उसके देश का नहीं, किन्तु समस्त मानव जाति का हित उन्नत होता है। लौटरपैक्ट के शब्दों में समष्टि का कल्याण इसका निर्माण करने वाली व्यष्टियों के कल्याण से निर्धारित होता है। इससे यह स्पष्ट है कि

राज्य की सामूहिक सत्ता इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों से ऊँचे दर्जे की नहीं है। आजकल राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए व्यक्तियों के हितों की परस्पर-निर्भरता (Interdependence) इतनी अधिक बढ़ गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय अनन्य रूप से (Exclusively) राज्य को नहीं माना जा सकता, व्यक्तियों को भी इसका विषय मानना पड़ता है।[२]

वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति भी इस धारणा को पुष्ट करती है। इस समय मानव के मौलिक अधिकारों पर बहुत बल दिया जा रहा है, ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को—भले ही वह किसी राज्य का सदस्य हो या न हो—अवश्य प्राप्त होने चाहियें। १९४१ में राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने कांग्रेस को दिये अपने सन्देश में **'चार स्वतन्त्रताओं'** की घोषणा की थी। सं० रा० संघ के चार्टर में मौलिक मानवीय अधिकारों की सुरक्षा का बारम्बार उल्लेख हुआ है, उसकी आर्थिक सामाजिक परिषद् इन अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष रूप से बनाई गई है। १० दिसम्बर १९४८ को सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने **मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा** स्वीकार की है, १९५० में कुछ योरोपियन राज्यों ने इसके सम्बन्ध में एक समझौता करके इसे कानूनी मान्यता प्रदान की है। ११ दिसम्बर १९४६ को सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने सर्वसम्मति से जातिवध (Genocide) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अपराध घोषित किया है। इस सम्बन्ध में हुए समझौतों का आगे उल्लेख किया जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा समझौतों द्वारा व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के ये सब प्रयत्न इस बात को भलीभाँति प्रदर्शित करते हैं कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हो सकता है।

अतः इस विषय में फेनविक का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है—"उपर्युक्त तथ्यों की उपस्थिति में यह कहना सर्वथा अवास्तविक होगा कि व्यक्ति कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के, विशेष रूप से वास्तविक कानून (Substantive law) के नियमों का विषय नहीं है। प्रक्रियात्मक कानून (Procedural law) में अपने अधिकारों के लागू करने के लिए व्यक्ति को राज्य का सहारा लेना पड़ता है, इसमें भी प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनाई गई अल्पसंख्यकों के संरक्षण की संधियों का उदाहरण है। इनसे व्यक्यों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का आधार अन्तर्राष्ट्रीय शासनयन्त्र बनाया गया था।"[३] थामस ने यह बताया कि शनैः-शनैः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र विशाल होने से राज्यों का क्षेत्र संकुचित हुआ है और इसने व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण का विस्तार करते हुए उसे अपने कानून का विषय बनाया है। इसके कुछ उदाहरण दासप्रथा निषेध, राज्यहीन व्यक्तियों और शरणार्थियों के संरक्षण के समझौते, अल्पसंख्यकों के प्रति धार्मिक और राजनीतिक सहिष्णुता के व्यवहार पर बल देने वाली सन्धियाँ, युद्ध करने के नियमों का निर्माण

२. लौटरपैक्ट—इण्टरनेशनल ला एण्ड ह्यूमन राइट्स, पृ० ६०
३. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, तृतीय संस्करण, पृ० १३४-५।

है।[४] ये सब व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होने के प्रबल प्रमाण हैं।

अब यहाँ व्यक्ति की स्थिति पर प्रभाव डालने वाली कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों का उल्लेख किया जायगा।

व्यक्ति की स्थिति को प्रभावित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें (International provisions affecting the position of Individual)—**सन्धियाँ** (Treaty stipulations)—कई बार विभिन्न देशों में कुछ सन्धियाँ व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए की जाती हैं। १८७८ की बर्लिन की सन्धि द्वारा टर्की रूमानिया, सर्बिया, मोन्टीनीग्रो तथा बल्गारिया पर यह बाध्यता डाली गई थी कि वे अपने प्रजाजनों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करें। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पोलैण्ड चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, ग्रीस, आस्ट्रिया, बल्गारिया, यूगोस्लाविया और टर्की के साथ की गई सन्धियों में इन राज्यों में जातीय, आर्थिक और भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्या रखने वाले समुदायों के साथ समान व्यवहार तथा इनके हितों के संरक्षण की गारण्टी दी गई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर इटली, रूमानिया तथा धुरी देशों के अन्य सहायक राज्यों के साथ की गई पेरिस की सन्धियों में मानवीय अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों ने व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्रदान किये हैं। १९२८ में Jurisdiction of the Court of Danzig के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया था—ऐसी सन्धियाँ करने वाले पक्षों के इरादे के आधार पर व्यक्तियों को अधिकार और कर्त्तव्य प्रदान करने वाले कुछ नियम बनते हैं और इन देशों के राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा इनका पालन करवाया जा सकता है।

न्यूरेम्बर्ग के अभियोग (Nuremberg Trials, November 29, 1945–Sep. 30, 1946)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद धुरी राष्ट्रों के प्रमुख नाज़ी नेताओं, सेनापतियों तथा अधिकारियों पर शांति और मानवता के विरुद्ध तथा युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को तोड़ने वाले युद्धापराधों (War crimes) के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय में मामले चलाये गये। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा इनके सम्बन्ध में तय किये गये वैयक्तिक जिम्मेवारी के सिद्धान्तों का पहले उल्लेख हो चुका है (देखिये, पृ० १२३)। इन मामलों में अभियुक्तों ने अपनी सफाई देते हुए यह कहा था कि (क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्यों से होता है, इसमें व्यक्तियों के लिए कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं है। (ख) राज्यों के कार्यों के लिए वैयक्तिक रूप से किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों तर्कों को अस्वीकार करते हुए कहा कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों एवं राज्यों को कर्त्तव्य और दायित्व प्रदान करता है।" १९४२ में Exparte Qurin के मामले में सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री स्टोन ने कहा था—"व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भंग के लिए दण्ड दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

४. थामस—दी सेमेण्टिक्स आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २७

विरुद्ध अपराध व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं, न कि अमूर्त सत्ताओं (Abstract entities) द्वारा। इस प्रकार अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओं को लागू किया जा सकता है।"

टोकियो में ४ जून १९४६ से १४ नवम्बर १९४८ तक जापान के युद्धापराधियों पर एक विशेष रूप से बनाये गये न्यायालय में अभियोग चलाये गये। विजेता देशों के ग्यारह न्यायाधीशों में इसके एक जज भारत के श्री राधा विनोदपाल भी थे। जजों ने युद्ध के नियम और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों एवं संधियों का उल्लंघन करने के अपराध में २८ जापानियों को युद्धपराधों के लिये जिम्मेवार ठहराते हुए दण्डित किया।

जातिवध समझौता (Genocide Convention)—१९४८ में सं० रा० संघ द्वारा स्वीकार किये गये इस समझौते में जातिवध का कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिये दण्ड विधान की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि कार्य करने वाले चाहे उत्तरदायी शासक हों, सार्वजनिक अधिकारी हों या निजी व्यक्ति हों, इन्हें दण्ड अवश्य दिया जायगा। यह दण्ड राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के न्यायालयों द्वारा दिया जा सकता है। इसे प्रत्यर्पण की दृष्टि से राजनीतिक अपराध नहीं समझा जायगा। इसमें ऐसे अपराधों के लिये व्यक्ति की सीधी जिम्मेदारी स्वीकार की गई है।

मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)—१० दिसम्बर १९४८ को सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार की गई इस घोषणा में पहली बार सभी मानवीय अधिकारों का ३० अनुच्छेदों में सुस्पष्ट, प्रामाणिक और सारगर्भित विवेचन किया गया है। इसकी भूमिका में मानव की प्रतिष्ठा और मूल्य पर महत्व देते हुए सर्वप्रथम उसमें जीवन, स्वतन्त्रता तथा कानूनी समानता के अधिकारों का समर्थन है (३—१५ अनुच्छेद)। इसके बाद दासप्रथा, क्रूर यातना देने, घर तथा परिवार के जीवन में अनुचित हस्तक्षेप डालने वाले कार्यों को निषिद्ध ठहराते हुए मानवीयता के अधिकारों पर बल है। प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता पाने, स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह करने और सम्पत्ति रखने की स्वतन्त्रता दी गई है। अनुच्छेद १८-१९ में धार्मिक पूजापाठ की तथा अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का वर्णन है। शान्तिपूर्ण रीति से एकत्र होने और समुदाय बनाने का तथा सरकारी सेवा प्राप्त करने का सबको अधिकार है (अनु० २०-२१)। २२ से २६ तक के अनुच्छेदों में व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों का वर्णन है। इनमें प्रमुख ये हैं—काम पाने का अधिकार, स्वतन्त्रतापूर्वक अपना पेशा व व्यवसाय चुनने का अधिकार, समान कार्य के लिए समान वेतन पाने का तथा विश्राम और छुट्टी का अधिकार, बेकारी, बीमारी वैधव्य, बुढ़ापे तथा जीविका कमाने की तथा असमर्थता की अन्य दशाओं में संरक्षण। अपनी तथा अपने परिवार की उपयुक्त चिकित्सा का अधिकार, मानवीय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान उत्पन्न करने वाली प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क पाने का अधिकार।

इस घोषणा की सबसे बड़ी आलोचना यह की जाती है कि इसमें इसे क्रियान्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं है और न ही इसे लागू करने की बाध्यता राज्यों पर

डाली गई है। सं० रा० अमरीका के प्रतिनिधि के अनुसार यह घोषणा कानूनी दस्तावेज नहीं है और इसको कानून की तरह लागू नहीं किया जा सकता। लौटरपैक्ट के मतानुसार इसे प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नहीं माना जा सकता।

किन्तु इसकी उपर्युक्त आलोचना ठीक नहीं है। इसके निर्माता इसे कानूनी रूप देने का कार्य तीन चरणों (Stages) में पूरा करना चाहते हैं—(१) मानवीय अधिकारों के स्वरूप की घोषणा, (२) विभिन्न राज्यों द्वारा इनके सम्मान और पालन के लिये किये गये समझौते, (३) इसको क्रियान्वित करने के उपयुक्त उपाय और साधन। अभी तक इस घोषणा द्वारा इस महत्वपूर्ण कार्य का पहला चरण ही सम्पन्न हुआ है, इसका उद्देश्य केवल मात्र मानव के सामान्य रूप से सर्वसम्मत अधिकारों की सूची तैयार करना था और इसमें यह सफल हुआ है। इसकी पूर्ण सफलता तभी हो सकती है, जब राज्य इसके पालन का दायित्व और कर्तव्य अपने ऊपर ले लें तथा अपने न्यायालयों द्वारा इसको क्रियान्वित करने में सहयोग प्रदान करें। इस दिशा में १६५० का निम्नलिखित योरोपियन समझौता महत्वपूर्ण है।

मानवीय अधिकारों की रक्षा का योरोपियन अभिसमय (European Convention for the Protection of Human Rights, 1950)—१६४८ के मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र को कानूनी वैधता प्रदान करने के लिए योरोप की परिषद् (Council of Europe) के सदस्य-राज्यों ने रोम में ४ नवम्बर १६५० को प्रादेशिक आधार पर मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के एक योरोपियन समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसमें उपर्युक्त मानवीय अधिकारों में दो नई वैकल्पिक व्यवस्थायें जोड़ी गई हैं :—

(१) व्यक्ति को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को आवेदनपत्र देने का अधिकार। (२) मानवीय अधिकारों के योरोपियन न्यायालय की स्थापना। यह मानवीय अधिकारों का योरोपियन आयोग होगा, इसकी सदस्य-संख्या १५ है। ये व्यवस्थायें राज्यों पर तभी लागू की जा सकती हैं, जब राज्य पृथक् घोषणाओं द्वारा इन्हें अपने पर लागू करना स्वीकार कर लें।

स्टार्क ने यह लिखा है[५] कि यह समझौता तीन बातों में उपर्युक्त घोषणा से आगे बढ़ा हुआ है—(१) सार्वभौम घोषणापत्र के कुछ अधिकारों का पालन इसमें आवश्यक ठहराया गया है। (२) अधिकारों की बड़ी विशद और स्पष्ट व्याख्या की गयी है। (३) मानवीय अधिकारों के आयोग की स्थापना की गयी है, इसका कार्य राज्यों की प्रार्थना पर मानवीय अधिकारों के अतिक्रमण के मामलों की खोज करना तथा इनके बारे में रिपोर्ट देना है। यह अपना कार्य व्यक्तियों तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा दिये गये प्रार्थनापत्रों के आधार पर भी कर सकता है। जुलाई १६५५ में छः राज्यों द्वारा वैयक्तिक प्रार्थना का अधिकार स्वीकार कर लिये जाने पर इस आयोग को व्यक्तियों के आवेदनपत्र सुनने का अधिकार मिल गया है। आठ राज्यों की स्वीकृति मिलने पर

५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० २६६

मानवीय अधिकारों का एक योरोपियन न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था उक्त समझौते में है। किन्तु अभी तक पाँच राज्य ही इसके लिये तैयार हुए हैं, अतः इसकी स्थापना नहीं हो सकी। न्यायालय को आयोग की अपेक्षा अधिक अधिकार हैं, क्योंकि इसका क्षेत्राधिकार अनिवार्य है। आयोग के अधिकार सीमित हैं, फिर भी यह अब तक वैयक्तिक शिकायतों के २०० आवेदनपत्रों पर विचार कर चुका है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति का तथा वैयक्तिक अधिकारों का महत्व स्वीकार किया जाने लगा है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मान लिया गया है।

सोलहवाँ अध्याय

राजनयिक प्रतिनिधि-राजदूत और वाणिज्य दूत

(Diplomatic Agents and Consule)

प्राचीन एवं मध्यकाल में दूत प्रथा (Diplomatic Agents in Ancient and Medieval Period)—प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने तथा पारस्परिक व्यवहार चलाने के लिये वहाँ अपने दूत और व्यापारिक प्रतिनिधि भेजता है। विभिन्न राज्यों द्वारा एक-दूसरे के पास अपने दूत भेजने की प्रथा इतिहास में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। वाल्मीकि रामायण में अंगद के रावण के दरबार में तथा महाभारत में श्रीकृष्ण के कौरवों के दरबार में दूत बनकर जाने का उल्लेख है। प्राचीन भारत के विभिन्न प्रकार के दूतों का पहले वर्णन हो चुका है (देखिये पृ० १६-२०)।

सिकन्दर के आक्रमण के यूनानी विवरणों से ज्ञात होता है कि मालव (Malloi) और क्षुद्रक (Oxydrakoi) गणराज्यों ने यूनानी राजा से संधि करने के लिये अत्यधिक योग्य तथा बहुत ऊँचा कद रखने वाले व्यक्तियों को पूर्ण अधिकार देकर संधि करने को भेजा था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक भारत में विदेशी व्यक्तियों का आगमन इतना अधिक बढ़ गया था कि पाटलिपुत्र की नगर व्यवस्था में एक बोर्ड का कार्य विदेशियों की देखभाल करना था। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज़ को अपना राजदूत बनाकर भेजा था, उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार के समय डेईमेकस (Diemachus) सीरिया के यूनानी राजा का राजदूत बनकर आया। टालमी फिलाडेल्फोस ने मौर्यों के दरबार में डियोनिसियोस को राजदूत बनाकर भेजा। अशोक के शिलालेखों में पश्चिम के चार यूनानी राज्यों में धर्मदूत भेजने का वर्णन है। २० ई० पूर्व में एक पाण्ड्य राजा ने रोमन सम्राट् आगस्टस सीज़र के दरबार में अपना दूत मण्डल भेजा था।

मध्य युग में योरोप में दूत भेजने की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु ये दूत आरम्भ में दूसरे देशों में विशेष कार्य करने के लिये भेजे जाते थे, अपना कार्य पूरा होने के बाद ये स्वदेश लौट आते थे। स्थायी रूप से अन्य राज्यों में दूत भेजने की प्रथा का श्रीगणेश १४वीं शताब्दी में इटली के गणराज्यों, विशेषतः वेनिस (Venice) में हुआ। फ्रांस में लुई ११वाँ (१४६१–१४८३) पहला नरेश था, जिसने दूसरे देशों में स्थायी रूप से निवास के लिये अपने राजदूत भेजे। १५२० ई० में इंग्लैंड और जर्मनी के राजाओं में दूत भेजने की संधि हुई। १६४८ की वैस्टफेलिया की संधि ने इस प्रथा को प्रोत्साहित किया। इसके बाद यातायात तथा संचार के साधनों की उन्नति से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क

बढ़ने लगा और स्थायी दूत भेजने की प्रथा १७वीं शती में लगभग सभी राज्यों ने अपना ली। उस समय दूतों का प्रधान कार्य अपने देश के स्वार्थों की रक्षा के लिये दूसरे देशों में जासूसी करना और झूठ बोलना था।[1] १७वीं शती के एक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ सर हेनरी वोट्टन (Henry Wotton) ने लिखा था "राजदूत ऐसा ईमानदार आदमी है जो अपने देश के हित के लिये विदेश में झूठ बोलने भेजा जाता है।"[2]

राजनयिक सम्बन्धों का वियना अभिसमय (Vienna Convention on Diplomatic Relations, April 1961)—दूतों के कार्यों के प्रकारों तथा इनके विषय में सभी आवश्यक समस्याओं पर गम्भीर विचार करने के उपरान्त सं० रा० संघ की अध्यक्षता में ८१ राज्यों के वियना सम्मेलन ने १९६१ में एक समझौता स्वीकार किया है, इसकी आरम्भिक रूपरेखा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने तैयार की थी। यह समझौता २२ राज्यों की सरकारों का अनुसमर्थन (Ratification) पाने पर ही लागू समझा जायगा। इसका विशेष महत्व इसलिये है कि इसने पहली बार राजदूतों के सम्बन्धों में सभी आवश्यक नियमों का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि राजदूतों के विषय में इस प्रकार के नियमों के बारे में समझौता करने से उन देशों में परस्पर मैत्रीपूर्ण संबन्ध बढ़ेंगे, जिनमें इस समय वैधानिक एवं सामाजिक पद्धतियों के विषय में उग्र मतभेद है। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि राजदूतों को प्रदान किये जाने वाले विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों का उद्देश्य यह है कि विदेशों में भेजे जाने वाले दूतमण्डल अपने कार्य अधिक क्षमता और योग्यता के साथ सम्पन्न कर सकें। इन अधिकारों का प्रयोजन व्यक्ति को नहीं, किन्तु राज्य को लाभ पहुंचाना है। जिन विषयों में इस अभिसमय ने नियम नहीं बनाये उनके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून (Customary International Law) के प्रचलित नियम यथापूर्व बने रहेंगे। यहाँ यथास्थान इस अभिसमय के विभिन्न नियमों का उल्लेख किया जायगा।

दूतों की श्रेणियां और प्रकार—मध्ययुग में दूतों के अनेक प्रकार थे और इनके पौर्वापर्य क्रम के कुछ निश्चित नियम नहीं थे। प्रत्येक देश का दूत अपनी सवारी और गाड़ी अन्य देशों के दूतों से आगे रखना चाहता था। १७वीं शती में लन्दन के एक शाही जलूस में स्पेनिश राजदूत ने फ्रेंच दूत की गाड़ी को आगे बढ़ने से रोकने के लिये

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में दूत के जासूसी के काम को अत्यधिक महत्व देते हुए यह कहा गया है कि वह तपस्वी और व्यापारी का वेष धारण करने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु-राज्य के योग्य प्रजाजनों को फोड़कर अपनी ओर मिलाये, उसके मंत्रियों के दोष जान ले, उसके सामरिक महत्व के स्थानों, किलों के रहस्यों, रक्षा की व्यवस्था और राज्य की त्रुटियों का पता लगाये—रागापरागौ भर्त्तरि रन्ध्रं प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यंजनाभ्यामुपलभेत।.................. अनीकस्थानयुद्धप्रतिग्रहापसारभूमीरात्मनः परस्य चावेक्षेत। दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सरवृत्तिगुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत।

२. स्वार्लिन—इंट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ नेशन्स

उसके घोड़ों के गले में रस्सी डालकर उन्हें मार डाला। १९वीं शती में ऐसे विवादों का अन्त करने के लिये १८१५ की वियना कांग्रेस ने तथा १८१८ की एक्स-ला शापेल (Aix-La Chapelle) की कांग्रेस ने विभिन्न प्रकार के दूतों की श्रेणियां तथा पौर्वापर्य का क्रम निश्चित किया। वियना के नियमों में राजदूतों की तीन ही श्रेणियाँ थीं, छोटे राज्यों के दूतों के लिये उसमें कोई स्थान नहीं था। इस अभाव की पूर्ति के लिये एक्स-ला शापेल की कांग्रेस ने निवासी मंत्री (Minister Resident) की नई श्रेणी का निर्माण किया। दूतों की इन चारों श्रेणियों का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) राजदूत (Ambassador)—ये इन्हें भेजने वाले राज्य के अध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि माने जाते हैं और इस कारण इन्हें अनेक विशेष सम्मान और अधिकार दिये जाते हैं। इनका सबसे बड़ा अधिकार शासन के अध्यक्ष से सीधा मिलने और वार्त्ता करने का है। इस अधिकार का राजतन्त्रों के युग में बड़ा महत्व था, किन्तु आजकल लोकतन्त्रप्रणाली में मंत्रियों का महत्व अधिक बढ़ जाने से इसका गौरव कम हो गया है। राजदूतों का दूसरा अधिकार परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित कराने का है। राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि होने के नाते इनके लिये इस सम्बोधन का प्रयोग सर्वथा समीचीन है। महाशक्तियों या बड़े राज्यों को ही राजदूत भेजने का अधिकार है। छोटे राज्यों के दूतों को इसमें सम्मिलित नहीं किया जाता। पद, प्रतिष्ठा और पौर्वापर्य के क्रम की दृष्टि से दूतों में राजदूतों का स्थान सर्वोपरि तथा सर्वोच्च है। पोप द्वारा भेजे गये लीगेट (Legate) तथा नंशियों (Nuncio) नामक दूत भी दर्जे की दृष्टि से राजदूतों के समकक्ष समझे जाते हैं।

(ख) पूर्णाधिकार-मन्त्री तथा असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)—ये इन्हें भेजने वाले राज्य के शासनाध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि नहीं समझे जाते, अतः इन्हें राजदूतों को प्रदान किये जाने वाले विशेष सम्मानसूचक अधिकार प्राप्त नहीं होते। ये राज्य के अध्यक्ष के साथ वार्त्तालाप करने का अधिकार (Right of Audience) नहीं रखते और इन्हें सौजन्यवश ही परम श्रेष्ठ (His Excellency) सम्बोधित किया जाता है। वस्तुतः ऐसा कहलाने का इन्हें कोई अधिकार नहीं है। पोप के अन्तरनंशियों (Internuncio) नामक दूत भी इसी श्रेणी में आते हैं।

इनके साथ जुड़े हुए विशेषणों का मनोरंजक इतिहास है। योरोप में पहले अस्थायी कार्यों पर भेजे जाने वाले दूतों के साथ असाधारण (Extraordinary) का विशेषण लगाया जाता था, इसका प्रयोजन अन्य देशों में स्थायी रूप से निवास करने वाले इन राज्यों के मंत्रियों (Ministers Residents) से इनका भेद करना था। बाद में यह विशेषण स्थायी-अस्थायी दोनों प्रकार के दूतों को समान रूप से दिया जाने लगा और अन्त में उनके साथ पूर्णाधिकार (Plenipotentiary) का विशेषण भी जोड़ा गया। इसका शब्दार्थ यह है कि ऐसे दूत को इसे भेजने वाले राजा की ओर से कार्य करने के पूरे अधिकार प्रदान किये गये हैं। इस दृष्टि से कौटिलीय अर्थशास्त्र की (१।१६) की प्राचीन भारतीय परिभाषा के अनुसार इसे निसृष्टार्थ कह

सकते हैं।[3] आजकल सब राजदूतों के लिए 'असाधारण दूत' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु पहली श्रेणी से इसका बड़ा भेद इनका राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि न माना जाना है और इसलिए इन्हें पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से राजदूतों के बाद दूसरा स्थान दिया जाता है।

(ग) निवासी मंत्री (Ministers Resident)—पहले यह बताया जा चुका है कि एक्स-ला शापेल के १८१८ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने इस नवीन वर्ग का निर्माण किया था। निवासी मंत्री स्वरूप और कार्य की दृष्टि से उपर्युक्त दूसरे वर्ग के दूतों से कोई भेद नहीं रखते किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस, आदि महाशक्तियाँ यह चाहती थीं कि उनके तथा लघुशक्तियों के दूतों में अन्तर बना रहे। इस नये वर्ग के बनाने का यही उद्देश्य था कि लघुशक्तियों के दूतों को महाशक्तियों के दूतों से अधिक प्रतिष्ठा न प्राप्त हो। इन्हें सौजन्यवश भी परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित नहीं किया जाता। ये दूसरे वर्ग से हीन समझे जाते हैं। आजकल निवासी मंत्री नियत करने की प्रणाली कम हो रही है।

(घ) कार्यदूत (Charge d' Affaires)—इनका पहले तीन वर्गों के दूतों के साथ यह मौलिक अन्तर है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के दूत एक राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष (Head of State) को भेजे जाते हैं। किन्तु कार्यदूत एक देश के विदेश मन्त्रालय से दूसरे देश के विदेश मन्त्रालय (Foreign Office) को भेजे जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप कार्यदूतों को अन्य दूतों के समान विशेष सम्मान नहीं मिलता। पहले तीन वर्ग अपनी नियुक्ति के प्रत्ययपत्र या शासन[4] (Letter of Credence) राज्य के अध्यक्ष को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु कार्यदूत अपना प्रमाणपत्र विदेश मंत्री के समक्ष उपस्थित करता है। इस समय भारत में ईथियोपिया, मेक्सिको, मंगोलिया, वेनेजुएला के कार्यदूत हैं।

वियना कांग्रेस ने यह नियम बनाया था कि उपर्युक्त वर्गों के दतों का अपने वर्ग में पौर्वापर्य क्रम (Order of precedence) उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निश्चित होगा। स्टार्क (पृ० २७४) ने लिखा है कि राज्य आजकल इस नियम का अनुसरण नहीं करते, किन्तु वे राजदूतों की प्रवरता (Seniority) का प्रमाणपत्र उपस्थित किये जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं। भारत में इसी परम्परा का पालन किया जाता है। किसी देश में स्थित विदेशों के सभी दूतों को सामूहिक रूप से **राजनयिक निकाय** (Diplomatic Corps) कहते हैं। इसमें सबसे वरिष्ठ (Senior) दूत को डायन या दूतशिरोमणि (Doyen) कहा जाता है।

३. कौटिल्य ने लिखा है कि यह अमात्य या मंत्री जैसे गुणों वाला होता है (अमात्य सम्पदोपेतो निसृष्टार्थः)। आजकल स्वतन्त्र भारत में राजदूतों का दर्जा मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों जैसा समझा जाता है।

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१६) में इसके लिए शासन शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे शासनमेव वाच्यः परः।

ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्य-राज्य आपस में जिन दूतों का आदान-प्रदान करते हैं, वे हाई कमिश्नर या उच्चायुक्त (High Commissioner) कहलाते हैं।

इस समय भारत में वाणिज्य दूतों के अतिरिक्त राजनयिक दूतों की तीन प्रकार की श्रेणियाँ हैं—(क) राजदूत (Ambassador), (ख) हाई कमिश्नर (High Commissioner), (ग) दूत (Envoys)। इनमें सबसे ऊँचा स्थान राजदूतों का है। हमारे यहाँ लगभग ५० देशों के राजदूत हैं, इनमें सं० रा० अमरीका और सोवियत रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों और लाओस जैसे नगण्य राज्यों के प्रतिनिधि भी हैं। इनका निवास-स्थान राजदूतावास (Embassy) कहलाता है। अधिकांश राजदूतावास इनके लिए विशेष रूप से बसायी गई नई दिल्ली की उपनगरी चाणक्यपुरी में अवस्थित हैं।

(ख) ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के दस देशों—आस्ट्रेलिया, कनाडा, सीलोन, घाना, नाइजीरिया, मलाया, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, ग्रेट ब्रिटेन और टांगानिक्या के आठ हाई कमिश्नर हैं।

(ग) तीसरी श्रेणी दूतों की है, अल्बानिया और पोप के यहाँ दूत हैं। इनके निवास स्थान दूतावास (Legations) कहलाते हैं।

दूतों की नियुक्ति (Appointment of Envoys)—प्राचीन भारत में दूतों के लिए अनेक गुणों का होना आवश्यक समझा जाता था।[५] किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने दूत के लिए कोई आवश्यक योग्यतायें या शर्तें निर्धारित नहीं कीं। राज्य अपनी इच्छानुसार जिस व्यक्ति को दूसरे देशों में अपने हितों की सिद्धि के लिए समर्थ और आवश्यक समझते हैं, उसे अपना दूत बनाकर भेज सकते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में विविध प्रकार के नियम प्रचलित हैं। भारत में विदेश सेवा विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले तथा शासन का पर्याप्त अनुभव रखने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त सार्वजनिक, राजनीतिक और शिक्षा व समाज-सेवा के क्षेत्रों में प्रतिष्ठा पाने वाले डा० राधाकृष्णन्, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, सरदार के० एम० पणिक्कर जैसे व्यक्तियों को भी राजदूत बनाया जाता है। हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का यह विश्वास है कि सुन्दर एवं गुणवती पत्नी राजदूत को नये देश में सामाजिक संबन्ध बनाने और उसके कार्य में बड़ी सहायक सिद्ध होती है, अतः भारत में राजदूतों की नियुक्ति में इसका भी ध्यान रखा जाता है।[६]

५. मनु ने दूत के लिए निम्न गुण आवश्यक माने हैं—सब शास्त्रों में कुशल होना, इशारों, आकार और चेष्टाओं को समझने की क्षमता रखना, रुपये पैसे की दृष्टि से ईमानदार होना तथा स्त्रियों के चक्कर में न पड़ना (शुचिः-अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकं शौचयुक्तं-कुल्लूक), चतुराई, कुलीनता, लोकप्रिय (अनुरक्त) होना, राजा के संदेश को न भूलना (स्मृतिमान्), देश काल पहचानना व सुन्दरता, निर्भयता, बातचीत में कुशलता (दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्। इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥) अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्। वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥) मि० महाभारत शान्तिपर्व ८५।२८, रामायण अयोध्याकाण्ड १००।३५, कामन्दक १३, १८, १—३।

६. हिन्दुस्तान टाइम्स—सितम्बर १९६३, इस विषय में दिल्ली स्थित राजदूतों की पत्नियों

पहले स्त्रियों को बहुत कम राजदूत बनाया जाता था, लुई चौदहवें ने मदाम द गुएब्रिग्रां (Madame de Guebriant) को पोलैण्ड में प्रथम स्त्री राजदूत बनाया था। पश्चिम में नारी जागरण तथा स्त्रियों के समानाधिकार आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों को राजदूतों के पदों पर नियुक्त किया जाने लगा। सं० रा० अमरीकी सरकार ने १९३५ में डेन्मार्क में तथा इसके बाद इटली और लक्समबर्ग में अपने स्त्री राजदूत नियत किये। भारत ने १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित को पहले सोवियत रूस का (१९४८-४९) तथा बाद में सं० रा० अमरीका (१९४९-५१) का राजदूत नियत किया और १९५४ से १९६२ तक ग्रेट ब्रिटेन में वे भारत की हाई कमिश्नर थीं। बर्मा ने जुलाई १९६० में श्रीमती आँगसान को भारत में अपना राजदूत नियत किया था।

राजदूतों की नियुक्ति और आगमन अनेक विधि-विधानों और समारोहों के साथ सम्पन्न होते हैं। किसी देश द्वारा दूसरे देश में अपना दूत नियुक्त करते समय उसे अपने राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्ययपत्र (Letter of Credence, Letter de Creance) प्रदान किया जाता है। इसमें उस व्यक्ति के उस देश में राजदूत बनाने की सूचना होती है। प्रत्येक दूत अपने देश से इसे दो रूपों में लेता है, नियुक्ति का मूल प्रत्ययपत्र मुहरबन्द लिफाफे में दिया जाता है तथा इसकी एक प्रतिलिपि भी दी जाती है। जिस देश के लिये उसे प्रत्ययपत्र दिया जाता है, उसके लिये उसे प्रत्ययप्राप्त या प्रत्यायित प्रतिनिधि (Accredited Representative) कहा जाता है। यह जब इन दो पत्रों के साथ दूसरे देश में पहुँचता है तो अपने आगमन की सूचना देने के लिये विदेश मन्त्रालय को प्रत्ययपत्र की प्रतिलिपि भेज देता है। इसके बाद विदेश मन्त्रालय द्वारा निश्चित की गई तिथि पर यह एक निश्चित विधि के साथ सम्पन्न किये जाने वाले समारोह में उस देश के शासनाध्यक्ष—राष्ट्रपति या राजा को अपने राजदूत होने का मुहरबन्द प्रत्यय पत्र स्वयमेव देता है। भारत में आने वाले सभी राज-दूत नई दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के समक्ष अपने प्रत्ययपत्र (Credentials) पेश करते हैं। कार्यदूत (Charge d' Affaires) अपने प्रत्ययपत्र विदेश मन्त्री को देते हैं। राजदूतों ने यदि कोई विशेष कार्य करना होता है तो इसके लिये पूरे अधिकार देने के लिये उन्हें अपने राज्य के अध्यक्ष से हस्ताक्षरांकित जो प्रमाणपत्र दिया जाता है, उसे पूर्णाधिकार पत्र (Full Powers) कहते हैं। सामान्य रूप से एक देश में एक राजदूत नियुक्त किया जाता है, किन्तु कई बार यह एक से अधिक देशों के लिये भी होता है। उदाहरणार्थ, भारत में सं० रा० अमरीका का राजदूत नैपाल में भी अम-रीका के दूत का कार्य करता है। लन्दन में भारत का हाई कमिश्नर आयरलैण्ड तथा स्पेन में भी भारत के दूत का काम करता है। यूगोस्लाविया में भारतीय दूत यूनान और बल्गारिया का भी दूत माना जाता है। इसी प्रकार रूस का भारतीय दूत हंगरी और पोलैण्ड में, स्वीडन का डेन्मार्क और फिनलैण्ड में, मेक्सिको का पानामा में, स्विट्जर-

के विचारों के लिए देखिये—स्टेट्समैन, अक्टूबर १९६३।

लैण्ड का वैटिकन में, इटली का अलबानिया में भी भारतीय राजदूत का कार्य करता है।

स्वीकरणीय व्यक्ति (Persona Grata)—कई बार कोई राज्य दूसरे राज्य द्वारा दूत बनाये जाने वाले व्यक्ति को स्वीकार नहीं करता। राजदूतों की नियुक्ति से पहले प्रायः दूसरे देशों से उस व्यक्ति के लिए विधिपूर्वक पूर्ण स्वीकृति ले ली जाती है। इसे agreation कहा जाता है। यह स्वीकृति जिसके लिये दी जाती है, उसे **स्वीकरणीय व्यक्ति** (Persona Grata) कहा जाता है। राज्य निम्नलिखित आधारों पर किन्हीं व्यक्तियों को अपने देश में राजदूत पद के लिए **अस्वीकरणीय** (Persona non grata) घोषित कर सकते हैं :—

(१) राज्य के लिए उस व्यक्ति का वैयक्तिक रूप से आपत्तिजनक होना। फ्रांस ने इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम के राजदूत के रूप में ड्यूक आफ बकिंघम (Duke of Buckingham) को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसने अपनी पहली यात्रा में फ्रेंच रानी के प्रेमी होने का दावा किया था।

(२) कोई देश किसी व्यक्ति को अपना विरोधी (Hostile) होने पर उसे राजदूत पद के लिए अस्वीकार कर सकता है। इटली ने १८८५ में श्री कीली (Keiley) को अमरीका का राजदूत मानने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उसने १८७१ में इटली द्वारा पोप के प्रदेशों को अपने राज्य का अंग बनाये जाने का विरोध किया था।

(३) यदि कोई व्यक्ति प्रत्यायित (Accredited) देश का प्रजाजन हो और वहाँ की सरकार उसे कूटनीतिक उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Immunities) न देना चाहे तो वह ऐसे व्यक्ति को राजदूत मानने से इन्कार कर सकती है। किन्तु यदि उसे एक बार दूत स्वीकार कर लिया जाय तो इसे दूतों के सभी विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं। सर हैलिडे मैकार्टनी (Halliday Macartney) के साथ ऐसा ही हुआ। वह ब्रिटिश प्रजाजन था, फिर भी १८६७ में उसने लन्दन के चीनी दूतावास में सचिव का कार्य किया। उसकी नियुक्ति के समय कोई आपत्ति नहीं की गई, अतः जब उससे उसके मकान के टैक्स (Rates) मांगे गये तो न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उसके दूत होने के कारण उससे ऐसी माँग नहीं की जा सकती।

१९६१ के राजनीतिक सम्बन्धों के **वियना अभिसमय** (Vienna Convention on Diplomatic Relations) ने यह व्यवस्था की है कि दूत भेजने वाले मंडल के कर्मचारी उस राज्य के नागरिक होने चाहियें। यदि वे दूत ग्रहण करने वाले राज्य के नागरिकों में से बनाये जायें तो इसके लिये स्वीकृति पहले ही ले लेनी चाहिए। इसी प्रकार राजदूत इन्हें भेजने तथा ग्रहण करने वाले दोनों राज्यों से भिन्न **तीसरे राज्य** (Third States) के नागरिक भी हो सकते हैं, किन्तु इसके लिये भी इस दूत को ग्रहण करने वाले राज्य की स्वीकृति आवश्यक है।

किसी दूत की अस्वीकृति से उत्पन्न होने वाली कटुता तथा अप्रियता से बचने के लिये दूत भेजने वाला देश इसे ग्रहण करने वाले देश से पहले ही स्वीकृति (Agreation) ले लेता है। वियना अभिसमय के अनुच्छेद ४ के अनुसार दूत ग्रहण करने वाले राज्य के लिये किसी दूत का नाम अस्वीकृत करते हुए उसके लिए कारण बताने की आवश्यकता

नहीं है।

दूतों के कार्य (Functions of Diplomatic Agents)—प्राचीन भारत में कौटिल्य ने इनके कार्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि इनके निम्नलिखित कर्त्तव्य होते हैं—अपने स्वामी का संदेश दूसरे राजा के पास पहुँचाना और उसका उत्तर अपने स्वामी को भेजना, सन्धियों का पालन कराना, अपने राजा की शक्ति या प्रताप प्रदर्शित करना, अपने मित्रों में वृद्धि करना, शत्रुओं में फूट उत्पन्न करना, शत्रु के मित्रों में भेद डालना, शत्रु की सेना और गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर करना, शत्रु के बन्धु-बान्धवों तथा रत्नों का अपहरण, गुप्तचरों के संवादों का संग्रह, शत्रु की कमजोरी देखते ही पराक्रम प्रदर्शित करना, सन्धि के अनुसार शत्रुपक्ष के व्यक्तियों (समाधि) को मुक्त करना, योग अर्थात् औपनिषदिक उपायों के मारण आदि के प्रयोग।[7] कार्यों की इस सूची से यह स्पष्ट है कि उस समय दूत का एक प्रधान कार्य दूसरे देश की जासूसी करना था। आजकल दूत के लिये ऐसा कार्य वर्जित है। अन्य कार्य दूतों के वर्तमान कार्यों से बहुत कुछ मिलते हैं।

आपेनहाइम (Oppenheim) ने दूतों के तीन मुख्य कार्य बताये हैं[8]—

(१) **सन्धिवार्त्ता करना** (Negotiation)—वह अपने राज्य के लिए दूसरे राज्य के साथ विभिन्न विषयों में वार्त्ता चलाने (Negotiation) का माध्यम हैं।

(२) **निरीक्षण** (Observation)—इनका एक बड़ा कार्य दूसरे देश की राजनीतिक परिस्थिति का निरीक्षण (Observation) तथा उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को भेजते रहना है।

(३) **संरक्षण** (Protection)—तीसरा कार्य उस देश में अपने स्वदेशवासी राष्ट्रिकों (Nationals) की जान और माल की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त वह अपनी सरकार का दृष्टिकोण, राष्ट्रीय नीति और विचारों को दूसरे देश के सम्मुख बड़ी स्पष्टता और प्रबलता के साथ रखता है। यदि उसके देश के प्रति कभी असम्मान प्रदर्शित किया जाता है या उसके देशवासियों के स्वार्थों को आँच आती है तो वह इनके प्रतिकार के लिए उस देश के विदेशमन्त्री से मिलता है। वह उस देश में रहने वाले अपने राष्ट्रवासियों के जन्म, विवाह, मृत्यु का पंजीकरण (Registration) करता है। वह विदेश में अपने देश को प्रभावित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक दशाओं की विस्तृत जानकारी स्वदेश भेजता रहता है। अपने देश के भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण के लिए वह विदेश मन्त्रालय से बात करता है, वह स्वदेशवासियों के

७. **अर्थशास्त्र** १।१६ प्रेषणं संधिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम्॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः॥

मनु (७।६६) ने इनके संधि और लड़ाई कराने के कार्यों पर बल दिया है—दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः।

८. आपेनहाइम—इण्टरनैशनल ला, खं० १, पृ० ७८५

लिये पारपत्र (Passport) जारी करता है। उससे यह आशा रखी जाती है कि वह जिस देश में राजदूत बनकर गया है, वहाँ की स्थानीय या आन्तरिक राजनीति में कोई भाग नहीं लेगा।

राजनयिक सम्बन्धों के **वियना अभिसमय** (Vienna Convention on Diplomatic Relations) में दूतों के निम्नलिखित कार्य बताये गये हैं—(१) दूत ग्रहण करने वाले (Receiving) राज्य में इसे भेजने वाले (Sending) राज्य का प्रतिनिधित्व करना। (२) दूत ग्रहण करने वाले राज्य में भेजने वाले राज्य के तथा इसके नागरिकों के हितों की सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के अनुसार करना। (३) ग्रहण करने वाले राज्य के साथ विभिन्न विषयों में वार्त्ता करना। (४) ग्रहण करने वाले राज्य की परिस्थितियों की वैध उपायों से पूरी जानकारी करना तथा इसकी सूचना तथा रिपोर्ट अपने देश को भेजना। (५) दूत भेजने तथा ग्रहण करने वाले राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना, दोनों के आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक सम्बन्धों का विकास करना।

दूतों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Privileges and Immunities)—दूतों को अपना कार्य भली-भाँति करने के लिए सभी राज्य कुछ विशेषाधिकार प्रदान करते हैं। यदि उन्हें स्वदेश को अपनी गुप्त रिपोर्ट, चिट्ठियाँ, तार और संदेशहर भेजने की स्वतन्त्रता न हो तो वे अपना कार्य नहीं कर सकते। उन पर किसी प्रकार का दबाव या भय नहीं होना चाहिए, उनके निवास-स्थान स्थानीय पुलिस तथा अन्य अधिकारियों के अधिकारक्षेत्र से बाहर होने चाहिएं। पारस्परिकता के आधार पर सभी देश अन्य राज्यों के राजदूतों को विशेषाधिकार प्रदान करते हैं तथा अपने न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से उन्हें कुछ छूटें या उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं। क्षेत्राधिकार वाले अध्याय में इनका संक्षिप्त उल्लेख हो चुका है (पृ० २७७-९)। इनके प्रमुख विशेषाधिकार निम्नलिखित हैं—

(१) **वैयक्तिक सुरक्षा तथा अवध्यता** (Personal Safety)—प्राचीनकाल से दूत को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति पहुँचाना, उसे पकड़ना, मारना या बन्धन में रखना बड़ा जघन्य कार्य समझा जाता रहा है (देखिये ऊपर, पृ० १९)। कौटिल्य के मतानुसार दूत यदि चाण्डाल हो तो भी अवध्य है।[९] वर्तमान समय में विभिन्न देशों के

९. अर्थशास्त्र १।१६ तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः।

महाभारत के शान्तिपर्व (८५।२६-२७) में भीष्म ने युधिष्ठिर को दूत की अवध्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि इसे मारने वाला नरकगामी और भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है—

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्यांचिदापदि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह॥
यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः॥

प्राचीन भारत में दूतों की अवध्यता का विशेषाधिकार विशिष्ट विदेशी व्यक्तियों को भी

कानूनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के निर्णयों द्वारा यह सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित हो चुका है। पहले (पृष्ठ २७९) यह बताया जा चुका है कि १७०८ ई० के ब्रिटिश कानून के अनुसार किसी राजदूत को बन्दी बनाने तथा उसका माल ज़ब्त करने की सब आज्ञायें अवैध होती हैं। **रिपब्लिका बनाम लॉगचैम्पस** (Republica v. Longchamps) के मामले में यह कहा गया था कि "राजदूत का शरीर पवित्र और अवध्य (Inviolate) होता है। इसके प्रति की गई किसी प्रकार की हिंसा न केवल उस राजा या प्रभु (Sovereign) का अपमान है जिसका प्रतिनिधित्व वह दूत कर रहा है, अपितु इससे राष्ट्रों की सामान्य सुरक्षा और कल्याण को भी हानि पहुँचती है। इस प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति सारी दुनिया के विरुद्ध अपराध करता है।" **पेलेची के मामले** (Palachie Case) में दिये गये निर्णय के अनुसार "राजदूत को सब प्रकार की क्षतियों (Injuries) तथा अपकारों (Wrongs) से सुरक्षित रखना चाहिये। सब देशों और राष्ट्रों के कानून के अनुसार उन्हें प्रत्येक स्थान में सुरक्षित रखना चाहिये। हमारे शत्रु के दूत को भी हानि पहुँचाना वैध नहीं है।" विदेशी राजदूत की अपनी भूमि में सब प्रकार से रक्षा और संरक्षण करना अपने देश में रहने वाले अन्य नागरिकों तथा विदेशियों की सुरक्षा से अधिक महत्वपूर्ण है।[10]

साम्यवादी चीन ने राजदूतों की अवध्यता के नियम का कई बार भीषण रूप से उल्लंघन किया है। इस विषय में सोवियत संघ, भारत एवं अन्य देशों के राजदूतों के

प्रदान किया जाता था। हर्षवर्द्धन ने चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (युआनच्वांग) की सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था की थी। जब भारत के धार्मिक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने के बाद चीनी यात्री के प्राण संकट में पड़ गये तो हर्ष ने एक राजकीय घोषणा निकाली कि चीनी यात्री का बाल भी बांका न होना चाहिये, यदि किसी व्यक्ति ने उसके प्राणों को संकट में डाला तो उससे पूरा बदला लिया जायगा।

१०. कई बार विशेष परिस्थितियों में राजदूतों की अवध्यता तथा दूतावासों की अनतिक्रम्यता (Inviolability of Embassies) के नियम का उल्लंघन भी होता है। १८ सितम्बर १९६३ को इण्डोनीशिया की राजधानी जकर्त्ता में मलायेशिया संघ के निर्माण से क्षुब्ध एवं उत्तेजित १० हजार व्यक्तियों की भीड़ ने ब्रिटिश दूतावास के २२ नर-नारियों पर आक्रमण किया, उन पर पत्थर, बोतलें और ईंटें फेंकीं, ब्रिटिश राजदूत गिल्काइस्ट को दो पत्थर लगे, ब्रिटिश दूतावास में आग लगा दी गयी। पुलिस ने बड़ी कठिनाई से ब्रिटिश दूतावास के कर्मचारियों को अपने कार्यालय में पहुँचाकर रक्षा की। सेना को बुलाकर इस स्थिति पर नियन्त्रण स्थापित किया गया। (हिन्दुस्तान टाइम्स, १९-२० सितम्बर १९६३)। इण्डोनीशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने ब्रिटिश सरकार से इस घटना पर गहरा खेद प्रकट किया।

दिसम्बर १९६५ के भारत-पाकिस्तान संघर्ष के समय पाकिस्तान के साथ सहानुभूति रखने वाले हजारों इण्डोनीशियनों ने प्रदर्शन करके ८ सितम्बर को जकर्त्ता में भारतीय दूतावास पर हमला करके इसे भीषण क्षति पहुँचाई, उन्होंने इसके सारे फर्नीचर को तोड़-फोड़ दिया, दूतावास के कागजों और फाइलों को निकालकर उन्हें बगीचे में रखा और यहाँ इनकी होली जलाई। बाद में भारत सरकार द्वारा इस कार्यवाही का उग्र प्रतिवाद करने पर इण्डोनीशिया के विदेश मन्त्री डा० सुबान्द्रियो ने यह घोषणा की कि उसकी सरकार भारतीय दूतावास को पहुँची क्षति की समुचित पूर्ति करेगी।

साथ किये गये पेकिंग के व्यवहार के कुछ थोड़े से उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। जनवरी १९६७ में विदेशों में अध्ययन करने वाले चीनी विद्यार्थियों को पेकिंग ने सांस्कृतिक क्रांति में भाग लेने के लिये स्वदेश लौट आने के लिए कहा। फ्रांस और फिनलैण्ड से मास्को के मार्ग से चीन लौटने वाले कुछ विद्यार्थियों ने वहाँ के चीनी दूतावास के कर्मचारियों के साथ मिलकर २५ जनवरी १९६७ को लेनिन की समाधि के निकट लाल चौक (Red Square) में बड़ा उत्पात मचाया, जब उन्हें ऐसा कार्य करने से रोका गया तो पेकिंग ने इस बात का झूठा प्रचार किया कि मास्को में चीनी विद्यार्थियों के साथ बड़ा अमानुषिक और बर्बर व्यवहार हुआ है तथा इसका बदला लेने के लिये २६ जनवरी की संध्या से पेकिंग में सोवियत दूतावास को चीनी प्रदर्शनकारियों की भारी भीड़ ने घेर लिया, दूतावास में आने जाने वाले व्यक्तियों पर थूका जाने लगा, उन्हें परेशान किया गया, लाठियों से मारा पीटा गया, उन पर कूड़ा डाला गया, दूतावास में जलती मशालें फेंकी गईं। २ फरवरी को सोवियत राजनयिकों की एक गाड़ी लालरक्षकों ने १६ घण्टे रोके रखी। इस विषम परिस्थिति में जब सोवियत दूतावास के बच्चों तथा स्त्रियों को खतरे से बचाने के लिए इन्हें तीन दलों में ४-६ फरवरी को रूस भेजा गया तो हवाई अड्डे तक जाते हुए लाल रक्षकों ने इन पर थूका और इन्हें पीटा। ६ फरवरी को गोद में बच्चे लेकर स्वदेश लौटती दूतावास की रूसी स्त्रियों को एक चीनी भीड़ ने घेर लिया, उन्हें माओ और स्तालिन के चित्रों के नीचे से रेंगकर जाने को विवश किया। जब रूस, ब्रिटेन तथा फ्रांस के राजनयिकों ने इन बच्चों और स्त्रियों को बचाना चाहा तो उनके साथ भी दुर्व्यवहार किया गया। दूतावास लौटते हुए रूसियों पर हमला किया गया, इनकी एक बस को १२ घण्टे रोककर इन्हें बन्दी बना कर रखा गया। ६ फरवरी की संध्या से सोवियत दूतावास पर घेरा डाल दिया गया, कई दिनों तक यह घेरा पड़ा रहा, यहाँ का कोई कर्मचारी बाहर नहीं निकल सकता था। ३१ जनवरी से ४ फरवरी तक पेकिंग के फ्रेंच दूतावास पर उग्र प्रदर्शन होते रहे, इसके एक कर्मचारी मो० राबर्ट रिचर्ड को चीनियों ने घेर लिया क्योंकि दूतावास जाते हुए उसकी गाड़ी एक दूसरी गाड़ी से टकरा गई थी। उसे मोटर से बाहर घसीटकर ७ घण्ट तक ठंड में खड़ा रखा। सोवियत संघ के अतिरिक्त पूर्वी योरोप के अन्य साम्यवादी देशों के राजदूतों के साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। चेकोस्लोवाक दूतावास के दो कर्मचारियों पर २६ जनवरी को लालरक्षकों ने हमला किया। हंगरी के राजदूत की गाड़ी पर आक्रमण किया गया, पूर्वी जर्मनी के कार्यदूत (Charge'd Affaires) को धमकाया गया। मंगोलिया के दूतावास ने यह मांग की कि उनके कर्मचारियों की सुरक्षा की गारन्टी दी जाय तो चीनी विदेशमंत्रालय ने ६ फरवरी को यह घोषणा की कि **राजनयिक उन्मुक्ति** (Diplomatic immunity) **पूंजीवादी संस्थाओं की उपज है,** क्रांति करने वाले देश बूर्जुआ व्यवस्थाओं (Bourgeoise norms) को स्वीकार नहीं करते हैं (कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६७, पृ० २१०४६-७)।

जून १९६७ में पेकिंग में भारतीय दूतावास के दो कर्मचारियों कृष्णन रघुनाथ तथा विजय पर जासूसी का अपराध लगा कर इन्हें देश से बाहर निकलने का आदेश

दिया गया, लालरक्षकों ने इन्हें हवाई अड्डे पर पीटा तथा ठोकरें मारीं, दूतावास के तृतीय सचिव सी० बी० रघुनाथ को घुटनों के बल चलवाया। १३ जून को लोकसभा में भारत के विदेशमंत्री श्री छागला ने यह घोषणा की कि चीन का कार्य सभ्य व्यवहार के नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी ज्ञात नियमों का अभूतपूर्व एवं भीषण (flagrant) उल्लंघन है (एशियन रिकार्डर १९६७, पृ० ७८०८–११)।

मई १९६७ में हांगकांग में दंगे होने पर चीन में ब्रिटेन का विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया, कैण्टन, पेकिंग तथा शंघाई में ब्रिटिश दूतावास के कर्मचारियों पर हमले किये गये तथा उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया गया। दो ब्रिटिश राजनयिकों—हेविट तथा ह्विटनी को २४ मई को शंघाई के हवाई अड्डे पर घेर लिया गया, उन्हें धक्के दिये गये, ठोकरें लगाई गई, दीवारों पर पोस्टर चिपकाने वाली लेई उनके मुँह और शरीर पर पोती गई। चीनियों ने हेविट के चेहरे पर थूका, उसकी जाकेट फाड़ दी, उसके सिर पर यूनियन जैक के झण्डे से युक्त बेंत की बनी टोपी (Dunce's cap) पहनाने का प्रयत्न किया गया (कीसिंग्स आर्काइव्ज, जुलाई १५-२२, १९६७, पृ० २२१४१)।

उपर्युक्त घटनाओं से यह स्पष्ट है कि राजदूतों की अवध्यता एवं उन्मुक्तियों के नियम की अवहेलना करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसका प्रतिकार करने के उपाय प्रतिवाद-पत्र भेजना, बदले की कार्यवाही करना तथा दौत्यसम्बन्ध भंग करना है। साम्यवादी चीन जैसे देश प्रतिवाद-पत्रों की कोई परवाह नहीं करते हैं। कई बार बदले की कार्यवाही प्रभावशाली सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ जनवरी १९६७ में चीनियों ने पेकिंग में रूसी दूतावास के कर्मचारियों पर जैसे प्रतिबन्ध लगाये थे वैसे ही प्रतिबन्ध रूस ने मास्को के चीनी दूतावास के कर्मचारियों पर लगा दिये। जून १९६७ में चीन द्वारा पेकिंग के भारतीय दूतावास पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पर भारत सरकार ने नई दिल्ली के चीनी दूतावास पर वैसे ही कड़े प्रतिबन्ध लगाये तो चीन ने अपने प्रतिबन्ध हटा लिए। अन्तिम उपाय दौत्यसम्बन्धों का भंग करना है। सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली की कानूनी समिति ने ८ दिसम्बर १९६७ को भारत द्वारा समर्थित एक प्रस्ताव पारित करके राजदूतों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की अवहेलना करने वाले सभी कार्यों की निन्दा की है। सब देशों को इस विषय में १९६१ के वियना अभिसमय को स्वीकार करने की अपील की गई है (टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली, ९ दिसम्बर, १९६७, पृ० १०)। सं० रा० संघ की समिति में यह मामला इसलिये उठाया गया था कि अगस्त १९६७ में सं० रा० संघ की विशेष असेम्बली में भाग ले कर स्वदेश लौटने वाले गिनी के प्रनिनिधियों के विमान को जब इंजन में कुछ खराबी आने के कारण आइवरी कोस्ट में उतारना पड़ा तो वहाँ की सरकार ने गिनी के प्रतिनिधियों को बन्दी बना लिया था।

दूत की अवध्यता के सिद्धान्त के अनुसार उसे प्राप्त होने वाली पूर्ण सुरक्षा अनतिक्रम्यता (Inviolability) कहलाती है, उसका शरीर इतना अधिक पवित्र समझा जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार की क्षति या हिंसा द्वारा इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। उसके प्रति शक्ति या हिंसा का प्रयोग सर्वथा वर्जित है,

उस पर न्यायालयों में कोई मुकद्दमा चलाकर उसे दण्डित नहीं किया जा सकता। उसकी यह अनतिक्रम्यता केवल उसके शरीर तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उसको अपना कार्य चलाने के लिए जिन व्यक्तियों या वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन सबको यह सुरक्षा प्राप्त है। अतः दूत की स्त्री, परिवार के सदस्य, उसका अनुचरवर्ग फर्नीचर, घोड़े, मोटरगाड़ियां, कागज-पत्र, तार तथा संदेशहर अनतिक्रम्य माने जाते हैं। किसी दूत का कार्य समाप्त हो जाने पर दूसरा देश इसके कागजात को नहीं छू सकता। उपर्युक्त सब व्यक्तियों पर देश का दण्ड-विधान लागू नहीं होता। इन्हें मन-मानी कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता है, किन्तु उनसे यह आशा रखी जाती है कि वे स्वय-मेव अपने पर ऐसा नियन्त्रण रखेंगे कि उनके किसी कार्य से देश के कानून का उल्लंघन न हो।

यदि वे अपने पर ऐसा नियन्त्रण नहीं रखते और कोई जघन्य अपराध करते हैं तो वे जिस देश में दूत बनकर गये हैं, वह उनके प्रत्यावर्तन (Recall) की माँग कर सकता है और उन्हें अपने देश से निकाल सकता है। १८५४ में इंगलैण्ड स्थित स्पेनिश राजदूत मेन्दोजा (Mendoza) ने वहाँ की रानी एलिज़ाबेथ को गद्दी से हटाने के एक षड्यन्त्र में भाग लिया, इस पर उसे ब्रिटिश भूमि छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी गयी। इसी प्रकार १६५४ में जब इंगलैण्ड के फ्रेंच राजदूत द बास (De Bass) ने क्रामवैल की हत्या के षड्यन्त्र में हिस्सा लिया तो उसे २४ घण्टे के भीतर ग्रेट ब्रिटेन छोड़ना पड़ा। यदि ऐसा षड्यन्त्र देश की आन्तरिक शान्ति को संकट में डालने वाला हो तो राजदूत को बन्दी बनाया जा सकता है। १७१८ में फ्रांस में स्पेन के राजदूत सेल्लामेयर (Cellamare) को फ्रेंच सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लेने के कारण हवालात में डाला गया था। १७१७ में लन्दन में स्वीडन के राजदूत गिल्लिनवर्ग (Gyllenburg) को गिरफ्तार किया गया क्योंकि उसने जार्ज प्रथम के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लिया था।[११] इस विषय में लार्ड मेहोन (Mahon) ने लिखा था—"यदि कोई व्यक्ति उस देश की सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है, जहाँ उसे दूत बनाकर भेजा गया है तो वह राष्ट्रों के कानून का उल्लंघन करता है। उसको कानून द्वारा दिया गया विशेषाधिकार इस शर्त पर है कि वह अपने कूटनीतिक कर्त्तव्यों की सीमा का उल्लंघन नहीं करता। यदि वह ऐसा करता है तो इस बात को अस्वीकार करना असम्भव है कि इस प्रकार हानि उठाने वाली सरकार को अपने संरक्षण की दृष्टि से आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है।"

युद्ध छिड़ जाने पर भी राजदूत की अनतिक्रम्यता और अवध्यता के अधिकार में कोई अन्तर नहीं आता है।

(२) **राज्यक्षेत्रबाह्यता** (Exterritoriality)—यह राजदूतों का दूसरा विशेषाधिकार है। इसका आशय ब्रियर्ली के शब्दों में यह है कि दूत तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें यद्यपि भौतिक रूप से इन्हें दूत मानने वाले राज्य के प्रदेश में अव-स्थित होती हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार इन पर उस प्रदेश का क्षेत्राधिकार

११. हालैण्ड—इन्टरनेशनल लॉ, पृ० २२३-४

(Jurisdiction) नहीं लागू होता। ये उस राज्य के क्षेत्र में रहते हुए भी उसके कानून और न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र से बाहर समझे जाते हैं।[१२] कुछ विद्वान् इन्हें राज्य में रहते हुए भी इनके निवासस्थान या दूतावासों को उस राज्य से बाहर का प्रदेश समझते हैं; किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे इस हद तक नहीं स्वीकार करता। १९३५ में रोम के न्यायालय ने पोप की नगरी वैटिकन में बनी इमारतों के सम्बन्ध में यह कहा था कि १९२९ की लेटरन संधि (देखिये पृ० १४८) के अनुसार इन्हें इटली के क्षेत्राधिकार से कुछ उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं, किन्तु इस आधार पर इन इमारतों को इटली के प्रदेश से बाहर नहीं माना जा सकता। १९३४ में एक फ्रेंच न्यायालय (Court of Cessation) ने यह माना था कि फ्रांस के विदेशी दूतावास में फ्रेंच प्रजाजन द्वारा किये गये अपराध के सम्बन्ध में यह नहीं माना जा सकता कि वह फ्रेंच प्रदेश से बाहर किया गया है। १९३४ में एक जर्मन न्यायालय ने बर्लिन के अफगान दूतावास में अफगान राजदूत की हत्या के मामले में बचाव पक्ष के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास में घटित होने के कारण यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर हुई है और जर्मन न्यायालयों को इस पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। फिर भी आपेनहाइम ने लिखा है—"राज्यक्षेत्रबाह्यता के शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह इस तथ्य को सूचित करता है कि दूतों के साथ अधिकांश मामलों में ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि वे इन्हें दूत स्वीकार करने वाले राज्य के प्रदेश के भीतर निवास नहीं करते।"[१३]

इस विशेष अधिकार के अनुसार विदेशी राजदूतों के सरकारी निवासस्थान और दूतावास उस राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर समझे जाते हैं। इनमें शासन, न्याय या पुलिस विभाग का कोई कर्मचारी प्रवेश करने का अधिकार नहीं रखता। पहले दूतावास के साथ लगा हुआ शहर का बहुत-सा हिस्सा भी राज्यक्षेत्रबाह्य समझा जाता था। किन्तु अब यह दर्जा केवल दूतावास तथा उससे सम्बद्ध घुड़सालों तथा मोटरगाड़ियों के गैरजों को ही दिया जाता है। यदि दूतावास की सीमा में विशेषाधिकार का उपयोग न करने वाले किसी व्यक्ति द्वारा कोई अपराध किया जाता है तो इसे राज्याधिकारियों को सौंपना उस दूतावास का कर्तव्य माना जाता है। दूतों से यह आशा रखी जाती है कि वे अपना दूतावास अपराधियों का अड्डा नहीं बनने देंगे।

१२. राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) तथा बाह्य क्षेत्राधिकार (Extraterritoriality) में सूक्ष्म अन्तर है। पहले शब्द का आशय केवल इतना ही है कि किसी व्यक्ति या वस्तु पर उस राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं है, जिस राज्य के प्रदेश में वह है। दूसरा शब्द इससे सर्वथा भिन्न यह अर्थ देता है कि किसी राज्य का क्षेत्राधिकार उस राज्य की सीमाओं से बाहर किसी दूसरे राज्य के प्रदेश में है। ब्रियर्ली ने पहले शब्द के प्रयोग पर दो आपत्तियाँ की हैं, पहली तो यह कि इसमें यह मान लिया जाता है कि क्षेत्राधिकार और प्रदेश सदैव सहवर्ती होते हैं, यह बात सत्य नहीं है। दूसरी आपत्ति यह है कि इसमें व्यक्ति को राज्य में होते हुए भी कल्पना (Fiction) द्वारा उससे बाहर मान लिया जाता है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि कोई व्यक्ति स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्त है (दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० १८७)।

१३. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० १, पृ० ७९३

किन्तु मध्यकाल में मैड्रिड, वेनिस और रोम में अवस्थित विदेशी दूतावास न केवल इस प्रकार के अड्डे बने हुए थे, अपितु दूत अपने संरक्षित निवासस्थान अपराधियों को ऊँचे किरायों पर चढ़ाकर इनसे खूब लाभ कमाते थे। यह बुराई यहाँ तक बढ़ गई कि १६७७ में पोप इन्नोसैन्ट एकादश को यहाँ तक कहना पड़ा कि जो दूतावास ऐसा करेंगे, पोप उनके दूतों को अपने साथ भेंट का अवसर प्रदान नहीं करेगा। शनैः-शनैः यह बुराई कम हुई तथा अपराध करने वाले व्यक्तियों को दूतावास में पकड़ा जाने लगा। १८२६ में लन्दन में अमरीकन राजदूत गैलेटीन (Gallatin) के कोचवान ने अमरीकी दूतावास के बाहर एक अपराध किया, इसके बाद वह अमरीकी दूतावास की घुड़साल में छिप गया। यहाँ से ब्रिटिश पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। विदेश मन्त्री लार्ड डडली (Dudley) ने इस कार्य का समर्थन करते हुए कहा—"मुझे एक भी ऐसे दृष्टान्त का ज्ञान नहीं है जिसमें राष्ट्रों के कानून द्वारा किसी राजदूत के दूतावास को ऐसा विशेषाधिकार दिया गया हो कि इसमें अपराधियों को न पकड़ा जा सके।" इन्हें पकड़ने के एक अन्य उदाहरण में, १८६६ में पेरिस के रूसी दूतावास में निकित चेनकोफ ने एक रूसी सहचारी (Attache) पर हमला करके उसे घायल कर दिया, पुलिस इस अपराधी को दूतावास से पकड़ कर ले गई और फ्रेंच सरकार ने रूसी राजदूत की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया कि अपराधी उसे सौंपा जाय।

राजनीतिक अपराधियों को **दूतावास में शरण देने** (Diplomatic Asylum) के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में एक जैसी व्यवस्था नहीं है। पहले दूतावास इन्हें शरण दिया करते थे। स्पेन और दक्षिण अमरीका के राज्यों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। आज तक पेरु के अतिरिक्त अन्य सभी दक्षिण अमरीकी राज्य दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने का अधिकार रखते हैं। अन्यत्र दूतावासों को इस प्रकार अपनी इमारत में अपराधियों को संरक्षण देने का कोई अधिकार नहीं है। इस अवस्था में यदि प्रार्थना करने पर भी राजदूत अपराधी को नहीं देता तो राज्य के सिपाही इसे घेर कर अपराधी को इसमें से बलपूर्वक निकाल सकते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कुछ उच्छृङ्खल तथा गैर-कानूनी काम करने वाले व्यक्तियों के आक्रमण के प्रकोप से बचने के लिए दूतावास में शरण लेता है तो उसे मानवीय आधार पर दूतावास को अस्थायी रूप से संरक्षण देने का अधिकार माना जाता है। यह पहले बताया जा चुका है कि दूतावास अपने देश के किसी अपराधी व्यक्ति को अपने यहाँ इस इरादे से पकड़ कर नहीं रख सकते कि उसे वहाँ से मुकद्दमा चलाने के लिए स्वदेश भेजा जाय।

(३) **फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति** (Immunity from the Jurisdiction of Criminal Courts)—दूत फौजदारी कानून के अपराधों के लिए स्थानीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जाते हैं, पुलिस इन्हें पकड़कर अदालत में मुकद्दमा नहीं चला सकती। दूतों से यह आशा रखी जाती है कि वे ऐसे अपराध नहीं करेंगे। ऐसे अपराध होने की दशा में यह मामला उन्हें दूत बनाकर भेजने वाले देश के सामने रखा जाता है, उनको वापिस बुलाने तथा उनको अपने देश में दण्ड देने की माँग की जाती है।

ब्रियर्ली के शब्दों में "एक दूत जिस देश में भेजा जाता है, वह उस देश की फौजदारी कार्यवाही से तथा पुलिस की कार्यवाही से बिल्कुल मुक्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उस देश के फौजदारी कानून और पुलिस के नियमों का पालन करना उसका कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके विरुद्ध केवल यही कार्यवाही की जा सकती है कि उसकी सरकार को राजनयिक ढंग से उसकी शिकायत (Diplomatic complaint) की जाय अथवा बड़े गम्भीर अपराध में उसको देश से निकाल दिया जाय।"[१४]

पुरानी व्यवस्था ऐसी नहीं थी। १६५३ ई० में लन्दन में स्थित पुर्तगाली राजदूत के भाई डॉन पैण्टेलियोनसा का एक ब्रिटिश कर्नल से झगड़ा हो गया, अगले दिन वह अपने पाँच साथियों को लेकर उस कर्नल से दुबारा लड़ने गया, लड़ाई में एक अंग्रेज मारा गया। इसी बीच ब्रिटिश पुलिस वहाँ आ गई, डॉन ने भागकर पुर्तगाली दूतावास में शरण ली, किन्तु उसे बाद में ब्रिटिश सरकार को सौंपा गया। क्रामवेल ने यह मामला एक विशेष न्यायालय को सौंपा, इसने डॉन का यह दावा स्वीकार नहीं किया कि राजदूत का भाई होने से उसे दूतों जैसी स्थानीय फौजदारी अदालत के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्राप्त है। न्यायालय के निर्णयानुसार उसे फांसी का दण्ड दिया गया। किन्तु उस समय के प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों में लीबनित्ज़ (Leibnitz) तथा बिंकरशोयेक (Bynkershoek) ने इस निर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल बताया और अधिकांश आधुनिक विधिशास्त्रियों का भी ऐसा ही मत है।

राजा अथवा राज्य के विरुद्ध किए गए षड्यन्त्रों में से दूतों के सम्मिलित होने पर उन्हें प्रायः स्वदेश लौटने के लिए बाधित किया जाता है। इस विषय में पहले मन्दोजा और द बास के उदाहरणों का उल्लेख किया जा चुका है (पृ० ३५६)।

(४) **दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति** (Immunity from the Jurisdiction of Civil Courts)—दूतों के विरुद्ध स्थानीय न्यायालयों में दीवानी मामलों के सम्बन्ध में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता। यदि वह स्थानीय व्यक्तियों से कोई ऋण लेता है और इसे नहीं उतारता तो इसके लिए उस पर कोई मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता, उसे ऋण अदा न करने के लिए बन्दी नहीं बनाया जा सकता, कर्ज की वसूली के लिए उसका फर्नीचर, गाड़ी, घोड़े तथा अन्य सम्पत्ति जब्त नहीं की जा सकती। ग्रोशियस ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में इसका बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"राजदूत की वैयक्तिक सम्पत्ति न तो किसी न्यायालय के और न ही किसी प्रभुसत्तासम्पन्न राजा के आदेश से ऋणों की अदायगी या सुरक्षा के लिए जब्त की जा सकती है। मेरे विचार के अनुसार यह सबसे ठीक सम्मति है क्योंकि राजदूत द्वारा पूर्ण सुरक्षा के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शरीर पर तथा उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में सब प्रकार से सुरक्षित और चिन्तामुक्त हो। यदि वह ऋणग्रस्त हो जाय और उसके पास इसे

१४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २१३

चुकाने के लिए अचल सम्पत्ति न हो तो उससे ऋण अदा करने की प्रार्थना करनी चाहिए। यदि वह इसे स्वीकार नहीं करता तो इसकी शिकायत उसके स्वामी से करनी चाहिए।" बिंकरशोयेक ने भी ग्रोशियस के उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। वैटल (Vattal) ने इसको पुष्ट करते हुए कहा है कि यदि दूत व्यापार करता है तो उसके विरुद्ध किसी दावे की वसूली के लिए उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति जब्त की जा सकती है। किसी राजदूत का सामान इसी आधार पर नहीं रोका जा सकता कि उसने अपना कर्ज अदा नहीं किया। १७७२ में फ्रेंच सरकार ने एक जर्मन राज्य हेस्से केसल (Hesse-Cassel) के राजदूत बैरन डी रैंच को इस आधार पर पासपोर्ट नहीं दिया था कि उसने अपना कर्ज नहीं अदा किया था। इस पर पेरिस के अन्य सभी राजदूतों ने फ्रेंच सरकार के इस कार्य का तीव्र प्रतिवाद किया। इस विषय में इंगलैंड का १७०८ का कानून इतना कड़ा है कि राजदूत पर कर्ज अदा करने के लिए सम्मन भी तामील नहीं किया जा सकता है।

किन्तु दो अवस्थाओं में दूत की दीवानी मामलों में उन्मुक्ति (Immunity) समाप्त हो जाती है। **पहली** अवस्था उसका स्वयमेव स्थानीय दीवानी अदालत में उपस्थित होकर इसका क्षेत्राधिकार स्वीकार करना है। इस प्रकार वह स्वयमेव अपनी उन्मुक्ति का परित्याग कर देता है। **दूसरी** अवस्था उसका अदालत में किसी अन्य व्यक्ति पर अभियोग चलाना है, इससे भी वह अपने पर स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लेता है। दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से दूतों की मुक्ति प्रायः कोई जटिल समस्यायें नहीं उत्पन्न करती। दूत ऐसी दशा में स्वयमेव स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार मान लेता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो स्थानीय अधिकारी विदेश मन्त्रालय के कूटनीतिक पत्रव्यवहार द्वारा उसके देश से दूत पर कर्ज अदा करने के लिए दवाव डलवाते हैं। प्रायः विदेश मंत्रालय के दबाव से मामला सुलझ जाता है। यदि ऐसा न हो तो दूत के वापिस बुलाने की माँग की जाती है। दूतों को यह उन्मुक्ति केवल इसीलिए दी गई है कि वे अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें। इसका यह उद्देश्य नहीं कि 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की नीति के अनुसार वे खूब ऋण लेते चलें जायँ और इसे अदा न करें। सं० रा० संघ के विशेषाधिकार उन्मुक्ति समझौते में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह उन्मुक्ति देने का उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि नहीं, किन्तु सं० रा० संघ के कार्य को आगे बढ़ाना है।

१९६१ के वियना अभिसमय (Vienna Convention) ने राजदूतों के दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के सम्बन्ध से तीन अपवाद माने माने हैं (१ अनुच्छेद, ३१)—(१) वैयक्तिक अचल सम्पत्तिविषयक मामले (Real actions relating to immovable property), बशर्ते कि यह सम्पत्ति दूत भेजने वाले राज्य की ओर से इस दूत-मंडल का कोई प्रयोजन पूरा करने के लिए न रखी गयी हो। यदि यही अचल सम्पत्ति इस दूतमंडल का कोई प्रयोजन पूरा करने के लिये आवश्यक है तो इसके संबंध में इसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। (२) किसी ऐसी सम्पत्ति के उत्तराधिकार (Succession) के मामले, जिसमें दूत का सम्बन्ध उसकी वैयक्तिक

हैसियत से हो। (३) ऐसे मामले जिनमें राजदूत ने अपने सरकारी कार्यों के अतिरिक्त कोई व्यापारिक या व्यावसायिक (Professional) कार्य किया हो। इन अपवादों की व्यवस्था करते हुए स्पष्ट रूप से यह बात कही गई है कि इन मामलों में यदि कोई पार्टी राजदूत के विरुद्ध कोई आज्ञा प्राप्त कर लेती है तो उसका पालन करते हुए राजदूत के शरीर की तथा उसके निवासस्थान की अनतिक्रम्यता (Inviolability) को किसी प्रकार भंग नहीं किया जा सकेगा।

(५) **गवाही देने के कार्य से मुक्ति** (Exemption from Subpoena as Witness)—किसी स्थानीय दीवानी, फौजदारी या प्रशासनिक न्यायालय में साक्षी देने के लिए दूत को बाधित नहीं किया जा सकता। यदि कोई स्थानीय अधिकारी किसी विषय में उसकी साक्षी लेने के लिए दूतावास में जाय तो भी दूत को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह साक्षी दे या न दे। किन्तु यदि वह स्वयमेव साक्षी बनना स्वीकार कर लेता है तो उसका लाभ उठाया जा सकता है। १८८१ में अमरीकन राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के समय वेनेज़ुएला का राजदूत श्री कोमाञ्चो उपस्थित था, वह अपनी सरकार से आज्ञा लेकर इस मामले में दृष्टसाक्षी बना। १८५६ में वाशिंगटन में हालैण्ड के राजदूत मो० डुबोइस ने नरहत्या (Homicide) का एक मामला देखा। इस मामले को अदालत में चलाने के लिए डुबोइस की साक्षी आवश्यक थी, अमरीकन सरकार ने उससे गवाही देने की प्रार्थना की। डुबोइस द्वारा इसे स्वीकार न करने पर वाशिंगटन ने डच सरकार से यह निवेदन किया और उसने डुबोइस को अपनी गवाही अदालत के स्थान पर सं० रा० अमरीका के विदेशमंत्री को देने को कहा। कानूनी दृष्टिकोण से इसका कोई महत्व न होने के कारण यह साक्षी नहीं ली गयी।

(६) **करों से मुक्ति** (Exemption from Taxes)—दूत पर स्थानीय सरकार आयकर तथा अन्य प्रत्यक्ष कर नहीं लगा सकती। उसे नगरपालिका के मकान, बिजली, सफाई आदि के टैक्स देने चाहियें, किन्तु अनेक देशों में सौजन्यवश ये कर नहीं लिये जाते। उससे किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा ये कर वसूल नहीं किये जा सकते। राजदूत के उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी और तटकर नहीं लिया जाता। कई बार राजदूतों ने इस सुविधा का दुरुपयोग भी किया है। डेनमार्क में स्थित एक फ्रेंच राजदूत ने कोपनहेगन में पेरिस की वस्तुओं की दुकान खोली, जिससे अन्य दुकानदारों को बड़ा घाटा उठाना पड़ा। रूस के एक फ्रेंच राजदूत ने रेशम बेचने का काम शुरू किया था। भारत में उरुगुए के दूतावास के एक कर्मचारी नाडल ने सिंगापुर के एक व्यापारी तथा दूतावास की भारतीय लड़की उषा अडवानी के साथ मिलकर कीमती घड़ियों को चोरी से भारत में लाने का कार्य किया।

वियना अभिसमय (Vienna Convention) के अनुच्छेद ३४ में दूतों का करों से मुक्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और इसके साथ ही ऐसे करों की सूची भी दी गई है जिनपर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस प्रकार के अपवाद परोक्ष कर (Indirect taxes) या बिक्री-कर (Purchase tax) के हैं, जो प्रायः वस्तुओं के मूल्य में सम्मिलित कर लिये जाते हैं। इनमें ऐसे टैक्स भी हैं, जो विशुद्ध

रूप से व्यक्ति की अचल सम्पत्ति पर या वैयक्तिक आय पर लगाये जाते हैं। इस अभिसमय ने राजदूत के अथवा उसके परिवार के सदस्यों के वैयक्तिक उपयोग के लिये मंगाई गई वस्तुओं को सीमाशुल्क या चुंगी (Custom duty) से मुक्त माना है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का यह विचार था कि यह छूट पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Law) द्वारा नहीं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Comity) के कारण दी जाती थी, किन्तु इस सयय यह प्रथा इतनी सामान्य हो गई है कि इसे कानून के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। वियना सम्मेलन ने इसे कानून के रूप में ही माना है।

(७) **उपासना का अधिकार** (Right to worship)—प्रत्येक राजदूत को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार पूजा और उपासना करने की स्वतन्त्रता है। यह सम्भव है कि उसका धर्म स्थानीय धर्म से भिन्न और विरोधी हो। वह अपनी उपासना के लिये मन्दिर, मस्जिद या गिर्जाघर का अपने दूतावास में निर्माण कर सकता है।

(८) **पत्रव्यवहार की स्वतन्त्रता** (Freedom of Communication)—दूत को अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये अपनी सरकार के साथ पत्र-व्यवहार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये, अतः उसके पत्रों, तारों, संदेशों, कूटनीतिक थैलों (Diplomatic bags) का स्थानीय सरकार निरीक्षण नहीं कर सकती।

(९) **सीमित क्षेत्राधिकार** (Limited Jurisdiction)—राजदूत को अपने दूतावास की सीमा में रहने वाले व्यक्तियों पर सीमित क्षेत्राधिकार होता है, उसे अपने अनुचर वर्ग पर नियन्त्रण रखने तथा अपराध करने वाले किसी व्यक्ति पर मुकदमा चलाने के लिये उसे स्वदेश भेजने का अधिकार है। किन्तु वह अपने दूतावास के अपराधी व्यक्तियों के मामलों पर विचार करने और उन्हें दण्ड देने का अधिकार नहीं रखता।

दूत के अनुयायीवर्ग के विशेषाधिकार (Privileges of Envoys)—दूतों को प्राप्त होने वाले उपर्युक्त विशेषाधिकार उनके अनुयायीवर्ग को भी कुछ अंशों में प्राप्त होते हैं। उनके अनुयायीवर्ग में निम्न प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित हैं—(क) दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी—परामर्शदाता, सचिव, सहचारी (Attache), दुभाषिये, डाक्टर, पुरोहित। (ख) दूत की वैयक्तिक सेवा में लगे व्यक्ति, जैसे उनका निजी सचिव, उसके बच्चों की शिक्षिका। (ग) उसके परिवार के सदस्य—पत्नी, बच्चे। (घ) दूत के नौकर और सेवक। पहले तथा दूसरे वर्ग को दूतों की भाँति अनतिक्रम्यता (Inviolability), राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality), दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के अधिकार होते हैं। राजदूत दीवानी मामलों में आवश्यकता पड़ने पर इनको विशेषाधिकार से वंचित कर सकता है। तीसरे वर्ग में इसकी पत्नी को या पत्नी दूत हो तो उसके पति को सब विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। बच्चों और सम्बन्धियों को दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों से मुक्ति प्राप्त होती है। १९०६ में बेल्जियम में चिली के राजदूत के बेटे वैडिंगटन ने इसी दूतावास के सचिव की हत्या कर दी। बेल्जियम की सरकार ने पहले इस मामले में कोई कार्यवाही नहीं की। चिली के राजदूत ने अपने आप बेटे का विशेषाधिकार हटा लिया और चिली की सरकार ने इस पर बेल्जियम में मुकद्दमा चलाना स्वीकार कर लिया। घरेलू नौकरों

और सेवकों के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के १७०८ के कानून में यह व्यवस्था की गई है कि ये लोग व्यापार न करें तो दीवानी कार्यवाही के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं, किन्तु फौजदारी क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं होते। दूतों को अपने अनुयायीवर्ग की पूरी सूची विदेश मन्त्रालय को देनी पड़ती है और ब्रिटिश न्यायालय किसी व्यक्ति का कूटनीतिक विशेषाधिकार तब तक स्वीकार नहीं करेंगे, जब तक उन्हें विदेश मंत्रालय से इसकी सूचना न मिल जाय। राजदूतों के संदेशवाहक (Couriers) दीवानी व फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं, उनको विशेष पासपोर्ट दिये जाते हैं, उन्हें अन्य राज्यों में निर्दोष यात्रा (Innocent Passage) का अधिकार होता है, उनके कूटनीतिक पत्रों वाले मुहरबन्द थैलों की तलाशी नहीं ली जा सकती।

उन्मुक्तियों का आरम्भ और समाप्ति (Commencement and discontinuance of Immunities)—दूतों के ये विशेषाधिकार उस देश में पहुँचते ही शुरू हो जाते हैं, जिसमें उन्हें नियुक्त किया गया है। किन्तु इनकी समाप्ति उनके दौत्य की अवधि की समाप्ति के साथ नहीं होती। ये विशेषाधिकार उस समय तक बने रहते हैं, जब तक कि वे अपना कार्य न समेट लें और वापिस स्वदेश न लौट जायें। दूतों को नियुक्त होकर आते हुए तथा अपनी अवधि की समाप्ति पर स्वदेश लौटते हुए अन्य देशों में निर्दोष यात्रा (Innocent Passage) का अधिकार है। सं० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद १०५ के अनुसार संघ के सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों तथा संघ के अधिकारियों को अपना कार्य करने के लिये दूतों की भांति विशेषाधिकार देने की व्यवस्था की गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में राजदूतों को अपना कार्य छोड़ने के बाद बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं। इन्हें ध्यान में रखते हुए **वियना सम्मेलन** ने यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से की है कि दूतों को देश छोड़ने का तथा अपनी उन्मुक्तियों को तब तक उपयोग करने का अधिकार है जब तक उन्हें इसकी अनुमति दी जाय (अनुच्छेद ३९)। उनकी ये उन्मुक्तियाँ सशस्त्र संघर्ष या युद्ध में भी इसी प्रकार बनी रहेंगी। (अनुच्छेद ३९ व ४४)। अपनी विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति समाप्त हो जाने पर भी दूतों को उन सभी कार्यों के सम्बन्ध में उन्मुक्ति प्राप्त रहती है, जो कार्य उन्होंने दूतमण्डल का सदस्य रहते हुए किये थे। किन्तु यदि इस अवधि में उन्होंने विशुद्ध रूप से वैयक्तिक कार्यों—पूँजी के विनियोग, विवाह आदि के नियमों का भंग राजदूत रहते हुए किया हो तो उनके विरुद्ध इस विषय में कार्यवाही की जा सकती है।

कई बार राजदूतों को अपना कार्य समाप्त होने पर अन्य अथवा तृतीय राज्यों (Third States) में से होते हुए स्वदेश लौटना पड़ता है। तृतीय राज्य प्रायः राजदूतों को अपने देश में से गुजरते हुए सब सुविधाएं तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं। किन्तु सामान्यतः यह माना जाता था कि यह कार्य सौजन्यवश (Comity) किया जाता है, तृतीय राज्य विदेशी दूतों को अपने प्रदेश में से गुजरते हुए विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ देने के लिए बाधित नहीं किये जा सकते। **वियना अभिसमय** (Vienna Convention) ने यद्यपि यह तो नहीं कहा कि ततीय राज्य ऐसा करने के लिए बाध्य है, किन्तु इस

विषय में यह नया नियम बनाया है कि यदि कोई विदेशी राजदूत अपने पद पर नियुक्ति के बाद या पद से मुक्ति के अनन्तर उसके प्रदेश में से होकर गुजरता है तो तृतीय राज्य को उसे तथा उसके परिवार के सदस्यों को सब सुविधायें और उन्मुक्तियाँ देनी चाहियें तथा इनके राजनयिक पत्रव्यवहार तथा राजनयिक संदेश ले जाने वालों को वही स्वतन्त्रता, संरक्षण तथा अनतिक्रम्यता देनी चाहिए, जो वे अपने देश में आये दूतों को प्रदान करते हैं। वैल्डाक (Waldock) ने लिखा है कि ये व्यवस्थायें राजनयिक सम्बन्धों के कानून में महत्वपूर्ण नये नियम हैं।[15]

दौत्यकार्य की समाप्ति के कारण (Grounds for the termination of Diplomatic mission)—किसी दूत के कार्य की समाप्ति अनेक कारणों से हो सकती है। **पहला** कारण दूतमंडल भेजने का प्रयोजन पूरा हो जाना है। कई बार दूत किसी राजकीय विवाह, राज्यारोहण आदि में सम्मिलित होने के लिए या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए भेजे जाते हैं। इनकी समाप्ति पर इनके कार्य का अन्त हो जाता है। **दूसरा** कारण राजदूत के प्रत्ययपत्र (Letter of Credence) में दी गई उसके दौत्य कर्म की अवधि का समाप्त होना है। **तीसरा** कारण राजदूत को भेजने वाले राज्य द्वारा वापिस बुला लेना है। यह उसके त्यागपत्र देने, उसकी पदोन्नति होने से अथवा दूत भेजने और ग्रहण करने वाले देशों में किन्हीं कारणों से मतभेद, मनोमालिन्य और तनाव की वृद्धि होने से होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने वहाँ बसे हुए भारतीयों के साथ जातीय भेदभाव और पक्षपात की नीति के कारण बड़ा दुर्व्यवहार किया, भारत सरकार ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद प्रकट करने के लिये १९४६ में वहाँ से अपना हाई कमिश्नर वापिस बुला लिया और उसका कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंपा। किन्तु दक्षिण अफ्रीका की नीति में कोई परिवर्तन न होने तथा इसके अधिक उग्र होने पर जुलाई १९५४ में भारत सरकार द्वारा वहाँ का हाई

१५. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ् नेशन्स, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ २६४

यह नियम बनाने तथा राजदूतों को तृतीय राज्यों में से निर्दोष गमन (Innocent passage) का अधिकार देने की व्यवस्था इसलिए करनी पड़ी है कि पहले राज्य कई बार युद्ध के समय इसका उल्लंघन किया करते थे। उदाहरणार्थ, ९ नवम्बर १९१६ को आस्ट्रिया-हंगरी ने यह घोषणा की कि कौण्ट टार्नोवस्की (Tarnowski) सं० रा० अमरीका में राजदूत बनाया गया है, कौण्ट को अमरीका जाने के लिए राटरडम के डच बन्दरगाह से जहाज पर बैठना था; किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए उसे सुरक्षित यात्रा (Safe Conduct) का अभय वचन देना ब्रिटिश एवं फ्रेंच सरकार ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनका यह कहना था कि तटस्थ देशों में आस्ट्रिया-हंगरी के दूतावास अपने राजनयिक कार्यों से अतिरिक्त (जासूसी आदि) के कामों में लगे रहते हैं। उस समय सं० रा० अमरीका ने इन दोनों राज्यों के इस कार्य का प्रबल विरोध करते हुए कहा कि राजदूतों का आदान-प्रदान करना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों का ऐसा अधिकार है, जो उनसे कभी नहीं छीना जा सकता, युद्ध काल में भी इसका अपहरण नहीं हो सकता। इस पर फ्रेंच तथा ब्रिटिश सरकारों को आस्ट्रियन दूत को अपने प्रदेश में से होकर सुरक्षित रूप से जाने का आश्वासन देना पड़ा (स्वर्लियन—पृ० २०९)।

कमिश्नर का कार्यालय भी बन्द कर दिया गया। गोआ के प्रश्न पर पुर्तगाली सरकार द्वारा समझौते की बात चलाना बन्द करने पर भारत सरकार ने जुलाई १९५३ में लिस्बन से अपना राजदूत वापिस बुला लिया। **चौथा** कारण राजदूत की मृत्यु तथा **पाँचवां** कारण दोनों राज्यों में से किसी एक के शासनाध्यक्ष का परिवर्तन है। ओपेनहाइम ने लिखा है कि सं० रा० अमरीका में चुनाव अथवा मृत्यु द्वारा राष्ट्रपति का परिवर्तन होने पर वहाँ के राजदूतों के पुराने प्रत्ययपत्र समाप्त हो जाते हैं और नये प्रत्ययपत्र जारी किये जाते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में बहुमुखी कार्यपालिका (Plural Executive) की व्यवस्था होने के कारण राज्य के अध्यक्ष की मृत्यु हो जाने पर प्रत्ययपत्र बदलने की आवश्यकता नहीं होती। **छठा** कारण दोनों देशों में युद्ध छिड़ जाना है, इस दशा में दोनों देश अपने दूत वापिस बुला लेते हैं। **सातवाँ** कारण किसी राज्य का अन्य राज्य में विलय (Merger) तथा **आठवाँ** कारण दूत ग्रहण करने वाले राज्य द्वारा गम्भीर अपराध की दशा में उसे बर्खास्त करना है, जैसे इंगलैण्ड ने मेंदोज़ा और द बास को किया था (देखिए पृष्ठ ३५६)

नवाँ कारण दूत स्वीकार करने वाले देश (Accrediting State) द्वारा किसी विशेष कारण से इस दूत को इसे भेजने वाले देश से **वापिस बुलाने की मांग** करना है। यह तभी होता है, जब दूत के किसी आपत्तिजनक व्यवहार से राज्य उसका अपने यहाँ रहना वांछनीय नहीं समझता, वह दूत भेजने वाले राज्य को उसे वापिस बुला लेने के कारणों का स्पष्टीकरण करता है और उसे वापिस बुलाने का अनुरोध करता है। यह सम्भव है कि दूत भेजने वाले राज्य को ये कारण उपयुक्त या पर्याप्त न प्रतीत हों। इस अवस्था में भी उस राज्य को दूत वापिस बुलाना ही पड़ता है, भले ही वह इस विषय पर अपना असन्तोष नया राजदूत नियुक्त न करके प्रकट करे और दूतावास में निम्न पद रखने वाले व्यक्तियों से ही अपना कार्य चलाये। कुछ उदाहरणों से यह स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

(क) १८०४ ई० में सं० रा० अमरीका में स्थित स्पेनिश राजदूत पर यह आरोप लगाया गया कि वह दो देशों के एक विवाद में स्पेन का पक्ष लेने के लिए एक समाचारपत्र को घूस दे रहा है।

(ख) १८०९ में सं० रा० अमरीका ने वाशिंगटन में ब्रिटिश दूत जैक्सन की वापिसी की माँग की क्योंकि उसने एक भोज में कुछ आपत्तिजनक बातें कही थीं। इस पर उसे वापिस बुला लिया गया।

(ग) १९५२ में सोवियत रूस ने सं० रा० अमरीका से उसके राजदूत जार्ज केनन (George Kennan) को वापिस बुलाने की माँग की क्योंकि उसने बर्लिन में पत्र-सम्वाददाताओं को कुछ ऐसे वक्तव्य दिये थे, जो रूसी सरकार को अपने प्रतिकूल प्रतीत हुए। सं० रा० अमरीका ने रूस द्वारा अपने दूत की वापसी के कारणों को पर्याप्त नहीं समझा। अतः यह निश्चित किया गया कि केनन वापिस आ जाये, किन्तु उसके स्थान पर अभी कोई नया दूत न भेजा जाय, दूतावास का परामर्शदाता ही उसका कार्य करता रहे।

(घ) अक्टूबर १९५४ में सोवियत रूस की गुप्तपुलिस ने **अमरीकी दूतावास की कुछ स्त्रियों** को मास्को में गुण्डागर्दी के लिए पकड़ा। जब अमरीका ने इसका प्रबल विरोध किया तो रूस ने यह माँग की कि अमरीकी दूतावास के सहचारी (Attache) की पत्नी मिसेज़ सोमरलेट (Somerlatte) को वापिस बुला लिया जाय। सोवियत संघ द्वारा किसी पत्नी को वापिस बुलाने की माँग बड़ी अनोखी घटना थी।

(ङ) २७ जून १९६३ को सोवियत रूस ने पेकिंग की सरकार से मास्को के चीनी दूतावास के तीन कर्मचारियों को वापिस बुलाने की माँग की क्योंकि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल का सोवियत रूस की नीति की प्रबल आलोचना करने वाला १४ जून का वह पत्र रूस में वितरित किया था, जिसके प्रकाशन पर रूसी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। ३० जून १९६३ को ये सब चीनी स्वदेश वापिस लौट गये।[१६]

सं० रा० अमरीका के इतिहास में दूतों के वापिस बुलाने (Recall) के कई मनोरंजक उदाहरण हैं। इसमें सबसे प्रसिद्ध **नागरिक जेने** (Citizen Genet) का है। १७९२ ई० में फ्रेंच सरकार ने इसे सं० रा० अमरीका में अपना दूत बनाया। अप्रैल १७९३ में यह अमरीका में चार्ल्स टाउन पहुँचा तथा राष्ट्रपति वाशिंगटन को अपने प्रत्ययपत्र देने के लिये फिलाडेल्फिया जाने के स्थान पर इसने ब्रिटिश जहाजों को लूटने के लिए निजी युद्धपोतों (Privateers) को सन्नद्ध करना आरम्भ किया। यह कार्य अमरीका की तटस्थता के सर्वथा प्रतिकूल था। इसके अतिरिक्त उसने इन निजी युद्धपोतों द्वारा पकड़े गये ब्रिटिश जहाजों की ज़ब्ती के लिये फ्रेंच वाणिज्य दूतावास की ओर से अधिग्रहण न्यायालय स्थापित किये। जब उसे इन अवैध कार्यों को बन्द करने के लिये कहा गया तो उसने राष्ट्रपति वाशिंगटन की सम्मतियों के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हुए राष्ट्रपति की सत्ता एवं अधिकार में सन्देह प्रकट किया। इस पर स० रा० अमरीका ने फ्रांस से इस दूत को वापिस बुलाने की माँग की। दूसरा उदाहरण १८४६ में पेरु की राजधानी लीमा से अमरीकी कार्यदूत (Charge d' Affaires) जेवट (Jewett) को वापिस बुलाने का है। पेरु के विदेश मन्त्री सोल्डन ने इसे एक ऐसे सरकारी पत्र (Peruano) के आदेश की प्रतिलिपि भेजी, जिसका उद्देश्य पेरु में विदेशी शक्तियों के अपने नागरिकों की ओर से हस्तक्षेप को रोकना था। इस विषय में जब सोल्डन और जेवेट में पत्रव्यवहार चला तो जेवेट ने इसे 'कानूनी तथा नैतिक विकृतियों का सम्मिश्रण' कहा। इस पर बात यहाँ तक बढ़ी कि पेरु ने इस कार्यदूत को वापिस बुलाने की माँग की। तत्कालीन विदेशमन्त्री जेम्स बुकानन ने इसी प्रसंग में दूतों की वापसी के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि यदि दूत उसे ग्रहण करने वाले देश में अपने को अस्वीकरणीय बना लेता है तो उसे वापिस बुलाने की माँग स्वीकार कर लेनी चाहिये, यदि ऐसा न किया जाय तो विदेश में दूत भेजने का मुख्य प्रयोजन—मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की वृद्धि—सर्वथा विफल हो जायगी।[१७]

१६. कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६३, पृ० १९५६९
१७. स्वर्लियन—इण्ट्रोडक्शन टू दी लॉ आफ् नेशन्स, पृ० १५४

दसवाँ कारण **जासूसी के कारण वापसी** की माँग (Recall due to espionage) है। कई बार दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तियों का दुरुपयोग करते हुए गुप्तचर का काम करते हैं और गोपनीय सैनिक सूचनायें अपने देश को भेजते हैं। इस दशा में इनको वापिस बुलाने की माँग करना स्वाभाविक है। ३ सितम्बर १९६३ को दिल्ली की पुलिस ने एक होटल में पाकिस्तान हाई कमीशन के तीन व्यक्तियों को एक भारतीय पाइलट आफिसर से गुप्त सूचनायें प्राप्त करते हुए रंगे हाथ पकड़ा, इनमें पाकिस्तान के हवाई परामर्शदाता विंग कमाण्डर अरशाद भी सम्मिलित थे। भारत सरकार ने इन सब व्यक्तियों की वापसी की माँग की। इस पर इसका बदला लेने के लिए पाकिस्तान ने कराची स्थित भारतीय दूतावास के तीन कर्मचारियों पर जासूसी का आरोप लगाया और उन्हें वापिस बुलाने की माँग की।[१८] (८ सितम्बर १९६३)।

ग्यारहवाँ कारण राजनीतिक मतभेदों की उग्रता के कारण दूत-सम्बन्ध का भंग होना है। क्यूबा में कास्ट्रो (Castro) की साम्यवादी सरकार स्थापित होने पर उसका सं० रा० अमरीका से प्रबल विरोध उत्पन्न हुआ। २ जनवरी १९६१ को कास्ट्रो ने अपने एक भाषण में कहा[१९] कि क्यूबा की राजधानी हवाना में सं० रा० अमरीका का दूतावास क्रान्तिविरोधियों के कार्यों का अड्डा बना हुआ है, इसके ३०० कर्मचारियों में से ८० प्रतिशत गुप्तचर का काम कर रहे हैं, ये सरकार के विरोधियों की सहायता कर रहे हैं, अतः इनकी संख्या घटाकर केवल ११ कर दी जाय, शेष कर्मचारी ४८ घंटे में वापिस बुला लिये जाएं।" अमरीकी सरकार ने कहा कि इतने कम कर्मचारियों स काम चलना सम्भव नहीं है, इस दशा में वहाँ दूतावास रखने का कोई लाभ नहीं है। अतः सं० रा० अमरीका ने क्यूबा से दूतसम्बन्ध भंग कर दिये। क्यूबा के साम्यवादी होने के कारण दक्षिण अमरीका के अर्जेण्टायना, इक्वेडोर आदि १५ देशों ने क्यूबा से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिये।[२०] डोमिनिकन गणराज्य ने वेनेज़ुएला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास (२४ जून, १९६०) में सहयोग दिया था, अतः अमरीकी राज्यों के संगठन (Organization of American States) की २१ राज्यों के विदेशी मंत्रियों की बैठक (१६–२८ अगस्त, १९६०) ने यह निश्चय किया कि अमरीका महाद्वीप के राज्य इससे अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दें तथा इसका आर्थिक बहिष्कार करें। इस पर सभी अमरीकी राज्यों ने इससे दूतसम्बन्ध भंग कर लिये।[२१] २६ सितम्बर १९६३ को मलायेशिया संघ का निर्माण हुआ। फिलिप्पाइन और इंडोनीशिया इसके प्रबल विरोधी थे, उन्होंने इसके स्थापित होते ही इससे अपना दूतसम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया, १७ सितम्बर को मलायेशिया ने भी इन देशों से अपने दूत वापिस बुला लिये।

वाणिज्यदूत (Consuls)—दूसरे राज्यों में अपने व्यापार और वाणिज्य के

१८. हिन्दुस्तान टाइम्ज़, १० सितम्बर, १९६३
१९. कीसिंग्स आर्काइव्ज़, १९६१, पृ० १७९१०
२०. कीसिंग्स आर्काइव्ज़, १९६१ पृ० १८७१७
२१. वही, पृ० १७६६१

हितों की सुरक्षा के लिये नियत किये गये प्रतिनिधि वाणिज्यदूत कहलाते हैं। इनका प्रादुर्भाव मध्ययुगीन योरोप के स्पेन, फ्रांस और इटली के व्यापारिक नगरों में हुआ। आरम्भ में विदेश में रहने वाले व्यापारियों द्वारा अपने वाणिज्य सम्बन्धी विवादों के निपटाने के लिए चुने गये पंच जज-कांसुल (Judges-Consul) या कांसुल-व्यापारी (Consul Merchants) कहलाते थे। १५वीं शताब्दी में हालैण्ड और लण्डन में इटालियन कांसुल थे तथा इटली, हालैण्ड, डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन में ब्रिटिश कांसुल थे। इसके बाद इस प्रथा का ह्रास होने लगा। किन्तु १६वीं शताब्दी में पुनः इसकी महत्ता का अनुभव किया गया और इस समय शायद ही कोई ऐसा देश हो जो अन्य देशों में अपने वाणिज्यदूत न नियत करता हो। भारत के वाणिज्यदूत योरोप, अमरीका, अफ्रीका और एशिया के व्यापारिक महत्व रखने वाले सभी राज्यों में हैं।

वाणिज्यदूत विदेश में अपने राज्य के प्रतिनिधि होते हुए भी कूटनीतिक प्रतिनिधि (Diplomatic Agents) नहीं हैं। इनका प्रधान कार्य अपने देश के व्यापारिक हितों का संरक्षण है, किन्तु इसके साथ ये अपने देश के प्रजाजनों के लिये कुछ अन्य कार्य भी करते हैं, ये इनके विविध प्रकार के कानूनी लेखों, साक्षियों और पत्रों को प्रमाणित करने वाले सार्वजनिक लेख्यप्रमाता (Public Notary) का काम करते हैं, इन्हें पासपोर्ट देते हैं, इनके विवाह सम्पन्न कराते हैं और उस देश के बन्दरगाहों में आने वाले स्वदेशीय जहाजों के नाविक वर्ग पर पूरा अनुशासन, नियन्त्रण और निरीक्षण रखते हैं।

विदेश में **कांसुल का राजदूत से एक महत्वपूर्ण अन्तर** यह है कि राजदूत केवल एक व्यक्ति होता है, किन्तु कांसुल व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार एक से अधिक संख्या में होते हैं। प्रायः सभी महत्वपूर्ण व्यापारिक नगरों और बन्दरगाहों में एक वाणिज्यदूत अवश्य होता है। इसके मुख्य वर्ग ये हैं—महावाणिज्यदूत (Consul-General), वाणिज्यदूत (Consul), सहायक वाणिज्यदूत (Vice-Consul), वाणिज्य प्रतिनिधि (Consular Agent)। उदाहरणार्थ, भारत सरकार ने विदेशों में पाँच प्रकार के वाणिज्यदूत नियत किए हुए हैं—(क) बेल्जियन कांगो, कोपनहेगन, दमिश्क आदि में महावाणिज्यदूत (Consul-General) है, (ख) अदन, पूर्वी अफ्रीका, फिजी आदि में आयुक्त (Commissioner) हैं। (ग) बसरा, बर्लिन, कोबे में वाणिज्यदूत (Consul) हैं। (घ) एण्टवर्प, जलालाबाद, कन्धार में सहायक वाणिज्यदूत (Vice-Consul) हैं। (ङ) पहले तिब्बत के तीन नगरों ग्यांत्से, गरतोक और यातुंग में एजेन्सियाँ थीं। किन्तु १९४९ में तिब्बत में चीनी प्रभुत्व सुदृढ़ होने के बाद इनका महत्व समाप्त हो गया है।

वाणिज्यदूतों की नियुक्ति दूतों की भाँति प्रत्ययपत्र (Letter of Credence) के द्वारा नहीं होती, किन्तु ये अपनी सरकार के आदेश से नियुक्त किये जाते हैं। यह सरकार इनकी नियुक्ति की सूचना उस देश की सरकार को भेजती है, जहाँ इन्हें नियत किया जाना होता है। वहाँ की सरकार से यह प्रार्थना की जाती है कि वह उन्हें अपने देश में वाणिज्यदूत का कर्तव्य पूरा करने की अनुमति देने के लिए आवश्यक पत्र जारी करे। यह **अनुमतिपत्र** (Exequatur) कहलाता है। यदि सरकार को इस नियुक्ति पर कोई आपत्ति नहीं होती तो वह यह अनुमतिपत्र प्रकाशित कर देती है। यदि वाणिज्य-

दूत स्थानीय नियमों का कोई उल्लंघन करता है तो सरकार इस अनुमतिपत्र (Exequatur) को वापिस ले लेती है।

वाणिज्यदूतों को उस देश की सरकार से, जहाँ उनकी नियुक्ति हुई हो, सीधा पत्र-व्यवहार करने का अधिकार नहीं होता। राजदूतों के अभाव में ही उन्हें यह अधिकार दिया जाता है। इनके विशेषाधिकार भी दूतों से कम होते हैं, ये स्थानीय सरकार के क्षेत्राधिकार से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं होते हैं। हालैण्ड (Holland) के कथनानुसार इन्हें राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) तथा अनतिक्रम्यता (Inviolability) के विशेषाधिकार नहीं होते।[22] आपेनहाइम (Oppenheim) ने लिखा है कि अपना सरकारी कार्य करते हुए ही इन्हें स्थानीय दीवानी तथा फौजदारी अदालतों के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति प्राप्त होती है।[23] आजकल विभिन्न राज्य द्विपक्षीय संधियों द्वारा वाणिज्यदूतों के विशेषाधिकारों का निर्धारण करने लगे हैं। सामान्य रूप से इन्हें अपना कर्तव्यपालन करने के लिए आवश्यक समझे जाने वाले अधिकार ही दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, इनसे जूरी का काम नहीं लिया जाता, इन्हें सुरक्षित यात्रा (Safe Conduct) का अधिकार होता है, इनके सरकारी कागजों तथा पत्र-व्यवहार का निरीक्षण और तलाशी नहीं हो सकती, किसी अपराध का आरोप लगाए जाने पर इन्हें उस समय तक जमानत पर छूटने का अधिकार होता है, जब तक कि इनका अनुमतिपत्र (Exequatur) वापिस न ले लिया जाय। कुछ राज्यों में वाणिज्यदूतों को करों तथा सीमा शुल्क (Custom duties) में भी आंशिक मुक्ति प्रदान की जाती है। सामान्यतः वाणिज्यदूतों के विशेषाधिकार दूतों के अधिकारों की अपेक्षा बहुत कम हैं और इनका स्वरूप उतना सुनिश्चित नहीं हुआ है। स्टार्क ने लिखा है कि राज्यों की वर्तमान प्रवृत्ति राजदूतों तथा वाणिज्यदूतों की सेवायें सम्मिलित और संयुक्त करने की है। अनेक राज्यों में एक ही व्यक्ति को दोनों कार्य सौंपे जाते हैं। यदि यह प्रवृत्ति बढ़ी तो दूतों तथा वाणिज्यदूतों के विशेषाधिकारों का अन्तर भविष्य में कम हो जायगा।[24]

वाणिज्यदूतविषयक सम्बन्धों का १९६३ का वियना अभिसमय (Vienna Convention on Consular Relations, March 1963)—सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने १८ दिसम्बर, १९६१ को एक प्रस्ताव (सं० १६८५) पास कर के वाणिज्यदूतों के सम्बन्धों के विषय में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया था। इसके अनुसार आस्ट्रिया की राजधानी वियना में ४ मार्च से २३ अप्रैल १९६३ तक एक ऐसा सम्मेलन हुआ, इसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा इस विषय

२२. वाणिज्य दूतावास (Consulates) दूतावास (Embassis) की भाँति पुलिस तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा अप्रवेश्य नहीं समझे जाते। १९४८ में कसेनकिना के मामले में सं रा० अमरीका में सोवियत वाणिज्य दूतावास की ऊपरली मंजिल की खिड़की से एक रूसी स्त्री नीचे सड़क पर कूदी थी। उस समय सं० रा० अमरीका ने इस मामले की जांच के लिए अपनी पुलिस वाणिज्य दूतावास में भेजी थी।

२३. आपेनहाइम—इटरनेशनल लॉ, खं० १

२४. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० २७९

में तैयार किये गये नियमों पर विचार-विमर्श करके एक समझौता तैयार किया।[२५] इसे तैयार करने वाली समिति (Drafting Committee) के अध्यक्ष भारत के प्रतिनिधि श्री के० कृष्णराव थे। इस अभिसमय की महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं।

इसमें वाणिज्य दूतावासों के अध्यक्षों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं—(क) महावाणिज्यदूत (Consul-General), (ख) वाणिज्यदूत (Consuls), (ग) उप-वाणिज्यदूत (Vice-Consuls), (घ) वाणिज्यिक अभिकर्ता (Consular Agents)। किन्तु राज्यों को अधिकार है कि वे इनसे अधिक एवं विभिन्न प्रकारों के वाणिज्य-दूत भी नियुक्त कर सकते हैं (अनुच्छेद ६)। इसके अनुच्छेद (Article) ३१ में वाणिज्य दूतावास की इमारतों की अनतिक्रम्यता (Inviolability of the Consular premises) का, अनुच्छेद ३२ में इनकी करों से मुक्ति का, अनुच्छेद ३३, ३४ ३५ में वाणिज्य दूतावास सम्बन्धी अभिलेखों तथा दस्तावेजों की अनतिक्रम्यता (Inviolability of the Consular Archives and Documents), घूमने-फिरने तथा यात्रा की स्वतन्त्रता तथा पत्र-व्यवहार करने की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं। इस विषय में वियना सम्मेलन ने वाणिज्यदूतों को राजदूतों जैसे विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की है। अनुच्छेद ४१ में वाणिज्यदूताधिकारियों की शारीरिक अनतिक्रम्यता (Personal inviolability), अनुच्छेद ४३ में न्यायिक और प्रशासनात्मक क्षेत्राधिकार से मुक्ति स्वीकार की गई है। इसी प्रकार इन्हें सीमा शुल्कों (Custom duties) से तथा करों से मुक्ति प्राप्त है (अनुच्छेद ४८, ४९), ये सब अधिकार राजदूतों जैसे हैं। किन्तु स्थानीय क्षेत्राधिकार से इनकी मुक्ति राज-दूतों की उन्मुक्ति की अपेक्षा अधिक सीमित तथा मर्यादित है। वाणिज्यदूतों की उन्मु-क्तियाँ केवल उन्हीं कार्यों तक सीमित हैं, जो उन्होंने वाणिज्यदूत का कर्तव्य पूरा करने के लिए किये हों, फौजदारी मामलों में स्पष्ट रूप से उन्हें उस राज्य का क्षेत्राधिकार स्वीकार करना होगा, जहाँ वे दूत बनाकर भेजे गये हों (अनुच्छेद ४३)। ये गम्भीर अपराध होने की दशा में ही गिरफ्तार किये जा सकते हैं, जेल में तब तक नहीं भेजे जा सकते, जब तक कि इनके मामले का अन्तिम निर्णय न हो जाय। अपने कार्यों से सम्बन्ध न रखने वाले मामलों में वे गवाही दे सकते हैं। इस विषय में इस अभिसमय की नई व्यवस्था यह है कि यदि वे ऐसे मामलों में गवाही देने से इन्कार करें तो उन्हें इसके लिये बाधित नहीं किया जा सकता (अनुच्छेद ४४)।

अभी तक वाणिज्यदूतों के सम्बन्ध में यह स्थिति थी कि वे कुछ स्थानीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए नियुक्त किये जाते थे और उन्हें अपना सीधा सम्बन्ध स्थानीय अधिकारियों (Local authorities) के साथ ही रखना पड़ता था। यदि वे अपने देश की सरकार के साथ कोई पत्र-व्यवहार या सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे तो वे यह कार्य अपने देश के राजदूत के माध्यम से कर सकते थे। किन्तु वियना अभिसमय ने

२५. इसके लिए देखिये—इण्डियन जनरल आफ इण्टरनेशनल लॉ, अप्रैल १९६३, पृ० २१८–२५३।

वाणिज्यदूतों को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे उन्हें नियुक्त करने वाले राज्य के नागरिकों तथा सरकार के साथ सीधा पत्र-व्यवहार कर सकते हैं (अनुच्छेद ३६)। ब्रियर्ली ने लिखा है कि यह अभिसमय अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रगतिशील विकास के कई नये तत्वों का समावेश करने वाला है।[२१]

२१. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, छठा संस्करण, पृ० २६५

सत्रहवाँ अध्याय

सन्धियाँ

(Treaties)

सन्धियों का स्वरूप (Nature of Treaties)—सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बड़ा महत्वपूर्ण स्रोत हैं (देखिये तीसरा अध्याय)। अत्यन्त प्राचीनकाल से ये विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन और नियन्त्रण करती रही हैं। आपेनहाइम (Oppenheim) ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ ऐसे समझौते हैं, जो संविदात्मक (Contractual) होते हैं, राज्यों अथवा राज्यों के संगठनों के मध्य किये जाते हैं और जो कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न करते हैं।"[1] स्टार्क (Starke) से शब्दों में "सन्धि का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा समझौता है, जिससे दो या अधिक राज्य आपस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधीन सम्बन्ध स्थापित करते हैं या करना चाहते हैं।"[2] राष्ट्रीय कानून में एक व्यक्ति के पास कानूनी कार्य करने के अनेक साधन है जैसे संविदा (Contract), स्वत्वान्तर (Conveyance), पट्टा (Lease), अनुज्ञा (Licence)। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में राज्यों के पास विविध प्रकार के कानूनी कार्य करने के लिये सन्धि ही एक-मात्र साधन है। राज्य इसी से मौलिक संवैधानिक कानून बनाते हैं, जैसे सं० रा संघ का १९४५ में सैन फ्रांसिस्को में बनाया गया चार्टर, इसीसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण करते हैं, अपनी भूमि तथा अड्डे पट्टे पर देते हैं, सैनिक मैत्रियाँ करते हैं, बेल्जियम जैसे राज्योंको १८३१ की सन्धि द्वारा तटस्थ बनाया जाता है। विधायक (Law making) सन्धियों द्वारा कानून का निर्माण किया जाता है।

सन्धि और संविदा (Treaty and Contract)—सन्धि वैयक्तिक कानून की संविदा (Contract) से गहरा सादृश्य रखती है। दोनों में उभय पक्ष की सहमति आवश्यक है। किन्तु इसके साथ ही दोनों में एक बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर है। यदि कोई संविदा अनुचित दबाव (Duress) डालकर करायी जाय तो इसकी वैधता समाप्त हो जाती है, किन्तु कोई सन्धि दबाव के कारण अवैध नहीं होती। वर्साय की सन्धि इसका सुन्दर उदाहरण है, प्रथम विश्वयुद्ध में परास्त होने पर जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के सैनिक

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं १, ८वां संस्करण' पृ० २९१

२. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, ८वां संस्करण, पृ० २८० ; कौटिल्य ने सन्धि का लक्षण करते हुए कहा है—पणबन्धः सन्धिः (७।१), अर्थात् दो राज्यों के बीच आत्मसमर्पण, प्रदेश देने आदि की शर्तों (पण) से बंधना सन्धि है।

दबाव से लाचार होकर यह सन्धि की थी, किन्तु इसे अवैध नहीं कहा जा सकता। यदि इसमें संविदा वाला सिद्धान्त माना जाय तो युद्धों के बाद विजेता और विजित के मध्य की जाने वाली सभी सन्धियाँ अवैध हो जायेंगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता मच जायगी।

सन्धिवाची कुछ शब्द (Terminology of Treatics)—सन्धि दो राष्ट्रों का संविदात्मक (Contractual) समझौता है। इस शब्द का प्रयोग शान्ति, मित्रता या देश के हस्तान्तर के समय किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा समझौतों का अर्थ देने वाले कुछ अन्य प्रसिद्ध शब्द निम्नलिखित हैं—

(१) **अभिसमय** (Convention)—इस शब्द का प्रयोग अनेक राज्यों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले एक औपचारिक आलेख (Formal instrument) के लिये होता है। जैसे १८९९ तथा १७०७ में हेग सम्मेलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल, स्थल युद्ध, तटस्थता आदि के अभिसमय, (देखिये ऊपर पृ० ५१)। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में विभिन्न राज्यों द्वारा कुछ विषयों पर किये समझौते भी अभिसमय (Convention) कहलाते हैं।

(२) **प्रोतोकोल**—इस फ्रेंच शब्द का मूल अर्थ तो किसी पांडुलिपि के आरम्भ में गोंद से चिपकाया गया पहला पन्ना तथा मूल प्रति है। राजनयिक शब्दावलि में सामान्यतः इसका आशय ऐसे हस्ताक्षरांकित लेखपत्र से होता है, जिसमें अन्तिम सन्धि होने से पहले दोनों पक्षों द्वारा सहमति प्राप्त बातों का उल्लेख हो, यह इस प्रकार सन्धि का पूर्ववृत्त होता है। स्टार्क ने लिखा है कि "यह अभिसमय से कम औपचारिक (Formal) समझौता होता है और यह कभी दो राज्याध्यक्षों के बीच में नहीं होता।" इसमें निम्न प्रकार के चार लेख (Instruments) सम्मिलित होते हैं—(अ) किसी अभिसमय का सहायक एवं उसकी विशेष धाराओं का स्पष्टीकरण करने वाला लेख। इसके पृथक् अनुसमर्थन (Ratification) की आवश्यकता नहीं होती। (आ) एक अभिसमय का सहायक (Auxilliary) किन्तु स्वतन्त्र प्रकार का लेख, इसके लिए पृथक् अनुसमर्थन आवश्यक होता है, जैसे १९३० में 'राष्ट्रीयता कानून के संघर्ष' के हेग अभिसमय (Hague Convention in the Conflict of Nationality) के साथ हस्ताक्षर किया गया राज्यहीनता (Statelessness) का हेग प्रोतोकोल। (इ) सर्वथा नवीन सन्धि, जैसे १९२४ का जेनीवा प्रोतोकोल, इसे प्रोतोकोल कहने का यह कारण था कि इसे किसी राजनयिक सम्मेलन ने नहीं स्वीकार किया था, किन्तु राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने पास किया था। (ई) कुछ स्वीकार की गई बातों का लेख (Proce's-Verbal)।

(३) **समझौता** (Agreement)—यह सन्धि या अभिसमय से कम औपचारिक (formal) होता है, राज्यों के अध्यक्षों के मध्य नहीं होता। इसका क्षेत्र बहुत सीमित तथा इसे स्वीकार करने वाले राज्यों की संख्या अभिसमय से कम होती है। इस शब्द

१. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८५

का प्रयोग प्राविधिक और प्रशासनिक स्वरूप रखने वाले ऐसे समझौतों के लिये भी होता है, जिन पर सरकारी विभागों के प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं और जिनके अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

(४) **व्यवस्था** (Arrangement)—यह शब्द प्रायः अस्थायी प्रकृति रखने वाले समझौतों के लिये प्रयुक्त होता है।

(५) **प्रामाणिक विवरण** (Proce's-Verbal)—इसका मूल अभिप्राय एक कूटनीतिक सम्मेलन में हुए निर्णयों तथा कार्यवाही का सारांश था। बाद में इसका प्रयोग दो पक्षों के समझौतों के लिये भी होने लगा, जैसे इटली और स्विट्ज़रलैण्ड का १८९२ में ज़ूरिच में हुआ व्यापारिक समझौता। इसके लिये अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

(६) **परिनियम** (Statute)—इसका प्रयोग इन तीन अर्थों में होता है—(अ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के कार्य संचालन के लिये आवश्यक नियमों का संग्रह, जैसे १९४५ का न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परिनियम, (आ) अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में विद्यमान किसी सत्ता (Entity) के कार्य संचालन के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा बनाये गये नियमों का संग्रह, जैसे १९३७ में एलेक्जेण्ड्रेटा के संजक के नियम। (इ) किसी अभिसमय का सहायक लेख, जिसमें लागू किये जाने वाले नियमों का वर्णन हो, जैसे १९२१ के बार्सिलोना के पारगमन की स्वतन्त्रता के अभिसमय (Convention on Freedom of Transit) के साथ जोड़े गये पारगमन स्वातन्त्र्य के परिनियम।

(७) **घोषणा** (Declaration)—इसके तीन अर्थ हैं—(अ) सन्धि, जैसे १८५६ की पेरिस की घोषणा। (आ) किसी सन्धि या अभिसमय के साथ जोड़ा गया उसकी व्याख्या करने वाला अनौपचारिक लेख। (इ) अल्प महत्व वाले मामले के बारे में किया गया अनौपचारिक समझौता। इनका अनुसमर्थन कई बार आवश्यक होता है।

(८) **अस्थायी प्रणाली** (Modus Vivendi)—यह ऐसा लेख है, जिसमें अस्थायी प्रकृति वाले समझौते का वर्णन होता है। बाद में इसके स्थान पर स्थायी समझौता किया जाता है।

(९) **संपत्रों का विनिमय** (Exchange of notes)—राज्य इनमें प्रायः उन दायित्वों का निर्देश करते हैं, जिनका पालन करना वे आवश्यक समझते हैं।

(१०) **चरम कानून** (Final Act)—इसमें एक अभिसमय बनाने के लिये बुलाये गये सम्मेलन की सारी अन्तिम कार्यवाही का संक्षिप्त उल्लेख रहता है, जैसे अगस्त १९६३ में लन्दन में हुए गेहूँ का निर्यात और आयात करने वाले सम्मेलन का चरम लेख।

(११) **सामान्य कानून** (General Act)—यह वास्तव में सन्धि होता है। राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने १९२८ में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के पंच-निर्णय का General Act पास किया था।

सन्धिविषयक संहिता—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने बीस वर्ष के सुदीर्घ विचार के बाद सन्धि सम्बन्धी सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा कानूनों की एक संहिता तैयार की है, इसे १९६९ में ११० राष्ट्रों के एक सम्मेलन ने **सन्धियों के कानून के वियना अभिसमय** (Vienna Convention on the Law of Treaties) के रूप में स्वीकार किया है।

सन्धि सम्पादन के आठ आवश्यक अंग (Eight Steps in Conclusion of Treaties)—सन्धि करने की कोई सुनिश्चित विधियाँ नहीं हैं, फिर भी सन्धि के नियमों के बाध्य रूप से पालन के लिये प्रत्येक सन्धि के सम्पादन में क्रमशः निम्न आठ अंगों का अनिवार्य होना आवश्यक है। **पहला अंग** सन्धि चर्चा के लिये विभिन्न देशों के मन्त्रालयों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रतिनिधि नियत करना (Accrediting of Negotiators) है। इन्हें अपने विदेशमन्त्री से इस कार्य का अधिकार प्रदान करने वाला **पूर्णाधिकार** (Full Powers, Pleins Pouvoirs) नामक प्रमाण-पत्र दिया जाता है। जब इस पर राजा या शासनाध्यक्ष के हस्ताक्षर हों तो इसे **'विशेष पूर्णाधिकार'** (Special Full Powers) कहा जाता है। सन्धि सम्पादन का **दूसरा अंग** सन्धिवार्त्ता (Negotiations) है। इसके बाद सन्धि का मसविदा तैयार हो जाने पर **तीसरा अंग** हस्ताक्षर (Signature) का होता है, यह बहुत ही औपचारिक ढंग से और बड़े समारोह के साथ किया जाता है। इसके लिये सन्धि परिषद् का अन्तिम अधिवेशन विशेष रूप से बुलाकर उसमें वर्णानुक्रम से देशों के विभिन्न प्रतिनिधि एक मेज के पास आकर बारी-बारी से हस्ताक्षर करते है, जैसे १९१९ में वर्साय की सन्धि पर विभिन्न देशों ने शीशमहल (Hall of Mirrors) में हस्ताक्षर किये थे। ये हस्ताक्षर राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त ऐसी सन्धि परिषदों में भाग लेने वाले राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री भी करते हैं, जैसे १९१९ की वर्साय की सन्धि पर सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने तथा १९३८ के म्यूनिख के समझौते पर ब्रिटिश एवं फ्रेंच प्रधानमन्त्रियों ने हस्ताक्षर किये। यदि सन्धि का अनुसमर्थन (Ratification) न होना हो तो यह हस्ताक्षर होने के बाद ही लागू हो जाती है, जैसे १९०२ की ऐंग्लो-जापानीज़ मैत्री सन्धि। कई बार सन्धियों में यह कहा जाता है कि वे अनुसमर्थन होने से पहले हस्ताक्षर होने के बाद से ही दोनों पक्षों पर अस्थायी रूप से लागू समझी जायेंगी, जैसे ६ जुलाई, १९५७ की जापान तथा आस्ट्रेलिया की व्यापार सन्धि। यदि सन्धि का अनुसमर्थन होना हो तो प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने के बाद भी उनकी सरकारें इस सन्धि को अस्वीकार कर सकती हैं, जैसे सं० रा० अमरीका की सरकार ने वर्साय की सन्धि पर इसके राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने पर भी इसे अस्वीकार किया था।

सन्धि सम्पादन का **चौथा अंग** अनुसमर्थन (Ratification) है। यह कई कारणों से उचित जान पड़ता है—(क) राज्यों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे संधि की बाध्यताएँ और कर्तव्य स्वीकार करने से पहले अपने प्रतिनिधियों द्वारा मानी गई शर्तों पर पूरी तरह पुनर्विचार कर लें। (ख) राज्य की प्रभुसत्ता उसे किसी सन्धि

को अस्वीकार करने का अधिकार प्रदान करती है। (ग) प्रायः संधियों द्वारा राष्ट्रीय कानून में संशोधन करने आवश्यक होते हैं। हस्ताक्षर के बाद अनुसमर्थन के समय तक राज्यों को इसके लिये संसद् से आवश्यक स्वीकृति लेने का अवसर मिल जाता है। (घ) लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार सरकार को सन्धि की बाध्यता ग्रहण करने से पहले लोकमत का संसद् द्वारा समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। राज्य चार कारणों के आधार पर सन्धि को सन्तुष्ट करने से अस्वीकार कर सकता है—(क) उसके प्रतिनिधि ने अपने अधिकार से बाहर की बात स्वीकार की। (ख) उसके प्रतिनिधि को किसी तथ्य के सम्बन्ध में जान-बूझकर धोखे में रखा गया है। (ग) सन्धि का पालन असम्भव है। (घ) प्रतिनिधि सन्धि की किन्हीं शर्तों से सहमति नहीं रखता था।

पहले अनुसमर्थन को बहुत महत्व दिया जाता था। लार्ड स्टोबैल ने १८१३ में Elisa Ann के मामले में लिखा था—"अनुसमर्थन एक उपचार (Formality) है, किन्तु यह आवश्यक उपचार है क्योंकि इसके अभाव में सन्धि-लेख की कानूनी प्रामाणिकता अधूरी रहती है।" किन्तु अब अनुसमर्थन सभी सन्धियों के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है और प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकार की गई सन्धि के अस्वीकार करने में बड़ा दोष नहीं समझा जाता। ब्रियर्ली ने लिखा है—"राज्य के लिए कोई ऐसा कानूनी या नैतिक कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने पूर्णाधिकारियों द्वारा हस्ताक्षर की हुई सन्धि का अनुसमर्थन करें। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह बहुत गम्भीर कदम है और उसे हल्केपन से नहीं उठाना चाहिये।"[४]

(५) सहमिलन और अभिलग्नता (Accessions and Adhesions)—कई बार राज्य किसी सन्धि के सम्पन्न हो जाने पर बाद में इसमें सम्मिलित होते हैं। यदि वे उस सन्धि की सब शर्तों और व्यवस्थाओं को स्वीकार कर लेते हैं तो यह सहमिलन (Accession) कहा जाता है, किन्तु यदि वे उस सन्धि की कुछ थोड़ी सी शर्तों को ही स्वीकार करते हैं तो यह केवल उन शर्तों के साथ जुड़ना या अभिलग्नता (Adhesion) कहलाता है। ब्रिटिश परम्परा के अनुसार किसी सन्धि में बाद में सम्मिलित होने वाला राज्य सन्धि करने वाले अन्य राज्यों की भाँति संविदा करने वाला पक्ष (Contracting Party) गिना जाता है।

(६) सन्धि का लागू होना (Enforcement of a Treaty)—यह सन्धि की शर्तों पर निर्भर होता है। कई बार यह प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों के बाद ही लागू हो जाती है। किन्तु कुछ सन्धियाँ अनुसमर्थन के बाद लागू होती हैं। अनुसमर्थन वाली सन्धियाँ सम्बद्ध राज्यों के अनुसमर्थन तथा इसके विभिन्न राज्यों में आदान-प्रदान (Exchange of Ratifications) के बाद लागू होती है। कई बार कुछ अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों के लिए इसका अनुसमर्थन करने वाले छः या दस राज्यों की संख्या निर्धारित कर दी जाती है, जैसे १९३० के राष्ट्रीयता कानून के संघर्ष-विषयक हेग अभिसमय में। इस अभिसमय का निश्चित संख्या के राज्यों द्वारा अनुसमर्थन होने पर इसे लागू

४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ् नेशन्स, पृष्ठ २४६

किया जा सकता है। कई बार किसी सन्धि के लागू होने की शर्त का स्पष्ट रूप से उल्लेख रहता है, जैसे १६२५ की लोकार्नो सन्धि में यह शर्त थी कि यह राष्ट्रसंघ में जर्मनी के प्रवेश पाने के बाद ही लागू होगी।

(७) **पंजीकरण और प्रकाशन** (Registration and Publication)—सं० रा० संघ के चार्टर की धारा १०२ के अनुसार इसके सदस्यों द्वारा की गई सब सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का "यथासम्भव शीघ्र ही" संघ के सचिवालय में पंजीकरण तथा इसका संघ द्वारा प्रकाशन आवश्यक है। कोई भी राज्य संघ के न्यायालय या सुरक्षा परिषद् आदि किसी अंग के आगे ऐसी सन्धि का प्रमाण नहीं दे सकता, जिसका पंजीकरण संघ में न हुआ हो। इस व्यवस्था का उद्देश्य राज्यों द्वारा की जाने वाली गुप्त सन्धियों की दूषित प्रथा को समाप्त करना था।

(८) **सन्धियों का क्रियान्वय** (Application)—सन्धि निर्माण की अन्तिम स्थिति तब आती है जब इसको क्रियान्वित करने के लिए राज्य अपने राष्ट्रीय कानूनों का आवश्यक निर्माण और संशोधन करते हैं। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) की बैठकों में श्रमिकों की दशा उन्नत करने के सम्बन्ध में अनेक अभिसमय होते रहते हैं, किन्तु जब तक राज्य इनके सिद्धान्तों को लागू करने वाले कानून अपने देश में पास नहीं करते, तब तक इनका क्रियान्वय सम्भव नहीं है।

सन्धि की बनावट (Structure of a Treaty)—आधुनिक सन्धियों के मुख्य भाग ये हैं—(क) अवतरणिका (Preamble)—इसमें सन्धि करने वाले राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के नामों का, सन्धि के प्रयोजनों और दोनों पक्षों द्वारा सन्धि करने के संकल्प का वर्णन होता है। (ख) सन्धि की मुख्य धारायें या व्यवस्थायें (Substantive Clauses), (ग) अन्तिम धारायें (Clauses Protocolaires or Final Clauses)—इनमें सन्धि के लागू होने, उसके हस्ताक्षर या अनुसमर्थन द्वारा स्वीकृति, उसकी अवधि, उसकी भाषा, संशोधन, रजिस्ट्री आदि औपचारिक विषयों का वर्णन होता है। (घ) सन्धि पर पूर्णाधिकारियों (Plenipotentiaries) के हस्ताक्षर, हस्ताक्षर करने की तिथि तथा स्थान का उल्लेख।

सन्धियों का वर्गीकरण (Classifieation of Treaties)—प्राचीन काल से सन्धियों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा है। कामन्दकीय नीतिसार (सन्धिविकल्प प्रकरण, श्लोक २-२०) में १६ प्रकार की सन्धियों का वर्णन है, यह युद्ध में विजेता और विजित के सम्बन्ध पर आधारित है, जिससे शत्रु को द्रव्य देकर मेल किया जाय, वह **द्रव्यसन्धि** है, जिसमें लड़की दी जाय जैसे सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य को दी थी तो यह **सन्तानसन्धि** है। यदि दोनों राज्यों का पलड़ा लड़ाई में बराबर रहने पर सन्धि हो तो यह **कपालसन्धि** कहलाती है, क्योंकि जिस प्रकार घड़े के दो आधे टुकड़े (कपाल) चटख जाने पर भी आपस में ऐसे जुड़े रहते हैं कि घड़ा देखने में पूर्ववत् प्रतीत होता है, किन्तु जो रेखा पड़ गई है, वह मिट नहीं सकती। अपने को पूर्णतया शत्रु के हाथ में समर्पित करके जो सन्धि की जाती है, वह **उपग्रहसन्धि** कहलाती है। कौटिल्य ने दो राज्यों में मित्रों, सोने, भूमि आदि का लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से

मित्रसन्धि, हिरण्यसन्धि, भूमिसन्धि का उल्लेख किया है (अधिकरण ७, अध्याय ९)। सन्धि को स्थायी बनाने के उद्देश्य से की गई व्यवस्थाओं की दृष्टि से कौटिल्य ने **चल** और **स्थावर** सन्धियों का वर्णन किया है। शपथपूर्वक सन्धि का पालन करने के सत्य वचन के साथ की गई सन्धि चल सन्धि है और सन्धि के पालन को सुरक्षित करने के लिए जब किसी की जमानत (प्रतिभू) रखी जाय अथवा शत्रु के राजपुत्र आदि को लेकर (प्रतिग्रह) रखा जाय तो यह स्थावर सन्धि होती है।[5]

आधुनिक विधिशास्त्रियों ने सन्धि के स्वरूप, प्रकृति, प्रभाव, उद्देश्य तथा विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों के विभिन्न वर्गीकरण किये हैं। आपेनहाइम (Oppenheim) ने विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों को दो वर्गों में बाँटा है—(क) **कानून बनाने वाली सन्धियाँ** (Lawmaking Treaties), (ख) कानून बनाने के उद्देश्य से भिन्न किसी **अन्य प्रयोजन के लिए की गई सन्धियाँ**। कानून बनाने वाली सन्धियों में १८१५ की वियना काँग्रेस के चरम कानून (Final Act) का उल्लेख किया जा सकता है। इसने स्विट्ज़रलैण्ड के तटस्थीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में स्वतन्त्र नौचालन, नीग्रो दास व्यापार निषेध तथा दूतों की विभिन्न श्रेणियों के निर्माण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण नियम बनाये। १८५६ की पेरिस की घोषणा (देखिये, पृ० ११६), रणक्षेत्र में घायल सैनिकों के सम्बन्ध में १८६४, १९०६, १९२९, १९३९ के जेनेवा अभिसमय, १९०७ के हेग अभिसमय (देखिये पृ० ५१), राष्ट्रसंघ का विधान, १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परिनियम, १९४५ का सं० रा० संघ का चार्टर इसी प्रकार की कानून निर्माण करने वाली सन्धियाँ हैं। केलसन (Kelsen) ने आपेनहाइम के इसी वर्गीकरण की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि प्रत्येक सन्धि का यह आवश्यक कार्य है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के कुछ नियम बनाये। अतः ऐसी कोई संधि नहीं हो सकती, जो कानून निर्माण के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य करे। अतएव यह वर्गीकरण सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।[6]

कई बार सन्धियों का उनके उद्देश्य की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है, जैसे शान्ति सन्धि, मित्रता की सन्धि, (Treaty of Alliance), तटस्थता आदि की गारंटी देने वाली सन्धि तथा व्यापार की सन्धि। हालैण्ड (Holland) ने विषय की दृष्टि से सन्धियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है—

(क) राजनीतिक (Political)—इसमें शान्ति, सीमा, मित्रता, मान्यता, देशीयकरण (Naturalization) और गारंटी की सन्धियाँ आ जाती हैं।

(ख) व्यापारिक (Commercial)—नौचालन, वाणिज्य तथा मछलीगाहों से सम्बन्ध रखने वाली सन्धियाँ।

५. कौटिल्य अर्थशास्त्र ७।१७ सत्यं शपथो वा चलः सन्धि। प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा स्थावरः। कौटिल्य ने अन्यत्र (७।३) में आमिष, पुरुषान्तर, आत्मरक्षण आदि सन्धियों की चर्चा की है। इसमें कपालसन्धि की व्याख्या कामन्दक से सर्वथा भिन्न है, उसके मतानुसार जिस सन्धि में समस्त धन तत्काल देने की व्यवस्था रहती है, उसे कपालसन्धि कहते हैं।

६ केलसन—प्रिन्सिपल्ज़ आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३१९-२०

(ग) सामाजिक (Social)—विभिन्न देशों में पारस्परिक व्यवहार की सुविधायें बढ़ाने वाली सन्धियाँ, जैसे १८७५ का भार और नाप की अन्तर्राष्ट्रीय पद्धतियों का समझौता, १८७४ का डाकखानों का समझौता।

(घ) दीवानी न्याय (Civil Justice)—सम्बन्धी सन्धियाँ, जैसे १८८६ की कापी राइट की, १८८० की पेटेण्ट और ट्रेडमार्क की सन्धियाँ।

(ङ) फौजदारी न्याय (Criminal Justice) **विषयक संधियाँ,** जैसे भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण (Extraditions) की सन्धियाँ।

मैकनेयर (McNair) ने सन्धियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—(क) स्वत्वान्तर (Conveyance) अर्थात् किसी प्रकार के स्वत्व-परिवर्तन का स्वरूप रखने वाली सन्धियाँ, (ख) संविदा का स्वरूप रखने वाली सन्धियाँ, (ग) कानून बनाने वाली सन्धियाँ—ये दो प्रकार की हैं: (अ) वैधानिक कानून बनाने वाली, जैसे सं० रा० संघ का चार्टर, (आ) विशुद्ध कानून बनाने वाली, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा स्वीकार किये गये अभिसमय या १६४८ की मानवीय अधिकारों की घोषणा। (इ) सार्वभौम डाक संघ (Universal Union) जैसी संस्थाओं को स्थापित करने वाली सन्धियाँ।

अवैध सन्धियाँ (Invalid Treaties)—सन्धियाँ कई कारणों से अवैध (Invalid) होती हैं। **पहला** कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम या रूढ़ि को तोड़ना है। १६२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट द्वारा सब राज्यों ने राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के परित्याग की घोषणा की थी। दूतों की अवध्यता, युद्ध में असैनिकों को न मारना आदि सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय नियम हैं। इनका भंग करने वाली कोई भी सन्धि वैध नहीं हो सकती। कोई देश ऐसी सन्धि नहीं कर सकता, जो उसकी पहले ग्रहण की हुई बाध्यताओं के अनुकूल न हो, १८७८ में रूस द्वारा टर्की के साथ की गई सैन स्टीफानो (San Stefano) की सन्धि, १८५६ की पेरिस की सन्धि तथा १८६१ के लन्दन सम्मेलन की शर्तों के प्रतिकूल थी, अतः ग्रेट ब्रिटेन ने इसका घोर विरोध किया और अन्त में रूस को १८७८ की बर्लिन सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। **दूसरा** कारण अनैतिक उत्तरदायित्व उत्पन्न करना है, ऐसा करने वाली सन्धि स्वयमेव अवैध हो जाती है। यदि कोई सन्धि तीसरे पक्ष पर आक्रमण करने के लिए है तो यह वैध नहीं मानी जायगी। **तीसरा** कारण सन्धि की शर्तों की पूर्ति की असम्भाव्यता है। **चौथा** कारण दबाव, डर या धमकी द्वारा बलपूर्वक सन्धि की शर्तें स्वीकार कराना है। ऐसी सन्धि का पालन आवश्यक नहीं होता। संविदा कानून में भी ऐसी शर्तें होती हैं। किन्तु दबाव की बात युद्ध में हारने पर लागू नहीं होती। **पाँचवाँ** कारण सन्धि के समय धोखा या भ्रान्तिपूर्ण व्यवहार है। कई बार सन्धि सम्मेलनों में नदियों या शहरों की गलत स्थिति बताने वाले नक्शे उपस्थित करके दूसरे पक्ष को ठग लिया जाता है। १८५६ की पेरिस की सन्धि में रूस और फ्रांस में बोलग्राड नामक शहर के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हुआ। प्रश्न यह था कि यह रूस को दिया जाय या नहीं। सम्मेलन में पेश किये गये नक्शे में यह शहर नहीं था, अतः रूस को यह शहर नहीं दिया गया। सन्धियों की अवैधता का **छठा** कारण इसे करने वालों की कानूनी

असमर्थता होती है। सन्धि करने का अधिकार सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्यों को है। यदि कोई पराधीन (Dependent) राज्य या तटस्थीकृत (Neutralized) राज्य सन्धि करता है तो उसे सन्धि करने का अधिकार न होने से यह सन्धि अवैध हो जाती है। किसी सन्धि की अवैधता का **सातवाँ** कारण इसकी शर्तों का सं० रा० संघ द्वारा राज्यों पर डाले गये दायित्वों के प्रतिकूल होना है। संघ के चार्टर की धारा १०३ में यह कहा गया है कि यदि संघ के सदस्यों पर चार्टर द्वारा डाले गये दायित्वों तथा अन्य सन्धियों द्वारा उन पर पड़ने वाले दायित्वों में विरोध हो तो चार्टर वाले दायित्व प्रबल एवं माननीय समझे जायेंगे।

सन्धि पालन का उपाय (Means of securing performance of treaties)—प्राचीन काल से सन्धियों के पालन पर बहुत बल दिया जाता है और इसके लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जाता रहा है। **पहला** उपाय दोनों पक्षों द्वारा इसके पालन की शपथ लेने का है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र ७।१७) ने इसका वर्णन करते हुए कहा है—पूर्वकालीन राजा अग्नि, जल, सीता (हल का फाल), प्राकार (किले) की ईंट, हाथी का कन्धा, घोड़े की पीठ, रथ पर बैठने का आसन, शस्त्र, रत्न, अन्नादि के बीज, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य, घृतादि रस, सुवर्ण तथा नकद रुपयों का स्पर्श करके शपथ लेते थे, ऐसा करते समय वे कहते थे कि 'जो सन्धि की बातों का निरादर करे उसे ये वस्तुयें सदा के लिये त्याग दें।' प्राचीन भारत में ऐसे विचारकों की कमी नहीं थी, जो शपथ वाली सन्धि को विशेष विश्वसनीय न होने के कारण अस्थिर मानते थे, अतएव इसे 'चल सन्धि' कहते थे। किन्तु कौटिल्य का यह मत था कि सत्य और शपथ इहलोक तथा परलोक दोनों जगह स्थावर होता है, अतः यह स्थायी सन्धि होती है, इस सन्धि का भंग करने पर सन्धिकर्ता को इहलोक में कलंक का तथा परलोक में नरकगामी होने का भय होता है।

दूसरा उपाय सन्धि पालन के लिए एक पक्ष द्वारा किन्हीं व्यक्तियों को शरीर-बन्धक या ओल (Hostage) रखने का है। कौटिल्य ने दो प्रकार के शरीरबन्धक बताये हैं—पहले तो जामिन (प्रतिभू) बनाये जाने वाले गाँवों के प्रधान आदि व्यक्ति और दूसरा हारे हुए राजा के बन्धुओं तथा मुख्य पुरुषों को अपने यहाँ रख लेना (प्रतिग्रह)। कौटिल्य का यह विचार था कि प्रतिग्रह में राजा को सुयोग्य पुत्र या अमात्य नहीं देने चाहियें (अर्थशास्त्र ७।१७)। दसवीं शताब्दी के अन्त में गजनी का शासक सुबुक्तगीन जयपाल से सन्धि का पालन कराने के लिए शरीरबन्धक ले गया था।

तीसरा उपाय अपनी चलसम्पत्ति को आधि (Pledge) या गिरवी के रूप में रखना है। पोलैण्ड ने अपने शाही ताज के कुछ रत्न प्रशिया को इस प्रकार आधि में रक्खे थे। यह प्रथा अब बिल्कुल समाप्त हो गई है।

चौथा उपाय पराजित राज्य की आमदनी को हर्जाना वसूल करते रहने के लिए

७. अर्थशास्त्र ७।१७ अग्न्युदकसीताप्राकारलोष्टहस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठरथोपरशस्त्ररत्नबीजगन्धरससुवर्णहिरण्यान्यालेभिरे, हन्युरेतानि त्यजेयुश्चैनं यः शपथमतिक्रामेदिति।

सुरक्षित रखना है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि में ऐसी व्यवस्था की गई थी।

पांचवाँ उपाय विजेता द्वारा विजित से सन्धि पालन कराने के लिये उसके कुछ प्रदेश पर अधिकार रखना है। १८७१ में जर्मन सेनाएँ फ्रांस की भूमि पर उस समय तक बनी रहीं, जब तक कि उन्होंने फ्रांस से युद्ध का हर्जाना नही वसूल कर लिया। वर्साय की संधि में मित्रराष्ट्रों द्वारा कुछ जर्मन प्रदेशों पर उस समय तक अधिकार की व्यवस्था की गई थी, जब तक जर्मनी संधि की कुछ शर्तों का पूरा पालन न करे।

छठा उपाय संधि पालन के लिए कुछ राज्यों द्वारा गारण्टी दिया जाना है। १९२५ की लोकार्नो संधि के पालन की गारण्टी ग्रेट ब्रिटेन ने ली थी।

सातवाँ उपाय संधि तोड़ने वाले देश के विरुद्ध अन्य राज्यों द्वारा सम्मिलित रूप से की गई अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही है। यदि कोई राज्य मादक दवाइयों के सम्बन्ध में किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को भंग करता है तो अन्य राज्य उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर उसे संधि पालन के लिये विवश कर सकते हैं।

संधि-विषयक दो सिद्धान्त (Two Principles of Treaties)—(**क**) **संधियों की पवित्रता**–विभिन्न राज्यों द्वारा संधियों के पालन का मूल सिद्धान्त संधियों का पवित्र समझा जाना है। रोमन कानून का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है---Pacta sunt servanda (राज्यसमयाः सम्माननीयाः), इसका आशय यह है कि राज्यों को एक दूसरे के साथ किये समझौतों का आदर करना चाहिए। संधि एक प्रकार की संविदा (Contract) है, इसमें दोनों पक्ष एक दूसरे को दिये हुए वचन का पालन अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जिस प्रकार वैयक्तिक क्षेत्र में 'प्राण जाय अरु वचन न जाई' के नैतिक सिद्धान्त का पालन अभीष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस नियम का पालन आवश्यक है। यदि ऐसा न हो, संधियों को पवित्र और पालनीय न माना जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता मच जाय। राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि उन्होंने संधियों द्वारा अपने ऊपर जो दायित्व ग्रहण किये हैं उन्हें पूरी ईमानदारी के साथ निबाहने का प्रयत्न करें। यह सद्भावना (Good Faith) ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का मूल आधार है। फेनविक (Fenwick) के शब्दों में "दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों तथा विधिशास्त्रियों ने सर्वसम्मति से यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि यदि राज्य द्वारा दिये गये वचन पर भरोसा करना सम्भव न हो, तो समूचे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सम्बन्ध संकट में पड़ जायेंगे और कानून की सत्ता लुप्त हो जायगी।" इसी कारण संधियों को पवित्र समझते हुए उनका तोड़ना बड़ा जघन्य कार्य समझा जाता है। जर्मनी ने १९१४ में बेल्जियम की तटस्थता के संधिपत्र को कागज का टुकड़ा बताते हुए जब उसका उल्लंघन किया तो समूचे सभ्य जगत् ने एक स्वर से उसके कार्य की घोर निन्दा की थी।

किन्तु कई बार संधि सम्बन्धी परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाने पर इसमें संशोधन, इसकी उपेक्षा या भंग कुछ शर्तों के पूरा होने पर अनुचित नहीं समझा जाता। इसका समर्थन रोमन कानून के एक दूसरे सिद्धान्त—स्थितियों की अपरिवर्तनशीलता के आधार पर किया जाता है।

(ख) स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Rebus sic stantibus)—संविदा के सम्बन्ध में रोमन कानून का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि दोनों पक्ष इसकी शर्तों का पालन करने के लिए उसी समय तक बाध्य हैं, जब तक इस संविदा के किये जाने के समय की वस्तुओं की स्थिति अपरिवर्तनशील बनी रहती है, इसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आता। यही सिद्धान्त Rebus sic stantibus अर्थात् वस्तुओं की वर्तमान स्थिति बने रहने का नियम (वस्तूनामावर्तमानस्थितेः) हैं। यदि संविदा करने के बाद स्थितियों में मौलिक परिवर्तन आ जाय तो इसका पालन आवश्यक नहीं होता है। दीवानी कानून के इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी अपना लिया गया है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। १८५६ में क्रीमियन युद्ध में परास्त होने के बाद पेरिस की संधि में रूस पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह कृष्णसागर में अपना जंगी बेड़ा नही रख सकता। किन्तु १८७० में रूस ने इस संधि की व्यवस्था को इस आधार पर तोड़ा कि १४ वर्ष पहले की पेरिस की संधि के समय की परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन आ चुका है, वालेचिया और मोल्डेविया के सम्मिलन से कृष्णसागर में रूमानिया के नये राज्य का निर्माण हो चुका है, लोहे की चादरों से ढके जाने वाले रणपोतों के नवनिर्माण से समुद्री लड़ाई का स्वरूप बदल गया है, इन परिवर्तित परिस्थितियों में वह पेरिस की संधि के पालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

प्रत्येक संधि पालन करने के लिए बनाई जाती है, उसमें सदैव यह शर्त अस्पष्ट अथवा ध्वनित (Implied) रूप में विद्यमान रहती है कि राज्य इनका तभी तक पालन करेगा, जब तक उसमें इनके पालन की सामर्थ्य होगी, वह अपनी सत्ता को मिटाकर या गहरी क्षति पहुँचाकर इसे पूरा नहीं कर सकता, उस अवस्था में उसे यह संधि समाप्त करने का अधिकार है। (Hall) ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, "संधि उस समय निरर्थक हो जाती है जबकि यह राज्य के जीवन के लिए संकटपूर्ण तथा उसकी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल हो, बशर्ते कि संधि करते समय दोनों पक्षों ने इसके हानिप्रद परिणामों को ध्यान में रखा हो।"[८] काश्मीर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भारत सरकार ने १९४७ में काश्मीर का भारतीय संघ में प्रवेश स्वीकार करते हुए यह वचन दिया था कि काश्मीर के भविष्य का निर्णय जनमत-संग्रह (Plebiscite) से किया जायगा। पाकिस्तान आज तक भारत सरकार से यह माँग करता है कि वह अपने इस वचन को पूरा करे और काश्मीर का निर्णय जनमत-संग्रह से कराये। किन्तु भारत सरकार का यह कहना है कि १९५४ में पाकिस्तान के अमरीका के साथ सैनिक संधियों में आबद्ध होने तथा उससे प्रभूत परिमाण में रणसामग्री प्राप्त करने के कारण स्थिति में मौलिक अन्तर आ गया है, इससे भारत की आत्मरक्षा के लिए एक नवीन संकट उत्पन्न हो गया है। १३ अप्रैल १९५६ को श्री नेहरू ने अपने एक भाषण में कहा था—"पाकिस्तान को मिलने वाली सैनिक सहायता ने और उसकी सैनिक समझौतों की सदस्यता ने कश्मीर में जनमत-संग्रह के प्रस्ताव के मूलाधार को नष्ट कर दिया है।"

८. हॉल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४०६–७

'परिस्थितियों की परिवर्तनशीलता' बड़ा लचकीला शब्द है और प्रायः इसकी उदार व्याख्या के आधार पर अनेक राज्य अपनी संधियों को भंग करते रहते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आविर्भाव के समय से ही विधिशास्त्रियों में इस शर्त के सम्बन्ध में बड़ा विवाद रहा है। ग्रोशियस (Grotius) ने लिखा था कि परिस्थिति के परिवर्तन का अर्थ सामान्य रूप से इसका बदलना नहीं, किन्तु संधि करते समय जिन परिस्थितियों पर विचार किया गया था, उनमें परिवर्तन आना है। वैटल (Vattel) ने कूट-नीतिज्ञों द्वारा इस शर्त के दुरुपयोग को रोकने के लिए कहा था—"यहाँ केवल वही परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं, जिनके कारण संधि की गई थी, केवल इनमें आने वाला परिवर्तन ही कानूनी तौर से संधि में किये गए किसी वचन का पालन रोक सकता है।" १९वीं शताब्दी में उग्र राष्ट्रीयता का विकास होने से जर्मन लेखकों हेफ्टर (Heffter) तथा ब्लंशली (Bluntschli) ने इसकी बड़ी उदार व्याख्या करते हुए कहा कि राज्य को जनता के अधिकारों तथा कल्याण को क्षति पहुँचाने वाली किसी भी संधि व्यवस्था को तोड़ने का अधिकार है। एक अन्य जर्मन लेखक ट्रीटश्के (Tritschke) ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी भी राज्य को, अपने भविष्य को दूसरे देशों के साथ बाँधने वाली संधियों के साथ बंधा हुआ नहीं अनुभव करना चाहिए, यदि कोई राज्य यह मानता है कि संधियाँ "वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त" नहीं करतीं तो वह दूसरे पक्ष से संधि को रद्द करने की प्रार्थना कर सकता है, इसके अस्वीकृत होने पर वह युद्ध छेड़ सकता है। इटालियन विधिशास्त्री फिओर (Fiore) ने इसी दृटिकोण का समर्थन करते हुए कहा—"वे सभी संधियाँ रद्द समझी जानी चाहियें, जो किसी भी राष्ट्र की स्वतन्त्र क्रियाशीलता के विकास में बाधक हैं या इसके प्राकृतिक अधिकारों के प्रयोग को रोकती हैं।" इसका अभिप्राय राज्यों को स्वच्छन्द रूप से संधि भंग करने की खुली छूट प्रदान करना है, किन्तु आजकल अधिकांश विधिशास्त्री और राज्य इससे सहमत नहीं हैं।

१८७० में जब रूस ने १८५६ की पेरिस की संधि में कृष्णसागर में जंगी बेड़ा न रखने की शर्त तोड़ने की घोषणा की तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका उग्र प्रतिवाद किया। इस विषय पर विचार के लिये सम्बद्ध राज्यों का एक सम्मेलन लन्दन में बुलाया गया। १८७१ की लन्दन की संधि के अनुसार यद्यपि अन्य राज्यों ने रूस को उपर्युक्त प्रतिबंध से मुक्त कर दिया, किन्तु इसके साथ ही यह घोषणा की—"राष्ट्रों के कानून का यह आवश्यक सिद्धान्त है कि कोई भी शक्ति तब तक अपने को किसी संधि की बाध्यताओं से मुक्त नहीं कर सकती, इसकी शर्तों का संशोधन नहीं कर सकती, जब तक कि वह मैत्रीपूर्ण समझौते द्वारा संधि करने वाले अन्य राज्यों की सहमति इसके लिए प्राप्त नहीं कर लेती।" ब्रियर्ली ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है, "संधियों की पवित्रता को बनाये रखने की योरोपियन राज्यों की घोषणा खोखली थी क्योंकि ऐसा करते हुए भी उन्होंने रूस के संधिभंग को मान्यता प्रदान की, अतएव इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १९०८ में आस्ट्रिया-हंगरी ने १८७८ की बर्लिन की संधि द्वारा उसे प्रशासन के लिए दिए गए बोस्निया हर्त्सेगोविना के तुर्क प्रान्तों को रूस-जापान युद्ध में पराजित रूस

की कमजोरी का लाभ उठाते हुए, अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस संधिभंग का विरोध करते हुए पुनः सम्मेलन बुलाने का निष्फल प्रयत्न किया। १६१४ में जर्मनी ने १८३१ की बेल्जियम की तटस्थता की संधि को भंग किया, ग्रेट ब्रिटेन बेल्जियम की रक्षा के लिए प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ। इसके बाद जर्मनी में हिटलर का प्रभुत्व स्थापित होने पर जर्मन ने वर्साय की संधि की धाराओं को क्रमशः तोड़ना शुरू किया। अप्रैल १६३५ में राष्ट्रसंघ ने १८७१ की उपर्युक्त घोषणा की पुनः पुष्टि करते हुए जर्मनी द्वारा वर्साय की सन्धि की सैनिक धाराओं के उल्लंघन की निन्दा की।

आधुनिक विधिशास्त्रियों में श्री केलसन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में 'स्थिति की अपरिवर्तनशीलता' (Rebus sic stantibus) का सिद्धान्त सर्वथा अस्वीकार करते हैं। "वस्तुतः इसे अस्तिवादी (Positive) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हिस्सा सिद्ध करना बहुत कठिन है।···१८७१ में लंदन की सन्धि द्वारा स्वीकार की गई घोषणा इस सिद्धान्त का खुला खण्डन है। अब तक किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस नियम की सत्ता को पुष्ट नहीं किया।"[९] मैकनेयर (McNair) के मतानुसार—"यद्यपि न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रायः इसका स्थान अस्वीकार नहीं करते, किन्तु मुझे ऐसे एक भी मामले का ज्ञान नहीं है, जिसमें किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभियोग में इसे स्पष्ट रूप से लागू किया गया हो।" ब्रियली ने लिखा है—"इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्वीकार करने के लिये इसका लक्षण बहुत सावधानी से करना चाहिये, अन्यथा यह किसी राज्य द्वारा असुविधाजनक समझी जाने वाली सन्धियों को तोड़ने का बहाना हो जायगा।···इस सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत ही सीमित है।"[१०]

स्टार्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पहेली बताया है।[११] उसके मतानुसार इसका क्रियान्वित होना बड़ा अनिश्चित है।···इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कानूनी सम्मति में अभी एकरूपता नहीं आई। इस समय किसी राज्य को इसे एकपक्षीय रूप से स्वयमेव लागू करने का अधिकार नहीं है। यह १८७१ की लंदन की घोषणा तथा अप्रैल १६३५ के राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव से स्पष्ट है। आजकल यह अच्छा समझा जाता है कि इस सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहने वाला राज्य सन्धि करने वाले अन्य राज्यों से सन्धि रद्द करने की या समाप्त करने की प्रार्थना करे। टर्की ने १६३६ में इसी उपाय का अवलम्बन किया था। १६२३ में लोजान की सन्धि द्वारा बास्फोरस तथा डार्डेनल्ज जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ था, हिटलर के अभ्युत्थान से योरोप की राजनीतिक स्थिति में बहुत अन्तर आ गया, अतः टर्की ने अन्य राज्यों से लोजान की सन्धि समाप्त करने की प्रार्थना की। अन्य राज्यों ने इसे स्वीकार करते हुए १६३६ में इन जलडमरूमध्यों के बारे में मोन्त्रो (Montreaux) का नया समझौता किया। सन्धि रद्द करने का दूसरा उपाय यह है कि दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपना

९. केलसन—प्रिन्सिपल्ज आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३५६-६०
१०. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २६०—६४
११. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३१३—१४

मामला निर्णय के लिए सौंप दें ।

आपेनहाइम ने इस सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है[12]—"स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Clasula Rebus sic stantibus) का सिद्धान्त किसी राज्य को यह अधिकार नहीं प्रदान करता कि वह परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित होते ही यह घोषणा करे कि वह सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त है। किन्तु परिवर्तन से उसे यह अधिकार मिलता है कि वह सन्धि करने वाले अन्य राज्यों से इसकी बाध्यता से मुक्ति की माँग कर सके। अतएव जब कोई राज्य यह समझता है कि परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने के कारण किसी सन्धि की बाध्यतायें उसके लिए असह्य हो गई हैं तो इसका उचित मार्ग यह है कि वह पहले सन्धि करने वाले दूसरे राज्यों से यह प्रार्थना करे कि वे इस सन्धि को रद्द करने के लिये तैयार हो जायं। यदि अन्य राज्य इस प्रार्थना को स्वीकार करने तथा विवादग्रस्त प्रश्न को न्यायालय को सौंपने के लिए तैयार नहीं होते तब प्रार्थना करने वाले राज्य के लिये यह घोषणा करना न्यायपूर्ण होगा कि वह अब अपने को इस सन्धि में बंधा हुआ अनुभव नहीं करता। न्यायिक निर्णय के लिये इस विवाद को सौंपने की बात अस्वीकार करना अपने आप में इस बात की उपरिदर्शी (Prima facie) साक्षी है कि स्थिति की अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की दुहाई जानबूझकर किये जाने वाले सन्धिभंग को छिपाने का आवरण मात्र है या सन्धि से लाभ उठाने वाला राज्य अपनी सत्ता का कानूनी आधार खो देने वाली सन्धि को ब नपूर्वक लागू करने के लिए तुला हुआ है।"

सन्धियों को समाप्ति (Termination of Treaties)—सन्धियों की समाप्ति दो प्रकार से हो सकती है—(क) कानून की प्रक्रिया (Operation) द्वारा, (ख) संधि-कर्त्ता राज्यों के कार्य द्वारा। पहले प्रकार के पाँच मुख्य रूप ये हैं—(१) द्विपक्षीय संधि में एक पक्ष की समाप्ति, सं० रा० अमरीका की सरकार ने १६०५ ई० में ट्रिपोली से एक सन्धि की। १६११ में इटली ने ट्रिपोली को अपने राज्य का अंग बना लिया, ट्रिपोली के राज्य की समाप्ति से उसकी अमरीका के साथ की हुई सन्धि का अन्त हो गया। (२) दो देशों में युद्ध छिड़ जाने पर उनकी पारस्परिक सन्धियाँ कुछ अंशों में समाप्त हो जाती हैं। आगे इस पर प्रकाश डाला जायगा (३) सन्धि करने की स्थिति में परिवर्तन आने पर (Rebus sic stantibus) सन्धि समाप्त की जा सकती है, इस का ऊपर वर्णन हो चुका है। (४) पाँच या दस वर्ष की निश्चित अवधि के लिये की गई सन्धियाँ अवधि की समाप्ति पर समाप्त हो जाती हैं। (५) यदि किसी सन्धि या समझौते के लागू होने के लिये राज्यों की संख्या नियत हो तथा अनेक राज्यों द्वारा संधि के परित्याग के कारण इसे मानने वाले राज्यों की संख्या से कम हो जाय तो यह सन्धि समाप्त हो जाती है।

राज्यों द्वारा सन्धिभंग के दो ही रूप हैं: पहला रूप दोनों पक्षों के पारस्परिक समझौते द्वारा सन्धि को समाप्त करना है। दूसरा रूप एक राज्य द्वारा किसी सन्धि के

१२. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० १

अवसायन की घोषणा (Denunciation) है। स्टार्क के शब्दों में अवसायन का अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों को यह सूचना देना है कि वह इस सन्धि की बाध्यताओं (Obligations) से मुक्त होना चाहता है।[13] कई बार सन्धियों में इसके अवसायन की विधि का वर्णन होता है। ऐसा न होने पर सब संबद्ध दलों की सहमति से अवसायन किया जाता है। किन्तु एकपक्षीय अवसायन (Unilateral denunciation) भी होते हैं। हिटलर ने १६ मई १९३५ की वर्साय संधि की जर्मनी को निःशस्त्रीकरण करने वाली धाराओं के अवसायन की घोषणा की थी।

संधियों पर युद्ध छिड़ने का प्रभाव (Effects of War on Treaties)—इस विषय में दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण हैं : **पहला** दृष्टिकोण स्टार्क जैसे विधिशास्त्रियों का है जो संधियों को नश्वर और भंगुर समझता है। उसका मत यह है कि युद्ध छिड़ते ही संधियों की सब बाध्यतायें समाप्त हो जाती हैं, किन्तु वाइल्डमैन (Wildman) के मतानुसार शान्ति-संधि की शर्तें स्थायी होती हैं और कभी भंग नहीं होतीं। वस्तुतः सचाई इन दोनों विरोधी दृष्टिकोणों के बीच में है। संधियों पर पड़ने वाला युद्ध का प्रभाव बहुधा संधियों के स्वरूप पर निर्भर होता है। इस दृष्टि से संधियों के दो भेद किये जाते हैं—(क) युध्यमान (Belligerents) तथा अन्य राज्यों के बीच में की गई संधियाँ। (ख) युध्यमान देशों के मध्य की गई संधियाँ।

(क) युध्यमान (युद्धकारी) तथा अन्य देशों में विभिन्न प्रकार की संधियाँ हो सकती हैं। **पहला** प्रकार कानून निर्माण करने वाली (Law making) संधियों का है (देखिये अध्याय ३)। पेरिस की घोषणा जैसी संधियाँ सब राज्यों के लिए कानून बनाती हैं और इन पर युद्धों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वास्थ्य, सफाई, मादक द्रव्यों आदि के सम्बन्ध में किये गये समझौते युद्धों में भी बने रहते हैं। **दूसरा** प्रकार युद्ध संचालन के सम्बन्ध में की गई सन्धियाँ हैं। १८६४ तथा १९०६ के जेनेवा अभिसमयों में बीमारों और घायलों के तथा १८९९ और १९०७ के हेग अभिसमयों (Conventions) में लड़ाई के नियम बनाये गये थे। ये नियम युद्ध के समय में भी लागू रहते हैं। **तीसरा** प्रकार विभिन्न राज्यों की मैत्रीसंधियाँ (Treaties of Alliance) हैं, ये युद्ध छिड़ने पर समाप्त हो जाती हैं। **चौथा** प्रकार व्यापारिक संधियों का है, ये युद्धकारी राज्यों के बीच समाप्त हो जाती हैं, किन्तु अन्य राज्यों के बीच यथापूर्व चलती रहती हैं।

केवल युद्धकारी देशों में होने वाली संधियों के भी कई प्रकार हैं। **पहला** प्रकार स्थानीय मामलों वाली, सीमाओं, देशीयकरण (Naturalization), मान्यता आदि की संधियाँ हैं। ये युद्ध छिड़ने पर भी बनी रहती हैं। **दूसरा** प्रकार राजनीतिक और मैत्रीसंधियों का है, ये युद्ध आरम्भ होने के साथ समाप्त हो जाती हैं। **तीसरा** प्रकार प्रत्यर्पण (Extradition) और व्यापारिक संधियों का है, युद्ध छिड़ने पर ये स्थगित हो जाती हैं और युद्ध के बाद पुनः चालू हो जाती हैं।

संधियों की व्याख्या के सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Inter-

१३. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टु इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३१६

pretation of Treaties)—कई बार दो राज्यों में हुई सन्धि के शब्दों के वास्तविक अभिप्राय पर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाता है। इसका समाधान करने के कई साधन हैं। **पहला प्रधान साधन** अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है। स्टार्क के कथनानुसार इसका अस्सी प्रतिशत कार्य सन्धियों की व्याख्या करना रहा है।[14] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) जैसे सं० रा० संघ के संगठन भी समझौतों तथा सन्धियों की व्याख्या करते हैं। **दूसरा साधन** इस कार्य के लिये विशेष रूप से नियुक्त की हुई विधिशास्त्रियों की समितियाँ होती हैं। **तीसरा साधन** अभिसमय (Convention) करते हुए इसके साथ इसकी व्याख्या करने वाले प्रोतोकोल (Protocol) का जोड़ा जाना है। कई बार सन्धियों के अनेक भाषाओं में सम्पन्न किये जाने से भी विवाद उत्पन्न होते हैं। बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Conventions) प्राय: अंग्रेज़ी और फ्रेंच दोनों भाषाओं में किये जाते हैं और इसमें दोनों रूपों को समान प्रामाणिकता प्रदान की जाती है। १९३७ का लन्दन का खांड समझौता चार भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, और रशियन में हुआ था। १९४५ का सं० रा० संघ का चार्टर पाँच भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, रशियन, स्पेनिश और चीनी में तैयार किया गया था। संघ के चार्टर की अनुच्छेद संख्या १११ के अनुसार इसके पाँचों रूपान्तर समान रूप से प्रामाणिक हैं।

सन्धियों की व्याख्या करते हुए सामान्यत: संविदा (Contract) की व्याख्या वाले नियमों का अनुसरण किया जाता है। ग्रोशियस के समय से इन नियमों पर विधि-शास्त्री सूक्ष्म विचार कर रहे हैं। ग्रोशियस ने इनकी व्याख्या में दोनों पक्षों के सन्धि के समय के इरादों को महत्व दिया था। आजकल स्टार्क और ओपेनहाइम[15] के मतानुसार सन्धियों की व्याख्या के मुख्य नियम निम्नलिखित हैं—

(१) **व्याकरणीय व्याख्या और दोनों पक्षों का इरादा** (Grammatical interpretation and the intention of parties)—सन्धि के शब्दों को भाषा के व्याकरण के नियमों के अनुसार उनके सामान्य और स्वाभाविक अर्थ में लेना चाहिये। किन्तु यदि व्याकरणीय व्याख्या (Grammatical Construction) से अर्थ का अनर्थ होता हो या यह सम्बद्ध पक्षों के इरादे से भिन्न अर्थ देती हो तो इसे अस्वीकार करना चाहिये। व्याख्या की सबसे बड़ी कसौटी सन्धि करते समय दोनों पक्षों का सुस्पष्ट (Ostensible) इरादा है। यदि इस समय किसी पक्ष ने अपने मन में कोई बात रखते हुए सन्धि की है तो बाद में इस गुप्त इरादे के आधार पर सन्धि की व्याख्या नहीं हो सकती।

(२) **सन्धि का उद्देश्य और प्रकरण** (Object and Context of Treaty)—यदि किसी सन्धि के कुछ शब्दों या वाक्यांशों के अर्थ में सन्देह हो तो इनकी व्याख्या सन्धि के सामान्य उद्देश्य (Object) के अनुसार प्रकरण (Context) को देखते हुए की जायगी।

१४. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१६

१५. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१८; ओपेनहाइम—पूर्वोक्त पुस्तक, खण्ड १, पृ० ९५—८।

(६) **तर्कानुकूलता तथा संबद्धता** (Reasonableness and Consistency)—सन्धियों की व्याख्या में शब्दों तथा वाक्यांशों के अनेक अर्थ होने पर तर्कानुकूल तथा सन्धि की विभिन्न धाराओं से मेल खाने वाले अर्थ को ही ग्रहण किया जाना चाहिये। संबद्धता के सिद्धान्त का अर्थ यह भी है कि शब्दों की व्याख्या वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुकूल होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों की प्रभुसत्ता (Sovereignty) को बहुत महत्व देता है। सन्धि करते समय राज्य अपनी प्रभुसत्ता पर न्यूनतम प्रतिबन्ध लगवाना चाहते हैं। यदि किसी सन्धि के शब्द द्वयर्थक (ambiguous) हों, इनमें से एक अर्थ उसकी प्रभुसत्ता को अधिक मर्यादित करने वाला हो और दूसरा कम मर्यादित करने वाला हो तो उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रभुसत्ता पर कम प्रतिबन्ध लगाने वाली व्याख्या स्वीकार की जायगी। इसी प्रकार यदि सन्धि की एक व्याख्या किसी पक्ष पर कम उत्तरदायित्व डालती है और दूसरे पर अधिक दायित्व डालती है तो पहली व्याख्या सही मानी जायगी। यदि सन्धि में सामान्य और विशेष व्यवस्थाओं में मतभेद हो तो विशेष व्यवस्थायें ही सामान्य व्यवस्थाओं को नियन्त्रित करेंगी। यह रोमन कानून के Lex specialis derogat generali नियम (विशेषः सामान्यं बाधते) के अनुरूप है।

(४) **प्रभावशालिता का सिद्धान्त** (The Principle of Effectiveness)—स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस पर बल देते हुए कहा है कि प्रत्येक सन्धि को ऐसी व्याख्या प्रदान की जानी चाहिये, जो 'समग्ररूप' में इस सन्धि को 'प्रभावशाली और उपयोगी' बनाये। बहुपक्षीय समझौतों में उन्हें कार्यरूप में परिणत करने वाली व्यवस्थाओं के विषय में यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है।

(५) **बाह्य सामग्री की सहायता** (Recourse to Extrinsic Material)—सामान्य रूप से न्यायालय किसी सन्धि की व्याख्या के लिए उसके मूल पाठ (Text) को महत्वपूर्ण मानते हैं, कई बार सन्धि के शब्दों से स्पष्ट विरोध न होने की दशा में व्याख्या के लिये निम्नलिखित प्रकार की बाह्य सामग्री से सहायता ली जाती है—(क) सन्धि से सम्बन्ध रखने वाला पुराना इतिहास और ऐतिहासिक प्रथायें। (ख) सन्धि की तैयारी होने का कार्य (Travaux preparatoires), जैसे सन्धि का प्रारूप (Draft) सन्धि सम्मेलन के वाद-विवाद। सन्धि का मूल पाठ अस्पष्ट होने पर ही इनसे सहायता ली जाती है। गुप्त सन्धियों, समझौतों या सन्धि चर्चा में रद्द किये गये प्रस्तावों को इस व्याख्या में कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(६) जब सन्धि के नियम स्पष्ट और निश्चित हों तो इनकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। १६०१ में सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में हे-पौन्सेफोट (Hay-Pauncefote) सन्धि द्वारा पानामा नहर के बारे में व्यवस्था की गई कि यह "इन नियमों का पालन करने वाले सब राष्ट्रों के व्यापारिक और लड़ाकू जहाजों के लिये समानता के आधार पर खुली रहेगी।" सं० रा० अमरीका का यह दावा था कि 'सब राष्ट्रों' में वह इस नहर का निर्माता और स्वामी होने के कारण नहीं आता, वह इसमें अपने जहाजों के लिये विशेषाधिकारों का परित्याग नहीं कर सकता।

ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि सन्धि के शब्द स्पष्ट और निश्चित हैं, उनकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है।

(७) सन्धि के शब्दों और उद्देश्य में विरोध होने पर शाब्दिक व्याख्या को अधिक विस्तृत और व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण यूट्रेक्ट (Utrecht) की संधि की एक व्यवस्था से दिया जा सकता है। इसमे यह कहा गया था कि डन्कर्क के बन्दरगाह और किलेबन्दियों को नष्ट कर दिया जाय तथा दुबारा न बनाया जाय। संधि के शब्दों के अनुसार फ्रांस ने इसे नष्ट कर दिया, किन्तु इससे तीन मील की दूरी पर मरडिक (Mardyck) नामक स्थान पर नया बन्दरगाह और किला बनाना शुरू कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन ने इसका उग्र विरोध किया, फ्रांस द्वारा की गयी शाब्दिक व्याख्या को सन्धि के उद्देश्य के विरुद्ध बताते हुए उसे उपर्युक्त शब्दों की बुद्धिग्राह्य (Reasonable) एवं अधिक उदार व्याख्या के अनुसार नये बन्दरगाहों के निर्माण का कार्य बन्द करने को कहा। फ्रांस को ग्रेट ब्रिटेन की यह बात माननी पड़ी।

(८) **उदार व्याख्या** (Liberal Interpretation)—१९३३ में **फैक्टर** व० **लौबन हाइमर** (Factor v. Laubenhieimer 290 U. S. 276) के मामले में न्यायालय ने यह सिद्धान्त तय किया था—"यदि एक संधि की दो व्याख्यायें उत्तम रीति से हो सकती हों, एक व्याख्या संधि के अधिकारों को सीमित करती हो, दूसरी इन अधिकारों को विस्तृत करती हो तो अधिक उदार व्याख्या को ग्रहण किया जाना चाहिये।" इस मामले में न्यायालय ने इस सिद्धान्त के आधार पर दोनों देशों की प्रत्यर्पण की संधि की अधिक उदार व्याख्या स्वीकार की थी।

(९) कई बार सन्धियों में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो दोनों देशों के स्थानीय प्रयोग में विभिन्न अर्थ रखते हैं। इस अवस्था में वह संधि जिस देश में लागू होनी होती है, वहाँ के स्थानीय प्रयोग का ही अर्थ व्याख्या में ठीक माना जाता है। हाल ने इस विषय में आस्ट्रिया और इटली की १८६६ की संधि का उदाहरण दिया है। इसमें हस्तान्तरित प्रान्तों के निवासियों (inhabitants) को इन प्रदेशों से हटने का अधिकार दिया गया था। निवासी शब्द का आस्ट्रियन तथा इटालियन कानून में विभिन्न अर्थ था, यह व्यवस्था आस्ट्रिया पर लागू होनी थी, अतः इसका आस्ट्रियन अर्थ स्वीकार किया गया।

(१०) संधि की व्याख्या करते हुए उसके समग्ररूप का ध्यान रखना चाहिये। **आयोनियन जहाजों** के मामले में डा० वाशिंगटन ने इस पर बहुत बल दिया था। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने १९३७ में बेल्जियम और हालैण्ड की १८६३ की सन्धि पर विचार करते हुए कहा था—"इस सन्धि द्वारा उत्पन्न किया गया शासन इसकी सब व्यवस्थाओं को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध करने का परिणाम है। यह एक पूरी समष्टि है, इसकी कुछ व्यवस्थाओं को अन्य व्यवस्थाओं से पृथक् करके उन्हें स्वतन्त्र रूप में नहीं सोचा जा सकता।"

(११) सन्धियों की व्याकरणीय व्याख्या जहाँ विरोधी या असम्भव अर्थ उत्पन्न करे, वहाँ इसे स्वीकार नहीं करना चाहिये।

(१२) यदि संधि की किसी धारा का उद्देश्य न्याय (Equity) प्रदान करना हो तो इसकी बहुत संकीर्ण व्याख्या नहीं करनी चाहिये ।

(१३) संधि की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये कि वह उसके प्रयोजन और उद्देश्य को आगे बढ़ाने वाली हो ।

(१४) संधियों की व्याख्या छल-कपट से रहित होनी चाहिये ।

श्वार्त्जनबर्जर (Schwartzenberger) ने व्याख्या के उपर्युक्त नियमों को चार वर्गों में बांटा है : सर्वप्रथम संधि के मूलपाठ की **व्याकरणीय व्याख्या** (Grammatical Interpretation) होनी चाहिये । यदि यह संतोषजनक न हो, शब्दों का अर्थ संदिग्ध हो तो इसकी **क्रमबद्ध व्याख्या** (Systematic Interpretation) होनी चाहिये। इसके लिये संधि के विभिन्न अंशों को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध करते हुए व्याख्या करनी चाहिये । जब इससे भी काम न चले तो ऐतिहासिक व्याख्या (Historical Interpretation) का सहारा लेना चाहिये । संधि होने के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए इसकी व्याख्या करनी चाहिये । चौथा प्रकार **कार्यात्मक व्याख्या** (Functional Interpretation) का है । इसका यह अभिप्राय है कि संधि की व्याख्या उन प्रयोजनों और कार्यों को देखते हुए की जानी चाहिये, जिनकी पूर्ति के लिये सन्धि की गई थी ।[१६]

१६. श्वार्त्जनबर्जर—ए मेनुअल आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ७३

अठारहवाँ अध्याय

संयुक्त राष्ट्र संघ

(United Nations Organization)

संघ के विचार का उद्भव और विकास (Origin and Development of the Idea)—द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नरमेध और विध्वंस के ताण्डव ने विचारशील व्यक्तियों को मानवजाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव करायी। पश्चिमी योरोप तथा सं० अमरीका में इसके लिये पिछले राष्ट्र संघ से एक भिन्न संगठन बनाना कई कारणों से आवश्यक समझा गया। **पहला** कारण अमरीकी सीनेट द्वारा राष्ट्र संघ की योजना की अस्वीकृति थी। ऐसी संस्था को सं० रा० अमरीका द्वारा अपनाना सम्भव नहीं था। **दूसरा** कारण राष्ट्र संघ की परिषद् द्वारा १९३९ में सोवियत यूनियन का इससे निष्कासन था। मास्को का ऐसी संस्था में सम्मिलित होना असम्भव था, जिसने उसे अपनी सदस्यता से पृथक् कर दिया था। **तीसरा** कारण राष्ट्र संघ के साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियाँ थीं, इसका निराकरण राष्ट्र संघ से भिन्न एक नई तथा अधिक शक्तिशाली नवीन संस्था से ही हो सकता था।

इसकी रूपरेखा तैयार करने के लिए १९४४ में वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स में ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन्होंने इस नई संस्था के विभिन्न अंग, पुरानी लीग के अंगों की भाँति, एक असेम्बली, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय रखे। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक करने के लिये एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) बनाने का तथा शांति स्थापित करने वाली, अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था के लिये सैनिक स्टाफ समिति के निर्माण के सुझाव दिये गये। इस समय पहली बार इस संस्था के सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के कुछ मतभेद प्रकट हुए। रूस इस संस्था को महाशक्तियों के निर्णयों पर सहमति प्राप्त करने का तथा प्रचार करने का साधन मात्र समझता था, वह इस पूंजीवादी (बूर्जुआ) राष्ट्रों से भरी संस्था में अपना प्रभाव बनाये रखने के लिये वीटो या निषेधाधिकार चाहता था। उसका यह कहना था कि केवल इसी प्रकार महाशक्तियों में शान्ति को स्थायी बनाये रखने वाली एकता बनी रह सकती है। वाशिंगटन सिद्धान्त रूप में वीटो से सहमत था, किन्तु इसे मर्यादित करना चाहता था। इस सम्मेलन में इस प्रश्न का कोई अन्तिम फैसला नहीं हो सका। याल्टा सम्मेलन में रूज़वेल्ट और स्तालिन ने

इस पर यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) मामलों में ११ सदस्यों में से ७ के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों (Substantive matters) में सात स्वीकारात्मक मतों (Affirmative votes) से कार्य करे। इसमें सुरक्षा परिषद् के पाँचों सदस्यों—सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत यूनियन, फ्रांस और चीन की सहमति तथा एकमति (unanimity) होनी चाहिये। संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान (चार्टर) को अन्तिम रूप सान फ्रांसिस्को सम्मेलन (२५ अप्रैल–२६ जून १९४५) में दिया गया। यहाँ पर तैयार किया गया चार्टर २४ अक्टूबर १९४५ से लागू हुआ और इसकी पहली बैठक जनवरी १९४६ में लन्दन में हुई। इसी वर्ष दिसम्बर में जॉन डी० राकफेलर द्वारा मेनहेट्टन (न्यूयार्क) के मध्य में दान दिये गये स्थान में इसका स्थायी मुख्य कार्यालय रखने का निश्चय हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य और प्रयोजन—(Object and Purpose of U. N. O.)—संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, इसमें दस हजार शब्द, १११ धारायें तथा १९ अध्याय हैं। इसके आरम्भ ही इस उद्देश्यों का वर्णन है। इसका **पहला** उद्देश्य मानवजाति की भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखना है और इस दृष्टि से शांति को संकट में डालने वाले सभी कार्यों के विरोध के लिये प्रभावशाली सामूहिक उपायों का ग्रहण करना है तथा शान्ति को भंग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के आधार पर शान्तिपूर्ण उपायों से हल करना है। इसका **दूसरा** उद्देश्य सब राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण संबंधों का बढ़ाना है, इसका आधार सब लोगों का समानाधिकार तथा आत्मनिर्णय का सिद्धान्त होना चाहिये। **तीसरा** उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में सब देशों का सहयोग प्राप्त करना, मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान बढ़ाना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना सब को मौलिक स्वतन्त्रतायें प्राप्त कराना है। **चौथा** उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसा केन्द्र बनाना है, जो इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles)—संघ के चार्टर की धारा २ में इसके निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त बताये गये हैं—(१) इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सब देशों की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है; उदाहरणार्थ, इसमें रूस और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बड़े राज्यों का तथा नौरू जैसे अभी स्वतन्त्र हुए छोटे राज्यों का दर्जा समान माना जाता है, उन्हें बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजने, इसकी सब कार्यवाहियों में भाग लेने तथा वोट देने के अधिकार एक जैसे हैं। (२) प्रत्येक सदस्य से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करें। (३) सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों से करेंगे। (४) सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण

करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे। (५) कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा। (६) सं० रा० संघ इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने वाले सिद्धान्तों का पालन करायेगा। (७) सं० रा० संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

सदस्यता (Membership)—सघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य पाँच स्थायी सदस्यों सहित सुरक्षा परिषद् के बहुमत की सिफारिश पर तथा असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत से बनाये जा सकते हैं। सदस्य बनने के लिये किसी देश का शांतिप्रिय होना, चार्टर की बाध्यताओं को स्वीकार करना तथा इन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना है। पाँच स्थायी सदस्यों में से कोई भी किसी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) से संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है।

इसके सब सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते हैं। उनमें यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे, इसके सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शांतिपूर्ण रीति से इस प्रकार करेंगे कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और न्याय खतरे में न पड़े। सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता भंग करने के लिये न तो शक्ति का प्रयोग करने की धमकी देंगे और न शक्ति का प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जो संयुक्त राष्ट्रों के प्रयोजनों के अनुकूल न हो। सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसी प्रत्येक कार्यवाही में सब प्रकार की सहायता देंगे, जो वर्तमान चार्टर के अनुसार हो तथा संयुक्त राष्ट्र संघ जिस राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रहा हो, उसे कोई मदद नहीं देंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों पर चार्टर के दायित्व और बन्धन लागू नहीं होते, फिर भी यदि वे शान्ति को भंग करते हैं तो संयुक्त राष्ट्र संघ उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। सदस्य न बनने वाले राज्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने लाने का अधिकार है। वे सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सामान्य असेम्बली द्वारा निश्चित की गई शर्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सम्मिलित होने का भी अधिकार रखते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग (Principal Organs of U.N.O.)—संघ के चार्टर की धारा ७ के अनुसार इसके छः अंग हैं—(१) सामान्य असेम्बली (General Assembly), (२) सुरक्षा परिषद् (Security Council), (३) आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council), (४) न्यास परिषद् (Trusteeship Council), (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, (६) सचिवालय (Secretariat)।

सामान्य असेम्बली (General Assembly)—इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राज्य को इसमें ५ प्रतिनिधि तथा ५ वैकल्पिक

प्रतिनिधि (Alternate delegates) भेजने का अधिकार है, किन्तु वह वोट एक ही दे सकता है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर महीने के तीसरे बृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। इसके विशेष अधिवेशन महामंत्री सुरक्षा परिषद् की अथवा सं० रा० संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन पैलेस्टाइन की समस्या पर २८ अप्रैल से १५ मई १९४७ को तथा १६ अप्रैल से १४ मई १९४८ को बुलाये गये, मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नवम्बर १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नवम्बर १९५६ को किये जा चुके हैं। असेम्बली का कार्य ७ मुख्य समितियों में बँटा हुआ है, प्रत्येक सदस्य इनमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये समितियाँ इस प्रकार हैं—(१) राजनीतिक और सुरक्षा समिति, इसके कार्य में शस्त्रास्त्रों का नियंत्रण भी सम्मिलित है। (२) आर्थिक और वित्तीय समिति, (३) सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक समिति, (४) न्यास समिति (Trusteeship Committee), (५) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति, (६) कानूनी समिति (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियाँ होती हैं—(१) सामान्य समिति—इसका कार्य असेम्बली की तथा इसकी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करना होता है। (२) प्रमाणपत्र समिति, (Credentials Committee)—यह प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है।

असेम्बली प्रत्येक अधिवेशन के लिये अपना सभापति चुनती है। इसके आठवें अधिवेशन के लिये भारत की प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित सभापति चुनी गई थीं। इसके महत्वपूर्ण निर्णय दो-तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं—शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें, सदस्यों का प्रवेश या निष्कासन, ट्रस्टीशिप के विषय, संघ के अन्य अंगों के सदस्यों का चुनाव।

असेम्बली वर्तमान चार्टर के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख विचारणीय विषय ये हैं—निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्रनियन्त्रण के सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्त, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अथवा सदस्येतर किसी राज्य द्वारा इसके समक्ष उपस्थित किये गये शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न, संघ के विभिन्न अंगों की शक्तियों तथा कार्यों से सम्बन्धित प्रश्न, सुरक्षा परिषद् की वार्षिक तथा विशेष रिपोर्टों पर विचार, बजट पर विचार तथा अनुमोदन, विभिन्न देशों द्वारा संघ के व्यय को वहन करने का अनुपात।

सामान्य असेम्बली निम्नलिखित बातों के अध्ययन की व्यवस्था करती है तथा उस पर अपनी सिफारिश देती है—(क) राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और संहिताकरण को प्रोत्साहित करना, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद किये बिना सबको मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रतायें दिलाने में सहायता देना। मूल चार्टर में यह व्यवस्था थी (धारा १२) कि सुरक्षा परिषद् जब किसी झगड़े या परिस्थिति पर विचार कर रही हो तो

उसके सम्बन्ध में असेम्बली तब तक कोई सिफारिश नहीं करेगी, जब तक स्वयं सुरक्षा परिषद् उससे ऐसा करने को न कहे। किन्तु जब सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों द्वारा वीटो के प्रयोग से गतिरोध उत्पन्न होने लगा तो असेम्बली ने १९५० में अपने पाँचवें अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया कि जब सुरक्षा परिषद्, ऐकमत्य न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित रखने के अपने प्रधान उत्तरदायित्व को पूरा न कर सके और शान्ति भंग के भय या आक्रमण की आशंका हो तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके सदस्यों को शान्ति बनाये रखने के सामूहिक उपायों की सिफारिश करेगी, यदि शान्ति भंग या आक्रमण की आशंका हो तो वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये सैनिक कार्यवाही के प्रयोग की सिफारिश भी कर सकती है। इस प्रस्ताव से असेम्बली के अधिकार और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई है।

छोटी असेम्बली (Little Assembly)—१९४७ तक सुरक्षा परिषद् में स्थायी महाशक्तियों के उग्र विरोध और वीटो के प्रयोग के कारण ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो गया कि सुरक्षा परिषद् से युद्ध और आक्रमणों की आशंका से भयभीत विश्व को सुरक्षा पाने या शान्ति बनाये रखने की आशाओं का पूरा होना असम्भव प्रतीत हुआ। अतः सामान्य असेम्बली ने इस नवीन परिस्थिति का हल करने के लिये १३ नवम्बर १९४७ को "अन्तरिम समिति" (Interim Committee) नामक एक नया सहायक अंग स्थापित किया, इसे सामान्य रूप से छोटी असेम्बली कहा जाता है। यह असेम्बली का सामान्य अधिवेशन न होने की दशा में उसके अधिकार-क्षेत्र में आने वाले प्रश्नों पर विचार करती है, इसके लिये इसे जाँच कमीशन नियत कराने, आवश्यक अन्वेषण कराने और महामंत्री को असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार है। इसकी स्थिति सुस्पष्ट करने के लिये सामान्य असेम्बली ने यह भी निश्चय किया की छोटी असेम्बली चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के दायित्वों का भी ध्यान रखेगी। सामान्य असेम्बली के प्रत्येक सदस्य को इसमें एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस प्रकार यह जनरल असेम्बली से बहुत छोटी, उसका पंचमांश और सदा अधिवेशन में रहने वाली स्थायी संस्था है। आरम्भ में यह दो बार एक-एक वर्ष के लिये बनायी गई। नवम्बर १९४९ में इसे अनिश्चित अवधि के लिये पुनः स्थापित किया गया। किन्तु रूस तथा उसके समर्थक देश इसके घोर विरोधी थे। १९५२ के बाद इसकी कोई बैठक नहीं हुई।

शान्ति के लिये एकता (Uniting for Peace) **प्रस्ताव** (३ नवम्बर १९५०)—सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का दूसरा प्रयत्न यह प्रस्ताव था। यह वस्तुतः सोवियत रूस द्वारा बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग के उत्पन्न परिस्थिति का प्रतिकार करने के लिये और कोरिया युद्ध में चीनी फौजों के हस्तक्षेप की सूचना कोरिया की संयुक्त कमान से उपलब्ध होने से दो दिन पूर्व पास किया गया था। जून १९५० में कोरिया के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् ने बड़ी तेजी से कार्यवाही की थी। इसका कारण यह था कि उस समय सोवियत रूस सं० राष्ट्र संघ के कुछ अंगों की बैठकों का जानबूझकर बहिष्कार कर रहा था, क्योंकि संघ ने

पेकिंग की कम्युनिस्ट सरकार को अपना सदस्य बनाना स्वीकार नहीं किया था। अगस्त १६५० में रूस ने इस बहिष्कार की नीति को छोड़कर सुरक्षा परिषद् की बैठकों में भाग लेना शुरू किया, इससे यह स्पष्ट था कि कोरिया के मामले में वह किसी भी कार्यवाही में अड़ंगेबाजी करेगा, इसका हल करने के लिये तथा वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को समाप्त करने के लिए अमरीका की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया कि ऐसी स्थिति में जनरल असेम्बली को विचार करने और आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार दिया जाय। जनरल असेम्बली में वीटो न होने के कारण वहाँ इस प्रकार की अड़ंगेबाजी नहीं हो सकती थी। रूस ने यद्यपि इसका इस आधार पर घोर विरोध किया कि इससे सुरक्षा परिषद् की सत्ता क्षीण हो जायेगी फिर भी यह 'अकेसन योजना' (Acheson Plan) पास हो गई।

इसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के वीटो विहीन सात सदस्यों के वोट से या संघ के सदस्यों के बहुमत से, २४ घण्टे का नोटिस देकर जनरल असेम्बली का आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि सुरक्षा परिषद् आपसी मतभेदों के कारण शान्ति भंग की अथवा आक्रमण की आशंका को या आक्रमण को रोकने में अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करती, तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके "सामूहिक उपायों" के लिए अपनी सिफारिशें दे सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए फौजी कार्यवाही का भी निर्देश कर सकती है। इस प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्र में स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिये १४ व्यक्तियों के शान्ति निरीक्षण आयोग (Peace Observation Commission) की व्यवस्था थी और इसके तीसरे (सी) भाग में सदस्यों से यह प्रार्थना की गयी थी कि वे अपनी सेनाओं का कुछ विशेष भाग इस दृष्टि से प्रशिक्षित, संगठित और सुसज्जित करें कि वह सुरक्षा परिषद् या जनरल असेम्बली की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना के रूप में फौरन सेवा के लिए उपलब्ध हो सकें।

यह प्रस्ताव संघ के विधान में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला है। इसने जनरल असेम्बली को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। पहले सं० रा० संघ का केन्द्र सुरक्षा परिषद् थी, अब इसने यह गौरवास्पद स्थान असेम्बली को प्रदान किया है। इससे वीटो की समाप्ति तो नहीं हुई, किन्तु उससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का हल निकल आया है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् इस विषय में केवल सिफारिशें ही करती है और इनका मानना सदस्यों की इच्छा पर है और इन्हें न मानते हुए भी सदस्य चार्टर का उल्लंघन नहीं करते, जैसे भारत और सोवियत गुट ने कोरिया युद्ध में चीनी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में असेम्बली की सिफारिश नहीं मानी थी, फिर भी ये सिफारिशें बड़ा महत्व रखती हैं। नवम्बर १६५६ में मिश्र पर इज़राइल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का आक्रमण होने पर जनरल असेम्बली के विशेष अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की।

१६४६ से सुरक्षा परिषद् की तुलना में जनरल असेम्बली का महत्व बढ़ रहा है। इसमें १३१ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के समानता के आधार पर सम्मिलित होने के

कारण तथा उनके स्वतन्त्र रूप में अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव रखने के कारण इसे विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण (Open conscience of the world) कहा जाता है। इसमें "अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ों और आवास स्थान" तक की सभी समस्याओं पर विचार होता है। स्टार्क के कथनानुसार यह बात उल्लेखनीय है कि जनरल असेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रधान भाग लिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष लाये कुछ मुख्य प्रश्नों पर विचार करके पेलेस्टाइन, यूनान, स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध में कार्यवाही की है। पेलेस्टाइन के विषय में इसने १९४६ में तथ्य अन्वेषण की विशेष समिति नियत की, १९४८ में यहूदियों तथा अरबों के विवाद के निर्णय के लिए पहले मध्यस्थ नियुक्त किया और बाद में समझौता आयोग बनाया।"[1]

सुरक्षा परिषद् (Security Council)—चार्टर के पाँचवें अध्याय की धारा २३ से ३२ तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यों, अधिकारों तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। इस परिषद् के १६ सदस्य होते हैं, इनमें चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमरीका स्थायी सदस्य हैं, ११ अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए जनरल असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत से चुने जाते हैं, दो वर्ष की अवधि समाप्त होने पर किसी सदस्य को पुनः चुनाव के लिए खड़ा होने का अधिकार नहीं है, प्रत्येक सदस्य का परिषद् में एक प्रतिनिधि होता है। अस्थायी सदस्य प्रायः विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से चुने जाते है, इनमें प्रायः दो लैटिन अमरीकी राज्यों के प्रतिनिधि, एक ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का प्रतिनिधि और एक कम्युनिस्ट देशों का प्रतिनिधि होता है। सं० रा० संघ का कोई भी सदस्य अपने देश से सम्बद्ध विषय उपस्थित होने पर इसकी कार्यवाही में भाग ले सकता है (धारा ३२), किन्तु उसे वोट देने का अधिकार नहीं होता। १९५७-५८ में सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का प्रश्न उपस्थित होने पर भारत और पाकिस्तान ने इसकी कार्यवाही में इसी प्रकार भाग लिया था।

सुरक्षा परिषद् का संगठन इस प्रकार बनाया गया है कि वह लगातार काम करती रहे, अतः संघ के मुख्य कार्यालय में सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य के एक प्रतिनिधि का बना रहना आवश्यक है (धारा २८)। सुरक्षा परिषद् का मुख्य उत्तरदायित्व "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना है" (धारा २४)। इसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और विवाद उत्पन्न करने वाली किसी भी परिस्थिति या झगड़े की जांच का पूरा अधिकार दिया गया है। इसमें सामान्य रूप से कानूनी विवाद नहीं आते, क्योंकि इनका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि वे "वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सब निर्णयों को स्वीकार करेंगे, एवं पालन करेंगे" (धारा २)। सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे के सम्बन्ध में धारा ३३ से ३८ तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट

१. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४४४

में डालने, इसे भंग करने तथा आक्रमण रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में धारा ३६ से ५१ तक विस्तृत वर्णन है। यह परिषद् अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए सदस्यों को पहले तो ऐसे उपायों को व्यवहार में लाने के लिए कहती है जिनमें सेना के उपयोग की आवश्यकता न हो। यदि ये उपाय अपर्याप्त हों तो परिषद् "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिए" जल, थल, वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है (धारा ४२)। संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्य यह वचन देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिये सुरक्षा परिषद् के माँगने पर और विशेष समझौतों के अनुसार वे अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता तथा अन्य सुविधाएँ प्रस्तुत करेंगे (धारा ४३)। सुरक्षा परिषद् "सशस्त्र सेनाओं को उपयोग में लाने की योजनायें" एक सैनिक स्टाफ समिति की सलाह और सहायता से बनायेगी (धारा ४४)। यह सैनिक स्टाफ समिति (Military staff Committee) सुरक्षा परिषद् को निम्न विषयों में सहायता और परामर्श देगी—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के आधीन सेनाओं का प्रयोग और कमान, शस्त्रों का नियन्त्रण, संभावित निःशस्त्रीकरण (धारा ४६)। इस समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के सैनिक स्टाफों के अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि होंगे। सुरक्षा परिषद् को उपयोग के लिए दी गई सशस्त्र सेनाओं का सामरिक संचालन, सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में होगा और यह परिषद् के आधीन होगी (धारा ४७)। सुरक्षा परिषद् जो भी कार्यवाही तय करेगी, उसे पूरा करने में सब सदस्य सामूहिक रूप से एक दूसरे को सहयोग देंगे (धारा ५०)।

सुरक्षा परिषद् की ये व्यवस्थाएँ **राष्ट्रसंघ के पुराने प्रतिज्ञापत्र से मौलिक भेद रखती हैं**, उसमें आक्रमणों को रोकने के लिए सैनिक स्टाफ समिति जैसा कोई संगठन नहीं था। सुरक्षा परिषद् ने कोरिया के युद्ध में इन धाराओं का उपयोग किया था, ७ जुलाई तथा २७ जुलाई १९५० को पास किये प्रस्तावों में उत्तर कोरिया के आक्रमण की निन्दा करते हुए सदस्यों को इसके विरोध के लिए सेनाएँ देने और अन्य सहायता करने को कहा गया था। कई बार संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किसी सदस्य पर आक्रमण होने की दशा में उसे सहायता पहुँचाने में किन्हीं कारणों से विलम्ब हो सकता था, अतः धारा ५१ में उसे उस समय तक आत्मरक्षा (Self-defence) का अधिकार दिया गया है, "जब तक सुरक्षा परिषद् स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही नहीं करती।" इसके अतिरिक्त चार्टर ने शान्ति बनाये रखने के लिए प्रादेशिक व्यवस्थाओं, संगठनों, संधियों, समझौतों की भी अनुमति इस शर्त पर दी है कि ये सं० रा० संघ के प्रयोजनों और सिद्धान्तों से मेल खाते हों (धारा ५२) और सुरक्षा परिषद् के आधीन ही अपनी सारी कार्यवाही करें और इसकी सूचना परिषद् को भेजते रहें (धारा ५३)।

वीटो (Veto)—चार्टर की धारा २७ में सुरक्षा परिषद् में मतदान की प्रणाली का वर्णन है। इसके अनुसार प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) विषयों में परिषद् के निर्णय सात सदस्यों के स्वीकारात्मक (Affirmative) मत से किये जायेंगे। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय

या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि हैं। इसके अतिरिक्त सब विषय सारवान् (Substantive) या महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। ऐसे विषयों के निर्णयों के लिए ११ सदस्यों के स्वीकारात्मक ११ वोटों के साथ पाँच स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट भी होने चाहियें। यदि इन पाँच में से किसी का विवादास्पद झगड़े से सम्बन्ध है तो यह वोट नहीं देगा। इस व्यवस्था के अनुसार यदि पाँच सदस्यों में से कोई एक भी किसी महत्वपूर्ण निर्णय के विपक्ष में वोट देता है, तो यह विषय अस्वीकृत समझा जायेगा। यही निषेधाधिकार या वीटो की सुप्रसिद्ध व्यवस्था है। सुरक्षा परिषद् में पहले ७ वर्षों में इसका पचास बार प्रयोग हुआ, इनमें से केवल एक बार फ्रांस ने किन्तु ४९ बार सोवियत रूस ने इसका प्रयोग किया।[२] इसका प्रयोग प्रायः संघ में नये सदस्यों का प्रवेश रोकने के लिए तथा विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के विषय में हुआ है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि वीटो की व्यवस्था बड़ी दोषपूर्ण है। इससे कोई एक महाशक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सभी सदस्यों द्वारा चाही जाने वाली व्यवस्थाओं को ठप्प कर सकती है अतः वीटो की दूषित और हानिकर व्यवस्था का उन्मूलन अथवा संशोधन होना चाहिये।

इस प्रश्न की समुचित मीमांसा के लिए **वीटो व्यवस्था** की पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम समय में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर विचार करते हुए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस व्यवस्था को इसलिये आवश्यक समझा था कि युद्ध के बाद ऐसे संगठन को तभी सफलता मिल सकती थी, जबकि इसे सब महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो। राष्ट्रपति की दूरदृष्टि ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत रूस या सं० रा० अमरीका जैसे बड़े देशों के लिए एक ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं है, जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर ही महाशक्तियों को किसी कार्य के लिए बाधित करें। इसे रोकने का एक मात्र उपाय वीटो था। महाशक्तियों के सहयोग के बिना विश्व संगठन की कोई व्यवस्था सफल नहीं हो सकती थी, उन्हें जबर्दस्ती उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता था। इसका परिणाम युद्ध और विश्व संगठन की समाप्ति थी। अतः वाशिंगटन का यह विचार था कि वह वीटो वाला विश्व संगठन ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें वीटो की व्यवस्था नहीं होगी तो वह उसके लिए सर्वथा अस्वीकार्य होगा। सं० रा० अमरीका का यह विचार था कि सुरक्षा परिषद् ऐसे निर्णय कर सकती है, जिनके अनुसार उसे अपनी सेना का उपयोग करना पड़े, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह यह उपयोग अपनी इच्छा से करे, न कि दूसरे राष्ट्रों द्वारा बाधित होकर। यदि सं० रा० अमरीका ऐसे उपयोग से सहमत नहीं है तो इसे अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द करने का पूरा अधिकार होना चाहिये। किन्तु वीटो के अधिकार का प्रबल समर्थक होते हुए भी वाशिंगटन यह चाहता था कि इसके प्रयोग में बड़ी सावधानी बरती जाए। इसका

२. चार्ल्स श्लीचर—इन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२५

उपयोग विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे को रोकने या नये सदस्यों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए नहीं हो। इसके विपरीत रूस निषेधाधिकार के प्रयोग को नियन्त्रित करने के पक्ष में नहीं है, वह २६ जुलाई १९६० तक इसका प्रयोग ८९ बार कर चुका था।

केलसन (Kelsen) का यह मत है कि वीटो राष्ट्र संघ में पाँच स्थायी सदस्यों को विशेषाधिकार प्राप्त शक्तियाँ बनाता है, अन्य सब सदस्यों पर उनकी कानूनी प्रभुता स्थापित करता है, यह उनके निरंकुश और स्वच्छन्द शासन का सूचक है। चार्टर में घोषित किये सब सदस्यों की समानता के मूल एवं सर्वप्रथम सिद्धान्त का प्रत्याख्यान है, यह उसकी समूची राजनीतिक विचारधारा का विरोधी है और संघ की व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न करने वाला है, अतः वीटो की समाप्ति होनी चाहिये।[3]

किन्तु यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता है। सं० रा० संघ को सुचारु रूप से चलाने के लिये वीटो का होना आवश्यक है। पहले यह बताया जा चुका है कि संघ की सफलता के लिये महाशक्तियों का सहयोग अपेक्षित है, राष्ट्र संघ की विफलता का एक कारण सं० रा० अमरीका और रूस का उससे पृथक् रहना था। यदि वर्तमान संघ में बहुमत द्वारा किसी महाशक्ति को किसी कार्य के लिये बाधित किया जाय तो उसका परिणाम विश्वयुद्ध और संघ से उस शक्ति का पृथक् हो जाना होगा। अतः वीटो का मूल विचार श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में विश्वयुद्ध की सम्भावना को हटाना तथा विवादों को सम्मेलनों द्वारा सुलझाना है।[4] वीटो पद्धति को इसमें बड़ी सफलता मिली है, अतः उसका बना रहना आवश्यक है।[5] इसके न होने का परिणाम संयुक्त राष्ट्र संघ की क्षीणता और विघटन होगा।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (The Economic and Social Council) —चार्टर के दसवें अध्याय में धारा ६१ से ६२ तक इस परिषद् के स्वरूप, कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन है। इस परिषद् में जनरल असेम्बली द्वारा चुने हुए २७ सदस्य होते हैं, इनमें से ९ सदस्य प्रतिवर्ष तीन साल के लिये निर्वाचित होते हैं। जिन सदस्यों की अवधि समाप्त हो जाय, वे चुनाव के लिये पुनः खड़े हो सकते हैं। यह संस्था संघ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिणक, स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के कार्यों को करती है। इन्हें सम्पन्न कराने के लिए यह उपर्युक्त विषयों का अध्ययन करती है, इन पर रिपोर्ट देती है, इनके अध्ययन का प्रबंध करती है, यह सबके लिए मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाने के लिए या उनका पालन कराने के लिए सिफारिशें कर सकती है, अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में असेम्बली में पेश करने के लिए समझौते का मसविदा तैयार कर सकती है तथा इससे सम्बद्ध विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर सकती

३. हेन्स केलसन—दी लॉ आफ् दी यूनाइटिड नेशन्स, पृ० २७६–७७

४. १८ सितम्बर १९५० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की विषय समिति में दिया गया भाषण।

५. चार्ल्स श्लीचर—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२५–२६

है । इसे आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में मानव अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए कमीशन बनाने का अधिकार है। इसके सब निर्णय उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। प्रतिवर्ष इसके कम से कम दो अधिवेशन होते हैं। यह केवल सिफारिशें करती हैं, इसे अपने निर्णय क्रियान्वित कराने का अधिकार नहीं है।

इस परिषद् का उद्देश्य विश्व को अभाव से मुक्ति प्रदान कराना है। जिस प्रकार सुरक्षा परिषद् विश्व को युद्ध के संकट से बचाती है, इसी प्रकार यह उसकी दरिद्रता और दैन्य के दानवों से रक्षा करती है। चार्टर की ५५वीं धारा में यह कहा गया है कि इसका उद्देश्य निम्न बातों को बढ़ावा देना है—(क) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना, सबको काम दिलाना, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग। (ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रता की रक्षा, इनके प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन। तीसरी व्यवस्था सर्वथा नवीन है, राष्ट्रसंघ के संविधान में केवल राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों को अल्पसंख्यक संधियों द्वारा सुरक्षित बनाने की व्यवस्था थी, किन्तु इसमें मानवीय अधिकारों की सुरक्षा पर बल दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा परिषद् उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने का यत्न करती है। आर्थिक उन्नति के लिए यह प्राविधिक सहायता का आयोजन करती है और सामाजिक उन्नति के लिए मानवीय अधिकारों का निर्धारण और पालन। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, आर्थिक उन्नति के बिना मानवीय अधिकार निरर्थक हैं और मानवीय अधिकारों के बिना भर-पेट भोजन करने वाला मनुष्य पशुओं से बेहतर नहीं है।

आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा परिषद् अपना कार्य विभिन्न प्रकार के आयोगों, स्थायी समितियों, तदर्थ समितियों और विशेष संस्थाओं के माध्यम से करती है। ये इसको रिपोर्ट देते हैं। इसके आयोग दो प्रकार के हैं—कार्यात्मक (Functional) और प्रादेशिक (Regional)। पहले प्रकार के आयोग निम्न विषयों से सम्बद्ध हैं—आर्थिक और रोजगार, यातायात तथा संचार साधन, आँकड़ों सम्बन्धी, मानवीय अधिकार, स्त्रियों का सामाजिक दर्जा, नशीली दवाइयाँ, वित्तविषयक तथा जनसंख्या सम्बन्धी। प्रादेशिक आयोग विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायता पहुँचाते हैं। अब तक ऐसे तीन आयोग स्थापित हुए हैं—पहला १९४७ में योरोप के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Europe) था, इसके आधीन विभिन्न समितियाँ कोयले, बिजली, उद्योग, आन्तरिक यातायात, इस्पात, इमारती व्यापार और कृषि की समस्याओं पर विचार करती हैं। १९४७ में एशिया तथा सूदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and Far East—ECAFE) तथा १९४८ में दक्षिण अमरीका को आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America) स्थापित किया गया। इस परिष की विशेष संस्थायें निम्नलिखित हैं—स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड,

अन्तर्राष्ट्रीय बालकल्याण निधि (U. N. International Children Emergency Fund—UNICEF)। अन्तिम संस्था जनरल असेम्बली द्वारा १३ दिसम्बर १९४६ को स्थापित की गई थी। इसका उद्देश्य बालकल्याण के विविध सराहनीय कार्य करना है।

न्यास के विचार का विकास तथा न्याय परिषद् (Trusteeship Council)—संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था के स्थान पर न्यास पद्धति (Trusteeship) को ग्रहण किया और इसके संचालन के लिए न्यास समिति का निर्माण हुआ है। मैण्डेट की भाँति न्यास की व्यवस्था भी विभिन्न शक्तियों के समझौते का परिणाम थी।[६] १९४५ में ७० करोड़ व्यक्ति पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यों में पराधीन थे, इस प्रकार मानव जाति के प्रति तीन व्यक्तियों में से एक परतन्त्र था, किन्तु अगले दस वर्षों में इस विचार के विकास से प्रति बारह व्यक्तियों में से एक ही पराधीन रह गया है। युद्ध के समय में अनेक सम्मेलनों में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की समस्या पर विचार हुआ था। उस समय राष्ट्रपति रूज़वेल्ट पराधीन देशों—भारत आदि को स्वाधीन बनाने की नवीन व्यवस्था (New Deal) के पक्षपाती थे, किन्तु सं० रा० अमरीका में उपनिवेशवाद विरोधी भावना होते हुए भी कुछ व्यक्ति प्रशान्त महासागर में जापान से छीने हुए टापुओं पर सामरिक दृष्टि से अमरीका का प्रभुत्व वांछनीय समझते थे। डच, फ्रेंच और दक्षिण अफ्रीका यूनियन वाले साम्राज्यवाद में मैण्डेट व्यवस्था को बनाये रखना चाहते थे। किन्तु इसके साथ ही द्वितीय महायुद्ध में एशिया में उत्पन्न साम्राज्यवाद विरोधी भावना की उपेक्षा सम्भव नहीं थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों की तथा इटली के साम्राज्य की नई व्यवस्था करनी थी। सान फ्रांसिस्को के सम्मेलन में जब इन समस्याओं पर विचार हुआ तो फ्रांस, हालैण्ड और दक्षिण अफ्रीका तथा सं० रा० अमरीका के सैनिक दलों ने पुरानी मैण्डेट व्यवस्था में किसी प्रकार के विस्तार का तथा रूज़वेल्ट की तथा कार्डल हल की न्यास पद्धति के विचारों का विरोध किया। किन्तु न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मध्यपूर्व तथा दक्षिण अमरीका के देशों, सोवियत यूनियन, सं० रा० अमरीका तथा चीन ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के उन्मूलन पर बल दिया। इन दोनों दृष्टिकोणों में हुए समझौते का परिणाम सं० रा० संघ की न्यास पद्धति है। इसकी विस्तृत व्यवस्था चार्टर के ११,१२ तथा १३ अध्यायों में धारा ७६ से ९१ तक में है।

न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय कुछ पिछड़े हुए, अल्पविकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशों के निवासी इस योग्य नहीं हैं कि वे अपने देश का शासन स्वयमेव कर सकें और अपने भाग्यविधाता बन सकें, इन्हें दूसरे विकसित और उन्नत देशों की सहायता अपेक्षित है, सभ्य देशों का कर्त्तव्य है कि वे इनके विकास में पूरी सहायता दें और जब तक ये अपना शासन करने में समर्थ नहीं

६. इस पद्धति के विकास की अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के लिये देखिये, डलेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७६—७८।

हो जाते, तब तक इनकी तथा इनके हितों की देखभाल, इन्हें न्यास या अमानत समझते हुए करें, इनका अपने स्वार्थों के लिए शोषण न करें। इन शक्तियों द्वारा यह कार्य सं० रा० संघ के नियन्त्रण में होना चाहिए। राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी तथा टर्की के साम्राज्यवाद से पीड़ित हुए प्रदेशों के लिए थी, किन्तु सं० रा० संघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रों के लिए है।

न्यास वाले प्रदेशों के शासन की देखभाल का कार्य न्यास परिषद् करती है। इसके सदस्य न्यास प्रदेशों का शासन करने वाले आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका तथा सुरक्षा परिषद् के न्यास प्रदेशों का शासन करने वाले देश, चीन और सोवियत रूस तथा इतनी ही संख्या में ३ वर्ष के लिए जनरल असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले देश हैं, भारत भी ३१ दिसम्बर १९५९ तक इसका एक चुना हुआ सदस्य था। इसके सब निर्णय उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। वर्ष में इसकी बैठकें नियमित रूप से होती हैं, सभापति सदस्यों द्वारा एक वर्ष के लिए चुना जाता है।

न्यास परिषद् न्यास प्रदेशों के प्रशासन की देखभाल तीन प्रकार से करती है—(१) सुरक्षा परिषद् द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली के आधार पर प्रशासन करने वाले देशों से न्यास प्रदेशों की विविध प्रकार की प्रगति के सम्बन्ध में विस्तृत रिपोर्टें मंगाई जाती हैं। (२) इन प्रदेशों के निवासियों के मौखिक अथवा लिखित आवेदन-पत्रों पर परिषद् विचार करती है। १९५१ तक परिषद् ने ऐसे ७०० प्रार्थनापत्रों पर विचार किया था, १९५५ में इनकी संख्या बढ़कर एक ही अधिवेशन में ४०० तक पहुँच गई, १९५७ में यह संख्या १०५७ हो गई। (३) परिषद् प्रतिवर्ष अपने निरीक्षक मण्डल (Visiting Missions) पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी अफ्रीका, प्रशान्त महासागर, टांगानिक्या, सुमालीलैण्ड आदि विभिन्न देशों में इस प्रकार भेजती है कि तीन वर्षों में एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाए। ये मण्डल न्यास प्रदेशों की अन्तर्राष्ट्रीय देखभाल के बड़े प्रभावशाली साधन हैं और परिषद् के सदस्यों को इन प्रदेशों का प्रामाणिक ज्ञान कराने तथा इनकी समस्यायें हल कराने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। ये मिशन न्यास परिषद् के प्रति उत्तरदायी होने के कारण निष्पक्ष और स्वतन्त्र अन्वेषण कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—यह सं० रा० संघ के चार्टर (अध्याय १४, धारा ९२–९६) तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर बनाया गया है। इसके नियम प्रायः राष्ट्र संघ के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के नियमों जैसे हैं। इसके न्यायाधीश राष्ट्रीयता का विचार किये बिना अपने उच्च नैतिक चरित्र और अगाध अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी ज्ञान के कारण चुने जाते हैं। इस न्यायालय के कुल पन्द्रह न्यायाधीश होते हैं, इनमें से कोई दो एक राष्ट्र के नहीं हो सकते। ये सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली द्वारा ९ वर्ष के लिए चुने जाते हैं और अपनी पदावधि समाप्त होने पर चुनाव के लिए पुनः खड़े हो सकते हैं। इसका कोरम नौ

जजों का होता है। सं० रा० संघ के सभी सदस्य इसका लाभ उठा सकते हैं। इसमें किसी राज्य को जबर्दस्ती मुकद्दमे में नहीं घसीटा जा सकता। प्रतिवादी राज्य की सहमति पर ही किसी मामले पर न्यायालय विचार करता है। इसके कार्य का अगले अध्याय में वर्णन होगा (देखिये नीचे पृ० ४०७)।

सचिवालय (Secretariat)—चार्टर के पन्द्रहवें अध्याय (धारा ९७–१०१) में संघ का कार्य चलाने वाले सचिवालय का वर्णन है। इसमें महामन्त्री और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारीवर्ग रहता है। महामन्त्री की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। सचिवालय के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ के विधानपत्र में कोई व्यवस्था नहीं, किन्तु चार्टर में इसका विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार यह संघ का कार्यवाहक और प्रशासनात्मक अंग है। महामन्त्री सचिवालय की सहायता से उसके सारे कार्य का संचालन करता है। उसके मख्य कार्य ये हैं—(१) वह असेम्बली में, आर्थिक और सामाजिक परिषद् में, न्यास परिषद् की सभी बैठकों में काम करता है। (२) संघ के विभिन्न अंग उसे जो काम सौंपते हैं, उन्हें पूरा करता है। (३) संघ के कार्यों के सम्बन्ध में जनरल असेम्बली को वार्षिक रिपोर्ट देता है। (४) यदि उसकी सम्मति में किसी मामले में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होता है तो सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर खींच सकता है। (५) कर्मचारियों की नियुक्ति जनरल असेम्बली द्वारा बनाये नियमों के अनुसार करता है। कर्मचारियों के भरती करने और उनकी नौकरियों की शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि दक्षता, क्षमता और ईमानदारी का ऊँचे से ऊँचा स्तर कायम रह सके। साथ ही यह भी देखा जाता है कि भरती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो (धारा १०१)। महामन्त्री और कर्मचारी वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरी तरह समझें, संघ से बाहर किसी राज्य या अधिकारी से कोई परामर्श न प्राप्त करें। उनकी सम्पूर्ण निष्ठा और उत्तरदायित्व संघ के प्रति होना चाहिए। इनके साथ ही संयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के लिए यह प्रतिज्ञा करना आवश्यक है कि वह महामन्त्री और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वों के पालन में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करेगा (धारा १००)। किन्तु कई बार निष्पक्षता और तटस्थता के इस उदात्त आदर्श का पूरा पालन नहीं हुआ। कुछ वर्ष पहले कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर सं० रा० अमरीका ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए महामन्त्री की सहायता से संघ में कार्य करने वाले, किन्तु कम्युनिस्ट प्रकृति वाले कुछ अमरीकनों को इसके सचिवालय से निष्कासित किया था।

उन्नीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

(International Tribunals)

वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों के कानूनी विवादों को सुलझाने में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है। इसके स्वरूप का शनैः-शनैः विकास हुआ है। सर्वप्रथम यह हेग में पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) के रूप में स्थापित हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) स्थापित हुए। यहाँ इन तीनों के स्वरूप और कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

पंचनिर्णय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration)—१८९९ में पंचनिर्णय (Arbitration) या पंचायत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने की दृष्टि से इसकी स्थापना का निश्चय किया गया। १९०० में हालैण्ड के हेग नगर में इसकी स्थापना की गई। यद्यपि इसका नाम तो स्थायी न्यायालय था, किन्तु वास्तव में यह कोई न्यायालय नहीं था। यह केवल जजों के नामों की सूची थी, जिसमें से कुछ नाम विवाद करने वाले राज्य अपनी इच्छा से अपने विवाद के पंचायती निर्णय के लिए चुन लेते थे,। न्यायालय न होने पर भी इसका विशेष महत्व इस बात में था कि यह स्थायी स्वरूप रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विकास में पहला पग था। इससे पहले अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होने पर पंच नये सिरे से निश्चित करने पड़ते थे, किन्तु इसमें निश्चित जजों की सूची में से पंच चुन लिये जाते थे और इसका स्थायी मुख्यालय हालैण्ड के हेग नगर में था। न्यायालय की निष्पक्षता बनाये रखने के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि इसका कोई भी न्यायाधीश किसी मामले में वकील का काम नहीं कर सकता था। १९०२ से १९१४ तक इसने विभिन्न मामलों में १४ पंचाट या निर्णय (Award) दिये और इस प्रकार पंचायती पद्धति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान करने की भावना का विकास हुआ।

इसके कुछ उल्लेखनीय मामले इस प्रकार थे—१९०२ में **कैलिफोर्निया का पायस फण्ड** (The Pious Fund of California) का मामला, १९०५ का जापानी गृह-कर का मामला (Japanese House Tax)। १९१० में इस न्यायालय ने उत्तरी अटलांटिक तट के मछलीगाह मामले (The North Atlantic Coast Fisheries

Case) का फैसला किया। यह विवाद सं० रा० अमरीका का ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा के साथ उत्तरी अटलांटिक में मछलियाँ पकड़ने के सम्बन्ध में था। इसमें सं० रा० अमरीका का यह दावा था कि उसे अपने नागरिकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से भी इस क्षेत्र में मछलियाँ पकड़वाने का अधिकार है तथा इस क्षेत्र में मछली पकड़ने के नियम ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा को उसके साथ मिलकर बनाने चाहियें। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि नियम बनाने का स्वाभाविक अधिकार ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा को है तथा सं० रा० अमरीका को अपने मछली पकड़ने वाले जहाजों पर अन्य देशों के नागरिकों को काम पर लगाने का अधिकार है, किन्तु अमरीकी मछलीमार कुछ निश्चित खाड़ियों और बन्दरगाहों में मछली का शिकार नहीं कर सकते। कोई खाड़ी दस मील तक चौड़ी होने पर तटवर्ती राज्य के प्रदेश में समझी जानी चाहिए, इसके भीतर अमरीकी नागरिक मछलियाँ नहीं पकड़ सकते। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी **सावरकर के मामले** का निर्णय भी इसी न्यायालय ने किया (देखये प्रथम परिशिष्ट)। १९१२ में इसके सम्मुख **कार्थेज** नामक जहाज का मामला आया, यह फ्रेंच स्टीमर था, इसे इटली ने इस आधार पर पकड़ लिया कि वह एक हवाई जहाज को ट्यूनिस ले जा रहा है। फ्रेंच सरकार का यह कहना था कि ट्यूनिस तटस्थ देश था तथा हवाई जहाज लड़ाई की विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओं में पूरी तरह नहीं आता था। न्यायालय ने इटली द्वारा इसके पकड़े जाने को अनुचित ठहराते हुए उसे हर्जाने के रूप में फ्रांस को १,६०,००० फ्रांक देने को कहा।

इस न्यायालय की पद्धति में कई दोष थे। यह बड़ी जटिल तथा व्ययसाध्य थी, इसके जज स्थायी नहीं होते थे, किन्तु विशेष मामलों के लिए एक निश्चित सूची में से छांटे जाते थे, मामले के निर्णय के बाद इनका कार्य समाप्त हो जाता था। स्थायी न्यायाधीशों के अभाव में विधिशास्त्र के नियमों का भी समुचित विकास नहीं हो पाता था। अतः निश्चित अवधि के लिए जजों की नियुक्ति आवश्यक समझी जाने लगी तथा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उपर्युक्त दोषों को दूर करते हुए एक अन्य स्थायी न्यायालय की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनाये गये राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद सं० १४ में यह कहा गया था कि संघ की कौन्सिल स्थायी न्यायालय की स्थापना की योजना का निर्माण करेगी। इसके अनुसार फरवरी, १९२० में इस न्यायालय की योजना तैयार करने के लिए परामर्शदात्री समिति बनायी गयी। असेम्बली ने ३ दिसम्बर १९२० को यह योजना स्वीकार की। तदनुसार इसका परिनियम (Statute) बनाया गया और १५ फरवरी १९२२ से इस न्यायालय ने अपना कार्य आरम्भ किया, अक्टूबर १९४५ में इसका अन्तिम अधिवेशन हुआ। अप्रैल, १९४३ में इसके स्थान पर न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित हुआ।

इस न्यायालय को उन सभी मामलों पर विचार करने का अधिकार दिया गया जो सम्बद्ध पक्षों द्वारा निर्णय के लिए इसे सौंपे जायें। इसके अनुच्छेद सं० ३७ के अनुसार

इसे ऐसी सन्धियों के सम्बन्ध में होने वाले विवाद सुनने का अधिकार था, जिनमें ऐसे विवादों के निर्णय का अधिकार संघ द्वारा स्थापित न्यायालय को दिया गया था। इसके अतिरिक्त न्यायालय के परिनियम (Statute) में एक वैकल्पिक धारा (Optional clause) थी। इसे मानना या न मानना राज्यों की इच्छा पर था। इसे स्वीकार करने वाले राज्य निम्नलिखित प्रकार के विवादों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करते थे—(क) सन्धि की व्याख्या, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न, (ग) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का भंग करने वाले तथ्य, (घ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन करने पर उसके लिये दिये जाने वाले हर्जाने का स्वरूप और मात्रा। बीस राज्यों ने इस वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर किये थे। कई राज्य कुछ शर्तों के साथ इन विषयों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानते थे।

यह न्यायालय अपने निर्णय देता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चार प्रकार के स्रोत स्वीकार करता था—(१) अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (Conventions), (२) अन्तर्राष्ट्रीय रीतियाँ और रूढ़ियाँ (Customs), (३) सभ्य राज्यों द्वारा स्वीकार किये गये सिद्धान्त, (४) न्यायालयों के निर्णय और विभिन्न देशों के अत्यन्त योग्य विधिशास्त्रियों की सम्मतियाँ। राष्ट्र संघ की कौन्सिल और असेम्बली को यह अधिकार था कि वे किन्हीं विषयों में न्यायालय की परामर्शात्मक सम्मति प्राप्त कर सकें। इसके पन्द्रह न्यायाधीश कौन्सिल और असेम्बली द्वारा ९ वर्ष की अवधि के लिये चुने जाते थे। न्यायालय के कार्य के लिये आवश्यक गणपूर्ति (Quorum) नौ जजों की मानी जाती थी। किसी मामले पर विचार के लिये उससे सम्बद्ध देशों के जजों को भी न्यायासन पर बैठने का अधिकार होता था।

इस न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये मामलों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—१९२३ में **पोलैण्ड के जर्मनवासियों** (German Settlers in Poland) के मामले में न्यायालय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राज्यों के उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्त की सत्ता अस्वीकार करने वाले भी यह नहीं मानते हैं कि सम्पत्ति के स्वामी के रूप में किसी राज्य से प्राप्त किये हुए वैयक्तिक अधिकार उस राज्य की प्रभुसत्ता में परिवर्तन होने पर अवैध हो जाते हैं।" १९२३ में इसने फ्रेंच सरकार द्वारा किराये पर लिये गये **विम्बलडन** (Wimbledon) नामक जहाज के जर्मन सरकार द्वारा कील नहर में न गुजरने देने के मामले पर विचार किया (देखिये ऊपर पृ० २३४)। १९२५ में **ऊपरी साइलीशिया** के मामले (Case of Upper Silesia) में इस न्यायालय ने यह नियम निश्चित किया कि संधि केवल संबद्ध पक्षों के लिये ही कानून बनाती है। संदिग्ध अवस्था में सन्धि से तीसरे पक्ष के लिये किसी प्रकार के अधिकार नहीं निकाले जा सकते। १९२७ में इसने फ्रेंच स्टीमर **लोटस** (S. S. Lotus) के मामले का निर्णय किया (देखिये प्रथम परिशिष्ट तथा ऊपर पृ० २७५-६)।

न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—सं० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद ९२ में इस न्यायालय को संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान न्यायिक अंग बताते हुए यह कहा गया है कि यह इसके साथ जोड़े गये परिनियम

(Statute) के अनुसार कार्य करेगा, यह परिनियम अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के परिनियम पर आधारित है और चार्टर का अविभाज्य अंश है। इस न्यायालय के पन्द्रह जज होते हैं, ये जनरल असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा पृथक् रूप से चुने जाते हैं। जजों के कार्यकाल की अवधि नौ वर्ष होती है। किन्तु पिछले स्थायी न्यायालय की भाँति सब जजों का चुनाव ६ वर्ष बाद एकसाथ नहीं होता, क्योंकि एक-तिहाई जज प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते रहते हैं। इस व्यवस्था से यह लाभ हुआ है कि सदैव दो-तिहाई जज ऐसे होते हैं, जो न्यायालय की कार्यविधि से और विचाराधीन मामलों से पूरा परिचय रखते हैं। एक राष्ट्र का एक से अधिक न्यायाधीश नहीं हो सकता।

क्षेत्राधिकार (Jurisdiction)—इसका क्षेत्राधिकार तीन प्रकार का है: (१) ऐच्छिक (Voluntary), (२) आवश्यक (Compulsory), (३) परामर्शात्मक (Advisory) (अनुच्छेद ३६)।

(१) **ऐच्छिक** (Voluntary)—इसे ऐसे किसी भी मामले पर विचार करने का अधिकार है, जिसे विवाद से सम्बद्ध राज्य इसे अपनी इच्छा से सौंपने को तैयार हो।

(२) **आवश्यक** (Compulsory)—इस परिनियम को स्वीकार करने वाले राज्य किसी समय यह घोषणा कर सकते हैं कि वे चार प्रकार के कानूनी विवादों के लिये अन्य राज्यों द्वारा यह बाध्यता स्वीकार करने पर भी अपने लिये न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वतः आवश्यक (Ipso facto compulsory) मानते हैं। विवाद के चार प्रकार पहले बताये गये (पृ० ४०७) (क) सन्धि की व्याख्या, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई प्रश्न, (ग) अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता के उल्लंघन का प्रश्न तथा (घ) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उल्लंघन की क्षतिपूर्ति की मात्रा तथा स्वरूप हैं। क्षेत्राधिकार मानने की यह घोषणा बिना शर्त के अथवा कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इस घोषणा की प्रतियाँ सं० रा० संघ के महामंत्री के पास जमा की जाती हैं, वह इन प्रतियों को न्यायालय का परिनियम स्वीकार करने वाले राज्यों को तथा न्यायालय के रजिस्ट्रार को भेजता है। पिछले स्थायी न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने की घोषणा जो राज्य कर चुके हैं, उनकी यह घोषणा वर्तमान न्यायालय के सम्बन्ध में भी लागू समझी जाती है। इसमें राज्यों को न्यायालय का आवश्यक क्षेत्राधिकार स्वीकार, या अस्वीकार करने का विकल्प (Option) दिया गया है, अतः **छत्तीसवीं धारा के दूसरे पैरे को वैकल्पिक धारा** (Optional Clause) भी कहते हैं।

सं० रा० अमरीका ने न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार करते हुए अपनी घोषणा में यह कहा है कि यह निम्नलिखित प्रकार के विवादों में लागू नहीं होगी (क) पहले किये गये समझौतों के अनुसार जो विवाद अन्य न्यायाधिकरणों को सौंपे गये हों। (ख) जो विवाद सं० रा० अमरीका की दृष्टि में उसके घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic Jurisdiction) में आते हों। यह घोषणा पाँच वर्ष के लिए है। सं० रा० अमरीका की घोषणा से स्पष्ट है कि उसने न्यायालय का आवश्यक क्षेत्राधिकार बिल्कुल नगण्य बना दिया है। अब तक विश्व के एक-तिहाई राज्यों ने इसी

प्रकार कुछ शर्तों के साथ न्यायालय का क्षेत्राधिकार माना है और इस आधार पर **मोरक्को का मामला** (Morocco Case) तथा **एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला** (Anglo-Norwegian Fisheries Case) न्यायालय के सम्मुख आया है।

केलसन (Kelsen) ने इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह वस्तुतः अनिवार्य क्षेत्राधिकार नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी घोषणा करने वाला कोई राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध कोई मामला इस न्यायालय के समक्ष लाता है तो दूसरा पक्ष न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने के लिए तभी बाध्य है जबकि उसने भी ऐसी घोषणा की हो। न्यायालय के परिनियम की धारा ३६ के पैराग्राफ २ के अनुसार विभिन्न राज्यों द्वारा की गई घोषणायें ऐसी शर्तों के साथ हैं, जो इन्हें क्रियात्मक दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक बना देती हैं।

फिर भी इस व्यवस्था का बहुत महत्व है। आपेनहाइम ने लिखा है—"प्रतिबन्धों (Reservations) के होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सबसे व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है। वैकल्पिक धारा के कारण ग्रहण किए गए उत्तरदायित्वों से न्यायालय की क्रियाशीलता में एक महत्वपूर्ण स्रोत की वृद्धि हुई है।"[1]

(३) **परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार** (Advisory Jurisdiction)—न्यायालय के परिनियम के चौथे अध्याय में इसके परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार का वर्णन है। सं० रा० संघ के चार्टर के अनुच्छेद ९६ में यह कहा गया है कि जनरल असेम्बली या सुरक्षा परिषद् किसी कानूनी प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय से सम्मति माँग सकती है। सं० रा० संघ के अन्य अंगों को तथा विशेष एजेन्सियों को ऐसी परामर्शात्मक सम्मति माँगने का अधिकार है। इस प्रकार की सम्मतियों का सम्बद्ध पक्षों द्वारा मानना आवश्यक नहीं होता है। पहले (पृ० १५०) यह बताया जा चुका है कि जनरल असेम्बली ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की स्थिति के विषय में ऐसी सम्मति न्यायालय से माँगी थी। इस समय इन सम्मतियों का महत्व बढ़ रहा है। आपेनहाइम ने यह लिखा है कि इस न्यायालय द्वारा दिए निर्णयों की संख्या परामर्शात्मक सम्मतियों के बराबर है।

यह न्यायालय पूर्ववर्ती न्यायालय द्वारा स्वीकार किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न स्रोतों को स्वीकार करता है। इसके न्यायाधीशों को राजदूतों के विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इनके वेतन सब प्रकार के करों से मुक्त होते हैं। इस न्यायालय के सम्मुख आये कुछ महत्वपूर्ण मामले निम्नलिखित हैं:—

(१) **कोरफू चैनल मामला** (Corfu Channel Case—1946) (देखिये प्रथम परिशिष्ट)।

(२) **मोरक्को में अमरीकी राष्ट्रजनों के उत्तराधिकार** (The Rights of Nationals of U.S.A. in Morocco)—३० दिसम्बर १९४८ को फ्रेंच सरकार ने मोरक्को निवासियों के सम्बन्ध में एक अधिवासी आज्ञा (Residential Decree) निकाली, इसके अनुसार अमरीकी नागरिक वहाँ के पुराने कानून के अनुसार प्राप्त

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६३

सुविधाओं और अधिकारों से वंचित हो गये। फ्रेंच सरकार ने २८ अक्टूबर १९५० को न्यायालय से इस प्रकार की घोषणा प्राप्त करनी चाही कि मोरक्को के अमरीकी नागरिकों को किसी प्रकार का विशेष व्यवहार पाने का अधिकार नहीं है और उन पर मोरक्को के सब कानून लागू होते हैं। सं० रा० अमरीका का यह दावा था कि उसके नागरिकों पर उपर्युक्त आज्ञा लागू करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। न्यायालय ने अमरीका के पक्ष में निर्णय देते हुए कहा कि उपर्युक्त आज्ञा का स्वरूप भेदभावपूर्ण (Discriminatory) है, क्योंकि इसमें फ्रांस के माल के आयात पर मुद्राविषयक कोई नियन्त्रण नहीं रखा गया और सं० रा० अमरीका के माल पर इस प्रकार का नियन्त्रण है। पुराने कानून Act of Algeciras के अनुसार अमरीकी नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त थे, वे उनसे नई आज्ञा द्वारा छीने नहीं जा सकते हैं।

(३) **एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला** (Anglo-Norwegian Fisheries Case—1951). देखिये ऊपर पृ० २२०।

(४) **सं० रा० संघ की सेवा करते हुए प्राप्त होने वाली क्षति का मुआवजा** (Reparation for the Injuries suffered in the service of U. N. O.)—१९४८ में पेलेस्टाइन में सं० रा० संघ के मध्यस्थ (Mediator) कौण्ट बर्नडाट मार डाले गये। इस घटना के बाद सं० रा० संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्शात्मक सम्मति इस विषय पर माँगी कि क्या संघ को इसकी सेवा करते हुए मारे गए व्यक्ति के लिए इस हत्या की उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध हर्जाना वसूल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दावा करने का अधिकार है। यदि ऐसा है तो जिस राज्य के व्यक्ति को यह क्षति पहुँचती है उस राज्य के अधिकारों के साथ संघ के कार्य का समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है। इस विषय में न्यायालय की सर्वसम्मति थी कि सं० रा० संघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है, वह संघ को क्षति पहुँचाने वाले किसी भी राज्य के विरुद्ध—भले ही वह संघ का सदस्य न हो—मुकद्दमा चलाने और हर्जाना वसूल करने का अधिकार रखता है।

(५) **सं० रा० संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में जनरल असेम्बली का अधिकार** (Competence of the General Assembly for the Admission of a State to U. N. O.)—१९४६-४७ में अनेक राज्यों ने सं० रा० संघ की सदस्यता के लिये आवेदन-पत्र दिये, किन्तु सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करते हुए सुरक्षा परिषद् में सब के आवेदन-पत्र रद्द कर दिये। इस पर जनरल असेम्बली ने न्यायालय से यह सम्मति माँगी कि क्या जनरल असेम्बली किसी राज्य की सदस्यता का प्रार्थना पत्र सुरक्षा परिषद् द्वारा अस्वीकृत होने पर उसे अपने निर्णय से संघ का सदस्य बना सकती है। न्यायालय की सम्मति थी कि सुरक्षा परिषद् की सिफारिश न होने पर जनरल असेम्बली को अपने निर्णय द्वारा किसी देश को संघ का सदस्य बनाने का अधिकार नहीं है।

(६) **द० प० अफ्रीका का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा** (International Status of South West Africa)—दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध में न्यायालय की सम्मति

का पहले उल्लेख किया जा चुका है (देखिये पृ० १५०) ।

(७) **हया डी ला टार्रे का मामला** (Case of Haya de la Torre, 1951)—टार्रे पेरु का राष्ट्रीय एवं राजनीतिक नेता था। इस पर यह आरोप था कि इसने अपनी सरकार के विरुद्ध सैनिक विद्रोह भड़काने का प्रयत्न किया है। जब इसे पेरु की सरकार ने पकड़ना चाहा तो इसने पेरु की राजधानी लीमा में विद्यमान कोलम्बिया राज्य के दूतावास में शरण ले ली। पेरु की सरकार ने कोलम्बिया की सरकार से इस अपराधी को लौटाने की प्रार्थना की। उसके न लौटाने पर यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में लाया गया। न्यायालय की सम्मति थी कि यद्यपि अमरीकी राज्यों ने हवाना में किये गये अभिसमय (Havana Convention) में स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की थी कि स्थानीय अधिकारियों को दोनों राज्यों के सामान्य अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जायगा, किन्तु इस प्रकार की कोई व्यवस्था राजनीतिक अपराधियों के बारे में नहीं की गई थी। फिर भी न्यायालय की सम्मति में टार्रे को गलत ढंग से आश्रय (Asylum) दिया गया था, पेरु इसे समाप्त करने की माँग कर सकता है, किन्तु कोलम्बिया शरणार्थी को प्रत्यर्पण करने के लिये बाध्य नहीं है।

(८) **पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरने का अधिकार** (Case concerning Right of Access of Portugal to certain territories of India)—१२ अप्रैल, १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भारत और पुर्तगाल के एक महत्वपूर्ण विवाद में अपना निर्णय दिया। यह विवाद १९५४ में उत्पन्न हुआ था। इस वर्ष २१ तथा २२ जुलाई को गुजरात में पुर्तगाल की दो छोटी बस्तियों—दादरा तथा नगर हवेली में पुर्तगाली सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। ये दोनों बस्तियाँ चारों ओर से भारतीय प्रदेश से घिरी हुई हैं और समुद्रतट पर स्थित पुर्तगाली बस्ती दमन से इन बस्तियों में आने के लिये भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरना पड़ता है। जब इन दोनों बस्तियों में विद्रोह के बाद स्थापित नई व्यवस्था को कुचलने और अपना औपनिवेशिक शासन पुन: स्थापित करने के लिये पुर्तगाल ने अपनी सेनायें भेजनी चाहीं तो भारत सरकार ने इन्हें अपने प्रदेश मे से होकर दादरा और नगर हवेली तक जाने की आज्ञा नहीं दी। पुर्तगाल का यह कहना था कि १७७९ की संधि के अनुसार उसे इन बस्तियों पर प्रभुसत्ता प्राप्त है, स्थानीय प्रथा के अनुसार उसे इस प्रदेश में से अपने व्यक्तियों और सशस्त्र सेनाओं को अपनी बस्तियों तक ले जाने का मार्गाधिकार (Right of passage) है। वह इस मामले को १९५५ में विश्व न्यायालय में ले गया और उसने न्यायालय से यह प्रार्थना की थी कि वह उसके मार्गाधिकार को स्वीकार करते हुए यह घोषणा करे कि भारत ने पुर्तगाल को रास्ता न देकर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का उल्लंघन किया है।

न्यायालय में इस मामले पर पन्द्रह में से तेरह न्यायाधीशों ने पाँच वर्ष तक विचार किया। इसका निर्णय देते समय न्यायालय के दो जज सम्मिलित नहीं हुए, सर हर्श लौटरपैक्ट (ग्रेट ब्रिटेन) बीमार थे और नव-निर्वाचित जज रावर्टो अल्फारो इस समय तक हेग में नहीं थे। न्यायालय में १३ जजों के अतिरिक्त भारत और पुर्तगाल के तदर्थ न्यायाधीश (Ad Hoc Judges) क्रमश: श्री एम० सी० छागला और डॉ०

मैनुअल फर्नान्डेस थे ।

भारत ने पुर्तगाल द्वारा यह मामला न्यायालय में लाये जाने पर न्यायालय के इस मामले में क्षेत्राधिकार होने के सम्बन्ध में छः आपत्तियाँ की थीं। इनमें से चार आपत्तियाँ तो न्यायालय ने पहले ही रद्द कर दी थीं । पाँचवीं आपत्ति यह थी कि यह विशुद्ध रूप से भारत का घरेलू मामला है और छठी आपत्ति यह थी कि इस विवाद का प्रादुर्भाव १६३० में भारत द्वारा न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करने से पहले का है, अतः न्यायालय को इस मामले पर विचार करने का अधिकार नहीं है । किन्तु न्यायालय ने अपने निर्णय में ये दोनों आपत्तियाँ भी क्रमशः १३ तथा २ और ११ तथा ४ के बहुमत से स्वीकार नहीं की।

१७७६ की संधि के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में बड़ा मतभेद था । भारत सरकार का यह कहना था कि इस संधि की धारा १७ के अनुसार १२०००) रु० का भूमि-कर देने वाले प्रदेश लिस्बन को दिये गये हैं। पुर्तगाल द्वारा उपस्थित की गयी संधि की व्याख्या के अनुसार उसे इस पर पूरी प्रभुसत्ता मिली थी। न्यायालय ने इस विषय में भारत के पक्ष का समर्थन किया, इस संधि की वैधता स्वीकार करते हुए भी इसे केवल १२०००) का भूमि-कर देने वाला बताया, प्रभुसत्ता देने वाला नहीं बताया। छः मतों के विरुद्ध नौ मतों से न्यायालय ने यह फैसला दिया कि भारत ने निजी व्यक्तियों को (Private persons) को मार्ग देने के सम्बन्ध में किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के प्रतिकूल आचरण नहीं किया ।

इस मामले में पुर्तगाल का मुख्य दावा था कि उसे पश्चिमी तट पर दमन से दादरा और नगर हवेली की बस्तियों तक अपनी सेनाओं और सरकारी अधिकारियों को भारतीय प्रदेश में से होकर ले जाने का अधिकार है । इस विषय में न्यायालय ने केवल निजी व्यक्तियों का ही मार्गाधिकार स्वीकार किया, सेनाओं के गुजरने का अधिकार नहीं माना। न्यायालय के मतानुसार सशस्त्र सेनाओं के लिए प्रादेशिक प्रभु (Territorial Sovereign) से अनुमति ली जाती रही थी। इस प्रकार की अनुमति यह सूचित करती है कि पुर्तगाल को ऐसा कोई मार्गाधिकार नहीं था। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह भी लिखा कि २१-२२ जुलाई की घटनाओं द्वारा इन बस्तियों में पुर्तगाली शासन का अन्त हो जाने के कारण इनके चारों ओर के भारतीय प्रदेश में बड़ी उत्तेजना थी, इस दशा में भारत को यह पूरा अधिकार था कि वह पुर्तगाली सेनाओं को अपने प्रदेश में से होकर न गुजरने दे । पुर्तगाल को भारत की अनुमति के बिना उसके प्रदेश में से सशस्त्र सेनायें, सशस्त्र पुलिस, हथियार और गोला बारूद ले जाने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायालय के बहुमत के इस निर्णय से कई जजों ने मतभेद भी प्रकट किया। सोवियत जज श्री कोजेवनिकोव का मत था कि न्यायालय को इस मामले पर विचार करने का कोई अधिकार न था। ग्रीक जज स्पिरोपौलोस (Spiropoulos) का मत था कि पुर्तगाली शासन का अन्त करके जनता ने अपना शासन स्थापित कर लिया है, नये शासन की स्थापना के साथ स्वतः ही पुर्तगाल का मार्गाधिकार भी समाप्त हो गया है । भारतीय जज श्री एम० सी० छागला ने यह मत व्यक्त किया कि पुर्तगाल अपने सीमित

मार्गाधिकार को सिद्ध करने के लिये भी आवश्यक प्रमाण उपस्थित नहीं कर सका। पुर्तगाली जज मैनुअल फर्नान्डेस ने न्यायालय द्वारा पुर्तगाल के द्वारा भारतीय प्रदेश में सेनायें न भेज सकने के निर्णय से असहमति प्रकट की। आस्ट्रेलिया के जज सर पर्सी स्पैण्डर की यह सम्मति थी कि पुर्तगाल को स्थानीय प्रथा द्वारा भारतीय प्रदेशों में से होकर गुजरने का अधिकार है, ताकि वह दादरा और नगर हवेली पर अपना प्रभुत्व रख सके, किन्तु भारत को इसे नियन्त्रित करने का अधिकार है।

प्रीह विहीर का मामला (The Preah Vihear Case)—यह कम्बोडिया और थाइलैण्ड (स्याम) के बीच प्रीह विहीर नामक मन्दिर पर स्वामित्व तथा प्रभुसत्ता के बारे में एक झगड़ा था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कम्बोडिया द्वारा ६ अक्टूबर १९५९ को दिये आवेदनपत्र के आधार पर इस मामले में अपना निर्णय १५ जून १९६२ को दिया। इसमें विवाद का विषय न्यायालय के अनुसार इस प्रकार है कि—"कम्बोडिया का यह दावा है कि थाईलैण्ड ने प्रीह विहीर मन्दिर के तथा इसके पास के क्षेत्र में कम्बोडिया की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty) का उल्लंघन किया है। दूसरी ओर थाईलैण्ड का यह कहना है कि यह विवादग्रस्त मन्दिर उसके राज्य की सीमा के भीतर है। यह विवाद प्रादेशिक प्रभुसत्ता के विषय में है, न्यायालय को यह विचार करना है कि इस मन्दिर पर किस देश की प्रभुसत्ता है, यह किस देश की सीमा के अन्दर है।

प्रीह विहीर का मन्दिर बहुत प्राचीन है, कम्बोडिया और थाईलैण्ड की सीमा पर अवस्थित है। इस समय यद्यपि यह जीर्ण दशा में है, किन्तु इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है और तीर्थस्थान है। यह मंदिर इसी नाम के मैदान से एकदम ऊंची उठी भूमि (Promontory) या चोटी पर बना हुआ है। यह चोटी दांगरेक (Dangrek) पर्वतमाला के पूर्वी भाग में है। दांगरेक पर्वतमाला सामान्य रूप से इस क्षेत्र में दोनों देशों की सीमा बनाती है। इसके दक्षिण में कम्बोडिया है तथा उत्तर में थाईलैण्ड। १९०४ तथा १९०७ की संधियों के अनुसार उस समय के दोनों देशों—स्याम (उस समय थाईलैण्ड का यही नाम था) तथा फ्रांस (उस समय कम्बोडिया पर फ्रांस का अधिकार था) ने सीमा-सम्बन्धी एक समझौता किया था और १९०४ की सन्धि में यह तय हुआ था कि प्रीह विहीर के क्षेत्र में जलविभाजक (Watershed) को सीमा माना जायगा। उस समय जल-विभाजक सीमा (Watershed Boundary) को प्रदर्शित करनेवाले नक्शे भी फ्रांस ने तैयार किये तथा स्याम को दिये। दोनों देशों की सीमा निर्धारित करने के लिये एक फ्रेंको-स्यामी संराधन आयोग (Franco-Siamese Conciliation Commission) भी बनाया गया। इस आयोग में स्याम ने प्रीह विहीर के मन्दिर पर अधिकार के विषय में कोई आपत्ति या प्रश्न नहीं उठाया।

इस आयोग का कार्य समाप्त होने के कुछ समय बाद फरवरी १९४९ में फ्रांस ने थाईलैण्ड की सरकार को यह नोट भेजा कि उसे यह सूचना मिली है कि स्याम की सरकार ने प्रीह विहीर के मन्दिर में अपने चार रक्षक भेजे हैं, इस विषय में उसने पूरी सूचना माँगी। स्याम ने इस नोट का कोई उत्तर नहीं दिया और न ही मार्च १९४९

में भेजे फ्रांस के इस विषय के दूसरे नोट का कोई उत्तर दिया। मई १९४९ में फ्रांस ने इस विषय में अपने तीसरे नोट में संक्षेप से बताया कि वह किन कारणों के आधार पर प्रीह विहीर को कम्बोडिया में समझता है, थाईलैण्ड द्वारा छापे गये एक मानचित्र में यह बात स्वीकार भी की गई है। अतः स्याम को यहाँ से अपने रक्षक हटा लेने चाहिएँ। इस नोट में इस प्रदेश पर फ्रांस की प्रभुसत्ता का बड़े स्पष्ट तथा असंदिग्ध शब्दों में प्रतिपादन था। स्याम ने इस नोट का तथा जुलाई १९५० में भेजे गये एक अन्य फ्रेंच पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया।

१९५३ में कम्बोडिया फ्रांस के प्रभुत्व से स्वाधीन हुआ। उसने यह निश्चय किया कि वह इस मन्दिर में अपने रक्षक (Keepers) भेजेगा। इन्हें वहाँ भेजने पर पता लगा कि वहाँ स्यामी रक्षक पहले से ही विद्यमान हैं। इस पर जनवरी १९५४ में कम्बोडिया ने एक नोट भेजकर थाईलैण्ड से इस बारे में पूरी जानकारी माँगी। स्याम ने केवल इस नोट की पहुँच की स्वीकृति भेजी, किन्तु इस मन्दिर के विषय में न तो कोई बात लिखी और न ही इस पर प्रभुसत्ता का कोई दावा किया। मार्च १९५४ में थाईलैण्ड की सरकार को कम्बोडिया ने यह सूचित किया चूंकि थाईलैण्ड ने उसके पहले नोट का कोई ठोस उत्तर नहीं दिया, अतः उसका विचार अब यहाँ पहले वापिस बुलाये रक्षकों के स्थान पर कम्बोडिया के सैनिक भेजने का है। इस पत्र में कम्बोडिया ने मई १९४९ के पत्र में दिये गये विवरण के आधार पर प्रीह विहीर मन्दिर पर अपने अधिकार का प्रबल समर्थन किया। थाईलैण्ड ने कम्बोडिया के इस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं दिया। कम्बोडिया ने जून १९५४ में थाईलैण्ड को एक अन्य नोट में यह कहा कि उसे सूचना मिली है कि थाई सेना ने प्रीह वहीर पर अधिकार कर लिया है और कम्बोडिया के सैनिकों को यहाँ इसलिए नहीं भेजा जा रहा कि स्थिति बिगड़ न जाये। थाईलैण्ड को अपनी सेना यहाँ से वापिस बुला लेनी चाहिये या इस विषय में अपने विचारों की सूचना देनी चाहिये। थाईलैण्ड ने इस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं दिया और उसके सैनिक प्रीह विहीर में जमे रहे।

इसके बाद दोनों देशों में इस विषय में कोई पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। किन्तु अन्त में १९५८ में थाईलैण्ड की राजधानी बंकाक में दोनों देशों का एक सम्मेलन विवादग्रस्त प्रादेशिक मामलों पर विचार करने के लिये हुआ। इसमें प्रीह विहीर का मामला भी था। थाई प्रतिनिधि ने इस पर बात करना स्वीकार न किया और यह सम्मेलन भंग हो गया। इस पर कम्बोडिया यह प्रश्न अक्टूबर १९५९ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस विषय में तीन के विरुद्ध नौ वोटों के बहुमत से यह निर्णय किया[२] कि प्रीह विहीर का मन्दिर कम्बोडिया राज्य की सीमा के भीतर है, थाईलैण्ड (स्याम) को यहाँ से अपनी सेना हटा लेनी चाहिये। इसके साथ ही पाँच के विरुद्ध सात वोटों से न्यायालय ने यह भी निर्णय किया कि थाईलैण्ड ने १९५४ में मन्दिर

२. कीसिंग्स आर्काइव्ज १९६२, पृ० १८९३१

पर अधिकार करने के बाद यहाँ से जो पुरानी मूर्तियाँ हटायी हों, वे कम्बोडिया को वापिस लौटा देनी चाहिये।

इस मामले में न्यायालय ने कम्बोडिया का यह दावा स्वीकार किया कि १६०७ में दोनों देशों के संयुक्त आयोग (Franco-Siamese Commission) ने दांगरेक पर्वत-माला में जल-विभाजन को सीमा स्वीकार किया था, इसके अनुसार यह मन्दिर कम्बोडिया के ओर की ढाल पर है, अतः यह उसके प्रदेश में है।

इस मामले में स्याम का यह कहना था कि उसने इस सीमा पर तथा १६०८ के नक्शे पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की, अतः यह प्रदेश उसके अधिकार में है। किन्तु न्यायालय ने **प्रतिषेध** (Preclusion) या **निबन्धन** (Estoppel) **के सिद्धान्त** के आधार पर स्याम का दावा अस्वीकार करते हुए इसका बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया। न्यायाधीश अल्फेरो (Alfero) के कथनानुसार इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में कोई भी देश उस दशा में अपने पहले कार्यों से तथा रुख से बंधा होता है जबकि वह मुकद्दमे में अपने पहले कार्यों से विरोधी रुख अपनाता है। इस सिद्धान्त का मूलतत्व यह है कि किसी राज्य द्वारा मुकद्दमे के समय अपनाई गई स्थिति तथा किए गए दावों में और उसके इस विषय के पहले के व्यवहार एवं आचरण में कोई विरोध या असंगति (Inconsistency) नहीं होनी चाहिये। ऐसी असंगति को न्यायालय में कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता (allegans Contraria non audiondus-est)। किसी राज्य का झगड़े से पहले का रुख या कार्य उसके लिखित वक्तव्य, घोषणा, व्यवहार या मौन स्वीकृति से सूचित होता है। यदि कोई राज्य विरोधी तथ्यों की उपस्थिति में चुप रहता है, उसका कोई प्रतिवाद या विरोध नहीं करता तो यह समझा जायगा कि उसने इस प्रकार इस विषय में अपनी मौन सहमति (Tacit Consent) दे दी है तथा मुकद्दमे में वह इसके विपरीत स्थिति नहीं ग्रहण कर सकता। यह सिद्धान्त उसे ऐसी स्थिति ग्रहण करने से रोकता (Preclude या Stop) है, अतः इसे Estoppel या Preclusion कहते हैं। वादी या प्रतिवादी का पहला आचरण या व्यवहार उसे ऐसा बाँध देता है कि वह इसके विपरीत कोई विरोधी स्थिति मुकद्दमे में नहीं ग्रहण कर सकता, अतः इसे **निबन्धन** (Estoppel) कहते हैं। यह उसे पहली स्थिति से विरोधी स्थिति लेने का निषेध करता है, अतः इसे **प्रतिषेध** या **प्रतिवारण** (Preclusion) का सिद्धान्त भी कहते हैं।

इस मामले में थाईलैण्ड का यह कहना था कि उसने कम्बोडिया के तत्कालीन फ्रेंच अधिकारियों को उनके सीमा-सम्बन्धी नक्शों के बारे में पत्र द्वारा विधिपूर्वक कोई सहमति नहीं भेजी। किन्तु न्यायालय का यह मत था कि थाईलैण्ड ने अपने आचरण (Conduct) से इस विषय में निश्चित रूप से सहमति प्रदान की है। यदि वे इस नक्शे में दी गई सीमा से सहमत नहीं थे तो उन्हें तर्कसंगत अवधि (Reasonable Period) के भीतर इसका विरोध प्रकट कर देना चाहिये था। "उन्होंने ऐसा विरोध न तो उस समय प्रकट किया और न ही बहुत वर्षों तक प्रकट किया, अतः यह समझना चाहिये कि उन्होंने इस पर सहमति प्रदान की है।"

"यदि १६०८ में स्याम द्वारा नक्शे की तथा सीमान्त की स्वीकृति में कोई संदेह हो तो भी न्यायालय बाद की घटनाओं के प्रकाश में यह समझता है कि अब थाईलैण्ड को अपने आचरण के कारण यह दावा करने का अधिकार नहीं है कि उसने यह सीमा नहीं स्वीकार की। १६०४ की संधि के लाभों का स्याम ने पचास वर्ष तक उपयोग किया है, इससे उसे स्थायी सीमा का लाभ प्राप्त हुआ है। फ्रांस ने तथा उसके द्वारा कम्बोडिया ने यह विश्वास किया है कि थाईलैण्ड ने नक्शा स्वीकार किया है। अतः अब थाईलैण्ड के लिये यह मार्ग खुला नहीं है कि वह एक ओर इस संधि के लाभों का उपयोग करे और दूसरी ओर इस बात को अस्वीकार करे कि उसने इस सन्धि पर कभी सहमति नहीं प्रदान की।"[3]

३ जुलाई १६६२ को बंकाक से की गई एक सरकारी घोषणा के अनुसार थाईलैण्ड ने विरोध प्रकट करते हुए न्यायालय के इस निर्णय को मान लिया, किन्तु इसके साथ इस मन्दिर के चारों ओर की भूमि में सेनायें रखने का अपना अधिकार सुरक्षित रखने का विचार प्रकट किया।[4]

यह निर्णय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें न्यायालय ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं की वैधता पर विस्तार से विचार किया और इसके मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया। निबन्धन के सिद्धान्त का भी विशद प्रतिपादन किया।[5] भारत-चीन-सीमा-विवाद के प्रसंग में इस निर्णय का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के निर्धारण करने के सिद्धान्त बताये गये हैं।

मध्यपूर्व तथा कांगो में सं० रा० संघ की कार्यवाही पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में परामर्शात्मक सम्मति (Advisory opinion on Costs of U.N. operation in the Middle East and Congo)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने २० जुलाई १६६२ को इस विषय में अपनी सम्मति दी कि मध्यपूर्व तथा कांगो में शांति स्थापित

---

३. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की रिपोर्ट १६६० पृ० ३२

४. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—डा० के कृष्णराव—दी प्रीह विहीर केस एण्ड दी साइनो-इण्डियन बाउण्डरी क्वेश्चन १६६३

५. इस निर्णय को स्वीकार करते हुए भी थाईलैण्ड ने इस निर्णय में उसके विरुद्ध मत देने वाले न्यायाधीशों के देशों के विरुद्ध जो कार्यवाही की, वह नितान्त अशोभनीय थी। इस मामले पर विचार करते समय न्यायालय के अध्यक्ष पोलैण्ड के थे, अतः २१ जून को थाईलैण्ड ने यह घोषणा की कि पोलैण्ड के जहाज थाईलैण्ड के बन्दरगाहों में नहीं रुक सकते, पोलैण्ड के व्यापारिक प्रतिनिधियों को देश छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी गई। इस मामले में ब्रिटिश एवं फ्रेंच न्यायाधीशों ने थाईलैण्ड के विरुद्ध वोट दिया था, फ्रेंच विदेश मन्त्रालय के दो कानूनी परामर्शदाता सं० रा० अमरीका के श्री अकेसन (Acheson) के साथ कम्बोडिया की ओर इस मामले में वकील थे, अतः थाईलैण्ड की सरकार ने इन देशों से विरोध प्रकट करने के लिए १६ जून को यह घोषणा की कि वह लाओस के सम्बन्ध में जेनेवा में होने वाले सम्मेलन में तथा दक्षिणपूर्वी एशिया सन्धिसंगठन (SEATO) की बैठक में अपने प्रतिनिधि नहीं भेजेगा, २१ जून को उसने पेरिस में विद्यमान अपने दूत को वहाँ से लौटने के लिये तैयार रहने को कहा (कीसिंग्स आर्काइव्ज १६६२, पृ० १८६३१)।

करने के लिए संघ की ओर से की जाने वाली फौजी कार्यवाहियों पर होने वाले व्यय को देने के सम्बन्ध में संघ के सदस्यों की वित्तीय जिम्मेवारी कहाँ तक है, क्या ऐसा व्यय सं० रा० संघ का व्यय समझा जाना चाहिये और इसे संघ के चार्टर की धारा १७ पैराग्राफ २ के अनुसार सब सदस्य-राज्यों में बाँटा जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में खर्च न देने वाले प्रमुख राज्य सोवियत यूनियन तथा साम्यवादी गुट के अन्य देश हैं, उन्होंने इसके लिये एक पाई भी नहीं दी। ऐसे अन्य राष्ट्र, राष्ट्रवादी चीन, फ्रांस और अरब देश हैं। इनका यह कहना था कि संघ के विधान के अनुसार ये विशेष व्यय हैं। 'संघ के खर्चों (Expenses of Organization) में नहीं आते, अत: ये इन्हे देने के लिये बाध्य नहीं है। इस पर जनरल असेम्बली ने २० दिसम्बर, १९६१ को पारित किये एक प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से संघ के चार्टर की धारा १७ के पैरा २ की प्रामाणिक व्याख्या के सम्बन्ध में सम्मति माँगी और न्यायालय ने यह सम्मति दी कि कांगो में की जाने वाली फौजी कार्यवाही पर होने वाला व्यय 'संघ का व्यय' है और इसका वहन संघ के सदस्यों को करना चाहिये।

दक्षिण अफ्रीका के मामले (South West African Cases)—इस मामले में १८ जुलाई १९६६ को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सभापति के निर्णायक मत से एक महत्वपूर्ण निर्णय किया है।[६] यह मामला हेग के न्यायालय में ४ नवम्बर १९६० को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया के अफ्रीकी राज्यों ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध इस आधार पर प्रस्तुत किया था कि उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दिये गये शासनादेश (Mandate) के कर्त्तव्यों तथा दायित्वों का पालन नहीं किया है। इस मामले को अच्छी तरह समझने के लिये इसकी पृष्ठभूमि का परिचय होना आवश्यक है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का प्रदेश जर्मनी के आधीन इसका संरक्षित राज्य था। युद्ध में जर्मनी के हारने पर वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने यह प्रदेश अपने साम्राज्य के अन्य भागों की भाँति मित्रराष्ट्रों को सौंप दिया। इन्होंने राष्ट्र संघ के संविधान की धारा २२ के अनुसार इस प्रदेश पर शासन करने का अधिकार ब्रिटिश सरकार की ओर से दक्षिण अफ्रीका के संघ (Union of South Africa) को सौंप दिया। १७ दिसम्बर १९२० को राष्ट्र संघ की परिषद् ने इस शासनादेश को संपुष्ट करते हुए इसकी शर्तों का स्पष्टीकरण किया। इन शर्तों के तथा राष्ट्र संघ के संविधान की धारा २२ के अनुसार दक्षिण अफ्रीका ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर राष्ट्र संघ की ओर से इस उद्देश्य से शासन करना था कि वह इस प्रदेश के निवासियों के कल्याण और विकास में सहायक हो। राष्ट्रसंघ की परिषद् को यह अधिकार था कि वह इसके प्रशासन का निरीक्षण करे और यह पता लगाये कि दक्षिण अफ्रीका इस दिशा में अपने दायित्वों को पूरा कर रहा है। दक्षिण अफ्रीका ने कई बार इस प्रदेश को अपने राज्य में मिलाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु राष्ट्र संघ इस पर आपत्ति करता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सं० राष्ट्र संघ की

६. इंटरनेशनल कोर्ट आफ जस्टिस की रिपोर्ट १९६६, पृ० ६, इण्डियन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ, जुलाई १९६६, पृ० ४०५–४५६

स्थापना होने पर राष्ट्र संघ द्वारा शासनादेशप्राप्त (Mandated) सभी प्रदेश या तो स्वतन्त्र हो गये अथवा स० रा० संघ की संरक्षकता (Trusteeship) में आ गये। केवल दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर ही दक्षिण अफ्रीका के संघ का प्रभुत्व बना रहा और वह सं० रा० संघ को प्राप्त नहीं हुआ। संघ की पहली सामान्य असेम्बली में दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि ने यह कहा कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के अधिकांश निवासी दक्षिण अफ्रीका के संघ में मिलना चाहते हैं, किन्तु असेम्बली ने इसे स्वीकार न करते हुए यह सिफारिश की कि इसे सं० रा० संघ की अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति (Trusteeship System) में लाया जाय। दक्षिण अफ्रीका इसके लिये तैयार नहीं था, फिर भी वह इस बात के लिये तैयार हो गया कि "वह इसकी यथापूर्व स्थिति (status quo) बनाये रखेगा और शासनादेश की वर्तमान भावना से इसका प्रशासन करता रहेगा। इस समय उसने इसके शासन के विषय में सं० रा० संघ को प्रतिवर्ष रिपोर्ट देना स्वीकार किया। किन्तु १९४९ से ऐसी रिपोर्ट देना बन्द कर दिया और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को संघ की न्यास पद्धति में देने से इन्कार किया तथा यह कहा कि इसके प्रशासन के सम्बन्ध में वह संघ को कोई रिपोर्ट देने को बाध्य नहीं है।

इस समस्या के उत्पन्न होने पर जनरल असेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर तथा इस प्रदेश के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका के दायित्वों के बारे में परामर्शात्मक सम्मति मांगी। १९५०, १९५५ तथा १९५६ में न्यायालय ने इस विषय में अपनी सम्मतियाँ देते हुए यह कहा था कि (१) राष्ट्र संघ का अन्त हो जाने पर भी उसका शासनादेश बना हुआ है। (२) सामान्य असेम्बली को इस प्रदेश पर किये शासन की देखभाल करने के वही अधिकार प्राप्त हैं जो इससे पहले इस प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ को प्राप्त थे। (३) दक्षिण अफ्रीका का यह कर्त्तव्य है कि वह इस पर जनरल असेम्बली के निरीक्षण तथा नियन्त्रण को स्वीकार करे और प्रतिवर्ष इसे अपने शासन की रिपोर्ट भेजें। (४) सं० रा० संघ के चार्टर के अध्याय १२ के अनुसार दक्षिण अफ्रीका इस बात के लिये कानूनी तौर से बाध्य नहीं है कि वह इस प्रदेश को न्यास पद्धति में (Trusteeship System) में लाये। (५) दक्षिण अफ्रीका को यह अधिकार नहीं है कि वह सं० रा० संघ की सहमति के बिना दक्षिण पश्चिमी-अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई परिवर्तन करे। दक्षिण अफ्रीका ने इन सम्मतियों को मानने से इन्कार कर दिया।

इसके बाद इस प्रश्न पर विचार करने के लिये जनरल असेम्बली ने २६ फरवरी १९५९ को दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका विषयक समिति (Committee on South West Africa) का निर्माण किया। १७ नवम्बर १९५९ को पास हुए एक प्रस्ताव द्वारा जनरल असेम्बली ने इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर अपने सदस्यों को यह सलाह दी कि वे दक्षिण अफ्रीका के साथ विवादग्रस्त दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के मैण्डेट के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कानूनी कार्यवाही करने का यत्न करें।

इस पर ४ नवम्बर १९६० को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध इस आधार पर आवेदनपत्र दिया

कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के शासनादेश (Mandate) के प्रश्न पर तथा शासनादेश प्राप्त करने वाली (Mandatory) शक्ति के रूप में दक्षिण अफ्रीका के यूनियन के कर्त्तव्यों तथा कार्यों पर विचार हो। इस पर ३० नवम्बर १९६१ को दक्षिण अफ्रीका ने अपनी प्रारम्भिक आपत्ति यह उठाई कि इसके विरुद्ध लाये गये मामले पर विचार करने का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) न्यायालय को नहीं है। २१ दिसम्बर १९६२ को न्यायालय ने ७ के विरुद्ध ८ वोटों से दक्षिण अफ्रीका की आपत्तियों को रद्द करते हुए कहा कि न्यायालय को इस विषय पर विचार करने का पूरा अधिकार है।

इसके बाद इस मामले का दूसरा दौर (Second Phase) शुरू हुआ। २३ दिसम्बर १९६४ को ईथियोपिया तथा लाइबेरिया ने दक्षिण अफ्रीका संघ पर दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के प्रशासन के संबन्ध में दिये गये शासनादेश को भंग करने के आरोप लगाते हुए न्यायालय से इन विषयों पर विचार एवं घोषणा करने के लिये कहा—(१) दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका संघ को शासनादेश (Mandate) के रूप में मिला हुआ प्रदेश है। (२) दक्षिण अफ्रीका संघ पर शासनादेश के सभी बन्धन और दायित्व लागू हैं, सं० रा० संघ को उसके प्रशासन के निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार है, उसे इस विषय में सं० रा० संघ को वार्षिक रिपोर्ट देनी चाहिये। (३) रंग-भेद एवं पार्थक्य (Apartheid) की नीति अपनाने के कारण दक्षिण अफ्रीका इस प्रदेश के निवासियों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करने में विफल सिद्ध हुआ है, उसने इस प्रदेश के निवासियों के साथ उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के अनुसार व्यवहार नहीं किया है, इस प्रकार उसने इस प्रदेश के निवासियों के लिये आत्मनिर्णय और स्वतन्त्रता प्राप्ति के द्वार बन्द कर दिये हैं। इस प्रदेश में सैनिक अड्डे स्थापित किये हैं। (४) दक्षिण अफ्रीका संघ ने सं० रा० संघ की सहमति के बिना शासनादेश की शर्तों में गम्भीर परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। (५) न्यायालय से यह भी प्रार्थना की गई थी कि वह इस बात पर भी विचार करे कि उपर्युक्त कार्यों से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका संघ को दिये गये शासनादेश का भंग होता है, अतः उसका यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे कार्य करना बन्द कर दे तथा इस विषय में अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करे।

किन्तु न्यायालय ने इन मौलिक प्रश्नों पर विचार करने के स्थान पर केवल इसी विषय पर जाँच और विचार किया कि क्या आवेदनकर्त्ताओं (ईथियोपिया तथा लाइबेरिया) को इस विषय में अपना दावा करने का कोई कानूनी अधिकार (Legal right or interest) है। न्यायालय का यह तर्क था कि यह विषय इस मामले के Merits से सम्बद्ध था, जब कि १९६२ में न्यायालय ने जिस प्रश्न पर निर्णय दिया था, वह इसके सम्मुख आवेदनकर्त्ताओं की स्थिति के बारे में था। न्यायालय का यह मत था कि शासनादेश के वास्तविक प्राविधान (Substantive provisions of the Mandate) दो प्रधान वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—(क) संचालन सम्बन्धी व्यवस्थायें या प्राविधान (Conduct provisions), (ख) विशेष हितों वाले प्राविधान (Special interests provisions)। संचालनविषयक व्यवस्थायें शासनादेश प्राप्त करने वाले

राज्य के अधिकारों का तथा इस प्रदेश के निवासियों के प्रति तथा संघ एवं विभिन्न अंगों के प्रति इसके दायित्वों का प्रतिपादन करती हैं। दूसरे प्रकार की व्यवस्थायें ऐसे विशेष हितों वाली हैं जो शासनादेश प्राप्त (Mandated) प्रदेश के बारे में संघ के सदस्यों को वैयक्तिक राज्यों के रूप में अथवा इनके नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान करती हैं। न्यायालय का यह मत था कि इस मामले का सम्बन्ध पहले प्रकार की व्यवस्थाओं से था। न्यायालय ने आवेदनकर्त्ताओं का यह तर्क नहीं स्वीकार किया कि यद्यपि शासनादेश प्राप्त करने वाले राज्य संघ की परिषद् के सम्मुख उत्तरदायी हैं, फिर भी संघ के सदस्यों को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि शासनादेश की व्यवस्थाओं का उल्लंघन होता हो तो वे न्यायालय से न्याय प्राप्त करें। न्यायालय की दृष्टि में आवेदन-कर्त्ताओं को न्यायालय से शासनादेश के उल्लंघन के सम्बन्ध में न्याय पाने के लिये तथा इस विषय में घोषणात्मक निर्णय पाने के लिये कोई कानूनी अधिकार होना चाहिये था, किन्तु उन्हें ऐसा कोई कानूनी अधिकार नहीं है, अतः न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता है। न्यायालय ने इस विषय पर मानवीयताविषयक तर्क (Humanitarian grounds) के आधार पर भी विचार करने से इन्कार किया क्योंकि कानूनी मामलों पर विचार करने वाला न्यायालय (Court of Law) होने के नाते वह ऐसे प्रश्नों पर विचार नहीं कर सकता था। इसके बाद न्यायालय ने आवेदनकर्त्ताओं की इस प्रधान युक्ति को भी नहीं स्वीकार किया कि शासनादेश का क्षेत्राधिकार निर्देश करने वाली धारा (Jurisdictional clause) इस विषय में आवेदनकर्त्ताओं को कानूनी कार्यवाही करने का कोई अधिकार प्रदान करती है, विद्वान न्यायाधीशों ने इस धारा की अत्यन्त संकीर्ण व्याख्या करते हुए यह परिणाम निकाला कि आवेदनकर्त्ताओं की प्रार्थना पर इसलिये विचार नहीं किया जा सकता कि वे इस बात को सिद्ध नहीं कर सके हैं कि उन्होंने जिस विषय में न्याय पाने के लिये आवेदनपत्र दिया है उस विषय में उन्हें यह न्याय पाने का कोई कानूनी अधिकार या हित (Legal right or interest) है। अतः अध्यक्ष के निर्णायक मत से न्यायालय ने ईथियोपिया तथा लाइबेरिया के दावे १८ जुलाई १९६५ को रद्द कर दिये।

न्यायालय के १९६६ के निर्णय की अफ्रीका तथा एशिया में बड़ी कड़ी आलोचना हुई। यह आलोचना निम्नलिखित कारणों के आधार पर की गई—(१) यह निर्णय १९६२ में इस मामले में दिये गये इसी न्यायालय के निर्णय का दो बातों में विरोधी तथा प्रतिकूल है। पहली बात यह है कि १९६२ में इस न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा था कि मैण्डेट पद्धति के अनुसार दिये गये शासनादेश की दो विशेषतायें हैं—(क) यह शासन करने वाले देश को "सभ्यता की पवित्र धरोहर या न्यास (Sacred Trust of Civilisation) के रूप में दिया जाता है। (ख) इस न्यास के अनुसार शासनकार्य ठीक रीति से चलता रहे, इसके लिये इसमें समुचित व्यवस्थायें की गई हैं और न्यायालय को भी इनके पालन के लिये अधिकार दिये गये हैं। १९६२ में इन बातों को स्वीकार करने के बाद १९६६ में इसके सर्वथा प्रतिकूल न्यायालय ने यह घोषणा की कि १९६२ में इसमें प्रतिपादित किया गया वह विचार भ्रान्तिपूर्ण

था कि 'पवित्र धरोहर' की रक्षा के लिये कोई कानूनी कार्यवाही की जा सकती थी। दूसरी बात यह थी कि १९६२ में न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि ईथियोपिया तथा लाइबेरिया को इस मामले में कानूनी कार्यवाही करने का अधिकार है या नहीं। दक्षिण अफ्रीका का यह कहना था कि संघ के किसी सदस्य को इस विषय में कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है, उस समय न्यायालय ने यह तर्क अस्वीकार कर दिया था। किन्तु १९६६ में अपने इस पूर्व निर्णय के सर्वथा प्रतिकूल जाते हुए उन्होंने ईथियोपिया तथा लाइबेरिया का इस मामले में कोई अधिकार नहीं माना। इस विषय में द० अफ्रीका के एक न्यायाधीश वानविक ने लिखा था कि इस निर्णय के अधिकांश तर्क १९६२ के निर्णय में दिये गए तर्कों के प्रतिकूल और विरोधी हैं।

(२) १९६२ के निर्णय में न्यायालय ने द० अफ्रीका की यह युक्ति स्वीकार नहीं की थी कि मैण्डेट की धारा के अनुसार वर्तमान विषय में कोई 'विवाद' (Dispute) है, क्योंकि इससे आवेदनकर्त्ताओं के किसी भौतिक हित को कोई क्षति नहीं पहुँचती है। उस समय न्यायालय ने कहा था कि संघ के सदस्यों को इस बात का कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वे मैण्डेट पद्धति का पालन करवाते रहें। इसी आधार पर १९६२ का निर्णय दिया गया था। १९६२ में इस प्रकार स्थापित एवं प्रतिपादित की गई व्यवस्था का न्यायालय ने १९६६ में विरोध किया। एक अमेरिकन न्यायाधीश जेस्सप ने इसे कानून के क्षेत्र में सर्वथा निराधार व्यवस्था (Completely unfounded in law) कहा है। (३) न्यायालय द्वारा आवेदनकर्ताओं के लिये इस मामले में कानूनी अधिकार होने का तर्क उठाना सर्वथा अवैध और असंगत था। न्यायालय के विधान एवं निर्णयों में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं कि इसके सामने मामला लाने वाले आवेदनकर्त्ता देश के लिए यह आवश्यक है कि वह इस विषय में अपना कानूनी अधिकार सिद्ध करे। न्यायाधीश जेस्सप ने इस विषय में यह ठीक ही लिखा था कि इस कथन की पुष्टि में एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा इस प्रकार का विरोधी निर्णय देने का कारण यह था कि १९६२ का निर्णय ७ के विरुद्ध ८ के बहुमत से हुआ था। किन्तु १९६६ में १४ न्यायाधीश थे, इनमें सात पुराने न्यायाधीश थे और सात नये। पुराने न्यायाधीशों में सर पर्सी स्पेण्डर न्यायालय के अध्यक्ष थे, इन्होंने १९६२ में न्यायालय के बहुमत के निर्णय से असहमति प्रकट की थी और इस समय १९६२ वाले निर्णय के प्रतिकूल निर्णयों को उन्होंने अपने निर्णायक वोट से बहुमत का निर्णय बनाया। इसके अतिरिक्त न्यायालय के एक न्यायाधीश पाकिस्तान के जफरुल्ला खाँ ने अपना मत नहीं दिया क्योंकि उनका यह कहना था कि प्रधान न्यायाधीश ने उन्हें इस कारण इस मामले में मत न देने की सलाह दी क्योंकि उन्हें एक बार प्रार्थी राज्यों ने तदर्थ न्यायाधीश (Judge ad hoc) के रूप में मनोनीत किया था।

१९६६ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने १९६२ के निर्णय के प्रतिकूल निर्णय करके अपनी स्थिति तथा प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचाया है, १९६६ में कोई नवीन परिस्थितियाँ न होने पर भी ऐसा निर्णय होने का यह कारण था कि १९६२ वाले

सात न्यायाधीश अवकाश ग्रहण कर चुके थे। न्यायाधीश विभिन्न देशों से निर्वाचित होने पर भी न्यायालय का कार्य निष्पक्ष रीति से करते हैं। फिर भी इस मामले में यह बात उल्लेखनीय है कि १९६२ के निर्णय से असहमति रखने वाले तथा १९६६ में बहुमत रखने वाले न्यायाधीश आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ग्रीस, इटली, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और ब्रिटेन के थे। पोलैण्ड के अतिरिक्त इन देशों की सरकारें दक्षिण अफ्रीका की नीति की कटु आलोचक नहीं है। किन्तु १९६६ में असहमति प्रकट कर वाले न्यायाधीश चीन, जापान, मेक्सिको, नाइजीरिया, सेनेगल, सोवियत संघ, और सं० रा० अमेरिका के थे। सं० रा० अमेरिका के अतिरिक्त इन देशों की सरकारें दक्षिणी अफ्रीका के कार्यों और नीतियों की कटु आलोचक रही हैं। यह सम्भव है कि यह केवल संयोग हो, किन्तु इससे न्यायालय की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा है, एशिया तथा अफ्रीका के देशों में इस न्यायालय की निष्पक्षता में गहरा संदेह उत्पन्न हो गया है।[७]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने २१ जून १९७१ को दक्षिण अफ्रीका के मामले में अपनी परामर्शात्मक सम्मति देते हुए यह कहा है कि दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका (नमिबिया) का दक्षिण अफ्रीका में बना रहना अवैध है, उस का यह कानूनी दायित्व है कि वह फौरन नमिबिया से अपना प्रशासन हटाले तथा इस प्रदेश में अपने अधिकार को समाप्त कर दे। इससे साथ ही न्यायालय ने यह भी घोषणा की कि सं० रा० संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे नमिबिया में दक्षिण अफ्रीका की उपस्थिति को अवैध मानें, वहां इस के प्रशासन को किसी प्रकार की सहायता, समर्थन या मान्यता न प्रदान करें। इस निर्णय से न्यायालय ने उपर्युक्त आलोचनाओं का प्रतिकार किया और उसके सम्बन्ध में अफ्रीका तथा एशिया के देशों में शिथिल होने वाले विश्वास को सुदृढ़ किया।[८]

इसी प्रकार **दी बार्सीलोना ट्रैक्शन केस** के निर्णय से भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की प्रतिष्ठा बढ़ी है। इसका निर्णय ५ फरवरी १९७० को ८ वर्ष की लम्बी अवधि के बाद किया गया है। इसमें बेल्जियम ने यह दावा दिया था कि स्पेन के अधिकारियों ने बार्सीलोना ट्रैक्शन कम्पनी के मामले में ऐसी कार्यवाहियाँ की हैं, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का भंग हुआ है, और बेल्जियम के नागरिकों को क्षति पहुँची है, जिसकी पूर्ति की जानी चाहिये। न्यायालय ने अपने निर्णय में बेल्जियम की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया।[९]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन—इस विषय में बम्बई हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश तथा सं० रा० अमरीका में भारत के राजदूत श्री एम० सी० छागला ने यह सत्य ही कहा है—"न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सं० रा० संघ का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह पूर्ण नहीं है, इसके पास वह सत्ता और अधिकार नहीं है, जो इसे प्राप्त होना चाहिए, फिर भी यह एक महान विचार का मूर्त रूप है, एकमात्र यही विचार राष्ट्रों में

७. इस निर्णय की आलोचना के लिये देखिये इण्डियन जर्नल ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, जुलाई १९६६, पृ० ३८३-३९४

८. इंडियन जर्नल ऑफ् इंटरनेशनल लॉ अप्रैल १९७१ पृ० २७५-३४६

९. वही जनवरी १९७१ पृ० ११२-१२३

शान्ति श्रौर सद्भाव लाने वाला है । इस विचार के श्रनुसार जैसे व्यक्ति श्रापस में विवाद होने पर एक दूसरे का गला काटने को नहीं दौड़ते, वैसे ही राष्ट्रों को भी श्रापस में मतभेद होने पर शस्त्रों का सहारा नहीं लेना चाहिये; किन्तु एक स्वतन्त्र श्रौर निष्पक्ष न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना चाहिये।···इस न्यायालय में स्वतन्त्रता तथा पक्षपात-हीनता तो है, किन्तु इसके पास पूरी सत्ता श्रौर श्रधिकार नहीं है।···यदि युद्धों का स्थान इस न्यायालय को ग्रहण करना है तो श्रभी बहुत कुछ करना होगा। श्रन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुदृढ़ श्रौर सुस्थिर श्राधार पर प्रतिष्ठित करना होगा। न्यायालय का क्षत्राधिकार ऐच्छिक के स्थान पर सब मामलों में श्रनिवार्य हो जाना चाहिए श्रौर श्रन्त में न्यायालय के प्रत्येक निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए उसके पीछे उचित श्रनुज्ञप्ति (Sanctions) होनी चाहियें। इसके निर्णयों को श्रावश्यकता पड़ने पर सं० रा० संघ के बलपूर्वक क्रियान्वित करने वाले साधनों (Coercive machinery) द्वारा लागू किया जाना चाहिये।"

बीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा

(Settlement of International Disputes)

सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा करने के दो प्रधान साधन हैं—मैत्रीपूर्ण (Amicable)[1] और बल-प्रयोगकारी (Coercive) या बाध्यकारी (Compulsive)। मैत्रीपूर्ण साधनों में दोनों पक्षों में सद्भावना और अच्छी प्रेरणा द्वारा विवादों का हल किया जाता है और बाध्यकारी साधनों का आधार बल-प्रयोग है।

मैत्रीपूर्ण साधन—(Amicable means)—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मैत्रीपूर्ण साधन ये हैं—वार्त्ता, सत्सेवा और मध्यस्थता, संराधन, अन्तर्राष्ट्रीय आयोग और जाँच, पंचनिर्णय, न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा तथा स० रा० संघ के माध्यम द्वारा न्यायिक समझौता। सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ३३ में इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले किसी विवाद में दोनों पक्ष सर्वप्रथम इसे निम्न उपायों द्वारा हल करने का प्रयत्न करेंगे—वार्त्ता, जाँच, मध्यस्थता, संराधन पंचनिर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय, प्रादेशिक संगठनों का तथा अन्य शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन"।

(१) वार्त्ता (Negotiation)—इसका अभिप्राय दो देशों में उत्पन्न हुए किसी विवाद के समाधान के लिये परस्पर वार्त्तालाप है। ये राज्यों के अध्यक्षों द्वारा या उन द्वारा नियुक्त एवं प्रमाणित किये राजदूतों से तथा अन्य प्रतिनिधियों द्वारा होता है। प्रायः किसी विवाद के निबटारे के लिये दो देशों में पत्र-व्यवहार होता है, यह भी वार्त्ता का अंग होता है। उदाहरणार्थ, भारत-पाक-सीमा-विवाद के समाधान करने के लिये १ सितम्बर १९५९ को पहले पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारत के प्रधानमंत्री की वार्त्ता हुई और उन्होंने दोनों देशों में 'उत्तम पड़ोसी' के सम्बन्ध

---

१. प्राचीन भारत के स्मृतिकारों ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि युद्ध छेड़ने से पहले मैत्रीपूर्ण उपायों द्वारा विवाद का समाधान करना चाहिये। इन्हें वे साम या शान्ति का उपाय कहते हैं। साम के बाद दान अर्थात् दूसरे पक्ष को आर्थिक सहायता और बहुमूल्य भेंटों द्वारा अपने वश में करना चाहिये। इन दोनों उपायों के विफल होने पर भेद अर्थात् शत्रुपक्ष में फूट डालकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये। तीनों के सफल न होने पर युद्ध छेड़ना उचित है। मनुस्मृति (७।१९८) के मतानुसार—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन॥ ये चारों साधन प्राचीन परिभाषा के अनुसार उपाय कहलाते थे। इनके विशद वर्णन के लिये देखिये—पाण्डुरंग वामण काणे—हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खं० ३, पृ० १७१।

स्थापित करने तथा सीमा-विवाद का अन्त करने के लिये मंत्रियों की एक परिषद् बुलाने का निश्चय किया। भारत के इस्पात तथा खान मंत्री श्री स्वर्णसिंह तथा पाकिस्तान के ले० कर्नल के० एन० शेख ने अपने प्रतिनिधि-मन्डलों के साथ १५ अक्टूबर से २२ अक्टूबर १९५९ तक दिल्ली और ढाका में वार्त्तायें करके सीमा-सम्बन्धी विभिन्न विवादों का समाधान कर लिया। मूर ने Mavrommatis Palestine Concession में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्त्ता एक कानूनी, व्यवस्थित और प्रशासनात्मक प्रक्रिया है, इसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी असंदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं, अपने मतभेदों पर विचार-विमर्श, इनका व्यवस्थापन और समाधान करती हैं।" यह आवश्यक नहीं कि वार्त्ता द्वारा विवाद का समाधान हो जाय, किन्तु शान्ति-प्रेमी राज्य इस उपाय का अधिकतम उपयोग करते हैं। कई बार शान्ति का ढोंग करने वाले राज्य भी विश्व का लोकमत अपने अनुकूल बनाने के लिए वार्त्ता के साधन का अवलम्बन करते हैं। युद्ध से पहले वार्त्ता द्वारा लड़ाई को रोकने का भरसक प्रयत्न किया जाता है।

सितम्बर १९६५ में भारत-पाक संघर्ष छिड़ने पर ७ सितम्बर को सोवियत रूस ने दोनों देशों को इस क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिये अपनी सत्सेवायें देने का प्रस्ताव रखा था बशर्ते कि दोनों देश इसे उपयोगी समझते हों। रूस की सत्सेवाओं से ही जनवरी १९६६ में ताशकन्द-घोषणा (Tashkent Declaration) द्वारा दोनों देशों में शान्ति स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण पग उठाया गया।

(२) **सत्सेवा और मध्यस्थता** (Good Offices and Mediation)—जब दो पक्ष स्वयमेव अपने प्रतिनिधियों की वार्त्ता द्वारा विवाद का निबटारा नहीं कर सकते तो अन्य राज्य इनके विवाद के समाधान के लिये अपनी सेवायें देते हैं। उत्तम उद्देश्य से किया गया उनका यह कार्य सत्सेवा है और झगड़े को सुलझाने की दृष्टि से दोनों पक्षों के बीच में पड़ना मध्यस्थता है। कई बार अनेक शक्तियाँ मिलकर मध्यस्थता का कार्य करती हैं। चाको प्रदेश के सम्बन्ध में बोलिविया और पैरागुये में जब दो वर्ष (१९३२-३) तक निरन्तर युद्ध चलता रहा तो सं० रा० अमरीका, अर्जेन्टायना, ब्राज़ील, चिली, पेरू तथा युरेगुये की सामूहिक मध्यस्थता ने इस विवाद का समाधान कर शांति स्थापित की। १९४७ में हालैण्ड तथा इंडोनेशिया में संघर्ष होने पर सुरक्षा परिषद् द्वारा नियत की गयी सत्सेवा समिति (Good Offices Committee) ने दोनों पक्षों के समझौते में उत्पन्न हुए गतिरोध को दूर किया। पेलेस्टाइन में ब्रिटिश मैण्डेट की समाप्ति के बाद इज़राइल तथा अरबों के मध्य में उत्पन्न हुए विवाद के समाधान के लिये जनरल असेम्बली ने मई १९४८ में कौण्ट बर्नडाट को मध्यस्थ बनाया। १९५१ में आस्ट्रेलिया की सरकार ने भारत और पाकिस्तान के काश्मीर-सम्बन्धी विवाद को हल करने के लिये अपनी सत्सेवायें देने को कहा था, किन्तु भारत सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। सं० रा० संघ की ओर से अमरीका के फ्रेंक ग्राहम ने मध्यस्थ बनकर काश्मीर के मामले का समाधान करने का यत्न किया। सितम्बर १९०५ में

रूस-जापान-युद्ध की समाप्ति अमरीकन राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट की सत्सेवाओं से हुई।

"अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के हेग अभिसमय" पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने भविष्य में सत्सेवाओं और मध्यस्थता के उपाय के अधिकाधिक प्रयोग का संकल्प प्रकट किया था। इसकी विभिन्न धाराओं (२–८) में इन दोनों के सम्बन्ध में अनेक नियम निश्चित किये गये थे। इनके अनुसार विवाद करने वाले पक्षों के अतिरिक्त अन्य राज्यों को सत्सेवायें देने का या मध्यस्थता करने का अधिकार है, इसे शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं समझा जा सकता। धारा ६ के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मक स्वरूप रखते हैं। धारा ७ के अनुसार मध्यस्थता स्वीकार करने का यह परिणाम नहीं है कि वह किसी पक्ष को युद्ध की आवश्यक तैयारियाँ करने से रोक सके। धारा ४ में मध्यस्थों के कार्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसका उद्देश्य "विवाद करने वाले राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करना तथा परस्पर-विरोधी दावों का समन्वय करना है"। कई बार यह बड़ा उपयोगी होता है तथा युद्धों की सम्भावना दूर कर देता है। १९०४ में **डागर बैंक** की घटना से ग्रेट ब्रिटेन और रूस में युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी, किन्तु फ्रांस की मध्यस्थता से दोनों देशों में समझौता हो गया।

(३) **संराधन** (Conciliation)—ओपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—"यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें झगड़ा निबटाने का काम कुछ व्यक्तियों के कमीशन या आयोग को सौंपा जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों के विवरण सुनकर उनमें समझौता कराने के प्रयत्न की दृष्टि से विवाद-सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट करते हुए एक रिपोर्ट देता है, इसमें विवाद के समाधान के लिये कुछ प्रस्ताव होते हैं, किन्तु इनका स्वरूप पंचाट (Award) या अदालती निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होता।"[१] हडसन के शब्दों में "संराधन की प्रक्रिया में तथ्यों के अन्वेषण तथा विरोधी दावों के समन्वय के प्रयत्न के बाद विवाद के समाधान के लिये प्रस्ताव बनाये जाते हैं। इन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षों को होती है।" इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि संराधन में वस्तुतः तीन तत्वों—जाँच, मध्यस्थता तथा विवाद निपटाने के प्रस्तावों का सम्मिश्रण होता है। हेग के अभिसमय (Convention) द्वारा संराधन की प्रक्रिया विकसित हुई है। इसकी धारा ९ के अनुसार यह व्यवस्था की गयी थी कि तथ्यों के सम्बन्ध में विवाद होने पर इसके अन्वेषण के लिये दोनों पक्षों द्वारा चुने गये व्यक्तियों का एक 'अन्तर्राष्ट्रीय आयोग' बनाया जाय। किन्तु किसी राज्य के 'सम्मान' और महत्वपूर्ण स्वार्थ (Honour and Vital Interest) से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न ऐसी जाँच का विषय नहीं बन सकते थे।

संराधन का इससे मिलती-जुलती अन्य प्रक्रियाओं से बड़ा सूक्ष्म और स्पष्ट अन्तर है। यह जाँच के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission of

१. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, सप्तम संस्करण, पृ० १२

Enquiry) तथा पंचनिर्णय (Arbitration) की मध्यवर्ती प्रक्रिया है। जाँच कमीशन का मुख्य उद्देश्य इस आशा से तथ्यों का विशदीकरण (Elucidation) करना होता है कि इससे दोनों पक्ष स्वयमेव आपस में समझौता कर लेंगे। किन्तु संराधन का मुख्य लक्ष्य इस आयोग के प्रयत्नों द्वारा पक्षों का समझौता कराना है। पंचनिर्णय में ठीक ढंग से बनाये पंच या न्यायाधिकरण का निर्णय दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है, किन्तु संराधन में दोनों पक्षों के लिए कानूनी तौर से यह आवश्यक नहीं कि वे विवाद के समाधान के लिए सुझाये गये प्रस्तावों को स्वीकार कर लें। संराधन मध्यस्थता (Mediation) से भी स्पष्ट भेद रखता है, क्योंकि संराधन में दोनों पक्ष अपना विवाद मुख्य रूप से दूसरे व्यक्तियों के समूह को इस प्रधान उद्देश्य के साथ सौंपते हैं कि वह तथ्यों की निष्पक्ष जाँच के बाद इसके समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करेगा। किन्तु मध्यस्थता में तीसरा राज्य स्वयमेव दोनों पक्षों में वार्त्ता चलाकर विवाद को हल करने का प्रयत्न करता है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय जाँच-आयोग**—ये विवादों की जाँच के लिये बनाये जाते हैं और इनकी रिपोर्ट दिये जाने तक दोनों पक्ष अपना युद्ध बन्द रखते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि १८९९ के **हेग अभिसमय** के अनुसार यह जाँच किसी राज्य के सम्मान तथा महत्वपूर्ण स्वार्थ के प्रश्न के साथ सम्बद्ध नहीं होनी चाहिये। इसका उद्देश्य इस दृष्टि से तथ्यों का अनुसंधान करना है कि इनके विशदीकरण से भ्रांति और अज्ञान दूर हो सके और इसके परिणामस्वरूप शान्ति स्थापित हो सके। १९०७ के **हेग अभिसमय** द्वारा इनके स्वरूप में काफी सुधार किया गया था। १९२४ में **वाशिंगटन में हुए समझौते** के अनुसार जाँच के स्थायी आयोग स्थापित करने का निर्णय किया गया। इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(क) समझौते के मुख्य कूटनीतिक उपायों के विफल हो जाने पर दोनों पक्ष अपने विवाद स्थायी आयोग को सौंपेंगे और इसकी रिपोर्ट मिलने तक युद्ध आरम्भ नहीं करेंगे। (ख) स्थायी आयोग के पाँच सदस्य होंगे। प्रत्येक पक्ष इसके लिये एक अपना नागरिक और एक तीसरे राज्य का नागरिक चुनेगा और दोनों मिलकर तीसरे राज्य का पाँचवाँ सदस्य चुनेंगे। (ग) इनकी रिपोर्ट एक साल के भीतर अवश्य आ जानी चाहिये, किन्तु इसकी अवधि दोनों पक्षों की सहमति से घटायी और बढ़ायी जा सकती है। सं० रा० अमरीका ने इसके आधार पर अनेक देशों के साथ संधियाँ की हैं। यह व्यवस्था हेग की व्यवस्था से निम्न अंशों में भिन्नता रखती है—(क) इसमें राज्य की प्रतिष्ठा और महत्वपूर्ण स्वार्थों के प्रश्न को जाँच-आयोग के अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं रखा गया। हेग अभिसमय का आयोग विवाद होने पर बनाया जाता था, किन्तु यह स्थायी रूप से बना हुआ है। (ख) इसमें रिपोर्ट के प्रकाशन से पहले युद्ध पर पाबन्दी लगायी गयी है।

राष्ट्र संघ ने और सं० रा० संघ ने संराधन और जाँच-आयोग द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने का प्रयत्न किया है। १९३१ में राष्ट्र संघ द्वारा मंचूरिया की घटनाओं की जाँच के लिये **लिटन कमीशन** नियुक्त किया गया था। राष्ट्र संघ ने पेलेस्टाइन में अरब राज्यों तथा इज़राइल के बीच स्थायी शान्ति बनाये रखने के लिये

एक **संराधन आयोग** (Conciliation Commission) बनाया था। दोनों विश्वयुद्धों के बीच में विभिन्न देशों में संराधन की प्रक्रिया अपनाने के लिये सैकड़ों संधियाँ की गयीं और इस कार्य के लिये सौ से अधिक स्थायी आयोग बनाये गये, किन्तु इस प्रक्रिया से बहुत कम लाभ उठाया गया। अप्रैल १९४८ की शान्तिपूर्ण निबटारे की अमरीकन संधि में अमरीकी राज्यों ने इस प्रक्रिया से आपसी विवाद हल करने की व्यवस्था स्वीकार की है। इसी वर्ष ब्रुसेल्ज़ की संधि द्वारा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, लुक्सेमबर्ग ने आपसी विवादों के लिये संराधन के उपाय के अवलम्बन का निश्चय किया है। १९४९ में सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने संराधन के सम्बन्ध में चार प्रस्ताव स्वीकार किये हैं।

उपर्युक्त सभी साधनों—वार्त्ता, सत्सेवा, मध्यस्थता, संराधन, जाँच-आयोग-में दोनों पक्षों के विवाद को किसी न्यायिक निर्णय (Judicial decision) द्वारा हल नहीं किया जाता, दोनों पक्ष मध्यस्थों के सुझाव को मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। अतः इन्हें निर्णयेतर (Non-decisional) उपाय कहा जाता है। किन्तु इसमें दोनों पक्षों को सुझाव न मानने की स्वतन्त्रता होने से ये उपाय अधिक प्रभावशाली नहीं हैं। इन्हें प्रभावशाली बनाने के लिये कुछ अन्य उपायों का विकास किया गया गया है। इनमें दोनों पक्षों को विवाद के निबटारे के लिये बनाये गये पंच आदि का निर्णय मानना आवश्यक होता है। अतः ये निर्णयात्मक (Decisional) साधन कहे जाते हैं। ये दो प्रकार के हैं—पंचनिर्णय (Arbitration) तथा अधिनिर्णय या न्यायिक निर्णय (Adjudication or judicial settlement)।

(५) **पंचनिर्णय** (Arbitration)—विभिन्न राज्यों के विवादों को दोनों पक्षों द्वारा किसी पंच को सौंपकर निर्णय कराने की परिपाटी पश्चिमी जगत् में यूनानियों के समय से चली आ रही है। मध्य काल में भी इसका प्रयोग होता रहा। १७९४ की **जे संधि** (Jay Treaty) के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका के अनेक विवाद पंचनिर्णय द्वारा तय किये गये। १८७२ से १८९९ तक ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसे तीस पंचनिर्णय कराये, अन्य योरोपियन राज्यों, दक्षिण अमरीकी राज्यों तथा सं० रा० अमरीका के इसी अवधि में पंचनिर्णयों द्वारा तय किये गये अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की संख्या क्रमशः साठ, पचास और बीस थी।

पंचनिर्णय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आपेनहाइम ने लिखा है[1] कि "इसका अर्थ राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाना है, यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा चुने हुए एक अथवा अनेक पंचों के न्यायाधिकरण (Tribunal) द्वारा होता है और यह अधिकरण न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से पृथक् है।" पंच का काम कानून का ज्ञान न रखने वाले किसी राज्य के शासनाध्यक्ष को भी सौंपा जा सकता है तथा किसी न्यायाधिकरण को सौंपा जा सकता है। विभिन्न राज्य आपसी विवाद पंचों को सौंपने के लिये विशेष संधियाँ करते हैं। इन संधियों में पंचनिर्णय के

[1] इंटरनेशनल लॉ खं० २, सप्तम संस्करण, पृ० २२

मूल सिद्धान्तों का और इसकी प्रक्रिया का विस्तृत विवरण होता है। कई बार व्यापारिक संधियों में एक ऐसी धारा रखी जाती है, जिसके अनुसार इसके सम्बन्ध में होने वाले मतभेदों के निर्णय के लिये पंचों की व्यवस्था का उल्लेख होता है। सामान्य रूप से पंचनिर्णय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्त लागू किये जाते हैं। यदि सम्बद्ध पक्षों की इच्छा हो तो वे इसमें समन्याय (Equity) के सिद्धान्त भी लागू कर सकते हैं। ब्रियर्ली के कथनानुसार[४] "पंच और जज दोनों के लिये यह अनिवार्य है कि वे कानून के नियमों के अनुसार अपना निर्णय दें, किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह कानून का निरादर करते हुए अपने विवेक का प्रयोग करे अथवा वह जिसे उचित और न्यायपूर्ण समझता है, उसके अनुसार अपना निर्णय करे।"

सामान्य रूप से पंचों का निर्णय (Award) या पंचाट[५] दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। राज्यों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे अपना कोई विवाद पंचों को सौंपे। किन्तु एक बार यह विवाद सौंपने पर पंचनिर्णय को स्वीकार करना उनके लिए आवश्यक हो जाता है। भारत को कई बार काश्मीर का प्रश्न पंच को सौंपने की प्रेरणा दी गयी, किन्तु उसने इसे पंच को सौंपना स्वीकार नहीं किया। यदि वह ऐसा कर लेता तो उसके लिये पंच का निर्णय मानना आवश्यक हो जाता। यदि एक पक्ष पंच का निर्णय नहीं मानता तो दूसरा पक्ष उसे सभी उपायों से इसके लिए बाध्य कर सकता है। किन्तु यदि पंच का निर्णय दबाव, भ्रांति, धोखे या गलतफहमी से दिया गया हो तो इसका पालन सम्बद्ध पक्षों के लिए आवश्यक नहीं होता, यदि यह अपने अधिकारों का अतिक्रमण करके दिया जाय तो भी मान्य नहीं होता। १८३१ में हालैण्ड के राजा ने ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका के उत्तर-पूर्वी सीमा विवाद के बारे में अपना निर्णय दिया था, किन्तु इसे पंच द्वारा अपने अधिकारों के अतिक्रमण के कारण स्वीकार नहीं किया गया। इसी आधार पर १९०९ में बोलिविया ने पेरू के साथ अपने सीमा विवाद के विषय में अर्जेन्टायना के राष्ट्रपति द्वारा किये गये पंचाट (Award) को स्वीकार किया।

हेग के १८९९ तथा १९०७ के अभिसमयों (Conventions) में पंचनिर्णय को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी विवादों को हल करने का सबसे प्रभावशाली तथा न्यायपूर्ण साधन मानते हुए इसके सम्बन्ध में विस्तृत व्यवस्थायें की गयी थीं। **अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे के अभिसमय** की ९७ धाराओं में ५४ (धारा सं० ३७-९०) पंचनिर्णय के विषय में हैं। १८९९ के हेग सम्मेलन से पहले कोई ऐसा निश्चित व्यक्ति-समूह नहीं था, जिसमें से पंचों को चुना जाय। इस सम्मेलन की सबसे बड़ी विशेषता पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना थी। इसके सम्बन्ध में परिहास में यह कहा जाता है कि यह न तो स्थायी था और न न्यायालय,

४. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० २७४

५. भारतीय संविधान में award के लिए काश्मीरी भाषा के इस शब्द को ग्रहण किया गया है।

क्योंकि यह विधिशास्त्र के विद्वानों के नामों की एक सूची मात्र था। इस अभिसमय को स्वीकार करने वाले प्रत्येक राज्य को "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की योग्यता के लिए विख्यात, उच्चतम नैतिक ख्याति रखनेवाले तथा पंच के कर्त्तव्य स्वीकार करने के इच्छुक" चार व्यक्तियों के नाम देने पड़ते थे। इनका कार्यकाल ६ वर्ष का होता था (धारा ४४)। जब संबद्ध पक्ष अपने विवाद के लिए उपयुक्त नामसूची में से सर्वसम्मति से पंचों के नाम नहीं छाँट सकते थे तो प्रत्येक पक्ष दो नाम छाँट लेता था, एक अपने देश का तथा एक अन्य देश का। दोनों पक्षों द्वारा चुने गये चार व्यक्ति पांचवें पंच को चुनते थे। हेग के प्रस्तावों के अनुसार राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए पंच-पद्धति को आवश्यक रूप से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे अपनी इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वाधीनता रखी। इस विषय में उनकी यह घोषणा थी कि "यह वांछनीय है कि विवाद उत्पन्न होने पर परिस्थितियों के अनुसार पंच-पद्धति का अवलम्बन किया जाय।"

हेग के **पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय** ने अपनी स्थापना के बाद में १९१४ तक १६ मामलों का फैसला दिया था। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है (पृ० (४०५-६)। इनमें उत्तरी अटलांटिक की मछलीगाहों वाला झगड़ा तो पिछले सौ वर्ष से चला आ रहा था। १९१२ में इसका निबटारा हो गया।

विभिन्न देशों ने अपने कानूनी विवादों को पंचों को सौंपने की जो संधियाँ की हैं, उनमें कुछ अपवाद और प्रतिबन्ध रखे गये हैं। १९०३ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने पंचनिर्णय की संधि करते हुए यह कहा कि यह केवल उन्हीं विवादों के लिए लागू होगी जिनमें किसी की स्वाधीनता, सम्मान और महत्वपूर्ण स्वार्थों का प्रश्न न हो। १९०८ में सं० रा० अमरीका ने भी अनेक अन्य देशों के साथ ऐसी **रूट संधियाँ** (Root Treaties) कीं। किन्तु इस विषय की अधिकांश संधियों में अनिवार्य पंचनिर्णय (Compulsory Arbitration) को अनेक प्रतिबन्धों और मर्यादाओं के साथ स्वीकार किया गया है।

(६) **अधिनिर्णय** (Adjudication)—हेग के पंच-न्यायालय का कार्य महत्वपूर्ण होने पर भी कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था। पहले बताया जा चुका है कि वस्तुतः यह कोई न्यायालय नहीं था, केवल पंचों के नामों की सूची थी। जब विवाद करने वाले पक्ष इन नामों में से किन्हीं व्यक्तियों को अपने मामले के लिये पंच मान लेते थे तभी यह न्यायालय का रूप धारण करता था। इसका दूसरा दोष यह था कि प्रत्येक मामले के पंच विभिन्न व्यक्ति होते थे। इसलिए न्याय-कार्य में कोई अविच्छिन्नता या एकरूपता नहीं आने पाती थी। इन दोषों को दूर करने के लिए प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने **अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय** (Permanent Court of International Justice) की स्थापना की और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सं० रा० संघ ने स्थायी न्यायालय के स्थान पर **न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** स्थापित किया। न्यायालयों द्वारा किये गये फैसले अधिनिर्णय (Adjudication) कहलाते हैं। पिछले अध्याय में इन दोनों के कार्य का वर्णन हो चुका है (देखिये पृ० ४०६-७)।

पंचनिर्णय (Arbitration) तथा अधिनिर्णय (Adjudication) में कुछ **सादृश्य तथा कुछ भेद** हैं। सादृश्य ये हैं—(क) दोनों में विवाद का समाधान कानून में नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर बाह्य एवं निष्पक्ष एजेन्सी द्वारा होता है। (ख) पंचनिर्णय तथा अधिनिर्णय दोनों का पालन दोनों पक्षों के लिए अनिवार्य होता है। (ग) दोनों में अपने विवाद को पंचायत या न्यायालय को सौंपाना ऐच्छिक होता है। किन्तु इन दोनों के मौलिक भेद निम्नलिखित हैं—(क) पंचायत के पंच प्रत्येक मामले में सम्बद्ध पक्षों द्वारा चुने हुए व्यक्ति होते हैं, किन्तु अधिनिर्णय करने वाला न्यायालय स्थायी होता है, वह विवाद उत्पन्न होने से पूर्व ही विद्यमान होता है, उसके न्यायाधीशों के चुनाव में संबद्ध पक्ष कोई भाग नहीं लेते। ये न्यायाधीश विभिन्न राज्यों द्वारा चुने होते हैं। (ख) पंचायत उन सब नियमों को स्वीकार करती है, जो विवाद करने वाले पक्षों को मान्य हैं, किन्तु न्यायालय कानून के विषय में दोनों पक्षों द्वारा किसी प्रकार की कोई मर्यादा का बंधन स्वीकार करेगा। स्थायी न्यायालय का सबसे बड़ा लाभ इसका अविच्छिन्न रूप से बना रहना है। इससे जहां एक ओर वादविधि (case law) का विकास होता है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक विवाद के विचार के लिए हर बार नये सिरे से न्यायधीशों को चुनने की आवश्यकता नहीं रहती है। कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए ऊपर बताये गये साधनों या प्रक्रियाओं का मिश्रित (Composite) रूप में प्रयोग होता है। १९१९ के बाद की गयी अनेक संधियों में विवादों के निवटारों के लिए संराधन और न्यायिक निर्णय की प्रक्रियाओं का वर्णन है। १९२५ की लोकार्नो संधि तथा १९२८ का अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान का सामान्य कानून (General Act) इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं।

(७) **राष्ट्रसंघ और सं० रा० संघ द्वारा विवादों का निबटारा** (settlement of Disputes through the Machinery of League of Nations and U. N. O.)—इन दोनों संस्थाओं के बनाने का प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान था। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में ऐसे विवादों के हल के लिए धारा १२ में तीन उपाय बताये गये हैं—इसे पंचों को सौंपना, हेग की स्थायी पंचायती अदालत को सौंपना अथवा संघ की कौंसिल द्वारा इसकी जाँच करवाना। पहली दो अवस्थाओं में यह निर्णय उपयुक्त (Reasonable) समय में दिया जाना आवश्यक था तथा कौंसिल की जाँच छः महीने के भीतर पूरी होनी चाहिये थी। इन निर्णयों के तथा जाँच के बाद तीन महीने तक दोनों देशों को युद्ध छेड़ने की मनाही थी, ताकि इस बीच में उनकी उत्तेजित मनोभावनायें शांत हो जायँ और शांतिपूर्ण तथा निष्पक्ष रीति से इस प्रश्न पर विचार हो। धारा १३ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संधि के या कानून आदि के प्रश्न पंचनिर्णय या न्यायालय के निर्णय के विषय बन सकते थे। धारा १६ में कौंसिल द्वारा विवाद के निपटाने की विधि का विस्तृत वर्णन था। कौंसिल द्वारा की गई जाँच की रिपोर्ट मानने के लिये दोनों पक्ष बाधित नहीं किये जा सकते थे। धारा १६ में शांतिपूर्ण निबटारे के प्रस्ताव को स्वीकार करने वाले राज्यों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाने की व्यवस्था की गई थी।

सं० रा० संघ के चार्टर की धारा २४, २५ में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर डाला गया है, वह सं० रा० संघ के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करती है। सं० रा० संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार तथा क्रियान्वित करें। विवाद करने वाले पक्षों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने विवादों का समाधान वार्त्ता, मध्यस्थता, जाँच, संराधन, पंचनिर्णय, अधिनिर्णय से, तथा प्रादेशिक संगठनों की सहायता से और अन्य शान्तिपूर्ण उपायों से करें। सुरक्षा परिषद् भी इन्हीं उपायों का अवलम्बन करके विवादों का समाधान करती है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाली किभी भी स्थिति की जाँच करने का अधिकार है। सं रा० संघ का कोई सदस्य ऐसी स्थिति को सुरक्षा-परिषद् के सामने रख सकता है। इसका समाधान यदि शान्तिपूर्ण उपायों से न हो तो उसे इसके लिये सैनिक कार्यवाहो करने का भी अधिकार है। कोरिया तथा स्वेज नहर के मामले में उसने ऐसी कार्यवाही सफलता-पूर्वक की थी।

बाध्यकारी साधन (Compulsive measures)—जब दो राज्य उपर्युक्त शांतिपूर्ण उपायों से अपने विवाद का समाधान नहीं कर सकते, तो वे युद्ध छेड़ने से पहले दूसरे पक्ष पर अनेक प्रकार का दबाव और बल डालकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते हैं। युद्ध में शस्त्रों के बल का प्रयोग होता है, यह विवाद के निर्णय का अन्तिम उपाय है। किन्तु उससे पूर्व दूसरे पक्ष पर दबाव डालने के लिये जिन साधनों का अवलम्बन किया जाता है, वे बाध्यकारी साधन (Compulsive measures) कहलाते हैं। आपेनहाइम ने लिखा है—मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे हैं, जिनमें बाध्यता का कुछ अंश होता है, इनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा वांछित रूप में मतभेदों के समाधान को स्वीकार कर ले।"[६]

युद्ध में तथा बाध्यकारी साधनों में कई **महत्वपूर्ण अन्तर** है। **पहला** अन्तर यह है कि ये साधन विवाद करने वाले राष्ट्रों अथवा अन्य राज्यों द्वारा युद्ध का कार्य नहीं समझे जाते। अतः इनका प्रयोग होने पर शांतिकाल के सब सम्बन्ध—राजदूतों का आदान-प्रदान, व्यापारिक सम्पर्क और संधियों का पालन सामान्य रूप से होता रहता है। **दूसरा** अन्तर यह है कि बाध्यकारी साधनों द्वारा दूसरे पक्षों को हानि पहुँचायी जाती है, किन्तु इसकी कुछ सीमा और मर्यादा होती है, युद्ध में परपक्ष को हानि पहुँचाने के सभी साधनों का प्रयोग हो सकता है, बशर्ते कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा वर्जित न हों। **तीसरा** अन्तर यह है कि बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करने के बाद जब दूसरा पक्ष मतभेदों का समाधान करने के लिये तैयार हो जाता है, तो इनका प्रयोग बन्द कर दिया जाता है। किन्तु यदि लड़ाई एक बार शुरू हो जाय तो एक पक्ष के झुक जाने पर भी दूसरा पक्ष लड़ाई बन्द करने के लिए बाधित नहीं होता। विजेता को विजित

६. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० पृ० १६२

देश पर मनचाही शर्तें थोपने का पूरा अधिकार है। बाध्यकारी साधनों के प्रयोग में ऐसा सम्भव नहीं है। बाध्यकारी साधनों के मुख्य प्रकार ये है :—

(क) प्रतिकर्म (Retorsion)—प्रतिकर्म एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकार लेने की दृष्टि से किये गये कार्य होते हैं। आपेनहाइम के शब्दों में "प्रतिकर्म बदला लेने के लिये एक पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग एक राज्य के ऐसे अशिष्टतापूर्ण, अकृपालु, अनुचित और अन्यायपूर्ण कार्यों के लिये होता है, जो दूसरे राज्य द्वारा इस प्रकार के कार्य किये जाने पर प्रत्युत्तर के रूप में किये जाते हैं।'[7] जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के किसी कार्य से क्षति उठाता है तो वह उसे वैसे ही क्षति पहुँचाने के कार्य करता है, यही प्रतिकर्म है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के कार्य द्वारा दूसरे राज्य को अपना अशिष्ट, अनुचित तथा अमैत्रीपूर्ण व्यवहार छोड़ने के लिये बाधित करना है। कुछ उदाहरणों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

जब रूस ने १६०४ में साखालीन टापू में समुद्र से जापानी मछियारों को निकाल दिया तो जापान ने रूस से आने वाले माल पर अधिक चुंगी लगाने की धमकी दी। १६५१ में जब चैकोस्लोवाकिया ने अकारण ही कुछ अमरीकन नागरिकों को बन्दी बनाया तो अमरीकन सरकार ने इस देश के साथ किये हुए व्यापारिक समझौते को रद्द करने का निश्चय किया। जब दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों के साथ रंगभेद की नीति में कोई कमी या परिवर्तन नहीं किया तो भारत सरकार ने अपने देश में रहने वाले दक्षिणी अफ्रीका के नागरिकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये तथा वहाँ से अपना प्रतिनिधि—भारतीय हाई कमिश्नर भी वापिस बुला लिया। १८६६ में क्यूबा के जनरल वेलियर ने जब क्यूबा से कच्चे तम्बाकू के बाहर जाने पर पाबन्दी लगाई तो सं० रा० अमेरिका ने इस देश से सिगार का आयात बन्द कर दिया। फरवरी १८६६ में जब अलास्का के सीमा-विवाद पर कनाडा का सं० रा० अमरीका से कोई समझौता नहीं हो सका तो कनाडा में चार्ल्स टप्पर ने इस पर बल दिया कि अमरीकन उद्योगों के लिये कनाडा से जाने वाली वस्तुओं—इमारती लकड़ी, कच्ची खालों, ऊन आदि के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।

(ख) प्रत्यपहार (Reprisals)—ब्रियर्ली ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि "शाब्दिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अर्थ बदले की दृष्टि से सम्पत्ति का जब्त करना या व्यक्तियों का पकड़ना है और पहले एक राज्य के लिये यह बात असाधारण नहीं थी कि वह अपने किसी ऐसे नागरिक को प्रत्यपहार-पत्र (Letter of Marque) दे, जो दूसरे राज्य में न्याय से वंचित किया गया हो। इस पत्र द्वारा उसे यह अधिकार दिया जाता था कि वह स्वयमेव दूसरे राज्य के प्रजाजन द्वारा पहुँचायी हानि का बदला बल-प्रयोग द्वारा ले या अपराधी (Delinquent) राज्य के प्रजाजनों की सम्पत्ति लूट ले। अब विशेष प्रत्यपहार (Special Reprisal) की यह प्रथा बहुत समय से लुप्त हो चुकी है।"[8] आपेनहाइम के शब्दों में, "प्रत्यपहार एक राज्य के, दूसरे

७. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० १३४

८. ब्रियर्ली—दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ३२१

राज्य के विरुद्ध उसे हानि पहुँचाने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे अवैध कार्य हैं, जिन्हें अपवाद रूप में इस उद्देश्य से करने की अनुमति दी जाती है कि दूसरे राज्य को, उसके अपने अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने से उत्पन्न हुए मतभेद का संतोषजनक समाधान स्वीकार करने के लिये विवश किया जा सके।[९] हाल ने इसके औचित्य और मर्यादा का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"प्रत्यपहार का औचित्य यही है कि यह युद्ध के भीषण विकल्प के निराकरण का साधन है। सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि पूर्ण युद्ध की सम्भावना कम करने वाला कोई भी कार्य पर्याप्त कारण होने पर अनुमति योग्य होता है।" स्टार्क के शब्दों में प्रत्यपहार ऐसे उपाय हैं, जो कुछ राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाहियों के रूप में करते हैं तथा जिनका उद्देश्य (उन्हें पहुँचायी गई हानि का) निवारण करना होता है। पहले इस शब्द का प्रयोग सम्पत्ति की जब्ती और व्यक्तियों की गिरफ्तारी के लिये होता था, किन्तु वर्तमान समय में इनका यह अभिप्राय समझा जाता है कि किसी राज्य के गैरकानूनी या अनौचित्यपूर्ण व्यवहार से उत्पन्न हुए झगड़े के समाधान की दृष्टि से दूसरे राज्य द्वारा अवलम्बन किये गये बल-प्रयोग के साधन। इसके अनेक रूप हो सकते हैं—जैसे किसी विशेष राज्य के माल का बहिष्कार, पोतावरोध (Embargo), नौसैनिक प्रदर्शन या गोलाबारी।[१०]

उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि प्रत्यपहार का साधन उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों के लिए बरता जा सकता है, जिनके लिये इन अपराधों की क्षतिपूर्ति मैत्रीपूर्ण उपायों से नहीं हो सकती। कोई प्रत्यपहार तब तक उचित नहीं समझा जा सकता जब तक कि (१) अपराध करने वाले राज्य द्वारा पहुँचायी गई हानि के निवारण की प्रार्थना विफल न हो चुकी हो। (२) किसी राज्य को पहुँची हुई क्षति की तुलना में प्रत्यपहार के कार्य "अधिक" न हों। प्रत्यपहार से दूसरे राज्य को उतनी ही मात्रा में क्षति पहुँचानी चाहिए, जितनी पहले राज्य ने उसे पहुँचायी हो। (३) प्रत्यपहार का अवलम्बन हालैण्ड के मतानुसार केवल उन्हीं मामलों में किया जाना चाहिए, जिनमें बड़ी गहरी क्षति पहुँची हो, इस क्षति को पहुँचाने वाला अथवा इसका समर्थन करने वाला दूसरा राज्य हो तथा इसके लिये न्याय प्राप्त करने के सब प्रयत्न असफल हो चुके हों। प्रत्यपहार के कुछ आधुनिक उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

प्रथम विश्वयुद्ध में पुर्तगाल तटस्थ था। अफ्रीका में इसका एक उपनिवेश अंगोला था, इसकी सीमा तत्कालीन जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के साथ लगती थी, १९१५ में अंगोला के सीमावर्ती स्थान नौलिआ में हुई एक घटना में तीन जर्मन मारे गये। यह मामला (Portugal *v.* Germany—the Naulilaa Case, 1927-28) पंचायती अदालत को सौंपा गया। इसके सामने उपस्थित की गई साक्षी के आधार पर इसे विश्वास हो गया कि यह घटना विशुद्ध रूप से भ्रान्ति का परिणाम थी। जर्मन लोगों ने प्रत्यपहार के रूप में अपनी सेना पुर्तगाल के प्रदेश में भेजी, इसने अनेक सीमावर्ती चौकियों पर हमला किया तथा नौलिआ से वहाँ की रक्षक सेना को भगा दिया।

९. आपेनहाइम—दी इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० १३६

१०. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३४२-३

पुर्तगालियों द्वारा जर्मन सेना के दबाव के कारण खाली किये गये प्रदेश में स्थानीय जनता ने विद्रोह किये और इसे दबाने के लिए पुर्तगालियों को पर्याप्त सेना भेजनी पड़ी। पंचों ने इस मामले में प्रत्यपहार के वैध होने के लिए तीन शर्तें रखीं—(क) दूसरे राज्य द्वारा कोई अवैध कार्य होना चाहिये। (ख) प्रत्यपहार का कार्य करने से पहले अवैध कार्यों से उत्पन्न हुई शिकायत को दूर करने के लिए शांतिपूर्ण उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिये। इनके विफल होने पर प्रत्यपहार के कार्य (Reprisals) होने चाहियें। (ग) प्रत्यपहार के साधन अधिक उग्र नहीं होने चाहियें, इनका दूसरे राज्य द्वारा पहुँचायी गई क्षति के समानुपात में होना आवश्यक है। इस मामले में पुर्तगाल ने कोई अवैध कार्य नहीं किया था, जर्मनी ने इस शिकायत को दूर करने के लिये शांतिपूर्ण रीति से प्रयत्न नहीं किया था तथा जर्मनी की कार्यवाही उसे पहुँची क्षति से कहीं अधिक भारी क्षति पुर्तगाल को पहुँचाने वाली थी, अतः इस मामले में पंचों का पंचाट (Award) पुर्तगाल के पक्ष में था।

१९३५ में फ्रेंच बन्दरगाह मार्सलीज़ में यूगोस्लाविया के राजा एलेक्ज़ेण्डर की हत्या कर दी गयी, यूगोस्लाविया यह समझता था कि इसके पीछे हंगरी का हाथ है, अतः उसने अपने देश के हंगेरियनों का निष्कासन किया। १९३७ में स्पेन के गणराज्य की सरकारी सेना के एक वायुयान द्वारा एक जर्मन युद्धपोत Deutschland पर की गई तथाकथित गोलाबारी का बदला लेने के लिए जर्मन जंगी जहाजों ने आल्मेरिया के स्पेनिश बन्दरगाह पर गोलाबारी की।

युद्ध के समय युद्धकारी देशों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों को भी प्रत्यपहार कहा जाता है, किन्तु इनका उद्देश्य सामान्य रूप से यह होता है कि शत्रु युद्ध के नियमों का उल्लंघन न करे। १९३९-४० में जब जर्मनी ने समुद्रों में चुम्बकीय सुरंगें बिछाकर व्यापारिक जहाजों को डुबोने का अवैध कार्य आरम्भ किया तो ग्रेट ब्रिटेन इसे रोकने के लिए तटस्थ देशों के जहाजों पर लदे हुए जर्मनी से निर्यात किये गये पदार्थों को जब्त करने लगा।

प्रत्यपहार के कई प्रकार होते हैं। इनको प्रायः **विशेष** (Special) और **सामान्य** (General) नामक दो वर्गों में बाँटा जाता है। **विशेष प्रत्यपहार** वे हैं, जिनमें दूसरे राज्य के किसी कार्य से क्षतिग्रस्त होने वाले विशेष व्यक्तियों को बदला लेने का अधिकार दिया जाता है और सामान्य प्रत्यपहार में ऐसा बदला लेने का अधिकार सामान्य रूप से सब नागरिकों और सेनाओं को दिया जाता है। प्रत्यपहार का आदिम रूप विशेष प्रत्यपहार था। योरोप के मध्यकालीन राजा कई बार अपने प्रजाजनों की, दूसरे राज्यों के नागरिकों द्वारा पहुँचायी गई क्षति का प्रतिशोध करने में असमर्थ होते थे, इस अवस्था में वे ऐसे प्रजाजनों को बदला लेने का अधिकार दे देते थे। इसमें एक बड़ा लाभ यह था कि दूसरे राज्य के साथ युद्ध छेड़े बिना ही वैयक्तिक रूप से क्षतिपूर्ति के लिये बदला लिया जा सकता था। इटली के राज्यों में बहुधा ऐसा होता था। इस व्यवस्था का दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से शनैः-शनैः प्रत्यपहार के नियमों का विकास होने लगा। इसका सबसे बड़ा नियम यह था कि

प्रत्यपहार का अधिकार राजा द्वारा दिया जाता था। फ्रांस में चार्ल्स षष्ठ (१४०० ई०) के समय से प्रत्यपहार-पत्र प्रदान करना राजा का विशेषाधिकार समझा जाने लगा। इसे प्राप्त करने से पहले किसी नौसैनिक न्यायालय में यह प्रमाणित करना पड़ता था कि इतनी धनराशि का सामान अमुक राज्य के व्यक्तियों द्वारा लूटा गया है। इसके आधार पर प्रत्यपहार में उतनी ही धनराशि वाला उस देश का सामान लूटने का अधिकार दिया जाता था, इसे प्राप्त करने वाले को जमानत जमा करानी पड़ती थी, लूट का माल अदालत के आगे उपस्थित करना आवश्यक था। विशेष प्रत्यपहार का अन्तिम उदाहरण १७९३ में फ्रेंच सरकार द्वारा मार्सलीज़ के एक व्यापारी को जिनोआ के विरुद्ध दिया गया प्रत्यपहार-पत्र था। इसके बाद यह प्रथा लुप्त हो गई।

सामान्य प्रत्यपहार (General Reprisal) का तात्पर्य हानि पहुँचाने वाले देश के जहाज और सम्पत्ति को जब्त करने का अधिकार अपनी सब सेनाओं और प्रजाजनों को सामान्य रूप से प्रदान करना है। क्रामवेल के समय फ्रांस ने एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज को अवैध रीति से जब्त कर लिया और पेरिस ने इसका प्रतिकार करने में विलम्ब किया। इस पर क्रामवेल ने फ्रेंच जहाजों को सामान्य रूप से पकड़ने के लिए अपने जहाज भेज दिये। कई फ्रेंच जहाज पकड़कर बेच दिये गये, इनसे ग्रेट ब्रिटेन का मुआवजा पूरा करने के बाद शेष राशि फ्रांस को सौंप दी गई। १८१६ में इंगलैंड ने सिसली के राजा के साथ उसके प्रदेश से गन्धक निकालने की संधि की थी। बाद में इस संधि की अवहेलना करते हुए राजा ने इस पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका बदला लेने के लिये ब्रिटिश विदेशमन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने नेपल्ज़ में अपना बेड़ा भेजा, इसने उसके सभी जहाजों को पकड़ लिया। सिसली के राजा को अन्त में विवश होकर गन्धक का एकाधिकार समाप्त करना पड़ा और उसने ब्रिटिश व्यापारियों को उनकी क्षतिपूर्ति के लिए हर्जाना दिया। १८६१ में ब्राज़ील के तट पर नष्ट होने वाले ब्रिटिश जंगी जहाज प्रिन्स ऑफ वेल्ज़ को वहाँ के निवासियों द्वारा लूट लिया गया। जब ब्राज़ील की सरकार ने इस विषय में क्षतिपूर्ति करने से इंकार किया तो ब्रिटिश बेड़े ने ब्राज़ील के पाँच जहाज पकड़ लिए, अन्त में ब्राज़ील को ३२०० पौंड का हर्जाना देने को विवश होना पड़ा।

आपेनहाइम ने प्रत्यपहार को भावात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) नामक दो वर्गों में बाँटा है। भावात्मक प्रत्यपहार वे कार्य हैं जो सामान्य अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय अपराध समझे जाते हैं। निषेधात्मक प्रत्यपहारों का तात्पर्य ऐसे कार्यों को न करने से है जो सामान्य रूप से आवश्यक समझे जाते हैं, जैसे संधियों का पालन, ऋणों की अदायगी।

सं० रा० संघ के चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का प्रयोग अवैध है। चार्टर की धारा २ के पैराग्राफ ३ तथा ४ में इस बात पर बल दिया गया है कि इसके सदस्य-राज्य किसी अन्य राज्य की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वाधीनता नष्ट करने के लिये शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे तथा इसकी धमकी भी नहीं देंगे। अतः दूसरे राज्य के विरुद्ध [illegible] की भावना के प्रतिकूल है। धारा ३३ में

शान्ति और सुरक्षा को खतरे में डालने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान वार्ता एवं अन्य शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा करने को कहा गया है, अतएव चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का अवलम्बन वैध नहीं है।

किन्तु स्टार्क ने बताया है कि कुछ अवस्थाओं में 'अन्तर्राष्ट्रीय या सामूहिक प्रत्यपहार (Collective Reprisal) वैध भी होते हैं। यदि कोई देश मादक द्रव्यों के अत्यधिक निर्यात से इनके अवैध व्यापार की सम्भावना को बढ़ाता है तो १९३१ के **'जेनेवा औषध अभिसमय'** (Geneva Drugs Convention) के अनुसार इस देश के निर्यात पर अधिरोध (Embargo) होता है, अर्थात् इसके बन्दरगाहों में जहाजों को ऐसा माल बाहर ले जाने से रोका जा सकता है। इसका दूसरा उदाहरण संघ के आदेश से की जाने वाली व्यवस्थायें हैं। कोरिया युद्ध के समय १८ मई १९५१ को जनरल असेम्बली ने यह प्रस्ताव पास किया था कि संघ के सदस्य चीन की साम्यवादी सरकार तथा उत्तरी कोरिया की सरकार के अधिकार वाले प्रदेशों को जहाजों द्वारा शस्त्र, रण सामग्री, पेट्रोल तथा परिवहन के साधन न भेजें।

(ग) **अधिरोध** (Embargo)—किसी देश के बन्दरगाहों में व्यापारिक जहाजों के प्रवेश या निष्क्रमण पर पाबन्दी लगाना अधिरोध, घाटबन्दी या पोतावरोध है।[११] अंग्रेजी में इस शब्द का मूल स्पेनिश है और इसका अर्थ बन्दरगाहों में जहाज को रोकना है। जब कोई राज्य किसी दूसरे राज्य को क्षति पहुँचाता है और दूसरा राज्य पहले राज्य को क्षतिपूर्ति प्रदान करने के लिए बाधित करने के उद्देश्य से अपने बन्दरगाहों में विद्यमान अपराधी राज्य के जहाजों को रोक लेता है तो यह अधिरोध या नावाधिरोध है। जहाजों को कई उद्देश्यों से रोका जाता है, कई बार युद्ध छिड़ने से पूर्व ऐसा इसलिये किया जाता है कि विदेशी जहाज कोई राजनीतिक महत्व का समाचार अन्य देशों में प्रसारित न करें। पहले युद्ध की सम्भावना होने पर शत्रु-देश के जहाजों को अपने बन्दरगाहों में रोका जाता था; युद्ध के समय तटस्थ देशों के जहाज रोककर उनके स्वामियों को मुआविजा देने के बाद उन जहाजों से अपना काम लिया जाता था। किन्तु अधिरोध का आशय क्षतिपूर्ति प्राप्त करने की दृष्टि से जहाजों पर लगायी गई रोक से है। यह अपने देश के जहाजों पर भी लगायी जा सकती है। १७६६ में ऐसी रोक ग्रेट ब्रिटेन ने तथा १८०७ में सं० रा० अमरीका ने अपने जहाजों पर लगायी थी।

(घ) **शान्तिमय आवेष्टन** (Pacific Blockade)—युद्ध के समय युद्धकारी देश एक-दूसरे के बन्दरगाहों की पूरी नाकाबन्दी या आवेष्टन करते हैं। शान्तिकाल में इस प्रकार का कार्य शान्तिमय आवेष्टन कहलाता है। इसका उद्देश्य दूसरे राज्य पर दबाव डालना होता है और दबाव डालने वाले देश के जहाज उसके बन्दरगाहों और तट को ऐसा घेर लेते हैं कि अन्य देशों के साथ उसका व्यापारिक सम्पर्क बिल्कुल समाप्त हो जाता है। १९०२ में जब वेनेज़ुएला ने ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और इटली के ऋणों की

११. कौटिलीय अर्थशास्त्र में घाटों (तीर्थों) में रोकी गई नावों के लिये बद्धतीर्थ शब्द का प्रयोग किया है (२।२८) बद्धतीर्थाश्चैताः कार्याः राजद्विष्टकारिणां तरणभयात्। इस दृष्टि से Embrago को बद्धतीर्थता भी कहा जा सकता है, दोनों का मूल शब्दार्थ एक ही है।

अदायगी नहीं की, तो इन देशों की नौसेनाओं ने उसका घेरा डालकर उसे ऋण अदा करने के लिए विवश करने का प्रयत्न किया।

शान्तिमय आवेष्टन के औचित्य के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। किन्तु इस विषय में सब एक सम्मति रखते हैं कि घेरा डालने वाले राज्य को तीसरे राज्य के घेरा तोड़ने वाले जहाजों को पकड़ने या जब्त करने का अधिकार नहीं है। आवेष्टन की समाप्ति पर ये जहाज इनके स्वामी देश को वापिस किये जाने चाहियें। शान्तिमय आवेष्टन के परिणाम बहुत गम्भीर होते हैं; अतः इनका प्रयोग संधिवार्त्ता के पूर्ण रूप से विफल होने पर ही किया जाना चाहिये। शक्तिशाली नौसेना रखने वाले देश निर्बल राज्यों के विरुद्ध इसका प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकते हैं। इसका दुरुपयोग भी सम्भव है। १९वीं शताब्दी से इस साधन का प्रयोग होने लगा है। सर्वप्रथम यूनान के स्वतन्त्रता युद्ध में इसका प्रयोग ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने तुर्कसेनाओं द्वारा अधिकृत समुद्रतट के शान्तिमय आवेष्टन के रूप में किया। १८३१ में फ्रांस ने पुर्तगाल में फ्रेंच प्रजाजनों को पहुँची क्षति पूरी कराने के लिये इसकी टेगस नदी का आवेष्टन किया। १८३३ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने हालैण्ड की तथा १८४५ में अर्जेण्टाइना की नाकाबन्दी की। १८३८ में फ्रांस ने मेक्सिको के बन्दरगाहों का आवेष्टन किया।

यह साधन शक्तिशाली नौसेना रखने वाले देशों द्वारा निर्बल राज्यों के विरुद्ध सफलतापूर्वक बरता जा सकता है। स्टार्क ने यह लिखा है[१२] कि महाशक्तियों ने प्रायः मिलकर इसका प्रयोग सामूहिक हित की दृष्टि से संधियों के पालन, युद्धों को रोकने, उपद्रवों को शान्त करने के लिए किया है। १८८६ में यूनानी सेनायें टर्की के सीमान्त पर जमा हो गयीं, इस समय महाशक्तियों के शान्तिमय आवेष्टन ने दोनों देशों में युद्ध की आशंका को समाप्त कर दिया। सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ४२ में सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये इस साधन के अवलम्बन का अधिकार दिया गया है।

शान्तिमय आवेष्टन का उपाय अपनाने में कई लाभ हैं। यह युद्ध की अपेक्षा कम उग्र तथा अधिक लचकीला साधन है। दूसरी ओर यह सामान्य प्रत्यपहार से अधिक उग्र है और इसे यदि प्रबल राज्यों के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाय तो यह युद्ध का कार्य समझा जा सकता है। प्रबल सामुद्रिक शक्तियां प्रायः इस साधन का अवलम्बन युद्ध के उत्तरदायित्व, असुविधाओं तथा बोझ से बचने के लिये करती हैं। शान्तिमय आवेष्टन में युद्ध की स्थिति न होने के कारण तीसरे राज्यों के जहाजों का आवेष्टन करने वाला देश युद्ध और तटस्थता के नियम नहीं लागू कर सकता, उसे इनके जहाज पकड़ने और जब्त करने का अधिकार नहीं है। जब वह युद्ध की परेशानियों से बचने के लिए शांतिमय आवेष्टन का अवलम्बन करता है तो वह युद्ध और शांति दोनों के लाभ पाने का दावा नहीं कर सकता।

(ङ) **हस्तक्षेप** (Intervention)—कई बार दो देशों का झगड़ा निबटाने के

१२. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ० १४५

लिये तीसरा राज्य हस्तक्षेप करता है। श्रापेनहाइम के मतानुसार यह दो राज्यों के विवाद में तीसरे राज्य द्वारा ऐसा तानाशाही हस्तक्षेप है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि इस विवाद का समाधान हस्तक्षेप करने वाले राज्य की इच्छा के अनुसार हो।[13] हस्तक्षेप-कर्ता राज्य दोनों पक्षों पर पंचनिर्णय के लिये अथवा विशेष समाधान स्वीकार करने के लिये दबाव डाल सकता है। कई बार अनेक राज्य मिलकर ऐसा दबाव डालते हैं। पहले (पृ० १३६) यह बताया जा चुका है कि शिमोनोसेकी की चीन-जापान संधि के बाद जर्मनी, फ्रांस और रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप करते हुए जापान को इस बात के लिये विवश किया कि वह लिम्राम्रोटुंग का प्रायद्वीप चीन को वापिस कर दे। सं० रा० अमरीका ने मनरो सिद्धान्त के आधार पर दक्षिण अमरीका के राज्यों के मामले में अनेक बार हस्तक्षेप किया है।

१३. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खण्ड १, अष्टम संस्करण, पृ० ३०५

तीसरा भाग

युद्ध के नियम

इक्कीसवाँ अध्याय

युद्ध और इसके प्रभाव

(War and its Effects)

युद्ध का स्वरूप (Nature of War)—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण हल न होने पर इनके समाधान के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन किया जाता है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों के दूत श्रीकृष्ण को पाँच गाँव देने के न्यूनतम प्रस्तावों को ठुकराते हुए कहा—'सूच्यग्रं नैवं दास्यामि विना युद्धेन केशव' तो पाण्डवों के लिए संग्राम करना अनिवार्य हो गया। युद्ध राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा संघर्ष है, जिसमें दोनों एक-दूसरे को बलपूर्वक जीतकर उससे अपनी बात मनवाना चाहते हैं। हॉल ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है—"जब राज्यों के मध्य मतभेद इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि दोनों पक्ष बल-प्रयोग का अवलम्बन करते हैं अथवा उनमें से कोई एक पक्ष हिंसा के ऐसे कार्य करता है, जिन्हें दूसरा पक्ष शांति का भंग समझता है तो दोनों में युद्ध का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है। इसमें दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध नियन्त्रित हिंसा का प्रयोग उस समय तक करते हैं, जब तक कि दोनों में से एक पक्ष उन शर्तों को स्वीकार करने को तैयार न हो जाय, जिन्हें उसका शत्रु उससे मनवाना चाहता है।"[1] आपेनहाइम के मतानुसार "युद्ध दो या अधिक राज्यों में अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि दूसरे पक्ष को पराजित किया जाय और विजेता द्वारा उस पर शांति स्थापित करने की मनचाही शर्तें थोपी जाएँ।"[2]

---

१. हॉल—इण्टरनेशनल लॉ, अष्टम संस्करण, पृ० ८१

२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, सप्तम संस्करण, पृ० २०२

इस प्रसंग में प्राचीन भारत के विधिशास्त्रियों द्वारा किये गये युद्ध या विग्रह के लक्षणों का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। कौटिल्य के शब्दों में शत्रु को हानि पहुँचाने वाले द्रोह या हिंसापूर्ण कार्य करना लड़ाई है (अपकारो विग्रहः ७।१)। शुक्राचार्य के मत में शत्रु को पीड़ित और वशीभूत करने वाला कार्य युद्ध है (विनय कुमार सरकार का अनुवाद ४-७, ४६८-२)। कामन्दक का लक्षण है—अमर्षोपगृहीतानां मन्युसंतप्तचेतसाम्। परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः। इसकी यह खूबी है कि इसमें दूसरे पक्ष को हानि पहुँचाने की इच्छा को युद्ध की विशेषता बताया गया है। आधुनिक विधिशास्त्री भी इसे ऐसा मानते हैं। प्राचीन स्मृतिकारों का यह विचार था कि युद्ध का प्रयोग अत्यन्त असाधारण अवस्था में, अन्य उपायों के विफल होने पर किया जाना चाहिए। राजा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह युद्ध किये बिना विजय प्राप्त करे—अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेत् वसुधाधिपः। जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥ (महाभारत शांतिपर्व, ६४।१)। इसका कारण स्पष्ट करते हुए कामन्दक (६-११) ने कहा है कि युद्ध में दोनों पक्षों का नाश होता है—नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि। मनु का यह मत (७।१९९) है कि युद्ध में

युद्ध की वैधता के विचार की समाप्ति—(War loses its legal character)—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से लड़ाई छेड़ने का अधिकार (The right to make war) प्राप्त था। किन्तु राष्ट्र-संघ के संविधान ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि कोई भी लड़ाई या लड़ाई की धमकी संघ के सभी सदस्यों के लिए समान रूप से गहरी चिन्ता का विषय है तथा इस सम्बन्ध में विश्व में तथा विभिन्न राष्ट्रों में शांति बनाये रखने के लिए संघ को प्रभावशाली कार्यवाही करनी चाहिए। इसका यह अर्थ था कि संघ के सदस्यों ने शांति बनाये रखने के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective responsibility) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तथा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा छेड़ी जाने वाली लड़ाइयों की पुरानी परम्परा का परित्याग करने की घोषणा करते हुए अपने विवाद संघ के सामने लाने का निश्चय किया। पेरिस में हुए केलाग-ब्रीआँ पैक्ट (Pact of Paris) द्वारा इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के उपाय का परित्याग करने की घोषणा की। इससे राष्ट्रों के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन करना अवैध हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सं० रा० संघ के चार्टर में भी विभिन्न राष्ट्रों द्वारा युद्ध छेड़ने के अधिकार को अस्वीकार किया गया है। शक्ति का प्रयोग केवल सुरक्षा परिषद् या जनरल असेम्बली ही कर सकती है, कोरिया तथा कांगो (किनहासा) के मामले में उसने सैनिक बल का प्रयोग किया है। किन्तु चार्टर की धारा ४२ के अनुसार सुरक्षा परिषद् द्वारा युद्ध के उपायों का प्रयोग विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी इच्छानुसार युद्ध छेड़ने के पुराने अधिकारों से सर्वथा भिन्न है। सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ५१ किसी राष्ट्र को आत्मरक्षा (Self-defence) के लिए युद्ध करने का अधिकार उसी समय तक प्रदान करती है, जब तक कि सुरक्षा परिषद् शांति बनाये रखने के लिए कोई कदम नहीं उठाती है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विभिन्न राष्ट्रों द्वारा छेड़े जाने वाले युद्ध अब वैध नहीं रहे हैं। फिर भी अभी तक मानव समाज में युद्धों की सत्ता बनी हुई है, सं० रा० संघ इनका अन्त नहीं कर सका। अतः युद्धों के अवैध होते हुए भी इनके विभिन्न प्रकारों और नियमों का प्रतिपादन करना आवश्यक है।

युद्धों के प्रकार (Classification of Wars)—पहले युद्धों का अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया जाता था।

(क) मध्यकालीन योरोप में धार्मिक दृष्टि से **धर्म्य** या **न्याय्य** (Just) और **अधर्म्य** अथवा अन्याय्य (Unjust) युद्धों पर बहुत बल दिया जाता था। (देखिये ऊपर पृ० २३–३३)। आजकल यद्यपि इस वर्गीकरण को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता, तथापि किसी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित

विजय के अनिश्चित होने तथा पराजय की सम्भावना होने से युद्ध के मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहिए—अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः। पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥ शुक्रनीति के अनुसार अन्य उपायों के विफल होने पर ही युद्ध करना चाहिए—उपायान्तरनाशे तु ततो विग्रहमाचरेत्।

रखने की दृष्टि से लड़े जाने वाले युद्ध धर्म्य समझे जाते हैं। अपने पड़ोसी देशों के प्रदेशों के प्रति विस्तारवादी नीति के कारण किये जाने वाले युद्ध अन्यायपूर्ण कहलाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी का यह कहना था कि उसे जर्मन जनता के जीवनयापन के लिए अधिक स्थान (Lebensraum) चाहिए, अतः उसने पड़ोसी राज्यों के प्रदेश हड़पने शुरू किये और युद्ध आरम्भ किया। उसका यह युद्ध अन्यायपूर्ण था।

(ख) मध्यकाल में युद्धों को **सार्वजनिक** (Public) तथा **वैयक्तिक** नामक दो वर्गों में बाँटा जाता था। दो स्वतन्त्र, सर्वोच्चप्रभुतासम्पन्न राज्यों का सशस्त्र सैनिक संघर्ष सार्वजनिक युद्ध कहलाता था, किन्तु दो बड़े जमींदारों का सैनिक भर्ती करके लड़ाई करना वैयक्तिक युद्ध कहलाता था। आजकल ऐसे युद्ध की प्रथा बिल्कुल समाप्त हो गई है। इस समय सभी युद्ध सार्वजनिक समझे जाते हैं और राज्यों के मध्य में होते हैं। किसी राज्य में विद्रोह या अभिद्रोह होने पर विद्रोहियों को मान्यता प्रदान करके (देखिए ऊपर पृ० १८२) उन्हें युद्ध की स्थिति प्रदान की जाती है।

(ग) युद्धों का एक अन्य भेद **पूर्ण** (Perfect) और **अपूर्ण** युद्ध होता है। जब कोई एक राष्ट्र समग्र रूप में दूसरे राष्ट्र से लड़ाई करता है, तो यह पूर्ण युद्ध होता है, किन्तु जब यह लड़ाई कुछ स्थानों और व्यक्तियों तक सीमित होती है तो इसे अपूर्ण युद्ध कहा जाता है।

(घ) युद्ध का एक अन्य प्रकार **यादव युद्ध** या **गृहयुद्ध** (Civil War) भी है। यह एक ही राज्य के विभिन्न व्यक्तियों में होता है, जैसे स्पेन का गृहयुद्ध वहाँ की गणराज्य सरकार के विरुद्ध जनरल फ्रांको तथा उसके समर्थक सेनापतियों द्वारा किया गया विद्रोह था। ग्रोशियस ने इसे मिश्रित युद्ध (Mixed War) का नाम इसलिए दिया था कि इसमें सरकार की ओर से विद्रोहियों को दबाने का प्रयत्न सार्वजनिक (Public) युद्ध होता है तथा विद्रोही व्यक्तियों द्वारा सरकार को हटाने का प्रयास वैयक्तिक (Private) युद्ध होता है, गृहयुद्ध में इन दोनों का सम्मिश्रण होता है। आपेनहाइम ने गृहयुद्ध का लक्षण करते हुए कहा है कि यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब एक राज्य में दो परस्पर-विरोधी पक्ष इस उद्देश्य से शस्त्रों का अवलम्बन करते हैं कि वे राज्य में सत्ता प्राप्त कर लें अथवा यह स्थिति उस दशा में भी उत्पन्न होती है, जब किसी राज्य की जनता का एक बड़ा भाग वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करता है।[1]

(ङ) युद्धों का एक अन्य भेद **औपचारिक** (Formal) तथा **अनौपचारिक** (Informal) युद्ध है। जब कोई लड़ाई युद्ध-घोषणा आदि की सब विधियों का पूरा पालन करते हुए छेड़ी जाती है तो यह औपचारिक युद्ध कहलाता है, किन्तु जब बिना युद्ध घोषणा के तथा अन्य विधियों का पालन न करते हुए इसे किया जाता है तो यह अनौपचारिक युद्ध होता है। जापान ने १९३३ में चीन के विरुद्ध ऐसी लड़ाई छेड़ी थी। २० अक्टूबर १९६२ को साम्यवादी चीन ने बिना घोषणा के भारत के साथ ऐसा युद्ध आरम्भ किया था।

३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ. खण्ड २ पृ० २८९

छापामार (Guerilla) युद्ध शत्रु के प्रबल होने पर किया जाता है । मराठों ने शक्तिशाली मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध इसी नीति का प्रयोग करके उसके छक्के छुड़ाये थे । आपेनहाइम के मतानुसार "यह ऐसी लड़ाई है जो शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में ऐसे सशस्त्र व्यक्ति-समूहों द्वारा लड़ी जाती है, जो किसी संगठित सेना का भाग नहीं होते ।[४] इनके पास इतनी शक्ति नहीं होती कि वे शत्रु के साथ खुली लड़ाई लड़ सकें, अतः इनके आक्रमण गुप्त रूप से, चोरी-छिपे शत्रु पर छापे मारते रहने के रूप में होते हैं । अतएव यह छापामार युद्ध कहलाता है । प्रायः ये हारी हुई सेना के अंश होते हैं, इनका उद्देश्य शत्रु को परेशान करना तथा उनकी संचार प्रणाली और मार्ग-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना होता है । द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर द्वारा पराभूत किये जाने के बाद फ्रांस आदि अनेक देशों में जर्मनी के विरुद्ध इस प्रकार के प्रतिरोध आन्दोलन (Resistance movements) तथा छापामार युद्ध होते रहे थे ।

१९वीं शताब्दी में तथा १८९९ के पहले हेग सम्मेलन के समय तक छापामार सेनाओं के कार्य अवैध समझे जाते थे । यह माना जाता था कि किसी प्रदेश पर शत्रु का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद उसकी सत्ता की अवहेलना बिल्कुल निरर्थक कार्य है । किन्तु पिछले दो विश्वयुद्धों के बाद इस धारणा में बहुत परिवर्तन आ गया है । अब ऐसे प्रतिरोध आन्दोलनों, मिलिशिया तथा स्वयंसेवक दलों में सशस्त्र संघर्ष करने वाले व्यक्तियों को १९४९ के जेनेवा अभिसमय के अनुसार निम्नलिखित चार शर्तें पूरी करने पर युद्धबन्दियों का-सा व्यवहार पाने का अधिकार है । ये शर्तें इस प्रकार हैं—(क) इनका नेतृत्व करने वाला व्यक्ति इनके कार्यों के लिए उत्तरदायी हो । (ख) वे दूर से पहचाना जा सकने वाला विशिष्ट चिन्ह धारण करते हों । (ग) वे खुले रूप में शस्त्र धारण करते हों । (घ) वे युद्ध के नियमों के अनुसार सैनिक कार्यवाही करते हों ।

(च) **समग्र युद्ध** (Total War)—पुराने जमाने की लड़ाइयाँ प्रतिस्पर्धी सेनाओं में हुआ करती थीं, साधारण जनता पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता था । मेगस्थनीज़ ने मौर्यकालीन भारत के बारे में लिखा है कि युद्ध के समय कृषक निर्बाध रूप से अपनी खेती करते रहते थे (देखिये ऊपर पृ० २१) । वर्तमान समय में इस स्थिति में कई कारणों से बड़ा अन्तर आ गया है । आजकल लड़ाई में केवल दो देशों की सेनायें ही नहीं, किन्तु समग्र जनता पूरी शक्ति के साथ भाग लेती है अतएव इसे **समग्र युद्ध** (Total War) कहा जाता है । युद्ध में विजय पाने के लिये समूची जनता का सहयोग लिया जाता है और इसमें किसी प्रकार के नियम, नीति और विवेक की परवाह नहीं की जाती । अणुबमों, विषैली गैसों और प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग में कोई संकोच नहीं किया जाता । सैनिक-असैनिक का भेद बिल्कुल भुला दिया जाता है । आपेनहाइम ने इस स्थिति के पाँच कारण बताये हैं ।[५] **पहला** कारण सैनिकों की संख्या में विलक्षण वृद्धि है । अब प्रायः अधिकांश राज्यों में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है, इस कारण देश के सभी बालिग पुरुष शस्त्र धारण करते हैं । **दूसरा** कारण यह है कि

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २१२

[५] ... लॉ खण्ड २, पृ० २०७

युद्ध की प्रक्रिया जटिल होने से उसके लिए आवश्यक सामग्री की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इसका उत्पादन करने के लिए विभिन्न युद्धोद्योगों में असैनिक जनता का एक बड़ा भाग लगा रहता है। **तीसरा** कारण हवाई युद्ध का विकास है, इससे लड़ाई का क्षेत्र अब केवल रण के मैदान तक सीमित नहीं रहा, किन्तु शत्रु के युद्ध-प्रयत्नों को क्षति पहुँचाने की दृष्टि से रणक्षेत्र से बाहर के पुलों, शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कारखानों, रेल के स्टेशनों, औद्योगिक केन्द्रों, बन्दरगाहों और शत्रु को सहायता पहुँचाने वाले जलपोतों को हवाई बमवर्षा का लक्ष्य बनाया जाता है। **चौथा** कारण यह है कि अब शत्रु को परास्त करने के लिये आर्थिक दृष्टि से उस पर दबाव डालने वाले कार्य अधिक मात्रा में किये जाने लगे हैं। इसका यह परिणाम हुआ है कि अब युद्ध का प्रभाव दो राज्यों की सेनाओं तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु सारी असैनिक जनता को भी युद्ध के परिणामों का फल भोगना पड़ता है। **पाँचवाँ** कारण हिटलर के नात्सी जर्मनी, मुसोलिनी के फासिस्ट इटली जैसे अधिनायकवादी राज्यों (Totalitarian States) का अभ्युत्थान है। इसमें व्यक्ति के प्राण और सम्पत्ति पर शान्ति एवं युद्धकाल में राज्य का पूरा अधिकार समझा जाता है। इससे भी सैनिक और असैनिक जनता की भेदक रेखा लुप्त होने लगी है तथा समूचा राष्ट्र युद्ध संलग्न समझा जाने लगा है। इन परिस्थितियों ने समग्र युद्ध (Total war) के विचार को मूर्त रूप प्रदान किया है।

युद्धेतर शत्रुता (Non-war Hostility)—अब तक दो पक्षों में युद्ध होने पर ही शत्रुता की स्थिति होती थी और इसमें सशस्त्र संघर्ष (Armed contention) होता था। किन्तु अब कई बार युद्ध के बिना शत्रुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका सर्वोत्तम आधुनिक उदाहरण कोरिया का युद्ध (१९५०-५३) है। यह पहले दक्षिणी एवं उत्तरी कोरिया के राज्यों का संघर्ष था, बाद में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से दक्षिण कोरिया की ओर से सं० रा० संघ ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। सं० रा० संघ की सशस्त्र सेनाएँ उत्तरी कोरिया की सेनाओं से संघर्ष करने लगीं। किन्तु स्टार्क के शब्दों में इस संघर्ष को संग्रामावस्था या युद्ध की स्थिति (Status of war) का दर्जा नहीं प्रदान किया गया। कोरिया के संघर्ष से पहले बिना युद्ध के शत्रुता की स्थिति तीन उदाहरणों में उत्पन्न हो चुकी थी—(क) मंचूरिया (१९३१-३२) में तथा १९३७ के बाद चीन में जापान और चीन के संघर्ष में। (ख) १९३८ में चन कूफेंग में रूस-जापान के संघर्ष में। (ग) १९३९ में नोमोनहैन में बाह्य तथा आन्तरिक मंगोलिया की फौजों के आक्रमण में। कोरिया युद्ध के बाद ऐसी स्थिति स्वेज़ नहर के क्षेत्र पर अक्टूबर, नवम्बर १९५६ में इज़रायली, फ्रेंच तथा ब्रिटिश फौजों के आक्रमण से उत्पन्न हुई थी। इस समय ब्रिटिश लार्ड प्रिवी सील ने १ नवम्बर १९५६ को यह घोषणा की थी—'महारानी की सरकार वर्तमान कार्य को युद्ध नहीं समझती। वहाँ कोई युद्धावस्था (State of War) नहीं है, किन्तु संघर्ष की स्थिति (State of Conflict) है'।

युद्ध तथा संघर्ष की स्थितियों में क्रियात्मक दृष्टि से बड़ा अन्तर न होते हुए भी कानूनी दृष्टि से बड़ा अन्तर पड़ जाता है। यदि नियमानुसार घोषणा द्वारा दोनों पक्षों

में युद्ध शुरू हुआ है तो अन्य देश इस संघर्ष में तटस्थ रहते हैं, उन्हें तटस्थ देशों के सब अधिकार और सुविधायें प्राप्त होती हैं। किन्तु जब युद्ध की स्थिति न मानी जाय और केवल शत्रुता या संघर्ष की स्थिति मानी जाय, तो तटस्थता का कोई प्रश्न नहीं उठता। स्टार्क के मतानुसार युद्धेतर शत्रुता (Non-War Hostilities) के विकास के तीन प्रधान कारण हैं[६]—(क) राज्य यह नहीं चाहते कि १६२८ के युद्ध का निषेध करने वाले केलाग-ब्रीआँ पैक्ट पर हस्ताक्षर करके उन्होंने युद्ध न करने का जो वचन दिया है, उसका भंग युद्ध-घोषणा द्वारा किया जाय। (ख) इसका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि इस संघर्ष में भाग न लेने वाले राज्यों को तटस्थता की घोषणा करने से रोका जाय। (ग) तीसरा कारण यह इच्छा है कि संघर्ष को कुछ स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमित रखा जाय तथा इसे व्यापक एवं विस्तीर्ण युद्ध का रूप न दिया जाय।

युद्ध का आरम्भ तथा युद्ध-घोषणा (Commencement and Declaration of War)—प्राचीनकाल में युद्ध आरम्भ करने के विस्तृत विधि-विधान थे। इस विषय में रोमन व्यवस्था का पहले (पृ० २५) उल्लेख किया जा चुका है। १७वीं शताब्दी तक योरोपियन राज्य युद्ध छेड़ने से पहले अग्रदूतों या वार्त्तावहों (Heralds) तथा अवहेलना-पत्रों (Letters of Defiance) द्वारा दूसरे राज्यों को इसकी सूचना देते थे। इस सूचना को पाने के तीन दिन बाद लड़ाई शुरू की जाती थी। इसका अन्तिम उदाहरण १६३५ ई० में फ्रांस द्वारा ब्रुसेल्ज में स्पेन के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करना था, इसमें युद्ध की सूचना देने वाले दूतों को बड़ी धूमधाम से भेजा गया था। १८वीं शती में यह प्रथा बन्द हो गयी और बिना घोषणा के ही युद्ध छेड़े जाने लगे। १७०० से १८७० तक की अवधि में हुए केवल दस युद्धों में ही रण-घोषणा की गयी; १०७० लड़ाइयों में ऐसी कोई घोषणा नहीं की गयी। ग्रोशियस का मत था कि युद्ध की घोषणा अवश्य की जानी चाहिये, उन्नीसवीं शती में इस नियम की ओर कुछ ध्यान दिया गया। किन्तु बीसवीं शती के आरम्भ के साथ इसकी घोर उपेक्षा शुरू हुई। १६०४ में जापान ने पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह में अवस्थित रूसी बेड़े पर अचानक अप्रत्याशित आक्रमण करके उसके साथ लड़ाई आरम्भ की। जापान का कहना था कि इससे पहले उसकी संधिवार्त्ता रूस से भंग हो चुकी थी और उस समय उसने रूस को यह कह दिया था कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये उसे स्वतन्त्र कार्यवाही करने का अधिकार है।

पोर्ट आर्थर की इस घटना के कारण १६०७ के **तीसरे 'हेग अभिसमय' में** यह नियम बनाया गया कि कोई भी शत्रुतापूर्ण कार्य तब तक नहीं शुरू होना चाहिये, जब तक कि उससे पहले निम्न दो रूपों में सूचना न दी जाय—(क) युद्ध छेड़ने के कारणों पर प्रकाश डालने वाली रण-घोषणा। (ख) अल्टीमेटम या अन्तिम चेतावनी—इसमें दूसरे राज्यों को कुछ शर्तें न मानने पर युद्ध आरम्भ करने की बात कही जाती है। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी है कि तटस्थ राज्यों को युद्ध की स्थिति की सूचना अविलम्ब देनी चाहिये। प्रथम विश्वयुद्ध में आस्ट्रिया के आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनैण्ड

६. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३४६

की हत्या होने से आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ने से पहले से उसे २३ जुलाई १९१४ को अल्टीमेटम दिया गया था, इसमें सर्बिया को उसके प्रदेश में होने वाली सब आस्ट्रियाविरोधी कार्यवाहियों को रोकने की, ऐसे प्रचार कार्य में लगे व्यक्तियों के निष्कासन की, ऐसा कार्य करने वाले संगठनों को समाप्त करने की माँगें की गई थीं। सर्बिया को ४८ घण्टों में इस अल्टीमेटम का उत्तर देना था। जब उसने इनमें से कुछ माँगों को अस्वीकार किया और कुछ के लिए पंचनिर्णय का सुझाव दिया, तो २८ जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। ४ अगस्त को जब जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का भंग करते हुए, इस पर आक्रमण किया तो ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। इससे पूर्व २ अगस्त १९१४ को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध तथा ४ अगस्त १९१४ को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी। ६ अप्रैल १९१७ को सं० रा० अमरीका की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके जर्मनी के विरुद्ध विधिपूर्वक युद्ध-घोषणा की।

किन्तु पिछले चालीस वर्षों में हेग की उपर्युक्त व्यवस्था का बारम्बार बड़ा शोचनीय उल्लंघन हुआ है। जापान ने १९३१ में मंचूरिया पर तथा १९३७ में चीन पर बिना युद्ध-घोषणा के आकस्मिक आक्रमण कर दिया। इटली ने १९३५ में एबीसीनिया पर इसी प्रकार का हमला किया। द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश जर्मनी ने पोलैण्ड पर अघोषित आक्रमण एवं हवाई बमबारी के साथ किया। रूस का १७ सितम्बर १९३९ को पोलैण्ड पर तथा ३० नवम्बर १९३९ को फिनलैण्ड पर आक्रमण इसी प्रकार का था। जर्मनी ने ९ अप्रैल १९४० को डेन्मार्क और नार्वे पर तथा जून १९४१ में रूस पर सहसा, बिना किसी चेतावनी के हमला शुरू कर दिया। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्ल हार्बर के बन्दरगाह में सं० रा० अमरीका के समुद्री बेड़े पर अप्रत्याशित और भीषण आक्रमण किया। जापान के इस आक्रमण को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं सिद्ध किया जा सकता। जून १९५० में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर तथा २० अक्टूबर १९६२ को चीन ने भारत पर बिना युद्ध-घोषणा किये आक्रमण कर दिया। १ सितम्बर १९६५ को पाकिस्तान ने छम्ब जोड़ियाँ क्षेत्र में बिना किसी युद्ध-घोषणा के भारत पर एक भीषण आक्रमण करके भारत-पाकिस्तान संघर्ष का श्रीगणश किया। ४ जून १९६६ से इज़राइल तथा मिस्र एवं अरब राष्ट्रों में होने वाला युद्ध भी बिना किसी युद्ध-घोषणा के आरम्भ हुआ। भविष्य में बिना युद्ध-घोषणा के अप्रत्याशित आक्रमणों (Surprise attacks) से ही अधिकांश लड़ाइयाँ छिड़ने की आशा है। इसका कारण यह है कि शत्रु पर झटपट अप्रत्याशित रीति से हमला (Surprise attacks) करने वाला देश शत्रु के सैनिक अड्डों तथा संस्थानों को नष्ट करके तत्काल बहुत बड़ा लाभ प्राप्त कर लेता है और उसकी विजय की सम्भावनायें बहुत बढ़ जाती हैं। हिटलर ने पोलैण्ड आदि देशों पर इसी प्रकार हमले करके विद्युत् युद्ध (Blitzkrieg) की पद्धति अपनाकर सफलता प्राप्त की थी। इसका नवीनतम उदाहरण ४ जून १९६७ को इज़राइल द्वारा अरब राष्ट्रों पर भीषण आक्रमण था, पहले २४ घण्टे में इज़राइल ने मिश्र की वायुसेना के बहुत बड़े भाग का विध्वंस करके इसे बिल्कुल निकम्मा बना दिया, इसके परिणामस्वरूप संख्या एवं सैनिक बल की दृष्टि से शक्तिशाली होते हुए भी अरब

राष्ट्र इस लड़ाई में इजराइल से बुरी तरह हारे। फेनविक के मत में बिना घोषणा किये युद्ध छेड़ने वाले देश को तत्काल लड़ाई का ६० प्रतिशत लाभ मिल जाता है।[७] आणविक आयुधों द्वारा की जाने वाली लड़ाई में शत्रु पर बिना घोषणा के अनभ्र वज्रपात करना और भी अधिक आवश्यक है, अतः भविष्य में युद्ध-घोषणा करके लड़ाई छेड़ने के अन्तर्राष्ट्रीय नियम का पालन किये जाने की संभावना बहुत कम है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून यद्यपि युद्ध छेड़ने से पहले युद्ध की घोषणा करना आवश्यक मानता है, किन्तु राज्य इस नियम का पालन बहुत कम करते हैं। ३ दिसम्बर १९७१ को पाकिस्तान द्वारा भारत पर हमला इसका नवीनतम उदाहरण है।

युद्ध के तात्कालिक प्रभाव (Immediate Effects of War)—दो देशों में युद्ध शुरू होने से इनके सम्बन्धों में मौलिक परिवर्तन होते हैं। हाइड के शब्दों में लड़ाई परस्पर-विरोधी युद्धकारी देशों के ऐसे प्रत्येक सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देती है, जिसका मूलकारण दोनों देशों की मित्रता की भावना होती है। शत्रुता आरम्भ होने पर न केवल दोनों देशों की सेनायें एक-दूसरे के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष आरम्भ करती हैं, किन्तु कुछ अन्य प्रभाव भी होते हैं। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) **राजनयिक सम्बन्धों का भंग**[८] (Termination of Diplomatic and

७. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६६५

८. (क) इस प्रसंग में प्राचीन भारत में युद्ध छिड़ने के प्रभावों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। पहला प्रभाव दौत्य सम्बन्ध का भंग होना था। विजिगीषु राजा लड़ाई छिड़ जाने पर शत्रु के दूत का तिरस्कार करते हुए कहता था—अब तुम्हें पुनः यहाँ नहीं आना चाहिये। (कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।३, त्मुपालभेत······न पुनरिहागन्तव्यम्)। कई बार ऐसी अवस्था में इसके पकड़े जाने और मारे जाने की सम्भावना होती है, कौटिल्य ने ऐसी स्थिति में उसे चुपचाप भाग जाने की सलाह दी है (कौ० २।१३, शासनमनिष्टमुक्तवा बन्धवधभयादविसृष्टो व्यपगच्छेत्। अन्यथा निरम्येत)। दूसरा प्रभाव यह था कि युद्ध छिड़ते ही दोनों पक्षों के गुप्तचरों और जासूसों की गतिविधियाँ प्रबल हो जाती थीं। कौटिल्य ने मन्त्रयुद्ध के प्रकरण (१२।२) में इनका विस्तार से वर्णन किया है। तीसरा प्रभाव यह है कि विदेशियों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति दूष्य (शत्रु के साथ सहयोग करने से दोष योग्य) कहे जाते थे। इनके साथ व्यवहार के विस्तृत नियम कौटिलीय अर्थशास्त्र (९।५,६) में प्रतिपादित किये गये हैं। चौथा प्रभाव सन्धियों पर था। उपयोगी तथा लाभदायक सन्धियों को जारी रखा जाता था, अन्य सन्धियाँ भंग कर दी जाती थीं।

(ख) इस विषय में १९६५ के भारत-पाक संघर्ष का उदाहरण बड़ा रोचक है। यह संघर्ष बिना युद्ध-घोषणा के आरम्भ हुआ था। अतः इसमें दोनों देशों ने अपने दौत्य सम्बन्ध भंग नहीं किये। समूचे संघर्ष के दौरान नई दिल्ली में पाकिस्तान के तथा कराची में भारत के राजदूत शान्तिकाल की भाँति निवास करते रहे। ६ सितम्बर की दोपहर को पाकिस्तान के विदेश विभाग के निदेशक ने कराची में भारतीय दूतावास को यह सूचित किया कि जब तक दूतावास के कर्मचारी भारत नहीं लौट जाते हैं तब तक उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए एक ही इमारत में चले जाना चाहिये, पुलिस के संरक्षण में रहना चाहिये, विदेश कार्यालय में मिलने के लिये आते समय, बाजार से सामान लाने के लिये तथा डाक्टर से मिलने के लिये जाते समय भारतीय दूतावास के कर्मचारियों को पुलिस के साथ ही जाना चाहिये। जब पाकिस्तानी अधिकारियों से भारतीय दूतावास ने यह पूछा कि वे भारतीय दूतावास के कर्मचारियों पर ये पाबन्दियाँ क्यों लगा रहे हैं तो यह उत्तर

Consular Relations)—युद्ध छिड़ते ही दोनों देशों के दौत्य (Diplomatic) सम्बन्धों का अन्त हो जाता है। राजदूतों को पासपोर्ट दे दिये जाते हैं और उन्हें स्वदेश लौटने के लिए कहा जाता है और जब तक वे देश छोड़कर नहीं चले जाते, तब तक वे अपने विशेषाधिकारों (देखिये सोलहवाँ अध्याय) का उपभोग कर सकते हैं। प्रायः वाणिज्य-दूतों के कार्य (Consular activities) भी समाप्त हो जाते हैं और इन्हें देश छोड़कर जाने की अनुमति दी जाती है। किन्तु कई बार इन्हें स्वदेश नहीं लौटने दिया जाता और इनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। राजदूत के स्वदेश चले जाने पर उसका दूतावास किसी तटस्थ देश के प्रतिनिधि को सौंप दिया जाता है और यदि राजदूत कुछ कागज-पत्र छोड़ गया हो तो इन्हें मुहरबन्द कर दिया जाता है।

(२) **शत्रुदेश के व्यक्ति** (Persons of Enemy Country)—पहले युद्ध छिड़ते ही अपने देश में विद्यमान शत्रुदेश के समस्त प्रजाजनों को युद्धबन्दी बना लिया जाता था। किन्तु अब इस प्रथा में बहुत परिवर्तन आ गया है। आजकल शत्रुदेश के केवल उन्हीं प्रजाजनों को बन्दी बनाया जाता है, जिनसे शत्रु को महत्वपूर्ण सैनिक सूचना प्राप्त हो सकती हो या जो शत्रुसेना के वास्तविक अथवा सम्भावित सदस्य हों। इनके अतिरिक्त शत्रुदेश के सभी प्रजाजनों को निश्चित अवधि के भीतर देश छोड़कर चले जाने को कहा जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने १० अगस्त १९१४ तक ब्रिटिश प्रदेश में विद्यमान सभी जर्मन प्रजाजनों को स्वदेश छोड़कर जाने को कहा, ३ सितम्बर १९३९ के द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मन लोगों को ९ सितम्बर तक इंगलैण्ड से चले जाने का आदेश दिया गया। १८९७ में टर्की ने सब यूनानियों को १५ दिन के भीतर कुस्तुन्तुनिया खाली करने का नोटिस दिया था। बोअर युद्ध में १८९९ में ट्रांसवाल के शासकों ने वहाँ रहने का अनुमति-पत्र न प्राप्त करने वाले सभी शत्रुप्रजाजनों को अपने राज्य से निकाल दिया था।

हालैण्ड (Holland) ने यह बताया है कि युद्ध छिड़ने पर शत्रुप्रजाजनों को अपने प्रदेश से निकालने के सम्बन्ध में राज्यों का व्यवहार दो विरोधी नियमों द्वारा निश्चित होता है। पहला नियम शत्रुदेश के प्रजाजनों तथा उनकी सम्पत्ति को शत्रु-

मिला कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने आज यह घोषणा की है कि हम (भारत के साथ) लड़ रहे हैं (We are at war)। कराची में भारतीय दूत ने पाकिस्तान को यह बताया कि चूंकि दोनों देशों में से किसी एक देश ने दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध-घोषणा नहीं की, दूतावासों को बन्द करने की प्रार्थना नहीं की, अतः भारतीय दूतावास के कर्मचारियों पर ऐसी पाबन्दियाँ लगाना उचित नहीं हैं। किन्तु पाकिस्तान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। किन्तु युद्ध-विराम होने तक भारतीय दूतावास के कर्मचारी पाकिस्तान में ही बने रहे। (एशियन रिकार्डर, पृ० ६७४४-५)। इस संघर्ष में अयूब की उपर्युक्त घोषणा के बाद भी भारत सरकार दौत्य सम्बन्ध भंग न होने के कारण तथा विधिवत् युद्ध की घोषणा न होने के कारण यही मानती रही कि भारत पाकिस्तान की सरकार के साथ अथवा जनता के साथ लड़ाई नहीं कर रहा है, किन्तु भारतीय सेनाओं की कार्यवाही विशुद्ध रूप से उनकी रक्षा के लिये की जा रही है (एशियन रिकार्डर, पृ० ६६९०)। दिसम्बर १९७१ में भी पाकिस्तान ने बिना किसी युद्ध-घोषणा के भारत के साथ युद्ध छेड़ा, किन्तु जब भारत ने ६ दिसम्बर को बंगला देश को मान्यता दी तो इस्लामाबाद ने नई दिल्ली से दौत्य सम्बन्ध भंग कर दिया।

देश से अभिन्न समझता है, अतः युद्ध छिड़ने पर इन सबको बन्दी बनाना और सम्पत्ति को जब्त कर लेना उचित मानता है। दूसरा नियम यह है कि युद्ध राज्यों में होता है, न कि उनके प्रजाजनों में। अतः युद्ध छिड़ने पर उचित कारण न होने पर प्रजाजनों पर तथा उनकी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं है। वर्तमान समय में अधिकांश विधिशास्त्री दूसरा नियम ही सत्य मानते हैं। वैटल और ब्लंशली (Bluntschli) ने इसका समर्थन किया है। वैटल के कथनानुसार युद्ध की घोषणा करने वाला नरेश अपने प्रदेश में विद्यमान शत्रुदेश के प्रजाजनों को बन्दी नहीं बना सकता, उसे इनके अपने देश से बाहर चले जाने की तिथि निश्चित कर देनी चाहिये, उस तिथि के बाद अपने देश में रहने वाले व्यक्तियों को ही वह पकड़ सकता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय लड़ाई आरम्भ होने पर युद्धकारी देशों ने शत्रुप्रजाजनों को नजरबन्द रखने की नीति अपनाई थी। इनकी गतिविधि पर कड़ा निरीक्षण रखा जाता है, राज्य के लिये इन्हें बड़ा खतरनाक समझा जाता है। १९१७ में जर्मनी ने जब लूसीटानिया जहाज को डुबोया था तो ब्रिटिश प्रदेश में जर्मन लोगों के विरुद्ध रोष और प्रतिहिंसा की इतनी जबरदस्त लहर उत्पन्न हुई कि इंगलैंड में नजरबन्द जर्मन लोगों के प्राण संकट में पड़ गये। पहले विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस ने शत्रुदेशों के प्रजाजनों को नजरबन्द रखा, किन्तु सं० रा० अमरीका ने ऐसा नहीं किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी सं० रा० अमरीका ने बहुत थोड़े जर्मनों को सैनिक कारणों से नजरबन्द किया।

१९४९ में **युद्ध के समय में असैनिक व्यक्तियों की रक्षा का जेनेवा अभिसमय** (Convention on the Protection of the Civilian Persons in Time of War) बना, इसके अनुसार युद्ध आरम्भ होने पर या उसके बाद शत्रुप्रजाजनों को अपनी इच्छानुसार स्वदेश लौटने का अधिकार होना चाहिये, बशर्ते कि उनका जाना राज्य के हितों के प्रतिकूल न हो। उन्हें अपनी यात्रा के लिए आवश्यक धनराशि और वैयक्तिक सामान भी अपने साथ ले जाना चाहिए। शत्रुदेश के जो प्रजाजन युद्ध के समय किसी देश में रहना चाहें, उनके साथ शान्तिकाल में विदेशियों के साथ होने वाला व्यवहार किया जाना उचित है। यदि युद्ध के कारण उनकी नौकरी छूट गई है तो उन्हें अन्यत्र नौकरी करने की अनुमति दी जानी चाहिए। यदि उन्हें कोई नौकरी न मिले तो युद्धकारी देश द्वारा उनका भरणपोषण होना चाहिए। इन्हें युद्धसंचालन के साथ साक्षात् रूप से सम्बद्ध कोई कार्य करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। यदि किसी विदेशी को शत्रुप्रजाजन होने के कारण नजरबन्द किया जाता है तो उसे अपने मामले पर विचार के लिये न्यायालय के पास जाने का अधिकार होना चाहिए तथा नजरबन्दों के मामलों पर निश्चित अवधि के बाद पुनर्विचार होते रहना चाहिये। शत्रुदेश के प्रजाजन किसी भी सरकार का संरक्षण न रखने वाले शरणार्थियों से भिन्न हैं और उन्हें अपने शरीर और सम्मान की रक्षा के लिए, धार्मिक विश्वासों तथा पारिवारिक अधिकारों के लिए राज्य से संरक्षण पाने का पूरा अधिकार है। उनके साथ नस्ल के या राजनीतिक सम्मति के आधार पर भेदभाव का कोई व्यवहार नहीं होना चाहिए। उनसे

सूचना प्राप्त करने के लिए उनके साथ किसी प्रकार का शारीरिक बल-प्रयोग—यातना या शारीरिक पीड़ा देने अथवा क्रूरता के कार्य करने का दुर्व्यवहार नहीं होना चाहिये। उन्हें किसी प्रकार डराया या धमकाया जाना, मारा या पीटा जाना वर्जित है। विशेष अपराध न करने पर किसी ऐसे व्यक्ति को सामान्य रूप से दण्डित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटियों को अपना कार्य करने की पूरी सुविधायें होनी चाहिएँ। इन्हें नजरबन्दों को आवश्यक सहायता पहुँचाने का अधिकार होना चाहिए। इस अभिसमय में नजरबन्दों के स्थान, भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, डाक्टरी सहायता, आर्थिक और बौद्धिक कार्यों की स्वतन्त्रता, इनकी सम्पत्ति की सुरक्षा तथा मृत्यु की दशा में सम्पत्ति की व्यवस्था, इनकी मुक्ति, स्वदेश-प्रत्यावर्त्तन अथवा तटस्थ देशों में भेजने के विषय में विस्तृत नियम बनाये गये हैं। नजरबन्द करते समय एक परिवार के सब सदस्यों को एक ही स्थान पर रखना चाहिए, इन पर आश्रित व्यक्तियों के निर्वाह की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

(३) **व्यापारिक सम्पर्क की समाप्ति** (Dissolution of Commercial Relations)—दो देशों में युद्ध छिड़ने पर सामान्यतः दोनों देशों का व्यापारिक सम्पर्क और कानूनी सम्बन्ध या तो समाप्त हो जाता है अथवा युद्धकाल के लिए स्थगित हो जाता है। इस विषय में प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटिश तथा अमरीकन लेखकों का यह विचार था कि युद्ध छिड़ने पर व्यापारिक सम्पर्क स्वतः निषिद्ध हो जाता है और इसे विशेष अनुमति लेकर ही किया जा सकता है। सामान्यतः दोनों देशों के मध्य हुए सब ठेके और संविदायें समाप्त अथवा स्थगित हो जाती हैं। किन्तु जर्मन, फ्रेंच तथा इटालियन विधिशास्त्रियों का यह मत है कि युद्ध से सब सम्पर्क समाप्त नहीं होते, युद्धकारी देशों को यह अधिकार है कि वे अपनी विशेष आज्ञाओं द्वारा शत्रुओं के साथ व्यापार बन्द कर दें। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन ने १९१४ में **शत्रुओं के साथ व्यापार का अधिनियम** (Trading with Enemy Act) पास करके युद्धकाल में विशेष अनुमति के अतिरिक्त शत्रुदेशों के प्रजाजनों के साथ सारा व्यापारिक सम्बन्ध अवैध बना दिया। २७ सितम्बर १९१४ को फ्रांस ने एक राजकीय आदेश द्वारा शत्रुप्रजाजनों अथवा शत्रुदेश में रहने वाले सब व्यक्तियों के साथ व्यापार को निषिद्ध बना दिया। जर्मनी ने ३० सितम्बर १९१४ के एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य में रहने वाले व्यक्तियों को धन की अदायगी वर्जित ठहराई। सं० रा० अमरीका ने इस युद्ध में सम्मिलित होने पर अक्टूबर १९१७ में 'शत्रु के साथ व्यापार अधिनियम' द्वारा जर्मनी के साथ सारे व्यापारिक सम्बन्ध अवैध बना दिये। दूसरे विश्वयुद्ध में भी सब देशों ने ऐसे कानून बनाये।

(४) **संविदाओं पर प्रभाव** (Effect on Contracts)—लड़ाई छिड़ने से दो युद्धकारी देशों के सम्बन्ध भंग हो जाते हैं, अतः इन सम्बन्धों पर आधारित दोनों देशों के व्यक्तियों और कम्पनियों में हुए व्यापारिक समझौते, ठेके और संविदायें (Contracts) तथा सांविदिक (Contractual) सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाते हैं। साझेदारी के समझौते (Partnership Agreements) भंग हो जाते हैं। ट्राटर, कैम्पबैल और मैकनेयर ने

ब्रिटिश कानून में विभिन्न प्रकार की संविदाओं पर युद्ध छिड़ने के प्रभाव की विस्तृत मीमांसा की है । युद्ध शुरू होने से ठीक पहले तोड़े गये ठेके के सम्बन्ध में शत्रुदेश से सम्बद्ध पक्ष युद्ध के समय उस देश के न्यायालयों में कोई अभियोग नहीं चला सकते, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही उन्हें मामला चलाने का अधिकार मिल जाता है । इसी प्रकार परिसीमन या अवधि का कानून (Law of Limitations) युद्धकाल में स्थगित रहता है । किन्तु समुद्री तथा आग के बीमे की, एजेन्सी की, साझेदारी की तथा माल की बिक्री की संविदायें युद्ध छिड़ने के साथ समाप्त हो जाती हैं । ब्रिटिश कम्पनियों के जर्मन हिस्सेदार दोनों देशों में युद्ध छिड़ने पर अपना लाभांश नहीं ले सकते । १६१६-२० की तथा १६४६ की शान्ति-सन्धियों में युद्ध से पहले की गई संविदाओं के रद्द होने के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम बनाये गये थे ।

(५) शत्रुदेश में युद्धकारियों की सम्पत्ति (Belligerent Property in Enemy Country)—पहले युद्ध छिड़ते ही अपने देश में विद्यमान शत्रु की सार्वजनिक (Public) और वैयक्तिक (Private), चल और अचल सब प्रकार की सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी । किन्तु शनैः-शनैः इस अन्तर्राष्ट्रीय नियम का विकास हुआ कि अपने प्रदेश में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति को उस देश द्वारा जब्त करके राज्यसात् (Confiscate) नहीं किया जा सकता और न ही शत्रुप्रजाजनों के ऋणों को रद्द किया जा सकता है । वैयक्तिक सम्पत्ति के राज्यसात्करण का अन्तिम उदाहरण १७६३ में हुआ, इसके बाद १६वीं शताब्दी में ऐसी कोई घटना नहीं हुई । प्रथम विश्वयुद्ध में १६१४ में ब्रिटिश सरकार ने 'शत्रु के साथ ब्रिटिश व्यापार' (संशोधन) अधिनियम के अनुसार शत्रुसम्पत्ति का एक संरक्षक (Custodian) बनाया । इसका कार्य शत्रुप्रजाजनों को वैयक्तिक रूप से मिलने वाले लाभांशों को प्राप्त करना, इनका विनियोग करना तथा युद्ध के अन्त तक इन्हें सुरक्षित रखना था । १६३६ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर भी ग्रेट ब्रिटेन में इसी प्रकार का कानून बनाया गया । १६१६-२० की तथा १६४७ की शान्ति-सन्धियों में वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए अनेक व्यवस्थायें की गई थीं ।

शत्रु की सम्पत्ति (Enemy Property) पर युद्धारम्भ का प्रभाव तीनों रूपों में देखा जा सकता है—(क) स्वदेश में शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति (Enemy Public Property) । (ख) स्वदेश में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति (Enemy Private Property) । (ग) तटस्थ देशों में युध्यमान देशों की सम्पत्ति ।

(क) शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने प्रदेश में अथवा महासमुद्रों में जब्त और राज्यसात् किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, शत्रु के रणपोत तथा अन्य सार्वजनिक जहाज राज्यसात् किये जा सकते हैं, बशर्ते कि ये वैज्ञानिक अनुसंधान या निरीक्षण में, किसी धार्मिक या परोपकार के कार्य में अथवा हस्पताल के और घायलों की सेवा आदि के कार्यों में न लगे हों । सैनिक प्रयोजनों के उपयोग के लिए शत्रु की चल और अचल सार्वजनिक सम्पत्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है ।

(ख) शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्टार्क के मतानुसार राज्यों का

सामान्य व्यवहार यह है कि युद्धकारी राज्य अपने प्रदेश में इसका राज्यसात्करण (Confiscation) नहीं करते, जब्त करके अपनी सम्पत्ति नहीं बनाते, किन्तु इसका समपहरण (Sequestration) करते हैं अर्थात् कुछ समय के लिए स्थायी रूप से इसे अपने अधिकार में ले लेते हैं, युद्ध के बाद शान्ति-सन्धियों में इनके सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था की जाती है। ऊपर इस विषय में ब्रिटिश कानून और शान्ति-सन्धियों की चर्चा हो चुकी है। युद्धकारी देश को यह अधिकार है कि यह अपने प्रदेश से शत्रु को सैनिक लाभ पहुँचाने वाली गोला-बारूद तथा हथियारों की रण-सामग्री बाहर न जाने दे। यह वैयक्तिक रेल कम्पनियों की गाड़ियाँ, डिब्बे, इंजन आदि चलस्कन्ध (Rolling Stock) तथा सामान और व्यक्तियों की ढुलाई के अन्य साधनों को छीनकर इनका प्रयोग कर सकता है। किन्तु युद्ध की समाप्ति पर इस प्रकार छीनी हुई वैयक्तिक सम्पत्ति वापिस लौटानी पड़ती है और युद्ध के समय किये गये इनके उपयोग का मुआवजा देना पड़ता है। युद्धकारी राज्य शत्रुप्रजाजनों को चुकाये जाने वाले ऋणों की अदायगी युद्ध की समाप्ति तक स्थगित कर सकते हैं।

स्टार्क ने लिखा है[९] कि यह निश्चित नहीं है कि कोई ऐसा भी अन्तर्राष्ट्रीय नियम है, जिससे शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति का राज्यसात्करण (Confiscation) पूर्ण रूप से निषिद्ध हो। इस विषय में विधिशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। किन्तु शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में वैयक्तिक सम्पत्ति की तब तक लूट या राज्यसात्करण नहीं हो सकता, जब तक कि इसका युद्ध में तात्कालिक उपयोग न हो। अतः गोला-बारूद, हथियार एवं सेना द्वारा अधिकार करने के लिये अन्य आवश्यक सामग्री वैयक्तिक होते हुए भी शत्रु द्वारा छीनी जा सकती है। स्थल में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति को कुछ अधिक संरक्षण प्राप्त है, क्योंकि समुद्र में शत्रु के जहाजों को और माल को जब्त किया जा सकता है। किन्तु तटस्थ देशों के जहाजों पर लदा हुआ शत्रु का माल तब तक राज्यसात् नहीं हो सकता, जब तक कि यह युद्ध के प्रयोजनों के लिए उपयोगी न हो अथवा शत्रु द्वारा युद्ध के नियमों को बार-बार तोड़ने पर उससे प्रत्यपहार (Reprisals) के रूप में न छीना गया हो।

(ग) तटस्थ देशों में युद्धकारी देशों की सम्पत्ति (Belligerent Property in Neutral Countries) के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि यह परिग्रहण (seizure) से मुक्त है, किन्तु इस मुक्ति का दुरुपयोग सम्भव है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी और उसके साथियों ने शत्रुदेशों की सम्पत्ति लूटकर उसे सुरक्षित बनाने के लिये तटस्थ देशों में जमा करा दिया था। मित्रराष्ट्रों ने उस समय तटस्थ देशों को इस विषय में अनेक चेतावनियाँ दीं और हिटलर को हराने के बाद उन्होंने जर्मनी द्वारा स्वीडन और स्विट्ज़रलैण्ड में जमा की हुई सम्पत्ति को हस्थगत किया। सं० रा० अमरीका ने १९४१ में द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित होने से पूर्व ही जर्मनी तथा उसके अधिकृत तटस्थ देशों की सम्पत्ति का निश्चलन (Freezing of Assets) कर

९. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६३

दिया था, इसके अनुसार इस सम्पत्ति का प्रयोग किसी व्यापारिक प्रयोजन में नहीं हो सकता था। इस प्रकार जर्मनी, इटली, लिथुआनिया, लैटविया, इस्टोनिया की सं० रा० अमरीका में विद्यमान सभी सम्पत्ति निश्चलित कर दी गई।

(६) **सन्धियों पर प्रभाव** (Effect on Treaties)—न्यायाधीश कार्दोज़ो (Cardozo) ने लिखा है कि लड़ाई छिड़ने पर युद्धकारी देशों की संधियों पर इसके प्रभाव का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ। पुराने विधिशास्त्रियों के मतानुसार लड़ाई छिड़ते ही युद्धकारी देशों की सन्धियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। आधुनिक विधिशास्त्री इस विचार को नहीं मानते और राज्यों का व्यवहार भी इसके अनुकूल नहीं है। इसके अनुसार युद्धारम्भ के साथ कुछ संधियाँ अभिशून्य (Annul) या रद्द होती हैं, कुछ यथापूर्व बनी रहती हैं तथा कुछ संधियाँ स्थगित हो जाती हैं और शांति स्थापित होने पर पुनरुज्जीवित समझी जाती हैं।

इस विषय में कानून की इस अनिश्चित स्थिति के कारण कोई एकरूप नियम या सिद्धान्त निश्चित करना सम्भव नहीं है। कार्दोज़ो ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसी समस्याओं पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करता है, यह युद्ध की आवश्यकताओं के अनुसार संधियों का संरक्षण या अभिशून्यन (Annulling) करता है। स्टार्क ने इस विषय में दो कसौटियों का वर्णन किया है।[10] पहली कसौटी **कर्तृगत** (Subjective) है, इसमें सन्धि करने वाले देशों का इरादा देखा जाता है, क्या सन्धि करते समय उनका यह अभिप्राय था कि युद्ध छिड़ने पर भी इस सन्धि का पालन उनके लिए आवश्यक होगा? यदि सन्धि करते समय ऐसा इरादा था तो युद्धारम्भ के बाद भी यह सन्धि बनी रहेगी, अन्यथा यह सन्धि रद्द समझी जायेगी। दूसरी कसौटी **कर्मगत** (Objective) है। क्या इस सन्धि का पालन युद्ध संचालन के साथ संगत (Compatible) है? यदि यह संगत है तो सन्धि बनी रहेगी, अन्यथा यह सन्धि समाप्त हो जायेगी।

उपर्युक्त कसौटियों को लागू करते हुए तथा राज्यों के वर्तमान व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए स्टार्क ने इस विषय में कानूनी स्थिति का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप में किया है—(क) युद्धकारी देशों के दोनों पक्षों में सामान्य राजनीतिक कार्यवाही तथा उत्तम सम्बन्ध बनाये रखने पर बल देने वाली मैत्री संधियाँ (Treaties of Alliance) युद्धारम्भ के साथ समाप्त हो जाती हैं।

(ख) स्थायी व्यवस्था रखने वाली, हस्तान्तर (Cession) की तथा सीमायें निर्धारित करने वाली सन्धियों पर युद्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे युद्ध छिड़ने के बाद भी यथापूर्व बनी रहती हैं।

(ग) शत्रुतापूर्ण कार्यों (Hostilities) से युद्ध संचालन को तथा युद्ध के नियमों को निर्धारित करने वाले १८९९ तथा १९०७ के हेग-अभिसमयों जैसी सन्धियाँ युद्ध

१०. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६०-६१

छिड़ने के बाद भी पूर्ववत् बनी रहती हैं, क्योंकि इनका उद्देश्य ही युद्ध संचालन के नियम निश्चित करना है।

(घ) स्वास्थ्य, मादक द्रव्यों, औद्योगिक सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में अनेक देशों में किये गये बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Conventions) युद्ध छिड़ने पर रद्द नहीं होते। ये या तो युद्ध के समय में भी चालू रहते हैं या युद्धकाल तक स्थगित रहने पर युद्ध के बाद पुनरुज्जीवित हो जाते हैं।

(ङ) कई बार सन्धियों में स्पष्ट रूप से यह निर्देश रहता है कि युद्ध छिड़ने पर उनकी क्या स्थिति होगी। १९१९ के **हवाई यातायात अभिसमय** (Aerial Navigation Convention) के अनुच्छेद ६८ में यह व्यवस्था की गई थी कि युद्ध छिड़ने पर समझौता करने वाले देशों की स्वतन्त्रता पर युद्धकारी अथवा तटस्थ देशों के रूप में इसके कारण कोई प्रतिबन्ध नहीं लगेगा। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय था कि युद्ध के समय इस सन्धि का पालन स्थगित हो जायेगा। युद्धकाल में स्थगित होने वाली संधियों के पुनरुज्जीवन के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों में कुछ मतभेद है। अनेक विचारकों का यह मत था कि युद्धकाल में स्थगित होने वाली संधियाँ लड़ाई समाप्त होने पर स्वयमेव पुनरुज्जीवित हो जाती हैं। किन्तु अन्य विचारकों की यह धारणा है कि इनका पुनरुज्जीवन तभी होता है, जब शान्ति-संधियों में इसके लिये स्पष्ट व्यवस्था की जाय।

शत्रुरूपता या अरिप्रकृति (Enemy Character)—दो देशों में युद्ध छिड़ने पर युद्धकारी देश अपने शत्रुओं को तथा उनकी सम्पत्ति को हानि पहुँचाकर लड़ाई जीतने का प्रयत्न करते हैं। यह हानि केवल ऐसे व्यक्तियों तथा सम्पत्ति को पहुँचाई जानी चाहिए जो शत्रु समझे जाएँ अथवा जिन्हें शत्रु का रूप प्राप्त हो। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि युद्धकारी देश के प्रजाजनों को तथा उनकी सम्पत्ति को शत्रुरूपता या अरिप्रकृति प्राप्त हो जाती है, और तटस्थ देशों के प्रजाजनों और उनकी सम्पत्ति को यह नहीं प्राप्त होती। किन्तु इस नियम के अनेक महत्वपूर्ण अपवाद हैं, कई बार शत्रु-देश के प्रजाजनों को अरिरूपता प्राप्त नहीं होती और तटस्थ देशों के व्यक्तियों तथा सम्पत्ति को यह प्राप्त हो जाती है।

आपेनहाइम के मतानुसार यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद और अनिश्चित है क्योंकि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कोई सर्वसम्मत नियम नहीं हैं।[11] प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटिश तथा अमरीकन न्यायालयों द्वारा इस विषय में निर्धारित नियम फ्रांस तथा अन्य देशों के नियमों से भिन्न थे। १९०७ के हेग सम्मेलन में इस विषय में तय किये गये नियम ग्रेट ब्रिटेन ने कुछ शर्तों के साथ स्वीकार किये। इस प्रश्न पर विचार के लिए लन्दन में नौसैनिक सम्मेलन बुलाया गया। किन्तु यह सम्मेलन तथा हेग का अभिसमय इस विषय के पुराने विवादों का समाधान नहीं कर सका, मुख्य मतभेद इस प्रश्न पर था कि किसी व्यक्ति या माल की शत्रुरूपता अथवा तटस्थ होने की कसौटी राष्ट्रीयता (Nationality) होनी चाहिए या अधिवास (Domicile)। यहाँ व्यक्तियों,

११. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २६६

निगमों, कारपोरेशनों, जहाजों तथा माल के सम्बन्ध में यह विचार किया जायेगा कि इन्हें किन परिस्थितियों में शत्रु समझा जाता है, इनकी शत्रुरूपता की क्या कसौटियाँ हैं।

(क) व्यक्तियों की शत्रुरूपता (Enemy Character of Individuals)—इस विषय में सामान्य नियम यह है कि युद्धकारी देशों के प्रजाजन युद्ध छिड़ने पर शत्रु-रूप धारण करते हैं और तटस्थ देशों के प्रजाजनों को यह अरिप्रकृति प्राप्त नहीं होती। किन्तु तटस्थ देशों के व्यक्ति यदि एक युद्धकारी देश की सेना में भर्ती हो जाते हैं, उसके पक्ष में कुछ कार्य करते हैं, किसी युद्धकारी देश के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं तो इन्हें शत्रुरूपता प्राप्त हो जाती है। शत्रु होने की सबसे बड़ी और मुख्य कसौटी व्यक्ति की निष्ठा (Allegiance) या राजभक्ति है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध में यदि ब्रिटिश प्रजाजन होते हुए भी किसी की निष्ठा जर्मनी के प्रति है, तो वह ब्रिटेन का शत्रु समझा जाना चाहिए। In the King *v.* Superintendent of Vine Street Police Station (1916) के मामले में ब्रिटिश न्यायालय ने अल्फ्रेड लीबमान नामक व्यक्ति को विदेशी शत्रु घोषित किया, यद्यपि वह इंगलैण्ड में २६ वर्ष से निवास कर रहा था और उसने २५ वर्ष पूर्व जर्मन राष्ट्रीयता से मुक्ति पा ली थी।

१९३९ के **'शत्रु के साथ व्यापार करने के'** ब्रिटिश कानून में शत्रु का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'यह शत्रु के प्रदेश में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति है'। इस कानून में स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि केवल शत्रुप्रजाजन होने के कारण कोई व्यक्ति शत्रु नहीं समझा जायेगा। १९१७ के सं० रा० अमरीका के **'शत्रु के साथ व्यापार के कानून'** में शत्रु की निम्न परिभाषा की गई थी—(क) शत्रुप्रदेश में निवास करने वाला कोई भी राष्ट्रीयता रखने वाला कोई भी व्यक्ति, (ख) शत्रुदेश की सरकार, (ग) शत्रुदेश के नागरिक तथा प्रजाजन। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका में शत्रुत्व के लिए शत्रुप्रदेश में अधिवास (Domicile) को प्रधानता दी जाती है। किन्तु इसके विपरीत योरोपियन देशों में राष्ट्रीयता को महत्व दिया जाता है। १९४० के शत्रु के साथ व्यापार करने के जर्मन कानून में निवास की शर्त के साथ राष्ट्रीयता की शर्त को भी बहुत महत्व दिया गया था।

लारेन्स ने शत्रु समझे जाने वाले व्यक्तियों को उनके शत्रुत्व की मात्रा की दृष्टि से निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया है—(क) शत्रु की सेनाओं में लड़ने वाले व्यक्ति पूर्णरूप में शत्रु माने जाते हैं। (ख) शत्रु के व्यापारिक जहाजों को चलाने वाले नाविक। इनकी स्थिति शत्रुदेश के सैनिकों तथा असैनिक जनता की मध्यवर्ती होती है, १९०६ के हेग अभिसमय के अनुसार यदि ये इस बात की लिखित प्रतिज्ञा करते हैं कि युद्धकाल में ये अपना कार्य नहीं करेंगे तो इन्हें बन्दी रखने के बंधन से मुक्त किया जा सकता है। (ग) सेना से सम्बन्ध न रखते हुए भी सेना का अनुसरण करने वाले समाचारपत्रों के संवाददाता, रिपोर्टर, ठेकेदार, सेना को सामान देने वाले व्यक्ति पकड़े जाने पर युद्धबन्दी समझे जाते हैं।[१२] (घ) शत्रुदेश में निवास करने वाले तटस्थ देशों

१२. महाभारत (शान्तिपर्व ९७।१) **में सेना के साथ जाने वाले, उन्हें रसद पहुँचाने वाले व्यक्तियों के लिए महाजन शब्द का प्रयोग हुआ और इनको मारना अधर्म ठहराया गया है—**

की राष्ट्रीयता रखने वाले व्यक्ति भी अधिवास (Domicile) के कारण शत्रु समझे जाते हैं, बशर्ते कि वे युद्ध छिड़ जाने के बाद व्यापार के उद्देश्य से शत्रु के देश में रहें। ब्रिटिश तथा अमरीकन विधिशास्त्री अधिवास (Domicile) को बहुत महत्व देते हैं। एक विशेष इरादे से किसी स्थान पर देर तक निवास (Residence) करना अधिवास है। शत्रुदेश में व्यापार के इरादे से रहने वाले तटस्थ देशों के व्यक्ति भी शत्रु को सहायता देकर उसकी युद्ध करने की शक्ति को बढ़ाते हैं, अतः इन्हें शत्रु समझा जाना चाहिए। (ङ) शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में निवास करने वाले व्यक्ति उस समय तक शत्रु समझे जाते हैं, जब तक कि उस प्रदेश पर शत्रु का अधिकार रहता है। (च) तटस्थ देशों में अधिवास रखने वाले ऐसे व्यक्ति शत्रु समझे जाते हैं, जो शत्रुदेश के साथ व्यापार करते हों।

(ख) निगमों की शत्रुरूपता (Enemy Character of Corporations)—व्यापार करने वाली कम्पनियों और निगमों के शत्रुरूप का निर्धारण करने की दो बड़ी कसौटियाँ उनकी रजिस्ट्री (Incorporation) का आदेश या अधिवास (Domicile) तथा नियन्त्रण हैं। शत्रुदेश में स्थापित होने वाली तथा वहाँ अपनी रजिस्ट्री कराने वाली कम्पनी या निगम के शत्रु होने में कोई संदेह नहीं है। किन्तु कोई कम्पनी शत्रु या शत्रुदेश के साथ व्यापार करती है तो उसे भी शत्रु समझा जाता है। निगम के शत्रु होने की दूसरी कसौटी उसका नियन्त्रण है। इसके एक देश में रजिस्ट्री होने पर भी यदि इसको नियन्त्रित करने वाली शक्ति शत्रुदेश में है तो इसे शत्रु समझा जायेगा। इस नियम का सुस्पष्ट प्रतिपादन Daimler Co. Ltd. *v.* Continental Tyre and Rubber Co. Ltd. (1916) के मामले में हुआ था।

इस मामले की **काण्टिनैण्टल टायर और रबर कम्पनी** १६०५ में ग्रेट ब्रिटेन में बनायी गयी थी, इसका रजिस्टर्ड कार्यालय लंदन में था, किन्तु इसके सब संचालक जर्मन थे तथा इसके लगभग सभी हिस्से जर्मन प्रजाजनों द्वारा खरीदे गये थे। इस कम्पनी को डैमलर कम्पनी से कुछ रुपया लेना था। उसकी वसूली के लिये इसने उस कम्पनी पर मुकद्दमा चलाया, उसने अपनी सफाई में यह कहा कि ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्ट्री

अपयानेन युद्धे न राजा हन्ति महाजनम् ॥ नीलकण्ठ की टीका—महाजनं कटकाश्रितं वैश्यादिजनम् ॥ इसी प्रकार शान्तिपर्व (१००।२८) में घोड़ों के लिए घास लाने वाले घसियारों या बहिश्चरों (बहिस्तृणाद्यर्थं चरतो बहिश्चरान्—नीलकण्ठी टीका) को भी अवध्य कहा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सेना के साथ जाने वाले, किन्तु असैनिक कार्य (विष्टिकर्म) करने वाले व्यक्तियों के निम्न प्रकार बताये गये हैं—(क) शिविर, मार्ग, पुल, कुएँ तथा घाट ठीक स्थिति में रखने वाले। (ख) यंत्र, शस्त्रास्त्र, कवच तथा अन्यान्य युद्धोपयोगी सामग्री एवं खाद्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने वाले। (ग) युद्धभूमि में छोड़े हुए शस्त्रास्त्र और कवचों का संग्रह करने वाले, शत्रु के शस्त्रास्त्रों से घायल योद्धाओं को अन्यत्र पहुँचाने वाले। (१०।४—शिविरमार्गसेतुकूपतीर्थशोधनकर्मं यन्त्रायुधावरणोपकरणग्रासवहनमायोधनाच्च प्रहरणवरणप्रतिविद्धापनयनमिति विष्टिकर्माणि)। रामायण (अयोध्याकाण्ड ७६।८०) में सेना के साथ जाने वाले खनक (खाई आदि खोदने वालों), यंत्रकों (इंजीनियरों), पेड़ काटने वालों (वृक्षतक्षक), द्रष्टाओं (देखभाल करने वालों) का उल्लेख है। ये सब महाभारत की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार महाजन तथा अवध्य हैं।

होने पर भी इसके संचालक जर्मन होने के कारण यह शत्रु है और १९१४ के 'शत्रु के साथ व्यापार कानून' के अनुसार वे शत्रु को कोई अदायगी नहीं कर सकते। लार्ड पार्कर ने डैमलर कम्पनी के हक में फैसला देते हुए इसमें निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—(क) किसी निगम या कम्पनी का शत्रुरूप इस बात से निश्चित होता है कि उसका नियन्त्रण करने वाले शत्रुदेश में रहते हैं, अथवा शत्रुदेश में रहते हुए भी शत्रु का अनुसरण करते हैं, उससे आदेश ग्रहण करते हैं या उसके नियन्त्रण में कार्य करते हैं। (ख) ग्रेट ब्रिटेन में स्थापित हुई कम्पनी केवल यहाँ बनने के कारण से मित्र नहीं हो सकती। कम्पनी अपने अभिकर्त्ताओं (Agents) द्वारा कार्य करती है। यह युद्धकाल में उस दशा में शत्रुरूप धारण करती है, जब ये शत्रुदेश में रहते हों या शत्रु-हिस्सेदारों के आदेश के अनुसार कार्य करते हों। (ग) वैयक्तिक हिस्सेदारों के स्वरूप से कम्पनी का स्वरूप नहीं निर्धारित होता। किन्तु यह इस बात से निश्चित होता है कि इस कम्पनी का वास्तविक नियन्त्रण करने वाले व्यक्ति शत्रुओं से आदेश ले रहे हैं या शत्रुओं के नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं। (घ) ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्टर्ड होने वाली कम्पनी यदि तटस्थ देश के साथ यहाँ अथवा उन देशों में रहने वाले एजेण्टों द्वारा व्यापार करती है, तो ऊपरी दृष्टि से यह मित्र समझी जा सकती है; किन्तु यह इसका वास्तविक नियन्त्रण करने वाले एजेण्टों के कारण शत्रुरूप भी धारण कर सकती है। (ङ) ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्ट्री कराने वाली कम्पनी यदि शत्रुदेश के साथ व्यापार करती है तो इसे शत्रु समझना चाहिये।

डैमलर के मामले में उपर्युक्त सिद्धान्तों को १९४३ में हाउस आफ लार्डस ने सौफ्राख्ट (Saufracht) के मामले में पुनः पुष्ट किया। यह कम्पनी तटस्थ देश हालैण्ड में बनी थी, इसके संचालक वहीं रहते थे। किन्तु विश्वयुद्ध में जर्मनी ने हालैण्ड पर अधिकार कर लिया, इस कम्पनी पर जर्मन नियन्त्रण स्थापित हो गया अतः ग्रेट ब्रिटेन द्वारा इसे शत्रुरूपता प्राप्त हुई। १९३९ के **शत्रु के साथ व्यापार के कानून** में शत्रुता निर्धारण करने के लिये रजिस्ट्री और नियन्त्रण की दोनों कसौटियों को आवश्यक माना गया है। फ्रेंच न्यायालयों ने प्रथम विश्वयुद्ध में यह कहा था कि उन्हें यह अधिकार है कि वे मामले की तह तक जाकर यह निश्चय करें कि कोई कम्पनी वास्तव में फ्रेंच है या केवल दिखावे के तौर पर ऐसी है। १ सितम्बर १९३९ के फ्रेंच आदेश में रजिस्ट्री और नियन्त्रण की दोनों कसौटियाँ स्वीकार की गयी हैं।

(ग) जहाजों की शत्रुरूपता (Enemy Character of Ships)—इनके सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि इनका स्वरूप इनकी ध्वजा (Flag) से निश्चित होता है। यदि इन पर शत्रुदेश की ध्वजा फहरा रही हो तो ये शत्रु समझे जायेंगे। किन्तु यदि इन पर तटस्थ देश की ध्वजा हो तो ये शत्रु नहीं समझे जायेंगे। १९०९ में इस सामान्य नियम की पुष्टि **लन्दन की घोषणा** ने भी की। इसके अनुच्छेद ५७ के अनुसार जहाज की शत्रुरूपता की कसौटी उस पर वैध रूप से फहरायी जाने वाली ध्वजा थी। १९१४ का युद्ध छिड़ते ही ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इस नियम को स्वीकार किया, किन्तु जर्मनी ने इस व्यवस्था का अनुचित रीति से बहुत लाभ उठाया। उस

समय सं० रा० अमरीका तटस्थ देश था, इसके बहुत से जहाज-मालिकों ने जर्मन पूँजी की सहायता से नये जहाज खरीदे और इन पर अमरीकी झण्डा लगाकर जर्मनी को माल भेजने लगे। इन पर तटस्थ देश की ध्वजा होने के कारण लन्दन सम्मेलन के उपर्युक्त निर्णय के अनुसार इन्हें शत्रु होने के कारण रोका या पकड़ा नहीं जा सकता था। इससे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस को यह निश्चय हो गया कि लन्दन सम्मेलन में स्वीकृत की हुई उपर्युक्त व्यवस्था का उन्हें परित्याग करना चाहिये, अतः ग्रेट ब्रिटेन ने २० अक्टूबर १६१५ के एक सरकारी आदेश में उपर्युक्त व्यवस्था के निराकरण (Abrogation) की घोषणा करते हुए यह कहा कि वह इस विषय में पुरानी ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण करेगा। फ्रांस ने भी नीति में इसी प्रकार का परिवर्तन किया। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) ने The St. Tudno के मामले में ब्रिटिश ध्वजा फहराने वाले किन्तु जर्मन स्वामित्व रखने वाले तथा The Harnborm के मामले में तटस्थ देश का झण्डा फहराने वाले जहाज के बारे में सूक्ष्म विचार करते हुए यह निर्णय दिया—"अधिग्रहण कानून (Prize Law) का यह निश्चित नियम है कि अधिग्रहण न्यायालय बाह्यरूपों और प्रावैधिकताओं (Forms and Technicalities) के पीछे छिपे हुए तथ्यों और वास्तविकताओं की तह तक जायेंगे। इसका यह अर्थ है कि जहाज के स्वामी तो उनके द्वारा चुने गये झण्डे के नियमों से बंधे हुए हैं, किन्तु इन्हें पकड़ने वाले उस झण्डे के नियमों से बंधे हुए नहीं हैं।"

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि तटस्थ देश का झण्डा लगाने वाला जहाज यदि वस्तुतः शत्रु को सहायता पहुँचा रहा है तो उसे शत्रुरूप प्राप्त हो जायेगा।

ओपेनहाइम के कथनानुसार तटस्थ देश के झण्डे वाला पोत निम्न दशाओं में शत्रुरूप प्राप्त करता है।[१३]—(क) लंदन-घोषणा के अनुच्छेद ४६ के अनुसार ऐसे जहाजों को लड़ाई के कार्यों में सीधा भाग लेने से शत्रुसरकार द्वारा नियत किये एजेण्ट के नियन्त्रण में होने से, शत्रुसरकार की अनन्य रूप में सेवा करने से, शत्रु की सेनाओं के परिवहन से अथवा शत्रु को सूचना देने का माध्यम होने से शत्रु समझा जाता है। (ख) यदि यह इसके निरीक्षण और तलाशी लेने के वैध अधिकार के प्रयोग का प्रतिरोध करता है, तो भी इसे शत्रुरूपता प्राप्त होती है। (ग) ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका और जापान के व्यवहार तथा आचरण के अनुसार ऐसे तटस्थ पोतों को भी शत्रुरूपता प्राप्त होती है, जो **१७५६ के नियम** का उल्लंघन करते हैं। इस नियम के अनुसार युद्ध के समय में कोई भी दूसरा देश उस प्रदेश में व्यापार नहीं कर सकता जिसके व्यापार का अधिकार युद्ध छिड़ने से पहले कोई देश केवल अपना झण्डा फहराने वाले जहाजों के लिये सुरक्षित समझता था। (घ) तटस्थ देश की ध्वजा फहराने पर भी यदि उस जहाज के स्वामियों में से कुछ शत्रुदेश के हैं तो इसे शत्रुरूप प्राप्त हो जायेगा।

तटस्थ देश के जहाज को शत्रुरूप प्राप्त होने पर उसके सम्बन्ध में निम्न नियम लागू होते हैं—(क) इस पर लदा हुआ शत्रु का सारा माल राज्यसात् (confiscate)

१३. ओपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० २७८-९

किया जा सकता है, भले ही वह जब इस पर लादा गया हो उस समय यह जहाज वस्तुतः तटस्थ रहा हो। (ख) इस पर लदा हुआ सारा माल शत्रु का समझा जायेगा, तटस्थ देशों के माल के मालिकों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे इसके तटस्थ रूप सिद्ध को करें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो यह शत्रु का माल माना जायेगा।

(घ) नौपण्य की शत्रुरूपता (Enemy Character of Cargo)—जहाजों पर लदे हुए सामान या नौपण्य की शत्रुरूपता के सम्बन्ध में विभिन्न देशों के नियमों में एकरूपता नहीं है। हालैण्ड ने तटस्थ देश होने के कारण अपने लाभ की दृष्टि से इस विषय में १६५० से अन्य देशों के साथ ऐसी संधियाँ कीं, जिनके अनुसार तटस्थ या स्वतन्त्र देशों के जहाजों पर लदा हुआ माल स्वतन्त्र अर्थात् युद्धकारी देशों द्वारा न पकड़ा जाने वाला समझा जाय, दूसरे शब्दों में तटस्थ देशों के जहाजों का माल युद्ध-काल में न छीना जाय। इसे **'स्वतन्त्र जहाज और स्वतन्त्र माल'** (Free ships, Free goods) का सिद्धान्त कहते हैं, किन्तु इसे मनवाने के लिये उसे इसका विरोधी सिद्धान्त **शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ माल शत्रु का होता है** (Enemy ships, Enemy goods) भी मानना पड़ा। इसके अनुसार शत्रु के जहाज पर लदा हुआ सारा माल युद्धकारी देश द्वारा आत्मसात् किया जा सकता था, भले ही उस पर किसी तटस्थ देश का स्वामित्व हो।

इसके विपरीत तत्कालीन प्रधान सामुद्रिक शक्ति ग्रेट ब्रिटेन ने इस विषय में Consolato del mare (देखिये ऊपर पृ० ३३) के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का अनुसरण किया। इसके अनुसार जहाज पर लदे माल के पकड़े जाने की कसौटी जहाज का झण्डा नहीं, किन्तु माल का स्वामित्व था, यदि इस माल के स्वामी तटस्थ देशों के व्यक्ति हैं, तो शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ भी यह माल नहीं पकड़ा जा सकता था और यदि शत्रु का माल तटस्थ देशों के जहाजों पर लदा हुआ है तो इसे छीना जा सकता था। यह नियम उपर्युक्त डच सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल था, किन्तु अधिक न्यायपूर्ण और तर्कसंगत होने से शनैः-शनैः लोकप्रिय और सर्वमान्य होने लगा। सं० रा० अमरीका ने इसे स्वीकार किया। प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने Nereide के मामले में १८१५ में यह घोषणा की कि संयुक्त रा० अमरीका ने असंदिग्ध रूप से यह मान लिया है कि "एक मित्र के जहाज में लदा हुआ शत्रु का माल युद्ध में छीना जा सकता है तथा शत्रु के जहाज में लदा हुआ मित्र का माल (छीना जाने पर भी) मित्र को लौटा देना चाहिये।" क्रीमिया युद्ध की समाप्ति पर १८५६ की **पेरिस की घोषणा** द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने यह स्वीकार किया कि 'तटस्थ देश के झण्डे वाले जहाज में युद्ध की विनिषिद्ध (contraband) वस्तुओं के अतिरिक्त शत्रु का सामान जा सकता है और युद्ध में विनिषिद्ध सामग्री के अलावा तटस्थ देशों के माल को शत्रु का झण्डा फहराने वाले जहाज पर लदा होने पर भी नहीं पकड़ा जा सकता।"

वर्तमान समय में आपेनहाइम के मतानुसार सामान्य रूप से यह माना जाता है[१४] कि किसी माल की शत्रुरूपता उसके मालिकों की शत्रुरूपता पर निर्भर है। यदि

१४. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० २८१

किसी नौपण्य का स्वामी शत्रु है तो यह माल शत्रु का समझा जायेगा। व्यक्तियों को शत्रु समझने की कसौटी के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण माल की शत्रुरूपता में भी यह मतभेद है। प्रधान रूप से इस विषय में दो पक्ष हैं :—

(१) व्यापारिक अधिवास (Commercial Domicile)—ब्रिटिश तथा अमरीकन व्यवहार के अनुसार किसी व्यक्ति का शत्रुदेश में अधिवास उसे शत्रुरूप प्रदान करता है, अतः शत्रुदेश में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों का माल शत्रु का माल समझा जाता है, शत्रु देश में न रहने वाले व्यक्तियों का माल शत्रुरूप नहीं धारण करता। इस कारण तटस्थ देशों में रहने वाले शत्रुप्रजाजनों का माल शत्रुरूप नहीं प्राप्त करता, किन्तु शत्रु के देश में रहने वाले तटस्थ राज्यों के प्रजाजनों का माल शत्रुरूप धारण करता है। इसी तरह एक युद्धकारी देश के जो प्रजाजन दूसरे युद्धकारी देश में बसे होते हैं, युद्ध छिड़ने पर भी उस देश में बने रहते हैं, उनका माल दूसरे देश की दृष्टि में शत्रु का समझा जाता है। एक तटस्थ देश के प्रजाजन द्वारा शत्रुदेश में स्थापित की हुई व्यापारिक कम्पनी शत्रु मानी जाती है, इसका स्वामी भले ही शत्रुदेश से बाहर रहता हो, किन्तु व्यापारिक अधिवास (Commercial Domicile) के कारण शत्रुदेश में ही समझा जाता है।

(२) राष्ट्रीयता—फ्रांस तथा अनेक योरोपियन राज्य अधिवास को महत्वपूर्ण न मानते हुए राष्ट्रीयता को ही कसौटी मानते हैं। इनके अनुसार माल के मालिक की राष्ट्रीयता (Nationality) यह निश्चित करती है कि माल को शत्रुरूपता दी जाय या न दी जाय। अतः शत्रु के व्यापारिक जहाजों पर लदे हुए माल में से केवल उसी माल को शत्रुरूपता प्रदान होती है, जिसके स्वामी शत्रुदेश के प्रजाजन हों, भले ही ये तटस्थ देशों में रहते हों, किन्तु शत्रुदेश के नागरिक होने के कारण इनका माल शत्रु का ही समझा जाना चाहिये। शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ तटस्थ राज्यों के प्रजाजनों का माल शत्रुरूप नहीं प्राप्त करता, भले ही ये शत्रुदेश में निवास करते हों।

बाईसवाँ अध्याय

स्थल युद्ध के नियम

(Laws of Land Warfare)

युद्ध के नियमों का विकास (Development of Laws of War)—युद्ध आरम्भ होने पर दोनों पक्षों का ध्येय शक्ति के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय पाना होता है, किन्तु शक्ति का प्रयोग मनमानी रीति से नहीं किया जा सकता। यद्यपि पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले राज्यों को यथेच्छ बलप्रयोग का अधिकार है, फिर भी वे शत्रु को हराने के लिए बलप्रयोग में कुछ मर्यादाओं का पालन आवश्यक समझते हैं। बलप्रयोग की ये मर्यादायें ही युद्ध के नियम कहलाती हैं। महाभारत में इनका विचार न रखने वालों को दस्यु और डाकू कहा गया है।[1] कुछ विधिशास्त्री इन्हें युद्ध के कानून (Laws of War) कहते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने १९४९ की अपनी पहली रिपोर्ट में इस शब्द के परित्याग का सुझाव दिया है, अतः इन्हें सैनिक बलप्रयोग के नियम कहना ही ठीक है। यदि इन नियमों का पालन न किया जाय तो युद्ध में बर्बरता और पाशविकता की कोई सीमा न रहेगी।

युद्ध के नियमों का विकास शनैः-शनैः हुआ है। प्राचीन भारत के युद्धविषयक नियमों का संक्षिप्त उल्लेख पहले हो चुका है (पृ० २०)[2]। योरोप में इनका विकास मध्ययुग में ईसाइयत से तथा शौर्य (Chivalry) के विचार से हुआ। आपेनहाइम के

१. महाभारत शान्तिपर्व १००।३, निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः।

२. इस विषय में कुछ अन्य प्रमाण निम्नलिखित हैं: महाभारत शान्तिपर्व (९५।११) में इस पर बल दिया गया है कि व्यक्ति को युद्ध के धर्मानुकूल सिद्धान्तों के अनुसार लड़ना चाहिये, न कि क्रोध और हत्या की भावनाओं से प्रेरित होकर (यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुध्येत जिघांसतः)। वस्तुतः युद्ध के नियमों की इससे सुन्दर कसौटी नहीं हो सकती कि उसमें क्रोध और हिंसा की भावना नहीं होनी चाहिये। गीता (२।३१) में यह कहा गया है कि क्षत्रिय के लिए धर्म्य युद्ध (Just War) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है (धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते), प्राचीन भारतीय शत्रु के विरुद्ध शक्ति के अत्यधिक अमर्यादित प्रयोग को अनुचित समझते थे। शान्तिपर्व (९६।१५) में कहा गया है कि शत्रु को न तो धोखा देना चाहिये और न ही अत्यधिक प्रहारों से उसका छेदन करना चाहिये, ऐसे प्रहारों से उसकी मृत्यु हो सकती है (नामित्रो विनिकर्त्तव्यो नातिच्छेद्यः कथंचन। जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजेच्च कदाचन।) यह हेग सम्मेलन में तय किये गये इस सिद्धान्त से गहरा साम्य रखता है कि शत्रु के विरुद्ध शक्ति का इतना ही प्रयोग किया जाना चाहिये कि वह उसके प्रतिरोध की शक्ति को समाप्त कर दे।

मतानुसार तीन सिद्धान्तों ने इन नियमों का स्वरूप निर्धारण करने में बड़ा भाग लिया।[3] **पहला** सिद्धान्त यह है कि युद्धकारी देश शत्रु को परास्त करने के लिए किसी भी मात्रा और प्रकार में बल का प्रयोग कर सकता है। **दूसरा** सिद्धान्त मानवीयता (Humanity) का है, इसके अनुसार बल का ऐसी मात्रा में तथा ऐसे रूपों में प्रयोग नहीं करना चाहिए, जो शत्रु को हराने के लिए आवश्यक न हो। **तीसरा** सिद्धान्त शौर्य (Chivalry) है, भारतीय परिभाषा में इसे क्षात्र धर्म कह सकते हैं। इसके अनुसार शत्रु को चेतावनी देकर, उसके साथ न्यायोचित व्यवहार करते हुए लड़ाई करनी चाहिए, धोखाधड़ी और धूर्त्तता से विजय नहीं प्राप्त करनी चाहिए। महाभारत के शब्दों में धर्मपूर्वक लड़ते हुए मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु पापकर्म से विजय प्राप्त करना अच्छा नहीं है।[4] इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप आजकल युद्ध में असैनिक व्यक्तियों की हत्या, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार, संहारक गैसों का प्रयोग, नाविकों की सुरक्षा किए बिना व्यापारिक जहाजों का डुबाना गर्हणीय कार्य समझे जाते हैं।

१६वीं शताब्दी के मध्य से विभिन्न देश युद्ध के नियमों को विभिन्न संधियों, समझौतों और घोषणाओं द्वारा स्वीकार करने लगे हैं। इस विषय में महत्वपूर्ण समझौते निम्नलिखित हैं—(१) १६ अप्रैल १८५६ की **पेरिस की घोषणा** (देखिये ऊपर पृ० ५०)। (२) २२ अगस्त १८६४ का **जेनेवा का अभिसमय**—यह रणक्षेत्र में घायल होने वाले सैनिकों की दशा में सुधार करने के सम्बन्ध में था। पहले इस पर नौ राज्यों ने हस्ताक्षर किए, किन्तु बाद में अन्य राज्य भी सम्मिलित हुए। इस विषय में दूसरा **जेनेवा समझौता** ६ जुलाई १९०६ को ३५ राज्यों ने किया। (३) ११ दिसम्बर १८६८ की **सैण्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा**—इसमें ४०० ग्राम (१४ औंस) से कम भार के, विस्फोटक अथवा ज्वलनशील पदार्थों से भरे अग्निबाणों (Projectiles) के प्रयोग का निषेध किया गया था। इस पर १७ राज्यों ने हस्ताक्षर किये। (४) हेग की १८६६ की पहली शान्ति परिषद् ने **स्थल युद्ध के नियमों का अभिसमय** तैयार किया। १९०७ में इसका संशोधन हेग की दूसरी शान्ति परिषद् ने किया। (५) **दमदम गोलियों के निषेध की हेग घोषणा**—ये गोलियाँ लगने पर फैल जाती हैं और शरीर में नुकीले लम्बे घाव करती हैं, इनका यह नामकरण कलकत्ता के निकट दमदम के शस्त्र बनाने के कारखाने में इन का निर्माण होने के आधार पर किया गया है। (६) गुब्बारों से फैंके जाने वाले विस्फोटक द्रव्यों के विषय में **हेग घोषणा**। (७) दम घोटने वाली श्वासरोधी (Asphyxiating) या हानिप्रद गैसों के प्रयोग के निषेध की **हेग घोषणा**। (८) समुद्री लड़ाई के सम्बन्ध में सं० ४ में ऊपर बताये हेग अभिसमय के नियमों को लागू करने वाला हेग अभिसमय। (९) १९०७ का **लड़ाई आरम्भ** करने के विषय में हेग अभिसमय। (१०) १९०७ का युद्धारम्भ के समय **शत्रु के व्यापारिक जहाजों का स्थिति** सम्बन्धी हेग समझौता। (११) १९०७ का **व्यापारिक जहाजों को रणपोतों** में परिवर्तित करने का हेग

३. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ २२७

४. महाभारत शान्तिपर्व ९५।१७ धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

अभिसमय। (१२) स्वयंचालित समुद्रान्तर्वर्त्ती संस्पर्शी सुरंगों (Automatic submarine contact mines) का हेग अभिसमय। (१३) युद्ध के समय नौसेनाओं द्वारा बमबारी-विषयक १९०७ का हेग अभिसमय। (१४) समुद्री युद्ध में निग्रह के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्धों के विषय में १९०७ का हेग समझौता। (१५) तटस्थ शक्तियों और व्यक्तियों के स्थलीय और समुद्री युद्ध के विषय में अधिकारों और कर्त्तव्यों के १९०७ के हेग समझौते। (१६) श्वासरोधी विषैली तथा अन्य गैसों के प्रयोग को वर्जित ठहराने वाला १९२५ का प्रोतोकोल। (१७) बीमारों और घायलों के साथ तथा युद्धबन्दियों के साथ किये जाने वाले व्यावहारविषयक १९२९ के जेनेवा अभिसमय। (१८) व्यापारिक जहाजों के विरुद्ध पनडुब्बियों के प्रयोग के बारे में १९३६ का लन्दन प्रोतोकोल। (१९) १९४९ में जेनेवा में निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में किए गए रेडक्रास के चार अभिसमय—(क) युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार, (ख) रणक्षेत्र में आहतों तथा बीमारों की दशा सुधारना, (ग) समुद्री युद्ध में घायल, बीमार तथा जहाज नष्ट हो जाने पर नाविकों की दशा सुधारना, (घ) युद्धकाल में असैनिक व्यक्तियों की रक्षा। ये अभिसमय बहुत विशद हैं और इनसे युद्ध के नियमों का बहुत अंशों में संहिताकरण (Codification) सम्पन्न हुआ है।

नियमों का पालन (Observance of Laws)—उपर्युक्त नियमों के पालन के सम्बन्ध में दो प्रधान आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। **पहली आपत्ति** कुछ जर्मन लेखकों का यह विचार है कि सैनिक आवश्यकता का यह तकाजा है कि युध्यमान देशों के कार्यों पर कोई मर्यादा नहीं होनी चाहिए, राज्य की सुरक्षा युद्ध के नियमों के पालन से अधिक महत्वपूर्ण है, अतः सभी प्रकार की हिंसा का प्रयोग अमर्यादित रूप में किया जा सकता है। एक जर्मन कहावत है—Kriegsraeson geht vor Kriegsmaneer अर्थात् युद्ध की आवश्यकता युद्ध के प्रकार पर हावी होती है, आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का कोई भी क्रूर कार्य किया जा सकता है, इसमें औचित्य-अनौचित्य का विवेचन व्यर्थ है। अंग्रेजी की कहावत है कि युद्ध और प्रेम में सभी कुछ उचित होता है (All is fair in love and war)।

किन्तु यह दृष्टिकोण अधिकांश विधिशास्त्रियों द्वारा भ्रान्तिपूर्ण समझा जाता है। हेग नियमों के अनुच्छेद २२ में यह व्यवस्था है कि युध्यमान देशों का शत्रु को हानि पहुँचाने का अधिकार असीम या अमर्यादित नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में कुछ ऐसे परम्परागत नियम हैं, जिन्हें राज्यों ने विभिन्न संधियों द्वारा स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, युद्ध में विष एवं विषैले हथियारों का प्रयोग, शत्रु के सैनिकों को धोखे से मारना या घायल करना वर्जित है। कैसी भी सैनिक आवश्यकता क्यों न हो, इन साधनों का प्रयोग निषिद्ध ही समझा जाना चाहिए। १९४५ में Paleus के मामले में एक ब्रिटिश न्यायालय ने सैनिक आवश्यकता की युक्ति को स्वीकार नहीं किया था। इस मामले में एक जर्मन पनडुब्बी के सेनापति ने एक व्यापारी जहाज डुबाने के बाद उसके एक तख्ते से चिपटकर तैरने वाले व्यक्तियों को मशीनगन से इसलिए भून डाला कि जहाज को डुबाने के प्रत्येक चिह्न को नष्ट कर दिया जाय ताकि पनडुब्बी का पीछा न किया जा

सके। जर्मन सेनापति ने इस जघन्य कार्य का समर्थन सैनिक आवश्यकता और आत्म-संरक्षण के आधार पर किया; किन्तु न्यायालय ने इसे अस्वीकार करते हुए यह कहा कि उसे ऐसा कोई अधिकार नहीं था। वह आत्मरक्षा के लिए केवल यही कर सकता था कि डुबाने वाली जगह से शीघ्रातिशीघ्र भाग जाता। १९४७ में Milch के मामले में न्यूरेम्बर्ग के अमरीकन सैनिक न्यायाधिकरण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इसका निराकरण करते हुए कहा था—"ये नियम और रिवाज युद्ध की सभी अवस्थाओं के लिए विशेष-रूप से बनाए गए हैं।"

दूसरी आपत्ति 'सामान्य भागग्रहण धारा' (General Participation Clause) की है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले किये गए अनेक हेग अभिसमयों में उपर्युक्त धारा है और इसमें यह व्यवस्था है कि इस समझौते के नियमों का पालन तभी आवश्यक होगा, जब सभी युध्यमान देशों ने इन समझौतों पर हस्ताक्षर किये हों। इसका परिणाम यह था कि युद्ध छिड़ने पर यदि केवल एक देश ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये तो यह समझौता लागू नहीं होता था।

किन्तु ब्रिटिश न्यायालयों ने यह स्थिति कभी स्वीकार नहीं की। वार्ड सुमनेर ने Blorde and other ships (१९२२) के मामले में उपर्युक्त व्याख्या को अस्वीकार किया। १९४६ में न्यूरेम्बर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस सम्बन्ध में यह कहा था कि "हेग के अभिसमय द्वारा बताए गए स्थलयुद्ध के नियम इन्हें अंगीकार करने के समय निश्चित रूप से यह सूचित करते थे कि ये तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून से आगे बढ़े हुए हैं।···१९३९ तक ये कानून सब सभ्य देशों द्वारा स्वीकार किये जा चुके थे।" इस कारण न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यद्यपि १९०७ में इन नियमों के बनने के समय चैकोस्लोवाकिया की सत्ता नहीं थी, किन्तु इन नियमों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की घोषणा की गई है, अतः वे उस पर लागू होते थे। इसी प्रकार युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में जेनेवा के समझौते पर रूस ने हस्ताक्षर नहीं किये थे, किन्तु विभिन्न युद्धापराध न्यायालयों के निर्णयानुसार रूस इस आधार पर यह दावा नहीं कर सकता कि वह इन नियमों के पालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। १९२९ के जेनेवा के अभिसमयों में **सामान्य भाग ग्रहण की धारा'** को हटा दिया गया तथा १९४९ के जेनेवा अभिसमयों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि यह सम्भव है कि संघर्ष करने वाले पक्ष में से एक देश ने अभिसमय पर हस्ताक्षर न किये हों; किन्तु इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों के आपसी व्यवहार में इन नियमों का पालन अनिवार्य समझा जायेगा।[५]

युद्ध के नियमों की अनुज्ञप्तियाँ (Sanctions of the Laws of War)—युद्ध के नियमों का बहुधा उल्लंघन होता है; किन्तु इनका पालन करने के लिए बाध्य करने वाली कुछ अनुज्ञप्तियाँ भी हैं। स्टार्क के कथनानुसार **पहली** अनुज्ञप्ति प्रत्यपहार (Reprisal) की है।[६] द्वितीय विश्वयुद्ध में जब जर्मनी ने युद्धबन्दियों को जंजीरों में

५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० २३६
६. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टु इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६८

जंजीरों में जकड़ना शुरू किया, तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका प्रतिकार करने के लिए जर्मन युद्धबन्दियों के साथ ऐसा व्यवहार आरम्भ कर दिया। इससे बाधित होकर जर्मनों को इस क्रूर, अमानवीय एवं अवैध आचरण का परित्याग करना पड़ा। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने हेग अभिसमयों द्वारा निषिद्ध रासायनिक गैसों का प्रयोग इसलिए नहीं किया कि ग्रेट ब्रिटेन भी प्रत्युत्तर में जर्मनी के विरुद्ध इन्हें प्रयुक्त करेगा। **दूसरी** अनुज्ञप्ति युद्ध-नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड दिए जाने का भय है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद १९४६-८ तक जर्मनी और जापान के युद्धापराधियों पर अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरणों में अभियोग चलाये गए और ऐसा अपराध करने वाले सेनापतियों तथा उच्चाधिकारियों को दण्डित किया गया। भविष्य में ऐसे दण्डों का भय युध्यमान देशों के अधिकारियों द्वारा युद्ध के नियमों के पालन में सहायक होगा। **तीसरी** अनुज्ञप्ति क्षतिपूर्ति या मुआवजे की है। १९०७ के **चौथे हेग अभिसमय** के तीसरे अनुच्छेद में यह कहा गया है कि यदि कोई राज्य ऐसे नियम तोड़ता है तो उस राज्य को अपनी सेना द्वारा किये सब कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जायेगा और उससे क्षतिपूर्ति के लिए हर्जाना लिया जायेगा। इस अनुच्छेद के अनुसार शान्तिसंधि के समय उससे हर्जाने की राशि वसूल की जा सकती है।

स्थल युद्ध के उद्देश्य और साधन (Aims and Means of Land Warfare) —स्थल युद्ध के दो प्रधान उद्देश्य हैं—शत्रु की सेनाओं को परास्त करना तथा शत्रु के प्रदेश पर अधिकार और उसका प्रशासन। इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रधान साधन शत्रु-देश के व्यक्तियों के प्रति हिंसा का प्रयोग है। किन्तु इसके अन्य साधन ये भी हैं—शत्रु की सम्पत्ति का आत्मसात्करण (Appropriation), उपयोग तथा विध्वंस, घेरा डालना, बमवर्षा, जासूसी, देशद्रोह का लाभ उठाना तथा छलोपाय (Ruses)। इनमें सबसे महत्वपूर्ण शत्रु के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग है, अतः यहाँ पहले उसका वर्णन किया जायेगा।

स्थल युद्ध के नियम—शत्रु के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की मर्यादा (Laws of Land Warfare—Limit to the use of force against Enemy)—वर्तमान समय में स्थल युद्ध के नियमों का निर्माण सर्वप्रथम कोलम्बिया कालेज न्यूयार्क के प्राध्यापक फ्रांसिस लीबर (Francis Leiber) ने अमरीकन गृहयुद्ध के समय किया था। २४ अप्रैल, १८६३ को सं० रा० अमरीका की सरकार ने इन्हें Instruction for the Government Armies of the United States in the Field के नाम से प्रकाशित किया। इन्हें आवश्यक संशोधन के साथ अन्य राज्यों ने १८९९ के तथा १९०७ के हेग सम्मेलनों में स्वीकार किया। १९०७ का **चौथा हेग अभिसमय** विस्तार से इन नियमों का वर्णन करता है, अतः इन्हें 'हेग नियम' कहा जाता है।

इसमें सर्वप्रथम युध्यमानों (Belligerents) का लक्षण किया गया है, ये ऐसे लड़ने वाले हैं, जिन्हें वैध योद्धा (Lawful Combatant) कहा जाता है। इनमें मुख्य रूप से देश की नियमित सेनाओं (Regular Armies) का समावेश होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त युद्ध के नियमों का पालन करने वाले छापामार दस्तों (Guerilla

Troops), स्वयंसेवक दलों (Volunteer Corps) तथा नागरिक सेना (Militia) को भी वैध योद्धा समझा जाता है, बशर्ते कि (१) इनका नेतृत्व उचित रीति से हो, (२) ये दूर से पहचाने जा सकने वाले निश्चित विशेष चिन्ह को धारण करें, (३) खुले रूप में शस्त्र धारण करें, (४) युद्ध के कानून और प्रथाओं के अनुसार लड़ाई करें। कई बार किसी देश की असैनिक जनता सामूहिक रूप से स्वयमेव शत्रु के विरुद्ध विद्रोह के लिए उठ खड़ी होती है और शस्त्र धारण करती है, इसका पारिभाषिक नाम Levies en Masse है, कौटिल्य के शब्दों में यह औत्साहिक बल है।[७] यदि यह उपर्युक्त चारों शर्तें पूरी करती है, तो इसे भी वैध योद्धा का दर्जा दिया जा सकता है।

वैध योद्धा समझे जाने वाले सैनिकों तथा योद्धाभिन्न असैनिक जनता के साथ युद्ध के समय हिंसा के प्रयोग में बड़ा भेद और विवेक किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य शत्रु को पराभूत करना है, अतः शत्रु के सैनिकों के विरुद्ध उतनी ही हिंसा वैध है, जो उपर्युक्त उद्देश्य को पूरा कर सके। इस दृष्टि से सैनिकों के विरुद्ध तीन प्रकार की हिंसा वैध है—उन्हें जान से मारना, घायल करना और बन्दी बनाना। युद्ध में किसी सैनिक या अधिकारी और राजा तक को गोली से मारा जा सकता है। किन्तु उनका वध तभी हो सकता है, जब वे लड़ने को तैयार हों या बन्दी बनाए जाने का विरोध करें। अतः बीमार या घायल, हथियार डालने वाले, समर्पण करने वाले, बन्दी बनाए जाने का विरोध न करने वाले सैनिकों का न तो वध किया जा सकता है और न ही इन्हें घायल किया जा सकता है। इन्हें दयादान (Quarter) दिया जाना चाहिए, इनके प्राणों की रक्षा होनी चाहिए। हेग अभिसमय के अनुच्छेद २३-सी में इनका विस्तृत वर्णन है।[८]

७. कौटिलीय अर्थशास्त्र ६।२ में इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—सैन्यमनेकमनेकजातीयस्थमुक्तमनुक्तं वा विलोपार्थं यदुत्तिष्ठति तदौत्साहिकम्। भक्तवेतनविलोपविष्टिप्रतापकरं भेद्यं परेषाम्, अभेद्यं तुल्यदेशजातिशिल्पप्रायं संहतं महत्। अर्थात् केवल अपने उत्साह के बल पर सैनिक कार्यों में प्रवृत्त होने वाली सेना औत्साहिक बल होती है, इसका एक मुखिया या नायक नहीं होता, इसमें अनेक जातियों या देशों के लोग रहते हैं। राजा का आदेश पाकर या उसे बिना पाये ये शत्रु के प्रदेश को नष्ट करने के लिए उठ खड़े होते हैं। भेद और अभेद के भेद से यह दो प्रकार की होती है, भत्ता, वेतन, लूटपाट तथा बेगार करके राजा का प्रताप प्रदर्शित करने वाली सेना भेद्य होती है; एक देश, एक जाति और एक व्यवसाय करने वाली सेना अभेद्य होती है। भेद्य का आशय शत्रु द्वारा फोड़ी तथा अपने साथ मिलाई जा सकने वाली है। पहले प्रकार में उसका लक्ष्य भत्ता, वेतन और लूट का लालच होता है, अतः शत्रु द्वारा इसे अधिक प्रलोभन देकर अपने साथ मिलाया जा सकता है। दूसरा प्रकार समान देश, जाति और व्यवसाय के बन्धन से बंधा होने के कारण अधिक सुदृढ़ होता है, उसमें आधुनिक राष्ट्रीयता के कुछ तत्व होते हैं। अतः शत्रु द्वारा उसका भेदन करना या फोड़ना सम्भव नहीं होता।

८. महाभारत (शान्तिपर्व १०२ ३४ तथा ६६।३–४) में इसी प्रकार की व्यवस्था है—कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंस्यात्। बलेनविजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः। महाभारत कर्णपर्व ६०।१११–१३, प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणे अथ कृताञ्जलौ। शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथाऽर्जुन ॥ अबाणे भ्रष्टभग्नायुधे तथा। न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि शूराः साधुव्रते

ये वर्तमान समय के सर्वमान्य नियम हैं। विभिन्न देशों के न्यायालय इनका उल्लघन करने वालों को दण्ड देते हैं। १९४५ में कनाडा के एक सैनिक न्यायालय ने एक जर्मन रेजिमैंट के सेनापति कुर्ट मेयर (Kurt Meyer) को इसलिए प्राणदण्ड दिया था कि उसने अपने सैनिकों को इस बात के लिए उकसाया था कि वे मित्रराष्ट्रों के सैनिकों पर किसी प्रकार का दयादान (Quarter) न करें, बाद में उसका दण्ड घटा-कर आजीवन कारावास में बदल दिया गया था। Ruchteschell Case में अभियुक्त पर यह दोष लगाया गया था कि एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज के समर्पण कर देने के बाद भी वह उस पर गोली चलाता रहा। १९४५ में हालैण्ड में एक ब्रिटिश सैनिक न्यायालय ने Almelo के मामले में एक व्यक्ति को इसलिए दण्डित किया कि उसने हवाई जहाज में आग लगने पर उससे कूदकर एक निजी मकान में छिपे हुए ब्रिटिश हवाबाज को गोली से मारा था। इस प्रकार की हिंसा अमानवीय, जघन्य और अवैध समझी जाती है।

शत्रु के योद्धाओं और सैनिकों के प्राणहरण का अधिकार यद्यपि वैध है, किन्तु इसके साधनों में कुछ वैध और कुछ अवैध तथा वर्जित हैं। तलवार, राइफल, मशीनगन आदि से मारना तो ठीक है, किन्तु ऐसे सब साधनों से प्राण लेना वर्जित है जिनसे अनावश्यक रूप से अधिक पीड़ा और कष्ट हो। हेग नियमों के अनुच्छेद २३ में इस दृष्टि से विष का तथा अनावश्यक हानि (Unnecessary injury) पहुँचाने वाले, जलता हुआ द्रव पदार्थ डालने वाले हथियारों, अग्निबाणों तथा क्षेपणास्त्रों (Projectiles) का प्रयोग वर्जित है, अतः शत्रु द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले पानी के जलस्रोतों, कुओं, पम्पों, नदियों को विषैला नहीं बनाया जा सकता[९], विषैले हथियारों का प्रयोग नहीं हो सकता[१०], राइफलों में काँच के टुकड़े, लोहे की नुकीली कीलें तथा तोपों में Chain shot, Crossbar shot तथा अत्यन्त गरम गोले नहीं भरे जा सकते। अनुच्छेद २३ के अनुसार योद्धाओं को धोखे से मारा या घायल नहीं किया जा सकता, वध के लिये हत्यारों को किराये पर नहीं रखा जा सकता। १८६८ की **सैण्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा** के अनुसार लड़ाई में १४ औंस से कम भार वाली विस्फोटक अथवा ज्वलनशील सामग्री रखने वाले अग्निबाणों या क्षेपणास्त्रों (Projectiles) का प्रयोग निषिद्ध है। १८९९ के प्रथम हेग सम्मेलन ने ब्रिटिश सरकार द्वारा कलकत्ता के निकट दमदम के कारखाने में बनाई जाने वाली गोलियों के व्यवहार पर २९ जुलाई १८९९ को प्रतिबंध लगाया, इसी समय श्वासरोधी या हानिकारक गैसों के प्रयोग को भी निषिद्ध ठहराया

स्थिताः। त्वं च शूरतमो लोके साधुवृत्तश्च पाण्डव॥ महाभारत शान्तिपर्व १०९।२७–२९ में सोए हुए व्यक्ति को अवध्य बताया गया है—विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन्। प्रसुप्तांस्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णन्नाभिघातयेत।

९. इस विषय में मनुस्मृति ने अपद्रव्य-मलमूत्र आदि से शत्रु के पानी तथा अन्न आदि को दूषित करने का विधान किया है (७।१९५), दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।

१०. महाभारत (शान्तिपर्व ९५।११) में विष से बुझा तथा काँटे वाला बाण दुर्जनों का हथियार बताया गया है—इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम्। देखिये ऊपर पृ० २०

गया। इसका निषेध वर्साय संधि के अनुच्छेद १७१ में तथा १६१६ की अन्य संधियों में तथा वाशिंगटन की फरवरी १६२२ की संधि में भी है। जून १६२५ में राष्ट्र संघ की परिषद् द्वारा बुलाये गये एक सम्मेलन में विभिन्न राज्यों ने एक प्रोतोकोल पर हस्ताक्षर किये, इसके अनुसार श्वासरोधी, विषैली या इस प्रकार की अन्य गैसों का प्रयोग तथा हानिकर जीवाणुओं के प्रसार द्वारा किये जाने वाले युद्ध के साधन निषिद्ध ठहराये गये हैं।

सैनिकों के अतिरिक्त सेना के साथ चलने वालों, इन्हें रसद तथा विभिन्न प्रकार की सामग्री पहुँचाने वालों, तथा सम्वाददाताओं पर योद्धा न होने के कारण प्रत्यक्ष रीति से आक्रमण नहीं हो सकता। इनका वध या घायल करना भी वर्जित है। इन्हें केवल बन्दी बनाया जा सकता है। **१६४६ के जेनेवा अभिसमय** के अनुसार घायलों की चिकित्सा में लगे हुए डाक्टरों, सैनिक हस्पतालों के अन्य कर्मचारियों तथा पादरियों को भी युद्ध में बन्दी नहीं बनाया जा सकता।

शत्रु की असैनिक (Civilian) **जनता** के सम्बन्ध में मध्यकाल में बड़े क्रूर नियम प्रचलित थे। उस समय प्रायः किलों में रहने वाली असैनिक जनता को नर-नारी का भेद किये बिना क्रूरतापूर्वक मार दिया जाता था, अथवा इनसे बड़ा निष्ठुर व्यवहार किया जाता था। किन्तु १८वीं शती में 'राष्ट्रों के कानून' का यह नियम सार्वभौम रूप से माना जाने लगा कि युद्ध में भाग न लेने वाले शत्रुओं पर आक्रमण या इनका प्राणहरण नहीं होना चाहिए। १८६३ में सं० रा० अमरीका की सरकार की सेना के सामान्य आदेशों में कहा गया था—"यह सिद्धान्त अधिकाधिक रूप में स्वीकार किया जाने लगा है कि युद्ध की आवश्यकताएँ जहाँ तक अनुमति दें, वहाँ तक शस्त्रहीन नागरिक के शरीर, सम्पत्ति और सम्मान को कोई क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए।" आजकल ये न केवल अवध्य और अनाक्रमणीय समझे जाते हैं, किन्तु इन्हें सामान्य रूप से युद्ध में बन्दी भी नहीं बनाया जा सकता। विशेष अवस्थाओं में, साधारण जनता को शत्रु के विरुद्ध लड़ने के लिए उत्तेजित करने पर इन्हें बन्दी बनाया जा सकता है। यदि जनता द्वारा सामूहिक विद्रोह की आशंका हो तो इनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही हो सकती है, अन्यथा आक्रान्ता को सैनिक सेवा की आयु रखने वाले व्यक्तियों को भी गिरफ्तार करने का कोई अधिकार नहीं है। इन्हें बन्दी बनाने के अतिरिक्त वह अधिकृत प्रदेश में शान्ति बनाये रखने के लिये सब प्रकार के बल का प्रयोग कर सकता है। लड़ाई लड़ने के अतिरिक्त सैनिक कार्यों के लिये आवश्यक सड़कों, पुलों, मकानों का निर्माण इन्हें मजदूरी देकर करा सकता है, इन कार्यों को कराने के लिये आवश्यकता होने पर वह इन्हें कारावास और प्राणदण्ड भी दे सकता है। किन्तु इनके विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की सीमायें हेग नियमों के अनुच्छेद ४६ में दी गई हैं। इसमें यह कहा गया है, "इनके पारिवारिक सम्मान और अधिकारों का, वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक सम्पत्ति का, धार्मिक विचारों तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाना चाहिए।" १६४६ के जेनेवा अभिसमय में भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है।

असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा (Aerial Bombardment on Civil

Population)—वर्तमान समय में असैनिक जनता को हवाई बमवर्षा से सबसे अधिक खतरा है। १९०७ के हेग नियमों के अनुच्छेद २५ में अरक्षित कस्बों और गाँवों पर गोलाबारी करने का निषेध किया गया था, इसमें आकाश से की जाने वाली गोलाबारी भी सम्मिलित थी। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध में इस नियम का पालन नहीं हुआ। १९२३ में हेग में विधिशास्त्रियों ने हवाई लड़ाई के नियमों की संहिता का एक प्रारम्भिक रूप तैयार किया। इसके अनुसार आकाश से की जाने वाली बमबारी को केवल उसी दशा में वैध ठहराया गया, जब कि इसका लक्ष्य विशिष्ट सैनिक लक्ष्य, शत्रुसेनायें, सैनिक बस्तियाँ और शस्त्रास्त्रों के कारखाने हों। असैनिक जनता की अन्धाधुन्ध बमबारी को अवैध ठहराया गया। किन्तु १९३० के बाद चीन-जापान के युद्ध में तथा १९३६-३८ तक स्पेन के गृहयुद्ध में इस नियम की बहुत अवहेलना हुई। अतः १९३८ में राष्ट्र संघ की असेम्बली ने यह प्रस्ताव पास किया कि असैनिक जनता को हानि पहुँचाने के इरादे से की गयी गोलाबारी अवैध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ से धुरी राष्ट्रों ने बड़ी निर्दयतापूर्वक शत्रु के असैनिक प्रदेशों पर हवाई बमबारी की तथा इसके प्रत्युत्तर में मित्रराष्ट्रों द्वारा भी कोई कसर बाकी नहीं रखी गयी। उनका सबसे बड़ा कार्य १९४५ में हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराना था। इससे असैनिक जनता को अपार जनधन की क्षति उठानी पड़ी। वर्तमान समय के **समग्रयुद्ध** (Total war) में असैनिक जनता पर जानबूझकर बड़ी निर्ममता से इस उद्देश्य से बमवर्षा की जाती है कि वे इससे भयभीत और संत्रस्त होकर अपना लड़ाई चलाने का साहस तथा मनोबल (Morale) खो बैठें और जल्दी आत्मसमर्पण कर दें। १९४९ में **जेनेवा में 'युद्ध के समय असैनिक व्यक्तियों की रक्षा के लिये एक अभिसमय'** तैयार किया गया है, किन्तु यह अणुबमों की विभीषिका से असैनिक जनता के परित्राण के लिये पर्याप्त नहीं है।

अणुबमों के प्रयोग का औचित्य (Justification for the use of Atom Bomb)—अणुबमों के आविष्कार के बाद, इससे भी अधिक शक्तिशाली हाइड्रोजन बमों तथा अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Intercontinental Ballistic Missiles) का पिछले पच्चीस वर्षों में अभूतपूर्व विकास हुआ है। इनसे असैनिक जनता के विध्वंस और विनाश की सम्भावना पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई है, अतः अणुबमों तथा प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग का अनौचित्य और इनके उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाना नितान्त आवश्यक हो गया है। सं० रा० अमरीका ने नागासाकी और हिरोशिमा में अणुबम गिराने को दो कारणों के आधार पर उचित ठहराया था—(क) यह जापान तथा अन्य धुरी राष्ट्रों द्वारा पर्ल हार्बर में तथा अन्य स्थानों में सं० रा० अमरीका को पहुँचायी गई भारी क्षति का प्रतिकार और प्रत्यपहार (Reprisal) लेने के लिए था। किन्तु इस दृष्टि से धुरी राष्ट्रों द्वारा एक हवाई बमवर्षा में पहुँचायी गई क्षति की तुलना में नागासाकी और हिरोशिमा को अणुबमों द्वारा पहुँचायी गई हानि बहुत अधिक थी। पहले (पृ० ४३४) यह बताया जा चुका है कि प्रत्यपहार शत्रु द्वारा पहुँचायी क्षति के समानुपात में होना चाहिए। (ख) अणुबम के प्रयोग के समर्थन में दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि यह युद्ध को शीघ्र समाप्त करने के उदात्त उद्देश्य से किया गया था। यदि इसका

प्रयोग न होता तो यह लड़ाई बहुत देर तक चलती रहती, इसमें प्राण और धन की अत्यधिक क्षति होती। अणुबम के प्रयोग ने जापान को आत्मसमर्पण के लिये विवश करके द्वितीय विश्वयुद्ध को जल्दी समाप्त कर दिया। यह **सैनिक आवश्यकता** (Military Necessity) का सिद्धान्त है। पहले यह बताया जा चुका है कि न्यायालय इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों कारणों में से कोई भी संतोषजनक नहीं है। वस्तुत: इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध है क्योंकि इसके विस्फोट से विषैली (Radio Active) धूलि का प्रसार होता है, १९०७ के चौथे हेग अभिसमय के अनुच्छेद २३ में विषैले पदार्थों का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया है। यह १८६८ की सैण्ट पीटर्सबर्ग की उस घोषणा के भी विरुद्ध है जिसमें अनावश्यक पीड़ा देने वाले पदार्थों का व्यवहार वर्जित बताया गया है।

स्टार्क ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है[११] कि जब तक अणुबम और अणुशक्ति पर (तथा अन्त:महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों पर) कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित नहीं होता, तब तक आधुनिक युद्ध में असैनिक जनता की रक्षा होने की बहुत कम सम्भावना है। सं० रा० संघ १९४६ से इसके नियन्त्रण की अन्तर्राष्ट्रीय योजना बना रहा है। इसमें अब तक पूरी सफलता नहीं मिली, फिर भी इस विषय में उसका कार्य बहुत आशाजनक है और यह सम्भावना की जा सकती है कि अन्ततोगत्वा वह इस पर नियन्त्रण स्थापित कर अनावश्यक विनाश और विध्वंस से असैनिक जनता का परित्राण कर सकेगा।

घायलों तथा मृतव्यक्तियों के साथ व्यवहार (Treatment of wounded and dead persons)—१८६४ से पहले पश्चिमी जगत् में इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून या प्रथायें नहीं थीं।[१२] एक स्विस नागरिक जीन हेनरी डूनैण्ट (Jeen Henry Dunant) ने १८५९ में आस्ट्रिया और इटली के सोलफेरिनो के युद्ध में आहत सैनिकों की भीषण दुर्दशा देखी, हजारों घायल व्यक्ति चिकित्सा के अभाव से तड़पते हुए बुरी तरह से मर गए, जबकि उपयुक्त चिकित्सा द्वारा इनकी प्राणरक्षा सम्भव थी। १८६१ और १८६३ में इस विषय में दो पुस्तिकायें प्रकाशित करके उसने सभ्य जगत्

११. स्टार्क—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६६

१२. घायलों की चिकित्सा के सम्बन्ध में प्राचीन भारत में कुछ नियम इस प्रकार थे : कौटिलीय अर्थशास्त्र (१०।३) में कहा गया है कि चिकित्सकगण चिकित्सा के शस्त्र, यंत्र, औषध, तैल आदि स्नेह द्रव्य और घावों पर बाँधने के लिए पट्टियाँ लेकर सेना के पृष्ठ भाग में सदा तैयार रहें (चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः)। महाभारत (शान्तिपर्व ९५।१३) में अपने राज्य में या घर में लाकर ऐसे शत्रु की चिकित्सा करने का विधान है, जिसके हथियार टूट चुके हों, जो मुसीबत में पड़ा हो, जिसके धनुष की डोरी कट गयी हो या जिसका घोड़ा (वाहन) मर गया हो (भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः। चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्)। उसके ठीक हो जाने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए (वही, ९५।१४ निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः।)

का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट किया। १८६५ में इस विषय पर विचार के लिए स्विट्ज़रलैंड की सरकार की ओर से बारह राज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जेनेवा में बुलाया गया। इसने २२ अगस्त १८६४ को घायलों की चिकित्सा के नियमों के बारे में एक **जेनेवा अभिसमय** (Convention) बनाया। १८९९ के हेग सम्मेलन ने इसके संशोधन के लिए स्विट्ज़रलैंड की सरकार से एक नया सम्मेलन बुलाने की प्रार्थना की। पैंतीस राज्यों के इस सम्मेलन ने ६ जुलाई १९०६ को एक संशोधित जेनेवा अभिसमय तैयार किया। प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभव से इसमें भी संशोधन की आवश्यकता अनुभव हुई। १ जुलाई १९२९ को ४७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने इसका समयानुकूल संशोधन किया तथा २९ जुलाई को ३३ राज्यों ने नये समझौते पर हस्ताक्षर किये। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसमें पुनः समयानुकूल संशोधन करने के लिए राज्यों का एक नया सम्मेलन बुलाया गया और १२ अगस्त १९४९ को इस विषय के नये **जेनेवा अभिसमय** को स्वीकार किया गया। यह १८६४, १९०६, १९२९ के अभिसमयों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, विस्तृत और विशद है। इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं—

सेनाओं के साथ सरकारी तौर से सम्बद्ध सभी बीमार और घायल व्यक्तियों का संरक्षण और देखभाल होनी चाहिए, इसमें राष्ट्रीयता, लिंग, नस्ल, धर्म या राजनीतिक विचारों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। इन व्यक्तियों का प्राणहरण या इनके प्रति हिंसा का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। यदि किसी युध्यमान पक्ष को पीछे हटाना पड़े तो उसे अपने घायलों और बीमारों की सेवा शुश्रूषा के लिए चिकित्सा विभाग के व्यक्ति उनकी देखरेख के लिये पीछे छोड़ जाने चाहिएँ। बीमार और घायल, शत्रु के हाथ में पड़ने पर, युद्धबन्दी समझे जाते हैं। प्रत्येक मुठभेड़ के बाद सेनापति का यह कर्त्तव्य है कि वह रणक्षेत्र का दौरा करके घायलों और मृतकों को एकत्र करे तथा उनको लूट से तथा दुर्व्यवहार से संरक्षण प्रदान करे (अनुच्छेद १२–१६)। बीमारों और घायलों की चिकित्सा तथा शुश्रूषा का कार्य करने वाले गतिशील (Mobile) चिकित्सक दलों को तथा इनके आवासस्थानों को पूरी सुविधायें तथा संरक्षण प्रदान किया जाता है। किन्तु यदि ये शत्रु को हानि पहुँचाते हैं, सैनिकों को आश्रय देते हैं, युद्धसामग्री को छिपाते हैं या जासूसी करते हैं, तो इनका संरक्षण समाप्त हो जाता है (अनुच्छेद २१-२२)। इनका सामान यदि शत्रु के हाथ में पड़ जाय तो वह घायलों और बीमारों की सेवा के लिए सुरक्षित समझा जायेगा। आहतों की सेवा, संग्रह तथा परिवहन में तथा गतिशील चिकित्सालयों में काम करने वाले व्यक्तियों तथा ऐसा कार्य करने वाली मान्यता प्राप्त सोसायटियों के कार्यकर्त्ताओं को पूरा सम्मान और संरक्षण दिया जाता है। ये अवध्य हैं, इन पर आक्रमण नहीं हो सकता। १९२९ के अभिसमय के अनुसार सेना के डाक्टर युद्धकर्त्ता देश के हाथ में पड़ जाने पर बन्दी बनाकर रोके जा सकते थे। किन्तु १९४९ के अभिसमय में यह कहा गया है कि चिकित्सक वर्ग, पादरी तथा राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटियों के कार्यकर्त्ता, युद्धबन्दियों के स्वास्थ्य और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये रोके जा

सकते हैं, किन्तु वे युद्धबन्दी नहीं समझे जायेंगे (अनुच्छेद २८)।

स्विट्जरलैण्ड के इस विषय में किये गये महत्वपूर्ण कार्य को स्वीकार करते हुए, उसके एक प्राचीन निशान—सफेद भूमि पर बने हुए लाल क्रास—को सेना की चिकित्सा सेवाओं का विशिष्ट चिन्ह बना दिया गया। टर्की में यह चिह्न लाल शेर तथा ईरान में लाल सूर्य है। चिकित्सा सम्बन्धी सभी सेवाओं से सम्बन्ध रखने वाले सामान पर, झण्डों पर एवं रणक्षेत्र में चिकित्सा कार्य में लगे व्यक्तियों की भुजाओं पर बाँधी जाने वाली पट्टियों पर यह निशान उपयुक्त सैन्य अधिकारी की स्वीकृति से अंकित किया जाना चाहिए। हस्पतालों की इमारतों पर लगे झण्डों पर लाल क्रास का चिह्न बना होना चाहिए (अनुच्छेद २२)। यह चिह्न सभी चिकित्सा करने वाले व्यक्तियों को धारण करना चाहिए। लाल क्रास (Red Cross) के इस चिह्न का शांतिकाल में अथवा युद्धकाल में दुरुपयोग नहीं किया जा सकता।

रणक्षेत्र में मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह व्यवस्था है कि इनके शरीरों को किसी प्रकार विकृत नहीं किया जायेगा, इनके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं होगा, किन्तु विजेता द्वारा रणक्षेत्र में उचित रीति से दफनाया या जलाया जायेगा। १९४९ के **जेनेवा अभिसमय** के अनुच्छेद १५ के अनुसार प्रत्येक मुठभेड़ के बाद दोनों पक्षों को मृतकों की खोज करनी चाहिए और शवों को विकृत होने से बचाना चाहिए।

असैनिक बीमारों तथा घायलों की रक्षा के लिये दोनों पक्षों को अपने प्रदेश में ऐसे सुरक्षाक्षेत्र बनाने चाहिएँ, जहाँ इनकी युद्ध के दुष्प्रभावों से रक्षा हो सके। इन क्षेत्रों में आहतों और बीमारों के साथ १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों, बूढ़े व्यक्तियों, गर्भवती स्त्रियों तथा ७ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की माताओं को रखना चाहिए। रणक्षेत्र में इनकी रक्षा के लिये तटस्थीकृत (Neutralized) प्रदेश बनाये जा सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सुरक्षित स्थान पर ले जाने वाले हवाई जहाजों पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। घायलों की चिकित्सा के लिये भेजी जाने वाली सामग्री, धार्मिक पूजा के लिये आवश्यक पदार्थों तथा १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों, गर्भवती तथा प्रसूता स्त्रियों के लिये भेजे जाने वाले भोजन, द्रव्य, कपड़ों और शक्ति देने वाली दवाइयों के सब पार्सलों की ढुलाई निःशुल्क की जाती है।

युद्धबन्दी (Prisoners of War)—आरम्भ में युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं थे। उन्हें या तो मार डाला जाता था या देवताओं के आगे बलि चढ़ाया जाता था अथवा दास बनाया जाता था।[13] कई बार दोनों पक्षों में बन्दियों का विनिमय भी होता था। मध्ययुग की समाप्ति पर इनका वध और दास बनाना कम हो गया, किन्तु इनके साथ अपराधियों जैसा व्यवहार होता था और इन्हें पकड़ने वाले इनसे अधिक से अधिक लाभ कमाने का यत्न करते थे। इन्हें बन्दी बनाने वाले व्यक्ति इनके

१३. महाभारत के शांतिपर्व (९६।४) में इस सम्बन्ध में यह उदार व्यवस्था पायी जाती है कि साल-भर तक इसे दास रखने के बाद मुक्त कर दे और उसे अपना पुत्र समझें—संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत्। नीलकण्ठ—विप्रणयेत्—दासोऽस्मीति वदति शिक्षयेत्।

सम्बन्धियों से मोचनधन (Ransom) लेकर ही उसे मुक्त करते थे। यह प्रथा उस समय इतने व्यापक रूप में प्रचलित थी कि विभिन्न प्रकार के बन्दियों के मोचनधन की मात्रा लगभग निश्चित हो चुकी थी। ग्रोशियस ने लिखा है कि एक सामान्य सिपाही का मोचनधन उसके मासिक वेतन के तुल्य समझा जाता था। १७वीं शती में युद्ध-बन्दियों के सम्बन्ध में यह प्रथा लुप्त होने लगी कि वे इन्हें पकड़ने वालों के अधिकार में समझे जायं। अब ये जिस राज्य की सेना द्वारा पकड़े जाते थे, उस राज्य के अधिकार में माने जाने लगे। किन्तु अभी तक युद्धबन्दी क्रूर व्यवहार का पात्र और अपराधी माने जाते थे। १८वीं शताब्दी से शनैः-शनैः यह सिद्धान्त सर्वमान्य होने लगा कि युद्ध में सैनिकों को बन्दी बनाने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि वे भागकर अपनी सेना में वापिस न जा सकें और पुनः शस्त्र न धारण कर सकें, उनका बन्दीकरण अपराधों के लिये दण्डित किये जाने वाले व्यक्तियों के कारावास से सर्वथा भिन्न है। १७८५ में प्रशिया तथा सं० रा० अमरीका में हुई संधि में सर्वप्रथम इनके साथ उचित बर्ताव की बात स्वीकार की गई,[१४] इन्हें कैदियों के जेलखाने से भिन्न स्वास्थ्यप्रद स्थानों में बन्द करने, बेड़ियाँ न पहनाने, व्यायाम तथा उत्तम भोजन की सुविधा देने पर बल दिया गया। १९वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया जाने लगा कि युद्धबन्दियों के साथ विजेता को वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा वह अपनी सेनाओं के सैनिकों के साथ करता है। हेग के १९०७ के अभिसमय में सैनिकों के बन्दीकरण के सम्बन्ध में विशद नियम बनाये गये, प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों का लाभ उठाते हुए ४७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार पर नया अभिसमय तैयार किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पुनः इन नियमों के संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गई, स्विस सरकार की प्रार्थना पर २१ अप्रैल से १२ अगस्त १९४९ तक इन समस्याओं पर विभिन्न राज्यों के सम्मेलन ने विचार किया तथा **युद्धबन्दियों के बर्ताव** (Treatment of Prisoners of War) पर एक नया **अभिसमय** स्वीकार किया। इसकी प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं—

इस अभिसमय के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि यह घोषित युद्धों के अतिरिक्त, इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के सभी सशस्त्र संघर्षों पर लागू होगा, भले ही उनमें किसी एक पक्ष द्वारा युद्ध की स्थिति (Status of War) न मानी गई हो (अनुच्छेद २)। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि उन सभी व्यक्तियों के साथ जाति, वर्ण, धर्म, लिंग, जन्म, सम्पत्ति आदि के आधार पर कोई भेदभाव न करते हुए **सब अवस्थाओं** में मानवीय व्यवहार किया जायेगा जो लड़ाई में कोई भाग नहीं ले रहे, जिन्होंने अपने हथियार डाल दिये हैं या जो बीमारी से, घावों से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से लड़ने में असमर्थ हैं। ऐसे व्यक्तियों के शरीर के साथ किसी भी समय और किसी भी स्थान पर निम्नलिखित कार्य सर्वथा वर्जित है—(क) इनका प्राणहरण तथा शरीर की हिंसा, सब प्रकार की हत्या, अंगकर्त्तन, क्रूर बर्ताव तथा यातना

१४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० २६८

(Torture) देना, (ख) शरीर बन्धक (Hostage) बनाना, (ग) वैयक्तिक सम्मान को हानि पहुँचाना, अपमानजनक व्यवहार करना, (घ) सभ्य राज्यों द्वारा आवश्यक समझी जाने वाली न्यायिक (Judicial) गारण्टियाँ प्रदान करने वाले तथा नियमित रूप से बनाए गए न्यायालयों द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व इन्हें दण्ड देना और ऐसे दण्ड क्रियान्वित करना।

इस अभिसमय के अनुच्छेद ४ में निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों को युद्धबन्दी माना गया है—(१) संघर्ष करने वाले पक्षों में किसी एक पक्ष की सशस्त्र सेनाओं के सदस्य, नागरिक सेना (Militia) के तथा स्वयंसेवक दलों के सदस्य। (२) प्रतिरोध आन्दोलन (Resistance movement) करने वाले तथा अन्य स्वयंसेवक दलों के सदस्य, बशर्ते कि इनके सदस्यों का नेतृत्व किसी उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा होता हो, ये दूर से पहचाना जाने वाला निश्चित चिन्ह धारण करते हों, शस्त्रों को खुले रूप में धारण करते हों तथा युद्ध के कानूनों और प्रथाओं के अनुसार युद्ध का संचालन करते हों। (३) इन्हें बन्दी बनाने वाली शक्ति द्वारा न स्वीकार की जाने वाली सरकार या शासनसत्ता के प्रति निष्ठा रखने वाली नियमित सेनाओं के सदस्य। (४) सशस्त्र सेनाओं का अनुगमन करने वाले, रसद सामग्री देने वाले ठेकेदार, युद्ध के सम्वाददाता, सेनाओं की देखभाल करने वाले नौकर तथा मजदूर। (५) व्यापारिक जहाजों का नाविक वर्ग तथा असैनिक वायुयानों के चालक और अन्य कर्मचारी। (६) अनधिकृत प्रदेश के ऐसे निवासी, जो शत्रु के आने पर स्वयमेव उसका प्रतिरोध करने के लिए हथियार उठाते हैं तथा जो नियमित सेना का अंग नहीं हैं। युद्धबन्दी होने के लिए इनका खुले रूप में शस्त्र धारण करना तथा युद्ध के नियमों का पालन करना आवश्यक है। युद्ध-बन्दियों के सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्त यह है कि उनके साथ सदैव मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए। अतएव यह व्यवस्था की गई है कि बन्दी बनाने वाली शक्ति को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे बन्दी की मृत्यु हो या उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचे। बन्दियों को चिकित्सा सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक परीक्षण करने का विषय नहीं बनाया जा सकता है। स्थानीय जनता के कुतूहल, हिंसा, रोष, डराने या अपमान से उनकी रक्षा की जानी चाहिए। प्रत्यपहार (Reprisals) के आधार पर उनसे कोई दुर्व्यवहार नहीं किया जा सकता। सभी परिस्थितियों में उनके शरीर को कोई क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। स्त्रियों के साथ आदर का व्यवहार होना चाहिए। बन्दियों को अपने नागरिक दर्जे के कारण प्राप्त अधिकारों के पूर्ण उपभोग का अधिकार है। इसमें बन्दियों के स्वास्थ्य की देखभाल और चिकित्सा की पूरी जिम्मेदारी, उन्हें बन्दी बनाने वाले राज्य की है। बन्दी बनाये जाने पर प्रायः इनसे सैनिक सूचना प्राप्त करने का यत्न किया जाता है और इसे प्राप्त करने के लिए इन पर कई प्रकार का दबाव डाला जाता है, किन्तु उपर्युक्त अभिसमय के अनुसार इनसे केवल इनके नाम, उपनाम, सैनिक पद, जन्मतिथि, सेना तथा रेजिमेंट के नम्बर और क्रमांक की सूचना प्राप्त की जा सकती है। सूचना प्राप्त करने के लिए इन्हें कोई शारीरिक या मानसिक यातना नहीं दी जा सकती। इन्हें हथियारों, सैनिक सामग्री और कागजात के अतिरिक्त

अपनी सभी वैयक्तिक वस्तुएँ रखने का अधिकार है। उनसे उनका रुपया सैनिक अधिकारी के आदेश से छीना जा सकता है, किन्तु इसकी रसीद उन्हें दी जाती है और यह उनके हिसाब में जमा रहता है। बन्दियों को Penitentiaries में नहीं रखा जा सकता, इन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त स्थानों में रखा जाना चाहिए। इनके रहने की व्यवस्था राज्य के अन्य सैनिकों की भाँति होनी उचित है। इनको उचित मात्रा में स्वास्थ्यप्रद भोजन, नमी रहित तथा सुप्रकाशित निवास स्थान मिलने चाहिएँ। स्त्रियों के निवास की व्यवस्था पृथक् होनी चाहिए। चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध, धार्मिक विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता, बौद्धिक विकास एवं मनोरंजनों के साधनों और खेल-कूद के सामान की व्यवस्था होनी चाहिए। सब बन्दियों के पास इस अभिसमय की प्रतिलिपि होनी चाहिए और कैम्प में कार्य करने वाले व्यक्तियों को इसकी व्यवस्थाओं का पूरा ज्ञान होना चाहिए।

१९४९ के अभिसमय में बन्दियों को काम पर लगाने के सम्बन्ध में विस्तृत व्यवस्थायें की गई हैं। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बन्दियों से ही काम लिया जा सकता है। अधिकारी-बन्दियों को किसी कार्य के लिये वाधित नहीं किया जा सकता। अन्य बन्दियों से खेती में, कच्चे माल के उत्पादन में, रासायनिक, धात्वीय तथा मशीनों के उद्योगों से भिन्न अन्य उद्योगों में तथा सैनिक उद्देश्य से न बनाए जाने वाले सार्वजनिक निर्माण कार्य में काम लिया जा सकता है। उन्हें किसी अस्वास्थ्यप्रद, सुरंग आदि हटाने के खतरनाक काम में नहीं लगाया जा सकता। उन्हें दिन के मध्य में एक घण्टे के विश्राम का तथा सप्ताह में एक दिन की छुट्टी का अधिकार है। उन्हें काम के लिए अच्छी मजदूरी मिलनी चाहिए। यदि काम करते हुए उन्हें कोई चोट लगती है तो उन्हें इसका वही हर्जाना मिलना चाहिए, जो उन्हें अपने राज्य के कानून के अनुसार मिलता।

बन्दी होने के बाद अथवा नजरबन्दी के कैम्प में पहुँचने के एक सप्ताह के भीतर, प्रत्येक बन्दी को अपने परिवार को पत्र लिखने का अधिकार है। वह एक महीने में दो लिफाफे तथा चार कार्ड भेज सकता है। उसे तार भेजने का, भोजन, कपड़े, दवाइयों, धार्मिक वस्तुओं के पार्सल पाने का अधिकार है। उसके पत्रों और पार्सलों पर डाकखाने की टिकटें या डाक की दरें नहीं लगतीं। उसके पत्रों और पार्सलों को देखा जा सकता है, किन्तु रोका नहीं जा सकता। बन्दी अपने बन्धन की अवस्थाओं के बारे में शिकायतें कर सकते हैं। अनुशासन भंग करने पर इन्हें सैनिक न्यायालय दण्डित कर सकते हैं, किन्तु इन्हें शारीरिक कष्ट नहीं दिया जा सकता, केवल मासिक वेतन से आधी राशि तक के जुर्माने किये जा सकते हैं, इनसे विशेष सुविधायें छीनी जा सकती हैं और कारावास में रखने का ३० दिन तक का दण्ड दिया जा सकता है।

युद्धबन्दी के बन्धन (Captivity) की समाप्ति निम्न पाँच प्रकारों से हो सकती है—

(१) युद्ध के समय में सीधा स्वदेशप्रत्यावर्तन (Repatriation)—प्रायः बहुत सख्त बीमार तथा अत्यधिक घायल बन्दियों को युद्ध के बीच में ही स्वदेश पहुँचा

दिया जाता है, क्योंकि शत्रु-पक्ष को इनके शीघ्र ही युद्ध में भाग लेने की कोई आशंका या सम्भावना नहीं होती तथा इन्हें लौटाने से वह इनकी चिकित्सा की भारी जिम्मेवारी से मुक्त हो जाता है। जिन बन्दियों के एक साल में ठीक होने की सम्भावना न हो, जिनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य स्थायी रूप से खराब हो गया हो, उनको अवश्य स्वदेश लौटाना चाहिए (अनुच्छेद १०९)।

(२) **युद्ध के समय के लिए तटस्थ देशों में भेजना**—जिन बन्दियों के एक साल में स्वस्थ होने की आशा होती है अथवा निरन्तर बन्धन में रहने के कारण जिनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को गम्भीर आघात पहुँच रहा होता है, उन्हें तटस्थ देशों में भेजा जाता है। ठीक होने पर इनके तटस्थ देशों में रहने या शत्रुदेश में लौटने का प्रश्न दोनों राज्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा तय होता है (अनुच्छेद ११०)। युध्यमान तथा तटस्थ देशों के पारस्परिक समझौते से भी युद्धबन्दी तटस्थ देशों में भेजे जा सकते हैं।

(३) **पलायन**—युद्धबन्दी पलायन द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(४) **मृत्यु**—युद्धबन्दी की मृत्यु होने पर इसकी सूचना 'युद्धबन्दी सूचना विभाग' को यथासम्भव शीघ्र ही देनी चाहिए। इसमें उसकी मृत्यु के कारणों का तथा उसके गाड़े जाने के स्थान का पूरा विवरण दिया जाता है, बन्दियों का दाह संस्कार या दफनाना उनके धार्मिक विश्वासों के अनुकूल तथा उनकी इच्छा के अनुसार होना चाहिए। यदि उनकी मृत्यु किसी सन्तरी द्वारा अथवा किसी अन्य युद्धबन्दी द्वारा हुई हो तो बन्दी बनाने वाली शक्ति द्वारा इस मामले की सरकारी जाँच की जानी चाहिए।

(५) **युद्ध की समाप्ति पर बन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्त्तन**—१९४९ के अभिसमय में इस विषय में नवीन एवं विस्तृत व्यवस्थाएँ की गई हैं। इसमें 'क्रियाशील शत्रुता' (Active Hostilities) की समाप्ति पर बन्दियों के स्वदेश लौटाने के विशेष नियम इसलिए बनाने की आवश्यकता पड़ी कि द्वितीय विश्वयुद्ध में वास्तविक लड़ाई बन्द होने तथा शान्ति-सन्धियाँ होने के बीच कई वर्षों का समय लग गया। इस समय युद्धबन्दियों के स्वदेश प्रत्यावर्त्तन का व्यय दोनों पक्षों पर डाला जाता है और बन्दियों को उनकी सब बहुमूल्य वस्तुयें तथा धनराशि लौटा दी जाती है। वे अपने साथ अपना वैयक्तिक सामान ले जा सकते हैं। इसके अनुच्छेद ११८-११९ में सब बन्दियों को उन राज्यों को लौटाने का वर्णन है, जिनकी ओर से वे लड़ाई में सम्मिलित हुए थे।

कोरिया युद्ध की समाप्ति पर युद्धबन्दियों के प्रत्यावर्त्तन की समस्या बड़े उग्ररूप में उपस्थित हुई। इसका कारण कम्युनिस्टों की यह माँग थी कि जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ११८-११९ के आधार पर उत्तरी कोरिया के सभी बन्दियों को बिना किसी शर्त के सामूहिक रूप से उत्तरी कोरिया वालों को वापिस किया जाय। किन्तु सं० रा० संघ के प्रतिनिधि का यह कहना था कि उत्तरी कोरिया की ओर से अनेक व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध, जबरदस्ती संघ की फौजों के साथ लड़ने को भेजे गए हैं, उन्हें यह भय है कि यदि उन्हें स्वदेश वापिस भेजा जायेगा तो वहाँ उनके साथ दुर्व्यवहार होगा, वे स्वदेश लौटने के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार लौटाना न्याय के

सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, जेनेवा का उपर्युक्त अभिसमय बनाने वालों ने ऐसी असाधारण स्थिति की कल्पना नहीं की थी, अतः इस अवस्था में उस समझौते का पालन नहीं किया जा सकता था।

दोनों पक्षों के विरोधी दृष्टिकोण से इसमें प्रबल गतिरोध उत्पन्न हो गया। इसे दूर करने के लिए भारत ने नवम्बर १९५२ में जनरल असेम्बली की राजनीतिक समिति में दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किया जा सकने वाला एक प्रस्ताव पेश किया, इसमें यह कहा गया था कि बन्दियों की मुक्ति जेनेवा अभिसमय के अनुसार होगी, किन्तु इसमें कैदियों के प्रत्यावर्त्तन को क्रियान्वित करने या रोकने में शक्ति का प्रयोग नहीं किया जायेगा। २७ जुलाई १९५३ के युद्धविराम समझौते में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह कहा गया कि स्वदेश लौटने की इच्छा न रखने वाले युद्धबन्दियों को एक तटस्थ आयोग को सौंपा जायेगा। सं० रा० संघ द्वारा नियत किये गए तटस्थ आयोग के सभापति भारत के जनरल थिमैया थे, इस आयोग ने युद्धबन्दियों से पूछताछ करके स्वदेश लौटने के इच्छुक व्यक्तियों का ही प्रत्यावर्त्तन होने दिया। उस समय यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि जापानी सरकार का यह कहना था कि रूस ने उसके युद्धबन्दियों को साइबेरिया में रोककर उनसे बड़ी प्रतिकूल परिस्थितियों में काम लिया है, अवर्णनीय कष्ट एवं यातनायें भोगते हुए लाखों जापानी कैदी साइबेरिया की ठण्ड में समाप्त हो गए हैं, उनके ३,४०,००० से ३,७०,००० तक युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में कोई पता नहीं लग रहा था।

सर राबर्ट फिलिमोर के मतानुसार निम्नलिखित प्रकार के व्यक्ति युद्धबन्दी नहीं माने जा सकते—(क) किसी राजा या सेनापति के आदेशों के बिना लूटपाट करने वाले (Marauders) व्यक्तियों के दल, (ख) शत्रु की सेनाओं का परित्याग करने वाले व्यक्ति (Deserters), (ग) जासूस। शत्रु के लिए सैनिक दृष्टि से उपयोगी सूचनायें प्राप्त करने की दृष्टि से जासूसी करने वाले गुप्तचर सैनिक होने पर भी युद्धबन्दी नहीं समझे जा सकते।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शत्रु के युद्धबन्दियों के साथ मानवीयता का तथा अपने सैनिकों जैसा बर्ताव करने का सिद्धान्त पिछली शताब्दी से ही पश्चिम में सर्वमान्य होने लगा है। किन्तु भारत में प्राचीन काल से इनके साथ उत्तम व्यवहार पर बल दिया जाता रहा है। महाभारतकार ने कहा है कि विजेता जब विजित के साथ क्षमा का व्यवहार करता है तो उसकी कीर्ति बढ़ती है।[१५] युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में उसका मन्तव्य है कि इन पर क्रोध नहीं करना चाहिए, इनका विनाश नहीं करना चाहिए, किन्तु इनका नियन्त्रण अपने पुत्र की भाँति करना चाहिए।[१६] युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में इससे अधिक ऊँचे आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती।

१५. महाभारत शान्तिपर्व १०२।३०, विजित्य क्षममानस्य यशो राज्ञो विवर्धते।
१६. महाभारत १०२।३२, अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत्।

तेईसवाँ अध्याय

समुद्री युद्ध के नियम

(Laws of Maritime Warfare)

समुद्री युद्ध के उद्देश्य (Objects of Maritime Warfare)—स्थलीय और समुद्री दोनों प्रकार के युद्धों का मुख्य प्रयोजन शत्रु को परास्त करना है, किन्तु दोनों के उद्देश्यों (objects) में कुछ अन्तर है। स्थल युद्ध का मुख्य उद्देश्य शत्रु की पराजय तथा शत्रु के प्रदेश पर अधिकार करना होता है; किन्तु समुद्री युद्ध का उद्देश्य न केवल शत्रु के सामरिक और व्यापारिक जहाजों को नष्ट करना, अपितु शत्रु को समुद्र से कोई लाभ न उठाने देना है। आपेनहाइम के मतानुसार समुद्री युद्ध के उद्देश्य (objects) निम्नलिखित हैं[1]—शत्रु की नौसेना को परास्त करना, शत्रु के व्यापारिक बेड़े का विध्वंस, शत्रु की तटवर्ती किलेबन्दियों और समुद्रतट की सामरिक बस्तियों का विनाश, शत्रुदेश के तट के साथ अन्य देशों का सम्पर्क समाप्त करना, शत्रु के लिये विनिषिद्ध (Contraband) रणसामग्री की ढुलाई को तथा अतटस्थ सेवा (Unneutral service) को रोकना, स्थल पर की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियों को समुद्र द्वारा सहायता पहुँचाना, अपने समुद्री तट तथा व्यापारिक बेड़े की रक्षा। स्थलीय युद्ध में वैयक्तिक सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती, किन्तु समुद्री युद्ध में शत्रु के जहाजों पर लदी हुई वैयक्तिक सम्पत्ति को तथा अतटस्थ सेवा में लगे तटस्थ जहाजों को जब्त किया जा सकता है। अतः स्थलीय और समुद्री युद्ध के नियमों में पर्याप्त अन्तर हैं। स्थलीय युद्ध में शत्रु द्वारा लड़ाई के अनेक लक्ष्य हो सकते हैं, किन्तु समुद्री युद्ध में केवल छः लक्ष्य हैं—शत्रु के सार्वजनिक और वैयक्तिक जहाज, शत्रुदेश के व्यक्ति, शत्रु का समुद्री जहाजों द्वारा ले जाया जाने वाला माल, शत्रु का समुद्रतट, परिवेष्टन तोड़ने का प्रयत्न करने वाले तटस्थ जलपोत, विनिषिद्ध पदार्थ ले जाने वाले तथा अतटस्थ सेवा करने वाले तटस्थ जलपोत।

समुद्री युद्ध के नियमों का विकास (Development of the Laws of Maritime Warfare)—प्राचीन भारत में समुद्री युद्ध के कुछ नियमों का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र (२।२८) में मिलता है। इनके अनुसार हिंसा कार्य में लगी समुद्री डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर देना चाहिये, शत्रु के देश को जाने वाली तथा बन्दरगाह के नियमों को भंग करने वाली नौकाओं का विध्वंस होना चाहिये, दिग्भ्रम अथवा तूफान से भटककर आई नौका की रक्षा पिता की तरह करनी चाहिये, नौकाओं के घाटों और बन्दरगाहों पर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि उन पर किसी शत्रुराज्य की नौका न

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४५८

टिक सके।[2] परायी स्त्री, कन्या या मित्र का अपहरण करने वाले·········अग्नि जैसे विस्फोटक पदार्थ, शस्त्र और विष ले जाने वाले······लम्बे यात्री, बिना मुद्रा के नाव पर यात्रा करने वाले व्यक्ति को अपराधी के रूप में पकड़ लेना चाहिये।[3]

पश्चिमी जगत् में पहले युद्ध के समय समुद्र पर शत्रु की वैयक्तिक (Private) और सार्वजनिक (Public) दोनों प्रकार की सम्पत्ति जब्त एवं राज्यसात् की जा सकती थी। उस समय शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ तटस्थ देशों का माल शत्रु का माना जाता था और शत्रु का माल ढोने वाले तटस्थ देशों के जहाज शत्रु के जलपोत समझे जाते थे। १४वीं शताब्दी में कांसोलेटो डेल मेयर (देखिये ऊपर पृ० ३३) ने इस विषय में कुछ स्पष्ट और सुन्दर नियम बनाये, इनके अनुसार एक युध्यमान देश शत्रु के वैयक्तिक माल और जहाज को जब्त कर सकता था, किन्तु तटस्थ देशों के माल और जहाज के सम्बन्ध में कुछ अपवाद माने गये। शत्रु का जहाज राज्यसात् किया जा सकता था, किंतु उस पर लदा हुआ तटस्थ देश का माल उनके स्वामियों को वापिस करना पड़ता था। इसी प्रकार तटस्थ देशों के जलपोतों पर लदा शत्रु का माल जब्त हो सकता था, किन्तु इन जहाजों को तटस्थ देशों को लौटाना पड़ता था। इन नियमों को इंगलैण्ड ने तो स्वीकार किया, किन्तु हालैण्ड, फ्रांस और स्पेन इनके प्रतिकूल आचरण करते रहे। १९वीं शताब्दी के मध्य में क्रीमिया युद्ध के बाद पेरिस की घोषणा में इन्हें स्वीकार किया गया (देखिये ऊपर पृ० ५०)। १९०० में सं० रा० अमरीका ने समुद्री युद्ध के नियमों की संहिता प्रकाशित की। १९०७ के **दूसरे हेग सम्मेलन** ने समुद्री युद्ध के निम्नलिखित पाँच विषयों पर **अभिसमय** (Conventions) तैयार किये—(क) युद्ध छिड़ने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति सम्बन्धी **छठा अभिसमय**, (ख) वणिक्पोतों के रणपोतों में परिवर्तनविषयक **सातवाँ अभिसमय**, (ग) स्वचालित अधःसमुद्री संस्पर्श सुरंगों (Automatic submarine contact mines) सम्बन्धी **आठवाँ अभिसमय**, (घ) नौसेनाओं द्वारा बमवर्षाविषयक **नवाँ अभिसमय**, (ङ) समुद्री युद्ध में निग्रह (Capture) के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्धविषयक **दसवाँ अभिसमय**। इन अभिसमयों के अनुसार समुद्री युद्ध के विषय में प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय नियम निम्नलिखित हैं—

शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण (Attack on Enemy Ships and Seizure)—समुद्री युद्ध में शत्रु के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग का सबसे बड़ा साधन उसके जलपोतों पर आक्रमण करना और इनको पकड़ लेना है, इससे शत्रु के जहाजों के साथ-साथ, उस पर लदा हुआ माल तथा उस पर सवार शत्रुजन भी आक्रांता के हाथ में पड़ जाते हैं, वह इन जहाजों को तथा माल को हथियाकर इनका आत्मसात्करण (Appropriation) कर सकता है तथा शत्रुजनों को युद्धबन्दी बना लेता

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।२८, हिंस्रिका निर्घातयेत्। अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च·········मूढवाताहतां तां पितेवानुगृह्णीयात्। ·········बद्धतीर्थाश्चैताः कार्या राजद्विष्टकारिणां तरणभयात्।

३. वही—परस्य भार्यां कन्यां वित्तं वापहरन्त·········अग्नियोगं विषहस्तं दीर्घपथिकममुद्रं चोपग्राहयेत्।

है। इस प्रकार वह शत्रु को गहरा धक्का पहुँचाता है। ग्रापेनहाइम के कथनानुसार कोई भी युध्यमान (Belligerent) पक्ष शत्रु के सभी रणपोतों (Men of War) तथा सार्वजनिक जलपोतों पर अपने रणपोतों द्वारा महासमुद्रों (High seas) में अथवा दोनों पक्षों के प्रादेशिक समुद्रों (Territorial waters) में तुरंत आक्रमण कर सकता है[४] और इस प्रकार हमला किये गए जहाज को प्रत्याक्रमण करने का पूरा अधिकार है। किन्तु शत्रु के वणिक्पोतों (Merchantmen) पर तभी आक्रमण किया जाता है, जब वे उचित रीति से संकेत दिये जाने पर भी अपना निरीक्षण और तलाशी कराने से इन्कार करें। शत्रु के वणिक्पोतों को यह अधिकार है कि वे ऐसी तलाशी देना स्वीकार न करें और अपनी रक्षा करें, किन्तु पेरिस की घोषणा के अनुसार इन पर आक्रमण करने का अधिकार केवल शत्रु के रणपोत को है। किसी युध्यमान पक्ष का कोई वणिक्पोत यदि शत्रु के सार्वजनिक या वैयक्तिक जहाज पर आक्रमण करे तो उसे समुद्री डाकू या जलदस्यु (Pirate) समझा जायेगा और इनके नाविकों को युद्धबन्दी नहीं, किन्तु युद्धापराधी (War criminals) माना जायेगा। शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर वणिक्पोत को यह अधिकार है कि वह उस पर प्रत्याक्रमण करे और आवश्यकता होने पर उसका पीछा करे। यदि वणिक्पोतों पर शत्रु बिना चेतावनी दिये आक्रमण करता है, तो इन्हें शत्रु के पोत द्वारा आक्रमण की प्रतीक्षा किये बिना उस पर हमला करने का हक है। प्रथम विश्वयुद्ध में १९१५ में जब जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के वणिक्पोतों को अपनी पनडुब्बियों द्वारा बिना चेतावनी के डुबाना शुरू किया तो मित्रराष्ट्रों के व्यापारिक पोतों के लिए यह सर्वथा वैध समझा जाने लगा कि वे इन्हें टक्कर मारकर (Ram) नष्ट कर दें। यद्यपि जुलाई १९१६ में ब्रुसेल्ज नामक जहाज के नायक फ्रियट (Fryatt) को जर्मन पनडुब्बी यू-३३ को इस प्रकार टक्कर लगाने के लिये मुकद्दमा चलाकर प्राणदण्ड दिया, किन्तु ग्रापेनहाइम की सम्मति में यह न्यायालय द्वारा की गई हत्या (Judicial murder) के अतिरिक्त कुछ नहीं था।[५]

युद्ध करने वाले देश अपने रणपोतों द्वारा शत्रु के निम्नलिखित प्रकार के जहाजों पर आक्रमण नहीं कर सकते—

(१) **चिकित्सालय पोत** (Hospital Ships)—१९४९ के **हेग अधिनियमों** के अनुसार चिकित्सा के मानवीय कार्य में संलग्न होने के कारण चिकित्सालय-पोतों (Hospital Ships) पर न तो आक्रमण हो सकता है और न ही इन्हें पकड़ा जा सकता है। ऐसे जहाजों पर पहचान के लिये रेडक्रास का चिह्न बना होता है। पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के अनेक चिकित्सालय-पोतों पर आक्रमण करके इन्हें डुबाया था। मित्रराष्ट्रों द्वारा इस अवैध कार्य के प्रतिवाद पर उसने यह उत्तर दिया था कि चिकित्सालय-पोतों की पहचान बड़ी कठिन है तथा इनका उपयोग सैनिक प्रयोजनों के लिये होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान ने ऐसे अनेक पोत डुबाये थे। किन्तु यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध और अत्यन्त गर्हणीय है, क्योंकि इससे न

४. ग्रापेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४६५-६

५. ग्रापेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४६८

केवल युद्ध में आहत और बीमार व्यक्तियों का, अपितु इनकी सेवा के पवित्र कार्य में लगे हुए चिकित्सकों तथा अन्य व्यक्तियों का हनन होता है।

(२) **धार्मिक, वैज्ञानिक या परोपकारी कार्यों में संलग्न पोत** भी शत्रु के रणपोत द्वारा नहीं पकड़े जा सकते; किन्तु यदि ये शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं तो इनकी यह उन्मुक्ति (Immunity) समाप्त हो जाती है (हेग के ११वें अभिसमय का ४था अनुच्छेद)।

(३) **युद्धबन्दियों के विनिमय** के कार्य में लगे पोत (Cartel Ships) भी अनाक्रमणीय होते हैं।

(४) १९वीं शती से समुद्री तट पर **मछली पकड़ने वाले जहाजों को** युध्यमान शत्रु के रणपोतों द्वारा आक्रमण और अधिग्रहण से उन्मुक्त समझा जाता है। दूसरे हेग सम्मेलन के ११वें अभिसमय के तीसरे अनुच्छेद के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि समुद्रतट से लगे हुए प्रदेश में मछली पकड़ने वाली तथा स्थानीय व्यापार में लगी हुई छोटी किश्तियाँ अपने सब सामान और उपकरणों के साथ शत्रु द्वारा नहीं पकड़ी जा सकतीं।

(५) कई बार समुद्री तूफान के कारण जहाजों को शत्रु के बन्दरगाह में विवश होकर शरण लेनी पड़ती है, इस अवस्था में कई उदाहरणों में शत्रु के जहाजों के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया गया है और उन्हें पकड़ा नहीं गया। १७४६ में ग्रेट ब्रिटेन के स्पेन के साथ युद्ध के समय **एलिजाबेथ** नामक ब्रिटिश रणपोत को समुद्री तूफान से बचने के लिये हवाना के स्पेनिश बन्दरगाह में शरण लेनी पड़ी, स्पेन ने इसे पकड़ने के स्थान पर मरम्मत की सुविधायें दीं तथा बरमूडाज के टापू तक सुरक्षित रूप में जाने दिया। १७९९ में फ्रांस और प्रशिया के युद्ध में प्रशिया के एक वणिक्पोत डायना (Diana) को डन्कर्क के फ्रेंच बन्दरगाह में शरण लेनी पड़ी, फ्रेंच नौसेना ने इसे यद्यपि पकड़ लिया, किन्तु फ्रेंच अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) ने इसे छोड़ दिया। आपेनहाइम ने लिखा है[६] कि उपर्युक्त उदाहरण होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसे जहाजों को आक्रमण से मुक्ति नहीं प्रदान करता।

(६) १९०७ के **छठे हेग अभिसमय** के अनुसार निम्न प्रकार के वणिक्पोतों को शत्रु के आक्रमण से आंशिक उन्मुक्ति प्राप्त है—(क) युद्ध छिड़ने पर शत्रु के बन्दरगाहों में विद्यमान तथा (ख) युद्ध छिड़ने से पहले पिछले बन्दरगाह से चले हुए तथा युद्ध की सूचना से अनभिज्ञ वणिक्पोत—क्रीमियन युद्ध शुरू होने पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने रूस के जहाजों को ऐसी उन्मुक्ति प्रदान की थी। १८७० में जर्मनी ने फ्रेंच जहाजों के साथ ऐसा व्यवहार किया था। १८७७ में रूस ने टर्की के साथ लड़ाई छिड़ने पर तथा १८९८ में सं० रा० अमरीका ने स्पेन के साथ और १९०४ में रूस और जापान ने एक-दूसरे के जहाजों के सम्बन्ध में इस नियम का पालन किया। १९०७ के छठे हेग अभिसमय के अनुच्छेद २ के अनुसार युद्ध छिड़ने पर शत्रु के बन्दरगाह में विद्यमान

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ४७९

जहाज को यह उन्मुक्ति दी गई थी। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध में इस नियम का पालन बहुत कम हुआ। अतः १९२५ में ग्रेट ब्रिटेन ने इस अभिसमय का भविष्य में पालन न करने की घोषणा की। आपेनहाइम के मतानुसार आजकल इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम नहीं है।[7]

डाक ले जाने वाले जहाजों और डाक के थैलों को शत्रु द्वारा पकड़े जाने के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सामान्य नियम नहीं है। इस विषय में कई देशों ने पारस्परिक समझौतों और सन्धियों द्वारा यह तय किया है कि युद्ध के समय में भी बिना किसी बाधा के दोनों देशों की डाक, जहाजों द्वारा यथापूर्व भेजी जाती रहेगी। **११वें हेग अभिसमय** के पहले अनुच्छेद के अनुसार तटस्थ अथवा युध्यमान देशों की सरकारी और गैर-सरकारी—दोनों प्रकार की डाक अनतिक्रम्य (Inviolable) है, चाहे यह तटस्थ देश के जहाज पर लदी हो या शत्रु के जहाज से लायी जा रही हो। किन्तु परिवेष्टित (Blockaded) बन्दरगाह की डाक के बारे में यह छूट नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध में केन्द्रीय शक्तियों ने इसका बड़ा दुरुपयोग किया, दूसरे विश्वयुद्ध में भी ऐसा हुआ। इसे रोकने के लिए मित्रराष्ट्रों ने डाक की जांच करना शुरू कर दिया, जांच के बाद आपत्तिरहित डाक ही शत्रु को या तटस्थ देशों को भेजी जाती थी। डाक की यह छूट केवल पत्रव्यवहार तक ही सीमित है, पार्सलों के सम्बन्ध में यह छूट नहीं है।

शत्रु की सेवा में लगे तटस्थ जलपोत (Neutral Merchantships in Enemy Service)—१९०९ की **लन्दन-घोषणा में** यह कहा गया था कि तटस्थ जहाज निम्नलिखित अवस्थाओं में पकड़े तथा दण्डित किये जा सकते हैं—(क) यदि ये लड़ाई में भाग लें। (ख) यदि शत्रु की सरकार के आदेश में हों। (ग) यदि ये अनन्य रूप से शत्रु की सरकार के कार्य में लगे हों। (घ) यदि ये पूर्णरूप से शत्रु की सेनाओं की ढुलाई में अथवा शत्रु को लाभ पहुँचाने वाली सूचना को देने में लगे हुए हों।

सांस्कृतिक सामग्री का जब्त न किया जाना—१४ मई १९५४ को सम्पन्न हुए हेग अभिसमय (Hague Convention of 1954) के अनुसार शत्रुदेश से सम्बन्ध रखने वाली सांस्कृतिक सामग्री—मूर्तियाँ, चित्र, कलात्मक वस्तुयें, पाण्डुलिपियाँ तथा संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न पदार्थों को तथा इनके परिवहन में लगे जहाजों को न तो जब्त किया जा सकता है और न ही अधिगृहीत सामग्री (Prize) के रूप में छीना जा सकता है। भारत-पाक संघर्ष के समय विदेशों में भारतीय कला की प्रदर्शनी के लिए भेजी गई कलात्मक वस्तुओं और मूर्तियों का सामान ले जाने वाले एक जहाज को पाकिस्तान ने रोकने की विफल चेष्टा की थी।[8]

तटीय नगरों की बमवर्षा (Bombardment of Coastal Towns)—१९०७ के **ग्यारहवें हेग अभिसमय** के अनुच्छेद १ में यह व्यवस्था की गई है कि रक्षा न किये जाने वाले बन्दरगाहों, कस्बों, गाँवों, निवासगृहों तथा इमारतों पर नौसेना द्वारा गोलाबारी करना सब परिस्थितियों में वर्जित है। किसी स्थान पर केवल इसलिए बमवर्षा

आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ३३५
हिन्दुस्तान टाइम्स, १८ अक्टूबर १९६५

नहीं की जा सकती कि वहाँ बन्दरगाह से कुछ दूरी पर समुद्र में सुरंगें बिछाई गई हैं। अनुच्छेद २ में शत्रु द्वारा उपयोग में लाये जा सकने वाले तथा रक्षा न किये जा सकने वाले सैनिक अथवा नौसैनिक स्थानों, युद्ध-सामग्री के भण्डारों, कारखानों, बन्दरगाह में खड़े रणपोतों पर गोलाबारी करने की अनुमति दी गई है, बशर्ते कि इससे पूर्व स्थानीय अधिकारियों को इन्हें नष्ट करने की सूचना दी गई हो, और उन्होंने इसका पालन न किया हो। अनुच्छेद ५ में सैनिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त न होने वाली तथा विशेष चिह्नों से अंकित, सार्वजनिक पूजा, परोपकार तथा चिकित्सा के कार्य करने वाली इमारतों पर गोलाबारी करना वर्जित ठहराया गया है। अनुच्छेद ६ के अनुसार गोलाबारी शुरू करने से पहले उसकी पूर्व सूचना अवश्य दी जानी चाहिएँ।

सितम्बर १९६५ के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान ने उपर्युक्त सभी नियमों की अवहेलना करते हुए अपनी नौसेना के रणपोतों द्वारा ८ सितम्बर १९६५ को प्रातःकाल काठियावाड़ के समुद्री तट पर अवस्थित द्वारका के बन्दरगाह पर गोलाबारी की। यह एक प्राचीन धार्मिक स्थान और श्रीकृष्ण के जीवन से संबद्ध होने के कारण पवित्र तीर्थ माना जाता है, यहाँ कोई सैनिक अड्डे या विमान नहीं थे। यह सर्वथा असैनिक अरक्षित बन्दरगाह था। इस पर बमवर्षा करना हेग के उपर्युक्त ११वें अभिसमय के अनुच्छेद १ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से निषिद्ध था।

सुरंगें (Mines)—१९०७ के **सातवें हेग अभिसमय** में इनका विशद वर्णन है। इनमें ऐसी स्वचालित, संस्पर्श से फटने वाली सुरंगों (Automatic Contact Mines) के बिछाने का निषेध किया गया है, जो बिछाने वालों का इन पर नियन्त्रण समाप्त होने के १ घण्टे के भीतर हानिरहित न हो जाती हों। लंगर वाली (Anchored) तथा इस अवधि में हानिरहित न होने वाली सुरंगें नहीं बिछानी चाहिएँ। इन्हें समुद्री व्यापार रोकने की दृष्टि से शत्रु के बन्दरगाहों या तट के सामने बिछाना वर्जित है। जब कभी स्वचालित सुरंगें बिछाई जायें तो इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि इससे शान्तिमय समुद्री व्यापार को कोई हानि न पहुँचे। युध्यमान पक्षों को इन सुरंगों को निश्चित अवधि में हानिरहित बना देना चाहिए और यदि ये सुरंगें उनके नियन्त्रण से बाहर हो जायें तो इस खतरे की सूचना सम्बद्ध सरकारों तथा जहाजों के मालिकों को यथासम्भव शीघ्र ही देनी चाहिए।

हालैण्ड के मतानुसार यह अभिसमय (Convention) बड़ा दोषपूर्ण था। इसमें लंगर वाली (Anchored) सुरंगों के बिछाने के क्षेत्र पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई गई थी। इस समय जर्मन प्रतिनिधियों ने यह दावा किया था कि उन्हें महासमुद्रों में सुरंगें बिछाने का अधिकार है। रूस आदि सात देशों ने इस अभिसमय पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। जर्मनी ने दोनों विश्वयुद्धों में इस समझौते की व्यवस्थाओं का उल्लंघन किया। २३ अगस्त १९१४ को ब्रिटिश नौसेना विभाग ने यह घोषणा की कि "सामान्य व्यापारिक मार्गों पर जर्मन लोग अविवेकपूर्ण नीति से सुरंगें बिछा रहे हैं, ये कुछ निश्चित घण्टों के बाद हानिरहित नहीं हो जातीं, इन्हें किसी विशेष सैनिक योजना के अनुसार नहीं, किन्तु ब्रिटिश जंगी एवं व्यापारिक जहाजों को नष्ट करने के

इरादे से बिछाया जा रहा है।" जर्मनी के इस अवैध कार्य के प्रत्युत्तर में ग्रेट ब्रिटेन ने २३ अक्टूबर १९१४ को कुछ सूचित क्षेत्रों में सुरंगें बिछाने की घोषणा की। जब जर्मनी ने अन्य व्यापारिक मार्गों पर सुरंगें बिछाईं तो ब्रिटिश सरकार ने भी सुरंग बिछाने के क्षेत्रों को अधिक विस्तृत कर दिया। इस प्रकार व्यापारिक मार्गों पर महासमुद्रों में सुरंगें बिछाना तटस्थ देशों के अधिकारों का तथा महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल हनन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध और जघन्य कार्य है।

पनडुब्बियां (Submarines)—पनडुब्बियों के लिए यह सर्वथा वैध है कि वे शत्रु के व्यापारिक जहाजों को निरीक्षण और तलाशी के बाद पकड़ लें तथा शत्रु के जंगी जहाजों को बिना किसी पूर्व सूचना के डुबा दें। किन्तु उसके लिए सबसे बड़ी समस्या यह है कि ये जिस जहाज को डुबाती हैं, उस पर सवार व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं कर सकतीं। इनके लिए आक्रमण किये जाने वाले जहाज का स्वरूप पहचानना भी कठिन होता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्रों के जहाजों को प्रबल हानि पहुँचाई थी। ७ मई १९१५ को २००० सवारियों को ले जाने वाले यात्री जहाज **लूसिटानिया** को जर्मन पनडुब्बी ने टारपीडो किया, इससे इसके १२०० यात्रियों की प्राणहानि हुई, इनमें अधिकांश अमरीकन थे। जब सं० रा० अमरीका ने जर्मनी से इसका प्रतिवाद करते हुए हेग अभिसमय के नियमों का पालन करने को कहा तो उसने यह उत्तर दिया कि ये नियम उस समय बनाये गये थे, जब लोगों को पनडुब्बियों द्वारा युद्ध की स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। पनडुब्बियाँ यात्रियों और लड़ाई में भाग न लेने वालों की सुरक्षा नहीं कर सकतीं, यह भी सम्भव नहीं है कि वे आक्रमण करने से पूर्व जहाज के यात्रियों तथा नाविकों को चेतावनी देकर उन्हें प्राणरक्षा के लिए जीवन-नौकाओं में सवार होने का अवसर दें क्योंकि इसी बीच में उन पर शत्रु के रणपोत आक्रमण कर सकते हैं। जर्मनी ने अपने इस कार्य को सैनिक आवश्यकता तथा मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध प्रत्यपहार (Reprisal) के वैध उपाय के रूप में न्यायानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

१९२२ में **वाशिंगटन सम्मेलन** ने पनडुब्बियों द्वारा व्यापारिक जहाजों का डुबाना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोधी होने के कारण अवैध माना। **१९३० की लन्दन की नाविक सन्धि** ने पनडुब्बियों के लिए समुद्रतल पर चलने वाले जहाजों के नियम लागू किये तथा व्यापारिक जहाजों पर इनके आक्रमण से पूर्व इस पर सवार व्यक्तियों तथा नाविक वर्ग की सुरक्षा पर बल दिया। इस सन्धि को १९३६ के **लन्दन पनडुब्बी प्रोतोकोल** के रूप में ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका, फ्रांस, इटली और जापान ने तथा बाद में जर्मनी तथा सोवियत रूस ने भी स्वीकार किया। किन्तु १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मनी ने १९३६ के प्रोतोकोल की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हुए शत्रु एवं तटस्थ देशों के व्यापारिक जहाजों को, उन पर लदी सवारियों और नाविक वर्ग की सुरक्षा की व्यवस्था किये बिना बड़ी निष्ठुरता से डुबाना शुरू किया। सितम्बर १९३९ में ब्रिटिश जहाज **एथीनिया** (Athenia) बिना किसी चेतावनी के डुबा

दिया गया। इसके प्रत्युत्तर में मई १९४० में ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि स्कैग-रैक (नार्वे तथा डेनमार्क के बीच में **उत्तरी समुद्र** का भाग तथा उस समय नार्वे पर जर्मन आक्रमण का महत्वपूर्ण मार्ग) के समुद्र में ज्यों ही कोई जहाज दिखाई देगा, उसे फौरन नष्ट कर दिया जायेगा। २१ मई १९४१ को एक जर्मन पनडुब्बी ने दक्षिणी अटलाण्टिक सागर में सं० रा० अमरीका के एक जहाज **दी राबिन मूर** (The Robin Moor) को चेतावनी देने के ३० मिनट के भीतर डुबा दिया, इसकी सवारियों तथा नाविकों की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। अमरीकन राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने इस कार्य की निन्दा करते हुए यह घोषणा की कि "इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तथा मानवीयता के आरम्भिक सिद्धान्तों की पूरी अवहेलना प्रदर्शित की गई है। इस कारण राबिन मूर का डुबाना अन्तर्राष्ट्रीय आततायीपन (International outlawry) का कार्य बन गया है।" सं० रा० अमरीका में इस घटना से लूसिटानिया की घटना जैसा प्रबल रोष उत्पन्न हुआ। इससे भी अधिक जघन्य घटना यूनानी जहाज पेलियस (Paleus) का बिना किसी चेतावनी के दक्षिणी अटलाण्टिक में डुबाना था। आक्रमण के समय यह जहाज समुद्रतट से ३०० मील दूर था तथा पनडुब्बी ने समुद्रतल के ऊपर जाकर इस जहाज के नष्ट होने के बाद बचे हुए व्यक्तियों को मारने के लिए गोलाबारी भी की। इसके परिणामस्वरूप तीन व्यक्तियों के अतिरिक्त इस जहाज के सभी व्यक्ति मर गये।

१९४९ के **जेनेवा अभिसमय** में समुद्री युद्ध में नौसेनाओं के आहत होने वालों तथा बीमारी की और जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उस पर सवार व्यक्तियों और नाविकों की दशा सुधारने के अनेक नियम बनाये गये हैं।

स्थल युद्ध की भाँति समुद्री युद्ध में भी ऐसे छलपूर्ण उपायों (Ruses) का प्रयोग वैध माना जाता है, जिनमें विश्वासघात (Perfidy) न किया जाय। उदाहरणार्थ, समुद्री युद्ध में जहाज पर शत्रु का अथवा तटस्थ देश का झूठा झण्डा लगाया जा सकता है। किन्तु आक्रमण करने से पहले पोत को अपनी वास्तविक ध्वजा लगा लेनी चाहिए। प्रथम युद्ध में एक जर्मन क्रूज़र एमडन (Emden) ने अपना यथार्थ रूप छिपाने के लिए जापान का झण्डा लगा लिया। इस झण्डे के कारण वह मलाया राज्य में पीनांग के बन्दरगाह से सुरक्षित निकल गया। आगे बढ़ने पर इसे रूसी क्रूज़र ज़मशुग (Zhemshug) मिला। इस पर इसने अपना जापानी झण्डा उतार लिया और इसके स्थान पर जर्मन झण्डा फहराने के बाद ही रूसी क्रूज़र पर हमला किया, गोला-बारी की तथा टारपीडो करके इसे नष्ट कर दिया।

चौबीसवां अध्याय

अधिग्रहण न्यायालय

(Prize Courts)

अधिग्रहण न्यायालयों का अर्थ (Meaning of Prize Courts)—महासमुद्रों में पकड़े और छीने हुए शत्रु के जहाज तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री अधिगृहीत सामग्री या अधिग्रहण (Prize) कहलाती है।[1] इसका स्वरूप स्थलीय युद्ध में छीनी गई शत्रु की सम्पत्ति से भिन्न होता है। अधिग्रहण पर तब तक न्यायोचित स्वत्व नहीं समझा जाता, जब तक कि इसका निर्णय करने के लिए बनाये गये न्यायालय छीने हुए माल के बारे में अपने फैसले की घोषणा नहीं कर देते। समुद्र में पकड़ी गई सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में अनेक विवाद हो सकते हैं, कई बार ऐसा संदेह उत्पन्न हो सकता है कि यह शत्रु की सम्पत्ति है या तटस्थ देश की। सम्पत्ति छीनने वाले को स्वयमेव इस पर अधिकार करने देना न्याय के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इस सम्पत्ति के स्वामित्व और स्वत्व पर विचार करने के लिए इसे न्यायालयों में लाना अत्यधिक वांछनीय है। यह वांछनीयता उस अवस्था में अनिवार्य हो जाती है, जबकि इस सम्पत्ति के सम्बन्ध में तटस्थ देशों का अधिकार और दावा हो, क्योंकि युद्ध में दोनों युध्यमान पक्षों का कर्त्तव्य है कि वे तटस्थ देशों की सम्पत्ति अक्षत और सुरक्षित रखें। अतः समुद्री युद्ध में छीनी गई या अधिगृहीत बहुमूल्य सम्पत्ति के स्वत्व निर्धारण के लिए विशेष न्यायालय बनाये जाते हैं। इन्हें अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) कहा जाता है। लारेन्स ने इनका लक्षण करते हुए कहा है कि अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायालय (Municipal Courts) होते हैं, ये युध्यमान देशों (Belligerents) द्वारा अपने प्रदेश में, अपने द्वारा अधिकृत प्रदेश में अथवा अपने मित्र के प्रदेश में इस उद्देश्य से स्थापित किये जाते हैं कि ये अपने रणपोतों या क्रूज़रों द्वारा पकड़े हुए माल की वैधता का निर्णय करें। मित्र के देश में ऐसा न्यायालय स्थापित करने से पहले उसकी स्वीकृति लेना आवश्यक है।[2]

१. हिन्दी में Prize के लिये कुछ लेखकों ने जयलाभ शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु जयलाभ बहुत सामान्य शब्द है। यह स्थल एवं जल दोनों युद्धों में किसी प्रकार जीती हुई वस्तु के लिये प्रयुक्त हो सकता है। Prize समुद्री युद्ध में छीनी गई वस्तु के लिए ही व्यवहृत होता है। इसके लिये नौलुण्ठन तथा ऐसे न्यायालयों के लिये नौलुण्ठन न्यायालय के शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु इसमें लूट की अपेक्षा पकड़ने और छीनने का भाव अधिक है, अतः यहाँ इसके लिए अधिग्रहण शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. लारेन्स—दी प्रिन्सिपल्स ग्राफ इण्टरनेशनल लॉं, पृ० ४६०

अधिग्रहण न्यायालयों का विकास (Evolution of Prize Courts)—पश्चिमी जगत् में मध्य युग में शनैः-शनैः विशेष परिस्थितियों के कारण इन न्यायालयों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। आपेनहाइम के मतानुसार इसका उद्गम मध्ययुग के अन्त में हुआ।[3] रोमन साम्राज्य के पतन के बाद महासमुद्रों में किसी सुदृढ़ शक्ति के अभाव से अराजकता मच गई। उत्तरी एवं बाल्टिक समुद्रों में डेन लोगों के समुद्री डकैती करने वाले जहाज चक्कर काटने लगे, भूमध्य सागर में यूनानी और अरब जलपोत ऐसा कार्य करने लगे। इससे वणिक्पोतों के लिए बड़ा संकट उत्पन्न हो गया, वे अपनी रक्षा के लिए एकत्र होकर विशाल बेड़े बनाकर एक जलसेनानायक या एडमिरल (यह अरबी में समुद्र के शासक का अर्थ देने वाला अमीरुलबहर का योरोपियन रूप है) के नेतृत्व में चलने लगे। इस बेड़े के व्यक्ति समुद्री डाकुओं के साथ संघर्ष होने पर उनका कुछ माल पकड़ लेते थे, कई बार समुद्रों से डाकुओं की सफाई करने के लिए कुछ सशस्त्र जहाज भेजे जाते थे। इन जहाजों द्वारा पकड़ा हुआ माल एडमिरल के आगे निर्णयार्थ उपस्थित किया जाता था। १३वीं शताब्दी में योरोप के सामुद्रिक राज्यों ने समुद्री डाकुओं की सफाई करने के लिए कुछ सशस्त्र जहाजों को इन्हें पकड़ने के लिए **अधिकार-पत्र** (Letters Patents or Letters of Marque) देने शुरू किये। इन जहाजों द्वारा पकड़ा हुआ माल **अधिकार-पत्र** प्रदान करने वाले राज्यों के नियन्त्रण में दिया जाता था। उस समय के सामुद्रिक राज्यों ने इसके लिए एडमिरल्टी (Admiralty) नामक बोर्ड बनाया तथा इसके अधिकारी सशस्त्र जहाजों पर तथा इसके द्वारा पकड़े गये माल पर नियन्त्रण रखते थे, वे ऐसे प्रत्येक माल के सम्बन्ध में पूरी जाँच करके उस माल और जहाज के स्वामित्व के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते थे। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के बाद यह इनका सर्वमान्य प्रथागत नियम (Customary rule) समझा जाने लगा कि युद्ध छिड़ने पर सामुद्रिक युद्ध में संलग्न दोनों पक्षों के नौविभाग (Admiralty) ऐसे न्यायालय स्थापित करें जो सार्वजनिक पोतों द्वारा पकड़े गये या अधिगृहीत माल की वैधता पर विचार करें, २० जुलाई १५८६ को इंगलैण्ड में एक आर्डर-इन-कौंसिल द्वारा सर्वप्रथम यह व्यवस्था की गई कि समुद्र में पकड़ा गया सारा माल नौसेना के उच्च न्यायालय में निर्णय के लिये लाया जाय। इस प्रकार के अधिग्रहण न्यायालय अनेक अन्य देशों में भी स्थापित किये गये। आजकल सब देशों में या तो स्थायी अधिग्रहण न्यायालय हैं या इन्हें युद्ध छिड़ने पर विशेष रूप से स्थापित किया जाता है।

अधिग्रहण न्यायालयों के कार्य (Functions of Prize Courts)—प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय को निम्न कार्य (Commission) सौंपा गया था। इसे यह अधिकार था कि यह ब्रिटिश नौसेना द्वारा छीने, पकड़े और जब्त किये जाने वाले सब जहाजों की और इन पर लदे माल की जानकारी रखे, इन पर कानूनी विचार करे, ब्रिटिश नौविभाग के तथा राष्ट्रों के कानून के अनुसार जर्मन साम्राज्य के तथा उनके नागरिकों से सम्बन्ध रखने वाले सब जहाजों के और माल के

३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० ४८३

बारे में अपना निर्णय करे तथा इसके विषय में अपनी दण्डाज्ञा (Condemnation) को सुनाये। १६३६ में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर इसमें शत्रु के पकड़े गये हवाई जहाजों को भी सम्मिलित कर लिया गया। पिट काबेट के मतानुसार इन न्यायालयों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—(क) समुद्र में पकड़े जाने वाले माल के मामलों की जाँच, (ख) पकड़े हुए माल के शत्रु की सम्पत्ति होने पर इसके वैध अधिग्रहण (lawful prize) होने की तथा इसे जब्त करने की दण्डाज्ञा देना, (ग) वैध अधिग्रहण न होने की दशा में इसे वापिस करने अथवा इसका हर्जाना देने की आज्ञा देना, (घ) लूट और अव्यवस्था से सब देशों के माल को सुरक्षित रखना।

किसी देश के अधिग्रहण न्यायालय का क्षेत्राधिकार युद्ध के समय इस देश के रणपोतों अथवा नौसेनाओं द्वारा महासमुद्रों में पकड़ा गया सभी प्रकार का माल होता है। ज्यों ही नौसेना द्वारा कोई जलपोत या माल पकड़ा जाय तो इसे फौरन निर्णय के लिये अपने देश के निकटतम बन्दरगाह में लाया जाना चाहिये। किन्तु यदि कोई जहाज इस तरह विध्वस्त हो गया हो कि उसे अपने देश तक ले जाना सम्भव न हो, तो समीपस्थ तटस्थ देश की अनुमति से उसे उसके किसी बन्दरगाह में ले जाया जा सकता है। पकड़े गये जहाज के समूचे माल और नाविक वर्ग को उस समय तक उस पर रहना चाहिये, जब तक कि वे निर्णयार्थ तय किये गये बन्दरगाह में नहीं पहुँच जाते। किन्तु यदि माल ऐसी दशा में है कि उसकी ढुलाई उस बन्दरगाह तक सम्भव नहीं है तो इसे निकटतम बन्दरगाह में बेचकर उसकी धनराशि न्यायालय को भेजी जानी चाहिये। यह नियम तटस्थ देश के माल के सम्बन्ध में भी लागू होता है। **पेरिस की घोषणा** के अनुसार विनिषिद्ध (Contraband) द्रव्य न होने पर तटस्थ देशों का माल उन्हें लौटा देना चाहिये। न्यायालय जहाज के सब कागजों की जांच और निरीक्षण तथा दोनों पक्षों का विवरण सुनने के बाद अपना निर्णय देते हैं। माल के स्वामित्व, स्वत्व और व्यवस्था के सम्बन्ध में इनका निर्णय अन्तिम होता है, किसी दूसरे देश को इस पर पुनर्विचार कराने का अधिकार नहीं है।

अधिग्रहण न्यायालयों के कर्त्तव्य (Duties of Prize Courts)—ये न्यायालय यद्यपि राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) द्वारा स्थापित किये जाते हैं, तथापि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार विवादों का निर्णय करते हैं। अतएव इसके न्यायाधीशों का दायित्व बड़ा जटिल होता है। उन्हें राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान रखना पड़ता है। लार्ड स्टोवैल ने (Stowell) ने **मेरिया** (Maria) नामक स्वीडिश जहाज के मामले में १७६६ में इसका वर्णन करते हुए कहा था कि मेरा कर्त्तव्य "किसी विशेष राष्ट्रीय स्वार्थ के प्रयोजनों को पूरा करने वाली सामयिक तथा बदलती रहने वाली सम्मतियाँ देना नहीं है, किन्तु राष्ट्रों के कानून द्वारा तटस्थ एवं युध्यमान सभी स्वतन्त्र देशों को बिना किसी भेदभाव के प्रदान किये जाने वाले निष्पक्ष न्याय का वितरण करना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ज्ञात कानून और देशों के आचार के अनुसार न्यायिक सत्ता (Judicial authority) का स्थान युध्यमान देश में है, किन्तु इसके कानून का कोई विशेष स्थान नहीं है। न्यायासन पर

बैठने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह यहाँ किसी प्रश्न का उसी प्रकार निर्णय करे, जैसे इस प्रश्न का समाधान स्टाकहोल्म में इस आसन पर बैठने वाला व्यक्ति करेगा। वह इसमें ग्रेट ब्रिटेन की ओर से ऐसे कोई दावे नहीं स्वीकार करेगा जो वह उन्हीं परिस्थितियों में स्वीडन के लिये स्वीकरणीय नहीं समझता। तटस्थ देश के रूप में वह स्वीडन पर ऐसे कोई दायित्व नहीं डालेगा, जिन्हें वह इसी रूप में ग्रेट ब्रिटेन के लिये स्वीकार नहीं करना चाहता।" लार्ड स्टोवैल ने १८०७ में **रिकवरी** (Recovery) नामक जहाज के मामले में इस पर अधिक प्रकाश डालते हुए लिखा था—"यह स्मरण रखना चाहिये कि ग्रेट ब्रिटेन के राजा के प्रदेश में यहां बैठने वाला न्यायालय राष्ट्रों के कानून का न्यायालय है। यह अन्य देशों से वैसा ही सम्बन्ध रखता है, जैसा हमसे सम्बन्ध रखता है। विदेशियों को यह अधिकार है कि वे इससे यह माँग करें कि यह हमारे राष्ट्रीय विधिशास्त्र (Municipal Jurisprudence) से ग्रहण किये सिद्धान्तों के अनुरूप, राष्ट्रों के कानून के अनुसार निर्णय करे।"

अधिग्रहण न्यायालयों का दर्जा (Status of Prize Courts)—इस विषय में विधिशास्त्री एकमत हैं कि अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नों पर विचार करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं, किन्तु राष्ट्रीय (Municipal) न्यायालय है। आपेनहाइम ने राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्मित और संगठित होने के कारण इसे राष्ट्रीय न्यायालय माना है। लारेन्स का भी यही मत है कि अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (Municipal Tribunals) हैं। वर्तमान समय में अधिकांश विचारक न तो इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय समझते हैं और न ही इसके निर्णयों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानते हैं, यद्यपि सामान्यतः ये निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित होते हैं।

अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा लागू किया जाने वाला कानून (The Law of Prize Courts)—ये न्यायालय राष्ट्रीय होते हुए भी समुद्री युद्ध में छीने गये माल के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करते हैं। लार्ड स्टोवैल के ऊपर उद्धृत निर्णय से यह स्पष्ट है कि इन्हें अपना निर्णय देते हुए राष्ट्रीय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी ध्यान रखना पड़ता है। इस कारण यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि ये किस कानून को लागू करते हैं, राष्ट्रीय को या अन्तर्राष्ट्रीय को ? यदि इंगलैण्ड में ब्रिटिश पार्लियामैंट द्वारा पास किये गये अथवा आर्डर-इन-कौंसिल से किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम का विरोध या संघर्ष हो तो कौनसा कानून लागू किया जायेगा।[४]

इस प्रश्न के सम्बन्ध में लार्ड स्टोवैल ने **फाक्स** नामक जहाज के मामले (Fox's case) में विचार करते हुए १८११ में कहा था—"वाद पर विचार के समय यह प्रश्न उठाया गया है कि उस दशा में इस न्यायालय का क्या कर्त्तव्य होगा, जबकि कोई आर्डर-इन-कौंसिल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल हो। एक पक्ष ने यह तर्क दिया है कि न्यायालय सब अवस्थाओं में आर्डर-इन-कौंसिल को लागू करने के

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड २, पृ० २८४

लिये बाधित है। दूसरे पक्ष का यह मत है कि वह आर्डर-इन-कौंसिल की उपेक्षा करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने के लिये बाधित है। इस न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि यह अन्य देशों के प्रजाजनों के तथा सरकारों के सम्बन्ध के बारे में राष्ट्रों के कानून का प्रशासन करे। दूसरे देशों की सरकारों को अपने प्रजाजनों के लिये यह माँग करने का तथा ऐसा न होने पर शिकायत करने का अधिकार है। यह इसका अलिखित कानून है, यह इसके निर्णयों से तथा सभ्य राज्यों की सामान्य प्रथा (Common usage) से प्रमाणित होता है। इसके साथ ही यह भी पूर्णरूप से सत्य है कि इस देश के संविधान के अनुसार सपरिषद् राजा (King-in-Council) को इस न्यायालय के बारे में कानून बनाने का अधिकार है तथा इसे ऐसे आदेश निकालने का अधिकार है कि जिनका पालन एवं लागू करना इसका अनिवार्य कर्त्तव्य है। अतः यह न्यायालय राष्ट्रों के कानून के प्रशासन के लिये भी बाधित है और साथ ही यह ऐसे आर्डर-इन-कौंसिल लागू करने के लिये भी बाधित है जो राष्ट्रों के कानून के प्रतिकूल नहीं, क्योंकि सपरिषद् आदेशों (Orders-in-Council) के बारे में यह कल्पना की जाती है कि वे इसके अलिखित कानून के सिद्धान्तों के अनुकूल होंगे।"

लार्ड पार्कर ने **ज़मोरा** (Zamora) के मामले में इस प्रश्न का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करते हुए (देखिये प्रथम परिशिष्ट) कहा था—"अधिग्रहण न्यायालय का प्राथमिक कर्त्तव्य और कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासन करना है। अधिग्रहण न्यायालय पार्लियामेण्ट के कानून से बँधा हुआ है, किन्तु यह सपरिषद् राजा के ऐसे आदेश से बँधा हुआ नहीं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोधी है, या उसके किसी नियम को बदलना चाहता है। किन्तु अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ने वाले पार्लियामेण्ट के कानून को मानने के लिये बाधित है। अतः अधिग्रहण न्यायालय पार्लियामेण्ट के कानूनों को मानने के लिये बाधित है, किन्तु यदि ये राष्ट्रों के कानून के साथ असंगत हों, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासन करने वाला नहीं रह जायेगा और ऐसी व्यवस्थायें करने वाले क्षेत्र में वह अधिग्रहण न्यायालय के उचित कार्य करने से वंचित हो जायेगा।"

उपर्युक्त दोनों निर्णय ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा लागू किये जाने वाले कानून के विषय में कुछ भिन्न स्थिति का प्रतिपादन करते हैं। लार्ड स्टोवैल के मतानुसार ये राष्ट्रीय न्यायालय हैं, आर्डर-इन-कौंसिलों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों से बँधे हुए हैं। दोनों में विरोध सम्भव नहीं है क्योंकि आर्डर-इन-कौंसिलों के सम्बन्ध में यह कल्पना की जाती है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल होंगे। लार्ड पार्कर ने **ज़मोरा** के मामले में इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रशासित करने वाला न्यायालय मानते हुए भी यह स्वीकार किया कि ये आर्डर-इन-कौन्सिलों का पालन करने के लिए नहीं, किन्तु पार्लियामेण्ट के कानून का पालन करने के लिए बँधे हुए हैं। इन दोनों में विरोध होने पर आर्डर-इन-कौंसिल को लागू करते हुए ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के अपने स्वाभाविक कार्य से वंचित हो जाते हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में आपेनहाइम के मतानुसार ये न्यायालय राष्ट्रीय कानून को

ही लागू करते हैं, यह वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून होता है, किन्तु इसे राष्ट्रीय कानून का अंग बना लिया जाता है। लारेन्स का मत है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित राष्ट्रीय कानून होता है। जर्मनी के अधिग्रहण न्यायालयों ने सदैव यह स्वीकार किया है कि ये राष्ट्रीय कानून को ही लागू करते हैं, भले ही यह वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।

पाकिस्तान द्वारा स्थापित अधिग्रहण न्यायालय की अवैधता—१६६५ के भारत-पाक युद्ध के बाद ८ अक्टूबर १६६५ को यह समाचार बम्बई पहुँचा कि पाकिस्तान ने इस बात का निर्णय करने के लिए एक अधिग्रहण न्यायालय बनाने का निश्चय किया है कि पिछले युद्ध में पाकिस्तान द्वारा पकड़े गये भारतीय जहाजों और माल को जब्त करके नीलाम कर दिया जाना चाहिये। इस समय पाकिस्तान के अधिकार में सिंधिया कम्पनी के तीन जहाज—१० हजार टन का भारवाही जलपोत राजेन्द्र, ३५०० टन का समुद्री तटीय तोप (Coastal Liner) सरस्वती तथा ५०० टन का लघु पोत शकीला थे। इनमें से पहले दो जहाज लड़ाई छिड़ने के समय कराची में थे। इसके अतिरिक्त इस समय तटस्थ-देशों के १५ जहाजों द्वारा बहुत सा व्यपारिक माल—मशीनें, टेलीफोन के उपकरण, रुई, अखबारी कागज भारत आ रहा था। पाकिस्तान ने इसके बन्दरगाहों में रुके हुए तटस्थ देशों के जहाजों से इस प्रकार का २० हजार टन का माल कराची में ही उतार लिया। इसका बदला लेने के लिये भारत ने पाकिस्तान के तीस हजार टन के तीन जहाज रोक लिये।

पाकिस्तान द्वारा युद्ध छिड़ने पर अपने बन्दरगाहों में विद्यमान तटस्थ देशों के जहाजों पर लदे भारतीय माल को उतारकर इसके अधिग्रहण की कार्यवाही करना अथवा भारतीय जहाजों के बारे में अधिग्रहण का कार्य करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल था। १६०७ के छठे हेग अभिसमय (Sixth Hague Convention of 1907) के अनुसार जो जलपोत युद्ध छिड़ने पर अपने को शत्रुदेश के बन्दरगाह में पाते हैं, उन्हें जब्त नहीं किया जा सकता, केवल युद्ध की समाप्ति तक रोका जा सकता है या उससे अपना कार्य (Requisition) करवाया जा सकता है।

पाकिस्तान द्वारा अधिग्रहण न्यायालय स्थापित करने की कार्यवाही बड़ी विलक्षण और अभूतपूर्व घटना थी। इसका यह कारण था कि पाकिस्तान ने युद्ध-घोषणा करके लड़ाई नहीं छेड़ी थी, दोनों देशों में दौत्य सम्बन्ध अभी तक बने हुए थे। इनमें युद्ध की स्थिति घोषित नहीं हुई थी, युद्ध-घोषित होने पर ही शत्रुदेश के जहाजों तथा माल को पकड़कर इनका निर्णय करने के लिये अधिग्रहण न्यायालय स्थापित किये जाते हैं। पाकिस्तान को बिना युद्ध-घोषणा किये अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना करने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कोई अधिकार नहीं था।

भारत द्वारा अधिग्रहण न्यायालयों की स्थापना—दिसम्बर १६७१ के पाक-भारत युद्ध के दौरान भारतीय संसद ने इस लड़ाई में पकड़े जाने वाले शत्रु के जहाजों के लिये **नौसैनिक तथा हवाई अधिग्रहण कानून** (Naval and Aircraft Prize Court Act) पास किया। इसके अनुसार भारत सरकार ने बम्बई, मद्रास तथा विशाखापत्तनम के

तीन बन्दरगाहों में एकसदस्यीय अधिग्रहण न्यायालय लड़ाई के दौरान पकड़े गये व्यापारिक पोतों के adjudication के लिये स्थापित किये हैं। भारतीय नौसेना ने इस युद्ध में बीस जलपोत पकड़े थे। इनमें से **अनवरबक्श, बकीर, मधुमती और पासनी** नामक जलपोत पाकिस्तान के थे। पहले पोत पर पाकिस्तानी सैनिक सवार थे और बचाव के लिये इस पर जापान का झूठा झण्डा लगाया हुआ था। अन्य जहाजों पर व्यापारिक माल लादा हुआ था। शेष सोलह जहाज तटस्थ देशों के थे। इनपर ३४,७०० टन की विनिषिद्ध (Contraband) शस्त्रास्त्रादि की सामग्री लदी हुई थी। इसे भारतीय बन्दरगाहों पर उतारकर इन जहाजों को छोड़ दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की आवश्यकता (The need for an International Prize Court)—लारेन्स ने इस बात पर बल दिया है कि इन न्यायालयों का राष्ट्रीय होना एक बड़ा दोष उत्पन्न करता है। इनमें युद्ध करने वाले राष्ट्र अपने देश के कार्यों से सम्बद्ध मामलों में स्वयमेव न्यायाधीश बन जाते हैं। यद्यपि इनमें स्टोवैल जैसे न्यायाधीश सदैव निष्पक्षता से निर्णय करते हैं, किन्तु युद्ध की परिस्थितियों के दबाव के कारण यह निष्पक्षता कई बार खण्डित होने लगती है। इस दोष को दूर करने के लिए १९०७ के हेग सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी ने अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा था। **बारहवें हेग अभिसमय** (Convention) में इसे स्वीकार कर लिया गया था। इस पर अनेक राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे। किन्तु बाद में इसका अनुसमर्थन (Ratification) मुख्य रूप से इस आधार पर नहीं किया गया कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य सन्तोषजनक रीति से चलाने के लिये समुद्री कानून के नियमों का पर्याप्त संग्रह इस समय उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है। आरम्भिक दशा में सभी कानून इसी प्रकार के होते हैं। जब तक इस प्रकार के पृथक् न्यायालय की स्थापना नहीं होती, तब तक वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही सब देशों की सहमति से उनके राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालयों की अपीलें सुनने का अधिकार दिया जाना उचित प्रतीत होता है।

पच्चीसवाँ अध्याय

हवाई युद्ध के नियम

(Laws of Air Warfare)

आजकल शक्तिशाली और शीघ्रगामी वायुयानों, प्रलयंकर अणुबमों, राकेटों, स्पूतनिकों तथा अन्त:महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Intercontinental Ballistic Missiles) के आविष्कार और विलक्षण विकास से हवाई युद्ध के महत्व में असाधारण वृद्धि हुई है। उपर्युक्त साधनों के द्वारा युद्ध में भाग न लेने वाली असैनिक जनता के विध्वंस और विनाश की अमित सम्भावनायें उत्पन्न हो गई हैं। नागासाकी और हिरोशिमा में अणुबमों के प्रलयंकर विध्वंस के ताण्डव ने इनके निरोध की तीव्र आवश्यकता का अनुभव कराया है। यहाँ हवाई युद्ध के नियमों के विकास का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

हवाई युद्ध के नियमों के मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles of Air Warfare)—ये स्थलीय और समुद्री युद्धों के मौलिक सिद्धान्तों से गहरा सादृश्य रखते हैं। आपेनहाइम के मतानुसार ये निम्नलिखित हैं[1]—(क) मानवीयता के सिद्धान्त, आवश्यक क्रूरता और हिंसा का प्रयोग न करना, (ख) युद्ध न करने वाली जनता पर सीधा आक्रमण करने का निषेध, (ग) तटस्थ देश को किसी युध्यमान देश के विरुद्ध तैयारी का अथवा लड़ाई का क्षेत्र न बनाना। इन सिद्धान्तों के आधार पर १८७४ से हवाई युद्ध के नियम बनाये जाते रहे हैं।

१८७४ का ब्रुसेल्ज सम्मेलन (The Brussels Conference)—**रूस** के सम्राट् ज़ार की प्रेरणा से बुलाये गये इस सम्मेलन ने यह नियम बनाया कि खुले तथा अरक्षित (Undefended) कस्बों, गृहसमूहों या गाँवों पर हवाई बमवर्षा नहीं की जा सकती। धर्म, कला और विज्ञान सम्बन्धी इमारतों को तथा चिकित्सालयों को बमवर्षा का लक्ष्य केवल तभी बनाया जा सकता है, जब कि इनका प्रयोग सैनिक प्रयोजनों के लिए हो।

हेग सम्मेलन (The Hague Conference)—१८९९ में पहला हेग सम्मेलन बुलाने के समय तक हवाई युद्ध से विध्वंस की सम्भावनायें बढ़ने लगीं। इससे पहले युद्ध में केवल गुब्बारों का उपयोग होता था, किन्तु इस समय यह सम्भावना की जाने लगी थी कि मनुष्य शीघ्र ही वायुयान का विध्वंसक साधन के रूप में सफल प्रयोग आरम्भ कर देगा। अतः इस सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि पाँच वर्ष तक

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२०

गुब्बारों या हवाई जहाजों से विस्फोटक द्रव्य फेंकने पर पाबन्दी लगाई जाय। अरक्षित स्थानों पर बमवर्षा न करने के लिए ब्रुसेल्ज़ सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार किया गया।

१९०७ के दूसरे हेग सम्मेलन तक वायुयानों के तथा हवाई लड़ाई के क्षेत्र में नवीन आविष्कारों से परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। अब कई राज्य इस विषय में कोई पाबन्दी नहीं लगाना चाहते थे, अतः जब इसमें अगले हेग सम्मेलन तक के लिए हवाई बमवर्षा के प्रयोग के निषेध का प्रस्ताव रखा गया तो कुछ शक्तिशाली राज्यों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर नहीं किए। फिर भी इस समय निम्नलिखित नियम बनाए गए—(क) असैनिक जनता को डराने या आतंकित करने के उद्देश्य से, इसे हानि पहुँचाने के प्रयोजन से अथवा सैनिक स्वरूप न रखने वाली वैयक्तिक सम्पत्ति का विध्वंस करने की दृष्टि से बमवर्षा नहीं की जा सकती (अनुच्छेद २२-ख)। शत्रु द्वारा धनराशि या अन्य वस्तुएँ जबर्दस्ती वसूल करने की दृष्टि से की जाने वाली बमवर्षा वर्जित है (अनुच्छेद २३)। (ग) हवाई बमवर्षा केवल निम्न अवस्थाओं में वैध है—(अ) जब यह किसी सैनिक लक्ष्य पर की गई हो, ये लक्ष्य निम्नलिखित हैं—सेनाएँ, सेनाओं से सम्बन्ध रखने वाले स्थान, शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद तथा सैनिक सामग्री तैयार करने वाले महत्वपूर्ण कारखाने। (आ) स्थलीय सेनाओं की लड़ाई के क्षेत्र के बिल्कुल साथ लगे प्रदेशों से दूरवर्ती नगरों, कस्बों, गाँवों, इमारतों पर बमवर्षा वर्जित है। यदि कुछ सैनिक स्थान असैनिक जनता के निवास स्थानों से सम्बद्ध और घिरे हुए हों और दोनों को बमवर्षा की दृष्टि से अलग न किया जा सकता हो तो ऐसे स्थानों पर भी बमवर्षा निषिद्ध है।

१९११ में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था' ने मैड्रिड में हवाई युद्ध की कानूनी स्थिति पर विचार किया और यह मौलिक सिद्धान्त स्वीकार किया कि हवाई लड़ाई में स्थलीय अथवा समुद्री लड़ाई की अपेक्षा अधिक मात्रा में शारीरिक तथा साम्पत्तिक क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। किन्तु इस संस्था द्वारा किया गया विचार-विमर्श अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण नहीं कर सकता था। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले बनाए गए उपर्युक्त नियमों में कई दोष थे। पहला दोष यह था कि इनमें रक्षा किए जाने वाले (Defended) तथा अरक्षित स्थान की कोई सुस्पष्ट व्याख्या नहीं की गई थी। दूसरा दोष यह था कि गोलाबारूद और हथियार बनाने के अधिकांश कारखाने तथा सैनिक बस्तियाँ असैनिक जनता वाले कस्बों और शहरों में होती हैं, इनकी बमवर्षा में वैधता का प्रश्न बड़ा जटिल और संदिग्ध था। तीसरा दोष हवाई युद्ध के नवीन साधनों के आविष्कार और विलक्षण उन्नति के कारण उपर्युक्त नियमों का सर्वथा अपूर्ण तथा अपर्याप्त होना था। चौथा कारण समग्र युद्ध (Total War) (देखिए पृ० ४४६-७) का नवीन विचार था, इसमें युद्ध की आवश्यकताएँ सर्वोपरि मानी जाती हैं और शत्रु की समूची जनता के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने में कोई दोष नहीं समझा जाता।

प्रथम विश्वयुद्ध (First World War)—प्रथम विश्वयुद्ध में दोनों पक्षों ने एक-दूसरे पर बहुत बार हमले किए। दोनों का यह कहना था कि उन्होंने अपने हवाबाजों

को यह आदेश दे रखा था कि वे केवल सैनिक स्थानों को अपना निशाना बनाएँ, असैनिक जनता पर कोई आक्रमण न करें। किन्तु आदेशों का पालन इसलिए नहीं हो सका कि बड़ी ऊँचाइयों से शीघ्र गति वाले विमानों द्वारा सैनिक लक्ष्यों पर ठीक निशाना लगाना बहुत कठिन था। इस युद्ध की समाप्ति सैनिक लक्ष्यों से दूरवर्ती खुले शहरों और कस्बों पर भी बड़ी अविवेकपूर्ण रीति से हवाई बमवर्षा के साथ हुई।

वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference)—प्रथम विश्वयुद्ध में यह अनुभव हुआ कि हवाई युद्ध के पुराने नियम नवीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त और पर्याप्त नहीं हैं, इनके संशोधन और पुनर्विचार की आवश्यकता है। यह कार्य १६२२ मे वाशिंगटन में शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के लिए बुलाए गए एक सम्मेलन द्वारा किया गया। इसमें सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा हवाई लड़ाई की समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रसिद्ध विधिशास्त्रियों की एक कमेटी बना दी। इस कमेटी ने १६२३ में हवाई युद्ध के नियमों की संहिता तैयार की। इसके महत्वपूर्ण नियम निम्नलिखित थे—(१) वैयक्तिक हवाई जहाजो को आत्मरक्षा की दृष्टि से भी सशस्त्र बनाना पूर्णरूप से वर्जित है। (२) असैनिक जनता को डराने या असैनिक सम्पत्ति को नष्ट करने या असैनिक जनता को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाने वाली बमवर्षा निषिद्ध है। (३) शत्रु से जबर्दस्ती धनराशि या अन्य सामान लेने के लिए बमवर्षा नहीं होनी चाहिए। (४) हवाई बमवर्षा को तभी वैध समझना चाहिए, जब यह ऐसे सैनिक अड्डों, संचार के साधनों, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों को लक्ष्य बनाकर की जाय, जिनके विध्वंस से शत्रु की सैनिक हानि हो और वह निर्बल हो। (५) असैनिक जनता का ध्यान न रखते हुए सैनिक लक्ष्यों पर भी की जाने वाली बमवर्षा अवैध है। (६) स्थलीय सेनाओं की कार्यवाहियों के अति सन्निकट स्थानों के अतिरिक्त अन्य शहरों, कस्बों और इमारतों पर बमवर्षा करना निषिद्ध है। (७) सार्वजनिक पूजा, उपासना, कला, धर्म, विज्ञान तथा परोपकार का कार्य करने वाली इमारतों, ऐतिहासिक स्मारकों, शरणार्थियों के लिए बने चिकित्सालयों को हवाई बमवर्षा का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। (८) स्थलीय सेनाओं पर लागू होने वाले युद्ध और तटस्थता के नियम हवाई लड़ाई पर भी लागू होते हैं। (९) किसी युध्यमान पक्ष की सेनाओं द्वारा उपर्युक्त नियमों का भंग होने पर उसे इससे होने वाली क्षति का मुआवजा देना पड़ेगा। यद्यपि इन नियमों का राज्यों ने अनुसमर्थन नहीं किया, फिर भी आपेनहाइम के शब्दों में इनकी महत्ता इस दृष्टि से है कि इन्होंने युद्ध में वायुयानों के प्रयोग की मर्यादाओं का सुन्दर और सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए इस विषय में सुबोध नियम बनाए और ये भविष्य में इस विषय की चर्चाओं के आधार बने।[२] १६२५ में जेनेवा के प्रोतोकोल द्वारा हवाई युद्ध में विषैली गैसों और जीवाणुओं का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया। जुलाई १६३२ में **निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग** (General Commission of the Disarmament Conference) ने यह निश्चय किया कि

२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५१६

'असैनिक' (Civil) जनता पर हवाई आक्रमण करना पूर्णरूप से निषिद्ध है।"

किन्तु जापान द्वारा चीन के आक्रमण (१६३१ ई०) और स्पेन के गृहयुद्ध में उपर्युक्त नियमों का बहुत अधिक भंग हुआ। इस पर १६३८ में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने लोकसभा में हवाई बमवर्षा के सम्बन्ध में कानूनी स्थिति स्पष्ट करते हुए एक वक्तव्य दिया। इसके अनुसार (१) असैनिक जनता पर जानबूझकर किया गया आक्रमण निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण है। (२) हवाई बमवर्षा का निशाना वैध सैनिक लक्ष्यों को बनाना चाहिए और ये ऊँचाई से अच्छी तरह पहचाने जाने वाले होने चाहिएँ। (३) सैनिक लक्ष्यों की हवाई बमवर्षा में ऐसी युक्तियुक्त सावधानी बरती जानी चाहिए कि इन सैनिक लक्ष्यों के निकट रहने वाली असैनिक जनता पर बमवर्षा न हो। १६३८ में राष्ट्र संघ की असेम्बली ने उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए सर्वसम्मति से हवाई बमवर्षा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया।

आपेनहाइम के कथनानुसार असैनिक जनता पर हवाई बमवर्षा के निषेध के मौलिक सिद्धान्त को लागू करने में तीन बड़ी कठिनाइयाँ हैं।[3] **पहली** कठिनाई वर्तमान युद्ध के क्षेत्र और स्वरूप में होने वाले परिवर्तन हैं। इनके कारण लड़ाई ने समग्र युद्ध (Total War) का रूप धारण कर लिया है, सैनिक तथा असैनिक जनता में अन्तर निरन्तर कम हो रहा है। **दूसरी** कठिनाई ऐसे सैनिक लक्ष्य निर्धारित करने की है, जिनके विरुद्ध वैध रूप से हवाई बमवर्षा की जा सकती है। **तीसरी** कठिनाई प्राविधिक (technical) है कि हवाई बमवर्षा के प्रभावों को सैनिक लक्ष्यों तक ही किस प्रकार सीमित रखा जाय। किन्तु इन नई समस्याओं के होते हुए भी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून असैनिक जनता में आतंक उत्पन्न करने के उद्देश्य से इस पर जानबूझकर तथा प्रत्यक्ष रूप से की जाने वाली बमवर्षा को अवैध मानता है।[4]

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War)—दूसरे विश्वयुद्ध में उपर्युक्त नियमों की घोर अवहेलना हुई। इसके आरम्भ में सं० रा० अमरीका के राष्ट्रपति के प्रयत्नों के फलस्वरूप २ सितम्बर १६३६ को इंगलैण्ड और फ्रांस ने यह घोषणा की कि वे असैनिक जनता पर बमवर्षा नहीं करेंगे, वे इसे केवल अत्यधिक संकुचित अर्थ वाले सैनिक लक्ष्यों तक ही सीमित रखेंगे। १७ सितम्बर को जर्मनी ने भी पारस्परिकता के आधार पर इस नियम के पालन की घोषणा की। किन्तु इसके छः दिन बाद ही उसने पौलैण्ड की राजधानी वारसा पर अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्ण हवाई बमवर्षा करते हुए अपनी घोषणा का उल्लंघन किया। नार्वे के आक्रमण में इसे पुनः तोड़ा गया, १४ मई १६४० को डच बन्दरगाह राटरडम के अधिकांश भाग सैनिक स्थान न होने पर भी हवाई बमवर्षा से बुरी तरह नष्ट कर दिये गये। ६ अप्रैल १६४१ को इसी प्रकार का भीषण विध्वंस यूगोस्लाविया की राजधानी बेल्ग्रेड को दण्ड देने के लिए किया गया, क्योंकि उसने जर्मन उच्च सत्ता की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया था कि वह उसका मित्र बने।

३ आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२८

४. वही, पृ० ५२६

१० मई १९४० को ब्रिटिश सरकार ने अपनी पूर्व घोषणा में संशोधन करते हुए कहा कि यदि शत्रु ने ग्रेट ब्रिटेन में अथवा उसके मित्रदेशों में असैनिक जनता पर बमवर्षा की तो वह इसके विरोध में आवश्यक समझी जाने वाली कोई भी कार्यवाही करने का अधिकार रखती है। आरम्भ में ग्रेट ब्रिटेन ने **व्यूहीय** (Tactical) बमवर्षा न करके केवल **रणनीतिक** (Strategic) बमवर्षा की। व्यूहीय बमवर्षा का तात्पर्य आक्रमण करने वाली स्थलीय या समुद्री सेना के कार्यों को सहायता देने की दृष्टि से शत्रुप्रदेश पर की जाने वाली बमवर्षा है, जैसी हिटलर ने पोलैण्ड, नार्वे आदि पर आक्रमण के समय की थी। इसमें हवाई जहाज सेना के आगे बढ़ने के साथ-साथ उसका मार्ग प्रशस्त करने के लिए शत्रु के प्रतिरोध को निष्फल बनाने के लिए उसके प्रदेश पर भारी पैमाने पर बम-वर्षा करते हैं, इसमें सैनिक, असैनिक लक्ष्यों का भेद नहीं किया जाता। रणनीतिक (Strategic) बमवर्षा में केवल उन्हीं लक्ष्यों पर बमवर्षा की जाती है, जो रणनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, जैसे सैनिक अड्डे, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने। रणनीतिक बमवर्षा की नीति अपनाने के कारण बहुधा ब्रिटिश बमवर्षक जब विशिष्ट लक्ष्य को पहचानने में समर्थ नहीं होते थे, तो वे इन पर गिराने के लिए ले जाये गये बमों को पुनः स्वदेश वापिस ले आते थे।[५] किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही। १९४०-४१ में जब हिटलर ने ग्रेट ब्रिटेन को हराने तथा उसकी जनता में त्रास और आतंक उत्पन्न करने के लिए लन्दन तथा अन्य ब्रिटिश नगरों पर अन्धाधुन्ध बमवर्षा आरम्भ की तो ग्रेट ब्रिटेन ने **'लक्ष्य क्षेत्रीय बमवर्षा'** (Target Area Bombing) आरम्भ की। इसका अभिप्राय ऐसे सभी विस्तृत क्षेत्रों का विध्वंस था, जिनमें शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने, युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओं—पेट्रोल आदि के केन्द्र, सैनिकों के यातायात के लिए आवश्यक रेलवे जंकशन और बन्दरगाह थे। वायुयान-विरोधी तोपों तथा सुरक्षा के अन्य साधनों के कारण विशिष्ट सैनिक लक्ष्यों पर बमवर्षा करना कठिन हो गया, अतः 'लक्ष्य क्षेत्रीय बमवर्षा' द्वारा विस्तृत प्रदेशों का विध्वंस किया जाने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सामान्य रूप से मित्रराष्ट्र यह सिद्धान्त मानते रहे कि शत्रु के युद्धप्रयत्नों से सम्बन्ध न रखने वाले नगरों और स्थानों पर बमवर्षा करना अवैध है। किन्तु जापान को हराने के लिए सं० रा० अमरीका ने अणुबम का प्रयोग किया।

अणुबम का प्रयोग (Use of Atom Bomb)—सं० रा० अमरीका ने ६ अगस्त को हिरोशिमा पर तथा ११ अगस्त १९४५ को नागासाकी पर, इन शहरों के नागरिकों को कोई पूर्व-चेतावनी दिये बिना अणुबम गिराये। दृष्टसाक्षियों के वर्णनानुसार उन्होंने आकाश में पलभर के लिए एक सफेद चमक देखी, हवा के तेज झोंके का अनुभव किया, एक गड़गड़ाहट सुनी, इसके बाद मकानों के गिरने की आवाजें आने लगीं, चारों ओर अंधकार छा गया, धूल के बादल आकाश में फैल गये, सब तरफ प्रचण्ड अग्नि की ज्वालायें आसमान को छूने लगीं, प्रलय का दृश्य दृष्टिगोचर होने लगा। यह अनुमान लगाया गया है कि केवल हिरोशिमा में ही ६० हजार नर-नारी और बच्चे मारे गये,

५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५२८

एक लाख व्यक्ति आहत हुए, बीस लाख से अधिक व्यक्ति बेघरबार हो गये। नागासाकी में १ लाख २० हजार व्यक्ति हताहत हुए, इमारतों के ध्वंसावशेषों में दबे हुए हजारों व्यक्ति इस संख्या में सम्मिलित नहीं हैं।

जापानी नगरों पर दो अणुबमों के गिराने की तीव्र भर्त्सना समूचे सभ्य जगत् ने की। इसे मानवीयता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध घोर अपराध समझा गया। यह युद्ध के नियमों के दो मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण अवहेलना करता है। युद्ध में अनावश्यक हिंसा का प्रयोग निषिद्ध है तथा सैनिक और असैनिक जनता में भेद रखते हुए केवल सैनिक शक्ति का विध्वंस वैध माना जाता है, असैनिक जनता की हिंसा या हानि युद्ध के नियमों के प्रतिकूल है। अणुबम सैनिक तथा असैनिक जनता का कोई भेद न करता हुआ अपने लक्ष्य स्थान में विनाश और विध्वंस की ऐसी ताण्डव लीला करता है कि इससे लाखों व्यक्ति हताहत होते हैं, इसकी धूलिविकरण से ऐसे रोग उत्पन्न होते हैं, जिनकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, भस्मासुर की शक्ति रखने वाला यह बम अपने क्षेत्र में सभी प्राणियों और वनस्पतियों के जीवन को गहरी क्षति पहुँचाता है, उन्हें भस्मावशेष बनाते हुए सामूहिक विध्वंस और प्रलय की सृष्टि करता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार विषैली गैसों का प्रयोग वर्जित है (देखिये ऊपर पृ० ४७०) तो इनसे लाखों गुना अधिक संहारक शक्ति रखने वाले अणुबमों का प्रयोग कैसे वैध हो सकता है?

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सं० रा० अमरीका द्वारा इसके प्रयोग का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा था—"हमने इसका प्रयोग युद्ध की व्यथा को कम करने के लिए, हजारों तरुण अमरीकनों के प्राण बचाने के लिए किया है।" यह कहा जाता है कि जिस समय अणुबम गिराये गये, उस समय जापान के पास विशाल साम्राज्य था, इसके आधार पर वह देर तक लड़ाई जारी रख सकता था। यदि अणुबमों का प्रयोग न किया जाता तो वह इतनी जल्दी आत्मसमर्पण न करता। इस युक्ति का आधार सैनिक आवश्यकताओं को युद्ध में सर्वोपरि मानना है। पहले यह बताया जा चुका है कि इस सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता (पृ० ४७२-३) और इसके आधार पर अणुबम के प्रयोग को उचित नहीं ठहराया जा सकता (पृ० ४७२)। 'हजारों तरुण अमरीकनों' की प्राण रक्षा के लिए लाखों निर्दोष जापानियों की हत्या का समर्थन किसी भी दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्धाधुन्ध हिंसा और अविवेक-पूर्ण हिंसा करने वाले सभी साधनों का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वर्जित है। प्रथम विश्वयुद्ध में जब जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्रों के जहाजों को अन्धाधुन्ध डुबाना शुरू किया था तो मित्रराष्ट्रों ने अविवेकपूर्ण हिंसा के आधार पर जर्मनी के इस कार्य को अवैध बताया था। उस समय जर्मनी ने यह युक्ति दी थी कि युद्ध के पुराने नियम नव आविष्कृत शस्त्रास्त्रों के विषय में लागू नहीं होते, इनके कारण पुराने नियम मान्य नहीं रहते और इनका संशोधन होना चाहिये। किन्तु मित्रराष्ट्रों के विधि-शास्त्रियों ने जर्मनी के इस युक्तिक्रम को सर्वथा अयुक्तियुक्त और अमान्य ठहराया था। अमरीकन विधिशास्त्री उपर्युक्त जर्मन तर्क का अनुसरण करते हुए अणुबम का प्रयोग

इस आधार पर उचित नहीं ठहरा सकते कि इस नवीन आविष्कार के बारे में अविवेकपूर्ण हिंसा के निषेध का पुराना नियम लागू नहीं हो सकता। वह युद्ध का मौलिक, सार्वभौम और सार्वकालिक नियम है, उसके प्रतिकूल होने से अणुबम का प्रयोग सर्वथा वर्जित और अवैध है।

आपेनहाइम ने केवल दो अवस्थाओं में इसके प्रयोग को वैध माना है[५]—(१) शत्रु द्वारा पहले इसका प्रयोग किये जाने पर, उसके प्रत्युत्तर के रूप में इसका व्यवहार। (२) इसका प्रयोग ऐसे शत्रु के विरुद्ध किया जा सकता है, जिसने युद्ध के नियमों का उल्लंघन इतने बड़े पैमाने पर किया हो कि वह मानवीयता और दया के व्यवहार का पात्र न रह गया हो। यदि किसी प्रकार असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित हो सके कि द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने अपनी सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश में असैनिक जनता का संहार बहुत बड़े पैमाने पर किया, तभी प्रतिरोधक दण्ड (Deterrent punishment) के रूप में अणुबम के प्रयोग को वैध ठहराया जा सकता है। जापान के विरुद्ध अणुबम के प्रयोग में इन दोनों में से कोई भी अवस्था नहीं थी, अतः इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सर्वथा अवैध माना जाना चाहिए।

अणुबम के आविष्कार के बाद सामूहिक विध्वंस के उससे अधिक शक्तिशाली अनेक अन्य साधनों—हाइड्रोजन बम, राकेट, अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (I.C.B.M.) का विकास हुआ है। रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव के कथनानुसार अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के आविष्कार के बाद बमवर्षक वायुयान संग्रहालयों की वस्तु बन गये हैं, इनकी सहायता से रूस के अड्डों से ही लन्दन, न्यूयार्क और वाशिंगटन का विध्वंस करने वाले राकेट छोड़े जा सकते हैं। अतः इस समय यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि ऐसे शस्त्रों का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध ठहराया जाय और इसे सफल बनाने के लिये इनके उत्पादन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय। इसमें राज्यों को कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में अपनी प्रभुसत्ता (Sovereignty) का परित्याग करना पड़ेगा। सं० रा० संघ १९५० से निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों तथा अणुशक्ति आयोग द्वारा इस कार्य को सम्पन्न कराने का प्रयत्न कर रहा है।

पाकिस्तान द्वारा हवाई युद्ध के नियमों की अवहेलना—सितम्बर १९६५ तथा दिसम्बर १९७१ के भारत-पाक संघर्षों में पाकिस्तान ने हवाई युद्ध के उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन कई प्रकार से किया। हवाई हमले सैनिक अड्डों पर नही किये गये अपितु असैनिक क्षेत्रों, पवित्र धार्मिक स्थानों—मस्जिदों और चर्चों तथा हस्पतालों पर किये गये। नपाम बम तथा एक-एक हजार पौण्ड के बम नगरों पर तथा ऐसे गाँवों पर गिराये गये, जिनका सैनिक कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। पाकिस्तान की वायुसेना ने अम्बाला के सुप्रसिद्ध और १७५ वर्ष पुराने चर्च—सैण्ट पाल के कैथेड्रल पर १८ तथा २० सितम्बर १९६५ को दो बार हमले करके इस पर बमवर्षा की। पहले हमले में इसको काफी नुकसान पहुँचा, दूसरे हमले में यह बहुत बुरी तरह से विध्वस्त

५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ३५१

हो गया। जम्मू से आठ मील की दूरी पर जोड़ियाँ क्षेत्र में मस्जिद में नमाज पढ़ने वाले व्यक्तियों पर बमवर्षा की गई। इसमें मस्जिद विध्वस्त हुई तथा पचास व्यक्ति मारे गये। इस युद्ध में पाकिस्तान का सबसे अधिक बर्बर कृत्य हस्पतालों तथा रैडक्रास के केन्द्रों पर हमले करना था। पुँछ में एक हस्पताल पर गोला-बारी की गई, अम्बाला में सैनिक हस्पताल के आठ वार्ड हवाई हमले से नष्ट हो गये, जोधपुर में जेल का हस्पताल हवाई हमलों का शिकार बना, फिरोजपुर में घायलों और बीमारों को ले जाने वाली चार एम्बुलैन्स (Ambulance) गाड़ियों पर हमले किये गये।

युद्धविराम होने से १२ घण्टे पहले दो पाकिस्तानी सेवरजैट विमानों ने अमृतसर से पाँच मील दूर एक औद्योगिक बस्ती छेहर्टा पर एक हजार पौण्ड के छः बम २२ सितम्बर को गिराये। इनसे ४५ व्यक्ति मरे तथा ८० व्यक्ति घायल हुए। छेहर्टा असैनिक बस्ती थी, इस पर बमवर्षा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से नपाम बमों (Napalm) का प्रयोग अमानवीय समझा जाता है क्योंकि ये अत्यधिक विध्वंसक और आग लगाने वाले होते हैं। पाकिस्तानी विमानों ने ऐसे बमों को भारत में बड़ी सड़कों पर चलने वाली असैनिक (Civil) गाड़ियों पर गिराया। इस प्रकार गिराये गये बम ७५० पौण्ड के थे। इनकी विशेषता यह होती है इनका खोल अत्यन्त हल्का ७० पौण्ड का होता है, शेष ६८० पौण्ड अत्यधिक ज्वलनशील सामग्री पैट्रोल आदि से भरा होता है, यह बम जिस स्थान पर गिरता है उसके आसपास ११० गज तक मनुष्य तथा सभी वस्तुयें राख बन जाती हैं।[६]

पाकिस्तान की हवाई सेना का एक अमानुषिक कार्य १६ सितम्बर १९६५ को गुजरात के मुख्यमन्त्री श्री बलवन्तराय मेहता को तथा उनके परिवार को ले जाने वाले एक असैनिक विमान (Civil aircraft) पर हमला करके इसे नष्ट करना था। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने २२ सितम्बर को लोकसभा में इस विषय पर वक्तव्य देते हुए कहा था—"युद्ध कार्य में न लगे हुए (Non-Combatant) वायुयान पर हमला करना एक ऐसा अधिकतम अमानवीय कार्य है कि सबको इसकी निन्दा करनी चाहिये।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह जघन्यतम कृत्य था। जुलाई १९३२ में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग (General Commission of the Disarmament Conference) ने इस विषय में यह प्रस्ताव पास किया था कि असैनिक जनता पर किसी भी प्रकार का हवाई हमला करना पूर्णरूप से निषिद्ध है। १९३८ में राष्ट्र संघ की १९वीं असेम्बली ने हवाई हमलों के विषय में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाते हुए कहा था कि हवाई आक्रमणों का लक्ष्य केवल सैनिक अड्डे और सैनिक विमान ही होने चाहियें। पाकिस्तान ने १९६५ की लड़ाई में इन सब नियमों की घोर उपेक्षा तथा अवज्ञा की है। दिसम्बर १९७१ के भारत-पाक युद्ध में भी पाकिस्तान ने हवाई युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन नहीं किया है।

६. एशियन रिकार्डर, अक्टूबर २२-२८, १९६५, पृ० ६७२२

छब्बीसवाँ अध्याय

युद्धापराध

(War Crimes)

युद्धापराध का स्वरूप (Nature of War Crimes)—पिछले अध्यायों में स्थल, जल और आकाश में होने वाले युद्धों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से पालन करने योग्य नियमों का वर्णन हो चुका है, इनका उल्लंघन करना युद्धापराध (War Crimes) माना जाता है। ब्रिटिश सेना की निर्देशपुस्तिका (Manual) के अनुसार दयादान (Quarter) न करना, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार, लूटपाट और निरुद्देश्य विध्वंस युद्धापराध हैं। १८९९ के हेग सम्मेलन ने युद्ध के नियमों और प्रथाओं के प्रतिकूल कार्यों को युद्धापराध घोषित किया था। प्रो० हिगिन्स ने युद्धापराधों में निम्नलिखित कार्यों का समावेश किया है—सशस्त्र सेनाओं के सैनिकों द्वारा युद्ध के माने हुए नियमों का अतिक्रमण, सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा अवैध शत्रुता के कार्य (Illegitimate hostilities), जासूसी, युद्ध-राजद्रोह (War treason) और प्रलुण्ठन (Marauding)। आपेनहाइम के शब्दों में "युद्धापराध सैनिकों तथा अन्य व्यक्तियों के ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्य हैं, जिन्हें करने वाले पकड़े जाने पर शत्रु द्वारा दण्डित किये जाते हैं। इनमें ऐसे कार्यों का समावेश होता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल तथा अपराध करने वाले व्यक्ति के अपने राज्य के कानून के विरुद्ध होते हैं, जैसे हत्या, वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से की गई लूटपाट, शत्रुराज्य की ओर से अथवा उसके आदेश से युद्धनियमों के विरुद्ध किये गये कार्य।" आपेनहाइम ने युद्धापराधों के चार विभिन्न प्रकार बताये हैं[1]—(क) सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों द्वारा युद्ध के सम्बन्ध में स्वीकार किये जाने वाले नियमों को तोड़ना। (ख) ऐसे व्यक्तियों द्वारा सशस्त्र लड़ाई के कार्य, जो शत्रु की सशस्त्र सेनाओं के सदस्य नहीं हैं। (ग) जासूसी और युद्ध सम्बन्धी राजद्रोह। (घ) प्रलुण्ठन के सभी कार्य।

युद्ध के नियमों के उल्लंघन के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित हैं—(१) विषैले या निषिद्ध शस्त्रों का, दम घोंटने वाली तथा विषैली गैसों का प्रयोग, (२) बीमारी या घावों के कारण असमर्थ सैनिकों अथवा हथियार डाल देने वाले सिपाहियों को मारना या घायल करना, (३) हत्यारों को पैसा देकर हत्या कराना, (४) धोखा देने की दृष्टि से बीमार या घायल होने का बहाना करना, (५) युद्ध-बन्दियों, आहतों और बीमारों के साथ दुर्व्यवहार, उनकी ऐसी सम्पत्ति तथा बहुमूल्य

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, सं० २, पृ० ५६६

वस्तुओं को हथियाना, जो सार्वजनिक सम्पत्ति न हो, (६) निर्दोष असैनिक शत्रु-व्यक्तियों को मारना, उन पर हमला करना, उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति को लूटना, अधिकृत प्रदेश की जनता से शत्रु की प्रतिरक्षा के साधनों की जानकारी लेने के लिए उन पर दबाव डालना, (७) रणक्षेत्र में मृत व्यक्तियों के शवों को विकृत करना, इनकी ऐसी धनराशि तथा बहुमूल्य वस्तुओं को हथियाना जो सार्वजनिक सम्पत्ति न हो, (८) संग्रहालयों, चिकित्सालयों, चर्चों, स्कूलों तथा ऐसी अन्य संस्थाओं की सम्पत्ति नष्ट करना तथा हथियाना, (९) अरक्षित, खुले शहरों का धावा, घेरा और गोलाबारी, नौसेनाओं द्वारा अरक्षित स्थानों की गोलाबारी, असैनिक जनता पर केवल मात्र उन्हें आतंकित करने या हमला करने के उद्देश्य से की गई बमवर्षा, (१०) ऐतिहासिक स्मारकों, चिकित्सालयों, धर्म, कला, विज्ञान, परोपकार के कार्यों में लगी हुई तथा रैडक्रास आदि विशेष चिह्नों द्वारा अपनी इस स्थिति को प्रदर्शित करने वाली इमारतों पर अनावश्यक गोलाबारी, (११) जेनेवा अभिसमयों (देखिये ऊपर २२वाँ अध्याय) का उल्लंघन, (१२) ऐसे जहाजों पर आक्रमण या उनका डुबाना, जिन जहाजों ने समर्पण करने के लिए अपना झण्डा झुका दिया हो। तलाशी की प्रार्थना के बिना शत्रु के व्यापारिक जहाजों पर हमला करना, (१३) चिकित्सा के कार्य में लगे जलपोतों पर आक्रमण और उन्हें पकड़ना, जेनेवा अभिसमय द्वारा निर्धारित समुद्री युद्ध के नियमों को तोड़ना, (१४) शत्रु के अधिगृहीत (Prize) माल का अनुचित विध्वंस, (१५) युद्ध में शत्रु के गणवेश (Uniform) का और समुद्री लड़ाई में शत्रु के झण्डे का उपयोग, (१६) शत्रुदेश के ऐसे व्यक्तियों पर आक्रमण, जिन्हें जाने के लिए पासपोर्ट मिले हों, या जिन्हें सुरक्षित गमन (Safe Conduct) का आश्वासन दिया गया हो, (१७) रण विराम (Truce) के झण्डे ले जाने वालों पर आक्रमण, (१८) रण विराम के झण्डों को प्रदान की जाने वाली सुरक्षा का दुरुपयोग।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले युद्धापराधों के लिए प्रायः अभियोग नहीं चलाये जाते थे। उस समय यह रिवाज था कि युद्ध की समाप्ति पर दोनों पक्ष अपनी शान्ति-सन्धियों में सामान्य निर्मुक्ति (Amnesty) या क्षमा सम्बन्धी धारा रखते थे। इसके अनुसार युद्ध में गलत या अपकारपूर्ण (Wrongful) कार्य करने वालों को इन अपराधों के दण्ड से मुक्ति मिल जाती थी। शान्ति-सन्धि में स्पष्ट रूप से ऐसी व्यवस्था न रहने पर भी इस प्रकार की आम माफी युद्ध की समाप्ति का एक स्वाभाविक कानूनी परिणाम समझा जाता था।[२] किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९१९ की वर्साय की सन्धि के अनुच्छेद २२७ में उक्त प्रथा का परित्याग करते हुए मित्र एवं साथी (Allied and Associated) शक्तियों का यह अधिकार माना गया कि वे युद्ध के कानूनों और प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले कार्यों को करने वाले जर्मनों पर सैनिक न्यायालयों में अभियोग चला सकते हैं। इसमें जर्मन सम्राट् कैसर के विरुद्ध सन्धियों की पवित्रता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का उल्लंघन करने के अपराधों का मुकदमा चलाने की व्यवस्थ

२. फैनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६६८

थी। इनके अपराधों पर विचार करने के लिए पाँच महाशक्तियों का एक न्यायाधिकरण (Tribunal) भी बनाया गया। किन्तु डच सरकार ने अपने देश में शरण ग्रहण करने वाले भूतपूर्व जर्मन सम्राट् विलियम को समर्पण करने से इंकार कर दिया। अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोग इस कानूनी कठिनाई के आधार पर नहीं चलाये जा सके कि अभियुक्त बताये जाने वाले व्यक्तियों ने अपने कार्य सैनिक आदेशों के अनुसार तथा उच्च अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन करते हुए ही किये थे, अतः उन्हें इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। इसके अतिरिक्त विधिशास्त्र का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि पहले से विद्यमान (Pre-existing) कानून के अभाव में किसी अपराध के लिए दण्ड नहीं दिया जा सकता। यही Nullum Crimen sine lege (**नियमाभावे दण्डाभावः**) का नियम है। उस समय युद्धापराधियों की जाँच के लिए बनाये गये १५ व्यक्तियों के आयोग ने बेल्जियम की तटस्थता का भंग करने तथा लुक्सेमबर्ग के विषय में १८६७ की सन्धि का उल्लंघन करना युद्धापराध नहीं माना। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लाइपज़िग (Leipzig) के जर्मन सर्वोच्च न्यायालय में युद्धापराधों के लिए १६ व्यक्तियों पर मामले चलाये गये, इनमें केवल छः व्यक्तियों को मामूली दण्ड दिये गये।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों के प्रादुर्भाव का इतिहास (Nuremberg Trials, its Genesis)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९३३ से हिटलर की नात्सी पार्टी के वार्षिकोत्सवों के अधिवेशन का स्थान बनने वाले नगर न्यूरेम्बर्ग में नात्सी जर्मनी के प्रसिद्ध नेताओं और सेनाधिकारियों पर विभिन्न युद्धापराधों के लिए अभियोग चलाये गये। इन पर ऐसे मामले चलाने का निश्चय १९४३ के मास्को सम्मेलन में हुआ था। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमरीका तथा रूस ने यह घोषणा की थी कि अत्याचारों, क्रूरताओं और हत्याकाण्डों के लिए उत्तरदायी जर्मन अधिकारियों और नात्सी पार्टी के व्यक्तियों को युद्ध के बाद उन देशों में अभियोग चलाने के लिए भेजा जायेगा, जहाँ उन्होंने ये क्रूर कृत्य किये हों। १९४५ के याल्टा सम्मेलन में इस संकल्प को पुनः दोहराया गया। इसके बाद लार्ड राइट की अध्यक्षता में **सं० रा० युद्धापराध आयोग** (United Nations War Commission) इस उद्देश्य से बनाया गया कि वह युद्धापराधियों की सूची तैयार करे, उसे इन व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का भी अधिकार दिया गया। अगस्त १९४५ में ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, सं० रा० अमरीका और फ्रांस में यह समझौता हुआ कि युद्धापराधियों की जाँच के लिए एक **अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण** (International Military Tribunal) नियत किया जाय। इस समझौते के साथ एक चार्टर भी संलग्न था, इसमें न्यायाधिकरण के संविधान, कार्यों तथा क्षेत्राधिकार का वर्णन था। इसके आधार पर न्यूरेम्बर्ग में नात्सी नेताओं पर युद्धापराधों के मामले चलाये गये।

न्यूरेम्बर्ग के अभियोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। **पहली** युक्ति यह है कि जर्मनी सहित राष्ट्र संघ ने २४ सितम्बर १९२७ को अनाक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) को अपराध घोषित किया था। **दूसरी**

युक्ति १९२८ के युद्ध-विरोधी केलाग-ब्रीआँ पैक्ट (Kellogg-Briand Pact) की है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के उपाय की निन्दा करते हुए, इन्हें शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने पर बल दिया गया था। इस समझौते पर जर्मनी, जापान और इटली के हस्ताक्षर थे। इन सबने इस पैक्ट द्वारा राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध न छेड़ने का वचन दिया था। **तीसरी** युक्ति युद्ध में धुरी राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले असाधारण क्रूरता के कार्य थे। इनके कारण मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के आत्म-समर्पण के बाद उससे इनके प्रतिकार का पूरा निश्चय कर लिया। इसीलिए उपर्युक्त न्यायाधिकरण तथा उसके द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों और युद्धापराधों के लिए कानून भी बना दिया गया। उसका यह कहना था कि जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण करने के बाद उन्हें पराजित तथा अधिकृत देश के लिए कानून बनाने का पूरा अधिकार है। वर्साय की सन्धि के बाद नियमों के अभाव में मुकद्दमे न चल सकने के दोष को तथा अन्य दोषों को पहले से ही दूर करने के लिए उपर्युक्त चार्टर बनाया गया था।

इस चार्टर के अनुसार, न्यायाधिकरण ने न्यूरेम्बर्ग में २० नवम्बर १९४५ से जर्मन युद्धापराधियों के मामले सुनने शुरू किये, ३१ अगस्त १९४६ तक ये मामले चलते रहे। १ अक्टूबर १९४६ को न्यायाधिकरण ने अपना निर्णय सुनाते हुए २२ नात्सी नेताओं में से तीन को मुक्त कर दिया, बारह को प्राणदण्ड, तीन को आजीवन कारावास का तथा चार को विभिन्न अवधि के कारावास का दण्ड दिया।

न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Tribunal)—उपर्युक्त चार्टर में न्यायाधिकरण के क्षेत्राधिकार का वर्णन करते हुए उसे निम्न तीन प्रकार के अपराधों की जाँच का अधिकार दिया गया था—(क) **शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराध,** ये ऐसे अपराध थे—अग्राक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) की योजना बनाना, इसकी तैयारी करना, इसका आरम्भ और संचालन करना, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों, आश्वासनों का उल्लंघन करते हुए युद्ध करना, उपर्युक्त प्रकार के युद्धों की पूर्ति के लिए किसी सामान्य योजना या षड्यन्त्र में भाग लेना, (ख) **युद्धापराध**—युद्ध की प्रथाओं तथा नियमों को तोड़ना, जैसे अधिकृत प्रदेश में असैनिक जनता की हत्या और दुर्व्यवहार, युद्धबन्दियों की हत्या या दुर्व्यवहार, शरीरबन्धकों (Hostages) की हत्या, सार्वजनिक या वैयक्तिक सम्पत्ति की लूट, सैनिक आवश्यकता न होने पर नगरों का निरर्थक विध्वंस, (ग) **मानवीयता के विरुद्ध अपराध**—युद्ध से पहले या युद्ध के समय असैनिक जनता के साथ किये जाने वाले अमानवीय कार्य, इन्हें दास बनाना और इनकी हत्या करना, राजनीतिक, जातीय (Racial) या धार्मिक मतभेद के आधार पर अत्याचार करना।

न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण में अभियुक्तों पर यह आरोप था कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों और आश्वासनों का उल्लंघन करके अग्राक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाई, उसे संचालित किया। नात्सी पार्टी इसका माध्यम थी। इसके उद्देश्य ये थे—(क) वर्साय की सन्धि को तथा इस द्वारा जर्मनी के सैनिक पुनः

शस्त्रीकरण पर लगाये गये प्रतिबन्धों को भंग करना, (ख) प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा खोये हुए प्रदेश को प्राप्त करना, (ग) योरोप में जर्मनी के विस्तार (Lebens-raum) के लिए जर्मन नस्ल द्वारा आबाद अन्य प्रदेशों को हस्तगत करना। लुक्सेम्बर्ग में नात्सी जर्मनी के गुप्त पुलिस विभाग—गेस्टापो (Gestapo) ने १००० नागरिकों को अवैध रीति से प्राणदण्ड दिया। विशाल जनसंख्याओं के उन्मूलन के लिए वृन्दवादन (orchestra) के संगीत के साथ बड़े पैमाने पर बड़े जनसमूहों को गोलियों का शिकार बनाया गया, पानी के टबों में ठण्ड से मारा गया, बाल्टिक राज्यों में, लेनिनग्राद, स्टालिनग्राद तथा अन्य नगरों में असैनिक जनता को गोलियों से भूना गया। युद्धबन्दियों के लिए समुचित भोजन, वस्त्र, चिकित्सा और निवास की व्यवस्था नहीं की गई, उनसे बेगार में जबर्दस्ती काम लिया गया। युद्ध के नियमों के प्रतिकूल शरीरबन्धकों (Hostages) का वध किया गया।

इन आरोपों के उत्तर में अभियुक्तों ने अपनी यह सफाई पेश की—(क) उन पर अग्राक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाने तथा संचालन करने का आरोप सिद्ध नहीं किया जा सका। (ख) सब सभ्य देशों में विधिशास्त्र का यह मौलिक सिद्धान्त है कि कानून के पहले विद्यमान होने पर ही उसका उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जाता है, न कि कोई घटना हो जाने पर उसके सम्बन्ध में कानून बना दिया जाय और उस कानून द्वारा उसके कानून के बनने से पहले किये गये अपराधों के लिए व्यक्तियों को दण्डित किया जाय। घटना के बाद बनाये जाने वाला (Ex-post facto) और भूतकाल में अपना प्रभाव रखने वाला कानून (Retroactive law) सर्वथा अन्यायपूर्ण है, क्योंकि विधिशास्त्र Nullum crimen sine lege (नियमाभावे दण्डाभावः) का सिद्धान्त मानता है। इस मुकद्दमे में दण्ड देने वाला कानून १९४५ के चार्टर में बनाया गया है और इसके अनुसार इस कानून के बनने से पहले के छः वर्षों में किये गये तथाकथित अपराधों के लिए उन्हें दण्डित किया जा रहा है। उपर्युक्त चार्टर बनने से पहले किसी प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य ने अग्राक्रमणात्मक युद्ध (Aggressive War) को अपराध घोषित नहीं किया था और इस कार्य को अपराध बनाने वाला कोई अन्य कानून नहीं था और ऐसी दण्ड व्यवस्था भी नहीं थी, इस अपराध के लिए दण्ड देने वाला कोई न्यायालय नहीं था। अतः अभियुक्तों को वर्तमान न्यायालय द्वारा इन अपराधों के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता। (ग) युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार के आरोप की सफाई में कहा गया था कि रूस ने इस विषय में जेनेवा अभिसमय (Convention) पर हस्ताक्षर नहीं किये थे, अतः उसके युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त अभिसमय को लागू नहीं किया जा सकता। (घ) अभियुक्तों का यह कहना था कि युद्ध की योजना हिटलर ने बनाई थी, उन्होंने केवल उसकी आज्ञाओं का पालन किया है। आज्ञापालन उनका कर्तव्य था, इसके लिए उनके विरुद्ध मामला नहीं चलाया जा सकता। युद्ध का सारा उत्तरदायित्व हिटलर पर है। (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्ध राज्य का कार्य है, इसका सारा उत्तरदायित्व राज्य पर होता है, न कि व्यक्तियों पर। अतः व्यक्तियों को इसके लिए दण्डित नहीं किया जा सकता।

न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय में सफाई पक्ष की उपर्युक्त युक्तियों को निम्नलिखित कारणों के आधार पर स्वीकार नहीं किया—(क) न्यायाधिकरण इसका निर्माण करने वाले तथा इसका क्षेत्राधिकार निश्चित करने वाले चार्टर से बँधा हुआ है। मित्रराष्ट्रों को इसे बनाने का पूरा अधिकार था, जर्मनी ने उनके आगे विना शर्त आत्मसमर्पण किया था। अतः वे अधिकृत प्रदेश के लिए कानून बना सकते थे। चार्टर कोई मनमाना कानून नहीं है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अभिव्यक्ति है। (ख) न्यायालय की सम्मति में अग्राक्रमणात्मक युद्ध का संचालन न केवल अन्तर्राष्ट्रीय अपराध था, अपितु सर्वोच्च (Supreme) अन्तर्राष्ट्रीय अपराध था, अन्य युद्धापराधों से यह केवल इसी अंश में भिन्न था कि इसमें सभी युद्धापराधों की बुराई पुँजीभूत होती है। जर्मनी का पोलैण्ड के विरुद्ध छेड़ा गया युद्ध अग्राक्रमणात्मक था। बेल्जियम, हालैण्ड और लुक्सेमबर्ग पर तथा डेन्मार्क और नार्वे पर हमले का कोई उचित कारण नहीं था। यह विशुद्ध रूप से इन देशों के विरुद्ध अग्राक्रमण (Aggression) था। (ग) न्यायालय ने नियम के अभाव में दण्ड के अभाव की (Nullum crimen sine lege) युक्ति स्वीकार नहीं की। "यह मानना सर्वथा असत्य है कि सन्धियों और आश्वासनों की अवहेलना करके पड़ोसी राज्यों पर हमला करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना अन्यायपूर्ण है, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में आक्रान्ता को इस बात का ज्ञान अवश्य होता है कि वह गलत कार्य कर रहा है। इस अवस्था में उसको दण्डित करना नहीं, किन्तु दण्डित न करना अन्यायपूर्ण है। अभियुक्त जर्मन सरकार में बड़े ऊँचे पदों पर थे, उन्हें जर्मनी द्वारा की गई सन्धियों का ज्ञान था। उन्हें यह भी मालूम था कि जर्मनी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन करना १९२८ ने केलाग-ब्रीआँ पैक्ट द्वारा अवैध घोषित कर चुका है। उन्हें यह बात अच्छी तरह ज्ञात थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन कर रहे हैं। इस अवस्था में उन पर 'नियमाभावे दण्डाभावः' का तथा घटनोत्तर विधि (Ex-post facto law) का नियम लागू नहीं होता। (घ) न्यायालय ने अभियुक्तों का यह तर्क भी स्वीकार नहीं किया कि युद्ध करना राज्य का कार्य है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य होते हैं, अतः व्यक्तियों को इन नियमों का उल्लंघन करने के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता। अभियुक्तों ने ये सब कार्य हिटलर के आदेश से किए थे, वे आज्ञापालन के लिए बाध्य थे, अतः वे इनका पालन करते हुए किए गए अपराधों के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। इस विषय में न्यायालय का यह मत था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध करने वाले नर-नारी होते हैं, न कि अमूर्त्त सत्तायें। ऐसा अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देकर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओं को लागू किया जा सकता है।" ऐसे अपराध करने वाले अपने बचाव के लिए सरकारी पद पर होने की युक्ति नहीं दे सकते। न्यायालय के शब्दों में "युद्ध के नियम तोड़ने वाला इस युक्ति के आधार पर दण्ड से मुक्ति नहीं पा सकता कि उसने राज्य के आदेश का पालन करते हुए ऐसा कार्य किया है। यदि राज्य का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण करता है, तो इसे करने वाला व्यक्ति अवश्य दण्डित होना चाहिए।" यदि किसी सैनिक को युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को तोड़ते हुए किसी

की हत्या करने या यातना देने का आदेश दिया जाय तो इस पाशविक कार्य के लिए यह सफाई नहीं दी जा सकती कि यह आदेश का पालन करने के लिए किया गया है। अभियुक्तों ने यह युक्ति दी है कि "उन्होंने ये कार्य हिटलर के आदेश से किए हैं, इससे वे इन कार्यों के लिए अपने उत्तरदायित्व से नहीं बच सकते, किन्तु इसके आधार पर उनके दण्ड में न्यूनीकरण (Mitigation) हो सकता है।" किन्तु "उच्चाधिकारी का सैनिक को दिया गया आदेश उस अवस्था में उसके दण्ड के न्यूनीकरण में भी सहायक नहीं हो सकता, जबकि अपराध जानबूझकर, निर्दयतापूर्वक बिना किसी उचित कारण के व्यापक पैमाने पर किए गए हों तथा (मानवीयता को गहरा) आघात पहुँचाने वाले हों।"

न्यायालय की सम्मति में उसके समक्ष उपस्थित की गई साक्षी से यह सिद्ध हो गया था कि कुछ अभियुक्तों ने अग्राक्रमणात्मक युद्धों के आयोजन और संचालन में भाग लिया है। इस विषय में यह तर्क नहीं माना जा सकता कि वे हिटलर की अधिनायकता (Dictatorship) में थे, हिटलर इनके सहयोग के बिना अग्राक्रमणात्मक युद्ध नहीं चला सकता था, उसके लिए राजनीतिज्ञों, सैनिक नेताओं, उद्योगपतियों का सहयोग आवश्यक था। अतः हिटलर के उद्देश्य को जानते हुए भी जब इन्होंने उसको सहयोग दिया तो ये उसके अग्राक्रमणात्मक युद्धों की योजना में सम्मिलित हो गये। अतएव ये युद्धापराधों के आरोप से मुक्त नहीं हो सकते। न्यायाधिकरण ने इन्हें अपराधी मानते हुए विभिन्न दण्ड दिए।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों का महत्व तथा आलोचना (Importance and Criticism of Nuremberg Trials)—न्यूरेम्बर्ग के अभियोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में कई कारणों से असाधारण महत्व रखते हैं। **पहला कारण** यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नवीन सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। इससे पहले परम्परागत दृष्टिकोण यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य हैं, व्यक्ति इसका विषय नहीं हो सकते, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने के लिए उन पर कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि राज्य द्वारा निश्चित नीति के अनुसार उच्चाधिकारियों के आदेश से ही वे ऐसे कार्य करते हैं। न्यूरेम्बर्ग न्यायालय ने इस दृष्टिकोण को तथा इन युक्तियों को अस्वीकार करते हुए व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के लिए उत्तरदायी समझने के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय (Subject) माना (देखिये अध्याय १५)। **दूसरा कारण** यह था कि इसने राष्ट्रों के कानून के इतिहास में पहली बार हेग अभिसमयों, वर्साय सन्धि, १९२५ के लोकार्नो पैक्ट तथा १९२८ के पेरिस पैक्ट द्वारा निश्चित किए गए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को लागू करने का प्रयत्न किया। **तीसरा कारण** यह था कि इसने युद्ध के नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करके भविष्य में ऐसा कार्य करने वालों को कड़ी चेतावनी दी। यह सम्भव है कि इन दण्डों से भयभीत होकर आगे युद्ध के नियमों का इतने बड़े पैमाने पर उल्लंघन न किया जाय, जैसा कि दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा हुआ। इसने अग्राक्रमणात्मक युद्ध छेड़ने को अपराध मानते हुए ऐसा करने वालों को दण्डित किया, यदि भविष्य में दण्ड के भय से ऐसे युद्ध न हों तो संसार में स्थायी शान्ति की सम्भावनायें

बढ़ सकती है। **चौथा कारण** यह है कि इससे विश्व के राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण की प्रवृत्ति प्रबल हुई है। युद्धापराधों का कानून पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विशद हुआ है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने की सम्भावनायें बढ़ा दी हैं। **पाँचवां कारण** यह है कि इसने विजेताओं द्वारा पराजित शत्रुओं के नेताओं को दण्डित करके ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण स्थापित किया है कि भविष्य में विजेता राष्ट्र इस प्रकार शत्रुदेशों के नेताओं का उन्मूलन किया करेंगे।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों की कई दृष्टियों से बड़ी कड़ी **आलोचना** की गई है—(१) ये अभियोग एकपक्षीय थे, केवल मित्रराष्ट्रों द्वारा धुरी राष्ट्रों के नेताओं और उच्चाधिकारियों पर चलाये गए थे। वस्तुतः युद्धापराध कम या अधिक मात्रा में दोनों पक्षों द्वारा हुए थे। फ्रेंच प्रतिरोध आन्दोलन के नेता मिन्थोम (M. de Menthom) ने कहा था—"कोई भी देश अपने प्रदेश में निर्दोष नहीं था, प्रत्येक युद्ध स्वयमेव ऐसी बुराइयाँ उत्पन्न करता है कि इसमें वैयक्तिक और सामूहिक अपराध होते हैं, क्योंकि युद्ध मनुष्य में सोई हुई दुर्भावनाओं को जागृत कर देता है।" केवल जर्मनी ने ही युद्ध का परित्याग करने वाले १९२८ के पेरिस पैक्ट का उल्लंघन किया हो, सो बात नहीं है। रूस ने भी फिनलैंड पर १९३९ में हमला करके इसका अतिक्रमण किया था। किन्तु रूसी अधिकारियों पर इसके लिए कोई अभियोग नहीं चलाया गया क्योंकि 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं।' (२) प्राध्यापक स्मिथ का कहना है कि इनमें न्याय के मौलिक सिद्धान्त—निष्पक्षता का पालन नहीं किया गया। (३) कई सुप्रसिद्ध विधिशास्त्रियों का मत है कि इस न्यायालय द्वारा लागू की जाने वाली घटनोत्तर विधि (Ex-post facto law) और इसके अनुसार दिए जाने वाले दण्ड राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल थे। स्मिथ ने बताया है कि १९४२ तक सैनिक कानून की ब्रिटिश नियमावली (British Manual) में युद्धापराध के आरोप से मुक्ति पाने के लिए उच्चाधिकारियों के आदेश का होना उत्तम बचाव (Defence) समझा जाता था। किन्तु अप्रैल १९४२ में इस व्यवस्था को नियमावली से निकाल दिया गया। (४) न्यूरेम्बर्ग के अभियोगों में पेरिस के पैक्ट को बहुत महत्व दिया गया था, इसका उल्लंघन करने के कारण जर्मन नेताओं को दण्डित किया गया। किन्तु "पैक्ट के शब्द दण्ड-व्यवस्था का विधान करने वाले नहीं थे, वे कानून की नहीं किन्तु धर्मशास्त्र की भाषा में थे। उनके आधार पर किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता था।" जब जापान ने मंचूरिया में चीन पर हमला करके तथा इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण करके पेरिस के पैक्ट का उल्लंघन किया, तो उन पर आक्रान्ता होने का कोई अभियोग नहीं चलाया गया। फिर जर्मनी पर आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने के लिए क्यों मामला चलाया जाय? (५) यह कहना सत्य नहीं है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण की स्थापना का आधार ऐतिहासिक तथा कानूनी पूर्वोदाहरण (Legal Precedents) के रूप में अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) थे। शिक (Schick) ने इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह सत्य है कि अधिग्रहण न्यायालय पहले विजयी राष्ट्रों द्वारा बनाए गए थे, किन्तु इनका सैनिक

न्यायालय से एक महत्वपूर्ण मौलिक भेद यह है कि फौजदारी मामलों में इनका क्षेत्राधिकार नहीं होता था। न्यूरेम्बर्ग के न्यायालय का एक बड़ा दोष यह भी था कि इसके सभी न्यायाधीश विजेता राष्ट्रों के थे। इनमें यदि तटस्थ देशों के तथा जर्मनी के भी कुछ विधिशास्त्री न्यायाधीश रखे जाते तो यह न्यायाधिकरण अधिक निष्पक्ष होता।

टोकियो अभियोग (Tokyo Trials)—न्यूरेम्बर्ग के न्यायालय ने जर्मन युद्धापराधियों के मामले पर विचार किया था; जापानी नेताओं तथा सैन्याधिकारियों के युद्धापराधों की जाँच टोकियो में की गई। २० जुलाई १९४५ की मित्रराष्ट्रों की पोटसडम घोषणा में तथा २ सितम्बर १९४५ के जापान के समर्पण-पत्र में ऐसी जाँच करने का उल्लेख था। तदनुसार ऐसी जाँच के लिए स्थापित किए जाने वाले सुदूर पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण' (International Military Tribunal for the Far East) के संविधान का चार्टर सर्वोच्च सेनानायक जनरल मैकार्थर ने १९ जनवरी १९४६ को स्वीकार किया। यह न्यूरेम्बर्ग न्यायालय के चार्टर जैसा था। इसके अनुसार जापान से लड़ने वाले ग्यारह देशों—सं० रा० अमरीका, चीन, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रांस, भारत आदि का एक-एक प्रतिनिधि इसमें न्यायाधीश बना। भारत के प्रतिनिधि कलकत्ता के सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री श्री राधाविनोदपाल थे। इस न्यायालय के सभापति आस्ट्रेलिया के सर विलियम वैब थे। इसमें ग्यारह देशों ने २८ अभियुक्तों पर विभिन्न प्रकार के आरोप लगाए। यह जाँच ४ जून १९४६ से १४ नवम्बर १९४८ तक चलती रही।

इसमें अभियुक्तों पर तीन प्रकार के पचपन आरोप थे। (क) ३६ आरोप **शान्ति के विरुद्ध किये गए अपराधों** के सम्बन्ध में थे। इनमें उल्लेखनीय अपराध ये थे—पूर्वी एशिया, प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर पर प्रभुता पाने के लिए षड्यन्त्र करना, मंचूरिया और चीन पर प्रभुत्व स्थापित करना, १९ देशों के विरुद्ध अवैध युद्ध छेड़ना और उसका संचालन करना, जर्मनी और इटली के साथ मिलकर विश्व पर प्रभुता पाने की दृष्टि से षड्यन्त्र करना तथा अपने विरोधियों के साथ अवैध युद्धों का संचालन करना। (ख) १६ आरोप हत्याविषयक थे। इनमें निम्न अपराधों का समावेश था—शान्ति काल में हेग के तीसरे अभिसमय का तथा अन्य सन्धियों का उल्लंघन करते हुए जापानी सशस्त्र सेनाओं द्वारा सं० रा० अमरीका, फिलिप्पाइन द्वीप समूह, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल, हालैण्ड और स्याम की जनता पर आक्रमण करना तथा इनका वध कराना, ७ तथा ८ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर में तथा हांगकांग और शंघाई पर जापान की सशस्त्र सेनाओं का आक्रमण। (ग) तीन आरोप अन्य युद्धापराधों तथा मानवीयता के विरुद्ध अपराधों के सम्बन्ध में थे। ये निम्नलिखित थे—**संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल, फ्रांस, हालैण्ड, चीन और रूस के हजारों युद्धबन्दियों तथा असैनिक व्यक्तियों के साथ क्रूरता के कार्य करते हुए युद्ध के नियमों तथा सन्धियों का भंग करने के लिए जापानी सेनापतियों को तथा युद्ध मन्त्रालय के अधिकारियों को आदेश देना।**

अभियुक्तों ने जाँच के आरम्भ में ही यह आपत्ति उठायी कि उन्हें इस न्यायालय

से न्याय की आशा नहीं है क्योंकि इसके सभी न्यायाधीश विजेता राज्यों के प्रतिनिधि हैं। किन्तु जजों ने उनकी इस आपत्ति को इस आधार पर रद्द कर दिया कि विजेता राज्यों के प्रतिनिधि होते हुए भी वे यहाँ न्यायासन पर अपने वैयक्तिक रूप में बैठे हुए हैं। न्यायालय ने अपना विचार करने के बाद केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राणदण्ड दिया, जिन पर अन्य अपराधों के अतिरिक्त ये आरोप भी थे कि उन्होंने युद्धबन्दियों के तथा असैनिक जनता के सम्बन्ध में युद्ध के नियमों और समझौतों का उल्लंघन किया तथा युद्धापराध करने की आज्ञा या अनुमति दी, केवल शान्ति के विरुद्ध अपराध करने वालों को ही विभिन्न अवधि के कारावास के दण्ड दिए गए।

भारत के प्रतिनिधि डा० राधाविनोदपाल ने न्यायालय के बहुमत के निर्णय से असहमति प्रकट करते हुए अपना पृथक् निर्णय दिया। इसमें अग्राक्रमणात्मक युद्ध के स्वरूप तथा युद्धपराधों के जटिल प्रश्न पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। उनके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में युद्ध अभी तक कानून के क्षेत्र में नहीं आया। पेरिस का पैक्ट सब देशों के लिए अनिवार्य रूप से पालन की जाने वाली व्यवस्था नहीं है, अभी तक कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय कानून या रिवाज नहीं है, जो युद्ध को अपराध बनाता हो। जापानी प्रधानमन्त्री तोजो तथा उसके साथियों ने अपने सब कार्य देशभक्ति के उद्देश्यों से प्रेरित होकर किए हैं। उनकी तुलना नाज़ी पार्टी के कार्यों से नहीं हो सकती। जापान की जनता नाज़ी जर्मनी की भाँति दास नहीं बनाई गई थी, उसे अपने धर्म, विश्वास और आचरण के विषय में पूरी स्वतन्त्रता थी। १ जनवरी १९२८ से २ सितम्बर १९४५ तक जापानी नेताओं द्वारा पूर्वी एशिया की जनता के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के षड्यन्त्र करने की बात सिद्ध नहीं की जा सकी। यदि उन्होने ऐसा षड्यन्त्र किया हो तो भी वे अपराधी नहीं हैं, क्योंकि अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से ऐसा षड्यन्त्र करना अपराध नहीं है। अतः माननीय न्यायाधीश की सम्मति में सभी अभियुक्तों पर जो आरोप लगाए गए हैं, वे उनके दोषी नहीं हैं और उन्हें मुक्त कर दिया जाना चाहिए। अपने निर्णय के अन्त में डा० राधाविनोदपाल ने लिखा था—"न्याय करने वाले अधिकरण के रूप में हम किसी भी रूप में ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते, जिसके आधार पर लोग अपनी इस भावना को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करें कि इसकी स्थापना का उद्देश्य वस्तुतः राजनीतिक था, किन्तु इसे न्यायिक आवरण से ढाँप दिया गया है। प्रतिशोधपूर्ण प्रतिकार को दीर्घ बनाने के उद्देश्य से न्याय के नाम का अवलम्ब नहीं लेना चाहिए। विश्व में इस समय वस्तुतः उदार विशालचित्तता तथा एक दूसरे को समझने वाले प्रेमभाव (Generous magnanimity and understanding charity) की आवश्यकता है।···जब समय बीतने पर उत्तेजित भावनायें और पक्षपात शान्त हो जायेंगे, बुद्धि भ्रान्ति के आवरण को विच्छिन्न कर देगी, उस समय न्याय की देवी अपने दोनों पलड़ों को संतुलित रूप में थामेगी और भूतकाल की बहुत-सी निन्दा और स्तुति अपना स्थान परिवर्तन कर लेंगी।" यह निर्णय वस्तुतः बाल्मीकि रामायण में रावण के वध के बाद श्री रामचन्द्र जी द्वारा स्थापित 'मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्' की गौरवपूर्ण परम्परा का अनुसरण करता है।

बंगला देश के युद्धापराधी—२५ मार्च १९७१ के बाद बंगला देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन को कुचलने के लिये पाकिस्तानी सेना ने बंगाली जनता पर जो भीषण अत्याचार किये हैं, वे अमरीकी सीनेट के सदस्य श्री स्टीवेन्सन जैसे विदेशी प्रेक्षकों की दृष्टि में अभूतपूर्व हैं। जेनेवा अभिसमयों के अनुसार सैनिक अधिकारियों को 'सैनिक आवश्यकता' से अधिक कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिये, किन्तु विश्व बैंक के एक प्रतिनिधिमण्डल की रिपोर्ट के अनुसार बंगाल में पाकिस्तान की सैनिक कार्यवाहियों से कई प्रदेश उसी तरह विध्वस्त हुए थे, जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध में अणुबम से हिरोशिमा तथा नागासाकी नष्ट हुए थे। पाकिस्तानी सेना ने, शेख मुजीब के कथनानुसार, ३० लाख बंगालियों का नरसंहार किया है, इतने बड़े पैमाने पर शायद ही पहले कभी किसी जाति को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया हो। अतः बंगला देश के बुद्धिजीवियों ने स्वतन्त्रता पाने के बाद यह आन्दोलन चलाया कि बंगाल में पाकिस्तानी सेना के प्रमुख अधिकारी ले०-जनरल नियाज़ी तथा मेजर-जनरल राव फरमान अली पर इस युद्ध में किये गये जातिवध तथा अन्य अत्याचारों के अपराधों की जांच सं० रा० संघ के मानवीय अधिकार आयोग (U. N. Human Rights Commission) द्वारा नियुक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा की जाय। पाकिस्तान के कारागार से मुक्त होने के बाद अपने पहले प्रेस सम्मेलन में बंगला देश के प्रधानमन्त्री शेख मुजीबुर्रहमान ने यह घोषणा की कि यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ पाकिस्तान के अधिकारियों द्वारा किये गये जातिवध आदि के युद्धापराधों की जांच के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण स्थापित करने की प्रार्थना स्वीकार नहीं करता है तो बंगला देश की सरकार इसके लिये आवश्यक कार्यवाही करेगी।

सत्ताइसवाँ अध्याय

युद्ध की समाप्ति तथा पूर्वावस्था

(The Termination of War and Postliminium)

युद्धावसान की रीतियाँ (Modes of Termination of War)—प्रत्येक युद्ध की समाप्ति अवश्यम्भावी है। आपेनहाइम के मतानुसार इसकी तीन रीतियाँ हैं।[1] **पहली रीति** युद्ध करने वाले दोनों पक्षों द्वारा लड़ाई के शत्रुतापूर्ण कार्यों को बन्द कर देना है। इसमें विशेष संधि द्वारा शान्ति स्थापित किये बिना ही दोनों पक्ष लड़ना बन्द कर देते हैं। **दूसरी रीति** शान्ति की विशेष संधि करके विधिपूर्वक शान्ति की परिस्थितियों को स्थापित करना है। **तीसरी रीति** शत्रु के वशीकरण (Subjugation) द्वारा युद्ध का अवसान करना है। सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री हाइड (Hyde) ने **चौथी रीति** एक पक्ष द्वारा इसकी औपचारिक घोषणा करना बताया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वर्साय की संधि सं० रा० अमरीका की सीनेट द्वारा रद्द हो जाने पर, कांग्रेस के दोनों सदनों ने १५ मई १९२० को एक संयुक्त प्रस्ताव पास करके जर्मनी के साथ युद्ध का अवसान किया। इसके बाद २५ अगस्त १९२१ को दोनों देशों में हुई एक शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर हुए। इसी प्रकार ३० सितम्बर १९१९ को चीन की संसद ने यह प्रस्ताव पास किया कि जर्मनी और चीन के मध्य पुनः शान्ति-सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, इस घोषणा के बाद २० मई १९२१ को दोनों में शान्ति-संधि (Peace Treaty) हुई। यहाँ युद्धावसान की उपर्युक्त तीन रीतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

(क) **शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द होना** (Cessation of Hostile Acts)—जब दोनों पक्ष लड़ाई के सब कार्य बन्द कर देते हैं तो युद्ध स्वयमेव समाप्त हो जाता है, भले ही इसे बन्द करने के लिए विधिपूर्वक कोई संधि न की गई हो। उदाहरणार्थ, फ्रांस ने मैक्सिको में सम्राट् मैक्सिमिलियन को गद्दी पर बिठाने के लिए इससे १८६४ में युद्ध शुरू किया। तीन वर्ष तक यह लड़ाई चलने के बाद फ्रांस ने मैक्सिमिलियन का समर्थन करना छोड़ दिया, इससे यह लड़ाई स्वयमेव बन्द हो गई। इसी प्रकार १८६५ से १८६८ तक चलने वाला स्पेन और चिली का युद्ध इसलिए समाप्त हो गया कि स्पेन ने अपनी शर्तें पूरी कराने का प्रयत्न बन्द कर दिया। १७१६ में स्वीडन और पोलैण्ड का, १७२० में फ्रांस और स्पेन का तथा १८०१ में रूस और ईरान का युद्ध इसी प्रकार बन्द हुआ।

किन्तु युद्धावसान की यह रीति कई कारणों से असुविधाजनक है, अतएव

---

१. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ५९६-७

इसकी प्रथा अब लुप्त हो रही है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें यद्यपि लड़ाई बन्द हो जाती है, किन्तु युद्धावस्था (State of war) का विधिपूर्वक अवसान नहीं किया जाता, इससे अनेक कानूनी पेचीदगियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, युद्धावस्था के लिए बनाये गए कानून लड़ाई बन्द होने पर भी चलते रहते हैं और इनसे व्यक्तियों को न्याय प्राप्त करने में बड़ी असुविधा होती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध बन्द होने के तीन वर्ष बाद १६४८ में सं० रा० अमरीका में एक जर्मन नागरिक ने 'शत्रु विदेशी कानून' (Enemy Alien Act) के अनुसार उसे देश से निकालने के आदेश को रद्द करने के लिए न्यायालय को बन्दीप्रत्यक्षीकरण (Habeus Corpus) की याचिका दी, उसका यह कहना था कि लड़ाई १६४५ में जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण करने पर बन्द हो चुकी है, किन्तु न्यायाधीशों का यह निर्णय था कि जर्मनी और अमरीका में कोई शान्ति-संधि न होने के कारण युद्धावस्था और उसके सब कानून यथापूर्व बने हुए हैं, इसलिये उसके देशनिर्वासन की आज्ञा ठीक है। २ सितम्बर १६४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु सं० रा० अमरीका के न्यायालयों ने अनेक मामलों में यह घोषणा की कि जब तक जापान से सन्धि नहीं होती, तब तक दोनों देशों में युद्धावस्था है। केवल लड़ाई के कार्य बन्द कर देने से युद्ध का अवसान करने का बड़ा दुष्परिणाम यह है कि उसमें कानूनी दृष्टि से युद्धावस्था बनी रहती है। इस समय बड़ी अनिश्चितता का वातावरण होता है, अतः युद्ध की समाप्ति के लिए शान्ति-संधि की अथवा इसकी समाप्ति की घोषणा करना आवश्यक समझा जाता है।

सादी रणनिवृत्ति (Simple Cessation of Hostilities) में दोनों पक्षों के सम्बन्धों को व्यवस्थित करने वाली शान्ति-संधि न होने के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि दोनों पक्षों की स्थिति युद्ध से पहले की **यथापूर्व स्थिति** (Status quo ante bellum) मानी जाय या लड़ाई बन्द होने के बाद की स्थिति (Status quo post bellum) मानी जाय। पिछली स्थिति को **जितभोगाधिकार या जितस्वत्व** (Uti possidetis) की स्थिति कहते हैं। आगे (पृ० ५१६) इसका वर्णन होगा। अधिकांश विधिशास्त्रियों का यह मत है कि दूसरी स्थिति ठीक है, सादी रणनिवृत्ति के बाद जिस पक्ष के पास जितना जीता हुआ प्रदेश, सम्पत्ति या अन्य वस्तुयें होती हैं, उन पर उसका स्वत्व मूक भाव से मान लिया जाता है। इसका यह कारण है कि यदि शत्रु द्वारा सैनिक दृष्टि से अधिकृत प्रदेश को बिना लिए ही दूसरा पक्ष लड़ाई बन्द कर देता है तो यह मानना सर्वथा स्वाभाविक है कि उसने अपने प्रदेश पर अपना अधिकार स्वयमेव छोड़ दिया है।

(ख) **वशीकरण** (Subjugation)—पहले यह बताया जा चुका है कि वशीकरण और विजय (Conquest) में सूक्ष्म अन्तर है। विजय सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु के प्रदेश को जीतना तथा उस पर अधिकार करना है। ज्यों ही कोई शक्ति अपनी सेना द्वारा शत्रु के प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित कर लेती है तो उस प्रदेश की विजय हो जाती है। किन्तु शत्रु के प्रबल होने पर यह पराजय में भी परिणत हो सकती है, यहाँ वह अपना स्वत्व पुनः स्थापित कर सकता है। विजित शत्रु के साथ

विजेता उदार व्यवहार करते हुए उसे अपना प्रदेश वापिस लौटा सकता है, उसके साथ शान्ति-संधि कर सकता है। वशीकरण विजय के बाद की अगली स्थिति है। जब किसी प्रदेश को सेनाओं द्वारा पूरी तरह जीतने के बाद विजेता शत्रु राज्य का समूलोन्मूलन करके उसे अपने राज्य का अंग बना लेता है तो यह वशीकरण है। इसमें शत्रु की सेनाओं के विध्वंस और प्रदेश की विजय के बाद, अंगीकरण (Annexation) द्वारा शत्रु की सत्ता बिल्कुल समाप्त कर दी जाती है।

इतिहास में वशीकरण के अनेक उदाहरण हैं। अंग्रेजों ने तृतीय बर्मा युद्ध (१८८६) के बाद वहाँ के राजा को हराकर उसे भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। आधुनिक इटली का निर्माण सार्डीनिया के राज्य द्वारा १८५९ में दो सिसलियों के राज्य के तथा टस्कनी, पार्मा, मोडेना की डचियों के तथा १८७० में पोप के राज्यों के वशीकरण द्वारा हुआ। १८६६ में प्रशिया ने हनोवर के राज्य, नासौ (Nassau) की डची तथा हेस्से कैसल के **इलेक्टोरेट**[2] तथा माइन नदी के फ्रैंकफोर्ट का वशीकरण किया। १९०० में ग्रेट ब्रिटेन ने आरेंज फ्री स्टेट तथा दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को और १९३६ में इटली ने एबीसिनिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

(ग) **शान्ति-संधि** (Peace Treaty)—युद्धावसान की सर्वाधिक लोकप्रिय रीति शान्ति-संधि है, इसे ऐसा नाम देने का यह कारण है कि इससे युद्ध की समाप्ति होकर शान्ति की स्थापना होती है। इससे युद्धकारी देशों में पुनः शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्धों का आरम्भ होता है। शान्ति-संधि से पहले प्रायः संधिवार्त्ता चलाने के लिए एक **अवहार** या **सामान्य रणविराम** (General Armistice) होता है।[3] इसका अभिप्राय शत्रुतापूर्ण लड़ाई के कार्यों को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना है, दोनों पक्षों की ओर से गोला-बारी और आक्रमण-प्रत्याक्रमण की सैनिक कार्यवाहियाँ बन्द कर दी जाती हैं। यह यदि किसी विशेष क्षेत्र में किया जाय तो इसे **स्थानीय रणविराम** (Local Armistice) कहा जाता है, यदि यह समूचे रणक्षेत्र के लिए किया जाय तो इसे **सामान्य** (General) **रणविराम** कहा जाता है। इसे करने का अधिकार प्रधान सेनापतियों या कूटनीतिक प्रतिनिधियों को होता है तथा इसकी पुष्टि राज्य की उच्च सत्ता द्वारा होती है।

२. पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) को मध्यकाल में जर्मनी के कुछ राजा चुना करते थे, इन्हें इसका निर्वाचक होने के कारण इलेक्टर (Elector) कहा जाता था और इनका प्रदेश (Electorate) कहलाता था।

३. अंग्रेजी में इसके लिए Armistice और Truce का प्रयोग होता है। इन दोनों को यद्यपि पर्यायवाची समझा जाता है, फिर भी Armistice अल्पकाल के लिए शत्रुतापूर्ण सैनिक कार्य स्थगित करना है और Truce काफी लम्बे समय के लिए ऐसा करना है। इस दृष्टि से इन्हें अल्पकालिक और दीर्घकालिक रणविराम कह सकते हैं। इनके लिए प्राचीन भारतीय शब्द अवहार है—महाभारत में इसका कई बार प्रयोग हुआ है—जैसे द्रौपदी के स्वयंवर के बाद राजाओं में हुई लड़ाई बन्द करने के लिए—क्रियतामवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसंवृतात् (१।१९०।३५) तथा एवं राजन्नवहारो बभूव (५।१८२।२०)। अवहार तथा Armistice दोनों का मूल शब्दार्थ लड़ाई के लिए निकाले गए हथियारों का समेट लेना और शान्ति की स्थिति में ले आना है।

उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध में ११ नवम्बर १९१८ को रणविराम हुआ था तथा इस दिन ११ बजे दोनों पक्षों की ओर से लड़ाई के सब सैनिक कार्य बन्द कर दिये गये थे। रणविराम से हथियारों की लड़ाई बन्द होती है, युद्धावस्था का अवसान नहीं होता। रणविराम की वार्ता युद्धकारी देशों में पत्रों द्वारा अथवा विशेष वार्तावह (Negotiator) दूतों द्वारा की जाती है। शत्रु के वार्तावह और रणविराम का सफेद झण्डा लाने वाले व्यक्ति अवध्य समझे जाते हैं।

शान्ति-संधि की सभी शर्तें रणविराम के समय तय नहीं हो सकतीं, अतः इस समय शान्ति-संधि की आरम्भिक बातें तय की जाती हैं, इसे **आरम्भिक** या **उप-संधि** (Preliminary Treaty) कहते हैं, इसके आधार पर बाद में अन्तिम और निश्चित संधि की जाती है, इसे **पूर्ण सन्धि** (Definite Treaty) कहते हैं। आजकल पूर्ण संधि प्रायः अवहार या रणविराम के काफी समय के बाद होती है। योरोप में आस्ट्रिया, फ्रांस और सार्डीनिया का युद्ध ११ जुलाई १८५९ को विल्लाफ्रांका (Villafranca) की प्रारम्भिक वार्ता से बन्द हो गया, किन्तु पूर्ण संधि १० नवम्बर १८५९ को ज्यूरिख में हुई। फ्रैंको-जर्मन युद्ध में लड़ाई की समाप्ति २६ फरवरी १८७१ की वर्साय की प्रारम्भिक वार्ता (Preliminaries) से हुई, किन्तु पूर्ण संधि १० मई १८७१ को फ्रैंकफोर्ट मे हुई। प्रथम विश्वयुद्ध में रणविराम या अवहार ११ नवम्बर १९१८ को हुआ, किन्तु मित्रराष्ट्रों की शान्ति-संधि जर्मनी के साथ २८ जून १९१९ को, हंगरी के साथ ४ जून १९२० को तथा तुर्की के साथ १० अगस्त १९२० को हुई।

द्वितीय विश्वयुद्ध का अवहार (Armistice) जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण के साथ ८ मई १९४५ को हुआ, किन्तु उसके साथ संधि के विषय में मित्रराष्ट्रों में उग्र मतभेद होने के कारण पूर्ण संधि अब तक नहीं हो सकी। १९५१ में सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने तथा २५ जनवरी १९५५ को सोवियत रूस ने इसके साथ युद्धावस्था का अन्त किया। जापान ने १४ अगस्त १९४५ को आत्मसमर्पण करते हुए युद्ध बन्द कर दिया, किन्तु सं० रा० अमरीका तथा अन्य देशों के साथ इसकी शान्ति-संधि छः वर्ष बाद १९५१ में ही सम्पन्न हो सकी।

शान्ति-संधि करने का अधिकार राज्यों के अध्यक्ष—राजाओं तथा राष्ट्रपतियों को होता है। वैटल ने कहा है कि राजा के बन्दी हो जाने पर यद्यपि वह राजपद के अधिकार से वंचित नहीं होता, किन्तु शत्रु के साथ संधि करने के अधिकार से वंचित हो जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में राजा को युद्ध छेड़ने और संधि करने के असीम अधिकार हैं। कई देशों में संविधान द्वारा शासनाध्यक्ष के संधि करने के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, सं० रा० अमरीका में संधि का सीनेट द्वारा पास किया जाना आवश्यक है। १९१९ की पेरिस की शान्ति परिषद् में यद्यपि सं० रा० अमरीका की ओर से उसके राष्ट्रपति विल्सन इसमें सम्मिलित हुए थे, वर्साय की संधि उनकी सहमति से तय हुई थी, किन्तु सीनेट ने १९ मार्च १९२० को इस संधि को अस्वीकार कर दिया।

शान्ति-संधियो में यदि इन्हें लागू करने की तिथि का स्पष्ट उल्लेख न हो तो

इन्हें हस्ताक्षर किये जाने की तिथि से लागू हुआ समझा जाता है। शीघ्रगामी संवाद-प्रेषण के आधुनिक साधनों के अभाव में पहले कई बार युद्ध के भूमण्डल के अनेक भागों में विस्तीर्ण होने पर, दोनों पक्षों को युद्ध बन्द होने की सूचना देने के लिए कुछ समय आवश्यक होता था, अतः शान्ति-संधि करते समय लड़ाई बन्द करने की कोई भावी तिथि या अवधि निश्चित की जाती थी। नैपोलियन के साथ ग्रेट ब्रिटेन की १८०१ की आमियेंज (Amiens) की संधि में हिन्द महासागर में लड़ाई बन्द करने के लिए पाँच मास की अवधि तय की गई थी, क्योंकि उस समय संवाद-प्रेषण के साधन वर्तमान युग की भाँति उन्नत नहीं थे और दूरवर्ती समुद्रों में विद्यमान अपने जलपोतों को समाचार या आज्ञायें पहुँचाने में बहुत समय लगता था। जब शान्ति-संधियों का अनुसमर्थन (Ratification) आवश्यक होता है तो ये इसके बाद ही लागू की जाती हैं, यदि यह अनुसमर्थन न हो तो लड़ाई पुनः आरम्भ की जा सकती है। कई बार शान्ति-संधि हो जाने के बाद भी लड़ाई चलती रहती है। रूस-जापान युद्ध में यद्यपि अमरीकन राष्ट्रपति के प्रयत्नों से शान्ति-संधि ५ सितम्बर १९०५ को हो गयी, किन्तु लड़ाई बन्द करने के समझौते पर १४ सितम्बर तक हस्ताक्षर नहीं हो सके और १६ सितम्बर तक शत्रुतापूर्ण युद्ध कार्य चलते रहे।

शान्ति-संधि के प्रभाव और परिणाम (Effects and Results of Peace Treaty)—इसका **पहला सामान्य प्रभाव** यह है कि युध्यमान देशों के मध्य पुनः शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। शान्ति-संधि लागू होते ही दोनों पक्ष राष्ट्रपरिवार (Family of Nations) के सदस्यों द्वारा शान्तिकाल में पालन किये जाने वाले कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उपभोग करने लगते हैं। युद्धकाल में वैध समझे जाने वाले सभी कार्यों की वैधता समाप्त हो जाती है, अब शत्रुसेनाओं पर तथा उसके दुर्गों पर आक्रमण, उसके प्रदेश पर बलपूर्वक अधिकार, उसके जहाजों का पकड़ना निषिद्ध एवं अवैध कार्य समझे जाते हैं। यदि शान्ति-संधि की सूचना प्राप्त न होने के कारण किन्हीं क्षेत्रों में सेनाओं द्वारा ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्य किये जाते हैं तो इसका हर्जाना दिया जाता है और शान्ति-संधि के समय की स्थिति बनाये रखने का प्रयत्न होता है। शान्ति-संधि के बाद युद्धबन्दियों को मुक्त कर देना चाहिए, पकड़े हुए जहाजों को छोड़ना तथा अधिकृत प्रदेश को खाली करना आवश्यक है। दोनों युध्यमान देशों में तथा इनके नागरिकों में युद्ध से पहले की तरह का शान्तिपूर्ण सम्पर्क स्थापित हो जाता है। युद्धारम्भ के समय भंग हुए दौत्य सम्बन्ध पुनः शुरू होते हैं, दोनों पक्ष राजदूतों का आदान-प्रदान करते हैं और वाणिज्यदूत (Consuls) अपना कार्य करने लगते हैं।

दूसरा प्रभाव जितभोगाधिकार (Uti Possidetis) का नियम है, इसके अनुसार शान्ति-संधि के समय दोनों पक्षों द्वारा जीते गए प्रदेश और सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार उन्हें दिया जाता है, बशर्ते कि शान्ति-संधि में इसके लिए कोई विशेष व्यवस्था न की जाय। ओपेनहाइम के शब्दों में इस प्रकार आक्रमण करने वाले युध्यमान पक्ष द्वारा छीनी हुई शत्रुराज्य की सारी चल सम्पत्ति जैसे गोलाबारूद, खाद्य पदार्थ, हथियार, धनराशि, घोड़े, यातायात के साधन विजेता के समझे जाते

हैं।[४] शत्रु का जीता गया प्रदेश भी विजेता का माना जाता है। किन्तु आजकल शान्ति-संधि द्वारा विधिपूर्वक इसे प्राप्त करना अधिक अच्छा समझा जाता है। शान्ति-संधि न होने पर भी विजेता राज्य इसे अंगीकरण (Annexation) द्वारा अपने राज्य में मिला सकता है। इसका एक मनोरंजक उदाहरण १९१२ का तुर्की-इटली युद्ध है, इसमें इटली ने तुर्की से ट्रिपोली और साइरेनायिका (Cyrenaica) के प्रदेश छीनने के उद्देश्य से उसे परास्त किया था। तुर्की शान्ति-संधि में इन प्रदेशों को स्पष्ट रूप से देने के लिए तैयार नहीं था, इटली इन्हें लेने के लिए कटिबद्ध था। अतः दोनों पक्षों ने लौज़ान में १८ अक्टूबर १९१२ की शान्ति-संधि करने से पहले १५ अक्टूबर को एक प्रोतोकोल समझौता किया, इसके अनुसार तुर्की ने तीन दिन के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रदेशों को पूर्ण स्वायत्त शासन देकर अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करना स्वीकार किया। इसके स्वतन्त्र होने पर दोनों देशों में संधि हो गई और इटली ने ट्रिपोली तथा साइरेनायिका को अपने राज्य का अंग बनाने की घोषणा की और सम्बद्ध राज्यों को इसकी सूचना दी।

शान्ति-संधि का **तीसरा प्रभाव** सामान्य क्षमादान (General Amnesty) होता है। इसका यह अभिप्राय है कि युद्ध के समय युद्धकारी देशों की सेनाओं तथा उनके प्रजाजनों द्वारा शत्रुजनों के विरुद्ध किए गए अपकारपूर्ण (Wrongful) और दण्डनीय कार्यों के लिए दिए जाने वाले दण्डों से उन्हें छूट या उन्मुक्ति मिल जाती है। कई बार संधियों में क्षमादान की धारा का विशेष रूप से उल्लेख होता है। यह क्षमादान सामान्य रूप से शत्रु के विरुद्ध किए गए अपकारपूर्ण कार्यों के लिए होता है, अपनी सरकार के विरुद्ध किए गए दण्डनीय कार्य इसमें नहीं आते, बशर्ते कि संधि में इसके लिए स्पष्ट व्यवस्था न की गई हो। रूस ने १८७८ में तुर्की के साथ सैन स्टीफानो की संधि करते हुए उसकी धारा १७ में यह शर्त रखी थी कि तुर्की इस युद्ध में उसका साथ छोड़ने वालों को भी माफ कर देगा। सामान्य रूप से ऐसे व्यक्तियों पर राजद्रोह आदि के अभियोग चलाये जाते हैं। इस क्षमादान का सामान्य अपराधों के साथ कोई संबंध नहीं है। यदि कोई युद्धबन्दी अपनी बन्दी दशा में कोई हत्या करता है तो शान्ति-संधि के बाद इसके लिए उस पर मनुष्य-हत्या का अभियोग चलाया जाता है।

चौथा प्रभाव युद्धबन्दियों को शान्ति-संधि होते ही एकदम मुक्त कर देना है। इस विषय में पुरानी व्यवस्था १९२९ के जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ७५ में की गई थी, इसमें कहा गया था कि शान्ति-संधि सम्पन्न होने पर यथासम्भव शीघ्र ही युद्ध-बन्दियों को स्वदेश भेज दिया जायेगा। किन्तु दूसरे विश्वयुद्ध के अनुभव से इसमें संशोधन की आवश्यकता अनुभव हुई। इटली, जर्मनी और जापान द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण कर देने के बाद भी मुख्य युद्धकारी देशों में कई वर्षों तक कोई शान्ति-संधि

---

४. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६११

५. वही—ओपेनहाइम ने इसे प्रच्छन्न हस्तान्तर (Concealed cession) कहा है। किन्तु डीना (Diena) का यह विचार है कि यह प्रच्छन्न हस्तान्तर नहीं, किन्तु तुर्की द्वारा इन प्रदेशों में अपनी सत्ता का त्याग (Dereliction) था, इटली ने इन प्रदेशों के स्वामीहीन होने की दशा में इनका आवेशन (Occupation) करके इन पर अपना अधिकार स्थापित किया।

नहीं हो सकी। इस समय वास्तविक लड़ाई बन्द हो जाने पर युद्धबन्दियों का शत्रु-देशों में निरोध (Detention) बनाये रखना अनावश्यक तथा अन्यायपूर्ण समझा गया। अतः १९४९ के जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ११८ में उपर्युक्त नियम का संशोधन करते हुए बड़े स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में यह कहा गया—कि "क्रियाशील शत्रुतापूर्ण कार्यों के अवसान (Cessation of active hostilities) के बाद अविलम्ब युद्धबन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्त्तन होना चाहिए।" 'शत्रुतापूर्ण कार्यों के सक्रिय अवसान' का अर्थ अल्पकालिक रणविराम संधि या अवहार (Armistice) नहीं है, जिसकी समाप्ति पर पुनः लड़ाई आरम्भ होने की सम्भावना हो, किन्तु शत्रु के पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद ऐसी विरामसन्धि है, जिसके बाद पुनः युद्ध आरम्भ होने की सम्भावना न हो। इस अवस्था में युद्धबन्दियों को फौरन मुक्त कर दिया जाना चाहिए। जर्मनी के साथ मित्रराष्ट्रों का सक्रिय युद्ध १९४५ में समाप्त हो गया था, शान्ति-संधि अब तक भी न होने पर १९४९ तक मित्रराष्ट्रों ने सब जर्मन युद्धबन्दी मुक्त कर दिये थे।

पाँचवाँ प्रभाव युद्धावस्था की समाप्ति है। विरामसंधि (Armistice) तथा शान्ति-संधि (Peace Treaty) में एक बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि विरामसंधि से केवल अस्थायी रूप में हथियारों द्वारा लड़ाई बन्द हो जाती है, किन्तु युद्ध की स्थिति बनी रहती है। यह लड़ाई किसी भी समय विरामसंधि की समाप्ति पर पुनः छिड़ सकती है, किन्तु शान्ति-संधि के बाद लड़ाई स्थायी रूप से बन्द हो जाती है और इसके पुनः छिड़ने की कोई सम्भावना नहीं होती। शान्ति-संधि के कुछ अन्य परिणाम ये हैं—युद्ध से पहले लिये गये ऋण और संविदाएँ (Contracts) पुनरुज्जीवित हो जाती हैं। शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद शत्रु के प्रदेश से उसकी सामग्री का बलपूर्वक उपयोग और धन की जबर्दस्ती वसूली (Requisitions and Contributions) नहीं की जा सकती। युद्धकाल में शत्रु द्वारा छीनी गई वैयक्तिक सम्पत्ति उन्हें लौटा दी जाती है, इसी प्रकार युद्धबन्दियों से ली गई बहुमूल्य वस्तुएँ भी उन्हें वापिस की जाती हैं। संधियों के सम्बन्ध में ओपेनहाइम ने यह लिखा है[६] कि युद्ध छिड़ने पर जिन संधियों का पालन स्थगित हो जाता है, शान्ति-संधि के बाद ये पुनरुज्जीवित हो जाती हैं। प्रायः शान्ति-संधियों में दोनों पक्ष पुनरुज्जीवित की जाने वाली संधियों के बारे में विशेष व्यवस्थाएँ करते हैं। १९४७ में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इटली की शान्ति-संधि में मित्रराष्ट्रों ने इसके अनुच्छेद ४४ में यह व्यवस्था की थी कि इस संधि के लागू होने के छः महीने के भीतर मित्रराष्ट्र इटली को यह सूचित करेंगे कि दोनों देशों की कौन-सी संधियाँ वे बनाये रखना या पुनरुज्जीवित रखना चाहते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य सभी संधियाँ रद्द समझी जाएँगी।

अन्य संधियों की भाँति शान्ति-संधियों का पालन पूरी ईमानदारी और निष्ठा के साथ किया जाना चाहिये। इनमें निर्धारित शर्तों के अनुसार अधिकृत प्रदेश को खाली

६. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६१५

करना, युद्ध का हर्जाना देना, नई सीमान्त रेखाओं का निर्माण बड़े जटिल कार्य होते हैं, इनके लिए कई बार विशेष आयोग नियत किये जाते हैं। कई बार संधि की शर्तें पूरी कराने के लिए पराजित पक्ष के प्रदेश पर सैनिक अधिकार रखा जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद वर्साय की संधि में ऐसी व्यवस्था की गई थी और इसके अनुसार १९२२ में जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की अदायगी न होने पर फ्रांस ने जनवरी १९२३ में उसके रूर के औद्योगिक प्रदेश पर सेनाओं द्वारा कुछ समय के लिए कब्जा कर लिया था।

शान्ति-संधि को पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से भंग किया जा सकता है। एक पक्ष द्वारा उसकी व्यवस्थाओं के उल्लंघन से यह संधि स्वयमेव रद्द नहीं हो जाती। दूसरा पक्ष इसे इस आधार पर रद्द कर सकता है, किन्तु यह तभी होना चाहिए जब इसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक शर्तों को दूसरे पक्ष द्वारा भंग किया जाय।

पूर्वावस्था (Postliminium)

पूर्वावस्था का अभिप्राय (Meaning of Postliminium)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने यह परिभाषा रोमन कानून से ग्रहण की है। इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जब कोई प्रदेश, व्यक्ति या सम्पत्ति युद्धकाल में शत्रु के अधिकार में चले जाने के बाद, युद्ध के समय या उसकी समाप्ति पर पुनः अपने पहले स्वामी या प्रभु के अधिकार में आ जाती है, इसे इनका **पूर्वावस्था** में आना कहा जाता है। पूर्वावस्था का वाचक लैटिन शब्द Post (पूर्व) तथा Limen (सीमा) के दो शब्दों से मिलकर बना है।[७] रोमन कानून में इस शब्द का व्यवहार उस समय किया जाता था, जब रोमन किसी ऐसे देश पर आक्रमण करते थे जिनके साथ उनकी मैत्री संधि नहीं होती थी। ऐसे राज्य पर आक्रमण करने वाले रोमन शत्रु द्वारा दास बनाये जा सकते थे और उनका सामान जब्त किया जा सकता था। पूर्वावस्था का नियम यह था कि (१) यदि इस प्रकार दास बनाया गया रोमन नागरिक रोमन साम्राज्य की सीमा में लौट आता था तो वह स्वतः (Ipso facto) रोमन नागरिक के उन सब अधिकारों को पा लेता था जो उसे बन्दी बनाए जाने से पूर्व प्राप्त थे। (२) विदेशी राज्य में प्रवेश के बाद जब्त की हुई सम्पत्ति यदि रोमन साम्राज्य की सीमा में वापिस लाई जाती थी तो इस पर इसके भूतपूर्व रोमन स्वामी का अधिकार हो जाता था। इस सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समय में शत्रु द्वारा जीते प्रदेश के उसके मूलस्वामी के पास लौट जाने के सम्बन्ध में किया जाता है। विजित प्रदेश अपने मूल स्वामी को कई प्रकार से मिल सकता है। पहला प्रकार अधिकृत प्रदेश से शत्रु का स्वयमेव हट जाना है और मूलस्वामी द्वारा इस पर फौरन अधिकार कर लेना है। इसे शत्रु से कोई अन्य वैध राजा भी जीत सकता है और जीतने के बाद इसे मूलस्वामी को लौटा सकता है। जनता के सामूहिक विद्रोह द्वारा यह प्रदेश असली मालिक को मिल जाता है। शान्ति-संधि में भी इसे मूलस्वामी को लौटाने की व्यवस्था हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पूर्वावस्था के निम्न-

७. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६१६

लिखित तीन प्रभाव होते हैं :—

(क) वस्तुओं को पूर्वावस्था प्राप्त होना (Return to Original Conditions)—युद्ध द्वारा किसी प्रदेश पर शत्रु की सेनाओं का अधिकार हो जाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इस पर शत्रु की प्रभुसत्ता (sovereignty) स्थापित नहीं होती। यदि शत्रु इस पर वशीकरण (subjugation) द्वारा अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं करता तो इस पर कानूनी स्वत्व भूतपूर्व शासक का ही माना जाता है, भले ही वह इस पर अपने स्वत्व का प्रयोग न कर सके। ज्योंही शत्रु इस प्रदेश से स्वयमेव, जनता के विद्रोह से अथवा मित्रदेशों के सैनिक दबाव के कारण हटता है, तो स्वतः इस प्रदेश में पूर्वावस्था लौट आती है। यह प्रदेश और इसके व्यक्ति भूतपूर्व वैध प्रभु की सत्ता के अधीन समझे जाते हैं। इस प्रदेश में घटित होने वाली सब महत्वपूर्ण घटनाओं के लिये अन्य राज्य उसी शासक को उत्तरदायी समझने लगते हैं।

(ख) वैध कार्यों की वैधता (Legality of Legal Acts)—किसी प्रदेश में सैनिक अधिकार रखने वाली शक्ति से वैध कार्यों पर पूर्वावस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शत्रु के लौट जाने से पहले उस द्वारा किये गए वैध कार्यों को अवैध नहीं बनाया जा सकता। यदि उस समय उस शक्ति ने कुछ कर एकत्र किये हैं, स्थावर सम्पत्ति की पैदावार बेची है, युद्ध के नियमों का पालन करते हुए अपने अधिकार में आई चल सम्पत्ति का विनियोग किया है, तो युद्ध के बाद इस प्रदेश पर पुनः अधिकार प्राप्त करने वाला वैध शासक उपर्युक्त व्यवस्थाओं को बदल नहीं सकता। इन कार्यों के किये जाने की आवश्यक शर्त यह है कि ये **उसके अधिकार के समय** में (During the occupation) किये गये हों।

फ्रेंको-जर्मन युद्ध के एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। अक्टूबर १८७० में फ्रांस के दो जिलों—म्यूज़ तथा म्यूरते (Departments of de la Meuse and de la Meurthe) पर जर्मन सेनाओं का अधिकार था। इसी समय बर्लिन की एक फर्म ने जर्मन सरकार से इन जिलों में बांझ (oak) के १५००० पेड़ गिराने का ठेका लिया और इसके लिए २२५० पौण्ड की राशि अग्रिम रूप में प्रदान की। बर्लिन की कम्पनी ने अपने ये सांविदिक अधिकार (contractual rights) एक दूसरी कम्पनी को बेच दिये। इसने मार्च १८७१ तक ९००० पेड़ काटने और बेचने के बाद शेष ६००० पेड़ काटने का ठेका तीसरी कम्पनी को दिया। इसने जर्मन सेनाओं के रहते हुए कुछ पेड़ काटे। किन्तु इसी बीच में दोनों पक्षों में फ्रैंकफोर्ट की संधि हो गयी। जर्मन सेनायें स्वदेश लौट गयीं, फ्रेंच सरकार का इस प्रदेश पर पुनः अधिकार स्थापित हो गया, उसने ठेकेदारों को पेड़ काटने से रोक दिया और उन्हें कोई हर्जाना नहीं दिया, क्योंकि जर्मन सरकार को इस प्रकार ठेका देने का अधिकार केवल अपने अधिकारकाल में था, उसके बाद उसका यह कार्य सर्वथा अवैध था, अतः फ्रेंच सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया।

(ग) अवैध कार्यों की अवैधता (Illegality of Illegal Acts)—यदि युद्ध के समय अधिकार करने वाली शक्ति ने कुछ ऐसे कार्य किये हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून

की दृष्टि से उसे नहीं करने चाहिये थे तो पूर्वावस्था इन्हें अवैध ही समझेगी । यदि उसने राज्य की कुछ अचल सम्पत्ति बेची है तो युद्ध के बाद यह इसे खरीदने वालों से बगैर मुआवजा दिये वसूल की जा सकती है। यदि उसने अधिकार न होते हुए कुछ व्यक्तियों को पद दे दिये हैं तो ये उनसे युद्ध के बाद छीने जा सकते हैं।

इस नियम की मर्यादायें (Limitations of the Doctrine)—पूर्वावस्था का नियम केवल वहीं लागू होता है, जहाँ जीता गया प्रदेश युद्ध में या युद्ध की समाप्ति के बाद भूतपूर्व वैध शासक के पास लौट आये । किन्तु जब कोई विजित प्रदेश कुछ समय तक शान्ति-संधि द्वारा शत्रु को दिया जाय, जीत लिया जाय, अंगीकरण (Annexation) द्वारा राज्य में मिला लिया जाय और बाद में अपने मूलस्वामी के अधिकार में आये तो पूर्वावस्था का नियम लागू नहीं होता। इसके लिए किसी मध्यवर्ती शासन (Interregnum) का व्यवधान नहीं होना चाहिये । यह नियम केवल युद्धकालीन सैनिक अधिकार के सम्बन्ध में लागू होता है, शान्तिकाल में चिरकाल तक दूसरे राज्यों के अधिकार में रहने वाले प्रदेश इस नियम का लाभ नहीं उठा सकते। यह **हैस कैसल** (Hesse Cassel) के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा ।

हैस कैसल का मामला (Hesse Cassel's Case)—१८०६ में फ्रांस और प्रशिया में युद्ध छिड़ने पर नैपोलियन बोनापार्ट की फ्रेंच सेनाओं ने हैस कैसल के तटस्थ प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा इसके शासक (Elector) को इस आधार पर यहाँ से खदेड़ दिया कि उसकी सशस्त्र तटस्थता से फ्रेंच सेना की सुरक्षा संकटग्रस्त हो गयी है। १८०७ तक यह प्रदेश फ्रांस के सैनिक शासन में रहा। इसके बाद रूस के साथ टिलसिट की संधि करने पर नैपोलियन ने इसे वैस्टफेलिया नामक नये राज्य का अंग बना दिया और इसकी राजगद्दी पर अपने भाई जेरोम बोनापार्ट को बिठाया। इस राज्य का कुछ भाग नैपोलियन ने अपने पास भी रखा, दोनों भाइयों ने इसके बँटवारे के विषय में २२ अप्रैल १८०८ को एक समझौता किया। हैस कैसल के इलेक्टर ने अपने प्रजाजनों से कुछ ऋण लेने थे । इनके सम्बन्ध में जेरोम का यह कहना था कि इनकी अदायगी नैपोलियन को होनी चाहिये क्योंकि इस प्रदेश का विजेता होने से वही इसका वास्तविक स्वामी है । अतः उसने इन पर अपने दावे का परित्याग किया। नैपोलियन ने यह घोषणा की कि उसने इस प्रदेश के पूर्ण स्वामित्व और उपभोग के बदले में इन ऋणों की आदायगी जेरोम को सौंप दी है। १८१३ के अन्त में नैपोलियन की शक्ति क्षीण होने पर मित्रराष्ट्रों ने एक संधि द्वारा हैस कैसल इसके मूलस्वामी को वापिस लौटा दिया ।

काउण्ट वान हान (Count Von Hahn) नामक एक बड़े जमींदार को हैस कैसल के इलेक्टर ने कुछ धनराशि उधार दी थी, उसने इसमें से कुछ भाग नैपोलियन को लौटा दिया और उसकी प्रेरणा से मैकलेनबर्ग के ड्यूक ने १५ जून १८१० की आज्ञा द्वारा उसे पूरे ऋण की अदायगी से मुक्त कर दिया। हैस कैसल के इलेक्टर ने इसे अवैध मानते हुए कहा कि यह लुटेरे का कार्य है, विजेता का नहीं, उसे अपनी पूरी धनराशि वापिस मिलनी चाहिये। किन्तु उस समय इस मामले की अपील सुनने वाले न्यायालय ने इस विषय में पूर्वावस्था का सिद्धान्त लागू नहीं किया, क्योंकि हैस कैसल की विजय के

बाद इस पर नैपोलियन का पूरा अधिकार स्थापित हो गया था, १८१३ में इलेक्टर का स्वदेश में वापिस आना वैस्टफेलिया के शासन के एक लम्बे व्यवधान के बाद हुआ, इसे पुराने शासन को जारी रखने वाला नहीं माना जा सकता, इस बीच में नैपोलियन द्वारा किए गए सब कार्य वैध थे, भले ही उसने ऋणों की पूरी अदायगी न की हो। अतः न्यायालय का निर्णय हैस कैसल के इलेक्टर के प्रतिकूल हुआ।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

तटस्थता

(Neutrality)

लक्षण (Definition)—युद्ध छिड़ने पर उसमें भाग न लेने वाले तथा इस संघर्ष से पृथक् रहने वाले राज्य तटस्थ और इनकी यह प्रवृत्ति तटस्थता (Neutrality) कहलाती है। लारेन्स (Lawrence) के शब्दों में तटस्थता राज्यों की वह अवस्था है, जिसमें युद्ध के समय वे इस संघर्ष में कोई भाग नहीं लेते तथा दोनों युध्यमान पक्षों से अपना शान्तिपूर्ण सम्पर्क बनाए रखते हैं। बिन्करशोयेक (Bynkershoek) के मतानुसार वही राज्य तटस्थ कहे जा सकते हैं, जो युद्धकारी शक्तियों में से किसी पक्ष की ओर से नहीं लड़ते और जो मैत्रीसंधि द्वारा किसी पक्ष के साथ नहीं बँधे होते। फेनविक के कथनानुसार, "बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वीकार की जाने वाली तटस्थता का लक्षण यह किया जा सकता है कि यह ऐसे राज्य की कानूनी स्थिति है, जो दो राज्यों अथवा राज्यसमूहों में युद्ध छिड़ने पर इससे पृथक् रहता है, दोनों युध्यमान पक्षों के साथ अपने कुछ अधिकार बनाए रखता है तथा परम्परागत कानूनों से, अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों से तथा सन्धियों से निश्चित किए गए कुछ नियमों का पालन करता है।"[1] स्टार्क ने लिखा है—"सामान्य लोकप्रिय अर्थ में तटस्थता किसी राज्य की उस प्रवृत्ति को व्यक्त करती है, जिसमें वह राज्य युध्यमान पक्षों के साथ लड़ाई नहीं करता और शत्रुतापूर्ण कार्यों में कोई भाग नहीं लेता। अपने पारिभाषिक अर्थ में यह इस प्रवृत्ति से कुछ अधिक अर्थ देती है, विशेष प्रकार की ऐसी कानूनी स्थिति को सूचित करती है, जिसमें युध्यमान पक्षों तथा तटस्थ राज्यों को समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का पालन करना पड़ता है।"[2] आपेनहाइम[3] के मत में "तटस्थता

---

1. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, तृतीय संस्करण, पृ० ६११
2. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३८३
3. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६५३। इस प्रसंग में प्राचीन भारत की तटस्थताविषयक मान्यताओं का उल्लेख उपयोगी होगा। तटस्थता के लिए प्राचीन शब्द आसन है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१५०।३-५) में इसका सुस्पष्ट लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि दो देशों में लड़ाई छिड़ जाने पर अपने देश में ही बैठे रहना आसन है (विग्रहेऽपि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते)। आसन भारतीय राजनीति के सुप्रसिद्ध षड्गुणों—सन्धि, विग्रह, आसन, यान संश्रय, द्वैधीभाव में तीसरा स्थान रखता है। इन गुणों का वर्णन कौटिल्य (सप्तम अधिकरण), मनु (७।१६० प्र०), कामन्दक (६-१६), विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१४५-१५०), अग्निपुराण (२४० अध्याय), मानसोल्लास (पृ० ६४-१६६), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३२४-४१३), में है। इनके प्रसंग में आसन का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मनु (७।१६६) ने आसन दो प्रकार का बताया है—सेना, कोश आदि की दृष्टि से कमजोर होने की

का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह दो युद्ध करने वाले पक्षों के प्रति तीसरे राज्यों द्वारा अपनायी गई निष्पक्षता की ऐसी प्रवृत्ति है, जिसे युद्ध करने वाले देश स्वीकार करते हैं और जो निष्पक्ष राज्यों और युध्यमान पक्षों के बीच में कुछ अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न करती है।"

तटस्थता की विशेषताएँ (Characteristics of Neutrality)—उपर्युक्त लक्षणों से तटस्थता की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि यह केवल युद्ध के समय में होती है। लड़ाई की घोषणा या आरम्भ होने के साथ इस अवस्था का श्रीगणेश होता है और युद्ध बन्द होते ही इसका अन्त हो जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि यह एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति (Attitude) है, अतः तटस्थ होने के लिए किसी देश को कानूनी तौर से किसी औपचारिक (Formal) घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है। उसके युद्ध में सम्मिलित न होने के रुख से ही यह मान

दशा में, अथवा इनमें समृद्ध होते हुए भी अपने मित्र के अनुरोध से लड़ाई में न पड़ना आसन है। (क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥)। कौटिल्य के मतानुसार लड़ाई की उपेक्षा करना अर्थात् उसमें भाग न लेना आसन है (७।१, उपेक्षणमासनम्)। उसने यह भी कहा है कि जब कोई राजा यह समझे कि 'मुझे कोई शत्रु नहीं परास्त कर सकता' और 'मैं भी शत्रु को परास्त नहीं कर सकता' तो राजा आसन की नीति का अवलम्बन करे (७।१, न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत)। कौटिल्य ने ७।४ में तटस्थता के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है—स्थान, आसन और उपेक्षण। स्थान का आशय है—सामान्य रूप से लड़ाई छिड़ने पर चुपचाप बैठे रहना। शत्रु की अपेक्षा शक्ति कम होने की स्थिति में 'स्थान' का अवलम्बन किया जाता है, क्योंकि इसमें शत्रु द्वारा किए अपकार का प्रत्यपकार द्वारा प्रतिकार नहीं किया जा सकता है। अपनी उन्नति और वृद्धि के लिए तटस्थता का अवलम्बन आसन है। सन्धि आदि किसी उपाय का प्रयोग न करना उपेक्षण है (स्थानमासनमुपेक्षणं चेत्यासनमर्थायाः। विशेषस्तु गुणैकदेशे स्थानम्। स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमासनम्। उपायानामप्रयोग उपेक्षणमिति)। कदम्बराजा काकुत्स्थवर्मा के तालगुण्ड स्तम्भ अभिलेख (एपिग्राफिका इण्डिका खं० ७, सं० ५, १, १३) में आसन शब्द का प्रयोग हुआ है, इसमें कहा गया है कि यद्यपि यह आसन की स्थिति में रहता था तो भी प्रभु, उत्साह तथा मंत्र शक्तियाँ होने के कारण सामन्त तथा अन्य राजा उससे भयभीत रहते थे। श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने 'वार इन ऐन्शेण्ट इण्डिया' (पृ० ३२२) में इसे सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) की स्थिति बताया है, तटस्थता के दस भेदों के लिए देखिए—दीक्षितार की उपर्युक्त पुस्तक (पृ० ३२०)।

तटस्थता के लिए दूसरा प्राचीन शब्द उदासीनता है। गीता (६।९) में उदासीन और मध्यस्थ शब्दों का प्रयोग हुआ है और टीकाकारों ने इसका भेद अच्छी तरह स्पष्ट किया है। शंकराचार्य के मतानुसार किसी पक्ष को न लेने वाला उदासीन तथा दो विरोध करने वाले पक्षों में दोनों का हित चाहने वाला मध्यस्थ होता है (उदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते, मध्यस्थो यो विरुद्धयोः उभयोः हितैषी)। नीलकण्ठ ने दोनों पक्षों में पक्षपातशून्य को उदासीन बताया और दोनों के हितेच्छु को मध्यस्थ (उदासीन उभयत्र पक्षपातशून्यः, मध्यस्थः उभयहितैषी)। उदासीन की इस व्याख्या में तटस्थता की एक मुख्य विशेषता—निष्पक्षता को अधिक महत्त्व दिया गया है। मधुसूदनी टीका की व्याख्या तटस्थता के आधुनिक लक्षण से अधिक मिलती है। यह इस प्रकार है—लड़ने वाले दोनों पक्षों की उपेक्षा करने वाला उदासीन और ऐसे दोनों पक्षों का हितैषी मध्यस्थ है (उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः। मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी)। इस प्रसंग में भाष्योत्कर्ष दीपिका का अरि का यह लक्षण उल्लेखनीय है—अरिः शत्रुः खड्गहस्तो मारणोद्यतः।

लिया जाता है कि वह तटस्थ है। **तीसरी विशेषता** निष्पक्षता की मनोवृत्ति है। निष्पक्ष रहने के कारण तटस्थ राज्य युद्ध करने वाले दोनों पक्षों में से किसी को ऐसी सहायता या मदद नहीं दे सकता, जो दूसरे पक्ष को हानि पहुँचाने वाली हो और न ही वह किसी पक्ष को ऐसी हानि पहुँचा सकता है, जो दूसरे पक्ष के लिये लाभप्रद हो। अतएव तटस्थ देशों को ऐसे उपायों तथा साधनों का अवलम्बन करना आवश्यक है, जिनके कारण दोनों युद्धकारी पक्ष युद्ध के समय सामरिक प्रयोजनों के लिए उसके प्रदेश तथा साधन-सम्पत्ति का कोई लाभ न उठा सकें। अतः उसके प्रदेश में दोनों पक्षों में कोई युद्ध नहीं हो सकता, उसकी भूमि में से शत्रुसेनाओं का, रणसामग्री का तथा सैनिकों की खाद्य-सामग्री का परिवहन या ढुलाई नहीं हो सकती, उसके बन्दरगाहों में किसी पक्ष के रण-पोतों का निर्माण, सज्जा या मरम्मत नहीं हो सकती।

किन्तु निष्पक्षता की मनोवृत्ति का यह आशय नहीं है कि तटस्थ देश किसी युध्यमान पक्ष के साथ सहानुभूति नहीं कर सकता। सहानुभूति इतनी मात्रा तक ही होनी चाहिये कि वह निष्पक्षता का अतिक्रमण करने वाले कार्य न करे। दोनों विश्व-युद्धों के आरम्भ में कुछ समय तक तटस्थ रहने पर भी सं० रा० अमरीका की सहानुभूति ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य मित्रराष्ट्रों के साथ थी। तटस्थ देशों को यह अधिकार है कि वे सहानुभूति रखने वाले युध्यमान पक्ष को ही अपने मानवीय कार्यों—जैसे आहतों की सेवा-शुश्रूषा के लिए दवाइयों, हस्पतालों, डाक्टरों को भेजने आदि का लाभ पहुँचाएँ। इससे उनकी निष्पक्षवृत्ति किसी तरह खंडित नहीं होती।[४] किसी पक्ष द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन होने पर तटस्थ देश की इसे रोकने के सम्बन्ध में की जाने वाली कार्यवाही उसकी निष्पक्षता में बाधक नहीं समझी जाती, इस अवस्था में तटस्थ देशों को हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है। **चौथी** विशेषता निष्पक्षता की मनोवृत्ति से युद्ध छिड़ने पर तटस्थ रहने वाले देशों के कुछ विशेष अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न हो जाना है। आगे इनका वर्णन किया जायेगा।

तटस्थता के विचार का विकास (Development of the Idea of Neutrality)—पश्चिमी जगत् के प्राचीनकाल के इतिहास में तटस्थता का कोई विचार नहीं था।[५] मध्ययुग में शनैः-शनैः इसका आविर्भाव हुआ। ग्रोशियस के समय तक यह विचार अपनी शैशव दशा में था, उसने अपने ग्रंथ के एक अतिसंक्षिप्त अध्याय में इस विषय में केवल दो सामान्य नियमों का वर्णन किया है। **पहला नियम** यह है कि तटस्थ देश ऐसा कोई कार्य न करें जिससे अधर्म्य या अन्यायपूर्ण पक्ष (Unjust cause) वाले युद्धकारी देश का पक्ष सुदृढ़ हो या न्यायपूर्ण पक्ष वाले देश को हानि पहुँचे। **दूसरा नियम** यह है कि जब दोनों युद्धकारी देशों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो कि किसका पक्ष धर्मानुकूल है, तो तटस्थ राज्य दोनों युद्धकारियों के साथ समान व्यवहार करे, उनकी सेनाएँ अपने प्रदेश में से न गुजरने दे, सेनाओं को खाद्य सामग्री न प्रदान करे तथा घिरे हुए व्यक्तियों को सहायता न दे।

४. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६५५

५. वही, पृ० ६२४-५

१७वीं शताब्दी के अन्त तक तटस्थता के कोई विशद नियम नहीं थे। १८वीं शताब्दी में इसके नियमों में विशदता और सुस्पष्टता आने लगी। तटस्थ देश स्विट्ज़रलैण्ड के विधिशास्त्री वैटल ने १७५८ में इसका सुन्दर लक्षण करते हुए कहा—"किसी युद्ध में वे देश तटस्थ होते हैं, जो इसमें कोई भाग नहीं लेते, दोनों पक्षों के मित्र होते हैं, किसी एक पक्ष की सेनाओं को लाभ पहुँचाकर दूसरे पक्ष को हानि नहीं पहुँचाते।" इस शताब्दी के दूसरे प्रसिद्ध विधिशास्त्री बिन्करशोयेक ने तटस्थ देशों के लिए ग्रोशियस की इस शर्त को स्वीकार नहीं किया कि तटस्थ देश न्यायपूर्ण युद्धों के आधार पर लड़ाई करने वालों के साथ अपने व्यवहार में भेदभाव करें, वह तटस्थ राज्य को दोनों युध्यमान पक्षों का मित्र मानता था। इस समय तक तटस्थ देश के व्यापार करने वाले जलपोतों के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बने थे। ग्रेट ब्रिटेन यह मानता था कि युद्ध करने वाले देश तटस्थ देशों के जलपोतों पर लदा हुआ केवल शत्रु का माल जब्त कर सकते थे, शत्रु के जलपोतों पर लदा हुआ तटस्थ देश का माल नहीं पकड़ा जा सकता था। तटस्थ राज्यों को यह अधिकार था कि युद्ध के समय वे युद्धकारी देशों के साथ उसी प्रकार का व्यापारिक सम्बन्ध रख सकें, जैसा शान्तिकाल में रखते थे। किन्तु फ्रांस और स्पेन की नीति इससे भिन्न थी। वे शत्रु के जहाजों पर लदा तटस्थ देशों का माल तथा तटस्थ जहाजों पर लदा शत्रु का माल समान रूप से पकड़ा जाने योग्य या अभिग्रहणीय समझते थे। १७५६ में छिड़ने वाले इंगलैंड और फ्रांस के सप्तवर्षीय युद्ध में इस विषय में एक नया नियम विकसित हुआ, इसे **१७५६ का नियम** भी कहते हैं। उस समय सब योरोपियन राज्यों की यह नीति थी कि वे अपने समुद्रतट की बन्दरगाहों में तथा उपनिवेशों में केवल अपने स्वदेशी जहाजों को व्यापार करने देते थे, विदेशी जलपोत इस व्यापार में भाग नहीं ले सकते थे। सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ने पर फ्रांस ने यह अनुभव किया कि उसका नौसैनिक बेड़ा ब्रिटेन के बेड़े की अपेक्षा निर्बल है, इसीलिए वह अपने समुद्र पार के उपनिवेशों से व्यापार नहीं कर सकता, उसने इस युद्ध में तटस्थ रहने वाले हालैण्ड को यह व्यापार करने की अनुमति दे दी। इस पर इंगलैंड ने अपने समुद्री बेड़े को यह आदेश दिया कि वह ऐसे व्यापार में लगे सभी डच जहाजों को उनके माल के साथ पकड़ ले, क्योंकि उपर्युक्त फ्रेंच व्यवस्था से डच बेड़ा फ्रेंच बेड़े का अंग बन जाने के कारण शत्रु का बेड़ा बन गया है। इसी नियम को १७५६ का नियम कहा जाता है। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय इसे १७४४ में ही स्वीकार कर चुके थे।

सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality)—१७८० में अमरीकन स्वतन्त्रता संग्राम के समय रूस ने पहली सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) की घोषणा की, यह १७५६ के नियम का संशोधन था। इसमें उसने एक परिपत्र द्वारा फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा स्पेन को इन पाँच नियमों का पालन करने को कहा—(१) तटस्थ देशों के जलपोतों को युद्ध करने वाले देशों के समुद्रतटों के बन्दरगाहों में व्यापार की अनुमति दी जाय। (२) विनिषिद्ध (Contraband) सामग्री के अतिरिक्त तटस्थ जलपोतों पर लदा हुआ शत्रु का माल युद्धकारी देशों को नहीं पकड़ना चाहिए। (३) विनिषिद्ध सामग्री के विषय में रूस और ग्रेट ब्रिटेन की १७७६ की सन्धि के १०, ११ अनुच्छेद लागू करने

चाहिएँ। (४) किसी बन्दरगाह को उसी अवस्था में परिवेष्टित (Blockaded) समझना चाहिए, जबकि परिवेष्टन करने वाले युद्धकर्त्ता देश वहाँ अपने जहाज रखें और इनके कारण तटस्थ जलपोतों को वहाँ प्रवेश करने में खतरा हो। (५) अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) में अधिगृहीत वस्तुओं (Prize) की वैधता पर विचार करते हुए उपर्युक्त सिद्धान्तों को लागू किया जाय।

जुलाई १७८० में रूस ने डेनमार्क के साथ तथा अगस्त में स्वीडन के साथ संधियाँ कीं, इनका उद्देश्य उपर्युक्त नियमों को लागू करने के लिए कुछ रणपोतों को सुसज्जित करना था। बाद में ऐसी संधि १७८१ में हालैंड, प्रशिया और आस्ट्रिया के साथ, १७८२ में पुर्तगाल के और १७८१ में दो सिसलियों राज्य के साथ की गयी। फ्रांस, स्पेन और सं० रा० अमरीका ने इसके सिद्धान्त स्वीकार किए। इस प्रकार तटस्थता के नियमों की रक्षा के लिए सशस्त्र जलपोतों की व्यवस्था की गयी, इसीलिए इसे **'सशस्त्र तटस्थता'** कहते हैं। यद्यपि इसके नियमों का बहुधा उल्लंघन होता रहा है, तथापि इसका विशेष महत्व इसलिए है कि १८५६ की पेरिस की घोषणा का आधार इसके उपर्युक्त नियम थे। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय उपर्युक्त नियमों की घोषणा करने वाले रूस ने स्वयमेव १७९३ में ग्रेट ब्रिटेन के साथ मिलकर इनका उल्लंघन करते हुए फ्रेंच बन्दरगाहों में तटस्थ जहाजों का प्रवेश निषिद्ध ठहराया, इसका उद्देश्य फ्रांस को भूखा मारकर उसे क्रान्ति के पथ से च्युत करना था, इनका यह कहना था कि क्रान्तिकारी फ्रांस सभ्य जगत् की सुरक्षा के लिए महान् संकट है, अतः उसके विरुद्ध किया गया यह कार्य सर्वथा न्यायोचित है। फ्रेंच सरकार ने इसका बदला लेने के लिए फ्रेंच बेड़े को तटस्थ देशों के ऐसे सभी जहाज जब्त करने का आदेश दिया, जो शत्रु के बन्दरगाहों को माल या खाद्य सामग्री ले जा रहे हों।

१८०० ई० में रूस ने **दूसरी बार 'सशस्त्र तटस्थता'** की घोषणा की, इसका कारण यह था कि उस समय ग्रेट ब्रिटेन ने रणपोतों के संरक्षण (Convoy) में जाने वाले तटस्थ देशों के व्यापारिक जहाजों का निरीक्षण और तलाशी लेना आरम्भ कर दिया था। इस विषय में हालैंड और ग्रेट ब्रिटेन की लड़ाई के समय १६५३ में स्वीडन ने सर्वप्रथम यह माँग की कि युद्धकारी देशों को स्वीडिश रणपोतों के संरक्षण में यात्रा करने वाले वणिक्पोतों की तलाशी लेने का कोई अधिकार, उस अवस्था में नहीं है, जब रणपोतों का कप्तान यह घोषणा करे कि वणिक्पोतों पर कोई विनिषिद्ध सामग्री नहीं है। अन्य राज्यों ने भी इस अधिकार की माँग शुरू की। ग्रेट ब्रिटेन इस सिद्धान्त को मानने को तैयार नहीं था। अतः जुलाई १८०० में उसने डेनमार्क के एक रणपोत तथा उसके संरक्षण में जाने वाले वणिक्पोतों (Merchantmen) को पकड़ लिया, क्योंकि वे तलाशी देने को तैयार नहीं थे। इस पर रूस ने स्वीडन, डेनमार्क तथा प्रशिया को **दूसरी सशस्त्र तटस्थता** में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया, तथा उपर्युक्त पाँच नियमों में इस छठे नियम की भी वृद्धि की कि युद्धकारी देशों को उस अवस्था में तटस्थ देशों के जलपोतों के निरीक्षण और तलाशी का अधिकार नहीं है, जब इन्हें अपने संरक्षण में ले जाने वाले रणपोतों का कप्तान यह घोषणा करे कि इन जहाजों

में कोई विनिषिद्ध सामग्री नहीं है । रूस के सम्राट् पाल ने दिसम्बर १८०० में इस विषय में स्वीडन, डेनमार्क तथा प्रशिया से संधियाँ कीं, किन्तु यह **दूसरी सशस्त्र तटस्थता** केवल एक वर्ष ही चली । २३ मार्च को रूसी सम्राट् की हत्या तथा २ अप्रैल १८०१ को कोपनहेगन के युद्ध में नेल्सन द्वारा डेनिश बेड़े के पराभव से इसका अन्त हो गया ।

१९वीं शताब्दी में तटस्थता के नियमों के विकास में तीन तत्वों ने महत्वपूर्ण भाग लिया । **पहला** तत्व सं० रा० अमरीका का फ्रेंच क्रान्ति एवं नैपोलियन के युद्धों में १७९३ से १८१५ तक तटस्थ रहना था । उन दिनों १७७६ के स्वतन्त्रता संग्राम के कारण सं० रा० अमरीका ग्रेट ब्रिटेन का विरोधी होने के कारण फ्रांस का मित्र था । १७९३ में जब इंगलैण्ड फ्रांस-विरोधी **पहली गुटबन्दी** (First Coalition) में सम्मिलित हुआ तो वाशिंगटन में फ्रेंच राजनयिक प्रतिनिधि जेने (Genet) ने अमरीकी बन्दरगाहों में विद्यमान अमरीकी नागरिकों के वणिक्पोतों को ब्रिटिश जहाज पकड़ने के अधिकार-पत्र (Letters of Marque) देने शुरू किए । इन वैयक्तिक जहाजों द्वारा पकड़े गये ब्रिटिश जहाजों के मामलों पर विचार करने के लिए फ्रेंच राजदूत ने अमरीकन बन्दरगारों में फ्रेंच वाणिज्य दूतावासों (Consulates) की सहायता से अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) स्थापित किये । ब्रिटिश सरकार द्वारा तीव्र प्रतिवाद करने पर अमरीकन सरकार ने फ्रेंच अधिग्रहण न्यायालयों को बन्द करने तथा वैयक्तिक जहाजों को निःशस्त्र करने की आज्ञा दी । गिडिग्रोन हेनफील्ड नामक व्यक्ति के अभियोग में यह ज्ञात हुआ कि उस समय तक का अमरीकन कानून अमरीकी नागरिकों के लिए विदेशी युद्धकारी राज्य की सेना में भर्ती होना अवैध नहीं समझता था । अतः काँग्रेस ने १७९४ में एक कानून पास करके अस्थायी रूप से अमरीकी नागरिकों द्वारा विदेशी युद्धकारी देश से 'अधिकार पत्र' (Letters of Marque) लेना तथा उनका विदेशी स्थल अथवा जल सेना में भर्ती होना वर्जित ठहराया और विदेशी युद्धकारी देशों की सहायता के लिए अपनी बन्दरगाहों में वैयक्तिक जहाजों को शस्त्रों से सुसज्जित करने का निषेध किया । २० अप्रैल १८१८ को काँग्रेस ने उपर्युक्त व्यवस्थाओं को स्थायी रूप देने के लिए 'विदेशी भर्ती कानून' (Foreign Enlistment Act) पास किया । ग्रेट ब्रिटेन ने १८१९ में इसी के आधार पर अपना 'विदेशी भर्ती कानून' बनाया, इससे तटस्थता के नियमों में बड़ी स्पष्टता और विशदता आयी । नैपोलियन के युद्धों के समय लार्ड स्टोवैल ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय के न्यायाधीश थे । उनकी प्रतिभा से भी तटस्थ देशों के अधिकारों और कर्त्तव्यों के कानून में प्रौढ़ता आयी ।

तटस्थता के विकास में **दूसरा** सहायक तत्व स्विट्जरलैंड और बेल्जियम का स्थायी तटस्थीकरण (Neutralisation) था (देखिये ऊपर पृ० १४५) । इन राज्यों ने पिछली शताब्दी में होने वाले सभी योरोपियन युद्धों में अपनी तटस्थता में दोनों पक्षों के प्रति पूरी निष्पक्षता बनाये रखी तथा अपने देश और साधनों का किसी पक्ष को लाभ नहीं उठाने दिया, इसके लिए उन द्वारा की गई कार्यवाहियों ने तटस्थता के नियम को पुष्ट किया । **तीसरा** तत्व १८५६ की पेरिस की घोषणा थी (ऊपर देखिये प्रथम अध्याय), इसने दो नियमों पर बल दिया । **पहला** नियम यह था कि शत्रु के जहाजों

पर लदा तटस्थ देशों का माल नहीं पकड़ा जा सकता, यह **'स्वतन्त्र जहाज, स्वतन्त्र माल'** (Free Ship, Free Goods) का नियम कहलाता है, क्योंकि इसके अनुसार न तो स्वतन्त्र अर्थात् तटस्थ जहाजों को पकड़ा जा सकता है और न ही उनके माल को, भले ही वह शत्रु के जलपोत पर लदा हो। **दूसरा** नियम यह था कि परिवेष्टन (Blockade) प्रभावशाली होने चाहिएँ। इनके अतिरिक्त अमरीकी गृहयुद्ध के समय सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में तटस्थ अधिकारों के अनेक विवादों ने इस कानून को स्पष्टता प्रदान की। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध १८७२ का **अलबामा दावा पंच-निर्णय** (Albama Claims Arbitration) था (देखिये प्रथम परिशिष्ट)।

हेग अभिसमय (Hague Conventions on Neutrality)—दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध (१६००) की तथा रूस-जापानी युद्ध (१६०४) की अनेक घटनाओं ने तटस्थता सम्बन्धी जटिल प्रश्न उत्पन्न किये। १६०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन ने इन पर विचार करते हुए दो अभिसमयों (Conventions) में तटस्थता के नियम बनाये। **पाँचवें अभिसमय** में स्थल युद्ध में तटस्थ शक्तियों और व्यक्तियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन था और **तेरहवें अभिसमय** में नौयुद्ध में इनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का प्रतिपादन था। किन्तु इन दोनों अभिसमयों का अनुसमर्थन (Ratification) ग्रेट ब्रिटेन ने नहीं किया। इनके अतिरिक्त, तटस्थता के कुछ नियमों का वर्णन इस सम्मेलन द्वारा बनाये गये अन्य अभिसमयों में भी है, जैसे वणिक्पोतों को रणपोत बनाने का **सातवाँ अभिसमय**, समुद्र में सुरंगें बिछाने का **आठवाँ अभिसमय,** निग्रह या पकड़ने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने वाला **ग्यारहवाँ अभिसमय** तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय का **बारहवाँ अभिसमय**। **पाँचवें अभिसमय** द्वारा स्थल युद्ध में तटस्थ देशों के लिए बनाए गए मुख्य नियम इस प्रकार थे—(१) तटस्थ देशों का प्रदेश अनतिक्रम्य (Inviolable) है (अनु० १)। (२) युद्धकारी देश तटस्थ प्रदेश में से अपनी सेना या युद्ध सामग्री नहीं ले जा सकते। यहाँ कोई बेतार की तार का या सैनिक भर्ती करने का सैनिक केन्द्र नहीं बना सकते (अनु० ३, ४)। (३) तटस्थ देश युद्धकारी देशों के घायल और बीमार सैनिकों को अपने प्रदेश में से गुजरने की अनुमति दे सकते हैं (अनु० १४)। अनुच्छेद १६ में तटस्थ व्यक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया था कि यह युद्ध में भाग न लेने वाला है, किन्तु यदि यह किसी युद्धकारी देश के विरुद्ध कोई शत्रुतापूर्ण कार्य करता है, किसी युद्धकारी के पक्ष में कोई कार्य करता है, उसकी सेना में भर्ती होता है तो वह अपनी तटस्थता से वंचित हो जाता है। **समुद्री युद्ध सम्बन्धी तटस्थता के तेरहवें अभिसमय** के नियमों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Waters) में युद्धकारी देशों द्वारा शत्रुता का कोई भी कार्य—जहाजों पर आक्रमण, इनको पकड़ना तथा इनकी तलाशी लेना वर्जित है, ऐसे कार्यों से इनकी तटस्थता भंग होती है (अनु० २)। (२) युद्धकारी देश तटस्थ देश में या इसके प्रादेशिक समुद्र में विद्यमान किसी जलपोत पर कोई अधिग्रहण न्यायालय नहीं बना सकते (अनु० ४)। (३) युद्धकारी देश शत्रु पर नौसैनिक आक्रमण करने के लिए तटस्थ देश के बन्दरगाहों को तथा इसके प्रादेशिक समुद्र को अड्डा या आधार

नहीं बना सकते (अनु० ५)। (४) तटस्थ शक्ति युद्धकारी देश को प्रत्यक्ष या परोक्ष—किसी रीति से रणपोत, गोलाबारूद तथा अन्य रण-सामग्री नहीं दे सकती (अनु० ६)। (५) तटस्थ सरकार को अपने क्षेत्राधिकार की सीमा में ऐसे किसी जहाज को बनने या सुसज्जित नहीं होने देना चाहिए, जिसके बारे में तनिक भी यह संदेह हो कि वह ऐसे देश के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य करेगा, जिसके साथ तटस्थ देश के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं। (६) किसी तटस्थ देश की तटस्थता उसके प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोत गुजरने मात्र से भंग नहीं होती (अनु० १०)। (७) विशेष व्यवस्थाओं के अभाव में तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोत २४ घण्टे से अधिक नहीं रह सकते (अनु० १२)। (८) तटस्थ देशों के बन्दरगाहों में युद्धकारी देशों के रणपोतों की केवल उतनी ही मरम्मत हो सकती है, जो उनकी समुद्री यात्रा के लिए आवश्यक हो, इसमें उन्हें हथियारों से सुसज्जित नहीं किया जा सकता (अनु० १७)। ये नियम केवल तभी लागू होते थे, जब युद्ध करने वाले दोनों पक्षों ने इन्हें स्वीकार कर लिया हो।

लन्दन की घोषणा—तटस्थता के नियमों को संहिताबद्ध करने का एक अन्य प्रयत्न १६०६ में लन्दन के नौसम्मेलन (London Naval Conference) में किया गया। इसमें नौयुद्ध में परिवेष्टन (Blockade), विनिषिद्ध सामग्री, अतटस्थ सेवा (Unneutral Service) आदि के नियम बनाये गए, इसे **लन्दन की घोषणा** (Declaration of London) कहते हैं। टर्की-इटली के युद्ध (Turco-Italian War) में इन नियमों का पूरा पालन किया गया, यद्यपि टर्की ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक लन्दन घोषणा का अनुसमर्थन (Ratification) किसी भी देश ने नहीं किया। इसके छिड़ जाने पर सं० रा० अमरीका ने दोनों पक्षों को यह घोषणा स्वीकार करने के लिए कहा। जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी इसे इस शर्त पर मानने को तैयार हुए कि उनके शत्रु भी इसे स्वीकार करें। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस इसे अनेक संशोधनों के साथ ही मानने को तैयार थे। युद्ध के आरम्भिक काल में ग्रेट ब्रिटेन ने इसे कुछ अंशों में स्वीकार भी किया, किन्तु शनैः-शनैः वह इसके नियमों का पालन मर्यादित करने लगा और ७ जुलाई १६१६ के बाद उसने इस घोषणा के किसी भी नियम का पालन नहीं किया।

प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थता (Neutrality in the First World War)—प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियमों का बहुत उल्लंघन हुआ। इसके आरम्भ में ही बेल्जियम की तटस्थता का भंग हुआ। सं० रा० अमरीका ने इस युद्ध में तटस्थ रहने की घोषणा की थी, किन्तु जर्मन पनडुब्बियों ने इसके समुद्री व्यापार को भीषण क्षति पहुँचाई, जर्मनी ने यह घोषणा की कि एक निश्चित क्षेत्र में आने वाले सभी जहाजों को—चाहे वे किसी देश के हों—डुबो दिया जायेगा। इस पर अमरीका ने ६ अप्रैल १६१७ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। उस समय तटस्थता को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि तटस्थ रहने वाला देश "अपने

मानवीय कर्त्तव्यों के पालन के दायित्व से बचना चाहता है।"[१] इस युद्ध में यह भी स्पष्ट हो गया कि जब युद्धकारी देशों के महत्वपूर्ण स्वार्थ खतरे में पड़ते हैं तो दोनों पक्ष तटस्थ देशों के हितों की उपेक्षा करने के लिए कानूनी और नैतिक युक्तियाँ ढूँढ़ लेते हैं। गार्नर के शब्दों में पहले विश्वयुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि तटस्थ देशों के लिए अपनी तटस्थता की रक्षा करना बहुत कठिन है।

राष्ट्र संघ और तटस्थता (League of Nations and Neutrality)—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र संघ (League of Nations) का संविधान (Covenant) बना। इसने तटस्थता के नियमों पर गहरा प्रभाव डाला। फेनविक का यह मत है कि इसने तटस्थता के परम्परागत कानून (Traditional Law) के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। किन्तु आपेनहाइम का मत ऐसा नहीं है। वस्तुतः संघ के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुसार दो प्रकार के युद्ध हो सकते थे। पहले प्रकार के युद्ध वे थे, जो शान्ति-पूर्ण उपायों द्वारा विवादास्पद प्रश्नों का समाधान न होने पर किये जाते थे। ये प्रतिज्ञा-पत्र के अनुकूल थे, इनके सम्बन्ध में संघ के सदस्यों पर कोई दायित्व नहीं थे, इनमें सदस्य अपनी इच्छानुसार तटस्थ रह सकते थे। दूसरे प्रकार के युद्ध प्रतिज्ञापत्र का उल्लंघन करके किये जाने वाले थे, इनके विषय में प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद १०, ११, १२, १३, १५ और १६ में की गई व्यवस्थाएँ सब सदस्य-राज्यों पर ऐसे उत्तरदायित्व डालती थीं, जिनके कारण उनका तटस्थ रहना सम्भव ही नहीं था। इसके अनुच्छेद १० में सब सदस्यों का यह कर्त्तव्य बताया गया था कि वे "संघ के सब सदस्यों की प्रादेशिक अखण्डता का तथा वर्त्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे तथा बाह्य अग्राक्रमण (External aggression) से इसकी रक्षा करेंगे।" इस दायित्व के कारण संघ के किसी भी सदस्य के लिए कहीं भी अग्राक्रमण का शिकार बनने वाले राज्य की रक्षा के लिए की जाने वाली सामूहिक सुरक्षा में भाग लेना अनिवार्य कर्त्तव्य था। इस आक्रमण को रोकने के लिए की गई कार्यवाही में कोई राज्य तटस्थ नहीं रह सकता था। इसी प्रकार अनुच्छेद ११ में किसी युद्ध या युद्ध की धमकी को—भले ही वह

---

६. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अनेक विधिशास्त्रियों ने इस प्रवृत्ति का प्रबल समर्थन किया। वे तटस्थता को सर्वथा अनैतिक समझते थे, क्योंकि एक ओर तो राज्यों द्वारा युद्ध को समाप्त करने तथा आक्रमण को रोकने की प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं, दूसरी ओर किसी राज्य द्वारा इनका उल्लंघन करने पर वे तटस्थता के नाम पर चुपचाप बैठ जाते हैं। यह मनोवृत्ति सामूहिक सुरक्षा (Collective security) तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और नियमों की प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुँचाने वाली थी। पालिटिस (Politis) के मतानुसार तटस्थता एक अनैतिक और अव्यावहारिक दकियानूसीपन (Immoral and impractical anachronism) था। ली फर (Le Fur) ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की उपज बताया था। कोहन (Cohn) ने परम्परागत तटस्थता के विचार को रद्द करते हुए अवैध युद्ध को बन्द करने के लिए तटस्थ देशों द्वारा संगठन बनाने पर बल दिया। फेनविक ने लिखा है कि उस समय यह समझा जाता था कि अगले युद्ध में तटस्थ देश या तो अपनी परम्परागत नीति का परित्याग करेंगे या उन्हें इसे बनाये रखने के लिए लड़ना पड़ेगा। (फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६१७–१८)। आगे यह बताया जायेगा कि दूसरे विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियमों का पहले विश्वयुद्ध की अपेक्षा अधिक घोर उल्लंघन हुआ।

"किसी सदस्य-राज्य पर तात्कालिक प्रभाव न डालती हो"—समूचे संघ के लिए चिन्ता का विषय बताते हुए संघ को यह अधिकार दिया गया कि वह इस विषय में "राष्ट्रों की शान्ति की सुरक्षा के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण और प्रभावशाली समझे जाने वाली" कोई भी कार्यवाही कर सकता है। इस प्रकार संघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग के कार्यों को रोकने के लिए सामूहिक रूप में बाधित थे। अनुच्छेद १६ के अनुसार शान्तिपूर्ण समाधान की अवहेलना करके युद्ध छेड़ने वाले संघ के सदस्य के बारे में यह कहा गया था कि वह अपने ऐसे कार्य से स्वतः (Ipso facto) संघ के सभी सदस्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है और अन्य सदस्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसके साथ अपने व्यापारिक और वित्तीय सम्बन्ध बन्द कर दें। यही संघ की सुप्रसिद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाने की व्यवस्था थी। आपेनहाइम ने तटस्थता पर संघ के प्रतिज्ञापत्र के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है[7] "यह कहना ठीक नहीं है कि इसने तटस्थता को समाप्त कर दिया। यह भी सत्य नहीं है कि इसने तटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं डाला। यथार्थ दृष्टिकोण सम्भवतः यह है कि कुछ अवस्थाओं में जब युद्ध करना प्रतिज्ञापत्र के प्रतिकूल न हो, तब इसने तटस्थता के कानून में परिवर्तन नहीं किया। किन्तु इसने तटस्थता को समाप्त न करते हुए उन अवस्थाओं में इस पर मार्मिक प्रभाव डाला, जिनमें संघ के सदस्य प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद १६ के अनुसार किसी देश के बिरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाधित थे।

१६२८ के केलाग-ब्रीयाँ पैक्ट (पेरिस पैक्ट) अथवा **युद्ध परित्याग की सामान्य संधि** (General Pact for the Renunciation of War) पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के उपाय के अवलम्बन की निन्दा की, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध के परित्याग की घोषणा करते हुए यह कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान केवल शान्तिपूर्ण साधनों से किया जाना चाहिए। किन्तु इस पैक्ट में इसे लागू या पालन कराने वाली व्यवस्थाओं का अभाव था, अतः तटस्थता के नियम पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा।

१६३१ से १६३६ तक मंचूरिया और चीन पर जापान के आक्रमणों, जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष तथा एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण से राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को गहरा धक्का लगा। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की आशायें धूमिल होने लगीं। नये विश्वयुद्ध की सम्भावना बढ़ने लगी और इस परिस्थिति में कुछ राज्यों ने इससे बचने और तटस्थ रहने के प्रयत्न आरम्भ किये। बेल्जियम और हालैण्ड ने तटस्थता की घोषणा की, १६३८ में स्कैण्डेनेविया प्रायद्वीप के राज्यों ने तटस्थता के नियमों के पालन का तथा आपस में पूर्व-परामर्श किये बिना इनमें संशोधन न करने का निश्चय किया। १६३६-३७ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने स्पेन के गृहयुद्ध के प्रति अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नीति अपनाई। सं० रा० अमेरिका को प्रथम विश्वयुद्ध में यह कटु अनुभव प्राप्त हो चुका था कि

७. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६३५

तटस्थ होते हुए भी उसे किस प्रकार बाधित होकर युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा था, अतः उसने इसकी पुनरावृत्ति रोकने तथा तटस्थता बनाये रखने के लिए ऐसे कानूनों को पास करना शुरू किया, जिनसे युद्धकारी देशों के साथ उसके संघर्ष होने की सम्भावना वहुत कम हो जाय। इस दृष्टि से १९३७ में सं० रा० अमरीका ने **तटस्थता का कानून** (Neutrality Act) पास किया, १९३९ में इसका संशोधन किया गया। इसका आधार **'नकद दाम दो और माल ले जाओ'** (Cash and Carry) का सिद्धांत था। इसके अनुसार कानून में बताई गयी शस्त्रास्त्र सामग्री के अतिरिक्त अन्य माल को दूसरे देश सं० रा० अमेरिका से भिन्न देशों के जहाजों में ही ले जा सकते थे। युद्धकारी राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र सामग्री बेचना, इसे अमरीकी जहाजों में युद्धकारी राष्ट्रों को भेजना, इनके जहाजों में अमरीकी नागरिकों की यात्रा करना, इन युद्धकारी देशों की सरकारी सिक्यूरिटियाँ खरीदना, युद्धकारी देशों के रणपोतों, पनडुब्बियों तथा सशस्त्र व्यापारिक जहाजों द्वारा अमरीकी बन्दरगाहों का उपयोग इस कानून द्वारा निषिद्ध कार्य बना दिये गए। इनका उद्देश्य सं० रा० अमरीका को युद्ध से पृथक् रखना था।

किन्तु हिटलर द्वारा १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ने तथा १९४० के वसन्त-काल में नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम तथा लुक्सेमबर्ग की तटस्थता का अतिक्रमण करने पर सं० रा० अमरीका को शनैः-शनैः अपनी तटस्थता की नीति में परिवर्तन करने के लिए बाधित होना पड़ा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह अनुभव किया कि हिटलर की विजय का परिणाम लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता का विनाश होगा, अतः उन्होंने अमरीका को **लोकतन्त्र का शस्त्रागार** (Arsenal of Democracy) बनाने तथा हिटलर से लड़ने वाले ग्रेट ब्रिटेन आदि लोकतन्त्रों को अधिक से अधिक रणसामग्री भेजने का निश्चय किया। २४ जून १९४० को फ्रांस के पतन के बाद अमरीका ने ब्रिटेन को प्रत्येक प्रकार की रणसामग्री भेजी, न्यूफाउण्डलैण्ड से ब्रिटिश गायना तक के ८ अड्डे ९९ वर्ष के पट्टे पर लेकर उसे ५० विध्वंसक (Destroyer) प्रदान किए। उसका यह कार्य स्पष्ट रूप से तटस्थता-विरोधी था। ११ मार्च १९४१ को अमरीकी काँग्रेस ने **उधार पट्टा** (Lend lease) कानून पास किया। इसके अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वह सं० रा० अमरीका की सुरक्षा के लिए जिस देश की सुरक्षा आवश्यक समझे, उस देश की सरकार को सुरक्षा के लिए आवश्यक सभी प्रकार की रणसामग्री बेच सकता है, उधार या पट्टे पर दे सकता है। यद्यपि इस समय तक कानूनी रूप से सं० रा० अमरीका तटस्थ देश था, तथापि उसने उधार पट्टे कानून द्वारा तटस्थता के सभी महत्वपूर्ण नियमों का परित्याग कर दिया था। उसके इस विलक्षण कार्य का समर्थन तीन कारणों के आधार पर किया गया[८]—(१) जर्मनी और इटली द्वारा १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट का भंग तथा तटस्थ राज्यों की तटस्थता का अतिक्रमण। (२) जर्मनी और इटली जैसी शक्तियों से आत्मसंरक्षण। यदि सं० रा० अमरीका ग्रेट ब्रिटेन को जर्मनी द्वारा जीता जाने देता तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का

८. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६८८

सर्वथा लोप हो जाता। (३) धुरी राष्ट्रों द्वारा सं० रा० अमरीका पर आक्रमण करके उसे जीतने का षड्यन्त्र करना।

आपेनहाइम ने यह मत प्रकट किया है कि सं० रा० अमरीका द्वारा ग्रेट ब्रिटेन को पचास विध्वंसक देना और **उधार पट्टा कानून** (Lend lease Act) पास करना १९वीं शताब्दी के तटस्थता के विचारों के तथा हेग अभिसमयों के नियमों (देखिए ऊपर पृ० ५३२-३३) के अनुकूल नहीं था।[९] किन्तु सम्भवतः "ये कार्य समूचे रूप में तथा समग्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखे जाने वाले तटस्थता कानून के अनुकूल थे।" ये ऐसे युद्धकारी राष्ट्र के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार था, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तिलांजलि देते हुए युद्ध आरम्भ किया था। यह ग्रोशियस तथा उसके समकालीन अन्य लेखकों की अपूर्ण या विशिष्ट (qualified) तटस्थता की नीति का परिणाम था। पूर्ण तटस्थता की नीति युद्ध छेड़ने के पूर्ण अधिकार (Absolute right) पर अवलम्बित थी। किन्तु १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट द्वारा जर्मनी सहित सब देश इस नीति का परित्याग कर चुके थे। इसके अनुसार आक्रमण का शिकार बनने वाले देश को सहायता देना तथा आक्रान्ता को रोकना सब देशों का कर्त्तव्य था। इस प्रकार परोक्ष रूप से इस पैक्ट ने पूर्ण तटस्थता के कानून की जड़ें खोखली कर दी थीं। इस अवस्था में सं० रा० अमरीका का उधार पट्टा कानून पास करना आवश्यक था। इस नीति परिवर्तन का **दूसरा कारण** आत्मरक्षा की भावना थी। धुरी राष्ट्र विश्व पर प्रभुता पाने के साथ उन आधारों को नष्ट करने पर तुले हुए थे, जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून टिका हुआ था, अतः आत्मरक्षा के लिए ऐसी व्यवस्थायें आवश्यक थीं। उधार पट्टा कानून का सरकारी नाम इस तथ्य को भली-भाँति सूचित करता है, यह नाम इस प्रकार था—**सं० रा० अमरीका की प्रतिरक्षा पुष्ट करने वाला अधिनियम** (An Act to promote the Defence of the United States)। **तीसरा कारण** अन्त० रा० दायित्वों में पारस्परिकता (Mutuality of International Obligations) का सिद्धान्त है। जर्मनी ने अभूतपूर्व पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया था। वह स्वयमेव इसका घोर अतिक्रमण करते हुए तथा तटस्थ देशों के अधिकारों को कुचलते हुए दूसरे देशों से यह आशा नहीं रख सकता था कि वे तटस्थता के नियमों का पूरा पालन करेंगे। ६ जनवरी १९४२ को अमरीकन राष्ट्रपति ने काँग्रेस को भेजे गए अपने संदेश में कहा था—"एकपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून—जिसके पालन में पारस्परिकता का अभाव है—उत्पीड़न का साधन बन जाता है।" इस दृष्टि से सं० रा० अमरीका के उपर्युक्त कार्य जर्मनी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के लिए उससे लिए जाने वाले प्रतिशोध या प्रत्यपहार (Reprisals) के रूप में थे। जर्मनी ने १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट का घोर अतिक्रमण किया था, सं० रा० अमरीका के लिए यह बड़ा महत्वपूर्ण था, उसने इसका बदला लेने के लिए उपर्युक्त कार्य किए।[१०]

९. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६३८-४०
१०. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६४०

सं० रा० अमरीका ने पूरे दृढ़ निश्चय के साथ मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिए परम्परागत तटस्थता के नियमों के प्रतिकूल कई अन्य कार्य भी किए। २७ मई १९४१ को अमरीकन राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि ग्रेट ब्रिटेन को आवश्यक सामान सुरक्षित रूप से पहुँचाने के लिए अमरीका के गश्ती जहाजों ने सहायता देनी शुरू कर दी है। जर्मन पनडुब्बियों ने जब युद्ध के नियम तोड़ते हुए अमरीकन जहाजों पर हमले किए तो सितम्बर १९४१ में इनके प्रतिरोध के लिए अमरीका के समुद्री बेड़े को दी गयी हिदायतों ने लगभग ऐसी शत्रुतापूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसका युद्ध से अन्तर करना बड़ा कठिन था। सं० रा० अमरीका की नौसेना के **ग्रीयर** (Greer) नामक विध्वंसक पोत पर जर्मन पनडुब्बी का हमला होने पर ११ सितम्बर १९४१ को राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि 'अमरीका की प्रतिरक्षा के लिए जिस समुद्र की रक्षा आवश्यक है, उसमें जर्मन और इटालियन जलपोत 'खतरा उठाकर' ही प्रविष्ट हो सकते हैं, अमरीका की नौसेनाओं को यह आज्ञा दे दी गयी है कि इसमें प्रविष्ट होने वाले जर्मन तथा इटालियन जलपोतों और पनडुब्बियों को देखते ही इन पर गोली चला दी जाय। अमरीका ने इस कार्य का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा था कि वह इस प्रकार महासमुद्रों में नौचालन की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की रक्षा करना चाहता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार उसे जलदस्युओं (Pirates) के हमले के विरुद्ध कार्यवाही का अधिकार है। इस प्रकार ११ दिसम्बर १९४१ को जर्मनी और इटली के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने से पूर्व ही उपर्युक्त कार्यों द्वारा सं० रा० अमरीका की तटस्थता लगभग समाप्त हो चुकी थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में तटस्थता के नियम से सम्बद्ध दो महत्वपूर्ण घटनायें **ग्राफ स्पी** का आत्मनाश तथा **आल्टमार्क** जहाज से नार्वे के प्रादेशिक समुद्र में एक ब्रिटिश विध्वंसक द्वारा बन्दी ब्रिटिश नाविकों को जबर्दस्ती उतार लेना था। **ग्राफ स्पी** (Graf Spec) जर्मनी का जंगी जहाज था, दिसम्बर १९३९ में ब्रिटिश क्रूज़रों द्वारा हमला किए जाने पर इसने माण्टीविडियो (Montivideo) के बन्दरगाह में शरण ली। ब्रिटिश क्रूज़र बन्दरगाह से बाहर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। यह दक्षिणी अमरीका में, युद्ध में तटस्थ राज्य उरुगुये (Uruguay) में था, इसने जर्मन रणपोत को मरम्मत के लिए ७२ घंटे बन्दरगाह में रहने की अनुमति दी और इसके बाद इसे बन्दरगाह से बाहर जाने को कहा। ग्राफ स्पी को ब्रिटिश विध्वंसकों के आक्रमण का भय था, अतः उसने बन्दरगाह को छोड़ने के बाद प्रादेशिक समुद्र में ही अपने पेंदे में छेद कर तथा डुबोकर अपने-आपको नष्ट कर दिया। **आल्टमार्क** (Altmark) की घटना का वर्णन प्रथम परिशिष्ट में किया गया है।

दोनों विश्वयुद्धों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अब तटस्थता का स्वरूप अत्यधिक मर्यादित हो गया है। डा० लौटरपैक्ट ने लिखा है—"दो विश्वयुद्धों के अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि तटस्थता के परम्परागत कानून का तटस्थ देशों के व्यापार के अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाला महत्वपूर्ण पहलू अब बहुत अंशों में

अप्रचलित (obsolete) हो गया है।"[११] वस्तुतः वर्तमान युद्ध में सैनिक और आर्थिक पहलुओं का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया है कि कोई भी युद्धकारी देश किसी तटस्थ देश को अपने शत्रु के साथ व्यापार करने की स्वतन्त्रता देना उसकी शक्ति को बढ़ाने वाला समझता है, अतः वह इसे अत्यधिक मर्यादित करके नगण्य बना देता है। इस अवस्था में तटस्थ देश के युद्धकारी देशों के साथ व्यापार के अधिकार अब लगभग समाप्त हो गये हैं।

सं० रा० संघ का चार्टर और तटस्थता (The Charter of U. N. O. and Neutrality)—संघ के चार्टर द्वारा इसके सदस्यों पर डाले गये दायित्वों के कारण तटस्थता बहुत-कुछ कम हो गई है। चार्टर के अनुच्छेद २ के अनुसार सब सदस्यों का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे चार्टर की व्यवस्थाओं के अनुसार संघ द्वारा की जाने वाली प्रत्येक कार्यवाही में उसे सभी प्रकार की सहायता दें और संघ जिसके विरुद्ध निरोधात्मक (Preventive) या पालनात्मक (Enforcement) कार्यवाही कर रहा हो, उसे कोई सहायता न दें। अनुच्छेद ४१ के अनुसार सदस्य-राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् द्वारा आवश्यक समझे जाने पर, किसी देश के साथ अपना सम्पूर्ण अथवा आंशिक आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, हवाई, डाकतार, रेडियो आदि का सम्बन्ध तथा दौत्य सम्पर्क विच्छिन्न कर देंगे। अनुच्छेद ४२ में यह कहा गया है कि उपर्युक्त उपाय अपर्याप्त समझने पर सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए किसी देश के विरुद्ध सं० रा० संघ के सदस्य-राज्यों की सेनाओं द्वारा स्थलीय, समुद्री या हवाई सैनिक कार्यवाही कर सकती है। अनुच्छेद ४८ में यह व्यवस्था है कि सं० रा० संघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिए सुरक्षा परिषद् के आह्वान पर उसे अपनी सेनाओं की सहायता देंगे और इन्हें अपने प्रदेश में से गुजरने की सब सुविधायें प्रदान करेंगे। अनुच्छेद ५१ में यह कहा गया है कि यदि सं० रा० संघ के किसी सदस्य पर सशस्त्र हमला होता है, तो उसे सुरक्षा परिषद् द्वारा कार्यवाही करने से पहले आत्मरक्षा करने का वैयक्तिक या सामूहिक अधिकार है, तटस्थ देश भी इस प्रकार अपनी आत्मरक्षा कर सकते हैं।

चार्टर की उपर्युक्त व्यवस्थाओं का यह परिणाम हुआ है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने पर सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर इसके सब सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे इसके निवारण के लिए परिषद् द्वारा बतायी हुई कार्यवाही में सहयोग प्रदान करें। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अब ऐसी स्थिति में कोई सदस्य-राज्य तटस्थ नहीं रह सकता, यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्त्तव्य के पालन न करने का दोषी होता है। हैन्स कैलसन (Kelsen) ने अनुच्छेद ५१ के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"तटस्थ राज्यों पर निष्पक्षता का दायित्व लागू करने वाले सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्थान अब चार्टर ने ले लिया है और इस प्रकार उस नियम को

११. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६४२

निरर्थक और बेकार (supersede) बना दिया है।"[१२] लौटरपैक्ट के मतानुसार[१३] "चार्टर में तटस्थता की स्थिति कुछ बातों में संघ के प्रतिज्ञापत्र के अधीन स्थिति से मिलती है। चार्टर ने सं० रा० संघ के सदस्यों के तटस्थ रहने के अधिकार पर निर्णयात्मक प्रभाव डाला है, किन्तु इसने सं० रा० संघ के सदस्यों के बीच में, अथवा इसके गैर-सदस्यों के बीच में या सदस्य और गैर-सदस्यों के बीच में लड़े जाने वाले युद्धों में उनके तटस्थ रहने के अधिकार का वास्तविक रूप में उन्मूलन नहीं किया। सिद्धान्त के रूप में, संघ के किसी सदस्य को ऐसी लड़ाई में अपनी इच्छा से तटस्थ रहने का अधिकार नहीं है, जिसमें सुरक्षा परिषद् ने किसी राज्य को शान्ति भंग करने का दोषी पाया है और जिसके विषय में उसने संघ के सदस्यों को उस राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने को या युद्ध से मिलती-जुलती कार्यवाही करने को कहा है।" फेनविक के मतानसार, "२६ जून १९४५ को सं० रा० संघ के चार्टर का स्वीकार किया जाना, कानूनी पद्धति के तौर पर अन्तिम रूप से तटस्थता की समाप्ति का सूचक है।"[१४] किन्तु स्टार्क ने इससे असहमति प्रकट करते हुए कहा है कि चार्टर से तटस्थता का पूर्णरूप से उन्मूलन नहीं हुआ है।[१५] सुरक्षा परिषद् द्वारा कोई कार्यवाही किए जाने पर अनु० ४८ तथा ५० के अनुसार कुछ सदस्य-राज्यों को इसका पालन न करने की छूट दी गई है, इस अवस्था में उनकी स्थिति अपूर्ण तटस्थता (Qualified Neutrality) की होती है। जब सुरक्षा परिषद् का कोई स्थायी सदस्य अपने निषेधाधिकार (Veto) द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही रोक देता है तो सदस्य-राज्य दोनों युध्यमान पक्षों के प्रति पूर्ण रूप से तटस्थ रह सकते हैं।

तटस्थता के औचित्य का आधार (Basis of Justification for Neutrality)—तटस्थता का औचित्य प्रायः निम्नलिखित चार कारणों के आधार पर सिद्ध किया जाता है—(१) यह युद्धों का क्षेत्र सीमित करती है। (२) युद्धों की प्रवृत्ति कम करती है। (३) राज्यों को युद्ध से पृथक् रहने में समर्थ बनाती है। (४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियमन करती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने पहले दोनों कारणों की निरर्थकता भली-भाँति सिद्ध कर दी है। इसमें नार्वे, डेनमार्क, हालैंड और बेल्जियम की तटस्थता ने न तो युद्ध का क्षेत्र सीमित किया और न युद्ध की प्रवृत्ति कम की, तटस्थ होने के कारण ये देश सम्मिलित रूप से अपनी प्रतिरक्षा के लिए प्रभावशाली साधन नहीं बना सके, अतः जर्मनी ने इन्हें बड़ी सुगमता से अपने अग्राक्रमण (Aggression) का शिकार बनाया। इससे युद्ध का क्षेत्र सीमित नहीं हुआ, किन्तु इन देशों में फैल जाने के कारण विशाल हो गया। इससे जर्मनी की शक्ति में असाधारण वृद्धि हुई, इटली ने जर्मनी की ओर से युद्ध में प्रवेश किया,

१२. हैन्स कैलसन—प्रिन्सिपल्ज़ आफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ८७
१३. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६५२
१४. फेनविक—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ६२१
१५. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३८८-९

जापान को प्रशान्त महासागर में युद्ध छेड़ने की प्रबल प्रेरणा मिली। योरोपियन युद्ध के क्षेत्र को मर्यादित करने के स्थान पर, इसने उसे विश्वयुद्ध के रूप में परिणत कर दिया।

तीसरे कारण को भी सही नहीं माना जा सकता। पहले यह बताया जा चुका है कि अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए ही पहले विश्वयुद्ध में सं० रा० अमरीका, फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन की ओर से लड़ाई में कूदा था। दूसरे विश्वयुद्ध में रूस तथा सं० रा० अमरीका ने तटस्थ रहने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु जर्मनी और जापान के आक्रमणों के कारण इन्हें युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। इसके औचित्य का चौथा कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियमित बनाना है। किन्तु यह भी यथार्थ नहीं प्रतीत होता। राष्ट्रसंघ का १९२० से ४० तक का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि तटस्थता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कानून का शासन (Rule of law) बनाये रखने में साधक नहीं, किन्तु बाधक रही है। तटस्थता के परम्परागत दृष्टिकोण और विचारों के कारण संघ के सदस्यों ने उसे अनाक्रमण की कार्यवाही रोकने के लिए प्रभावशाली पग नहीं उठाने दिए।

वर्तमान समय में तटस्थता का महत्व घटने का एक मुख्य कारण युद्ध छेड़ने के सम्बन्ध में कुछ विचारों में मौलिक अन्तर आना है। पहले प्रत्येक राज्य को इच्छानुसार युद्ध छेड़ने का पूर्ण अधिकार था, उस समय सब देशों को तटस्थ रहने का भी अधिकार था। किन्तु युद्धों के वर्तमान भीषण रूप ने तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास ने इस धारणा में आमूलचूल परिवर्तन किया है। १९२८ के केलाग-ब्रीआँ पैक्ट के बाद लगभग सभी देशों ने राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के साधन के परित्याग की घोषणा की है, शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा अपने विवादों के हल करने का संकल्प प्रकट किया है। सं० रा० संघ के चार्टर में भी यही बात दोहरायी गई है। इन समस्याओं के समाधान के लिए तथा शान्ति बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद् स्थापित की गई है, इसके निर्णयों को क्रियान्वित करने में सहयोग देना सब सदस्य-राज्यों का कर्त्तव्य है। इस परिस्थिति में तटस्थता का विचार निरर्थक हो गया है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने तटस्थता का क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया है। इस समय विश्व दो विरोधी गुटों में विभक्त है। एक गुट का नेता रूस तथा दूसरे का संयुक्त राज्य अमरीका है। जहाँ एक ओर रूस ने पूर्वी योरोप के आठ देशों को वारसा संधि (Warsaw Pact) के संगठन में बाँध रखा है, वहाँ दूसरी ओर सं० रा० अमरीका ने पन्द्रह देशों को नाटो (NATO) के संगठन में आबद्ध किया है, मध्यपूर्व में अमरीका का ऐसा संगठन सैण्टो (Central Treaty Organisation) तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में सीटो (South East Treaty Organisation) है। इन संगठनों में किसी एक पर आक्रमण होने की दशा में अन्य राज्यों ने उसे सहायता देने का वचन दिया है। तटस्थता पर पहले सबसे अधिक बल देने वाला सं० रा० अमरीका अब इनका प्रभावशाली सदस्य है। भारत जैसे बहुत थोड़े देश ही इन संगठनों में सम्मिलित नहीं हुए। विश्वव्यापी प्रादेशिक संगठनों ने तटस्थ राज्यों का महत्व लगभग समाप्त कर दिया है।

तटस्थता के प्रकार (Kinds of Neutrality)—इसके प्रमुख भेदों और प्रकारों में **पहला स्थायी या सनातन तटस्थता** (Perpetual or Permanent Neutrality) है। यह उन राज्यों की होती है, जो विशेष संधियों द्वारा सदा के लिये तटस्थीकृत (Neutralised) राज्य बना दिये जाते हैं, जैसे स्विट्ज़लैण्ड (देखिये ऊपर पृ० ५३१)। इनके कर्त्तव्य और अधिकार तटस्थ राज्यों जैसे होते हैं तथा इन्हें अपने प्रदेश को सैनिक प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त न होने देने के लिये, दोनों युध्यमान पक्षों को समान रूप से रोकना पड़ता है। १८७०-७१ के फ्रैंको-जर्मन युद्ध में स्विट्ज़रलैण्ड ने दोनों पक्षों की सेनाओं, रणसामग्री तथा रंगरूटों को अपने प्रदेश में से नहीं गुजरने दिया। रणक्षेत्र से भागकर स्विट्ज़रलैण्ड में शरण लेने वाले फ्रेंच सैनिकों को निःशस्त्र करके युद्ध की समाप्ति और शान्ति-संधि तक निरोध (Detention) में रखा। **स्थायी तटस्थता** का **सामान्य तटस्थता** से यह भेद है कि पहली शाश्वतकाल के लिये समझी जाती है और दूसरी तटस्थता का अवलम्बन देश अपनी सुविधा और लाभ देखकर करते हैं, वे इसे जब चाहें तब तोड़ सकते हैं, किन्तु पहली तटस्थता कभी भंग नहीं की जाती, इसका सदैव पालन होता है।

दूसरा भेद सामान्य और आंशिक (General and partial) तटस्थता का है। जब किसी देश के कुछ हिस्से का विशेष संधि द्वारा तटस्थीकरण (Neutralisation) किया जाता है तो उसे आंशिक तटस्थता कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब आयोनियन टापू यूनान को दिये गये तो पहले १८६३ में इन सब टापुओं को तटस्थ घोषित किया गया, बाद में २४ मार्च १८६४ की **लन्दन की संधि** के अनुच्छेद २ के अनुसार कोरफू तथा पैक्सो (Paxo) नामक टापुओं का ही तटस्थीकरण किया गया। इनमें कोई सेना नहीं रखी जा सकती थी। १८८८ में स्वेज़ नहर के क्षेत्र को तथा १८ नवम्बर १९०१ की संधि द्वारा पनामा नहर के क्षेत्र को यही स्थिति प्रदान की गयी। मैगलेन के जलडमरूमध्य (Straits of Magellan) को अर्जण्टायना तथा चिली द्वारा २३ जुलाई १८८१ की संधि द्वारा तटस्थीकरण का दर्जा दिया गया है। सामान्य तटस्थता ऐसे राज्यों की तटस्थता है, जिनके किसी विशेष अंश या प्रदेश का तटस्थीकरण किसी संधि द्वारा न किया गया हो।

तीसरा भेद ऐच्छिक (Voluntary) तथा **अभिसमयात्मक** (Conventional) तटस्थता का है। ऐच्छिक, सरल या स्वाभाविक तटस्थता में कोई राज्य किसी युद्ध में तटस्थ रहने के लिये किसी भी सामान्य या विशेष संधि से बँधा हुआ नहीं होता है, अधिकांश अवस्थाओं में तटस्थता इसी प्रकार की होती है। किन्तु जब कोई राज्य युद्ध में तटस्थता का पालन करने के लिये किसी विशेष संधि या अभिसमय द्वारा बँधा होता है तो इसे **अभिसमयात्मक** (Conventional) **तटस्थता** कहते हैं। पहले (पृ० १४६) इस विषय में स्विट्ज़रलैण्ड, बेल्जियम तथा आस्ट्रिया के उदाहरण दिये जा चुके हैं। सन्धियों द्वारा तटस्थता के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं : १८१५ की वियना कांग्रेस द्वारा पोलैण्ड में क्रैको (Cracow) का नगर स्वतन्त्र और तटस्थ बनाया गया था, १८४६ में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और स्विट्ज़रलैण्ड का विरोध करने पर भी आस्ट्रिया ने इसे अपने

साम्राज्य में मिला लिया। १८८५ की बर्लिन कांग्रेस ने अफ्रीका में कांगो के स्वतन्त्र राज्य को तटस्थ बनाया। १८५६ में रूस ने फिनलैण्ड की खाड़ी में आलैण्ड (Aaland) टापुओं में किलेबन्दी न करने तथा वहाँ स्थलीय अथवा समुद्री सेनायें न रखने का वचन दिया। १९२१ में जेनेवा में इन टापुओं में तटस्थीकरण के एक अभिसमय (Convention) पर महाशक्तियों ने हस्ताक्षर किये।

चौथा भेद सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) का है। जब कोई तटस्थ देश अपनी तटस्थता को सुरक्षित रखने के लिए इस उद्देश्य से सैनिक कार्यवाही करता है कि दोनों युध्यमान पक्षों में से कोई उसके तटस्थ प्रदेश का उपयोग न कर सके तो यह सशस्त्र तटस्थता होती है।[१६] फ्रैंको-जर्मन युद्ध (१८७०) में स्विट्ज़रलैण्ड की तटस्थता इसी प्रकार की थी। १९३९ के द्वितीय विश्वयुद्ध में बेल्जियम की यही स्थिति थी, उसने अपनी सेना को स्थायी सज्जावस्था (Mobilisation) की स्थिति में रखा। हालैंड और स्विट्ज़रलैंड की लगभग ऐसी स्थिति थी। '**सशस्त्र तटस्थता**' के शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी होता है। जब तटस्थ राज्यों को यह आशंका या सम्भावना होती है कि युद्धकारी पक्षों में से कोई पक्ष उनके तटस्थता के अधिकारों का अतिक्रमण या उल्लंघन करेगा तो उन राज्यों द्वारा तटस्थता की रक्षा के लिये की जाने वाली सैनिक कार्यवाही भी सशस्त्र तटस्थता कहलाती है। इस विषय के सुप्रसिद्ध उदाहरण १७८० ई० तथा १८०० ई० की सशस्त्र तटस्थतायें (देखिये ऊपर पृ० ५२९-३१) हैं।

पाँचवा भेद **परोपकारी तटस्थता** (Benevolent Neutrality) है। आजकल तटस्थता में निष्पक्षता के तत्व पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण यह भेद बिल्कुल समाप्त हो गया है। पुराने जमाने में जब तटस्थता के दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन इतनी कठोरता से नहीं हुआ करता था तो तटस्थ राज्य अपनी यह स्थिति रखते हुए भी किसी पक्ष के साथ विशेष पक्षपात का व्यवहार करते थे, उसे अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाते थे। इसे एक पक्ष को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से परोपकारी तटस्थता कहते थे।

छठा भेद पूर्ण अथवा निरपेक्ष (Perfect or Absolute) तथा अपूर्ण, सापेक्ष या विशिष्ट (Imperfect or Qualified) तटस्थता का है। पुराने जमाने में इस भेद का बहुत महत्व था। उस समय किसी राज्य की अपूर्ण या विशिष्ट तटस्थता की स्थिति तब समझी जाती थी, जब यह सामान्य रूप से तटस्थ रहते हुए युद्धकारी पक्षों में से किसी एक पक्ष को युद्ध छिड़ने से पहले की हुई सन्धि की शर्तों के अनुसार सक्रिय अथवा निष्क्रिय रूप में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से सहायता पहुँचा रहा हो। किन्तु यदि कोई तटस्थ देश किसी भी युध्यमान पक्ष को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से, निष्क्रिय या सक्रिय रूप में सहायता न पहुँचा रहा हो तो इसे **पूर्ण** (Perfect) तटस्थता कहा जाता था। १८वीं शताब्दी में इस व्यवस्था का बहुत प्रचलन था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस विषय में इस बात में संदेह प्रकट किया जाने लगा कि तटस्थता के पूर्ण तथा अपूर्ण नामक दो भेद करना न्यायोचित है या नहीं। अधिकांश आधुनिक विधि-

१६. आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ६६२

शास्त्री आजकल यह सम्भव ही नहीं मानते कि कोई राज्य तटस्थ रहते हुए किसी युध्य-मान पक्ष को किसी प्रकार सहायता पहुँचा सकता है।

इस समय पूर्ण तथा अपूर्ण तटस्थता के भेद को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु पहले इसे बहुत महत्व दिया जाता था और इसके कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण ये हैं—(१) १७७८ में सं० रा० अमरीका तथा फ्रांस ने सौहार्द और व्यापार की संधि (Treaty of Amity and Commerce) की, इसके अनुसार सं० रा० अमरीका ने फ्रांस के निजी युद्धपोतों (Privateers) को तथा इनके द्वारा पकड़े हुए जहाजों को युद्ध के समय अमरीकन बन्दरगाहों में प्रवेश का अधिकार दिया और यह वचन दिया कि वह फ्रांस के शत्रुओं के निजी युद्धपोतों को अपने बन्दरगाहों में प्रवेश नहीं करने देगा। १७९३ में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने जब सं० रा० अमरीका से फ्रांस के निजी युद्धपोतों के अमरीकन बन्दरगाहों में प्रवेश पर आपत्ति की तो सं० रा० अमरीका ने उत्तर दिया कि वह १७७८ की संधि द्वारा ऐसा कार्य करने के लिये वचनबद्ध है। (२) डेनमार्क ने १७८१ की तथा अन्य संधियों द्वारा रूस को रणपोत तथा सेनायें देने का वचन दिया था। १७८८ के रूस-स्वीडन युद्ध में डेनमार्क ने अपना वचन पूरा करते हुए रूस को ऐसी सहायता दी, किन्तु फिर भी वह इस युद्ध में तटस्थ माना गया। (३) १८४८ में जर्मनी और डेनमार्क में युद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन ने एक पुरानी संधि के आधार पर जर्मनी को शस्त्र निर्यात करना बन्द कर दिया, किन्तु डेनमार्क को शस्त्र भेजना जारी रखा। (४) १९०० के दक्षिण अफ्रीका के युद्ध में पुर्तगाल ने एक पुरानी संधि के अनुसार दक्षिण अफ्रीका को अपने प्रदेश में से ब्रिटिश फौजों को गुजरने के लिये रास्ता प्रदान किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी पुरानी मैत्री संधियों के अनुसार उसने ग्रेट ब्रिटेन को अपने अज़ोर्स के टापू में नौसैनिक और वैमानिक अड्डे बनाने की अनुमति दी। (५) प्रथम विश्वयुद्ध में १९१५ में ब्रिटिश और फ्रेंच सेनायें सेलोनिका के यूनानी बन्दरगाह में उतरीं, यूनान उस समय तटस्थ था, इन फौजों का उद्देश्य यूनान के मित्र सर्बिया को सहायता पहुँचाना था। यूनान ने यद्यपि इस कार्य का प्रति-वाद किया, किन्तु फौजों के उतरने का विरोध नहीं किया।

सातवाँ भेद ताटस्थ्यतुल्यता (Quasi-neutrality) का है। इसका विकास कोरिया युद्ध (१९४९-५३) आदि आधुनिक परिस्थितियों के कारण हुआ है। तटस्थता से गहरा सादृश्य रखने के कारण इसे ताटस्थ्यतुल्यता कहा जाता है। इसके लिये अब तक तटस्थता के शब्द का प्रयोग होता था। किन्तु स्टार्क ने लिखा है[१७] कि आजकल राज्यों के विरोधी सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—(क) युद्ध, (ख) युद्धेतर सशस्त्र संघर्ष (Non-war armed conflicts) तथा शान्तिभंग की घटनायें, जैसे कोरिया युद्ध (देखिये ऊपर अध्याय २१)। इनके आधार पर इन संघर्षों से पृथक् रहने वाले राज्यों की तटस्थता की स्थिति भी दो प्रकार की होती है—(क) युद्ध में तटस्थ रहने की स्थिति, (ख) युद्धेतर सशस्त्र संघर्ष से पृथक् रहने की तथा इसमें भाग न लेने की स्थिति। इसे

१७. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३८२ तथा ३८९

स्टार्क ने ताटस्थ्यतुल्यता की स्थिति कहा है। इसके नियम अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निश्चित नहीं हुए हैं ।

तटस्थ तथा युध्यमान देशों के अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties in General of Neutrals and Belligerents)—तटस्थता के कारण तटस्थ और युध्यमान देशों को दो अधिकार तथा दो कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। तटस्थ देशों का युध्यमान देशों के प्रति **पहला** कर्त्तव्य यह है कि वह उनके प्रति निष्पक्षता की मनोवृत्ति बनाये रखें । **दूसरे** कर्त्तव्य द्वारा वह युध्यमान देश का यह अधिकार स्वीकार करता है कि वह परिवेष्टन (Blockade) का भंग करने वाले, विनिषिद्ध (Contraband) सामग्री ले जाने वाले तथा अतटस्थ सेवा (Unneutral service) करने वाले उसके जहाजों को दण्डित करे, उनका निरीक्षण और तलाशी ले तथा उनका निग्रह (Capture) करे। युध्यमान देशों का तटस्थ देशों के प्रति पहला कर्त्तव्य यह है कि वे उनके साथ निष्पक्षता का व्यवहार करें और दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वे शत्रु के साथ तटस्थता के नियम के अनुकूल, उनके व्यापारिक सम्पर्क को कोई क्षति न पहुँचायें।

युध्यमान तथा तटस्थ देशों के अधिकार उपर्युक्त कर्त्तव्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक युध्यमान देश को तटस्थ देश के राज्य से निष्पक्षता के व्यवहार की माँग करने का अधिकार है और प्रत्येक तटस्थ राज्य को भी युध्यमान देश से निष्पक्ष आचरण बनाए रखने की माँग का अधिकार है । तटस्थ देशों को यह माँग करने का भी अधिकार है कि शत्रु के साथ उनके सम्पर्क विशेषतः व्यापारिक सम्बन्ध का विच्छेद या दमन नहीं किया जायेगा । किन्तु इसके साथ ही इससे सम्बन्ध रखने वाला यह अधिकार भी युध्यमान देशों को है कि वे तटस्थ देशों के उन व्यक्तियों तथा जल-पोतों को दण्डित करें, जो उनके परिवेष्टन को तोड़ते हैं, विनिषिद्ध युद्ध-सामग्री शत्रु को पहुँचाते हैं, उन्हें इस कार्य से रोकने के लिए उन्हें तटस्थ जहाजों के निरीक्षण और तलाशी तथा निग्रह (Visit, Search and Capture) का अधिकार है। इस तरह यह स्पष्ट है कि तटस्थ देशों के कर्त्तव्य युध्यमान राज्यों के अधिकार तथा उनके अधिकार युध्यमान देशों के कर्त्तव्य हैं। अब यहाँ पहले तटस्थ देशों के प्रधान कर्त्तव्यों तथा बाद में उनके प्रमुख अधिकारों का वर्णन होगा।

तटस्थ देशों के कर्त्तव्य (Duties of Neutral States)—स्टार्क ने इन्हें तीन मुख्य भागों में बाँटा है—परिवर्जन (Abstention) के, निवारण (Prevention) के तथा मौनसहमति (Acquiescence) के कर्त्तव्य । इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है: —

(१) परिवर्जन के कर्त्तव्य (Duties of Abstention)—तटस्थ देश का कर्त्तव्य है कि वह कुछ कार्य करने से अपने को बचाए रखने (परिवर्जन) का पूरा प्रयत्न करे। उसे किसी भी युध्यमान पक्ष को किसी प्रकार की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष (Indirect) सहायता नहीं देनी चाहिए । उदाहरणार्थ, इसे किसी पक्ष को कोई सेनायें नहीं भेजनी चाहिएँ, कोई ऋण या इनकी गारण्टी नहीं देनी चाहिए, किसी पक्ष की सशस्त्र सेनाओं को आश्रय नहीं प्रदान करना चाहिए । तटस्थ राज्य को किसी युद्धकारी पक्ष की सैनिक

सहायता किसी भी रूप में नहीं करनी चाहिए। इसका यह भी कर्त्तव्य है कि यह अपने देश के व्यक्तियों द्वारा किसी पक्ष को रणसामग्री का निर्यात न करने दे। किन्तु कई बार राज्यों के लिए अपने नागरिकों को वैयक्तिक रूप में युद्ध में भाग लेने से रोकना सम्भव नहीं होता। १६४६-५० के कोरिया युद्ध में साम्यवादी चीन की नियमित सेनाओं के असम्बद्ध सैनिकों (Irregulars) ने बड़ी संख्या में सीमा पार करके उत्तरी कोरिया वालों को सहायता दी थी, सुरक्षा परिषद् में यह विषय उपस्थित होने पर साम्यवादी चीन ने इनकी कोई जिम्मेदारी लेना या इन्हें रोकना स्वीकार नहीं किया। १६०७ के **पाँचवें हेग अभिसमय के अनुच्छेद** ६ में कहा गया है कि यदि कुछ व्यक्ति किसी युध्यमान पक्ष में भाग लेने के लिए तटस्थ राज्य के प्रदेश में से गुजरते हैं तो इनके गुजरने मात्र से उस राज्य पर तटस्थता का नियम भंग करने की जिम्मेवारी नहीं डाली जा सकती। इसके साथ ही युध्यमान पक्ष का भी यह कर्त्तव्य है कि वह तटस्थ प्रदेश में शत्रुता के कोई कार्य न करे।

(२) **निवारण के कर्त्तव्य** (Duties of Prevention)—तटस्थ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में तथा क्षेत्राधिकार में निम्न कार्यों का निवारण करे, इन्हें होने से रोके—किसी भी युध्यमान पक्ष की सेना के लिए भर्ती, लड़ाई की तैयारी तथा इसके प्रदेश में और प्रादेशिक समुद्र में लड़ाई के कार्य तथा किसी युध्यमान पक्ष के अधिग्रहण न्यायालयों (Prize Courts) की स्थापना। इसे अपने प्रदेश में से किसी युद्धकारी पक्ष की सेनाओं को गुजरने से रोकना चाहिए। किन्तु दोनों पक्षों के घायल और बीमार सैनिक तटस्थ देश में से होकर जा सकते हैं। १८वीं शताब्दी में तटस्थ देशों में से सेनाओं को गुजरने का अधिकार दिया जाता था, क्योंकि उस समय अनेक जर्मन राज्यों के प्रदेश बहुत बिखरे हुए थे, एक राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक जाने के लिए बीच में अन्य राज्यों के प्रदेश में से गुजरना पड़ता था। १६वीं शताब्दी के शुरू में ऐसा होता रहा, १८०५ में प्रशिया ने इस प्रकार सेनायें गुजारने के लिए रूस से गुप्त संधि की। नैपोलियन ने बर्नडाट को फ्रेंच सेनायें प्रशिया से बिना पूछे उसके राज्य में ले जाने का आदेश दिया। १८१३ में स्विस सरकार के प्रतिवाद के बावजूद आस्ट्रियन सेनायें उसके प्रदेश में से होकर गुजरीं। १८१५ में स्विट्जरलैंड ने मित्रराष्ट्रों की सेनाओं को नैपोलियन को हराने के लिए अपने प्रदेश में से होकर जाने दिया। किन्तु इसके बाद से तटस्थ देशों में से युद्धकारी राष्ट्रों की सेनायें न गुजरने का नियम सर्वभौम रूप से स्वीकार किया जाने लगा।

अक्टूबर १६१५ में यूनान के तटस्थ होते हुए भी इसके प्रधानमंत्री वेनिज़ेलोस (Venizelos) के निमन्त्रण पर मित्रराष्ट्रों की सेनायें सर्बिया को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से इसके बन्दरगाह सेलोनिका (Salonika) में उतरीं, यूनानी सरकार ने इसका औपचारिक (Pro forma) विरोध तो किया, किन्तु इसमें कोई बाधा नहीं डाली। इस पर जर्मनी ने सेलोनिका पर आक्रमण कर दिया। जुलाई १६४५ में योरोप में जर्मनी के साथ लड़ाई बन्द हो जाने पर स्विट्ज़रलैण्ड ने स्वदेश लौटने वाली कुछ निशशस्त्र सेनाओं को अपने देश में से होकर गुजरने दिया, किन्तु अभी तक जापान के साथ

युद्ध बन्द नहीं हुआ था, अतः स्विट्ज़रलैण्ड ने ग्रेट ब्रिटेन से आग्रह करके यह वचन लिया कि इसके प्रदेश में से गुजरने वाली ब्रिटिश सेनाओं का प्रयोग सुदूरपूर्व के रणक्षेत्र में नहीं किया जायेगा।

पाँचवें हेग अभिसमय (Hague Convention V) के दूसरे अनुच्छेद के अनुसार युद्ध करने वाले देश किसी तटस्थ प्रदेश में से कोई युद्धसामग्री नहीं ले सकते। किन्तु इसके सातवें अनुच्छेद में कहा गया है कि **निजी व्यक्तियों द्वारा** किसी युध्यमान पक्ष को भेजी जाने वाली, स्थलसेना तथा जलसेना के किसी उपयोग में आ सकने वाली वस्तुओं तथा रणसामग्री के निर्यात या अपने देश में से होकर गुजरने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए तटस्थ देश बाधित नहीं हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में इस अनुच्छेद के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन और हालैंड में बड़ा विवाद हुआ। उन दिनों बेल्जियम जर्मनी के अधिकार में था, यहाँ से जर्मनी ने कुछ धातुयें हालैंड के रास्ते स्वदेश भेजीं। ब्रिटिश सरकार ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि यह कार्य उसके शत्रु को सहायता पहुँचाना तथा तटस्थता के नियम का भंग करना है। हालैंड का यह कहना था कि वह केवल सैनिक कार्यों से संबद्ध वस्तुओं का भेजा जाना ही रोक सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में ८ जुलाई १९४० को जर्मनी ने स्वीडन के साथ यह समझौता किया कि स्वीडन उसे अपने प्रदेश में से जर्मन युद्धसामग्री, जर्मनी से नार्वे ले जाने की अनुमति प्रदान करे। ग्रेट ब्रिटेन ने इसे स्वीडन की तटस्थता का उल्लंघन मानते हुए इसका प्रतिवाद किया। इसी प्रकार उसने इस युद्ध में जर्मनी और इटली के स्विट्ज़रलैण्ड होकर गुजरने वाले माल के मर्यादित किये जाने पर बल दिया, १९४४ में जर्मन सेनाओं द्वारा उत्तरी इटली पर अधिकार कर लेने के बाद स्विस सरकार ने जर्मनी से इटली जाने वाले माल पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए।

तटस्थ देश को यह उचित है कि वह अपने प्रदेश में किसी ऐसे जहाज को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित एवं तैयार न होने दे, जिसके बारे में यह सन्देह हो कि वह युद्ध करने वाले किसी पक्ष को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से तैयार किया जा रहा है। **अलबामा दावा** (Albama Claims) का मामला इसका सुन्दर उदाहरण है। प्रथम परिशिष्ट में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

किसी तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र को नौसैनिक युद्ध का अड्डा नहीं बनाया जा सकता। १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध में एक नौयुद्ध में परास्त होने पर रूसी रणपोतों ने शंघाई के बन्दरगाह में शरण ली। चीन इस युद्ध में तटस्थ था, अतः जापान की सरकार ने यह माँग की कि इसका गोला बारूद चीनी सरकार को दे दिया जाय, इसे निशशस्त्र करके चीनी सरकार को सौंप दिया जाय। **एप्पम** (Appam) के मामले में (देखिए प्रथम परिशिष्ट) सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला दिया था कि शत्रु के किसी जहाज को पकड़कर उसे तटस्थ देश के बन्दरगाह में रखना तटस्थता के नियमों का उल्लंघन करना है।

तटस्थ देशों को अपने बन्दरगाहों में तथा प्रादेशिक समुद्र में युद्धकारी देशों के रणपोतों को नियत अवधि से अधिक नहीं रुकने देना चाहिए। विशेष अनुमति के अभाव

में रणपोत तटस्थ बन्दरगाह में २४ घण्टे से अधिक नहीं रुक सकता। तूफान और आवश्यक मरम्मत आदि की विशेष अवस्थाओं में यह अवधि बढ़ाई भी जा सकती है। तूफान समाप्त होते ही या मरम्मत पूरी होने पर इस जहाज को प्रादेशिक समुद्र से बाहर चले जाना चाहिए। मरम्मत का आशय रणपोत के लड़ने की शक्ति में वृद्धि करना नहीं, किन्तु इसे समुद्री यात्रा के योग्य बनाना है। यदि इसकी सैनिक दृष्टि से मरम्मत की जाती है तो इसे तटस्थ बन्दरगाह से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। **लेना** (Lena) जहाज के मामले में यह निर्णय किया गया था कि तटस्थ बन्दरगाह में जहाज की असैनिक (Civil) मरम्मत ही हो सकती है। **ट्रेक** (Trek) के मामले में किये गये निर्णय के अनुसार युध्यमान पक्ष के जलपोत तटस्थ बन्दरगाह में २४ घण्टे से अधिक नहीं रह सकते और उन्हें यहाँ से अपने देश के निकटतम बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री से अधिक सामान लेने का अधिकार नहीं है।

(३) **मूकसहमति के कर्त्तव्य** (Duties of Acquiescence)—तटस्थ देश को वैध युद्ध के कार्यों में होने वाली क्षति को, युद्धकारी देशों द्वारा इसके जहाजों के निरीक्षण और तलाशी के अधिकार को तथा विनिषिद्ध रणसामग्री ले जाने वाले अपने जहाजों की जब्ती को मूकभाव से सहन करना पड़ता है। युद्ध के समय उसका नौचालन और व्यापार का अधिकार बहुत सीमित और नियन्त्रित हो जाता है, उस पर अनेक प्रतिबन्ध लग जाते हैं। ये सब उसे स्वीकार करने पड़ते हैं।

उपर्युक्त तीन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त तटस्थ देशों के दो अन्य कर्त्तव्य भी हैं। **पहला** क्षतिपूर्ति (Reparations) देने का कर्त्तव्य है। यदि तटस्थ देश की दुर्भावना या गलती से किसी युद्धकारी को हानि पहुँचती है तो तटस्थ देश को इसका मुआवजा देना चाहिए। **दूसरा** कर्त्तव्य प्रत्यास्थापन (Restoration) है। इसका यह आशय है कि यदि कोई युध्यमान पक्ष तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र में शत्रु द्वारा पकड़े जहाज को पकड़ लेता है तो वह दोहरा अपकार (wrong) करता है, इससे तटस्थ देश की प्रभुसत्ता (sovereignty) का अतिक्रमण होता है तथा शत्रु से उसकी वस्तु अनुचित रूप से छिन जाती है। इस अवस्था में तटस्थ देश को उपर्युक्त अपकार करने वाले देश से यह माँग करने का अधिकार है कि वह इसका समुचित प्रतिकार करे तथा अनुचित रूप से छीनी हुई चीज को वापिस लौटाये। प्रत्यास्थापन (Restoration) का यही अभिप्राय है।

तटस्थ राज्यों के अधिकार—इनका पहला अधिकार अपने प्रदेश की अनतिक्रम्यता (Rights of Neutrals—Inviolability) है। इसमें शत्रुता और युद्ध के कोई कार्य नहीं हो सकते। युद्धकारी देश अपने प्रदेशों में अथवा महासमुद्र (High Seas) में लड़ाई कर सकते हैं, किन्तु तटस्थ राज्य के प्रदेश में अथवा प्रादेशिक समुद्र में शत्रुता का कोई कार्य, लड़ाई, जहाजों का निरीक्षण, तलाशी या पकड़ना नहीं हो सकता। केवल अत्यन्त असाधारण अवस्थाओं में आत्मसंरक्षण के उद्देश्य से ये कार्य किये जा सकते हैं, किन्तु फौरन इनके लिए सफाई देना और क्षतिपूर्ति करना आवश्यक है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा—

फ्लोरिडा (Florida)—इस मामले में दक्षिणी राज्यों का यह जहाज अमरीकन गृहयुद्ध के समय अमरीकी क्रूजर वाचूसेट (Wachusett) द्वारा ब्राज़ील के प्रादेशिक समुद्र में बहिया नामक बन्दरगाह में पकड़ा गया। ब्राज़ील उस युद्ध में तटस्थ था, उसने अपने प्रदेश के इस अतिक्रमण का प्रबल प्रतिवाद किया, इस पर अमरीकी सरकार ने क्षमा माँगी, अपने रणपोत के कप्तान का कोर्ट मार्शल किया, फ्लोरिडा को पकड़ने की सलाह देने वाले बहिया के अपने वाणिज्यदूत को पदच्युत किया, अपने एक रणपोत को इसके पकड़े जाने की जगह पर ब्राज़ील के झण्डे को सलामी देने के लिए भेजा और यह स्वीकार किया कि उसका यह कार्य सर्वथा 'अनधिकृत और अवैध' था।

किन्तु कई बार कुछ राज्य आत्मरक्षा के आधार पर तटस्थता का अतिक्रमण करते हैं। १८०७ में नैपोलियन के युद्धों में ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसा कार्य किया था। उस समय डेनमार्क तटस्थ देश था, ग्रेट ब्रिटेन ने इससे यह माँग की कि वह अपना नौसैनिक बेड़ा उसे दे दे, क्योंकि इस बात की सम्भावना है कि नैपोलियन इस पर जबरदस्ती अधिकार कर लेगा। डेनमार्क ने इंगलैंड की यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की, इस पर उसने इसके बेड़े पर आक्रमण करके इसे नष्ट कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने बेल्जियम और लुक्सेमबर्ग की तटस्थता के उल्लंघन के लिए आत्मरक्षा की युक्ति दी थी, उसका यह कहना था कि उसे इन देशों की दिशा से फ्रांस के आक्रमण का भय था। मार्च १९१५ में ब्रिटिश रणपोतों ने जर्मन युद्धपोत **ड्रेस्डन** (Dresden) पर चिली के प्रादेशिक समुद्र में आक्रमण किया। इस अवसर पर यद्यपि ब्रिटिश विदेशमंत्री ने फौरन क्षमा माँगी, किन्तु अपने कार्य की सफाई देते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह भी कहा कि ड्रेस्डन स्वयमेव चिली की तटस्थता का दुरुपयोग कर रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में तटस्थता के अतिक्रमण बहुत बड़े पैमाने पर हुए। प्रादेशिक समुद्र में इसके उल्लंघन के **ग्राफ स्पी** (Graf Spee, देखिये ऊपर पृ० ५३८) तथा **आल्टमार्क** (देखिये प्रथम परिशिष्ट) सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं। इसमें अनेक तटस्थ देशों पर आक्रमण हुए। ९ अप्रैल १९४० को जर्मन सरकार ने तटस्थ देश नार्वे पर आक्रमण किया और यह कहा कि उसके पास ऐसे लिखित प्रमाण हैं कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का इरादा नार्वे पर हमला करने का था, इसे रोकने के लिए यह कार्यवाही की जा रही है। इसी दिन उसने एक अन्य तटस्थ राज्य डेनमार्क पर भी आक्रमण किया। इसके एक महीने बाद अंग्रेज़ों ने तटस्थ देश आइसलैण्ड पर यह कहते हुए अधिकार कर लिया कि इस पर जर्मनी का हमला होने वाला था। ९ मई को जर्मन सरकार ने तीन तटस्थ राज्यों—बेल्जियम, लुक्सेमबर्ग और हालैण्ड पर बिना चेतावनी के एकसाथ आक्रमण किया और अपने कार्य के समर्थन में यह कहा कि उसके पास इस बात के प्रमाण हैं कि मित्रराष्ट्र इन पर हमला करने वाले थे। २८ अक्टूबर १९४० को इटली ने यह घोषणा की कि यूनान की तटस्थता केवल कोरी कल्पना है, उसकी यह माँग थी कि युद्ध की अवधि के लिए उसे यूनान की भूमि पर कब्जा करने का अधिकार दे दिया जाय। इस माँग के अस्वीकृत होने पर उसने यूनान के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। ६ अप्रैल १९४१ को धुरी राष्ट्रों ने युगोस्लाविया पर आक्रमण किया, यूगोस्लाव सरकार के मतानुसार इसका कारण यह था कि उसने

तटस्थता की नीति का परित्याग करने से इन्कार किया था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यद्यपि तटस्थ राज्यों का प्रदेश अनतिक्रम्य माना जाता है, फिर भी उनका अतिक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करते हुए बहुधा होता रहता है।

तटस्थ देशों का दूसरा अधिकार यह है कि उन्हें अपने प्रदेश के ऊपर के आकाश में पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त है, किसी युद्धकारी देश के विमान को इन्हें अपने आकाश में नहीं उड़ने देना चाहिए। वे ऐसी उड़ान करने वाले विमान को गोली मारकर नीचे गिरा सकते हैं। इनका **तीसरा** अधिकार यह है कि ये युद्धकारी देशों में रहने वाले अपने नागरिकों की रक्षा कर सकते हैं, ये इस बात की माँग कर सकते हैं कि इनके नागरिकों को युद्धकारी देश अपनी सेना में भर्ती न करें। **चौथा** अधिकार यह है कि अपनी तटस्थता का अतिक्रमण करने वाले युद्धकारी देश से तटस्थ देश क्षतिपूर्ति की माँग कर सकते हैं। **पाँचवाँ** अधिकार यह है कि उन्हें अपने प्रदेश को लड़ाई की तैयारी के कार्यों से सर्वथा मुक्त रखना चाहिए। हेग के पाँचवें अभिसमय में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तटस्थ प्रदेश में युद्ध की कोई तैयारी नहीं होनी चाहिए। Twee Gebroeders के मामले में लार्ड स्टोवैल ने लिखा था—"शत्रुता का कोई कार्य तटस्थ प्रदेश में आरम्भ नहीं हो सकता······आप तटस्थ प्रदेश से किसी स्थान का ऐसा उपयोग नहीं कर सकते कि यह आपको लाभ प्रदान करने वाली भूमि हो। तटस्थ देश को दोनों युध्यमान पक्षों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार करते हुए किसी पक्ष को लाभ नहीं पहुँचाना चाहिए।"

तटस्थ देश का **छठा** अधिकार यह है कि वह अपने प्रदेश में अथवा प्रादेशिक समुद्र में होने वाले लड़ाई के कार्यों को रोकने का अधिकार रखता है। ग्रोशियस के शब्दों में "तुम अपने शत्रु को उसके देश में, अपने देश में ऐसी भूमि में जो किसी मनुष्य की न हो, अथवा महासमुद्र में मार सकते हो, किन्तु तटस्थ देश में नहीं मार सकते।" इनका **सातवां** अधिकार जहाँ तक हो सके समुद्री तारों को क्षति न पहुँचाने देना है। **आठवाँ** अधिकार अपने प्रदेश में से होकर फौजों को न जाने देना है। **नवाँ** अधिकार इसे युध्यमान पक्षों की सशस्त्र सेनाओं को आश्रय (Asylum) देने का अधिकार है। स्थल युद्ध में पीछा की जाती हुई समूची सेना को इस प्रकार शरण दी जा सकती है। किन्तु इस अवस्था में तटस्थ राज्य ऐसी सेना को निश्शस्त्र करके उसी देश के व्यय पर युद्ध की समाप्ति तक उसे अपने देश में रोककर रखता है। १८७१ में बूरबाकी (Bourbaki) की सेनानायकता में एक फ्रेंच सेना को स्विट्ज़रलैण्ड ने इस प्रकार आश्रय दिया था। इसका **दसवाँ** अधिकार अपने प्रदेश में अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) का है। इसके अनुसार कोई युध्यमान देश तटस्थ प्रदेश में अधिग्रहण न्यायालय स्थापित नहीं कर सकता। तटस्थ देश का **ग्यारहवाँ** अधिकार दोनों युध्यमान पक्षों के साथ दौत्य सम्बन्ध बनाये रखने का है। लार्ड स्टोवैल के शब्दों में "राज्यों का व्यवहार (Practice) तटस्थ राज्यों को युद्धकारी राज्यों से राजदूत ग्रहण करने का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु एक युद्धकारी देश से भेजे जाने वाले दूत को मार्ग में दूसरा युद्धकारी पक्ष अपने प्रदेश में रोक सकता है। तटस्थ देश में युद्धकारी देश के राजदूत

को अपनी सरकार के साथ निर्बाध रूप में पत्र-व्यवहार करने का अधिकार है, इसमें दूसरा युद्धकारी पक्ष कोई विघ्न नहीं डाल सकता।"

युद्धकारी राष्ट्रों के अधिकार (Rights of Belligerent Countries)—तटस्थता में जहाँ एक ओर तटस्थ राज्यों को कुछ अधिकार हैं, वहाँ दूसरी ओर युद्ध करने वाले राज्यों को भी कुछ अधिकार हैं। इनमें से अनेक अधिकारों का तो ऊपर वर्णन हो चुका है, यह बताया जा चुका है कि इनके रणपोत तटस्थ बन्दरगाहों में २४ घण्टे तक रुक सकते हैं, समुद्री तूफान में शरण ले सकते हैं, अपने जहाजों की असैनिक मरम्मत करा सकते हैं। किन्तु इनके कुछ विशेष अधिकार भी हैं। यहाँ इनमें से अंगरी (Angary) तथा अतटस्थ सेवा रोकने के अधिकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

अंगरी (Angary)—युद्ध के समय असाधारण सार्वजनिक संकट होने पर, युद्धकारी राष्ट्रों द्वारा मुआवजा देकर तटस्थ राज्यों के जहाजों तथा अन्य सम्पत्ति को उपयोग में लाना या नष्ट करना अंगरी का कानून (Jus angariae) कहलाता है। आपेनहाइम के मतानुसार यह शब्द यूनानी के संदेशहर का अर्थ देने वाले angaros शब्द से निकला है,[१८] लैटिन में इसका अर्थ जबर्दस्ती काम लेना है। मध्ययुगीन योरोप में युद्धकारी देश जहाजों की कमी होने पर, बन्दरगाहों में विद्यमान तटस्थ देशों के व्यापारिक जलपोतों पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते थे और इनके नाविक वर्ग को इस बात के लिए बाधित करते थे, कि वे उनसे अगाऊ रूप में भाड़ा लेकर उनकी सेनाओं, रणसामग्री और खाद्यसामग्री का परिवहन करें। इस प्रकार उस समय यह तटस्थ जहाजों द्वारा लड़ाई के लिए आवश्यक सामग्री की ढुलाई कराने का अधिकार था। फ्रांस के प्रसिद्ध शासक लुई चौदहवें (१६३८–१७१५) ने इसका प्रचुर मात्रा में उपयोग किया। १७वीं शताब्दी में अपने जहाजों के युद्धकाल में इस प्रकार पकड़े जाने को रोकने के लिए विभिन्न राज्यों ने सन्धियाँ करनी शुरू कीं। इसके परिणामस्वरूप १८वीं शती में इसका प्रयोग बिलकुल बन्द हो गया तथा आपेनहाइम[१९] के मतानुसार १९वीं शताब्दी में इसके उपयोग का एक भी उदाहरण नहीं है।[२०] २०वीं शताब्दी में प्रथम विश्वयुद्ध में इसका पुनः प्रयोग होने लगा, किन्तु इसका स्वरूप मध्यकालीन अंगरी से कुछ भिन्न था। पहले इसका प्रयोग सेनाओं के तथा इनकी आवश्यक सामग्री के

१८. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ७५९

१९. वही, खं० २, पृ० ७६०

२०. १८७० के फ्रेंको-जर्मन युद्ध में इस प्रकार की एक घटना हुई थी। जर्मन अधिकारियों ने कोयला ढोने वाले कुछ ब्रिटिश जहाजों को सीन (Seine) नदी में डक्लेयर के निकट इस उद्देश्य से डुबा दिया था कि यह नदी फ्रेंच गनबोटों के नौचालन की दृष्टि से निरर्थक हो जाय। ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी की इस कार्यवाही का विरोध किया क्योंकि वह इस युद्ध में तटस्थ था, उसने क्षतिपूर्ति की भी माँग की। इस पर बिस्मार्क ने कहा कि जर्मनी का ऐसा कोई कर्त्तव्य नहीं है, जिसके अनुसार वह जहाजों के मालिकों को मुआवजा दे, फिर भी उसने क्षतिपूर्ति देना स्वीकार कर लिया।

परिवहन के लिए किया जाता है, जहाजों को लेने के साथ नाविक वर्ग से भी काम लिया जाता था। आजकल अंगरी का स्वरूप बहुत विस्तृत हो गया है, इसमें जहाजों के अतिरिक्त तटस्थ देशों की सभी प्रकार की सम्पत्ति का उपयोग या विध्वंस कुछ विशेष अवस्था में किया जा सकता है।

अंगरी का आधुनिक स्वरूप (Modern Law of Angary)—आपेनहाइम (२।७६२) ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—"अंगरी के मूल (मध्यकालीन) अधिकार की तुलना में अंगरी का आधुनिक अधिकार युद्धकारी देशों का ऐसा अधिकार है, जिसके अनुसार युद्धकारी देश आवश्यकता पड़ने पर, आक्रमण के अथवा प्रतिरक्षा के प्रयोजन से, अपने प्रदेश में, शत्रु के प्रदेश में अथवा महासमुद्रों में विद्यमान तटस्थ देशों की सम्पत्ति नष्ट कर सकते हैं या उपयोग में ला सकते हैं।" सं० रा० अमरीका की नौयुद्ध संहिता (Naval War Code) में कहा गया है (अनु० ६)—सैनिक आवश्यकता होने पर, युद्धकारी देश की अधिकार-सत्ता की सीमाओं के भीतर विद्यमान तटस्थ देशों के जहाजों को पकड़ा जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है, या अन्य सैनिक प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। किन्तु इन अवस्थाओं में तटस्थ जहाजों के मालिकों को पूरा मुआवजा दिया जाना चाहिए।" दूसरे हेग सम्मेलन के पाँचवें अभिसमय (अनु० ९) में युद्धकारी देशों को असाधारण आवश्यकता की दशा में मुआवजा देकर तटस्थ देश की रेल सामग्री आदि का उपयोग करने का अधिकार दिया गया है। फिलिमोर (Philimore) का यह मत है कि इस अधिकार का प्रयोग तभी होना चाहिए, जब माल की ढुलाई का भाड़ा पहले ही अदा कर दिया जाय और यदि इस माल की ढुलाई के समय कुछ क्षति या नुकसान हो तो उसका पूरा मुआवजा देना चाहिए।

अंगरी के आवश्यक तत्वों पर भी बुल्लक (Bullock) ने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है।[२१] उसके मतानुसार अंगरी के आधुनिक कानून की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(क) युद्धकारी राज्य को विदेशी जहाजों, वायुयानों तथा परिवहन के अन्य साधनों के अधिग्रहण (Requisition) करने का अधिकार है। (ख) यह तभी होना चाहिए, जब परिवहन के प्रयोजनों के लिए इनकी अत्यावश्यकता हो। (ग) ये वस्तुएं अधिग्रहण के समय इन पर अधिकार करने वाले राज्य के प्रदेश की सीमाओं के अन्दर होनी चाहिएं। (घ) इनका अधिग्रहण राष्ट्र के आकस्मिक संकटकाल (Emergency) में होना चाहिए। (ङ) ली जाने वाली सामग्री का पूरा मुआवजा देना चाहिए। (च) छीने गए जलपोतों या वायुयानों के विदेशी नाविकों या वैज्ञानिकों को जहाज चलाने की सेवायें देने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। बुल्लक ने इसमें अधिग्रहण की जाने वाली सामग्री, केवल परिवहन के साधन जलपोत, विमानादि माने हैं, किन्तु आगे बताये जाने वाले मामलों और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह युद्ध की दृष्टि से उपयोगी तटस्थ राज्य की कोई भी सम्पत्ति हो सकती है।

२१. बुल्लक—ब्रिटिश यीअर बुक आफ इण्टरनेशनल लॉ, १९२२-२३, पृ० ९९-१२९

वर्तमान समय में अंगरी के अधिकार का प्रयोग प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध में व्यापक रूप से किया गया। पहले विश्वयुद्ध में १६१७ में ब्रिटिश सरकार ने तटस्थ देश स्वीडन के Sphinx, Bellgrove, Phyllis, Cremeoa आदि जलपोतों पर तथा हालैण्ड के Vembergen, Kelbergen आदि जहाजों पर अधिकार किया तथा इनके उपयोग का मुआवजा दिया। २० मार्च १६१८ को सं० रा० अमरीकी सरकार ने यह घोषणा की कि राष्ट्रों के कानून के अनुसार उसे युद्धकारी देश होने के नाते यह अधिकार है कि सैनिक आवश्यकता होने पर युद्ध संचालन के प्रयोजन को पूरा करने के लिए वह अपने क्षेत्राधिकार में विद्यमान जहाजों को ले ले तथा इनका उपयोग करे। इस घोषणा के आधार पर उसने अमरीकी बन्दरगाहों में विद्यमान ७७ जहाजों पर अधिकार कर लिया और इनके मालिकों को पूरा मुआवजा दिया। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने भी ऐसा ही किया। प्रथम विश्वयुद्ध में जमोरा (Zamora, देखिये प्रथम परिशिष्ट) के मामले में युद्ध के प्रयोजन की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने इस पर लदे हुए तांबे और इमारती लकड़ी को ले लिया था। लार्ड पार्कर ने अपने निर्णय में अंगरी के अधिकार का विवेचन करते हुए कहा कि युद्धकारी देश को तटस्थ देश के किसी भी जहाज या माल को निम्नलिखित विशेष अवस्थाओं में लेने का अधिकार है—(१) इस प्रकार लिए जाने वाले जहाजों या माल की प्रतिरक्षा के लिए अथवा युद्ध चलाने के लिए अत्यधिक आवश्यकता हो। (२) इस विषय में विचार के लिए वास्तविक प्रश्न होना चाहिए। (३) अधिग्रहण न्यायालय न्यायिक (Judicial) दृष्टि से यह निश्चय करे कि इस मामले की परिस्थितियों में इस अधिकार का प्रयोग होना चाहिए या नहीं।

अतटस्थ सेवा (Unneutral Service)—तटस्थ राज्यों द्वारा युद्ध करने वाले पक्षों में से किसी एक को लाभ पहुँचाने वाले कार्य अतटस्थ सेवा कहलाती है। इसे अतटस्थ नाम देने का कारण यह है कि ऐसे कार्य तटस्थ देशों को नहीं करने चाहिएँ। इनसे तटस्थ देश अतटस्थ देशोचित कार्य करता है, अतः यह अतटस्थ सेवा कहलाती है। युद्धकारी राज्यों को किसी तटस्थ देश द्वारा उसके शत्रु को इस प्रकार लाभ पहुँचाने वाले कार्यों को रोकने तथा तटस्थ देश को दण्डित करने का अधिकार है। उदाहरणार्थ, यदि किसी तटस्थ देश का कोई वैयक्तिक जहाज किसी युध्यमान पक्ष के लिए सेनाओं का परिवहन करता है, या रेडियो द्वारा उसे दूसरे पक्ष की सैनिक सूचनायें भेजता है, तो इसे देखते ही तत्काल नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई तटस्थ जलपोत युद्धकारी पक्ष को लाभ पहुँचाने के लिए समुद्र में सुरंगें बिछाता है तो उसे डुबाया जा सकता है।

अतटस्थ सेवा के स्वरूप का विशद स्पष्टीकरण १६०६ की **लन्दन की घोषणा** (अनु० ४५; तथा ४७) द्वारा सर्वप्रथम किया गया था। इससे पहले इसका अर्थ तटस्थ जलपोतों द्वारा शत्रु की सेनाओं का परिवहन करना था। विनिषिद्ध (Contraband) के होते हुए भी इस नई परिभाषा की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि विनिषिद्ध में केवल

निषिद्ध रणसामग्री की ढुलाई का समावेश होता था,[२२] सेनाओं की ढुलाई उसमें सम्मिलित नहीं थी। दूसरा कारण यह भी था कि रणसामग्री सीधे रूप में शत्रु के लिए होती हो, सो बात नहीं है, किन्तु सैनिकों की ढुलाई प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से शत्रुओं के लिए होती है। इन दोनों कारणों से इसके लिए अतटस्थ सेवा की पृथक् परिभाषा बनायी गयी, फ्रेंच में इसके लिए De l' assistance hostile अर्थात् 'शत्रु की सहायता' शब्द का प्रयोग होता है और यह इसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है।

लन्दन की घोषणा के अनुसार तटस्थ जलपोतों द्वारा दो प्रकार के कार्य—किसी युद्धकारी देश के लिए सेनाओं का परिवहन तथा किसी पक्ष को सैनिक सूचना (Military intelligence) देना—अतटस्थ सेवा माने गए हैं। सशस्त्र सेनाओं की ढुलाई के बारे में निम्न चार नियम बनाए गए—(क) यदि कोई तटस्थ जलपोत विशुद्ध रूप से (Exclusively) शत्रुसेनाओं की ढुलाई में लगा होगा तो इसे शत्रुरूप (Enemy character) प्राप्त होगा (देखिये ऊपर अध्याय २१), यह अतटस्थ सेवा नहीं समझी जायेगी। (ख) यदि कोई तटस्थ जलपोत न तो विशुद्ध रूप से सशस्त्र सेनाओं की ढुलाई में लगा है, न ही वह इस प्रयोजन से यात्रा कर रहा है, किन्तु उस पर **स्वाभाविक रूप से अपनी यात्रा करते हुए** किसी पक्ष के कुछ सशस्त्र सैनिक यात्रा कर रहे हैं और जहाज के स्वामी तथा कप्तान को इसका ज्ञान है तो यह अतटस्थ सेवा समझी जायेगी। (ग) यदि तटस्थ जलपोत पर इसके स्वामी, या इसे किराये पर ले जाने वाले कप्तान की जानकारी में किसी युद्धकारी पक्ष के या तटस्थ देश के प्रजाजन इस पर सवार हैं और अपनी समुद्रयात्रा में वे संकेत-प्रेषण (signalling) या रेडियो-सन्देश-प्रेषण द्वारा शत्रु को सहायता पहुँचाते हैं तो यह अतटस्थ सेवा होगी। (घ) यदि तटस्थ जलपोत पर शत्रु की सशस्त्र सेनाओं के कुछ व्यक्ति सवार हैं और जहाज की यात्रा विशेष रूप से इनकी ढुलाई के लिए की जा रही है तो इसे अतटस्थ सेवा माना जायेगा। विशेष यात्रा का यह अभिप्राय है कि वह अपनी सामान्य यात्रा में आने वाले बन्दरगाहों के अतिरिक्त किसी अन्य बन्दरगाह में जाए या अपने स्वाभाविक मार्ग का परिवर्तन करे। यदि कोई पोत अपनी सामान्य यात्रा करते हुए किसी पक्ष के किन्हीं सशस्त्र व्यक्तियों को ले जाता है तो यह अतटस्थ कार्य नहीं समझा जायेगा।

किसी युध्यमान पक्ष को सैनिक सूचना देने के सम्बन्ध में भी लन्दन सम्मेलन ने दो प्रकार के नियम बनाए: (क) विशुद्ध रूप से (exclusively) शत्रु को सूचना देने का कार्य करने वाला तटस्थ जहाज शत्रुरूप प्राप्त कर लेता है। (ख) यदि वह विशेष रूप से इसी उद्देश्य से अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़कर यात्रा करता है तो यह अतटस्थ सेवा होगी, किन्तु यदि स्वाभाविक मार्ग पर यात्रा करते हुए ऐसा कार्य किया जाता है तो इसे अतटस्थ कार्य नहीं माना जा सकता। तटस्थ जलपोत निम्न चार अवस्थाओं में शत्रुरूप धारण करता है और उसके साथ शत्रुता का व्यवहार किया जाता है—(क) जब तटस्थ जहाज लड़ाई के शत्रुतापूर्ण कार्यों में प्रत्यक्ष भाग ले, (ख) जब तटस्थ

२२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ८३२

पोत शत्रुसरकार द्वारा इस पर बिठाये गए किसी अभिकर्त्ता या एजेण्ट के नियन्त्रण में हो, (ग) जब यह अनन्य रूप से शत्रु की सरकार का कार्य कर रहा हो। (घ) जब यह अनन्य रूप से शत्रु के सैनिकों की ढुलाई कर रहा हो, या उसे सैनिक सूचनायें पहुँचाने में लगा हुआ हो।

लन्दन घोषणा का किसी राज्य ने अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर मित्रराष्ट्रों ने अतटस्थ सेवा के सम्बन्ध में इस घोषणा के नियमों को स्वीकार किया और जुलाई १९१६ तक इन्हें पूरी तरह लागू करते रहे। किन्तु इसके बाद जर्मनी द्वारा सब देशों के जहाजों को अन्धाधुन्ध डुबाने की नीति अपनाने के कारण मित्रराष्ट्रों ने इस घोषणा का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् इस विषय में परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन होने लगा।

अतटस्थ सेवा के परिणाम—तटस्थ जलपोतों को अतटस्थ सेवा के लिए महा-समुद्र (Open sea) में अथवा दोनों युद्धकारी पक्षों के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) में पकड़ा जा सकता है। डाक ले जाने वाले जहाजों का भी व्यापारिक पोतों के समान निग्रह (Capture) सम्भव है। शत्रु की सेना तथा सैनिक सूचना पहुँचाने वाले जहाज का राज्यसात्करण (Confiscation) हो सकता है। अमरीकन तथा ब्रिटिश परम्परा के अनुसार जब कोई तटस्थ जहाज इन कार्यों के लिये पकड़ा जाता है तो उस पर यात्रा करने वाले सैनिकों को पकड़ने के साथ-साथ जहाज को पकड़ना भी आवश्यक होता है। १८६१ में **ट्रैण्ट** (Trent) के मामले में (देखिये प्रथम परिशिष्ट), इस जहाज से दक्षिणी राज्यों के प्रतिनिधि मेसन और स्लिडेल को जबर्दस्ती पकड़ने के बाद जहाज को छोड़ दिया गया था। जहाज को पकड़े बिना इन प्रतिनिधियों का पकड़ना अवैध समझा गया था।

अतटस्थ सेवा के मामले (Cases of Unneutral Service)—इस विषय के कुछ महत्वपूर्ण मामलों और निर्णयों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। पहले बताया जा चुका है कि अतटस्थ सेवा मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है, **पहली** तटस्थ जहाज द्वारा शत्रु को सैनिक सूचनायें पहुँचाने की तथा **दूसरी** शत्रु के लिये सैनिक वहन करने की। पहले प्रकार के प्रमुख उदाहरण ये हैं— (१) **रैपिड** (Rapid) एक अमरीकन जहाज था। यह १८१० में ग्रेट ब्रिटेन और हालैण्ड की लड़ाई में न्यूयार्क से टानिंजन (Tonningen) जाते हुए इसलिए पकड़ा गया कि यह हालैण्ड के मंत्रिमंडल के एक सदस्य को भेजी जाने वाली चिट्ठी टानिंजन के एक व्यापारी को सम्बोधित किये गये लिफाफे में छिपाकर ले जा रहा था। किन्तु सं० रा० अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय ने इस जहाज को मुक्त कर दिया, क्योंकि अतटस्थ सेवा के लिये यह आवश्यक है कि जहाज वालों को इसके माध्यम से शत्रु को भेजी जाने वाली सूचना का ज्ञान हो और वह जहाज इस सूचना को भेजने के लिए किराये पर लिया गया हो। (२) **एटलाण्टा** (Atlanta) का मामला रैपिड से भिन्न था। यह तटस्थ जहाज १८०८ में बटेविया से ब्रेमन जा रहा था। रास्ते में एक फ्रेंच बन्दरगाह में इसे फ्रांस के एक मन्त्री के नाम कुछ पत्र दिये गये। इन पत्रों का कप्तान को पूरा ज्ञान था और इन्हें चाय के सन्दूक में जान-

बूझकर छिपा दिया गया था। मार्ग में ब्रिटिश सरकार ने इस जहाज को पकड़ लिया, अधिग्रहण न्यायालय ने जहाज और माल दोनों को इस आधार पर दण्डित किया कि इस प्रकार के पत्र ले जाना शत्रुतापूर्ण कार्य है और इन्हें ले जाने वाले जहाज को जब्त किया जाना चाहिए।

शत्रु के सैनिक वहन करने वाले तटस्थ जहाजों के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) **दी फ्रेंडशिप** (The Friendship) नामक अमरीकन जहाज को १८०७ में इसलिए दण्डित किया गया था कि यह फ्रेंच सेना के अधिकारियों तथा समुद्री सैनिकों को ले जा रहा था। शत्रु द्वारा सैनिकों के परिवहन के लिये किराये पर लिये गये इस तटस्थ पोत को दण्ड योग्य समझा जाना स्वाभाविक था।

(२) **ओरोजेम्बो** (Orozembo) नामक अमरीकन जहाज १८०७ में डच सरकार के आदेश से हालैण्ड के तीन डच सैनिक अधिकारियों तथा सिविल सर्विस के दो अधिकारियों को बटेविया ले जा रहा था। उस समय हालैण्ड और ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध चल रहा था। ग्रेट ब्रिटेन ने इस जहाज को अतटस्थ सेवा के लिये पकड़ लिया। इस मामले के निर्णय में यह कहा गया कि ऐसे अपराध में सैनिकों की संख्या का कोई महत्व नहीं है, यह सम्भव है कि उच्च पद रखने वाले अल्पसंख्यक व्यक्ति साधारण सैनिकों की बहुसंख्या से अधिक महत्वपूर्ण हों। इसमें जहाज के कप्तान को यह ज्ञान नहीं था कि वह शत्रु को लाभ पहुँचाने वाला कार्य कर रहा है, किन्तु फिर भी इस मामले में यह माना गया कि सच्ची (Bonafide) अज्ञानता में भी भले ही वास्तविक अपराध न हो, किन्तु यदि इससे शत्रु को लाभ पहुँचता है तो युद्धकारियों को इसे रोकने का अधिकार है।

(३) १८०२ में स्वीडन के जहाज **कैरोलिना** (Carolina) को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के युद्ध में सर विलियम स्काट ने इसलिए दण्डित किया कि उसने फ्रेंच सेनाओं को मिश्र से इटली पहुँचाया था। जहाज के मालिक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उसने बाधित होकर विवशता में ऐसा कार्य किया है; किन्तु उसका कार्य हानि पहुँचाने वाला था, अतः न्यायालय ने उसका विवशता का तर्क स्वीकार नहीं किया।

(४) **हनीमुन** (Hanimun) के मामले में यह निर्णय दिया गया कि युद्ध के कार्यों से सम्बद्ध संकेत तटस्थ जहाज से किसी युद्धकारी देश को नहीं भेजे जा सकते हैं।

(५) **स्टीमशिप चायना** (S. S. China)—यह शंघाई से अमरीकन बन्दरगाहों में डाक तथा सवारियाँ ले जाने वाला अमरीका का जहाज था। १९१६ में इस पर सवार होकर कुछ जर्मन, आस्ट्रेलियन और तुर्क मनीला जा रहे थे। एक ब्रिटिश लड़ाकू जहाज ने इन सवारियों को जहाज से उतार लिया। अमरीकी सरकार ने इस कार्य का इस आधार पर प्रबल प्रतिवाद किया कि लन्दन घोषणा (देखिये ऊपर पृ० ५५३–४) के अनुच्छेद ४७ के अनुसार केवल स्थल और जलसेनाओं में नौकरी करने वाले व्यक्तियों को ही पकड़ा जा सकता है। ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि वे व्यक्ति

विध्वंसात्मक कार्यों में तथा हथियारों को चोरी से लाने के काम (Smuggling) में लगे हुए थे। इस विवाद का निर्णय होने से पहले ही सं० रा० अमरीका प्रथम विश्वयुद्ध में कूद पड़ा और ये व्यक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा छोड़ दिये गये। इस विषय के दो प्रसिद्ध उदाहरणों **ट्रैण्ट** (Trent) तथा **असमा मारू** (Asama Maru) का वर्णन प्रथम परिशिष्ट में किया गया है।

उनतीसवाँ अध्याय

परिवेष्टन

(Blockade)

परिवेष्टन का स्वरूप (Nature of Blockade)—युद्ध के समय यद्यपि तटस्थ देशों को युद्ध करने वाले दोनों पक्षों के साथ व्यापार करने का अधिकार होता है, तथापि यह अधिकार दोनों पक्षों द्वारा शत्रु के परिवेष्टन या नाकाबन्दी से बहुत सीमित एवं मर्यादित हो जाता है। इसमें शत्रु के समुद्रतट और बन्दरगाहों को इस प्रकार घेर लिया जाता है कि बाह्य जगत् से उनका कोई सम्पर्क न रहे। आजकल शत्रु को परास्त करने के लिये तथा उसकी अर्थव्यवस्था को विच्छिन्न करने के लिये इस साधन का बहुत प्रयोग किया जाता है। दोनों विश्वयुद्धों में जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन ने परिवेष्टन का प्रयोग व्यापक रूप से किया था। इसका मुख्य उद्देश्य शत्रु को अन्य देशों से पहुँचने वाली सामग्री प्राप्त करने से रोकना, उसके उद्योग-धन्धों के लिये आवश्यक कच्चे माल के स्रोत बन्द करना, बाहर से आने वाले खाद्य पदार्थों के जहाज रोककर उसे भूखा मारना तथा इस प्रकार आत्मसमर्पण के लिये बाधित करना है।

स्टार्क ने इसका लक्षण करते हुए कहा है[1] कि परिवेष्टन तब होता है, जब कोई युध्यमान पक्ष शत्रु के समुद्रतट के समूचे अथवा कुछ हिस्से का रास्ता सब देशों के जलयानों और विमानों के प्रवेश या आगमन (Ingress) और निर्गमन (Egress) के लिये रोक देता है। ओपेनहाइम के मतानुसार[2] परिवेष्टन शत्रु के समूचे समुद्रतट को अथवा इसके कुछ हिस्से के मार्ग को रणपोतों (Men of War) द्वारा इस प्रयोजन से बन्द कर देना है कि इनसे किसी जलपोत या विमान का आगमन और निर्गमन न हो सके। इसमें रणपोत शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। यदि किसी बन्दरगाह का रास्ता केवल पत्थरों से लदे जहाजों को डुबाकर बन्द होगा, जैसा १८६१ में अमरीकन गृह-युद्ध में चार्ल्सटन के बन्दरगाह में किया गया, तो यह परिवेष्टन नहीं समझा जायेगा, इसमें तटस्थ जहाजों का आना-जाना निषिद्ध नहीं समझा जा सकता। परिवेष्टन (Blockade) घेरे (Siege) से भिन्न है, घेरा डालने का उद्देश्य किसी दुर्ग या घिरे स्थान पर विजय पाना होता है। परिवेष्टन का मुख्य लक्ष्य समुद्री मार्ग से बाह्य जगत् के साथ शत्रु के सम्पूर्ण व्यापारिक सम्पर्क को विच्छिन्न करना है।

शत्रु को हराने की दृष्टि से परिवेष्टन का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है। ग्रोशियस ने लिखा है कि डिमेट्रियस (Demetrius) ने एथेन्स को आत्मसमर्पण के

१. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४०३
२. ओपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ७६८

लिये विवश करने की दृष्टि से उसे भूखा मारने की योजना बनाई, उसको अनाज पहुँचाने वाले एक जहाज के स्वामी और चालक को फाँसी दे दी। आधुनिक काल में डच सरकार ने १५८४ में तथा १६३० में इसका सर्वप्रथम प्रयोग करते हुए फ्लैण्डर्स (वर्तमान बेल्जियम) में स्पेन के अधिकार में विद्यमान सब बन्दरगाहों का परिवेष्टन किया। शनैः-शनैः इसके नियमों का विकास होने लगा। **पेरिस की घोषणा** (Declaration of Paris, 1856) **तथा लन्दन की घोषणा** (London Declaration, 1909) में इनका सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों में इसे वर्तमान रूप मिला। इसका नवीनतम उदाहरण अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन द्वारा ६ मई १९७२ को उत्तरी वियतनाम के सभी बन्दरगाहों के परिवेष्टन का आदेश है। ताकि उसे दक्षिण में युद्धसंचालन के लिये समुद्रीमार्ग से कोई रणसामग्री न मिल सके।

पहले परिवेष्टन शत्रु के बन्दरगाहों और समुद्रतट तक ही सीमित रखा जाता था, तटस्थ देशों के बन्दरगाहों या समुद्रतट में प्रवेश को नहीं रोका जाता था। किन्तु अब इसका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है, लम्बी दूरी (Long distance) का परिवेष्टन भी वैध माना जाता है। इसके लिए सार्वदेशिक (Universal) होना आवश्यक है, परिवेष्टित प्रदेश में बिना किसी भेदभाव के सब देशों के जहाजों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए। यह आवश्यकतानुसार **सामरिक** (Strategic) अथवा **व्यापारिक** (Commercial) हो सकता है। सामरिक परिवेष्टन शत्रु के समुद्रतट के विरुद्ध किये जाने वाले सैनिक कार्यों का अंग होता है तथा इसका उद्देश्य तटवर्ती शत्रुसेनाओं से प्राप्त हो सकने वाली सहायता को रोकना है। व्यापारिक परिवेष्टन में शत्रु के समुद्रतट का अन्य देशों के साथ वाणिज्य का सम्पर्क विच्छिन्न कर दिया जाता है, किन्तु इस तट पर कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की जाती। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री **हाल** (Hall) ने यह मत प्रकट किया था[३] कि व्यापारिक परिवेष्टन अवैध है, इसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए। किन्तु आजकल दोनों प्रकार के परिवेष्टन वैध माने जाते हैं। १९७१ का पाक-भारत युद्ध छिड़ने पर पाकिस्तान द्वारा भारत के आर्थिक परिवेष्टन (Economic Blockade) की घोषणा करने पर ३ दिसम्बर १९७१ को भारत ने अन्य देशों को यह सूचना दी कि उनके द्वारा समुद्री एवं वायुमार्ग से पाकिस्तान भेजा जाने वाला सारा माल भारतीय नौसेना तथा वायुसेना द्वारा जब्त किया जा सकता है। युद्ध बन्द होने के बाद ११ फरवरी १९७२ को भारत सरकार ने पाकिस्तान के इस आर्थिक परिवेष्टन को समाप्त किया।

पेरिस तथा लन्दन की घोषणायें (Declarations of Paris and London)—पेरिस की घोषणा (१८५६) द्वारा परिवेष्टन के सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया था कि इसके बाध्य रूप से पालनीय (Binding) होने के लिये "इसका प्रभावशाली (Effective) होना आवश्यक है।" इसका यह अर्थ है कि इसे लागू करने वाली शक्ति

---

३. हाल—इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ७५७

इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि वह वस्तुतः शत्रु के समुद्रतट तक प्रवेश को रोक सके।" किन्तु इस घोषणा ने 'पर्याप्त शक्ति' की व्याख्या नहीं की।

१९०९ की लन्दन की घोषणा का यद्यपि किसी राज्य ने अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया, फिर भी उसके इस विषय में बनाये गये स्पष्ट और विशद नियमों का बहुत महत्व है। इनमें से कुछ ये है—(क) इसने परिवेष्टन के प्रभावशाली होने के १८५६ के नियम को संपुष्ट किया।

(ख) परिवेष्टन के आरम्भ करने की तथा उसकी भौगोलिक सीमाओं की सूचना तटस्थ देशों को दी जानी चाहिये। यह घोषणा करने का अधिकार युद्धकारी देश को अथवा उसकी ओर से कार्य करने वाले नौसेनापति को है। इनके अतिरिक्त, कोई अन्य व्यक्ति ऐसी घोषणा नहीं कर सकता। इस घोषणा का यह उद्देश्य था कि तटस्थ देशों को पूरी सूचना और चेतावनी, परिवेष्टित प्रदेश में प्रवेश से पहले ही मिल जानी चाहिये, ताकि वे खूब सोच-विचार करने के बाद, अपना दायित्व और खतरा समझते हुए ही इसमें प्रवेश करें।

(ग) शत्रु के बन्दरगाहों से तथा समुद्रतट से आगे के प्रदेश में परिवेष्टन नहीं होना चाहिये तथा तटस्थ बन्दरगाहों पर और तटस्थ देशों के तटों पर प्रवेश में प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

(घ) परिवेष्टन का ज्ञान होने पर इस प्रदेश में घुसने वाले जहाज को जब्त किया जा सकता है। यदि किसी जहाज को तटस्थ देश के बन्दरगाह से रवाना होने से पूर्व उस देश को परिवेष्टन की सूचना दी जा चुकी है और इस सूचना को प्रकाशित करने के लिये स्थानीय अधिकारियों को पर्याप्त समय मिल चुका है, तो यह मान लिया जायेगा कि जहाज को परिवेष्टन की सूचना प्राप्त हो गई है (अनु० १५)।

(ङ) तटस्थ जहाज केवल रणपोतों की कार्यवाही करने के क्षेत्र में पकड़ा जा सकता है।

(च) जहाज का तथा उसके माल का अन्तिम पहुँचने का स्थान कोई भी हो, उसे तब तक परिवेष्टन के भंग के लिये नहीं पकड़ा जा सकता, जब तक वह अपरिवेष्टित (Non-Blockaded) बन्दरगाह की ओर जा रहा हो (अनु० १९)।

(छ) लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २१ में परिवेष्टन भंग करने पर दण्ड की व्यवस्था थी। इसे भंग करने वाले पोत को दण्डित किया जा सकता है, इस पर लदा हुआ माल भी तब तक दण्डयोग्य है, जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि इस माल के लादे जाने के समय जहाज के मालिक को परिवेष्टन का ज्ञान नहीं था और उसका इसे भंग करने का कोई इरादा नहीं था।

परिवेष्टन के विभिन्न रूप (Various Forms of Blockade)—इसका पहला रूप **कागजी परिवेष्टन** (Paper Blockade) होता है। जब कोई शक्ति इसकी घोषणा करती है, इसे छाप देती है, किन्तु प्रभावशाली ढंग से क्रियात्मक रूप देने की सामर्थ्य नहीं रखती, अपने रणपोतों द्वारा शत्रु के बन्दरगाहों में जहाजों के आने-जाने पर कोई पाबन्दी नहीं लगा सकती तो यह केवल कागज पर लिखी घोषणामात्र रह जाती

है। लारेन्स के शब्दों में यह परिवेष्टन नहीं, किन्तु बिना अधिकार के तटस्थ जलपोतों को हानि पहुँचाने का अवैध प्रयत्न है।

दूसरा रूप प्रभावशाली परिवेष्टन (Effective Blockade) का है, इसमें रणपोतों की सहायता से शत्रु के बन्दरगाहों में जहाजों का आना-जाना बिल्कुल रोक देना है।

तीसरा रूप सामरिक (Strategic) तथा **चौथा व्यापारिक** (Commercial) है। इनका पहले (पृ० ५५६) स्पष्टीकरण किया जा चुका है। **पाँचवाँ रूप** राजनयिक ढंग से सूचना देकर किया जाने वाला परिवेष्टन (Blockade by Notification) है। आपेनहाइम ने इसके अन्य दो रूप **आगमन परिवेष्टन** (Blockade Inwards) तथा **निर्गमन परिवेष्टन** (Blockade Outwards) बताये हैं। जब किसी बन्दरगाह या समुद्र में प्रवेश का निरोध किया जाय तो यह आगमन परिवेष्टन होता है, १८५४ के क्रीमिया युद्ध में मित्रराष्ट्रों ने डेन्यूब नदी के मुहाने का ऐसा परिवेष्टन किया था, क्योंकि उसका उद्देश्य डेन्यूब नदी के रास्ते से कृष्ण सागर में रूसियों को मिल सकने वाली सहायता बन्द करना था।[1]

परिवेष्टन योग्य स्थान (Places of Blockade)—पहले केवल किलेबन्दी वाले या इससे रहित बन्दरगाहों का ही परिवेष्टन किया जाता था। कई बार बन्दरगाहों के साथ समुद्रतट भी शत्रु के जहाजों के लिये बन्द कर दिये जाते थे। सं० रा० अमरीका के गृहयुद्ध में उत्तरी राज्यों ने दक्षिणी राज्यों के २५०० मी० लम्बे समुद्रतट की नाकेबंदी की थी। शत्रु के हाथ में पड़े हुए बन्दरगाह भी परिवेष्टित किये जाते हैं, १८७० के फ्रैंको-जर्मन युद्ध में फ्रांस ने जर्मनों द्वारा अधिकृत बन्दरगाहों—रूआं (Rouen), दियेप (Dieppe) तथा फेकांप (Fecamp) में ऐसा किया था। उद्गम से मुहाने तक एक ही देश में बहने वाली राष्ट्रीय नदियों (National Rivers) का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु अनेक देशीय अथवा सीमावर्ती (Boundary) नदियों को परिवेष्टित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन पर राष्ट्र का नहीं, किन्तु अनेक राष्ट्रों का स्वामित्व है। १८५४-५६ के क्रीमिया युद्ध में जब ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने डेन्यूब का परिवेष्टन किया तो इस नदी से सम्बद्ध बवेरिया तथा वुर्टमबर्ग के जर्मन राज्यों ने इसका विरोध किया। आपेनहाइम ने लिखा है कि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सुनिश्चित नहीं है।[4] १८७० के फ्रैंको-जर्मन युद्ध में फ्रांस ने उत्तरी सागर के जर्मन समुद्रतट का परिवेष्टन करते हुए एम्स नदी के मुहाने डोल्लार्ट (Dollart) को छोड़ दिया, क्योंकि यह डच और जर्मन प्रदेश की सीमा बनाता था। १८६३ के अमरीकन गृहयुद्ध में दक्षिणी राज्यों के समुद्रतट का परिवेष्टन करते हुए उत्तरी देशों के क्रूजर **वन्डेरबिल्ट** (Venderbilt) ने रिओग्राण्डे नदी के मेक्सिको वाले तट के मातामोरोस स्थान को जाते हुए ब्रिटिश पोत पीटरहोफ (Peterhoff) को पकड़ लिया, किन्तु न्यायालय ने इसे मेक्सिको के तटस्थ होने के कारण छोड़ दिया।

इण्टरनेशनल लॉ अं० २

जलडमरूमध्यों के परिवेष्टन के विषय में तीन प्रकार के नियम हैं। एक राज्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रदेशों को विभक्त करने वाले तथा खुले समुद्र के दो भागों को न जोड़ने वाले जलडमरूमध्यों का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु डार्डेनल्ज़ जैसे एक राज्य के दो प्रदेशों को विभक्त करने वाले तथा खुले समुद्र के दो बड़े हिस्सों के मिलाने वाले जलडमरूमध्यों के बारे में कोई नियम निश्चित नहीं हुआ है। १६११ के टर्की-इटली युद्ध के समय इटली ने डार्डेनल्ज़ का परिवेष्टन नहीं किया। ऐसे जलडमरूमध्यों के बारे में अभी तक कोई नियम निश्चित रूप से नहीं स्थिर हुआ है। यही स्थिति दो विभिन्न राज्यों को विभक्त करने वाले जलडमरूमध्यों की है। एक देश में विद्यमान नहर का परिवेष्टन हो सकता है। किन्तु दो महासमुद्रों को जोड़ने वाली स्वेज़ और पानामा नहर के बारे में विशेष समझौते हैं। कानूनी रूप से इनका परिवेष्टन नहीं हो सकता।

वास्तविक परिवेष्टन की आवश्यक शर्तें (Essential Conditions of Real Blockade)—इसकी **पहली शर्त** यह है कि इसकी **स्थापना उचित रीति से,** युद्धकारी राष्ट्र की सरकार द्वारा अथवा उस द्वारा विशेष रूप से नियुक्त नौसेनापति द्वारा होनी चाहिए। **दूसरी शर्त प्रभावशाली** होने की है, पेरिस और लन्दन की घोषणाओं ने इस पर बल दिया था। इसे लागू करने के लिए इतनी शक्ति का प्रयोग होना चाहिए कि इसे तोड़ने में भारी खतरा हो। १७८० की **पहली सशस्त्र तटस्थता** (First Armed Neutrality) के अनुसार परिवेष्टन तभी प्रभावशाली होता है, जब तट तक पहुँचने का मार्ग लंगर डाले हुए रणपोतों द्वारा इस तरह घिरा हो, सब पोत एक-दूसरे के इतने निकट हों कि बगैर खतरा उठाये इनकी पंक्ति को न तोड़ा जा सकता हो। फिलिमोर ने लिखा है कि तथ्यानुसार या वास्तविक (De facto) परिवेष्टन कई जहाजों की पंक्ति द्वारा होता है, ये जहाज निषिद्ध बन्दरगाह के मुहाने पर एक तोरण या मेहराब (Arch) सी बनाये होते हैं, यदि यह किसी एक स्थान पर भी भंग होती है तो सारा परिवेष्टन भंग हो जाता है। पहले विश्वयुद्ध तक फ्रांस प्रभावशाली परिवेष्टन के लिए रणपोतों द्वारा ऐसा घेरा डालना आवश्यक मानता था।

इस विषय में दूसरा **दृष्टिकोण** सं० रा० अमरीका, जर्मनी, तथा ग्रेट ब्रिटेन का है। डा० लशिंगटन ने १८५५ में **फ्रांसिस्का** (Franciska) के मामले में (देखिये प्रथम परिशिष्ट) इसकी व्याख्या करते हुए कहा था कि परिवेष्टन के प्रभावशाली होने के लिए इतनी पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए कि वह इस क्षेत्र में आगमन और निर्गमन को, कुहरे, तेज हवा, आवश्यक अनुपस्थिति आदि की विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में संकटपूर्ण बना दे, इनमें इसे भंग करने का प्रयत्न करने वाले जहाज का पकड़ा जाना अत्यधिक सम्भव हो। इसके अनुसार परिवेष्टन के लिए बन्दरगाह के प्रवेश मार्ग को घेरने वाले, लंगर डाले हुए रणपोतों की पंक्ति या तोरण का होना आवश्यक नहीं है। प्रधान न्यायाधीश काकबर्न ने १८७२ में Geipal *v* Smith के मामले में यह निर्णय दिया था कि "कानून की दृष्टि से एक परिवेष्टन तब तक प्रभावशाली समझना चाहिए, जब शत्रु के जहाजों की संख्या और स्थिति ऐसी हो कि सामान्यतः इसे भंग करना खतरे में पड़ना हो, भले ही कुछ जहाज इसे तोड़ने में सफल हों।"

सामान्य रूप से, प्रभावशाली परिवेष्टन एक तंग जलप्रणाली में जंगी जहाजों के बेड़े द्वारा स्थापित किया जाता है। इसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए समीपवर्ती तट पर इसे भंग करने वाले जहाज पर गोले बरसाने वाले तोपखाने भी लगाये जाते हैं। परिवेष्टन में कम से कम एक रणपोत अवश्य होना चाहिए। इसमे आजकल वायुयानों से भी बहुत सहायता ली जाने लगी है। परिवेष्टन तभी तक प्रभावशाली है, जब तक इसका उल्लंघन करने में खतरा बना रहता है। यदि यह खतरा रणपोतों के हट जाने से दूर हो जाय तो परिवेष्टन स्वयमेव समाप्त हो जाता है।

परिवेष्टन की **तीसरी शर्त इसका निरन्तर** (Continuous) बनाये रखना है। इसमें कोई व्यवधान नहीं होना चाहिए। यदि परिवेष्टन स्थापित करने के कुछ समय बाद इसे प्रभावशाली बनाने वाला बेड़ा वापिस लौट जाता है तो परिवेष्टन को समाप्त समझा जायगा। किन्तु यदि ऋतु की प्रतिकूलता के कारण कुछ समय के लिए रणपोतों को अस्थायी रूप से अपने स्थान से हटना पड़ता है तथा ऋतु अनुकूल होने पर ये पुन: अपने स्थान पर लौट आते हैं, तो लन्दन घोषणा के अनुसार रणपोतों के यहाँ से अस्थायी रूप से हटने के कारण परिवेष्टन की समाप्ति नहीं समझी जायेगी।

चौथी शर्त उपयुक्त सूचना (Notification) देने की है। प्राय: परिवेष्टन करने वाला नौसेनापति इसकी सूचना परिवेष्टित तट या बन्दरगाह में अधिकारियों को, वहाँ रहने वाले वाणिज्यदूतों को तथा तटस्थ समुद्री राज्यों को भेजता है। फ्रांस तथा इटली इस विषय में यह सावधानी भी बरतते हैं कि परिवेष्टित स्थान के पास आने वाले तटस्थ पोतों को वे परिवेष्टन की पुन: सूचना देते हैं। किन्तु सं० रा० अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और जापान ऐसा करना आवश्यक नहीं समझते। यदि परिवेष्टन का वास्तविक ज्ञान रखने वाले किसी पोत को कोई सूचना नहीं दी गयी और वह परिवेष्टन को भंग करता है तो इन देशों की परिपाटी के अनुसार उसे पकड़ा जा सकता है।

पाँचवीं शर्त निष्पक्षता की है। परिवेष्टन करने वाले राज्य को सभी देशों के जहाजों का आगमन और निर्गमन समान रूप से रोकना चाहिए। **फ्रांसिस्का** के मामले में प्रिवी कौंसिल ने रूस के रीगा नामक बन्दरगाह का ब्रिटिश परिवेष्टन इसलिए अवैध समझा था कि यह सब देशों के लिए समान एवं निष्पक्ष रूप से लागू नहीं किया गया था, इसमें कुछ युद्धकारी देशों को ऐसी छूट या ढील दी गयी थी, जो तटस्थ देशों को प्राप्त नहीं थी। इसकी **छठी शर्त** यह है कि तटस्थ देशों के तटों तथा बन्दरगाहों का रास्ता बन्द नहीं किया जा सकता। **सातवीं शर्त** यह है कि परिवेष्टन का क्षेत्र इसे बनाये रखने वाले रणपोतों के कार्यक्षेत्र से अधिक विस्तीर्ण नहीं हो सकता।

परिवेष्टन की समाप्ति (Cessation of Blockade)—युद्ध के अवसान से परिवेष्टन करने वाली शक्ति द्वारा इसे वापिस लेने से अथवा इसके प्रभावशाली न रहने से इसकी समाप्ति हो जाती है। इसके अन्य कारण परिवेष्टन करने वाले जंगी बेड़े की हार और पलायन तथा इस बेड़े को युद्ध के लिए दूसरे स्थान पर बुला लेना है।

परिवेष्टन का भंग (Breach of Blockade)—

में १७६८ में निर्णय देते हुए सर विलियम स्काट ने कहा था कि परिवेष्टन के भंग के लिए तीन बातों का सिद्ध करना आवश्यक है । **प्रथम**, वास्तविक परिवेष्टन की सत्ता, **द्वितीय**, भंग करने वाले पक्ष को इसका ज्ञान होना, **तृतीय**, परिवेष्टन आरम्भ होने के बाद लदे हुए माल के साथ निषिद्ध क्षेत्र में आने या जाने का कार्य करके परिवेष्टन को तोड़ना । आपेनहाइम के मतानुसार, "परिवेष्टन के अतिक्रमण या भंग का आशय परिवेष्टन होते हुए भी किसी जहाज का बिना आज्ञा के आगमन या निर्गमन है । जहाँ तक दण्ड का सम्बन्ध है, इसके अतिक्रमण का प्रयत्न करना, अतिक्रमण के तुल्य अपराध है ।"

परिवेष्टन की सूचना न होने पर इसके भंग का कोई अपराध नहीं हो सकता । किन्तु इसकी सूचना की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विभिन्न देशों की परिपाटी एक-सी नहीं है । इटली और फ्रांस में राजनयिक (Diplomatic) तथा स्थानीय (Local)—दोनों ढंगों से सूचना देना आवश्यक समझा जाता है । इन दोनों देशों की परिपाटी के अनुसार किसी जहाज को तब तक परिवेष्टन भंग करने का अपराधी नहीं माना जाता, जब तक उसे इस क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले परिवेष्टन करने वाले रणपोत ने रोककर विशेष चेतावनी न दी हो और इसे अपनी दैनिक नौपंजिका (Logbook) में अंकित न किया हो । सं० रा० अमरीका, जापान और ग्रेट ब्रिटेन की परिपाटी इससे भिन्न है । वे राजनयिक सूचना (Diplomatic notice) को पर्याप्त समझते हैं; स्थानीय सूचना देना या रणपोतों द्वारा चेतावनी देना आवश्यक नहीं मानते । यह उनके मतानुसार वास्तविक सूचना (Actual notice) है । वे इसके स्थान पर Constructive notice को अधिक महत्व देते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि राजनयिक सूचना द्वारा अथवा परिवेष्टन के बारे में प्रसिद्ध होने से ही यह मान लिया जाता है कि सब जहाजों को परिवेष्टन की सूचना मिल गई है ।

परिवेष्टन भंग करने के परिणाम (Consequences of the Breach of Blockade)—लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २१ में परिवेष्टन भंग करने वाले जहाज को दण्डनीय बताया गया है । इसमें सामान्य नियम यह है कि जहाज तथा उस पर लदा हुआ माल, दोनों दण्डित किये जाते हैं । यह समझा जाता है कि इस पर माल लादते समय मालिकों को परिवेष्टन का ज्ञान था, अतः वे भी परिवेष्टन भंग करने के अपराधी माने जाते हैं । परिवेष्टन तोड़ने वाले जहाज को पकड़कर अधिग्रहण न्यायालय के सम्मुख विचार के लिए उपस्थित किया जाता है । जहाज के नाविकों को बन्दी बनाना आवश्यक नहीं है, यदि जहाज और माल का मालिक एक हो तो दोनों को जब्त कर लिया जाता है । यदि दोनों अलग हों तो माल को उसी दशा में जब्त किया जाता है, जब कि यह युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री हो अथवा इसे लादते समय इसके स्वामी को परिवेष्टन का ज्ञान रहा हो ।

परिवेष्टन के मामले (Cases of Blockade)—इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण (Case) डेनिश जहाज **फ्रांसिस्का** (Franciska) का है । इसका वर्णन

परिवेष्टन के लिए सिद्ध की जाने वाली तीन आवश्यक शर्तों का पहले उल्लेख हो चुका है। तीसरा मामला **फ्रेडरिक मोल्के** (Fredrick Molke) का है। यह एक डेनिश जहाज था। १७९८ में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन की लड़ाई में इसे एक ब्रिटिश जहाज ने हाव्रे (Havre) बन्दरगाह का परिवेष्टन तोड़कर बाहर निकलते हुए पकड़ लिया। उस समय डेनमार्क लड़ाई में तटस्थ था। लार्ड स्टोवैल ने इस जहाज और माल को इस आधार पर दण्डित किया कि इसे परिवेष्टन की सूचना दी जा चुकी थी। **जमोरा** (देखिये प्रथम परिशिष्ट) के मामले में लार्ड पार्कर ने यह कहा था कि परिवेष्टन की घोषणा करने वाला आदेश—परिवेष्टित बन्दरगाहों में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करने वाले जहाजों को उपरिदर्शी (Prima facie) रूप में निग्रहणीय एवं दण्डयोग्य बना देता है, किन्तु उन्हें ऐसी साक्षी उपस्थित करने से नहीं रोकता, जिससे परिवेष्टन की प्रभावशालिता का अभाव और अवैधता सिद्ध हो सके।

विश्वयुद्धों में परिवेष्टन का नियम—लम्बी दूरी परिवेष्टन (The rule of long distance Blockade in World Wars)—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले, परिवेष्टन में शत्रु के बन्दरगाहों के तथा समुद्रतट के समीप जंगी जहाजों का घेरा डालकर उन्हें घेर लिया जाता था, इसे **समीप का या आसन्न परिवेष्टन** (Close Blockade) कहा जाता था। किन्तु पहले विश्वयुद्ध में महासागरों में जर्मनी द्वारा समुद्रों में बड़े पैमाने पर सुरंगें बिछाने के कारण और पनडुब्बियों द्वारा भीषण विध्वंस किये जाने पर मित्रराष्ट्रों ने जर्मन बन्दरगाहों से एक हजार मील से अधिक दूरी तक के समुद्र में परिवेष्टन आरम्भ किया। यही **लम्बी दूरी का परिवेष्टन** (Long distance Blockade) था। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नया विकास था। मित्रराष्ट्रों को इसका अवलम्बन विशेष कारणों से करना पड़ा।[५] जर्मनी ने अपने समुद्रतट तथा बन्दरगाहों की प्रतिरक्षा का संगठन सुरंगों तथा पनडुब्बियों की सहायता से इतने प्रभावशाली रूप में किया कि मित्रराष्ट्र इनका १९वीं शती के ढंग का पुराना परिवेष्टन नहीं कर सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो उन्हें भीषण क्षति उठानी पड़ती। इसके अतिरिक्त जर्मनी द्वारा समुद्री जहाजों के उग्र विध्वंस की नीति से भी उन्हें ऐसा परिवेष्टन करना पड़ा। फरवरी १९१५ में जर्मनी ने ब्रिटिश द्वीपसमूह के चारों ओर के समुद्र को युद्धक्षेत्र घोषित करते हुए कहा कि इसमें पाये जाने वाले शत्रु के सभी पोतों को नष्ट कर दिया जायेगा और इसमें आने वाले तटस्थ जहाज भी संकट में पड़ सकते हैं। इस पर ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि इसके प्रतिकार के रूप में, वह अपने साथी राष्ट्रों के साथ मिलकर यह प्रयत्न करेगा कि जर्मनी में किसी सामग्री का आयात या निर्यात न हो सके। ११ मार्च १९१५ के ब्रिटिश आर्डर-इन-कौंसिल में उपर्युक्त व्यवस्था करते हुए इसे स्पष्ट रूप से प्रतिशोधनात्मक (Retaliatory) कहा गया था, इसमें परिवेष्टन के स्थापित करने का कोई उल्लेख न था। किन्तु इसके कुछ दिन बाद ब्रिटिश विदेशमन्त्री ने सं० रा० अमरीका के राजदूत को नई नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"ब्रिटिश बेड़े ने एक ऐसे परिवेष्टन की स्थापना की है, जिसमें जर्मनी को आने-जाने वाले समुद्री

५. ओपेनहाइम--इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ७९२

मार्ग का नियन्त्रण लड़ाकू जहाजों के घेरे (Cruiser cordon) द्वारा बड़े प्रभावशाली ढंग से हो रहा है।" सं० रा० अमरीका जैसे तटस्थ राज्यों ने इस नये 'लम्बी दूरी' के परिवेष्टन का उग्र प्रतिवाद किया। यद्यपि अमरीका यह स्वीकार करता था कि नौयुद्ध के साधनों और परिस्थितियों में महान् परिवर्तन आ जाने के कारण, बन्दरगाहों के पास किये जाने वाले निकट परिवेष्टन (Close Blockade) के पुराने नियम अब उपयोगी नहीं रहे, किन्तु उसका यह कहना था कि इस विषय में ग्रेट ब्रिटेन ने जिन उपायों का अवलम्बन किया है, वे "युद्ध के नियमों की भावना, सिद्धान्तों और मूलतत्व" के अनुकूल नहीं हैं। उसने तीन मुख्य कारणों के आधार पर ब्रिटिश उपायों की आलोचना की थी—(१) इनके कारण तटस्थ देशों के बन्दरगाहों का परिवेष्टन हो गया है, क्योंकि इनमें खुले महासमुद्रों का बहुत अधिक क्षेत्र आ जाता है, घेरा डालने वाले जंगी जहाज शत्रु के प्रदेश से बहुत दूरी पर होते हैं। तटस्थ पोतों को अपने बन्दरगाहों में पहुँचने के लिए इनके घेरे में से आवश्यक रूप से गुजरना पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन को युद्धकारी देश होने के कारण तटस्थ बन्दरगाहों के परिवेष्टन का कोई अधिकार नहीं है। २ अप्रैल १९१५ के तथा ५ नवम्बर १९१५ के अपने नोटों में सं० रा० अमरीका ने इस युक्ति पर बहुत बल दिया था। (२) स्कैण्डेनेविया (नार्वे, स्वीडन) के बन्दरगाहों तथा बाल्टिक सागर के जर्मन बन्दरगाहों के बीच में व्यापार को नहीं रोका गया था, इस कारण सब तटस्थ देशों के साथ इस परिवेष्टन द्वारा 'तुल्य कठोरता' (Equal severity) का व्यवहार नहीं हो रहा था। यह परिवेष्टन के 'समानता और निष्पक्षपात' के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। (३) ये उपाय प्रभावशाली नहीं थे, 'क्योंकि स्कैण्डेनेवियन देशों के साथ जर्मन तट के बन्दरगाहों का व्यापार जारी था।' अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका का यह कहना था कि लम्बी दूरी का ब्रिटिश परिवेष्टन सार्वभौम रूप से स्वीकार की जाने वाली उपर्युक्त तीन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता, इसे "कानून की, व्यवहार की या प्रभाव की किसी भी दृष्टि से परिवेष्टन नहीं माना जा सकता।"

ब्रिटिश सरकार ने इन युक्तियों का उत्तर अपने २३ जुलाई १९१५ तथा २४ अप्रैल १९१६ के नोटों में दिया। उसका यह कहना था कि ये उपाय परिवेष्टन के पुराने सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न हैं तथा इन सिद्धान्तों की मूल भावना के अनुकूल हैं। (१) तटस्थ बन्दरगाहों के परिवेष्टन की अमरीकी युक्ति के प्रत्युत्तर में ब्रिटिश सरकार ने यह कहा कि "यदि परिवेष्टन को प्रभावशाली बनाने के लिए इसको तटस्थ बन्दरगाहों में से होकर गुजरने वाले व्यापार पर लागू किया गया है तो यह इसके सामान्य रूप से माने जाने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। मित्रराष्ट्रों ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि वे सच्चे (bona fide) तटस्थ व्यापार में तथा जर्मनी के लिए किए जाने वाले व्यापार में भेद करें। इन उपायों के कारण तटस्थ देशों के साथ होने वाली कठोरता में भी मित्रराष्ट्रों ने कमी की है। तटस्थ देशों द्वारा इस परिवेष्टन का भंग होने पर उन्हें कम दण्ड दिया जाता है। (२) परिवेष्टन के निष्पक्ष न होने की युक्ति का यह उत्तर दिया गया कि इसके बावजूद यदि किसी

परिवेष्टित प्रदेश में जल या स्थल मार्ग से कुछ व्यापारिक माल आ जाता है तो इससे कभी यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि परिवेष्टन प्रभावशाली नहीं रहा। (३) तीसरी युक्ति का उत्तर देते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह कहा कि आज तक किसी भी परिवेष्टन में, इसे भंग करके शत्रु के प्रदेश में प्रविष्ट होने वाले जहाजों की संख्या इतनी कम नहीं रही, जितनी इस परिवेष्टन में है। इसकी प्रभावशालिता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है।

इस परिवेष्टन को लागू करने तथा तटस्थ देशों के व्यापार को सुरक्षित करने की दृष्टि से मित्रराष्ट्रों ने अनेक उपायों का अवलम्बन किया। जर्मनी के विदेशों के साथ व्यापार के प्रच्छन्न रूपों को खोजने तथा बन्द करने के लिए पृथक् विभाग बनाये, ये इस बात पर बल देते थे कि जर्मनी के पड़ोसी देशों से होने वाले निर्यात की सभी वस्तुओं के साथ उनके **'उद्गम का प्रमाणपत्र'** (Certificate of Origin) होना चाहिए। यह इसलिए किया गया था कि जर्मनी पड़ोसी राज्यों के माध्यम से अपना माल बाहर न भेज सके, इन प्रमाणपत्रों के अनुसार हालैण्ड, स्वीडन, डेनमार्क और नार्वे से केवल वही माल बाहर भेजा जा सकता था, जो विशुद्ध रूप से इन देशों में बना हो तथा उसके साथ ऐसा प्रमाणपत्र हो। ऐसे प्रमाणपत्र रहित, निर्यात होने वाले माल को जब्त कर लिया जाता था। तटस्थ देशों से होता हुआ कोई माल जर्मनी न पहुँच सके, इस दृष्टि से उन्होंने पड़ोसी तटस्थ देशों में आयात करने वाले व्यापारियों के संगठनों का निर्माण किया। इनके साथ वे यह समझौता करते थे कि यदि ये मित्रराष्ट्रों को इस बात की गारण्टी दें कि उनका कोई माल किसी भी प्रकार शत्रु को नहीं पहुँच पायेगा तो वे इनके माल में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे, इन्हें बिना किसी रोक-टोक के जाने देंगे। हालैण्ड में इस प्रकार का संगठन Netherlands Overseas Trust था। ऐसे संगठन स्विट्ज़रलैण्ड, स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क में भी थे। मित्रराष्ट्रों ने जहाजी कम्पनियों को यह प्रेरणा की कि वे निरीक्षण और तलाशी (Visit and search) के झंझट, व्यय और विलम्ब से बचने के लिए संदिग्ध माल को इंगलैंड के बन्दरगाहों में लाने तथा युद्ध की समाप्ति तक उन्हें वहाँ रखने के लिए तैयार हो जाएँ अथवा यह माल इसे पाने वालों को इस कड़ी शर्त और गारण्टी पर दिया जाय कि यह किसी भी रूप में शत्रु तक नहीं पहुँच सकेगा। अन्य जहाजी कम्पनियों के साथ यह समझौता किया गया कि वे उत्तरी योरोप जाने वाले माल को अपने जहाजों पर तभी लादें जब मित्रराष्ट्रों के अधिकारियों द्वारा उन्हें परिवेष्टन में से गुजरने का प्रमाणपत्र मिल जाय। इसे **नौप्रमाणपत्र** (Navicert) कहते थे। उन्होंने तटस्थ देशों के जहाजों को उस समय तक कोयला देना बन्द कर दिया जब तक कि उनके मालिक यह गारण्टी न दें कि वे अपने अथवा किराये पर लिए जहाजों द्वारा शत्रु के किसी बन्दरगाह के साथ व्यापार नहीं करेंगे और न ही कोई माल पहुँचायेंगे। इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्रों ने तटस्थ देशों की व्यापारिक संस्थाओं के साथ ऐसे भी समझौते किए कि वे बाहर से केवल उतना ही माल मँगायेंगे जिससे उनके देश की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी हों।

अप्रैल १९१७ में सं० रा० अमरीका मित्रराष्ट्रों की ओर से प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ। इसके बाद उपर्युक्त व्यवस्थायें कठोरतापूर्वक लागू की गयीं। उत्तरी योरोप के तटस्थ देशों को होने वाला निर्यात-व्यापार विशेष अनुमति से ही हो सकता था, इसे प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त प्रकार की गारण्टियाँ और वचन देने पड़ते थे। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी तथा उसके साथी देशों का पूर्ण परिवेष्टन हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर उपर्युक्त व्यवस्थाओं की पुनरावृत्ति हुई। २७ नवम्बर १९३९ को ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के अवैध रूप से सुरंग बिछाने तथा पनडुब्बी युद्ध करने का प्रतिकार करने के लिए यह आर्डर-इन-कौंसिल निकाला कि जर्मन बन्दरगाहों में लादे गए, जर्मनी से आने वाले या जर्मन स्वामित्व रखने वाले माल को पकड़कर रोक लिया जायेगा या बेच दिया जायेगा। १९४० तथा ४२ में इसी प्रकार के अन्य आदेश निकाले गए। पहले इटली, सं० रा० अमरीका तथा रूस ने तटस्थ होने के कारण इनका विरोध किया, किन्तु बाद में ये सभी देश युद्ध में सम्मिलित हो गए और जर्मनी का पूरा परिवेष्टन हुआ।

परिवेष्टन का भविष्य (Future of Blockade)—डा० लौटरपैख्ट के मतानुसार द्वितीय विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके साथियों द्वारा परिवेष्टन के लिए अवलम्बन किये गये उपाय "सामान्य रूप से इसके लिए स्वीकार किये जाने वाले कानून की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थे। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वर्तमान युद्ध ने प्रधान रूप से आर्थिक रूप धारण कर लिया है। परिवेष्टन के लिए स्वीकार किए जाने वाले कानून के कुछ नियम नौयुद्ध की तथा संचार साधनों की परिवर्तित परिस्थितियों में लागू करने योग्य नहीं रहे। यदि इन्हें पारस्परिक समझौते द्वारा नहीं बदला जायेगा तो इनका भंग इनके पालन की अपेक्षा अधिक होगा।"[६] वस्तुतः आजकल युद्ध में आर्थिक पहलू का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि परिवेष्टन का प्रयोग आर्थिक शस्त्र के रूप में होने लगा है। यह सैनिक शस्त्रों से कम प्रभावशाली नहीं है। अतः भविष्य में तटस्थ देशों के युद्धकारी देशों के साथ व्यापार के अधिकार पर अधिकाधिक प्रतिबन्ध लगने की संभावना है। ऐतिहासिक दृष्टि से परिवेष्टन और विनिषिद्ध सामग्री (Contraband, देखिए अगला अध्याय) का कानून दो विरोधी दावों में समझौते का परिणाम है। एक ओर तटस्थ देश यह कहते हैं कि उन्हें दोनों युध्यमान (Belligerent) पक्षों के साथ व्यापार का निर्बाध अधिकार होना चाहिए, दूसरी ओर युद्ध करने वाले देशों का आग्रह है कि उन्हें समुद्री मार्ग से युद्ध में उपयोगी हो सकने वाली किसी भी वस्तु को शत्रु तक पहुँचने से रोकने का अधिकार है। १९वीं शताब्दी में युद्धोपयोगी वस्तुओं की संख्या सीमित थी, अतः उस समय तटस्थ देशों के पास दोनों युद्धकारी पक्षों के साथ व्यापार के अधिकार अधिक थे। किन्तु बीसवीं शती में युद्ध का रूप इतना व्यापक हो गया है, युद्धोपयोगी वस्तुओं की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि तटस्थ देशों के व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया है। भविष्य में इसके और भी अधिक सीमित होने की संभावना है।

६. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, ख० २, पृ० ७९६

तीसवां अध्याय

विनिषिद्ध के नियम

(Contraband)

विनिषिद्ध का स्वरूप और लक्षण (Nature of Contraband)—युद्ध के समय दोनों पक्ष स्वाभाविक रूप से इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि उनके शत्रु को युद्ध संचालन में सहायता देने वाली रण सामग्री—शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुयें तटस्थ देशों से प्राप्त न हो सकें। इस उद्देश्य से वे शत्रु के साथ तटस्थ देशों के व्यापार के विषय में अनेक प्रकार के कानून बनाते हैं। इनके अनुसार कुछ निश्चित वस्तुओं का शत्रु को पहुँचाना निषिद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे स्वीकार करता है और युद्धकाल में इन वस्तुओं का शत्रु के साथ व्यापार वर्जित माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय विधि द्वारा ऐसी सामग्री का व्यापार निषिद्ध होने के कारण उसे विधिनिषिद्ध का या संक्षिप्त रूप में विनिषिद्ध (Contraband)[1] का नियम कहते हैं। इस नियम का मौलिक सिद्धान्त यह है कि युद्ध में दोनों पक्षों का यह अधिकार है कि वे शत्रु को रण में सहायता पहुँचाने वाली सामग्री ले जाने वाले जहाजों को तथा उनके माल को छीनकर जब्त कर लें।

आपेनहाइम के कथनानुसार "युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री इस प्रकार के माल का नाम है, जो दोनों युद्धकारी पक्षों द्वारा शत्रु को पहुँचाना इस आधार पर वर्जित समझा जाता है कि इसके पहुँचने से शत्रु अधिक शक्ति के साथ युद्ध का संचालन करने में समर्थ होगा।"[2] स्टार्क के शब्दों में, "विनिषिद्ध ऐसी वस्तुओ का नाम है, जिनका परिवहन करना युद्धकारी पक्षों द्वारा आपत्तिजनक समझा जाता है, क्योंकि इनसे शत्रु को युद्ध संचालन में सहायता मिल सकती है।"[3] इसके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए जेस्सप ने लिखा है—"युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री के कानून के २०वीं शती के विचारों में तीन बातें आवश्यक समझी जाती हैं"—(क) शत्रुदेश को भेजी जाती हुई कुछ निश्चित वस्तुओं को युद्धकारी पक्षों द्वारा पकड़ने तथा जब्त करने का अधिकार। (ख) तटस्थ देशों के लिए ऐसा कोई कर्त्तव्य या बाध्यता नहीं है कि वे इस प्रकार की विनिषिद्ध सामग्री की ढुलाई अपने जहाजों में न करें। (ग) तटस्थ देशों के

१. यह शब्द लैटिन के दो शब्दों Contra तथा Bannum या bandum से मिलकर बना है इनका अर्थ है विधि या आदेश के विरुद्ध अथवा इसकी अवहेलना करते हुए।

२. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ८००

३. स्टार्क—एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ

नागरिकों को शत्रुदेश तक ऐसा माल पहुंचाने का अधिकार है, किन्तु उन्हें यह खतरा उठाने के लिए तैयार होना चाहिए कि युद्धकारी पक्ष इस माल को छीनकर जब्त कर सकते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इस पद्धति का शनैः-शनैः विकास हुआ है।[४] सर्वप्रथम तेरहवीं शती में कुछ राज्यों ने अपनी घोषणाओं द्वारा शत्रु के साथ सम्पूर्ण व्यापार को बन्द करना चाहा। १६वीं १७वीं शताब्दी से तटस्थ देशों ने इसका घोर विरोध करते हुए अपने व्यापार की स्वतन्त्रता बनाये रखने पर बड़ा बल दिया। तटस्थ देशों के अधिकारों का विकास होने के कारण युद्धकारी देशों को शत्रु के साथ इन देशों के व्यापार के पूर्ण प्रतिबन्ध को शिथिल करना पड़ा, इनसे दो प्रकार के महत्वपूर्ण समझौते करने पड़े तथा रियायतें देनी पड़ीं। पहला समझौता भौगोलिक था, इसके अनुसार व्यापार का निषेध शत्रु के सम्पूर्ण प्रदेश से हटाकर कुछ विशेष बन्दरगाहों तक सीमित कर दिया गया, केवल इन्हें परिवेष्टित (Blockade) किया जाने लगा। दूसरा समझौता प्रवर्गीकरण (Categorisation) का था। पहले सब प्रकार की वस्तुओं का व्यापार वर्जित था, अब वस्तुओं के विभिन्न वर्ग (Class) या प्रवर्ग (Category) वर्ग बनाये गए, इनमें से कुछ वर्गों में आने वाला माल ही शत्रु को भेजा जाना अवैध समझा गया।

वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification of Commodities)—ग्रोशियस ने सर्वप्रथम इस दृष्टि से व्यापार की विभिन्न वस्तुओं को तीन वर्गों में बाँटा था। यद्यपि उसने विनिषिद्ध (Contraband) शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उसका त्रिविध वर्गीकरण बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसके अनुसार **पहला** वर्ग उन वस्तुओं का था, जिनका उपयोग केवल युद्ध में होता है, अतः इनका व्यापार सदैव विनिषिद्ध है। इसमें हथियारों तथा गोलाबारूद का समावेश होता है। **दूसरा** वर्ग विलास सामग्री का है, जैसे शृंगार

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र में विनिषिद्ध के कुछ संकेत मिलते हैं। इनका वर्णन यद्यपि नावध्यक्ष (२।२८) और शुल्काध्यक्ष (२।२१) के प्रकरण में है, और इसका उद्देश्य माल को चुंगी से बचाने और चोरी से लाने वालों को दण्डित करना है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध के समय इन व्यवस्थाओं का पालन कठोरतापूर्वक किया जाता होगा। कौटिल्य ने अन्यत्र (५।१४) व्यापारिक मार्गों को शत्रु के लिए बन्द करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। नावध्यक्ष के प्रकरण में कहा गया है यदि कोई गुप्त रूप से महत्वपूर्ण वस्तुयें (सारभाण्ड), सरकारी आदेश (शासन), हथियार, विस्फोटक द्रव्य (अग्नियोग) या विष ले जा रहा हो तो ऐसे व्यक्ति को पकड़ ले (२।२८ गूढ़सारभाण्डशासनशस्त्राग्नियोगं विषहस्तं चोपग्राहयेत)। कौटिल्य की २।२१ की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि उस समय वर्तमान विनिषिद्ध की भाँति कुछ वस्तुओं के ले जाने पर पाबन्दी होती थी, इन्हें 'अनिर्वाह्य' (न ले जाने योग्य) कहते थे, इन्हें ले जाने वालों को दण्ड दिया जाता था। यदि कोई "हथियार, कवच, लोहा, रथ, रक्त, अन्न तथा पशु आदि में से कोई न ले जाने योग्य वस्तु बाहर ले जाये तो उसे राजा द्वारा निर्धारित दण्ड दिया जाय तथा उसका ऐसा माल (पण्य) नष्ट कर दिया जाय। इनके नगर के अन्दर लाने पर, इस वस्तु को दुर्ग के बाहर बिना किसी शुल्क के बेच डाला जाय। (शस्त्रवर्मकवचलोहरथरत्नधान्यपशूनामन्यतमानिर्वाह्य निर्वाह्यतो यथावघुषितो दण्डः पण्यनाशश्च। तेषामन्यतमस्यानयने बहिरेवोच्छुल्को विक्रयः) इनमें पहली चार वस्तुयें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के अनुसार पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute contraband) हैं, तथा पिछली तीन वस्तुयें अवस्थानुसार विनिषिद्ध (Conditional contraband) हैं (देखिये नीचे पृ० ५७३-४)।

की वस्तुएँ, इनका युद्ध में कभी उपयोग नहीं होता, अतः इनका व्यापार कभी निषिद्ध नहीं होता। **तीसरा** वर्ग धनराशि, खाद्य सामग्री, जहाज, इनके लिए आवश्यक साज-सामान आदि का है। इनका उपयोग युद्ध एवं शान्ति के दोनों कालों में होता है। इनका व्यापार परिस्थितियों को देखते हुए निषिद्ध या विहित होता है। यदि ये शत्रु को युद्ध संचालन में सहायता प्रदान करते हैं तो इनका व्यापार निषिद्ध होता है। ऐसा न होने की परिस्थिति में इनका व्यापार निषिद्ध नहीं होता। बाद में इन्हीं वस्तुओं को अवस्था-नुसार या पूर्ण विनिषिद्ध (Conditional or absolute contraband) कहा जाने लगा।

१६वीं शताब्दी से अनेक राज्यों ने इन वर्गों में आने वाले पदार्थों को निश्चित करने के लिए अनेक संधियाँ कीं, किन्तु इनमें गिनाए गये विहित और निषिद्ध पदार्थों में पर्याप्त भेद है। युद्ध के समय में विभिन्न राज्य परिस्थितियों के अनुसार अपनी समझ से वस्तुओं के उपर्युक्त वर्गीकरण में काफी हेरफेर करते रहे हैं। १७८० तथा १८०० की **प्रथम तथा द्वितीय सशस्त्र तटस्थताओं** ने विनिषिद्ध पदार्थों की संख्या मर्यादित करने का निष्फल प्रयत्न किया। १८५६ की **पेरिस की घोषणा** में विनिषिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया, किन्तु इसका लक्षण या व्याख्या नहीं की गई थी। १६०६ की **लन्दन घोषणा** में (अनुच्छेद २२ से २६ तक) विनिषिद्ध पदार्थों का विस्तारपूर्वक परिगणन किया गया। इसके अनुसार निम्न वस्तुयें विनिषिद्ध हैं—प्रत्येक प्रकार के शस्त्र, बन्दूकों और तोपों से फैंकी जाने वाली और इनमें भरी जाने वाली वस्तुयें, कारतूस, युद्ध के लिए विशेष रूप से बनाया गया बारूद तथा अन्य विस्फोटक पदार्थ, तोप चलाने के यन्त्र, इन्हें खीचने वाली गाड़ियाँ, सैनिक गाड़ियाँ, सैनिक काम के कपड़े, सैनिक काम के साज, सवारी के और ढुलाई करने वाले पशु, फौजी पड़ाव में काम आने वाली वस्तुयें, जहाजों की रक्षा के लिए धातु की चादरें, रणपोत, नावें, केवल रणपोतों के काम में आने वाले कल-पुर्जे, रणोपयोगी वस्तुओं के बनाने और मरम्मत करने के यन्त्र। लन्दन घोषणा के अनुसार उपर्युक्त वस्तुयें **पूर्ण रूप से विनिषिद्ध** (Absolute Contraband) सूची में थीं। इसमें राज्यों को यह अधिकार दिया गया था कि वे पूर्ण रूप से युद्ध के लिए उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुओं की विज्ञप्ति (Notification) प्रकाशित करके इस सूची में जोड़ सकते थे। इस सूची के बाद इसमें दूसरी सूची **सापेक्ष अथवा अवस्थानुसार विनिषिद्ध पदार्थों** (Conditional Contraband) की थी। इसमें ऐसे पदार्थ थे "जिनका उपयोग युद्ध एवं शान्ति के प्रयोजन पूरा करने के लिए हो सकता" था। इस सूची में परिगणित पदार्थों में भी विशेष विज्ञप्ति द्वारा अन्य वस्तुएँ जोड़ी जा सकती थीं। इसमें खाद्य सामग्री, ईंधन, जहाज, रेल सामग्री जसी वस्तुएं थीं, किन्तु फ्रांस और रूस खाद्य सामग्री को पूर्ण रूप से निषिद्ध पदार्थों की सूची में सम्मिलित करना चाहते थे। तीसरी **'स्वतन्त्र सूची'** (Free list) थी, इसमें गिनाई गई वस्तुएँ **'युद्ध के उपयोग में न आ सकने के कारण'** कभी विनिषिद्ध घोषित नहीं की जा सकती थीं। इनके प्रमुख उदाहरण कपास, ऊन, रबड़ तथा कच्ची धातें (Metallic ores) थीं।

किन्तु लन्दन घोषणा का राज्यों ने समर्थन नहीं किया। प्रथम विश्वयुद्ध से यह

स्पष्ट हो गया कि इस बात का पूर्ण रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता कि कौनसे पदार्थ पूर्ण रूप से निषिद्ध समझे जायें। तटस्थ राज्यों के स्वार्थ लड़ाई में सम्मिलित होने पर तथा युद्धकारी राष्ट्र की स्थिति ग्रहण करने पर बिल्कुल बदल जाते हैं, तटस्थ रूप में वे जिन पदार्थों को निषिद्ध नहीं समझते, बाद में उन्हीं का व्यापार वर्जित समझने लगते हैं। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण तथा समग्र युद्ध (Total war) के विचार से विनिषिद्ध वस्तुओं के स्वरूप में मौलिक अन्तर आ गया है। इसने लन्दन घोषणा की उपर्युक्त तीन सूचियों तथा त्रिविध वर्गीकरण के सूक्ष्म अन्तर को निरर्थक बना दिया है।

पूर्ण तथा सापेक्ष विनिषिद्ध (Absolute and Relative Contraband)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हथियार, गोलाबारूद, रणपोत आदि कुछ वस्तुयें केवल **युद्ध में उपयोगी होती हैं,** ऐसी वस्तुओं का व्यापार पूर्ण रूप से निषिद्ध होता है, अतः यह पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute Contraband) कहलाता है। कुछ अन्य वस्तुयें **केवल युद्ध के लिए नहीं, किन्तु युद्ध एवं शान्ति के दोनों कालों के लिए** उपयोगी होती हैं, जैसे खाद्य पदार्थ, सोना, चाँदी, कोयला। इनके व्यापार का निषेध उन्हीं परिस्थितियों या अवस्थाओं में किया जाता है जब ये शत्रु द्वारा युद्ध संचालन के लिए आवश्यक या अत्यन्त उपयोगी हों। जब शत्रु अनाज की कमी के कारण अपने देश में खाद्यान्नों के वितरण के लिए राशन प्रणाली आरम्भ करता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि सेना को इस सामग्री की पूर्ति अबाध रीति से होती रहे। इस अवस्था में उसे भेजा जाने वाला अनाज सेना के उपयोग में आ सकता है, अतः इसे इस परिस्थिति में विनिषिद्ध घोषित कर दिया जाता है। विशेष अवस्थाओं में विनिषिद्ध होने के कारण इसे **अवस्थानुसार विनिषिद्ध** (Conditional Contraband) या **सापेक्ष** (Relative) **विनिषिद्ध** कहते हैं।

यह वर्गीकरण १६वीं १७वीं शताब्दी में किया गया था। उस समय लड़ाई करने वाली सेनायें बहुत छोटी होती थीं, इसमें युद्धकारी देश की जनसंख्या का अत्यल्प अंश ही भाग लेता था। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के समय से युद्धकारी देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था हो जाने के कारण प्रत्येक बालिग पुरुष को सेना में भर्ती होना पड़ता है, देश के समूचे साधनों का उपयोग युद्ध को सफल बनाने के लिए किया जाता है, सरकार किसी भी समय किसी भी वस्तु को युद्ध संचालन के लिए आवश्यक समझ कर उस पर अपना पूर्णाधिकार स्थापित कर सकती है। अतः अब यह समझा जाता है कि विनिषिद्ध को पूर्ण और सापेक्ष नामक दो वर्गों में विभक्त करना तथा इसमें सूक्ष्म अन्तर बताना भूतकाल की घटनामात्र रह गई है। वर्तमान समय में उसका कोई क्रियात्मक उपयोग नहीं रहा। इस समय पूर्ण रूप से विनिषिद्ध वस्तुओं का क्षेत्र बढ़ रहा है और सापेक्ष विनिषिद्ध का क्षेत्र संकुचित हो रहा है। युद्ध की नवीन परिस्थितियों के अतिरिक्त वैज्ञानिक आविष्कार भी इस प्रवृत्ति में सहायक हैं। उदाहरणार्थ, पहले कपास का युद्ध में कोई उपयोग न होने के कारण इसे विनिषिद्ध पदार्थों में नहीं गिना जाता था। ऊपर (पृ० ५७१) यह बताया जा चुका है कि १९०९ की लन्दन घोषणा में इसका

परिगणन स्वतन्त्र सूची में किया गया था। किन्तु इस घोषणा के छः वर्ष बाद १९१५ में मित्रराष्ट्रों ने इसे पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया क्योंकि इस बीच नवीन आविष्कारों के कारण विस्फोटक पदार्थ बनाने के लिए कपास का उपयोग होने लगा था।

पूर्ण निषिद्ध (Absolute Contraband)—लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २२ में ११ प्रकार के विभिन्न वस्तु-समूहों को पूर्ण रूप से निषिद्ध बतलाया गया था, पहले इनका उल्लेख हो चुका है (पृ० ५७१)। ये वस्तुएं **सदैव** निषिद्ध मानी जाती हैं, इनके लिये किसी विशेष घोषणा करने या सूचना देने की आवश्यकता नहीं। अनुच्छेद २३ में ऐसे पदार्थों की सूची थी, जिनका प्रयोग केवल युद्ध के लिए नहीं होता था, फिर भी इन्हें **विशेष घोषणा और सूचना के बाद** पूर्ण निषिद्ध बताया जा सकता था। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर विभिन्न सरकारी आदेशों द्वारा पूर्णतया विनिषेध की जाने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ने लगी, २ जुलाई १९१७ की अन्तिम ब्रिटिश सूची **लन्दन गजट** के दो पृष्ठों में छपी। १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर ४ सितम्बर १९३९ के **लन्दन गजट** की पूर्ण निषिद्ध की सूची यद्यपि ब्यौरे की दृष्टि से संक्षिप्त है, किन्तु वास्तविक दृष्टि से बहुत व्यापक है। इसमें मुख्य रूप से निम्न वस्तुओं के व्यापार का पूर्ण विनिषेध है—(क) सब प्रकार के शस्त्र, गोलाबारूद, विस्फोटक पदार्थ, रासायनिक युद्ध के लिए उपयुक्त रासायनिक पदार्थ, इन्हें बनाने या ठीक करने की मशीनें, इन मशीनों के कल-पुर्जे, इनका उपयोग करने के लिए आवश्यक पदार्थ, इनके निर्माण में काम आने वाली सामग्री, इनके उत्पादन या उपयोग के लिए आवश्यक अथवा सुविधाजनक वस्तुएँ। (ख) सब प्रकार का ईंधन (Fuel), जल तथा आकाश में परिवहन के सभी साधन, इनका निर्माण या मरम्मत करने वाली मशीनें, इनके कल-पुर्जे, इनके उपयोग के लिए आवश्यक औजार तथा अन्य वस्तुएं, इनके निर्माण में काम आने वाली सामग्री, इनके उत्पादन या उपयोग के लिए आवश्यक या सुविधाजनक वस्तुएं। (ग) संवादप्रेषण (Communication) के सब साधन, औजार, उपकरण, साज-सामान, नक्शे, चित्र, कागज, शत्रुतापूर्ण कार्य करने के लिए सहायक या आवश्यक वस्तुएं। (घ) सिक्के, सोना, चांदी, पत्रमुद्रा, इनके निर्माण में उपयोगी या सुविधाजनक धातुयें सामग्री, ठप्पे (Dies), प्लेटें, मशीनें तथा अन्य वस्तुएं। यह सूची इतनी लचकीली और विस्तृत है कि इसमें आवश्यकता पड़ने पर किसी भी वस्तु का समावेश किया जा सकता है।

सापेक्ष या अवस्थानुसार विनिषिद्ध (Conditional Contraband)—पहले यह बताया जा चुका है कि कुछ पदार्थ युद्ध एवं शान्ति के दोनों कालों में उपयोगी होते हुए भी कुछ विशेष अवस्थाओं में, जब प्रधान रूप से युद्ध संचालन के लिए उपयोगी होते हैं, तो इनको 'अवस्थानुसार विनिषिद्ध' घोषित किया जाता है। आपेनहाइम के मतानुसार इसके लिये दो शर्तें होनी आवश्यक हैं[५]—(क) इन्हें जहाजों द्वारा शत्रु के देश को ले जाया जा रहा हो। (ख) इन्हें सैनिक या नौसैनिक प्रयोजनों की पूर्ति के उद्देश्य से ले जाया जा रहा हो। किन्तु इस वर्ग में किन पदार्थों को सम्मिलित किया जाय, इस

५. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ८०५

विषय में विधिशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। विभिन्न देशों का व्यवहार और आचरण भी इस विषय में एक जैसा नहीं है। ऐसी वस्तुओं के मुख्य उदाहरण खाद्य पदार्थ, घोड़े, कोयला तथा अन्य ईंधन, धनराशि (Money) और रुई हैं।

(१) **खाद्य पदार्थ** (Food stuffs)—इनके सम्बन्ध में सामान्य रूप से यह माना जाता है कि साधारण अवस्थाओं में इनके विनिषिद्ध होने की घोषणा नहीं करनी चाहिये। **ब्लंशली** (Bluntschli) और **मूर** (Moore) का यह मत है कि इनको सापेक्ष रूप से कभी विनिषिद्ध घोषित नहीं किया जा सकता। किन्तु अधिकांश विधिशास्त्रियों का यह विचार है कि यदि खाद्य पदार्थ स्थल सेना अथवा नौसेना के उपयोग के लिए भेजे जा रहे हों तो इनका विनिषेध किया जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन और जापान इस नियम का अनुसरण करते रहे हैं। **जोंगे मारगरेथा** (Jonge Margaretha) के मामले में १७९९ में ब्रिटिश न्यायालय ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। हालैंड का यह जहाज एमस्टर्डम से ब्रैस्ट नामक बन्दरगाह को पनीर ले जा रहा था। यह बन्दरगाह उन दिनों फ्रांस का नौसैनिक अड्डा था। उस समय फ्रांस और इंगलैंड का युद्ध चल रहा था। ब्रिटिश बेड़े ने पनीर की खाद्य सामग्री ले जाने वाले इस तटस्थ जहाज को पकड़ लिया क्योंकि यह शत्रु की सेनाओं के लिये पनीर ले जा रहा था। इस आधार पर ब्रिटिश न्यायालय ने पनीर को विनिषिद्ध माना। उसका यह कहना था कि यदि यही माल किसी 'सामान्य व्यापारिक बन्दरगाह' को भेजा जाता तो इसका असैनिक उपयोग होने के कारण इसे जब्त नहीं किया जा सकता था। १८८५ ई० के चीन-फ्रांस युद्ध में फ्रांस ने चावल को विनिषिद्ध घोषित किया क्योंकि **चीनी जनता** के खाद्य पदार्थों में इसका प्रमुख स्थान था। १९०४ के रूस-जापान युद्ध में रूस ने चावल तथा अन्य खाद्य पदार्थों को पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया, ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमरीका ने इसका प्रबल विरोध किया, इस पर इसे सापेक्ष विनिषिद्ध माना गया। Arbida तथा Cachas के मामलों में रूसी सर्वोच्च अधिग्रहण न्यायालय ने इस अन्तर को स्वीकार किया। लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २४ के अनुसार खाद्य पदार्थ सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद था। लड़ाई शुरू होते ही १५ अगस्त १९१४ के परिपत्र (Circular) में अमरीका ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के अनुसार उसे युद्धकारी देशों को अनाज भेजने का अधिकार है, बशर्ते कि यह स्थलसेना या जलसेना के उपयोग के लिए अथवा शत्रु द्वारा अधिकृत या परिवेष्टित बन्दरगाहों को न भेजा जा रहा हो। २६ सितम्बर १९१४ के वक्तव्य में अमरीकी सरकार द्वारा पुनः इस बात पर बल दिया गया कि खाद्य पदार्थ व्यापार की वैध वस्तुयें हैं, शत्रुदेश के बन्दरगाह को इन्हें भेजा जाने मात्र से ऐसे माल का पकड़ना और दण्डित करना न्यायोचित नहीं माना जा सकता। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन इस विषय में बिल्कुल विभिन्न मत रखता था। वह सं० रा० अमरीका की यह मान्यता स्वीकार नहीं करता था कि तटस्थ बन्दरगाहों को अथवा शत्रु द्वारा अपरिवेष्टित या अनधिकृत बन्दरगाहों को भेजे जाने वाले खाद्य पदार्थ पकड़े और जब्त नहीं किये जा सकते. क्योंकि ये अन्ततोगत्वा शत्रु के [illegible]

थे। १९१४ में ब्रिटिश सरकार ने नार्वे तथा स्वीडन के कई जहाजों **किम** (Kim), **अलफ्रेड नोबल** (Alfred Nobel), **ब्योर्नस्तेयर्ने** (Bjornstjerne) तथा **फ्रिडलैण्ड** (Fridland) को खाद्य पदार्थों, रबड़ और खालें कोपनहेगन ले जाते हुए मार्ग में पकड़ लिया। कोपनहेगन यद्यपि तटस्थ बन्दरगाह था, यह माल वहाँ ले जाया जा रहा था, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों से यह प्रकट होता था कि इस माल के पहुँचने का अन्तिम लक्ष्य-स्थान जर्मनी है। ब्रिटिश न्यायालय ने कोपनहेगन के पिछले कई वर्षों के व्यापारिक आंकड़े जाँचने के बाद यह परिणाम निकाला कि युद्ध छिड़ने के पहले के तीन वर्षों में प्रतिवर्ष डेनमार्क में सूअर की चर्बी का जितना आयात होता था, ये जहाज उससे तेरह गुनी चर्बी एक महीने से भी कम समय में कोपनहेगन ले जा रहे थे। इससे यह स्पष्ट था कि चर्बी डेनमार्क की सामान्य आवश्यकताओं से बहुत अधिक थी और इसका अन्तिम लक्ष्य-स्थान जर्मनी था। अतएव ब्रिटिश सरकार ने इसे जब्त कर लिया।

१३ अप्रैल १९१६ को ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण और सापेक्ष विनिषिद्ध (absolute and conditional contraband) का भेद इस आधार पर बिल्कुल समाप्त कर दिया कि शत्रुदेश के निवासियों की इतनी अधिक संख्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में युद्ध के कार्यों में भाग ले रही है कि अब जर्मनी की सैनिक और असैनिक जनता में कोई भेद या अन्तर नहीं रहा; जर्मन सरकार ने सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध समझी जाने वाली अन्नादि वस्तुओं का वितरण अपने हाथ में ले लिया है, खाद्य पदार्थ सेना की आवश्यकतायें पूरी करने के बाद ही असैनिक जनता को दिये जाते हैं, अतः अब इनके सैनिक और असैनिक उपयोग का विचार करना और इस आधार पर इनके विनिषेध को दो वर्गों में बाँटना बिल्कुल बेकार है। सम्पूर्ण खाद्य सामग्री पूर्णरूप से विनिषिद्ध है। तटस्थ देशों के माध्यम से जर्मनी तक खाद्य पदार्थों की पहुँच बन्द करने के लिये तटस्थ देशों के लिये भी ग्रेट ब्रिटेन ने राशन की व्यवस्था शुरू की। इसमें इन देशों में शान्तिकाल में प्रतिवर्ष आयात होने वाली वस्तुओं की औसत मात्रा निकाली गई, युद्धकाल में भी इनके लिये इसी औसत मात्रा में वस्तुओं का आयात निश्चित कर दिया गया। इससे अधिक आयात की जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कल्पना की गई कि वे इनकी आन्तरिक आवश्यकतायें पूरी करने के लिये नहीं हैं, उनका चरम लक्ष्य जर्मनी पहुँचना है। ऐसे सभी खाद्य तथा अन्य पदार्थ रास्ते में ही रोक लिये जाते थे। सं० रा० अमरीका ने मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने के बाद तटस्थ देशों के साथ व्यापार के लिये लाइसेन्स लेने का नियम बना दिया, यह वस्तुतः राशन प्रणाली का दूसरा रूप था।

सितम्बर १९६५ के भारत-पाक संघर्ष में पाकिस्तान ने विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची का अत्यधिक विस्तार करते हुए इसमें चाय तथा जूट जैसे पदार्थों को भी सम्मिलित कर दिया था (एशियन रिकार्डर, पृ० १९६५)। इस समय उसने रिवर स्टीम नेवीगेशन कम्पनी के छोटे जहाजों द्वारा कलकत्ता लाई जाने वाली तथा वहाँ से विदेशों को भेजी जाने वाली चाय को विनिषिद्ध घोषित करते हुए इसे जब्त करके बेचने की आज्ञा दी थी (स्टेट्स्मैन, १० अक्टूबर १९६५, पृ० १)। पाकिस्तान का यह कार्य कई दृष्टियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाला था। पहला कारण यह था कि

विदेशों को भेजी जाने वाली चाय विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband) की सूची में नहीं आ सकती थी। दूसरा कारण यह था कि इसे पाकिस्तान को पकड़ने का अधिकार नहीं था, वह युद्ध में 'शत्रुसंपत्ति' (Enemy Property) को ही पकड़ सकता था। भारत के विरुद्ध उसने युद्ध-घोषणा करके लड़ाई शुरू नहीं की थी, अतः भारतीय माल शत्रु की सम्पत्ति नहीं था।

(२) **भारवाही पशु** (Beasts of Burden)—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले मोटर-गाड़ियों और ट्रकों का आविष्कार न होने से सैनिक परिवहन तथा ढुलाई के कार्य भारवाही पशुओं—घोड़ों, खच्चरों द्वारा हुआ करते थे, घुड़सवार सेना तथा तोपखानों के लिए इनका असाधारण महत्व था। अतः इन्हें कई बार पूर्णरूप से विनिषिद्ध समझा जाता था। १६०० ई० की सं० रा० अमरीका की नौसैनिक युद्धसंहिता (Naval War Code) के अनुच्छेद ३६ में इसका स्पष्ट विधान है। रूस-जापान युद्ध में रूस ने भारवाही पशुओं के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था की थी। लन्दन घोषणा के अनुच्छेद २२ में भी ऐसा ही माना गया। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर भारवाही पशुओं का स्थान—मोटरों और ट्रकों ने ले लिया, सितम्बर १६३६ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा पूर्ण रूप से निषिद्ध वस्तुओं में 'परिवहन के सम्पूर्ण साधनों' के रूप में इनका समावेश किया गया था।

(३) **कोयला** (Coal)—रणपोतों का संचालन प्रायः वाष्पशक्ति और पेट्रोल द्वारा होता है, अतः समुद्र में युद्ध करने के लिए इनका ईंधन—कोयला तथा पेट्रोल असाधारण महत्व रखते हैं; १८५४ से ग्रेट ब्रिटेन युद्धकारी देशों के रणपोतों तथा नौसैनिक बन्दरगाहों के लिए भेजे जाने वाले कोयले को विनिषिद्ध समझता रहा है। किन्तु १८५६ में फ्रांस और इटली ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। १८८५ में रूस ने यह घोषणा की कि वह इसे विनिषिद्ध मानने के लिये कभी अपनी सहमति नहीं देगा, किन्तु १६०४ में उसने कोयले, अल्कोहल आदि प्रत्येक प्रकार के ईंधन को पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया। लन्दन की घोषणा (अनु० २४) में इसे सापेक्ष विनिषिद्ध माना गया। प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने पेट्रोल आदि खनिज तेलों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ईंधनों को ऐसा ही माना। मोटरों, हवाई जहाजों तथा पनडुब्बियों के पेट्रोल द्वारा संचालित होने के कारण इसका पूर्ण विनिषेध किया गया। जर्मनी ने कोयले, कोक तथा खनिज तेलों को पूर्ण रूप से तथा अन्य ईंधनों को सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध माना।

(४) **धनराशि** (Money)—इसके सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि इससे शत्रु को युद्ध में कोई सहायता नहीं मिलनी चाहिये। इस प्रकार की सहायता पहुँचाने वाला सोना-चांदी, सिक्के, पत्रमुद्रा और ऋण विनिषिद्ध माने जाते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ में मित्रराष्ट्रों ने सोना-चांदी तथा पत्रमुद्रा को सापेक्ष रूप से विनिषिद्ध घोषित किया था, किन्तु १६१६ में उन्होंने इन वस्तुओं को पूर्ण विनिषिद्ध बना दिया। जर्मनी ने भी इनका पूर्ण विनिषेध किया।

अमरीकन गृहयुद्ध के समय विशेष परिस्थितियों के कारण सं० रा० अमरीका ने इसे पूर्ण विनिषिद्ध घोषित किया, क्योंकि दक्षिणी राज्य दूसरे देशों से खरीदे जाने वाले हथियारों, गोलाबारूद और जहाजों का दाम चुकाने के लिये मुद्रा के स्थान में रुई भेज रहे थे। किन्तु सामान्यतः प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रुई पूर्णतः विनिषिद्ध वस्तुओं में सम्मिलित नहीं की जाती थी। १९०४ में जब रूस-जापान युद्ध में रूस ने इसके ऐसा होने की घोषणा की तो ग्रेट ब्रिटेन ने इसका प्रतिवाद किया। लन्दन घोषणा (अनु० २८) के अनुसार यह 'स्वतन्त्र सूची' (Free list) (देखिये ऊपर पृ ५७१-२) में रखी गई। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर मित्रराष्ट्रों ने इसे विनिषिद्ध घोषित नहीं किया। किन्तु जब नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विस्फोटक द्रव्यों के निर्माण में इसका उपयोग होने लगा तो इसके **पूर्ण विनिषिद्ध** होने की घोषणा की गई।

लन्दन घोषणा में दी गई सापेक्ष विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वीकार नहीं की गई। इसमें विभिन्न आदेशों द्वारा परिवर्तन होते रहे। २ जुलाई १९१७ की घोषणा के अनुसार इसमें ३४ प्रकार की वस्तुएँ थीं। दूसरे विश्वयुद्ध के आरम्भ में ग्रेट ब्रिटेन की सापेक्ष विनिषिद्ध की सूची में खाद्यान्न, चारा, कपड़ा तथा इनके उत्पादन में उपयोगी सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया गया। जर्मनी ने भी ऐसा किया। उस समय अर्जण्टाइना, सोवियत रूस तथा कुछ अन्य राज्यों ने खाद्यान्नों को विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची में सम्मिलित करने का विरोध किया। पानामा में हुए विदेशमन्त्रियों के सम्मेलन ने ३ अक्टूबर १९३९ को अपने 'अन्तिम निर्णय' (Final Act) में यह कहा कि जो खाद्यान्न और वस्त्र असैनिक जनता के उपयोग के लिये हों, किसी युद्धकारी देश की सरकार के लिये या दूसरी सेनाओं के लिये प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपयोग के लिये न जा रहे हों, उसे इस सूची में शामिल नहीं करना चाहिए।

विरोधी गम्यस्थान (Hostile Destination)—कोई भी वस्तु केवल उसी देश में विनिषिद्ध होती है, जब उसे किसी युद्धकारी पक्ष के युद्ध में उपयोग करने की दृष्टि से भेजा जा रहा हो। किसी तटस्थ देश को भेजे जाने वाले हथियार या गोला-बारूद विनिषिद्ध नहीं हो सकते। विनिषिद्ध की मुख्य कसौटी यह है कि यह माल कहाँ और किसके उपयोग के लिये भेजा जा रहा है, इसका गम्यस्थान (Destination) या लक्ष्य क्या है। यदि यह शत्रुदेश के किसी व्यक्ति को या बन्दरगाह को भेजा जा रहा है तो इसे विरोधी गम्यस्थान (Hostile destination) की ओर जाने वाला कहा जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि यह माल सीधा शत्रुदेश के व्यक्ति को न भेज-कर तटस्थ देश के किसी व्यापारी को इस इरादे से भेजा जाता है कि वह इसे शत्रु को पहुँचा देगा। ऐसा इरादा पता लगने पर तटस्थ देश को जाने वाले माल का भी अन्तिम लक्ष्य विरोधी शत्रुदेश होने के कारण इसे विनिषिद्ध माना जाता है। कई बार जहाज का गम्यस्थान तटस्थ देश होता है, किन्तु उसे रास्ते में शत्रु के बन्दरगाहों पर रुकना पड़ता है, इससे शत्रु को माल पहुँच सकता है, अतः ऐसे माल को विनिषिद्ध समझा जाता है। १९३९ में हैम्बर्ग के जर्मन अधिग्रहण न्यायालय ने मिन्ना (The Minna) के

सम्बन्ध में ऐसे मामले पर विचार किया था । यह एक तटस्थ देश—इस्टोनिया का जहाज था, इसका गम्यस्थान सं० रा० अमरीका भी तटस्थ था, किन्तु रास्ते में कप्तान का विचार कोयला लेने के लिए स्काटलैंड के बन्दरगाह पर रुकने का था, इस कारण उस पर लदी लकड़ी की लुगदी (Pulp) को न्यायालय ने विनिषिद्ध घोषित किया ।

लन्दन घोषणा (अनु० ३०) के अनुसार पूर्ण विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में, निम्न अवस्थाओं में विरोधी गम्यस्थान समझा जाता है—माल का शत्रु को अथवा शत्रु की तटस्थ सेनाओं को भेजा जाना । अनुच्छेद ३१ के अनुसार निम्नलिखित अवस्थाओं में यह माना जाना चाहिए कि पूर्ण विनिषिद्ध का विरोधी गम्यस्थान प्रमाणित हो गया है—(क) जब माल शत्रु के किसी बन्दरगाह को या शत्रु की सशस्त्र सेनाओं को भेजा जाय । (ख) जब जहाज को केवल शत्रु के बन्दरगाहों पर जाना हो या तटस्थ देश के बन्दरगाह पर माल ले जाने से पहले रास्ते में शत्रु के बन्दरगाहों पर रुकना हो या शत्रु की सेनाओं से मिलना हो ।

विनिषिद्ध सम्बन्धी अपराध के तीन आवश्यक तत्व हैं । लारेन्स के मतानुसार **पहला तत्व** ऐसी वस्तुओं की ढुलाई या परिवहन है, न कि इनका व्यापार और बिक्री । तटस्थ देशों के व्यापारियों को अपने देश में शत्रुदेश के प्रतिनिधियों को हथियार तथा गोलाबारूद बेचने का पूरा अधिकार है किन्तु जब वे इस सामग्री का निर्यात किसी युद्धकारी पक्ष को करते हैं, तभी दूसरे पक्ष को शत्रु को भेजे जाने वाले इस माल को पकड़ने का अधिकार है । **दूसरा आवश्यक तत्व** विरोधी गम्यस्थान (Hostile destination) है । ऊपर इसका वर्णन किया जा चुका है । **तीसरा तत्व** किसी युद्धकारी पक्ष को यह सामग्री पहुँचाने के उद्देश्य से इसे जहाज पर लादकर यात्रा के लिए प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाना है । लार्ड स्टोवैल ने **इमिना** (Imina) के मामले में कहा था कि वस्तुओं को अपराधावस्था में (in delecto) अर्थात् शत्रु के बन्दरगाह की ओर जाते हुए पकड़ा जाना चाहिए ।

विनिषिद्ध की दण्ड व्यवस्था (Penalty for carrying Contraband)—१९०९ की लन्दन घोषणा (अनु० ३९, ४०) के अनुसार यदि मूल्य, भार या परिमाण की दृष्टि से किसी जहाज पर लदे माल में आधे से अधिक विनिषिद्ध वस्तुएँ हों तो ऐसे माल और जहाज दोनों को पकड़ा जा सकता है । इस प्रकार पकड़े गये माल और जहाजों को विचार के लिए अधिग्रहण न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है । यदि यह माल को विनिषिद्ध ठहराता है तो इसे जब्त कर लिया जाता है । यदि यह जहाज को निर्दोष समझकर मुक्त करता है तो इसे वे सब व्यय देने पड़ते हैं, जो इस अभियोग के चलाने में तथा अभियोग के समय में इसे अपने संरक्षण (Custody) में रखने में किये गये हों । विनिषिद्ध वस्तुओं के स्वामी का यदि इस जहाज पर, विनिषिद्ध में न आने वाला कुछ अन्य माल लदा हुआ है तो उसे भी जब्त कर लिया जाता है । किन्तु इस पर लदा हुआ अन्य व्यक्तियों का माल उन्हें वापिस लौटा दिया जाता है । यदि जहाज पर लदे माल में आधे से कम माल विनिषिद्ध हो तो इसे जब्त करने के बाद जहाज इसके स्वामी को लौटा दिया जाता है । The Neurtralitet के मामले में सर

विलियम स्काट ने यह निर्णय दिया था कि 'राष्ट्रों के कानून' के वर्तमान नियम के अनुसार जहाजों को विनिषिद्ध पदार्थों का परिवहन करने के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। यदि कोई जहाज विनिषिद्ध सामग्री के मालिक का है, झूठे कागजों के साथ झूठे गम्यस्थान पर जाता है तो इस जहाज को भी जब्त किया जा सकता है।

परिवेष्टन और विनिषिद्ध (Blockade and Contraband)—इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध और सूक्ष्म अन्तर है। पिछले अध्याय में पहले यह बताया जा चुका है कि परिवेष्टन का उद्देश्य शत्रु के समुद्रतट तथा बन्दरगाहों का रणपोतों द्वारा ऐसा घेरा डालना है कि दूसरे देशों के साथ उनका व्यापारिक सम्पर्क पूर्णरूप से विच्छिन्न हो जाय, इसका लक्ष्य न केवल शत्रुदेश में आयात होने वाली वस्तुओं का प्रवेश बन्द करना है, अपितु यहाँ से दूसरे देशों को निर्यात होने वाली वस्तुओं के निर्गमन को भी रोकना है। विनिषिद्ध के आवश्यक तत्व—वस्तुओं का स्वरूप तथा विरोधी गम्यस्थान (Enemy destination) हैं। इसका उद्देश्य युद्ध में सहायता देने वाली तथा शत्रु के देश को जाने वाली सामग्री को पकड़ना तथा छीन लेना है। इन दोनों में तीन महत्वपूर्ण भेद हैं।

पहला भेद यह है कि परिवेष्टन में इसके भंग पर सभी **व्यापारिक** जहाजों को पकड़ा जा सकता है, भले ही उन पर विनिषिद्ध वस्तुयें लदी हों या न लदी हों। विनिषिद्ध में केवल उन्हीं जहाजों का निग्रह हो सकता है जो ऊपर बताई गई विनिषिद्ध सामग्री का वहन कर रहे हों।

दूसरा भेद यह है कि दोनों के स्वरूप में मौलिक अन्तर है। परिवेष्टन में शत्रु के समुद्रतट और बन्दरगाहों तक पहुँचाने के सब मार्ग इस दृष्टि से बन्द कर दिये जाते हैं कि अन्य देशों के साथ उनका कोई सम्पर्क न रहे, किन्तु विनिषिद्ध में शत्रु को युद्ध में सहायता पहुँचाने वाला माल पकड़ लिया जाता है।

तीसरा भेद यह है कि परिवेष्टन प्रादेशिक दृष्टि से सीमित होता है, इसमें शत्रु के किसी विशेष समुद्रतट या बन्दरगाह पर घेरा डाला जाता है, अतः यह भौगोलिक प्रदेश की दृष्टि से मर्यादित होता है, किन्तु विनिषिद्ध पदार्थों या वस्तुओं की दृष्टि से सीमित होता है, इसमें रणसामग्री आदि कुछ निश्चित वस्तुओं का शत्रु तक पहुँचाना वर्जित होता है, अन्य वस्तुओं का शत्रु तक पहुँचाना निषिद्ध नहीं है। परिवेष्टन में शत्रु को सब प्रकार की वस्तुएँ भेजना वर्जित होता है।

प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों ने इन दोनों का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण कर दिया है कि अब इनमें कोई अन्तर नहीं रहा और ये लगभग निरर्थक हो गये हैं। आजकल युद्धों का रूप इतना व्यापक और विशाल हो गया है कि लगभग प्रत्येक वस्तु युद्धोपयोगी बन गई है। 'समग्र युद्ध' (Total war) के विचार ने लड़ाई की परिस्थितियों को बिल्कुल बदल दिया है। रबड़, पेट्रोल आदि युद्धोपयोगी वस्तुओं में आत्मनिर्भरता (Ersatz) प्राप्त करने के लिए इन्हें कृत्रिम रूप से बनाया जाने लगा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि विनिषिद्ध [illegible]

व्यापक हो गई है और यह परिवेष्टन का कार्य करने लगी है। स्मिथ ने लिखा है— "विनिषिद्ध का कानून परिवेष्टन का प्रयोजन पूरा करने लगा है, पहले परिवेष्टन की बड़ी संकीर्ण भौगोलिक सीमायें होती थीं, वर्तमान परिस्थितियों ने इसका अन्त कर दिया है। दो विश्वयुद्धों में दोनों पक्षों की ओर से जो कुछ किया गया है, उसका अर्थ केवल यही है कि शत्रु की आवश्यकतायें पूरी करने वाली समग्र व्यापारिक वस्तुओं को नष्ट करने का अधिकार दूसरे पक्ष को है, भले ही इन वस्तुओं का परिवहन तटस्थ देश का झण्डा फहराने वाला जहाज कर रहा हो और यह माल किसी भी देश से गुजर रहा हो।"[६] इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि परिवेष्टन का क्षेत्र शत्रु के विशेष समुद्रतट या बन्दरगाहों तक सीमित न रहकर, समुद्रों का सम्पूर्ण प्रदेश हो गया है। इस दृष्टि से परिवेष्टन का कानून विनिषिद्ध के कानून में सम्मिलित हो गया है। इसी तरह विनिषिद्ध के कानून की उपेक्षा करते हुए सभी जहाजों को पकड़ा जाने लगा है, भले ही उनमें विनिषिद्ध माल न लदा हुआ हो। 'समग्र युद्ध' की वर्तमान परिस्थिति में इन दोनों के अन्तर या भेद को बनाए रखना सम्भव नहीं रहा।

फेनविक ने लिखा है कि परिवेष्टन के कानून की भाँति विनिषिद्ध के कानून का अधिकांश भाग पहले विश्वयुद्ध में समाप्त हो गया था, इसका जो अंश शेष रहा था, उसकी समाप्ति दूसरे विश्वयुद्ध में हो गई।[७] सं० रा० अमरीका ने दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ होने से पहले ही यह प्रकट कर दिया कि उसने प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थ देशों के जिन अधिकारों की रक्षा के लिए बड़ा आग्रह किया था, अगले विश्वयुद्ध में वह उनकी सुरक्षा पर बल नहीं देगा, क्योंकि ऐसा करने का परिणाम युद्ध में सम्मिलित होना था। अमरीकी कांग्रेस ने कुछ व्यक्तियों के व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए 'महासमुद्रों की स्वतन्त्रता' के परित्याग का निश्चय किया, वह यह नहीं चाहती थी कि इनके स्वार्थों पर आंच आने के कारण ये अमरीका को युद्ध में पड़ने के लिए विवश करें। अतः १९३९ में जब ग्रेट ब्रिटेन और धुरी राष्ट्रों ने विनिषिद्ध पदार्थों की विस्तृत सूचियाँ प्रकाशित कीं तो सं० रा० अमरीका ने इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया।

अविच्छिन्न समुद्री यात्रा का सिद्धान्त (The Doctrine of Continuous Voyage)—तटस्थ देशों के जहाज विनिषिद्ध वस्तुओं का वहन करते हुए पकड़े जाने से बचने के लिए छलपूर्ण रीति से काम लेते हैं, वे अपनी यात्रा को दो हिस्सों में बाँट लेते हैं या विच्छिन्न कर लेते हैं, ऊपर से दिखावे के तौर पर उनका गम्यस्थान शत्रु का समीपवर्ती कोई तटस्थ बन्दरगाह होता है, उनके कागजों में यही दर्ज होता है। यहाँ पहुँचकर वे अपना माल उतार देते हैं, इसका तट-कर भी दे देते हैं और फिर यहाँ से इस माल को जहाज पर पुनः लादकर अपने असली गम्यस्थान—शत्रु के बन्दरगाह की ओर प्रयाण करते हैं। इसी प्रकार परिवेष्टन भंग करने के लिए भी इसी कपटपूर्ण रीति का अवलम्बन किया जाता है। परिवेष्टन समुद्रतट के निकट किसी बन्दरगाह तक माल पहुँचाकर, वहाँ से उसे किसी अन्य छोटी नौका या जहाज द्वारा शत्रु को पहुँचाने का

६. एच० ए० स्मिथ—दी क्राइसिस इन दी लॉ आफ नेशन्स, पृ० ५९

प्रयत्न किया जाता है। सं० रा० अमरीका के गृहयुद्ध के समय दक्षिणी राज्यों को माल पहुँचाने के लिए इस उपाय का अवलम्बन किया जाता था। उस समय यह माल पहले लन्दन, लिवरपूल आदि ब्रिटिश बन्दरगाहों से दक्षिणी राज्यों के समीपस्थ वैस्ट इंडीज़ के नासौ आदि बन्दरगाहों में ले जाया जाता था, यहाँ से दुबारा इन्हीं जहाजों में अथवा दूसरी नौकाओं पर लादकर दक्षिणी राज्यों को पहुँचाया जाता था।

तटस्थ देशों द्वारा इस प्रकार अपनी समुद्री यात्रा को दो भागों में विभक्त करके शत्रु को प्रच्छन्न रीति से माल पहुँचाना बन्द करने की दृष्टि से '**अविच्छिन्न समुद्री यात्रा के सिद्धान्त**' का विकास हुआ है। इसके अनुसार इस प्रकार परोक्ष रीति से माल पहुँचाने की दृष्टि से दो हिस्सों में बाँटकर की गई समुद्री यात्रा एक ही अविच्छिन्न यात्रा (Continuous Voyage) मानी जाती है। स्टार्क ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—"यह ऐसा साहसिक कार्य है, जिसमें माल का परिवहन पहले तो एक तटस्थ बन्दरगाह तक और पुनः वहाँ से किसी दूरवर्ती तथा विरोधी गम्यस्थान तक किया जाता है। इस सिद्धान्त में इन दोनों को शत्रु के गम्यस्थान तक एक ही परिवहन समझा जाता है और इसको वे सब परिणाम भोगने पड़ते हैं, जो तटस्थ बन्दरगाह बीच में न पड़ने पर भोगने पड़ते।"[८] सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि तटस्थ-बन्दरगाह की ओर जाते हुए भी इसके बारे में यह कल्पना की जाती है कि वह शत्रु के बन्दरगाह की ओर जा रहा है और यदि इस पर कोई विनिषिद्ध पदार्थ लदे होते हैं तो जहाज और माल को वैसे ही पकड़ लिया जाता है, जैसे शत्रु को विनिषिद्ध माल पहुँचाने वाले पोत का निग्रह किया जाता है। यदि एक ही जहाज तटस्थ बन्दरगाह में यात्रा भंग करके यह माल शत्रु को पहुँचाये तो इस यात्रा को एक ही मानते हुए इसे '**अविच्छिन्न यात्रा**' (Continuous Voyage) का सिद्धान्त कहते हैं, और यदि यह माल तटस्थ बन्दरगाह पर उतारकर अन्य नौकाओं या जहाजों द्वारा शत्रु को पहुँचाया जाय तो इसे **अविच्छिन्न परिवहन** (Continuous Transport) का सिद्धान्त कहते हैं। आपेनहाइम के मतानुसार[९] इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव १८वीं शती के अन्त में होने वाले एंग्लो-फ्रेंच युद्धों से हुआ है और यह **१७५६ के नियम** (Rule of 1756) को लागू करने का परिणाम था। आगे (पृ० ५८४ पर) इसका वर्णन किया जायेगा। इस नियम का यह अभिप्राय था कि उपनिवेशों के साथ व्यापार का एकमात्र अधिकार उन पर अधिकार रखने वाले राज्यों को है। फ्रांस ने सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६—६३) में हालैण्ड और स्पेन को भी अपने उपनिवेशों के साथ व्यापार की अनुमति दी, क्योंकि उसका अपना समुद्री बेड़ा निर्बल था। ब्रिटिश रणपोतों ने ऐसे जहाजों को शत्रु घोषित करते हुए पकड़ना शुरू किया। इससे बचने के लिए ये जहाज पहले अपना माल तटस्थ देश के बन्दरगाह में ले जाने लगे और वहाँ से इसे पुनः लादकर अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने लगे। **विलियम** (The William 1806) नामक जहाज के मामले में यह सिद्ध हुआ कि इस तटस्थ जहाज ने स्पेनिश बन्दरगाह ला गुइरा (La Guira) से उस समय तटस्थ सं० रा० अमरीका के

८. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ३६६
९. आपेनहाइम—इण्टरनेशनल लॉ, खं० २

मैसाचुसेट्स राज्य के बन्दरगाह के लिए माल लादा, वहाँ माल उतारने और चुंगी देने के बाद इस माल को अन्य माल के साथ पुनः लादा गया और यह जहाज स्पेन के बन्दरगाह बिल्बग्रो की ओर रवाना हुआ। ऐसे सभी उदाहरणों में ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय औपनिवेशिक बन्दरगाह से तटस्थ बन्दरगाह तक और यहाँ से शत्रु के बन्दरगाह तक एक ही अविच्छिन्न या अविरत यात्रा मानते थे और ऐसे जहाजों पर लदे माल को जब्त करने की आज्ञा देते थे। लार्ड स्टोवैल ने **'मेरिया'** (The Maria) नामक जहाज के मामले में इस सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन करते हुए कहा था—"यह स्वाभाविक रूप से निश्चित सिद्धान्त है कि यदि कोई जहाज केवल किसी बन्दरगाह पर कुछ समय के लिए रुकता है और उस देश के सामान्य माल में अपने माल के आयात द्वारा वृद्धि नहीं करता तो इससे उसकी समुद्री यात्रा में कोई अन्तर नहीं आयेगा, सभी दृष्टियों से इसे उस देश की अन्तिम बन्दरगाह तक की अविच्छिन्न यात्रा करने वाला समझा जाना चाहिए, जहाँ वह अपना माल पहुँचाने के प्रयोजन से जा रहा है।"

अमरीकन गृहयुद्ध में अनेक मामलों में सं० रा० अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय ने इस छलपूर्ण रीति से दक्षिणी राज्यों को सहायता पहुँचाने वाले जहाजों को दण्ड दिया तथा इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। १८६५ में **बरमूडा** (The Bermuda) नामक जहाज इंगलैण्ड से नासौ (वैस्ट इंडीज़) की यात्रा करते हुए पकड़ा गया। इस मामले में न्यायालय ने कहा—"जहाज के विद्रोही बन्दरगाह तक पहुँचने का गम्यस्थान प्रत्यक्ष (Direct) एवं परोक्ष (Ulterior) दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु इससे इस विषय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। गम्यस्थान के प्रश्न पर इस बात का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि इस माल को नासौ में उतारा जा रहा है, बशर्ते कि वहाँ से इसे पुनः लादा जाना हो। यह इस माल के परिवहन की अविच्छिन्नता (Continuity of Transport) को भंग नहीं कर सकता। **तटस्थ देश से रवानगी और युद्धकारी देश के गम्यस्थान के बीच में एक तटस्थ बन्दरगाह को डालना विनिषिद्ध सामग्री ले जाने वालों तथा परिवेष्टन तोड़ने वालों का प्रिय उपाय रहा है।** किन्तु जब उनके अन्तिम गम्यस्थान का निश्चय हो जाय तो इससे उन्हें कोई लाभ नहीं मिल सकता। एक स्थान से दूसरे स्थान तक की ढुलाई तब तक अविच्छिन्न या अविरत बनी रहती है, जब तक इसे एक निश्चित स्थान तक ले जाने का **इरादा** अपरिमित रूप से बना रहता है, भले ही इसे ले जाने वाला जहाज रास्ते में कई स्थानों पर रुके और अपना माल उतारे।" १८६६ में अमरीकी गृहयुद्ध के समय **पीटरहाफ** (Peterhoff) नामक ब्रिटिश जहाज तटस्थ देश मेक्सिको के बन्दरगाह मेटामोरोस (Metamoros) की यात्रा कर रहा था। यह बन्दरगाह दक्षिणी राज्यों की सीमा के बिल्कुल साथ लगा हुआ था, रिया ग्रान्दे नदी पर इसके बिल्कुल सामने टैक्सास राज्य का ब्रौन्सविले नामक नगर था। इस पर युद्धोपयोगी सामान लदा हुआ था। तटस्थ बन्दरगाह को जाते हुए भी इस जहाज को पकड़ लिया गया और इसका युद्धोपयोगी सामान जब्त कर लिया गया। इस विषय का एक अन्य सुप्रसिद्ध उदाहरण **स्प्रिंगबोक** (Springbok) है। यह ब्रिटिश जहाज १८६६ में बहामा टापुओं में नासौ के तटस्थ बन्दरगाह को सामान ले जाता हुआ पकड़ा गया।

सं० रा० अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय ने इसे इस आधार पर दण्डित किया कि इसमें लदे हुए माल से यह प्रतीत होता है कि इस माल का अन्तिम लक्ष्य कोई परिवेष्टित (Blockaded) बन्दरगाह था। "उनका कहना था, हमें इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवेष्टन तोड़ने के इरादे से ही इस जहाज पर माल लादा गया था। इस माल के मालिकों का यह इरादा था कि नासौ में इसे उतारकर ऐसे छोटे जहाज में लाद दिया जाय, जो इस बड़े जहाज की अपेक्षा अधिक सुरक्षा के साथ माल को परिवेष्टित बन्दरगाह में पहुँचा सके। अतः कानून और पार्टियों के इरादे की दृष्टि से लन्दन से परिवेष्टित बन्दरगाह तक की यात्रा एक ही है और यदि यह अपनी यात्रा आरम्भ करने के बाद इसके किसी हिस्से में पकड़ा जाता है तो इसे दण्डित किया जा सकता है।"

इस निर्णय की तटस्थ देशों द्वारा इस आधार पर कटु आलोचना की गई कि इससे तटस्थ देशों के अधिकारों का अपहरण होता है, परिवेष्टन का प्रभाव तटस्थ देशों के बन्दरगाहों पर पड़ता है, इससे न केवल शत्रु के, किन्तु तटस्थ देशों के बन्दरगाह भी परिवेष्टित हो जाते हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था' की एक समिति ने इस निर्णय को 'तटस्थ देशों के अधिकारों पर गम्भीर आक्रमण' बताया। किन्तु 'ऐसे आक्रमण' जारी रहे। बोअर युद्ध के समय १९०० में ब्रिटिश क्रूज़रों ने पुर्तगाल के डेलगओ खाड़ी के तटस्थ बन्दरगाहों को जाते हुए तीन जर्मन जहाज Bundesrath, Herzog तथा General इस आधार पर पकड़ लिये कि ये बोअरों के लिए विनिषिद्ध सामग्री ले जा रहे हैं। जर्मनी ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ये जहाज एक तटस्थ बन्दरगाह से दूसरे तटस्थ बन्दरगाह को जा रहे हैं, अतः इन्हें नहीं पकड़ा जा सकता। ब्रिटिश सरकार का यह दावा था कि ऐसा होते हुए भी इन पर ऐसी युद्धसामग्री लदी हुई थी, जिसका अन्तिम लक्ष्य उसके शत्रुप्रदेश में पहुँचना था, अतः उसका कार्य सर्वथा न्यायोचित था।

अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त फ्रांस ने क्रीमिया के युद्ध में, सं० रा० अमरीका ने अपने गृहयुद्ध में तथा ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिणी अफ्रीका के बोअर युद्ध में स्वीकार एवं लागू किया, किन्तु योरोप के अन्य देश इसे स्वीकार नहीं करना चाहते थे। लन्दन सम्मेलन में इस विषय में दोनों पक्षों में तीव्र मतभेद था। अन्त में **लन्दन घोषणा** में इस विषय में यह समझौता किया गया कि पूर्ण विनिषिद्ध (Absolute contraband) के परिवहन के बारे में अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त पूरी तरह लागू किया जाय, किन्तु सापेक्ष विनिषिद्ध सामग्री के परिवहन के सम्बन्ध में इसे कुछ अपवादों को छोड़कर बिल्कुल लागू न किया जाय। इस घोषणा में यह भी कहा गया कि जहाज या माल का अन्तिम लक्ष्य या गम्यस्थान भले ही कुछ हो, किन्तु यदि वह किसी अपरिवेष्टित (Non-blockaded) बन्दरगाह की यात्रा कर रहा है, तो उसे नहीं पकड़ा जा सकता। इस घोषणा का राज्यों ने अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया और दोनों विश्वयुद्धों में इस नियम की अवहेलना होती रही। निम्न उदाहरणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायेगा।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर नवम्बर १९१४ में ग्रेट ब्रिटेन ने न्यूयार्क से कोपनहेगन जाते हुए नार्वे तथा स्वीडन के किम (Kim) तथा कुछ अन्य जहाजों को पकड़ लिया (देखिये ऊपर पृ० ५७५)। किम पर खालें और रबड़ लदा हुआ था। सर सेमुअल

इवान्स ने किम के मामले में निर्णय देते हुए कहा था—"समुद्री एवं स्थलीय मार्ग द्वारा ढुलाई के विषय में अविच्छिन्न यात्रा या परिवहन का सिद्धान्त वर्तमान युद्ध आरम्भ होते ही राष्ट्रों के कानून का अंग बन चुका है, यह स्वीकार किये जाने वाले कानूनी निर्णयों के सिद्धान्तों के अनुकूल है। आधुनिक विधिशास्त्रियों में अधिकांश विद्वान इससे सहमत हैं तथा यह आधुनिक समुद्री युद्ध में राज्यों द्वारा पालन किये जाने वाले आचरण के अनुरूप है।" इस मामले में इस सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन करते हुए यह नियम जल एवं स्थल दोनों भागों द्वारा शत्रु को पहुँचायी जाने वाली विनिषिद्ध सामग्री के बारे में लागू किया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने अनेक सरकारी आदेशों द्वारा अविच्छिन्न समुद्री यात्रा के सिद्धान्त को मान्यता दी। ६ जुलाई १९१६ के 'समुद्री अधिकार सपरिषद् आदेश' (Maritime Rights Order-in-Council) में लन्दन घोषणा की उपर्युक्त व्यवस्था (पृ० ५८३) का परित्याग करते हुए बड़े सरल और स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया था—"अविच्छिन्न समुद्री यात्रा अथवा अन्तिम गम्यस्थान (Ultimate destination) का सिद्धान्त विनिषिद्ध तथा परिवेष्टन के दोनों मामलों में क्रियान्वित किया जायेगा।" १९१७ में **बाल्टो** (Balto) के मामले में यह कच्ची खालों के बारे में भी लागू किया गया। स्वीडन का बाल्टो जहाज बोस्टन से गोथनबर्ग खालें ले जा रहा था। स्वीडन उस समय तटस्थ देश था, फिर भी ब्रिटिश रणपोतों ने उसे पकड़ लिया। खालों के स्वामी का यह कहना था कि इस पर अविच्छिन्न यात्रा का सिद्धान्त नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह माल एक तटस्थ देश से दूसरे तटस्थ देश को भेजा जा रहा है और यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इसका चरम लक्ष्य जर्मनी है। ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि ये खालें बूट बनाने के लिए ले जायी जा रही हैं, ये बूट जर्मनी की सेनाओं के लिये भेजे जायेंगे। इस आधार पर उसने बाल्टो का माल जब्त कर लिया।

१७५६ के युद्ध का नियम (Rule of the War of 1756)—इसका अविच्छिन्न यात्रा के सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त की उत्पत्ति इस नियम से हुई है। इंगलैण्ड और फ्रांस के सप्तवर्षीय (१७५६–६३) युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन के समुद्री बेड़े की प्रबलता के कारण फ्रांस के लिए अपने उपनिवेशों के साथ फ्रेंच पोतों द्वारा व्यापार करना सम्भव न रहा। उसने हालैण्ड को यह व्यापार करने का अधिकार दिया। ग्रेट ब्रिटेन को यह सह्य नहीं था। उसने डच जहाजों को उन पर लदे माल के साथ पकड़ना शुरू किया। इन परिस्थितियों में इस नियम का प्रादुर्भाव हुआ। इस नियम के अनुसार शान्तिकाल में उपनिवेश तथा उसके संस्थापक मातृदेश (Mother Country) में व्यवहार का एकमात्र अधिकार मातृदेश के जहाजों को होता है, अतः युद्ध के समय कोई तटस्थ देश किसी मातृदेश और उसके उपनिवेशों के बीच कोई व्यापारिक परिवहन नहीं कर सकता। १७९९ में लार्ड स्टोवैल ने **इम्मेनुएल** (Immanuel) के मामले में इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा था—"जब तटस्थ देशों को शान्तिकाल में किसी तटीय या औपनिवेशिक व्यापार में भाग लेना वर्जित हो तो युद्धकाल में ऐसा व्यापार करने वाले तटस्थ पोत शत्रु के व्यापारिक जलपोतों में

सम्मिलित समझे जायेंगे।" सं० रा० अमरीका तथा जापान ने बाद में १७५६ के नियम को स्वीकार किया। १६०६ की लन्दन घोषणा ने इस विषय में कोई विचार नहीं प्रकट किया।

निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (The Right of Visit and Search) —तटस्थ जहाजों द्वारा परिवेष्टन तथा विनिषिद्ध के नियमों का भंग रोकने के लिये युद्धकारी राष्ट्रों को यह अधिकार दिया जाना आवश्यक है कि महासमुद्रों में वे इनका निरीक्षण कर सकें और इनकी तलाशी ले सकें। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में युद्धकारी देशों का ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाता है, यही उनका निरीक्षण और तलाशी का अधिकार (Right of visit and search) है। आपेनहाइम ने इसका लक्षण करते हुए लिखा है[10] कि "यह तटस्थ व्यापारिक जहाजों का इस उद्देश्य से निरीक्षण का तथा आवश्यकता पड़ने पर तलाशी लेने का अधिकार है कि ये जहाज वस्तुतः तटस्थ देशों के व्यापारिक पोत हैं, ये परिवेष्टन तोड़ने का, विनिषिद्ध सामग्री ले जाने का या अतटस्थ सेवा (२८वाँ अध्याय) का कार्य नहीं कर रहे।···इसके अस्तित्व का कारण इतना स्पष्ट है कि चिरकाल से, सार्वभौम रूप से, व्यवहार में इसे स्वीकार किया जा रहा है। युद्धकारियों (Belligerents) के पास केवल मात्र यही एक साधन है, जिससे वे यह जानने में समर्थ हो सकते हैं कि क्या तटस्थ व्यापारिक पोत शत्रु को सहायता पहुँचाने का या उसकी अतटस्थ सेवा करने का इरादा रखते हैं।" बिन्करशोयेक के कथनानुसार— "यह सर्वथा वैध है कि एक तटस्थ जहाज को रोककर यह निश्चय किया जाय कि वह केवल अपनी ध्वजा के कारण ही तटस्थ नहीं है, क्योंकि इसे कपटपूर्ण रीति से लगाया जा सकता है। किन्तु जहाज पर विद्यमान लेखपत्रों (Documents) के आधार पर भी वह वस्तुतः तटस्थ है।"

यह अधिकार युध्यमान देशों के रणपोतों (Warships) को ही होता है। वे इसका प्रयोग युद्ध छिड़ने के बाद और इसकी समाप्ति से पूर्व ही कर सकते हैं। युद्ध बन्द हो जाने के बाद या शान्तिकाल में उन्हें ऐसा कोई अधिकार नहीं रहता। इस अधिकार का प्रयोग युध्यमान देशों के प्रादेशिक समुद्रों में अथवा महासमुद्र (Open sea) में ही हो सकता है। तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्र में निरीक्षण या तलाशी का कार्य नहीं हो सकता। इस अधिकार का प्रयोग केवल व्यापारिक और वैयक्तिक (Private) जहाजों पर होता है, तटस्थ देशों के सार्वजनिक (Public) तथा रणपोतों (Men of War) का निरीक्षण और तलाशी नहीं ली जा सकती। डाक ले जाने वाले जहाजों के विषय में कानूनी स्थिति स्पष्ट नहीं है। यदि इनके नायक या कप्तान नौसेना के अधिकारी होते हैं तो इन्हें रणपोत समझकर इस अधिकार के प्रयोग से मुक्त कर दिया जाता है।

निरीक्षण की प्रक्रिया (The Procedure of Visit)—इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ निश्चित नियम नहीं हैं। प्रायः इस सम्बन्ध में १६५६ की **पिरेनीज**

१० आपेनहाइम—इंटरनेशनल लॉ, खं० २, पृ० ८४८

की शान्ति-संधि के अनुच्छेद १७ को आदर्श समझा जाता है। इसी के आधार पर अनेक समुद्री राज्य अपने रणपोतों को निर्देश देते हैं। अतः इस सम्बन्ध में बहुत अंशों में लगभग एक जैसी प्रक्रिया और औपचारिक विधियाँ सब देशों में पाई जाती हैं। जब युद्धकारी देश का कोई रणपोत तटस्थ व्यापारिक पोत का निरीक्षण करना चाहता है तो वह पहले उसे रोकता है। रोकने से पहले भले ही उसने झूठा झण्डा लगा रखा हो, किन्तु इसे रोकते समय उसे अपने देश का सच्चा झण्डा लगा लेना चाहिए। रोकने का आदेश एक-दो खाली कारतूस छोड़कर दिया जाता है, इस पर भी यदि वह न रुके तो रणपोत को इसे रुकवाने के लिए आवश्यक बल प्रयोग का अधिकार है। इसके रुक जाने पर रणपोत से एक या दो अधिकारी नौका द्वारा व्यापारिक पोत पर इसके निरीक्षण के लिए भेजे जाते हैं। ये जहाज की राष्ट्रीयता तथा उसके माल और सवारियों के स्वरूप के निश्चित करने का तथा उस जहाज के आने-जाने के तथा रुकने के बन्दरगाहों का पता लगाने के लिए उसके कागजों की जाँच करते हैं। बहुधा इस प्रकार के निरीक्षण के लिये व्यापारिक पोत के कप्तान को उसके जहाज के सब कागजों के साथ रणपोत पर बुला लिया जाता है। जहाज के मुख्य कागज ये हैं—उसकी रजिस्ट्री का प्रमाणपत्र, उस पर काम करने वाले अधिकारियों तथा अन्य व्यक्तियों की दैनिक उपस्थिति की नामावली (Muster Roll), सरकारी दैनिक नौविवरण पंजिका (Logbook), माल का विवरण पत्र, माल के वहनपत्र (Bills of lading), यदि किसी व्यक्ति ने जहाज किराये (Charter) पर लिया हो तो उसका प्रमाणपत्र। यदि इन सब पत्रों के निरीक्षण के बाद सब बातें सही पाई जाती हैं, किसी कपट-व्यवहार का संदेह नहीं होता तो जहाज को आगे बढ़ने दिया जाता है और उसकी विवरण पंजिका में निरीक्षण की बात अंकित कर दी जाती है। किन्तु यदि जहाज के कागजों के निरीक्षण से इस बात का संदेह हो कि वह विनिषिद्ध सामग्री ले जा रहा है तो उसे रोककर उसकी तलाशी ली जाती है।

तलाशी (Search)—यह समुद्र में रणपोत के एक या दो अधिकारियों द्वारा व्यापारिक पोत के कप्तान की उपस्थिति में ली जाती है। इसे लेते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि इससे जहाज को या माल को कोई हानि न पहुँचे। इसमें बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, कोई ताला जबर्दस्ती या तोड़कर नहीं खोला जाना चाहिए। व्यापारिक पोत के कप्तान का यह कर्त्तव्य है कि वह सब ताले खुलवाये, किन्तु उसे ताले खुलवाने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। यदि वह ताले नहीं खुलवाता तो यह जहाज को तथा उसके माल को पकड़ने का पर्याप्त कारण समझा जाता है। तलाशी लेने के बाद यदि कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं मिलती तो उसकी विवरण पंजिका में यह बात अंकित करके उसे आगे बढ़ने दिया जाता है। किन्तु यदि इस पर विनिषिद्ध सामग्री लदे होने का प्रमाण मिल जाता है तो इसे पकड़कर अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाता है। यदि इस पर विनिषिद्ध सामग्री लदे होने का संदेह होता है तो इसके निराकरण के लिए तथा पूरी तलाशी के लिए इसे रणपोत किसी बन्दरगाह में ले जाता है। किन्तु रणपोत के नायक को ऐसा करते समय इस बात का

ध्यान रखना चाहिए कि यदि अन्त में अधिग्रहण न्यायालय द्वारा यह जहाज निर्दोष घोषित किया गया तो उसे इस प्रकार रोकने से हुई क्षति का पूरा मुआवजा देना पड़ेगा। अतः समुद्र में तलाशी लेने के बाद जब संदेह करने के प्रबल कारण और आधार विद्यमान हों, तभी व्यापारिक पोत को पकड़ना उचित है।

तलाशी के लिये जहाजों को बन्दरगाहों में लाना—पहले तटस्थ देशों के व्यापार में अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकने की दृष्टि से मिरीक्षण और तलाशी के अधिकार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों में 'समग्र युद्ध' (Total War) की आवश्यकताओं के आधार पर युद्धकारी पक्षों ने इन प्रतिबन्धों की घोर उपेक्षा और अवहेलना की। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यह नियम था कि निरीक्षण और तलाशी के बाद ही तटस्थ जहाज पकड़ा जाय, तलाशी महासमुद्र में ही ली जाय। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने तटस्थ पोतों को संदेह के कोई प्रमाण न होने पर भी पकड़कर पूरी तलाशी लेने के लिये अपने बन्दरगाहों में भेजना आरम्भ किया। सं० रा० अमरीका इस समय तक युद्ध में तटस्थ था। उसने महासमुद्र में तलाशी लिए बिना, अपने जहाजों को पकड़कर बन्दरगाहों में भेजने का प्रबल प्रतिवाद किया। ब्रिटिश सरकार ने अपनी कार्यवाही के समर्थन में तीन मुख्य युक्तियाँ उपस्थित कीं—(क) वर्तमान भार-वाही जहाजों का आकार और परिमाण बहुत बढ़ गया है, इनमें विनिषिद्ध सामग्री को छिपाकर ले जाने की अधिक संभावनायें हैं। इनकी तलाशी बड़ी जटिल, कठिन और बहुत समय लेने वाली प्रक्रिया है। अतः यह कार्य खुले समुद्र में नहीं किया जा सकता। (ख) पनडुब्बियों के विकास के कारण समुद्र में रणपोतों द्वारा तलाशी लेना बड़ा संकट-पूर्ण हो गया है। (ग) अमरीकन गृह-युद्ध में, रूस-जापान युद्ध में तथा दूसरे बाल्कान युद्ध में तटस्थ जहाजों को बन्दरगाहों में ले जाकर तलाशी ली जाती रही है। तटस्थ जहाजों को इस प्रकार होने वाली असुविधाओं और कठिनाइयों से मुक्त करने के लिये १६१६ में नौप्रमाणपत्रों (Navicerts) की प्रणाली स्वीकार की गई।

नौप्रमाणपत्र (Navicerts)—ये प्रमाणपत्र तटस्थ देश में निवास करने वाले युद्धकारी देशों के राजदूतों या वाणिज्यदूतों द्वारा जारी किये जाते हैं, इनमें यह प्रमाणित किया जाता है कि इस जहाज पर लदा हुआ माल सर्वथा निर्दोष है, अतः इसे पकड़ना या जब्त नहीं करना चाहिए। ऐसा प्रमाणपत्र होने पर युद्धकारी देश इस प्रकार के जहाज को तलाशी के लिये नहीं रोकते थे। यह तटस्थ जहाजों के लिये बड़ी सुविधा-जनक व्यवस्था थी। इसका आरम्भ १५६० में रानी एलिजाबेथ की सरकार द्वारा किया गया था, किन्तु व्यापक रूप से प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध में १६१६ से शुरू हुआ। १६३६ में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर इसका खूब प्रयोग हुआ तथा ऐसा प्रमाणपत्र रखनेवाले जहाज को तलाशी से मुक्त समझा जाता था। जून १६४० में जर्मनी द्वारा फ्रांस, हालैण्ड और बेल्जियम पर अधिकार करने बाद ग्रेट ब्रिटेन ने नौप्रमाणपत्र की व्यवस्था को कठोरतापूर्वक लागू किया। पहले नौप्रमाणपत्र का अभाव मात्र किसी तटस्थ पोत के पकड़े जाने और दण्डित होने का पर्याप्त कारण नहीं था। किन्तु ३१ जुलाई १६४० को प्रकाशित किये गये ग्रेट ब्रिटेन के 'प्रत्यपहार सपरिषद् आदेश' (Reprisals Order-

in-Council) का यह प्रभाव हुआ—(क) यदि किसी माल के साथ नौप्रमाणपत्र न हों तो इसे पकड़ा और जब्त किया जा सकता था। (ख) नौप्रमाणपत्र न होने की दशा में यह कल्पना की जा सकती थी कि यह माल शत्रु के देश को भेजा जा रहा है। यद्यपि इस आदेश ने तटस्थ पोतों के लिये स्पष्ट शब्दों में नौप्रमाणपत्र का लेना अनिवार्य नहीं बनाया। किन्तु अब इनके बिना माल ले जाने वालों का खतरा बहुत बढ़ गया तथा अपने माल को निर्दोष सिद्ध करने का उत्तरदायित्व उन पर आ गया। इस आदेश की तटस्थ देशों द्वारा कटु आलोचना की गई, किन्तु स्टार्क ने यह कहा है कि इसका समर्थन प्रत्यपहार (Reprisals, दे० ऊपर अध्याय २०) के वैध कार्य के रूप में किया जा सकता है, इसका उद्देश्य परिवेष्टन को सरल बनाना, शत्रु पर अधिक दबाव डालना और समूचे व्यापार का अनुमतिपत्रों की प्रणाली (System of Passes) द्वारा नियन्त्रण करना था।[11]

निरीक्षण व तलाशी के मामले (Cases of Visit and Search)—निरीक्षण और तलाशी के अधिकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण अनेक मामलों में हुआ है। इसका पहला सुप्रसिद्ध उदाहरण **मेरिया** (Maria) का है। यह स्वीडन का व्यापारिक जहाज था। १७९९ में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन की लड़ाई के समय यह स्वीडिश रक्षक बेड़े (Convoy) के संरक्षण में जा रहा था। ब्रिटिश बेड़े ने मेरिया की तलाशी लेनी चाही, रक्षक बेड़े द्वारा इसका विरोध करने पर मेरिया को पकड़ लिया गया। इसे दण्डित करते हुए लार्ड स्टोवैल ने इस विषय में निम्न तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

(१) युद्धकारी देश के रणपोतों को निर्विवाद रूप से यह अधिकार है कि वे महासमुद्र में किन्हीं जहाजों का तथा उनके माल का निरीक्षण कर सकें और तलाशी ले सकें। "मैं कहता हूँ कि जहाजों का, माल का तथा गम्यस्थानों का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, जब तक इनका निरीक्षण और तलाशी नहीं होती, तब तक इनका ज्ञान नहीं होता। इन बातों को निश्चित करने का प्रयोजन पूरा करने के लिए निरीक्षण और तलाशी के अधिकार की आवश्यकता है।"

(२) यदि इस मामले में तटस्थ देश के पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign) को डाल दिया जाय तो भी युद्धकारी देश के विधिपूर्वक अधिकृत रणपोत द्वारा इसके निरीक्षण और तलाशी के अधिकार में कोई अन्तर नहीं आता।

(३) इस अधिकार के हिंसापूर्ण प्रतिरोध का परिणाम इस प्रकार निरीक्षण और तलाशी से बचाई जाने वाली सम्पत्ति और माल का जब्त कर लेना है। स्टोवैल के इस निर्णय से तटस्थ देशों का भयभीत और चिन्तित होना स्वाभाविक था। बाल्टिक सागर के देशों द्वारा १८०० में दूसरी सशस्त्र तटस्थता (देखिये ऊपर पृ० ५३०) की सन्धि का एक प्रेरक कारण यह भी था।

न्यायाधीश स्टोरी (Story) ने The Marianna Flora के मामले में यह कहा था कि युद्ध के समय राष्ट्रों की सामान्य सहमति द्वारा निरीक्षण और तलाशी का अधिकार स्वीकार किया जाता है और यह केवल युद्धकाल के लिए ही होता है। पंच-

११. स्टार्क—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ

निर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) ने कार्थेज (Carthage) के मामले में इस अधिकार को स्वीकार करते हुए कहा था—"सार्वभौम रूप से स्वीकार किये गये सिद्धान्तों के अनुसार, एक युद्धकारी देश के रणपोत को, सामान्य नियम के रूप में, यह अधिकार प्राप्त है कि वह तटस्थ देश के व्यापारिक पोत को खुले समुद्र में रोके तथा यह देखने के लिए उसकी तलाशी ले कि वह तटस्थता के नियमों, विशेषतः विनिषद्ध के नियमों का पालन कर रहा है।"

प्रथम परिशिष्ट

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्वपूर्ण मामले

इस पुस्तक में अनेक स्थलों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनविषयक विभिन्न मामलों या वादों (Cases) का उल्लेख किया गया है और अनेक न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों का निर्देश किया गया है। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण मामलों में किये गये निर्णयों की चर्चा इनका स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से कुछ विस्तार से की जा रही है। प्रत्येक मामले के नामोल्लेख के बाद कोष्ठक में निर्णय किये जाने के वर्ष का तथा उसके विषय का निर्देश किया गया है। यहाँ पहले विदेशों के न्यायालयों द्वारा तथा बाद में भारतीय न्यायालयों द्वारा निर्णीत मामले दिये गये हैं।

(क) विदेशी न्यायालयों के मामले

(१) **चुंग ची चेउंग** *विरुद्ध* **राजा** (१९३६)—**(प्रादेशिक समुद्र में सार्वजनिक जहाजों पर अदालतों का क्षेत्राधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)।**

चुंग ची चेउंग (Chung Che Cheung) नाम का एक व्यक्ति चीन के सशस्त्र सार्वजनिक जलपोत (Armed Public Vessel) पर काम करने वाला नौकर था। जब यह जहाज हांगकांग के ब्रिटिश टापू के प्रादेशिक समुद्र (Territorial waters) में था तो चुंग ने इस जहाज के कप्तान डगलस कैम्पबैल पर गोली चलाकर उसे मार डाला। इसके बाद उसने जहाज के स्थानापन्न मुख्याधिकारी पर गोली चलाकर उसे घायल किया। मुख्याधिकारी ने जहाज को फौरन तेज रफ्तार से हांगकांग वापिस ले जाने को कहा और यहाँ पहुँचने पर अपराधी को गिरफ्तार करवा दिया गया। इस मामले में हत्यारा और मृत व्यक्ति दोनों ब्रिटिश प्रजाजन थे, किन्तु चीनी सरकार के सशस्त्र जहाज पर काम करने के कारण चीनी सरकार की सेवा में थे।

चीनी अधिकारियों ने इस मामले में हत्यारे को उन्हें सौंप देने (Extradition) की माँग की। किन्तु यह प्रार्थना दो कारणों से अस्वीकृत कर दी गई। **पहला** कारण यह था कि इस विषय में अपील करने वाला ब्रिटिश नागरिक था। **दूसरा** कारण यह था कि यह हत्या हांगकांग के प्रादेशिक समुद्र अर्थात् ब्रिटिश प्रदेश में हुई थी। हत्यारे पर हांगकांग की एक अदालत में मुकद्दमा चलाकर उसे प्राणदण्ड दिया गया। हत्यारे का यह दावा स्वीकार नहीं किया गया कि चीनी सरकार की सेवा में होने के कारण हांगकांग के न्यायालयों को उसका मामला सुनने का अधिकार नहीं है। इस पर अभियुक्त ने इस निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की [illegible]

नहीं हुई।

इस अपील में प्रिवी कौंसिल के सामने मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या स्थानीय ब्रिटिश न्यायालय को दूसरे देशों के सार्वजनिक जहाजों पर उस समय में किये गये अपराधों के मुकद्दमे सुनने का अधिकार है, जब कि वे जहाज ग्रेट ब्रिटेन के प्रादेशिक समुद्र में हों। प्रिवी कौंसिल का यह निर्णय था कि इन्हें सइ प्रकार का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) है और इसे अस्वीकार करने का कोई वैध कारण नहीं है।

इस मामले में निर्णय सुनाते हुए लार्ड एटकिन (Atkin) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर प्रकाश डालते हुए कहा—"यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ तक इस देश के न्यायालयों का सम्बन्ध है अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस समय तक वैध नहीं है जब तक कि हमारे अपने देश का घरेलू (Domestic) कानून उसके सिद्धान्तों को स्वीकार एवं ग्रहण न करे। कोई ऐसी बाह्य शक्ति नहीं है जो हमारे मौलिक कानून (Substantive Law) पर अथवा कानूनी प्रक्रिया पर अपने नियमों को थोप सके। हमारी अदालतें एक ऐसे नियमसमूह की सत्ता मानती हैं, जिसे विभिन्न राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार के लिए स्वीकार करते हैं। न्याय सम्बन्धी किसी विवादास्पद प्रश्न पर अदालतें यह निश्चित करने का प्रयत्न करती हैं कि इस विषय में क्या नियम है। इसे जान लेने के बाद वे इसे उस समय तक अपने घरेलू या देशीय कानून का अंग मानेंगी जब तक कि यह नियम पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये कानूनों से असंगत न हो और अदालतों द्वारा ऐसा घोषित न किया जाय। इस अवस्था में यह प्रश्न विचारणीय है कि हमारे न्यायालयों ने दूसरे देशों के सार्वजनिक जहाजों के लिए अपने अदालतों के क्षेत्राधिकार से कौनसी छूटें या उन्मुक्तियाँ (Immunities) स्वीकार कर रखी हैं और ये किन सिद्धान्तों पर आधारित हैं?

"क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के विषय में दो सिद्धान्त लोकप्रिय हुए हैं। पहला सिद्धान्त यह है कि एक राष्ट्र के सार्वजनिक जहाज को सब प्रयोजनों के लिए उस राष्ट्र के प्रदेश का एक हिस्सा समझना चाहिये। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो किसी देश के न्यायालयों को उसके प्रादेशिक समुद्र में विद्यमान अन्य देशों के जहाजों पर होने वाले अपराधों के मामले सुनने का क्षेत्राधिकार नहीं है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि दूसरे देश के प्रादेशिक समुद्र में सार्वजनिक जहाज (Public Ship) को उस पर स्वामित्व रखने वाले राष्ट्र का प्रदेश नहीं समझा जाना चाहिये, देशीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुसार जहाज को, इसके नाविक-वर्ग को तथा इसके सामान को कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान करेंगे। इनमें कुछ उन्मुक्तियों का स्वरूप निश्चित हो चुका है, कुछ अभी तक विवादग्रस्त हैं। इस विचार के अनुसार इन उन्मुक्तियों का आधार कोई स्थूल राज्यक्षेत्रबाह्यता (Exterritoriality) नहीं है, किन्तु यह उस देश के कानून के ध्वनितार्थों (Implications) पर आश्रित है। उन्मुक्तियाँ कुछ शर्तों के साथ होती हैं और इस जहाज पर स्वामित्व रखने वाला देश इनका परित्याग भी कर सकता है।"

"न्यायाधीशों को इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि दूसरा सिद्धान्त ठीक है। यह अधिक शुद्ध एवं तार्किक दृष्टि से, राष्ट्रों के उस समझौते को व्यक्त करता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करता है। यह प्रत्येक देश की एक सबसे बड़ी आवश्यकता के अनुरूप है, यह आवश्यकता अपने देश की सीमाओं में अपराधियों पर अभियोग चलाकर तथा उन्हें दण्डित करके आन्तरिक अव्यवस्था से देश की रक्षा करना है।"

"सच्चा दृष्टिकोण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रथाओं के अनुसार किसी प्रदेश में सम्पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाला प्रभु (Sovereign) विदेशी राजाओं को, उनके दूतों को सार्वजनिक जहाजों को और इन द्वारा ले जायी जाने वाली नौसेना को अपनी कानूनी प्रक्रिया से कुछ उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्रदान करता है। जब किसी स्थानीय न्यायालय के सामने उन्मुक्तियों के विषय में कोई प्रश्न आये तो उसे यह निश्चित करना है कि इस मामले में उन्मुक्ति या छूट की सत्ता है या नहीं। यदि न्यायालय को यह निश्चय हो कि इसकी सत्ता है तो वह इसे अपने उपक्रम (Initiative) पर क्रियात्मक रूप देगा। विदेशी राजा, उसके दूत, उसकी सम्पत्ति तथा उसके सशस्त्र जलपोतों पर कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती। ये उन्मुक्तियाँ भली भाँति सुनिश्चित हो चुकी हैं। विचारणीय मामला एक युद्धपोत के नाविक-वर्ग से सम्बन्ध रखता है। यह स्पष्ट है कि ऐसे जहाज के नाविक-वर्ग के आन्तरिक झगड़े कानूनी प्रक्रिया से छूट या उन्मुक्ति के अन्तर्गत हैं। जहाज पर नाविक-वर्ग के एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध किए गए अपराधों पर स्थानीय न्यायालयों का क्षेत्राधिकार नहीं है।"

"अत: जब हांगकांग के प्रादेशिक समुद्र में चीन के जंगी जहाज पर नाविक-वर्ग के एक व्यक्ति द्वारा एक अधिकारी की हत्या होती है, दूसरे की हत्या का प्रयत्न किया जाता है तो अपराध पर चीनी सरकार का क्षेत्राधिकार है। चीनी सरकार द्वारा अपराधी के प्रत्यर्पण की माँग बिल्कुल ठीक होती, अपराधी तथा मृत व्यक्ति के ब्रिटिश नागरिक होने से इस मामले में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि दोनों युद्धपोत के नाविक-वर्ग के सदस्य थे। किन्तु यदि यह प्रार्थना की ही नहीं गई और प्रत्यर्पण की प्रार्थना सफल नहीं हुई तो यह समझा जा सकता है कि चीनी सरकार इस बात के लिये सहमत हो गई कि ब्रिटिश न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करे और हांगकांग के ब्रिटिश न्यायालय को इस अपराध पर विचार करने का अधिकार है।"

(२) **वैस्ट रैण्ड गोल्ड माईनिंग कम्पनी** *विरुद्ध* **राजा** (१६०५)—(**अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून, राज्य का उत्तराधिकार**)।

वैस्ट रैण्ड ग्रेट ब्रिटेन में रजिस्टर्ड हुई एक ब्रिटिश कम्पनी थी। यह ट्रान्सवाल (दक्षिण अफ्रीका) में सोने की खुदाई का कार्य करती थी। इस कम्पनी के सोने के दो पार्सल तत्कालीन दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य (South African Republic) की डच सरकार के अधिकारियों ने पकड़ लिये। उस समय के कानून के अनुसार सरकार के लिये यह आवश्यक था कि वह या तो इस पार्सल को लौटा दे अथवा इसका मूल्य प्रदान करे।

यह घटना १८९१ में डचों तथा अंग्रेजों में बोअर युद्ध (Boer War) छिड़ने से पूर्व हुई। इस लड़ाई के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने डचों के दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य को जीत लिया, इसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। इसके बाद इस कम्पनी ने पुरानी डच सरकार के स्थान पर स्थापित नई ब्रिटिश सरकार को आवेदन-पत्र देकर उक्त दोनों पार्सलों के सोने को वापिस करने अथवा इसका मूल्य प्रदान करने की माँग की। कम्पनी का यह कहना था कि विजय के बाद इस प्रदेश में स्थापित ब्रिटिश सरकार पहली डच सरकार की उत्तराधिकारिणी है, उसने पहली सरकार के सब अधिकार और दायित्व (Obligation) भी उत्तराधिकार में प्राप्त किए हैं और उनका पूरा करना उसका कर्त्तव्य है।

किन्तु प्रिवी कौन्सिल ने कम्पनी की यह माँग रद्द कर दी और इसे अस्वीकार करते हुए प्रधान न्यायाधीश लार्ड एल्वरस्टोन ने अपने निर्णय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बड़ी सुन्दर व्याख्या की। "आवेदकों द्वारा उपस्थित किये गये विधिशास्त्रियों (Jurists) के ग्रंथों के विशिष्ट उद्धरणों पर विचार करने से पहले हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से विजेता राष्ट्र को विजित राष्ट्र के सभी दायित्वों का पूरा करना आवश्यक है। हमारा विचार है कि सैद्धान्तिक रूप से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। संधि करते समय विजय करने वाली शक्ति विजित देश के वित्तीय दायित्वों के सम्बन्ध में मनचाही शर्तें रख सकती है, यह पूर्ण रूप से उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह किन शर्तों का पालन करेगी। इस विषय में एकमात्र कानून सैनिक शक्ति का है। हमें इसका कोई कारण समझ नहीं आता कि चुप्पी का यह अर्थ क्यों लगाया जाय कि वह इस बात का सूचक है कि नई सरकार विजित राज्य की सरकार के साथ हुए वर्तमान सभी ठेकों या संविदाओं (Contracts) को स्वीकार करती है। अनेक मामलों में यह कहा जा चुका है कि एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को किसी प्रदेश के हस्तान्तर (Cession) का अभिप्राय यह कभी नहीं होता कि उस प्रदेश के व्यक्तियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई है। यदि ऐसे प्रदेश में सम्पत्ति का कुछ भाग कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को देता है, इसे गिरवी या रेहन पर रखता है, या इस पर कोई स्वत्व (Lien) पैदा हो जाता है, तो इससे उत्पन्न होने वाले विचारणीय प्रश्न उनसे सर्वथा भिन्न होते हैं, जिनमें यह विचार किया जाता है कि विजित राज्य के संविदा सम्बन्धी दायित्वों को विजेता राज्य कहाँ तक स्वीकार करता है। इन कारणों से हमारी यह सम्मति है कि आवेदकों के आवेदन-पत्र में माँगा गया कोई ऐसा अधिकार नहीं है, जिसे यह अथवा अन्य कोई न्यायालय ब्रिटिश सरकार से कम्पनी को दिलवा सके।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप पर तथा राष्ट्रीय (Municipal) कानून के साथ इसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए इस निर्णय में यह कहा गया था, "यह बिल्कुल सत्य है कि जिन नियमों को सब सभ्य देशों ने स्वीकृति प्रदान की है, उन्हें हमारे देश की स्वीकृति भी अवश्य मिल चुकी है। अन्य देशों के साथ हमने सामान्य रूप से जिन नियमों की स्वीकृति दी है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाता है। इस रूप में हमारे

राष्ट्रीय न्यायालय इन नियमों को स्वीकार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर इन्हें ल करते हैं। किन्तु इस प्रकार स्वीकार किया जाने वाला सिद्धान्त ऐसा होना चाहि जिसका आवश्यक रूप से पालन करना विभिन्न राष्ट्रों ने वस्तुत: स्वीकार किया हं लागू किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए यह आवश्यक है कि उसकी स सन्तोषजनक साक्षी द्वारा सिद्ध की जाय। इस साक्षी से यह प्रदर्शित होना चाहिये इस प्रकार के विशेष सिद्धान्त को हमारे देश ने स्वीकार कर लिया है या इसके अनुस आचरण किया है या वह सिद्धान्त इस प्रकार का है कि इसे इतने व्यापक और सामा रूप से स्वीकार किया जाता है कि इसके बारे में यह कल्पना नहीं की जा सकती कोई सभ्य राज्य इसे अस्वीकार करेगा। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिये सुविख्यात और विद्वान् विधिशास्त्रियों (Jurists) के विचार मात्र अपने-आपमें कि सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इ विचारों को या तो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का स्पष्ट समर्थन मिलना चाहिये या विभि राष्ट्रों के व्यवहारों (Practices) में बार-बार व्यावहारिक स्वीकृति द्वारा इन विचा का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंग के रूप में शनैः-शनैः विकास होना चाहिये।"

(३) दी पाक्वेट हबाना और लोला (१८६६)—(मछली पकड़ने वाले जहा और राष्ट्रों की प्रथायें)—१८६८ ई० में स्पेन और सं० रा० अमरीका में युद्ध चल रह था। इस समय एक अमरीकी रणपोत ने पाक्वेट हबाना (Paquete Habana) औ लोला (Lola) नामक दो जहाजों को पकड़ लिया, क्योंकि इन पर स्पेन का झण्ड फहरा रहा था और इनका स्वामी एक स्पेनिश नागरिक था। इन जहाजों पर किस प्रकार के हथियार या रणसामग्री नहीं किन्तु ताजी मछली लदी हुई थी; ये मछल का शिकार करने वाले जहाज थे। इन्हें इस बात का ज्ञान नहीं था कि दोनों देशों युद्ध-घोषणा हो चुकी है और इन देशों ने शत्रु का समुद्री यातायात रोकने के लिए परि वेष्टन (Blockade) डाल रखा है। इन जहाजों ने इस घेरे को तोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं किया, पकड़े जाने के समय किसी प्रकार का विरोध नहीं किया। इनसे शत्रु क किसी प्रकार की सहायता पहुँचने की संभावना नहीं थी। किन्तु इनका माल युद्ध मे अधिगृहीत (Prize) समझा गया और एक न्यायालय की आज्ञा द्वारा बेच दिया गया निचले न्यायालय की इस आज्ञा के विरुद्ध सं० रा० अमरीका के सुप्रीम कोर्ट में अपील की गई।

सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के बहुमत का यह निर्णय था कि मछली का शिकार करने वाले जहाजों को युद्ध में इस प्रकार नहीं पकड़ा जा सकता। सभ्य राष्ट्रों का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनमें मछली पकड़ने वाले जहाजों को पकड़ने (Capture) के योग्य नहीं माना गया। यह सत्य है कि इस नियम को फ्रेंच राज्यक्रान्ति में थोड़े समय के लिए नहीं माना गया, किन्तु इसे १८०६ से पुन: माना जाने लगा और इसके बाद से इसका निरन्तर पालन होता रहा है। यदि मछली पकड़ने वाले जहाज अपना कार्य ईमानदारी से करते हैं, शत्रु को कोई सहायता या सूचना नहीं देते तो इन्हें अपने सब औजारों, उपकरणों, माल और नाविक-वर्ग के साथ पकड़े जाने योग्य नहीं

समझा जाना चाहिये। किन्तु अल्पमत रखने वाले न्यायाधीशों फुलर (Fuller), हार्लान (Harlan) और मेकेन्न (Mackenn) का यह मत था कि मछली पकड़ने वाले जहाजों को पकड़ने (Capture) से मुक्त मानने की परिपाटी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आचारिक नियम (Customary Rule) नहीं बना, यह केवल शिष्टतावश पालन किया जाने वाला नियम है।

इस मामले में बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए न्यायाधीश ग्रे (Gray) ने यह कहा—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का अंग है। उपयुक्त क्षेत्राधिकार रखने वाले न्यायालयों द्वारा इसका निश्चय किया जाना तथा प्रशासन किया जाना आवश्यक है। जब किसी विषय में कोई संधि न हो, इसे नियन्त्रित करने वाला सरकार का आदेश अथवा विधानसभा का कोई कानून न हो तथा न्यायालय का कोई निर्णय न हो तो ऐसे विषय में सभ्य राष्ट्रों में प्रचलित आचारों (Customs) तथा प्रथाओं (Usages) का अवलम्बन लेना पड़ता है और इनकी साक्षी के लिए ऐसे विधिशास्त्रियों तथा इनके टीकाकारों के ग्रन्थ देखने पड़ते हैं, जिन्होंने वर्षों तक अनुसन्धान तथा अनुभव द्वारा इन विषयों का अच्छा परिचय पा लिया है। न्यायालय इन ग्रन्थों का सहारा इसलिए नहीं लेते कि वे लिखने वालों के ये विचार जानना चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किस प्रकार का होना चाहिये, किन्तु वे इन्हें इस बात की विश्वसनीय साक्षी समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप वास्तव में क्या है ?"

(४) चरकियेह (१८७२)—(अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति)—चरकियेह (Charkieh) मिश्र के खदीव (शासक) का एक जहाज था। १९ अक्टूबर १८७२ को इंगलैंड की टेम्ज नदी में इसकी एक दूसरे जहाज स्टीमशिप बटेवियर (S. S. Batavier) से टक्कर हो गई और इसे बहुत क्षति पहुँची। बटेवियर के मालिकों ने इसके लिए मिश्री जहाज को जिम्मेदार ठहराया, इसके विरुद्ध एक मुकद्दमा चलाया, टक्कर से होने वाली क्षतिपूर्ति के हर्जाने के लिए दावा किया।

इस पर चरकियेह की ओर से अपने विरुद्ध कानूनी कार्यवाही को रोकने के लिए एक आवेदन-पत्र इस आधार पर दिया गया कि यह जहाज मिश्र के खदीव की सम्पत्ति है। वह एक स्वतन्त्र राजा या प्रभु (Independent Sovereign) है, अतएव वह ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं है। जिस समय यह टक्कर हुई, उस समय इस पर टर्की की उस्मानिया नौसेना (Ottoman Navy) का झण्डा फहरा रहा था। उन दिनों खदीव टर्की के सुलतान के अधीन समझा जाता था।

न्यायालय ने मिश्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करते हुए यह निर्णय दिया कि उस समय खदीव सभी दृष्टियों से एक स्वतन्त्र राजा या प्रभु नहीं था तथा इस दशा में उसकी सम्पत्ति स्थानीय न्यायालयों की कानूनी कार्यवाही से मुक्त नहीं है।

(५) हेलसिलासी विरुद्ध **केबल एण्ड वायरलेस लिमिटेड (१९३९)—(राज्य-विषयक उत्तराधिकार)**—केबल एण्ड वायरलेस लिमिटेड (Cable and Wireless Ltd.) ग्रेट ब्रिटेन की कम्पनी थी, इसने १९३५ में ईथियोपिया (एबीसीनिया) के डाक-तार विभाग के संचालक के साथ ग्रेट ब्रिटेन और ईथियोपिया के बीच बेतार की

तार व्यवस्था कराने के लिए एक अनुबन्ध (Contract) किया। इसके अनुसार कम्पनी ने ईथियोपिया की सरकार को कुछ राशि देनी थी।

इसी बीच इटली ने ईथियोपिया पर अधिकार कर लिया तथा ईथियोपिया के सम्राट हेलसिलासी को यहाँ से भागकर इंगलैंड में शरण लेनी पड़ी। यहाँ उसने उक्त कम्पनी पर उपर्युक्त अनुबन्ध के अनुसार देय राशि प्राप्त करने के लिए अभियोग चलाया। कम्पनी ने यह तो स्वीकार किया कि उसे इस अनुबन्ध की राशि अदा करनी है, किन्तु उसका यह कहना था कि उसे लन्दन के इटालियन राजदूत का इस आशय का एक पत्र मिला है कि यह राशि हेलसिलासी को न दी जाय, किन्तु इटली की सरकार को दी जाय। कम्पनी का यह भी कहना था कि इटली ने ईथियोपिया को अपने राज्य का अंग बना लिया है, अतः वह उस देश का सर्वोच्च शासक या प्रभु (Sovereign) हो गया है। ब्रिटिश सरकार ने इटली की सरकार को ईथियोपिया की तथ्यानुसार सरकार (de facto-Government) मान लिया है। कम्पनी द्वारा दी जाने वाली राशि सरकारी ऋण की राशि है, यह ईथियोपिया में सर्वोच्च सत्ता रखने वाली सरकार को दी जानी चाहिये और यह सत्ता इस समय इटली की सरकार है।

इटली की सरकार इस मामले के निर्णय के लिए किसी ब्रिटिश न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने को तैयार नहीं थी। अतः न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन के विदेश कार्यालय (Foreign Office) से सम्राट् हेलसिलासी की तथा ईथियोपिया में इटालियन सरकार की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए कहा। विदेश कार्यालय का यह उत्तर था कि ब्रिटिश सरकार सम्राट् हेलसिलासी को ईथियोपिया का विध्यनुसार (de jure) सम्राट मानती है तथा इटली की सरकार को ईथियोपिया के सब हिस्सों को अपने नियन्त्रण में रखने वाली वास्तविक या तथ्यानुसार (de facto) सरकार मानती है। इस सूचना को पाने के बाद वह मुकद्दमा सुनने वाले न्यायाधीश बेनेट (Bennet) ने यह निर्णय दिया कि इटालियन सेना द्वारा ईथियोपिया पर किये जाने वाले अधिकार तथा इटालियन सरकार द्वारा इस देश की वास्तविक सरकार बन जाने के कारण यद्यपि हेलसिलासी से उसकी सारी वास्तविक शक्ति छिन गई है, किन्तु इसका यह प्रभाव नहीं मानना चाहिये कि इससे वह अपने आगम (Title) से वंचित हो गया है। उसके पास ईथियोपिया के सर्वोच्च शासक के रूप में कम्पनी से राशि पाने का जो अधिकार था वह अब तक यथापूर्व बना हुआ है।

कम्पनी ने ३ नवम्बर १९३८ को जस्टिस बेनेट के निर्णय के विरुद्ध अपील की। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने पार्लियामेण्ट में यह घोषणा की कि उसका इरादा यह है कि इटली के राजा को ईथियोपिया का कानूनी या विध्यनुसार (de jure) शासक मान लिया जाय। इस घोषणा के परिणामस्वरूप अदालत ने इस मामले की सुनवाई इस विषय का निश्चित निर्णय हो जाने तक कुछ समय के लिए स्थगित कर दी। ३० नवम्बर १९३९ को इस अदालत में विदेश कार्यालय का एक प्रमाण-पत्र पेश किया गया, इसमें यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार अब हेलसिलासी को ईथियोपिया का कानूनी सम्राट् स्वीकार नहीं करती। इन परिवर्तित परिस्थितियों में न्यायालय

ने यह निर्णय किया कि अब कम्पनी से राशि प्राप्त करने का अधिकार हेलसिलासी को नहीं, किन्तु इटली के राजा को है। इस अधिकार परिवर्तन का समय दिसम्बर १९३६ समझा जाना चाहिये, क्योंकि इसी समय से ब्रिटिश सरकार ने इटली की सरकार को ईथियोपिया की वास्तविक या तथ्यानुसार (de facto) सरकार स्वीकार किया था।

१९३९ ई० में ब्रिटिश यीअरबुक आफ इण्टरनेशनल लॉ ने इस मामले के सम्बन्ध में यह सत्य ही लिखा था, "जस्टिस बेनेट ने तथा अपील के न्यायालय (Court of Appeal) ने राज्य के उत्तराधिकार (Succession) के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय किया : (१) यह स्पष्ट रूप से तथा निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि जब पहले से स्वाधीन किसी राज्य को जीतकर कोई उसका नया सर्वोच्च शासक बनता है तो वह इंगलैंड में विद्यमान उन सब ऋणों को प्राप्त करने का उत्तराधिकारी हो जाता है, जो सार्वजनिक रूप में उससे पहले स्वतन्त्र शासक को प्राप्त होने वाले थे। जब कानूनी रूप से नये शासक का स्वत्व माना जायेगा तो इंगलैंड में उसकी अन्य सम्पत्ति पर भी नये शासक का उत्तराधिकार स्थापित हो जायेगा। (२) इंगलैंड में इस सम्पत्ति को उत्तराधिकार में पा सकना तब तक नहीं होगा, जब तक पुराने शासक को विध्यनुसार या कानूनी (de jure) शासक माना जा रहा है और नया शासक केवल उस प्रदेश का तथ्यानुसार या वास्तविक (de facto) शासक है। (३) जब एक बार किसी शासक को कानूनी तौर से स्वीकृति प्रदान की जाती है तो सम्पत्ति को विरासत में पाने के लिए यह स्वीकृति भूतकाल में उस समय तक पीछे की ओर जा सकती है जब कि ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया हो कि नये सर्वोच्च शासक ने वास्तविक या तथ्यानुसार (de facto) शासक का स्वत्व पा लिया है। यह पूर्व सम्बन्ध (Relation back) के सिद्धान्त को व्यवहार में लाना है।"

(६) स्टीमशिप अरन्तज़ाज़ू मेन्दी *विरुद्ध* **स्पेन की गणराज्य सरकार (मान्यता तथा प्रादेशिक क्षेत्राधिकार)**—अरन्तज़ाज़ू मेन्दी (Arantzazu Mendi) एक स्पेनिश जहाज था। स्पेन के बिलबाओ नामक बन्दरगाह में इसकी रजिस्ट्री हुई थी। रजिस्ट्री के समय यहाँ स्पेन की गणतन्त्रीय (Republican) सरकार का शासन था। जून १९३७ में इस बन्दरगाह पर जनरल फ्रांको के नेतृत्व में विद्रोहियों ने अधिकार कर लिया तथा स्पेन की एक नई राष्ट्रवादी सरकार (National Government) का निर्माण किया। जब अरन्तज़ाज़ू महासमुद्र में था, तभी गणतन्त्रीय सरकार ने इसके अधिग्रहण (Requisition) करने का आदेश दिया। अगस्त में यह जहाज लन्दन पहुँचा। इसे ब्रिटिश नौसेना के अधिकारियों द्वारा बन्दी बना लिया गया। किन्तु इसी समय जहाज के मालिकों ने इसको उनके अधिकार में देने के लिए न्यायालय में आवेदन-पत्र दिया। अप्रैल १९३८ में फ्रांको की राष्ट्रवादी स्पेनिश सरकार ने इस जहाज के स्वामियों की सहमति से अपने लिये इसके अधिग्रहण (Requisition) का आदेश दिया। इस प्रकार स्पेन की दोनों सरकारों ने अपने कार्य के लिए इस जहाज को लेने की आज्ञायें जारी कर दीं। गणतन्त्रीय सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन से यह प्रार्थना की कि

ब्रिटिश न्यायालय राष्ट्रवादी सरकार की आज्ञा को क्रियान्वित न करने का आदेश प्रदान करे। इस पर राष्ट्रवादी सरकार ने यह आपत्ति उठायी कि ब्रिटिश न्यायालय को किसी विदेशी राज्य के मामले के सम्बन्ध में विचार करने का कोई अधिकार नहीं है।

इस मामले पर विचार करने वाले न्यायालय ने ब्रिटिश सरकार के विदेश कार्यालय से यह जानकारी माँगी कि फ्रांको की राष्ट्रवादी सरकार को ब्रिटिश सरकार विदेशी सरकार स्वीकार करती है या नहीं। न्यायालय को इसका यह उत्तर मिला कि स्पेन की राष्ट्रवादी सरकार बार्सीलोना में स्थापित गणतन्त्रीय सरकार के साथ संघर्ष कर रही है, ब्रिटिश सरकार गणतन्त्रीय सरकार को स्पेन की कानूनी (de jure) सरकार स्वीकार करती है, यह राष्ट्रवादी सरकार को उत्त ी स्पेन के सब बास्क प्रान्तों पर वास्तविक (de facto) नियन्त्रण करने वाली सरकार मानती है और राष्ट्रवादी सरकार स्पेन की किसी दूसरी सरकार के अधीन नहीं है। राष्ट्रवादी सरकार विदेशी (Foreign) राज्य है या नहीं, यह कानूनी प्रश्न है, इसका निर्णय करना न्यायालय का कार्य है। वह यह कार्य इस मामले की परिस्थितियों और तथ्यों को देखकर करेगा।

इस विषय में अदालत ने यह फैसला किया कि जनरल फ्रांको की राष्ट्रवादी सरकार विदेशी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) राज्य है। सम्पत्ति में उसका हित (interest) है, अतः उस पर ब्रिटिश न्यायालय में मामला नहीं चलाया जा सकता। इस निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौन्सिल में अपील की गई। किन्तु यह स्वीकार नहीं हुई। लार्ड एटकिन ने अपने निर्णय में लिखा—"वास्तविक प्रशासन के नियन्त्रण करने का अथवा प्रभावशाली प्रशासनात्मक नियन्त्रण करने का अभिप्राय मैं यह समझता हूँ कि यह एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) सरकार द्वारा निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करना है—कानून और व्यवस्था को बनाये रखना, न्यायालयों की स्थापना करना तथा इन्हें चलाते रहना, एक प्रदेश के निवासियों के एक-दूसरे के साथ तथा सरकार के साथ सम्बन्धों को नियन्त्रण करने वाले कानून को बनाना तथा लागू करना। आवश्यक रूप से इसका ध्वनितार्थ यह भी है कि यह सैनिक और असैनिक कार्यों के लिये अनेक प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी होने तथा उसके नियन्त्रण करने का अधिकार रखती है, इस सम्पत्ति में लड़ाकू तथा व्यापारिक दोनों प्रकार के जहाजों का समावेश होता है। उपर्युक्त अवस्थाओं में मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि किसी प्रदेश में वहाँ किसी अन्य सरकार के वशवर्ती न होने पर, उपर्युक्त विशेषतायें रखने वाली किसी सरकार को मान्यता प्रदान की जाती है तो यह इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विदेशी सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के समान मान लेना है।"

(७) मिघेल *बनाम* जोहोर का सुल्तान (१८६४)—(सर्वोच्च शासक की विदेशी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से छूट)—मलाया में अवस्थित जोहोर नामक राज्य के एक सुल्तान ने इंगलैण्ड में निवास करते हुए एल्बर्ट बेकर (Albert Baker) का नाम धारण किया। मिघेल (Mighell) नामक ब्रिटिश महिला से उसका इस रूप में परिचय हुआ। बाद में इस महिला ने उसपर वचन भंग का आरोप करते हुए यह मुकद्दमा चलाया कि उसने उसके साथ विवाह करने का वचन दिया था, किन्तु इसे पूरा

नहीं किया। सुल्तान ने इसका विरोध करते हुए यह कहा कि वह एक स्वतन्त्र सर्वोच्च शासक (Independent sovereign ruler) है, अतः ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर कोई क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) नहीं है। न्यायालय ने उसकी बात स्वीकार करते हुए मिघेल की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

इस पर मिघेल ने उच्च-अदालत में अपील की। उसका यह कहना था कि प्रतिवादी अपने-आपको उसे एक निजी व्यक्ति (private individual) बताता रहा है, इस रूप में वह इंगलैंड का प्रजाजन है और ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर क्षेत्राधिकार है। यह बात भी पूरी तरह सिद्ध नहीं हो पायी कि प्रतिवादी एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक है, इस विषय में औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का पत्र पर्याप्त प्रमाण नहीं है।

लार्ड एशर (Esher) ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा—औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का पत्र इस विषय में पूरी तरह प्रामाणिक है कि प्रतिवादी जोहोर के सुल्तान के रूप में स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक है। न्यायाधीश ने अपील करने वालों का यह तर्क भी स्वीकार नहीं किया कि निजी तौर पर रहने के कारण प्रतिवादी स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक के विशेषाधिकारों से वंचित हो गया है। उसने पार्लमेण्ट बैल्जे (Parlement belge) के निर्णय को उद्धृत करते हुए कहा—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य (Sovereign State) सभी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा का आदर करता है। प्रत्येक राज्य किसी भी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक पर अपने न्यायालयों के क्षेत्राधिकार की सत्ता मानने से इन्कार करता है, विदेशी शासक पर न्यायालय तभी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है जब कि इसे ऐसा करने को कहा जाय तथा शासक इसके क्षेत्राधिकार को स्वयमेव स्वीकार कर ले। यदि शासक ऐसा स्वीकार नहीं करता तो न्यायालय का उस पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं है।" इन कारणों से अपील को नामंजूर कर दिया गया।

(८) स्टीमशिप लोटस (१९२७)—(प्रादेशिक और वैयक्तिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)—लोटस (S. S. Lotus) एक फ्रेंच जहाज था। यह २ अगस्त १९२६ को टर्की के एक बन्दरगाह कुस्तुन्तुनिया की ओर जा रहा था। सिगरी अन्तरीप से छः मील दूर तुर्की के प्रादेशिक समुद्र से बाहर महासमुद्र (High Sea) में, तुर्की के कोयला ढोने वाले बोज़ कोर्ट (Bouz Kourt) नामक जहाज से इसकी टक्कर हो गई, परिणामस्वरूप बोज़ कोर्ट डूब गया और इस पर विद्यमान आठ तुर्क नागरिकों को अपने प्राण गँवाने पड़े। इस टक्कर के समय फ्रेंच जहाज पर लैफ्टिनेण्ट देमोन (Demons) की निरीक्षण की ड्यूटी थी, बोज़ कोर्ट जहाज का कप्तान हसन बे था।

३ अगस्त को लोटस कुस्तुन्तुनिया पहुँचा। तुर्क अधिकारियों ने इस दुर्घटना की जांच में देमोन से गवाही देने की प्रार्थना की, ५ अगस्त को उसे तथा हसन बे को बन्दी बना लिया गया। देमोन की गिरफ्तारी से पहले इसकी कोई सूचना फ्रेंच वाणिज्य

महादूत (Consul-General) को इसलिये नहीं दी गई कि वह भाग न जाय। इस गिरफ्तारी का उद्देश्य उक्त दुर्घटना में डूबे तुर्क नागरिकों के परिवारों की प्रार्थना पर दोनों जहाजों के जिम्मेवार अधिकारियों पर मानवहत्या का अभियोग चलाना था।

तुर्की की फौजदारी अदालत में मुकद्मा चलने पर ले० देमोन ने यह आवेदन किया कि फ्रेंच प्रजाजन होने से तथा दुर्घटना के महासमुद्र में घटित होने के कारण तुर्की के न्यायालयों को उस पर मुकद्मा चलाने का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) नहीं है। अदालत ने इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया, उसकी उपेक्षा और असावधानी को दुर्घटना का एक कारण मानते हुए उसे आठ दिन की जेल और २२ पौंड का जुर्माना किया, हसन बे को इसकी अपेक्षा कुछ कठोर दण्ड दिया।

फ्रेंच सरकार ने अपने कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा इस बात पर बल दिया कि या तो ले० देमोन को मुक्त कर दिया जाय अथवा यह अभियोग किसी फ्रेंच अदालत में चलाया जाना चाहिए। तुर्की की सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया, किन्तु पेरिस के बहुत आग्रह पर वह इस बात के लिये सहमत हो गया कि क्षेत्राधिकार के संघर्ष (Conflict of jurisdiction) का यह मामला हेग के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) के सम्मुख लाया जाय। १२ अक्टूबर १६२६ को जनेवा में दोनों देशों में इस सम्बन्ध में हुए समझौते के अनुसार यह मामला हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा गया।

इस न्यायालय के समक्ष दो प्रश्न विचार के लिये लाये गये—(१) क्या तुर्की ने अपने देश के कानून के अनुसार फ्रेंच स्टीमर लोटस के कुस्तुन्तुनियाँ पहुँचने पर ले० देमोन पर हसन बे के साथ संयुक्त रूप में फौजदारी मुकद्मा चलाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण किया है ? (२) यदि पहले प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में हो तो ले० देमोन को आर्थिक क्षतिपूर्ति की राशि कितनी दी जानी चाहिए। यह राशि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रकार के मामलों में दी जाने वाली राशि के अनुरूप होनी चाहिए।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों में उग्र मतभेद था। इसके सभापति के निर्णायक मत द्वारा पहले प्रश्न का नकारात्मक फैसला करते हुए यह कहा गया कि तुर्की ने फ्रेंच स्टीमर के कुस्तुन्तुनिया पहुँचने पर इसके फ्रेंच नागरिक ले० देमोन पर तुर्क अदालत में हसन बे के साथ फौजदारी का संयुक्त मामला चलाने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं किया। पहले प्रश्न का नकारात्मक उत्तर होने के कारण ले० देमोन को मुआवजा देने के दूसरे प्रश्न पर न्यायालय को निर्णय देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

फ्रेंच सरकार ने इस मामले में तुर्की से यह माँग की थी कि वह देमोन पर मामला चलाने का तथा अपना क्षेत्राधिकार रखने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत कोई प्रमाण उपस्थित करे। तुर्क सरकार ने इस विषय में अपने पक्ष में २४ जुलाई १६२३ को लोज़ान में हुए समझौते की १५वीं धारा को उपस्थित किया और न्यायालय ने इस प्रमाण को स्वीकार किया।

इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप की विवेचना करते हुए न्यायालय ने यह मत प्रकट किया—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वतन्त्र राज्यों के सम्बन्धों का नियमन करता है। अतः इस क्षेत्र में राज्यों पर लागू होने वाले नियम उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रादुर्भूत होते हैं, इन्हें पारस्परिक समझौतों में व्यक्त किया जाता है अथवा ये नियम ऐसी प्रथाओं से निश्चित होते हैं जिन्हें सामान्य रूप से सब देश स्वीकार करते हैं। इन नियमों की स्थापना का प्रयोजन सहवर्ती (co-exisiting) एवं स्वतन्त्र समुदायों के आपसी सम्बन्धों का इस दृष्टि से नियमन करना होता है कि ये अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। अतः राज्यों की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले ऐसे प्रतिबन्धों (Restrictions) की कल्पना (Presumptions) नहीं की जा सकती, जो राज्यों द्वारा स्वीकार न किये गये हों।

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य पर सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि वह दूसरे राज्य के प्रदेश में अपनी शक्ति का प्रयोग बिल्कुल नहीं कर सकता। इस प्रकार राज्य का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) निश्चित रूप से प्रादेशिक है। कोई राज्य इसका प्रयोग अपने प्रदेश से बाहर नहीं कर सकता, केवल अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज या समझौते द्वारा अनुमति दिये जाने पर ही कोई राज्य अपने प्रदेश से बाहर अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

"किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को अपने प्रदेश में किसी ऐसे मामले में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से रोक सकता है, जिसका सम्बन्ध इस राज्य के प्रदेश से बाहर हुए कार्यों से हो तथा जिसमें इसे ऐसा करने की अनुमति देने वाला अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम न हो। यह दृष्टिकोण तभी स्वीकार किया जा सकता है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सब राज्यों के सम्बन्ध में एक ऐसा सामान्य प्रतिबन्ध मान लिया जाय कि वे अपने प्रदेश से बाहर विद्यमान व्यक्तियों और सम्पत्ति तथा कार्यों के सम्बन्ध में अपने कानूनों को लागू नहीं करेंगे तथा इनके विषय में अपने न्यायालयों का क्षेत्राधिकार नहीं मानेंगे। किन्तु वर्तमान समय में निश्चित रूप से ऐसी स्थिति नहीं है। राज्यों का क्षेत्राधिकार सीमित करने के स्थान पर, यह उन्हें इस विषय में बहुत बड़ी मात्रा में कार्यवाही करने का विवेक (Discretion) प्रदान करता है। इन अवस्थाओं में फ्रेंच सरकार का यह दावा ठीक नहीं है कि तुर्की को अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम प्रमाण के रूप में उपस्थित करना चाहिये।"

फ्रेंच सरकार ने निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर यह तर्क उपस्थित किया कि उपर्युक्त सिद्धान्त तुर्की को इस मामले में फ्रेंच प्रजाजन का फौजदारी मामला सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदान नहीं करता—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को यह अधिकार नहीं प्रदान करता कि वह विदेशियों द्वारा देशान्तर (Abroad) में किये गये अपराधों के सम्बन्ध में केवल पीड़ित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर कार्यवाही कर सके। इस मामले में तुर्क सरकार ने डूबने वाले तुर्कों की मानवहत्या का आरोप ले० देमोन पर लगाया है और

इन व्यक्तियों की राष्ट्रीयता तुर्क होने के कारण वह अपनी फौजदारी अदालत में देमोन पर मामला चला रही है, किन्तु देमोन तुर्की का नागरिक नहीं है और यह अपराध तुर्की की प्रादेशिक सीमाओं से बाहर महासमुद्र में फ्रेंच जहाज पर किया गया है, अतः तुर्की की सरकार को ऐसे अपराध के विरुद्ध कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह स्वीकार करता है कि महासमुद्र में किसी जहाज पर जो घटनायें होती हैं, उनके सम्बन्ध में कार्यवाही करने का एकमात्र अधिकार उसी देश को होता है, जिस देश का झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो। लोटस स्टीमर पर फ्रेंच पताका थी, अतः महासमुद्रों में इस पर हुई सब घटनाओं के सम्बन्ध में कार्यवाही करने का अधिकार केवल फ्रांस की सरकार को है।

(३) यह सिद्धान्त टक्कर या भिड़न्त (Collision) होने की दशा में विशेष रूप से लागू होता है।

न्यायालय ने पहली युक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए फ्रेंच सरकार का यह दावा स्वीकार नहीं किया कि कोई राज्य किसी विदेशी द्वारा देशान्तर में किये गये अपराध को केवल पीड़ित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर दण्डित करने का अधिकार नहीं रखता। अनेक देशों के न्यायालय अपने फौजदारी कानून के सम्बन्ध में यह व्याख्या करते हैं कि अपराध करने के समय भले ही उसे करने वाले व्यक्ति दूसरे राज्य के प्रदेश में हों, फिर भी वे अपराध राष्ट्रीय प्रदेश में ही किये गये समझे जाते हैं, बशर्ते कि अपराध का एक घटक (Constituent) तत्व, विशेष रूप से इस अपराध के प्रभाव उनके प्रदेश में पड़े हों। इस मामले में दुर्घटना के परिणामस्वरूप तुर्कों के डूबने का प्रभाव तुर्की पर पड़ा है, अतः महासमुद्र में घटित होने पर भी इसके लिये उत्तरदायी विदेशी प्रजाजनों पर अभियोग चलाने का अधिकार टर्की की सरकार को है।

फ्रेंच सरकार की दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कहा—"यद्यपि यह सत्य है कि महासमुद्रों में यात्रा करने वाले जलपोतों पर उसी राज्य का अधिकार होता है जिस राज्य का झण्डा उन पर होता है, तथापि इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि राज्य को अपने प्रदेश में उन कार्यों के सम्बन्ध में कोई क्षेत्राधिकार नहीं है, जो महासमुद्रों में विदेशी जहाजों पर हुए हों। यदि महासमुद्रों में किया गया कोई अपकारपूर्ण कार्य अपना प्रभाव दूसरे देश का झण्डा फहराने वाले जलपोत पर अथवा दूसरे देश के प्रदेश पर डालता है तो इस दशा में वही सिद्धान्त लागू होंगे, जो विभिन्न राज्यों के प्रदेशों में हुए अपराधों पर लागू होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जो अपराधों के प्रभावों को प्राप्त करने वाले जहाज पर स्वामित्व रखने वाले राज्य को इस बात से रोक सके कि यह अपराध उस राज्य के प्रदेश में हुआ है और उसे अपराधी को दण्ड देने का पूरा अधिकार है।"

तीसरी युक्ति के सम्बन्ध में न्यायालय का यह मत था कि जहाजों की टक्कर के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार फौजदारी कार्यवाही करने का एकमात्र या अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) केवल

उसी राज्य को है, जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो ।

"इस मामले में ले० देमोन पर उसकी लापरवाही अथवा असावधानी के लिये मुकद्दमा चलाया गया । यह अपराध यद्यपि उसने लोटस जहाज पर किया, किन्तु इसके प्रभाव बोज कोर्ट जहाज पर पड़े । कानूनी दृष्टि से ये दोनों तत्व सर्वथा पृथक् न हो सकने वाले तथा ऐसी रीति से मिले हुए हैं कि उनको पृथक् कर देने से अपराधी की सत्ता ही नहीं रहती । न्याय की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये तथा दोनों राज्यों के हितों को प्रभावशाली रीति से सुरक्षित रखने के लिये यह उचित है कि इस मामले में न तो दोनों राज्यों में से किसी एक का एकमात्र क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction) माना जाय और न ही दोनों में से प्रत्येक का क्षेत्राधिकार, उनके जहाजों पर होने वाली घटना तक सीमित किया जाय । यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक राज्य इसमें क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके तथा ऐसा करते हुए वह पूरी घटना पर विचार करे । अतः यह मामला समवर्ती क्षेत्राधिकार (Concurrent jurisdiction) का है अर्थात् इसमें दोनों देशों को कार्यवाही करने का अधिकार है ।"

उपर्युक्त विचार करने के बाद न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को प्राप्त होने वाले विवेक (Discretion) के आधार पर टर्की ने यह फौजदारी कार्यवाही की है, अतः उसने अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल कार्य नहीं किया ।

कुछ आलोचकों का यह मत है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह निर्णय ठीक नहीं था । चाहे सभापति के निर्णायक मत से फ्रांस के मत को अस्वीकार कर दिया गया, किन्तु सही मत वही था, क्योंकि सार्वजनिक जहाज महासमुद्रों पर विदेशी राज्यों के क्षेत्राधिकार से मुक्त (Immune) रहते हैं । शान्ति काल में यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है । जब लोटस तथा बोज कोर्ट में टक्कर हुई, उस समय किसी प्रकार का युद्ध नहीं चल रहा था, अतः टर्की को फ्रांस के जहाज पर या फ्रेंच प्रजाजन पर मुकद्दमा चलाने का कोई अधिकार नहीं था ।

(६) दी वर्जिनियस (१८७३)—(प्रादेशिक क्षेत्राधिकार)—१८७० ई० में वर्जिनियस (Virginius) नामक जहाज की रजिस्ट्री सं० रा० अमरीका में हुई थी । १८७३ में पश्चिमी हिन्द द्वीपसमूह (West Indies) के क्यूबा टापू में स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ । उस समय इस जहाज को विद्रोहियों ने ले लिया । यह जमैका टापू की राजधानी किंगस्टन से, ऊपर से दिखाने के लिये तो, कोस्टा रिका नामक राज्य की ओर रवाना हुआ, किन्तु इसका वास्तविक लक्ष्य क्यूबा पहुँचना था । इस समय एक स्पेनिश जंगी जहाज ने इसका पीछा किया, इससे बचने के लिये कुछ समय तक इसने हैटी टापू के एक बन्दरगाह में शरण ली । इसके बाद यह पुनः क्यूबा की ओर रवाना हुआ, महासमुद्र में स्पेन के टार्नेडो (Torneido) नामक युद्धपोत ने इसका पुनः पीछा किया और इसे पकड़ लिया । पकड़े जाने के समय इस जहाज पर बड़ी मात्रा में हथियार, गोलाबारूद तथा काफी संख्या में ऐसे यात्री पाये गये, जो क्यूबा के विद्रोहियों को सहायता देने के उद्देश्य से वहाँ जा रहे थे । किन्तु इसमें कुछ ब्रिटिश यात्री

भी थे, जो इस पर कोस्टा रिका जाने के इरादे से सवार हुए थे और उन्हें इसके क्यूबा की ओर जाने का कुछ भी ज्ञान नहीं था।

वर्जिनियस को पकड़ने के बाद इसे पूर्वी क्यूबा के सानटियागो बन्दरगाह में ले जाया गया, यहाँ यात्रियों को तथा नाविक-वर्ग को बन्दी बना लिया गया, इन पर समुद्री डकैती (Piracy) तथा विद्रोहियों को सहायता देने के आरोप लगाये गए। एक फौजी अदालत ने अन्य यात्रियों के साथ १६ ब्रिटिश तथा ६ अमरीकी यात्रियों पर लगाये जाने वाले उक्त आरोपों पर विचार किया तथा यात्रियों में से ३७ को गोली से उड़ाने का दण्ड दिया, इनमें १६ ब्रिटिश प्रजाजन थे।

ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमरीका की सरकारों ने स्पेन से इस दण्ड के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद किया, उसे यह कहा कि वह प्राणदण्ड की आज्ञा को अब आगे क्रियाविन्त न करे। इस पर स्पेन की सरकार ने उस समय तक जीवित ब्रिटिश प्रजाजन अमरीकी सरकार को सौंप दिये, क्योंकि इस जहाज पर अमरीकी झण्डा फहरा रहा था। इस मामले में विवादास्पद प्रश्न यह था कि स्पेनिश सरकार द्वारा ब्रिटिश तथा अमरीकी नागरिकों पर संक्षिप्त मुकदमा चलाना (Summary trial) और दण्ड देना कहाँ तक न्यायोचित था। स्पेन की सरकार का यह कहना था कि वर्जिनियस जहाज पर हथियार और गोलाबारूद लदा हुआ था, इसकी यात्रा भी बड़ी सन्देहजनक थी, इसके कुछ यात्री निश्चित रूप से क्यूबा के विद्रोहियों को सहायता देने के उद्देश्य से जा रहे थे, अतः इस जहाज को समुद्री डकैती (Piracy) के कार्य में लगा हुआ समझना चाहिये।

इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि इसमें ब्रिटिश यात्री इस विश्वास के आधार पर सवार हुए थे कि जहाज कोस्टा रिका की ओर सद्भाव से (Bonafide) यात्रा कर रहा है, यात्रियों का पकड़ना और निरोध (Detention) भले ही वैध हो, किन्तु संक्षिप्त ढंग (Summary manner) से उनको प्राणदण्ड देने का बिल्कुल कोई औचित्य नहीं था। इन पर समुद्री डकैती का कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि जहाज ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया था। इस विषय में आवश्यकता (Necessity) या आत्मरक्षा (Self-defence) का तर्क नहीं स्वीकर किया जा सकता, क्योंकि जहाज को पकड़ लेने के बाद उससे किसी प्रकार का कोई भय नहीं रहा था। इस विषय में वाशिंगटन में तीन देशों के मध्य हुए एक सम्मेलन के परिणामस्वरूप स्पेन को वर्जिनियस जहाज, इसके बचे हुए यात्री और नाविक सं० रा० अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन को लौटाने पड़े तथा उसे फौजी अदालत की आज्ञा से मारे गए ब्रिटिश प्रजाजनों के परिवारों को हर्जाने की राशि देनी पड़ी।

इस मामले में एक अन्य विवादास्पद प्रश्न यह भी था कि क्या स्पेन, सं० रा० अमरीका में रजिस्ट्री हुए तथा उसका झण्डा फहराने वाले जहाज के, महासमुद्र (High seas) में होने पर इसका पीछा या आक्रमण कर सकता है। सं० रा० अमरीका के महान्यायवादी (Attorney-General) का कहना था कि "इस जहाज की रजिस्ट्री कपटपूर्ण (fraudulent) थी, उसे अमरीकी फण्डा फहराने का कोई अधिकार नहीं था, किन्तु फिर भी वह समुद्र में विदेशी शक्ति के हस्तक्षेप से उतना ही मुक्त था,

जितना ठीक ढंग से रजिस्ट्री कराने पर होता है। स्पेन को अमरीकी झण्डे वाले जहाज को उसी हालत में पकड़ने और निरोध करने का अधिकार था, जबकि यह स्पेन के प्रादेशिक समुद्र में क्यूबा के विद्रोहियों को सहायता पहुँचा रहा हो।"

(१०) **क्रिस्टीना (१९३८) क्षेत्राधिकार**—इस मामले में यह प्रतिपादित किया गया था कि विदेशी राज्य किसी अन्य देश के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त होता है। १९३७ में स्पेन में गृहयुद्ध चल रहा था। जनरल फ्रांको ने स्पेन की तत्कालीन गणराज्यवादी सरकार (Republican Government) के विरुद्ध विद्रोह करके उससे बहुत सा प्रदेश छीन लिया था। ९ जून १९३७ को उसने स्पेन के एक बड़े बन्दरगाह बिल्बोग्रा (Bilboa) पर अधिकार कर लिया। स्पेन के अधिकांश जहाजों की रजिस्ट्री इस बन्दरगाह में हुई थी। २८ जून १९३७ को गणराज्यवादी सरकार ने एक सरकारी आदेश द्वारा बिल्बोग्रा में रजिस्ट्री हुए सब जहाज अपने अधिकार (Requisition) में ले लिये। स्पेन की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन में विद्यमान ऐसे जलपोतों की सूची देते हुए उन्हें यह निर्देश भेजे कि ये जहाज जब किसी भी ब्रिटिश बन्दरगाह में आयें इन पर अधिकार कर लिया जाय। इन आदेशों का पालन करते हुए स्पेन के वाणिज्यदूतों (Consuls) ने चालीस जहाजों पर कब्जा कर लिया। इनमें से एक जहाज क्रिस्टीना (Cristina) भी था।

क्रिस्टीना जलपोत के मालिकों ने स्पेनिश सरकार की इस कार्यवाही का विरोध करते हुए इस विषय में ब्रिटिश न्यायालय से सहायता माँगी और इस विषय में निषेधाज्ञा प्राप्त की। इस पर स्पेन की गणराज्वादी सरकार ने २७ जुलाई १९३७ को कुछ शर्तों के साथ ब्रिटिश न्यायालय में उपस्थित होते हुए यह प्रार्थना की कि उसकी जलपोत प्राप्त करने के लिये की गई कार्यवाही को रोकने वाली निषेधाज्ञा को इस युक्ति के आधार पर रद्द कर दिया जाय कि यह जलपोत गणराज्यवादी सरकार के अधिकार में है और इस मामले में एक विदेशी राज्य अर्थात् स्पेन की सरकार को पक्ष बना दिया (Implead) गया है तथा स्पेन की सरकार इस विषय में न्यायालय का क्षेत्राधिकार तथा इसका आदेश मानने को तैयार नहीं है। गणराज्यवादी सरकार का इस जहाज पर इसलिये भी अधिकार है कि इस विषय में स्पेन की सरकार २८ जून १९३७ को इस जहाज को अपने कब्जे में लेने के आदेश प्रसारित कर चुकी है। जहाज के मालिकों की यह दलील थी कि स्पेन की गणराज्यवादी सरकार द्वारा जहाजों पर कब्जा करने का आदेश ब्रिटिश बन्दरगाहों में विद्यमान स्पेनिश जहाजों पर लागू नहीं हो सकता तथा उस सरकार को इस विषय में कोई अधिकार नहीं दे सकता है। जहाज के मालिक की इच्छा के विरुद्ध इस पर गणराज्यवादी सरकार द्वारा अपना अधिकार स्थापित करना ब्रिटेन की प्रादेशिक प्रभुसत्ता का उल्लंघन करना है। एक विदेशी राज्य किसी ऐसी सम्पत्ति के बारे में किसी प्रकार की उन्मुक्ति की माँग नहीं कर सकता, जिस पर यह स्वामित्व का नहीं, अपितु केवल कब्जे का या नियन्त्रण के अधिकार का ही दावा कर सकता है।

किन्तु ब्रिटिश न्यायालयों ने जहाज के मालिकों की उपर्युक्त युक्तियाँ अस्वीकार

करते हुए यह निर्णय दिया कि एक विदेशी राज्य या राजा को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी कानूनी कार्यवाही में कोई पक्ष नहीं बनाया जा सकता, भले ही यह कार्यवाही विदेशी राजा के शरीर (Person) के विरुद्ध हो अथवा इसका सम्बन्ध उसकी किसी विशेष सम्पत्ति से हो अथवा उससे कोई हर्जाना वसूल करना हो। इसके अतिरिक्त विदेशी राजा के स्वामित्व में अथवा नियन्त्रण में विद्यमान किसी सम्पत्ति को किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा रोका या जब्त नहीं किया जा सकता, भले ही इस कानूनी प्रक्रिया में वह कोई पक्ष बना हो या न बना हो।

(११) **दी स्कूनर एक्सचेंज वि० मैकफैड्डन (१८१२) क्षेत्राधिकार**—स्कूनर एक्सचेंज (The Schooner Exchange) एक जहाज था। इसका स्वामी एक अमेरिकन था। यह सं० रा० अमेरिका के बाल्टीमोर नामक बन्दरगाह से १८१० में स्पेन की ओर जा रहा था। उस समय नैपोलियन की ग्रेट ब्रिटेन, स्पेन आदि योरोप के अधिकांश देशों के साथ लड़ाई चल रही थी, किन्तु सं० रा० अमेरिका के साथ लड़ाई नहीं थी। नैपोलियन ने शत्रुदेशों के बन्दरगाहों को जाने वाले सभी जहाजों को पकड़ने का आदेश दे रखा था। इसके अनुसार स्पेन जाने वाले इस जहाज स्कूनर को भी पकड़ लिया गया, इसके बाद यह सं० रा० अमेरिका के फिलाडेल्फिया के बन्दरगाह में बहुत देर तक खड़ा रहा। इस स्थिति में इसके स्वामी मैकफैड्डन ने अमेरिकन सरकार से इस जहाज को इस आधार पर उसे लौटाने की प्रार्थना की कि यह उसका है तथा किसी न्यायालय ने इस जहाज के मामले पर विचार करके इसे फ्रांस को नहीं दिया है।

इस मामले में अमेरिकन सरकार का यह दावा था कि सं० रा० अमेरिका और फ्रांस में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध है, अतः फ्रांस के सार्वजनिक जलपोत अमेरिका के बन्दरगाह में बिना किसी रोक-टोक के प्रविष्ट हो सकते हैं। पेन्सिलवेनिया की जिला अदालत (District Court) ने सरकार की इस युक्ति को स्वीकार करते हुए जहाज के मालिक को उसका जहाज लौटाने की प्रार्थना अस्वीकार कर दी क्योंकि इसको जब एक बार फ्रांस ने लड़ाई में पकड़ लिया और यह फ्रांस द्वारा अधिकृत जहाज के रूप में अमेरिकन बन्दरगाह में प्रविष्ट हुआ ता इसे फ्रांस का पोत समझा गया तथा इसे अमेरिका क अधिकार-क्षेत्र से बाहर समझा गया। किन्तु जिला अदालत के उपर्युक्त नियम के विरुद्ध दौरा अदालत (Circuit Court) में की गई अपील स्वीकार कर ली गई। इसके बाद इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की गई तथा प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने दौरा अदालत के निर्णय को उलटते हुए जिला अदालत के निर्णय को स्वीकार किया तथा प्रादेशिक एवं वैयक्तिक क्षेत्राधिकार (Territorial and Personal Jurisdiction) के प्रश्न पर महत्वपूर्ण विवेचना की। इस निर्णय में यह माना गया कि स्कूनर एक ऐसे विदेशी राजा की सेवा में लगा हुआ सार्वजनिक सैनिक पोत (Public army vessel) था, जिसके साथ अमेरिका के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। इस जहाज को यहाँ इस बात को पहले से ही मानकर लाया गया होगा कि फ्रांस के अधिकार में होने के कारण यह अमेरिकन सरकार के क्षेत्राधिकार से मुक्त होगा।

इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मार्शल ने अपने निर्णय में लिखा था—"जब किसी एक राष्ट्र के युद्धपोत एक मित्रदेश के बन्दरगाह में प्रविष्ट होते हैं तो इस विषय में यह समझ लेना चाहिये कि मित्रदेश इस बात के लिए अपनी सहमति (Consent) देता है कि यह जहाज उसके क्षेत्राधिकार से मुक्त समझे जायें।" एक सार्वजनिक युद्धपोत (A public armed ship) विदेशी राष्ट्र की सैनिक शक्ति का एक हिस्सा होता है, यह उस देश के राजा की सीधी कमान (Command) में उसके आदेश का पालन करता है, राजा अपने कुछ राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस जहाज का प्रयोग करता है। वह किसी विदेशी राज्य को इन उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक नहीं बनने देना चाहता है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने प्रदेश की सीमाओं में पूर्ण एवं निर्बाध अधिकार प्राप्त होता है, यदि उसे ऐसा अधिकार न प्राप्त हो तो उसकी प्रभुसत्ता (Sovereignty) का कोई अर्थ या महत्व नहीं रह जायेगा, वह सीमित हो जायेगी। प्रत्येक राष्ट्र पर उसके क्षेत्र में कोई विदेशी शक्ति प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती है, किन्तु वह अपनी इच्छा से स्वयमेव अपने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है। इनमें से एक प्रतिबन्ध यह भी है कि वह अपनी सीमा में विद्यमान विदेशी राजाओं के जहाजों को अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त कर देता है। स्कूनर एक्सचेंज भी इसी प्रकार का जहाज है, अतः सं० रा० अमेरिका के क्षेत्राधिकार से मुक्त है।

(१२) **कोर्फू चैनल का मामला (१९४९)—(प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, समुद्री सीमा)**—उत्तरी कोर्फू चैनल (Corfu Channel) या जलप्रणाली अल्बानिया तथा यूनान की सीमा का निर्माण करती है। इसका कुछ भाग इन दोनों राज्यों के प्रादेशिक समुद्र में आता है। ब्रिटिश नौसेना ने अक्टूबर १९४४ तथा जनवरी १९४५ में इसमें अपने समुद्री सुरंगें साफ करने वाले जहाज भेजे। उस समय यहाँ कोई सुरंग न पायी जाने से इस रास्ते को सुरक्षित घोषित किया गया। १५ मई १९४६ को इस प्रणाली में से गुजर रहे दो ब्रिटिश युद्धपोतों—ओरायन (Orion) तथा सुपर्ब (Superb) पर अल्बानिया के तट पर लगी तोपों ने गोलाबारी की। २२ अक्टूबर १९४६ को इसी जलप्रणाली के अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र वाले हिस्से में से गुजरते हुए दो ब्रिटिश युद्धपोतों को यहाँ बिछाई गई सुरंगों से गहरी क्षति पहुँची। इसमें ४४ व्यक्ति मृत तथा ४२ घायल हुए। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन ने इस जलप्रणाली के मार्ग को सुरक्षित बनाने की दृष्टि के अन्तर्राष्ट्रीय सुरंग शोधक आयोग (International Mine Sweeping Commission) के निर्णय के अनुसार यहाँ अपने सुरंग साफ करने वाले जहाज भेजने का निश्चय किया। १२-१३ नवम्बर १९४६ को अल्बानिया के अधिकारियों की स्वीकृति पाये बिना ही ब्रिटिश बेड़े ने इस जलप्रणाली में सुरंगें साफ करने का कार्य किया और अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में ठीक उस स्थान पर सुरंगों को बिछा हुआ पाया, जहाँ पिछली २२ अक्टूबर को दुर्घटना हुई थी।

अल्बानिया ने ब्रिटिश बेड़े द्वारा उसके प्रदेश की सुरंगें साफ करने का कार्य 'अपनी प्रभुसत्ता का पूर्वयोजित अतिक्रमण' (Premeditated violation of its sovereignty) बताया और इसका तीव्र प्रतिवाद किया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रश्न को

सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया और अल्बानिया पर यह आरोप लगाया कि इस जलप्रणाली में सुरंगों की सत्ता का उत्तरदायित्व अल्बानिया पर है। २५ मार्च १९४७ को परिषद् के बहुमत की यह सम्मति थी कि अलबानिया को इन सुरंगों की उपस्थिति का अवश्य ज्ञान था, इस प्रकार वह इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी है। किन्तु सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) द्वारा इस प्रस्ताव को पास नहीं होने दिया। तत्पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव रखा कि यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास निर्णय के लिये भेजा जाय। सुरक्षा परिषद् ने ९ अप्रैल १९४७ को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तथा २५ मार्च १९४८ को हुए एक विशेष समझौते के अनुसार न्यायालय को निम्नलिखित दो प्रश्नों के निर्णय करने का कार्य सौंपा गया।

(१) क्या अल्बानिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार २२ अक्टूबर १९४६ को होने वाले उन विस्फोटों के लिए उत्तरदायी है, जो उसके प्रादेशिक समुद्र में हुए? क्या वह इस दुर्घटना से हुई क्षति तथा मानवीय जीवन की क्षति के लिये जिम्मेवार है? क्या इसकी क्षतिपूर्ति करना उसका कर्तव्य है?

(२) क्या ग्रेट ब्रिटेन ने अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में २२ अक्टूबर तथा १२-१३ नवम्बर के शाही बेड़े के कार्यों द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अल्बानियन जनता के गणराज्य की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण किया है? क्या इस विषय में अल्बानिया को सन्तुष्ट करना उसका कार्य है?

न्यायालय ने पहले प्रश्न का निर्णय देते हुए यह कहा कि अल्बानिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार २२ अक्टूबर १९४६ को होने वाले विस्फोटों के लिये तथा इनके परिणामस्वरूप हुई हानि तथा मानवीय जीवन की क्षति के लिये उत्तरदायी है तथा अल्बानिया का यह कर्त्तव्य है कि वह ग्रेट ब्रिटेन को इसका हर्जाना प्रदान करे। अल्बानिया को उत्तरदायी ठहराने का यह कारण दिया गया कि उसे इन सुरंगों का ज्ञान अवश्यमेव रहा होगा, किन्तु उसने इस विषय में जहाजों को उपर्युक्त चेतावनी देने में लापरवाही की। इस दुर्घटना के बाद अल्बानिया की सरकार ने इसके कारणों को खोजने तथा इसके लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। न्यायालय ने अलबानिया की सरकार का यह मत स्वीकार नहीं किया कि यह हानि बहकर आने वाली (Floating) सुरंगों से हुई, क्योंकि इस दुर्घटना में जितनी भीषण क्षति हुई, वह ऐसी सुरंगों से कभी नहीं हो सकती थी। न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा भी पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अस्वीकार कर दिया कि ये सुरंगें अल्बानिया की उपेक्षा (Connivance) से यूगोस्लाविया ने बिछाई हैं। अल्बानिया को उत्तरदायी ठहराने का निर्णय पाँच के विरुद्ध ग्यारह के बहुमत से हुआ। सोवियत जज ने बहुमत के निर्णय से विरोध प्रकट करते हुए यह कहा कि किसी राज्य को संभावनाओं के आधार पर दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु बहुमत ने अल्बानिया को इस दुर्घटना में लापरवाही करने का दोषी पाया और उसे ब्रिटिश सरकार को क्षतिपूर्ति के लिये ८,४३,९४७ पौण्ड देने को कहा।

न्यायालय ने अल्बानिया के इस दावे पर विचार किया कि अल्बानिया की सरकार

की पूर्व स्वीकृति के बिना ग्रेट ब्रिटेन का अपने युद्धपोतों को अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में भेजना उसकी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।

इस विषय में न्यायालय का यह मत था कि सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है, और अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा भी यही है कि शान्तिकाल में प्रत्येक राज्य को तटवर्ती राज्य की पूर्व स्वीकृति लिये बिना ऐसे जलडमरूमध्य या जलप्रणाली में से अपने युद्धपोत भेजने का अधिकार है, जो जलप्रणाली महासमुद्रों के दो बड़े भागों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन का मार्ग बनी हुई हो। किन्तु इसमें एक बड़ी शर्त यह है कि लड़ाकू जहाजों का यह गुजरना सर्वथा निर्दोष (Innocent) होना चाहिए अर्थात् इसका उद्देश्य आक्रमणात्मक न हो। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा यदि कोई प्रतिबन्ध न लगाये गये हों तो किसी तटवर्ती राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह शान्तिकाल में अपने जलडमरूमध्य में से किसी राज्य के जहाजों के निर्दोष रूप से गुजरने पर प्रतिबन्ध लगा सके। न्यायालय की सम्मति में उत्तरी कोर्फू जलप्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय महामार्गों की श्रेणी में आती है और शान्तिकाल में कोई तटवर्ती राज्य किसी दूसरे देश के जहाजों को इसमें से गुजरने से नहीं रोक सकता। इन कारणों के आधार पर न्यायालय ने अल्बानिया की सरकार का यह दावा स्वीकार नहीं किया कि ग्रेट ब्रिटेन ने उसकी पूर्व स्वीकृति लिये बिना इस जलप्रणाली में अपने युद्धपोत भेजकर उसकी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण किया है। अतः दो वोटों के विरुद्ध चौदह वोटों के बहुमत से न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि २२ अक्टूबर १९४६ को अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में ब्रिटिश बेड़े के कार्यों से ग्रेट ब्रिटेन ने अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण नहीं किया।

किन्तु १२-१३ नवम्बर १९४६ को ब्रिटिश बेड़े द्वारा अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में उसकी स्वीकृति लिये बिना सुरंगें साफ करने के कार्य को न्यायालय ने सर्वसम्मति से ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण घोषित किया। न्यायालय की सम्मति में "इस प्रकार से दूसरे देश में हस्तक्षेप करने का तथाकथित अधिकार बल-प्रयोग की नीति का ही रूप समझा जाना चाहिये। भूतकाल में इसके अनेक भीषण दुरुपयोग हुए हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में कितने ही दोष क्यों न हों, किन्तु इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्थान नहीं दिया जा सकता।" न्यायालय ने ग्रेट ब्रिटेन का यह मत स्वीकार नहीं किया कि सुरंगें साफ करने का उद्देश्य आत्मरक्षा और स्वावलम्बन था। "स्वतन्त्र राज्यों में एक-दूसरे की प्रादेशिक प्रभुसत्ता के प्रति पूरा आदर होना चाहिये, यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक आवश्यक आधार है।" न्यायालय ने यद्यपि यह स्वीकार किया कि "२२ अक्टूबर के विस्फोटों के बाद अल्बानिया की सरकार ने अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया, यह ग्रेट ब्रिटेन के साथ इस विषय में कूटनीतिक पत्र-व्यवहार करने में बड़ा विलम्ब करती रही। ये परिस्थितियाँ ग्रेट ब्रिटेन के अपराध की गुरुता को न्यून करने वाली (Extenuating) हो सकती हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये न्यायालय को यह घोषणा अवश्य करनी है कि ब्रिटिश नौसेना का यह कार्य अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण था।"

(१३) श्री सावरकर का मामला (१९११)—प्रत्यर्पण, प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र—प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री विनायक दामोदर सावरकर भारतीय प्रजाजन थे, ग्रेट ब्रिटेन में उन्होंने भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिए क्रान्तिकारी दल का संगठन किया और भारत में क्रान्ति का प्रसार करने के प्रयत्न किये। इन कार्यों के लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इंगलैंड में बन्दी बनाया, उन पर राजद्रोह तथा हत्या की प्रेरणा (Abetment of murder) के अपराधों के लिए अभियोग चलाने के लिए पी० एण्ड ओ० कम्पनी (P. and O. Co.) के मोरिया (Morea) नामक जहाज द्वारा उन्हें भारत भेजा गया। रास्ते में यह जहाज फ्रांस के मार्सेल्ज़ नामक बन्दरगाह में ठहरा। यहाँ २५ अक्टूबर १९१० को श्री सावरकर इस जहाज से समुद्र में कूद पड़े और तैरकर समुद्रतट पर आ गये। वहाँ इन्हें एक फ्रेंच सिपाही ने पकड़ लिया और प्रत्यर्पण (Extradition) की पूरी कार्यवाही किये बिना ही इन्हें ब्रिटिश जहाज के कप्तान को सौंप दिया गया।

श्री सावरकर राजनीतिक अपराधी थे, अतः फ्रेंच सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि श्री सावरकर फ्रांस को वापिस कर दिये जायें और ब्रिटिश सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विधान के अनुसार औपचारिक रूप से श्री सावरकर को इंगलैंड को अर्पित करने की प्रार्थना करे। ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांस की यह माँग स्वीकार नहीं की। पारस्परिक सहमति से दोनों देश इस मामले को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गये। इसने अपने निर्णय में यद्यपि यह स्वीकार किया कि इस मामले में ब्रिटिश अधिकारियों को श्री सावरकर के सौंपने में अनियमितता हुई है तथापि इसने अपना फैसला ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष में दिया और यह कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार ऐसी परिस्थितियों में किसी शक्ति को अपने किसी ऐसे बन्दी को लौटाने के लिए बाधित किया जा सके, जो किसी विदेशी व्यक्ति की भूल से उसे मिल गया हो।

अनेक विधिशास्त्रियों (Jurists) ने इस निर्णय की बड़ी कटु आलोचना की, किन्तु इस मामले की विशिष्ट परिस्थितियों को देखते हुए कई कारणों से यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है। पहला कारण यह है कि ब्रिटिश सरकार ने फ्रेंच सरकार को यह सूचना पहले से ही दे दी थी कि मोरिया जहाज मार्सेल्ज़ बन्दरगाह में रुकेगा और इस पर एक बन्दी श्री सावरकर भी होगा। फ्रेंच सरकार ने यह सूचना पाने पर कोई आपत्ति नहीं की। दूसरा कारण यह है कि इस निर्णय से केवल इतना सिद्धान्त ही तय हुआ कि जब किसी राज्य का कोई व्यक्ति या अभिकर्त्ता (Agent) दूसरे राज्य के अधिकारियों को किसी भागे हुए कैदी को सौंपने में कोई अनियमितता करे तथा उसका यह कार्य सद्भावना से किया गया हो, तो यह बन्दी उस राज्य को लौटाया जाना आवश्यक नहीं है, जिसके अधिकारियों ने पहले इसे पकड़कर दूसरे राज्य को दे दिया हो और बाद में उस राज्य ने अपने अधिकारियों के कार्य को अवैध बताते हुए समर्पित बन्दी को वापिस करने की माँग की हो। इस मामले में फ्रेंच सरकार ने ९ जुलाई से पूर्व श्री सावरकर को ब्रिटिश पुलिस को सौंपने वाले अपने फ्रेंच ब्रिगेडियर

के कार्य को अनुचित नहीं ठहराया था। इस समय तक मोरिया मार्सेल्ज़ से चल चुका था, ब्रिटिश अधिकारियों को यह विश्वास था कि ब्रिगेडियर ने अपनी सरकार से प्राप्त आदेशों के अनुसार ही श्री सावरकर को उनके हवाले किया है। ब्रिगेडियर ने भी यह कार्य पूर्ण सद्भावना के साथ किया था। यद्यपि उसने इस विषय में ऊपर से आदेश प्राप्त नहीं किये थे और प्रत्यर्पण की पूरी कानूनी विधि का पालन नहीं किया था, फिर भी इस मामले में फ्रांस की प्रभुसत्ता के उल्लंघन का कोई कार्य नहीं हुआ। इसमें सभी व्यक्तियों ने सद्भावना (Good faith) के साथ कार्य किया, कोई अवैध कार्य नहीं किया। अतः प्रत्यर्पण की पूरी कानूनी कार्यवाही न होने पर भी, ग्रेट ब्रिटेन को श्री सावरकर को पुनः फ्रांस को लौटाने के लिये किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता था।

(१४) सैब्बाटिनो का मामला (१९६२)—राज्य का उत्तरदायित्व—यह मामला राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न होने वाले राज्य के उत्तरदायित्व (The International Responsibility of State) से सम्बन्ध रखता है। इसमें वादी क्यूबा का राष्ट्रीय बैंक तथा प्रतिवादी सैब्बाटिनो थे। ६ अगस्त १९६० को क्यूबा की साम्यवादी सरकार ने राष्ट्रीयकरण का एक कानून बनाया। इसने इस देश में विद्यमान सं० रा० अमेरिका के नागरिकों की सारी सम्पत्ति का तथा इनके द्वारा चलाई जाने वाली कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की। सैब्बाटिनो एक ऐसी कम्पनी का अस्थायी रिसीवर था, जिसे क्यूबा के कानूनों के अनुसार संगठित किया गया था, किन्तु जिसके अधिकांश हिस्सेदार सं० रा० अमेरिका में रहने वाले थे। इसने सं० रा० अमेरिका के न्यायालय में इस बात का दावा किया कि क्यूबा का राष्ट्रीयकरण का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाला है क्योंकि इसमें विदेशियों के एक विशेष वर्ग की सम्पत्ति उनको कोई मुआवजा दिये बिना उनसे जबर्दस्ती छीन ली गई है, यह कार्य सं० रा० अमेरिका से बदला लेने की भावना से किया गया है और इसमें अमेरिकन नागरिकों के साथ ही यह विशेष भेदभाव किया गया है।

निचले न्यायालय ने सैब्बाटिनो के पक्ष में निर्णय देते हुए कहा कि क्यूबा सरकार की आज्ञा ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया है और क्यूबा के राष्ट्रीय बैंक (Banco Nacional) का अधिकार अवैध है। राष्ट्रीय बैंक ने इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की। इसने निचले न्यायालय के निर्णय को रद्द करते हुए यह कहा[1] कि न्याय विभाग किसी ऐसी विदेशी सरकार द्वारा इसकी सीमाओं के भीतर ली जाने वाली सम्पत्ति की वैधता के प्रश्न पर विचार नहीं करेगा, जिस सरकार को इस देश की सरकार मुकद्दमा चलाने के समय तक स्वीकार कर चुकी है, भले ही वादी इस विषय में यह शिकायत करे कि इससे परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना हो रही है। न्यायालय इन प्रश्नों पर उसी समय विचार करेंगे, जब इनके कानूनी सिद्धान्तों के बारे में स्पष्ट रूप से कोई संधि या समझौता हुआ हो। इस प्रकार इस

१. Banco Nacional de Cuba *v.* Sabbatino, 376, U. S. 398, American Journal of International Law, Vol. 58 (1964).

मामले में 'राज्य-कृत्य' (Act of State) के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने दूसरे राज्य द्वारा किये कार्य को अपने क्षेत्राधिकार का विषय नहीं माना।

(१५) ट्रैण्ट काण्ड (१८१२)—दूतों की स्थिति—ट्रैण्ट (Trent) ग्रेट ब्रिटेन का डाक ले जाने वाला जहाज था। वह १८६१ में क्यूबा की राजधानी हवाना (Havana) से सेण्ट टामस (St. Thomas) जा रहा था। इस समय सं० रा० अमरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों में गृहयुद्ध चल रहा था। ट्रैण्ट जहाज पर दक्षिणी राज्यों द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में नियत किये गये दो दूत (Envoys) मेसन तथा स्लिडेल भी सवार थे। सं० रा० अमरीका की सरकार के एक क्रूज़र ने ब्रिटिश विरोध के बावजूद इस जहाज को घेरकर दोनों दूत उनके पूरे सामान के साथ ट्रैण्ट जहाज से उतार लिये, इन्हें बन्दी बना लिया तथा इसके बाद जहाज को अपने गन्तव्य स्थान को जाने दिया।

सं० रा० अमरीका का यह कहना था कि उसका यह कार्य सर्वथा न्यायोचित था, मेसन और स्लिडेल सैनिक व्यक्ति थे, वे युद्ध में वर्जित सन्देशों तथा कागजों को ले जा रहे थे। जब अमरीकी जहाज द्वारा ट्रैण्ट की तलाशी ली गई तो ये कागज बरामद हुए थे, अतः उसे विनिषिद्ध वस्तु (Contraband) के रूप में इन्हें पकड़ने का पूरा अधिकार था।

इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि मेसन और स्लिडेल दक्षिणी राज्यों के दूत थे, उनका पद और स्वरूप ऐसा था कि उन्हें विनिषिद्ध नहीं समझा जा सकता था। इन्हें दक्षिणी राज्यों की ओर से तटस्थ देशों में भेजा जा रहा था, तटस्थ राज्यों को युद्धकारी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध रखने का अधिकार है। अतः ग्रेट ब्रिटेन ने न केवल मेसन और स्लिडेल को अविलम्ब मुक्त करने की मांग की, अपितु अमरीकी सरकार पर इस बात के लिये भी बल दिया कि वह इस काण्ड के लिये क्षमा याचना करे। ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष का समर्थन रूस, प्रशिया, इटली और आस्ट्रेलिया ने भी किया।

चिरकाल तक पत्र-व्यवहार होने के बाद अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार की मांग स्वीकार करते हुए मेसन और स्लिडेल को मुक्त कर दिया और उन्हें एक ब्रिटिश जहाज पर बिठला दिया ताकि वे अपने मूल गन्तव्य स्थान इंगलैंड और फ्रांस तक पहुंच सकें। अमरीका द्वारा इस मामले में झुकने का कारण यह था कि उसके क्रूज़र ने मेसन और स्लिडेल को जबर्दस्ती ट्रैण्ट से उतार लिया था जब कि उसे यह उचित था कि वह इस जहाज को अमरीका के अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) में पेश करके उससे इन्हें उतरवाने की आज्ञा प्राप्त करता।

(१६) ज़मोरा (१९१५)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून तथा तटस्थता—ज़मोरा (Zamora) स्वीडन का एक व्यापारिक जहाज था। प्रथम विश्व-युद्ध में यह न्यूयार्क से तांबा तथा अनाज लादकर स्वीडन की राजधानी स्टाकहोल्म को जा रहा था। ८ अप्रैल १९१५ को इसे एक ब्रिटिश क्रूज़र ने मार्ग में ही रोक लिया तथा एक ब्रिटिश बन्दरगाह में चलने के लिए विवश किया। यहाँ पहुँचते ही इसे पकड़ने

वालों ने यह दावा किया कि इस जहाज के माल को जब्त कर लिया जाय, क्योंकि इस पर आधे से अधिक माल (तांबा) युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री (Contraband) में आता है। उस समय यह भी प्रस्ताव रखा गया कि इस जहाज के माल को इस आधार पर बेच दिया या रोक लिया जाय कि यह शत्रु के देश की ओर जा रहा है अथवा शत्रु की सम्पत्ति है।

इस अवसर पर ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध कार्य के लिये आवश्यक सामग्री सरकार द्वारा ग्रहण करने वाले सबसे बड़े अधिकारी (Procurator General) ने इस जहाज के मामले का अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) में निर्णय होने तक सारा तांबा सरकारी कार्य के लिये प्राप्त कर लेने का आदेश दिया और इसका आनुमानिक मूल्य राज्य की ओर से अधिग्रहण न्यायालय में जमा करने का वचन दिया।

ज़मोरा जहाज के मालिकों ने स्वीडन के तटस्थ राज्य होने के कारण इस आदेश पर अनेक कानूनी आपत्तियाँ उठायीं। किन्तु नौविभाग के न्यायालय (Admiralty Division) के अध्यक्ष सर सेमुअल इवान्स ने उपर्युक्त सरकारी आदेश को वैध ठहराया। इस पर जहाज के मालिक इस मामले को ब्रिटेन के उच्चतम न्यायालय प्रिवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी में ले गये। प्रिवी कौंसिल में लार्ड पार्कर ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक निर्णय में सरकार द्वारा ज़मोरा जहाज के माल की जब्ती के निचले न्यायालय के फैसले को रद्द कर दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई जटिल प्रश्नों पर सुन्दर प्रकाश डाला। इस दृष्टि से ज़मोरा का मामला असाधारण महत्व रखता है।

इस मामले में कई महत्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय थे। पहला प्रश्न यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार क्या ब्रिटिश सरकार या ताज (Crown) को अधिग्रहण न्यायालय के निर्णय से पूर्व जहाजों को या उनके माल को सरकारी कार्य के लिये जब्त करने का अधिकार है। दूसरा प्रश्न यह था कि क्या अधिग्रहण न्यायालय के लिये इस प्रकार की जब्ती की सरकारी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। लार्ड पार्कर ने अपने निर्णय में इन प्रश्नों पर विचार करते हुए इस विषय का इतना सुन्दर विवेचन किया कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) के पारस्परिक सम्बन्धों के और युद्ध के समय अन्य देशों के जहाजों को तथा उनके माल को जब्त करने के बारे में विचार एवं मीमांसा की आधारशिला यही निर्णय है।

लार्ड पार्कर ने अधिग्रहण न्यायालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए अपने निर्णय में लिखा था, "अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) ने जिस कानून के अनुसार प्रशासन करना है, वह राष्ट्रीय (National) या जनपदीय (Municipal Law) कानून नहीं है, किन्तु राष्ट्रों का कानून (Law of Nations) या अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिग्रहण न्यायालय एक जनपदीय या राष्ट्रीय न्यायालय है, इसकी आज्ञाओं तथा आदेशों को राष्ट्रीय कानून द्वारा ही वैधता प्राप्त होती है। अतः एक दृष्टि से यह समझा जा सकता है कि यह न्यायालय जिस कानून को लागू करता है, वह राष्ट्रीय कानून की ही एक शाखा

है। फिर भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट अन्तर है। राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय करने वाला न्यायालय, इसका निर्माण करने वाले, सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के नियमों से बँधा होता है और इस कानून को क्रियात्मक रूप प्रदान करता है।···किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने वाले न्यायालय को ऐसे कानून का स्वरूप निश्चित करना तथा उसे क्रियात्मक रूप देना है, जिस कानून को किसी विशेष राज्य ने नहीं बनाया, किन्तु जिसका प्रादुर्भाव या तो विभिन्न सभ्य राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध में पालन किये जाने वाले व्यवहार (Practice) तथा प्रथा (Custom) से हुआ है अथवा जिसका जन्म स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा हुआ है।"

"यदि कोई न्यायालय किसी प्रश्न पर ऐसा निर्णय करता है, जिसे वह राष्ट्रों के कानून के अनुकूल समझता है तो यह विवाद में एक पक्ष बने हुए ब्रिटिश ताज (Crown) से कोई आदेश ग्रहण नहीं करता। यह न्यायालय स्वयमेव अपनी सर्वोत्तम योग्यता द्वारा यह निर्धारण करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या होना चाहिए। यह निर्णय चाहे कितने संकोच के साथ किया जाय, किन्तु यह सर्वदा शासकीय आदेश की अपेक्षा प्रबल होता है। केवल इसी प्रकार कोई अधिग्रहण न्यायालय अपना कार्य अच्छी तरह पूरा कर सकता है और दूसरे राज्यों द्वारा इसके निर्णयों में रखे जाने वाले विश्वास का पात्र बना रह सकता है।"

"अधिग्रहण न्यायालय का प्रधान कार्य यह है कि वह (छीनी या पकड़ी गयी) वस्तु (Res) को उन व्यक्तियों को देने के लिए सुरक्षित रखे, जो अन्ततोगत्वा इस पर स्वत्व या आगम (Title) सिद्ध कर सकें। इस प्रकार की सम्पत्ति को बेचने के सम्बन्ध में न्यायालय की नैसर्गिक शक्ति (Inherent Power) केवल उन्हीं मामलों तक सीमित है, जहाँ तक इस प्रकार की सम्पत्ति की सुरक्षा किन्हीं कारणों से सम्भव न हो। यह कारण या तो यह हो सकता है कि यह सम्पत्ति क्षयशील (Perishable) हो अथवा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँ, जिनमें इसका संरक्षण असम्भव या कठिन हो।"

"सरकार द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करने की माँग, अधिग्रहण या अर्थना का अधिकार (Right of Requisition) न्यायाधीशों की सम्मति में पूर्ण अधिकार (Absolute) नहीं है। इस अधिकार का प्रयोग कुछ निश्चित परिस्थितियों में तथा निश्चित उद्देश्यों के लिए ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुसार यह आवश्यक है कि युद्ध में पकड़ा गया शत्रु का सारा माल अधिनिर्णय (Adjudiction) के लिए अधिग्रहण न्यायालय में लाया जाय, अतः सामान्य नियम के तौर पर अर्थना के अधिकार (Right of Requisition) का तभी प्रयोग किया जा सकता है, जबकि ऐसे माल को विचार के लिए न्यायालय में लाया जा चुका हो। इस बात का निर्णय युद्धसंलग्न राज्य की कार्यपालिका ने नहीं, किन्तु न्यायालय ने करना है कि इस प्रकार जिस अधिकार का दावा किया जा रहा है, उसका प्रयोग किसी विशेष अवस्था में किया जा सकता है या नहीं।"

"एक युद्धसंलग्न शक्ति (Belligerent Power) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा यह अधिकार प्राप्त है कि वह अधिग्रहण न्यायालय द्वारा निर्णय किये जाने से पूर्व, इसके संरक्षण में विद्यमान, युद्ध में पकड़े जहाजों तथा माल के उपयोग की माँग (Requisition) करे। किन्तु यह अधिकार कई प्रतिबन्धों के साथ है। पहला प्रतिबन्ध यह है कि राज्य की रक्षा, युद्ध के संचालन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे जहाज या माल की अत्यावश्यकता होनी चाहिये। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि न्यायालय के सामने इस प्रकार का वास्तविक प्रश्न होना चाहिये। तीसरा प्रतिबन्ध यह है कि अधिकार का प्रयोग अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष आवेदन-पत्र देकर ही होना चाहिये। अधिग्रहण न्यायालय को ही न्यायिक दृष्टि से यह निर्णय करना चाहिये कि किसी विशेष मामले की परिस्थितियों को देखते हुए उसमें अर्थना या अधिग्रहण (Requisition) के अधिकार का प्रयोग होना चाहिये अथवा नहीं होना चाहिये।"

उपर्युक्त विचारों के आधार पर प्रिवी कौन्सिल ने अपील को स्वीकार करते हुए निचले न्यायालय के न्यायाधीश के निर्णय को इस आधार पर रद्द कर दिया कि उसके सामने ऐसे कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं थे, जिनके आधार पर वह ज़मोरा जहाज की या उसके माल की सरकार द्वारा कोई माँग किये जाने पर यह माल सरकार को प्रदान कर सके। प्रिवी कौन्सिल ने अपील करने वालों का यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अधिग्रहण न्यायालय के संरक्षण में विद्यमान जहाजों की अथवा माल की माँग सरकार अपनी आवश्यकता के लिए नही कर सकती। सरकार को यह अधिकार है, किन्तु इसमें उपर्युक्त तीन प्रतिबन्धों का पालन आवश्यक है, इनका पालन न करने के कारण निचले न्यायालय के निर्णय को प्रिवी कौन्सिल ने रद्द कर दिया।

(१७) एप्पम (१९१६)—तटस्थता—एप्पम (Appam) ग्रेट ब्रिटेन का एक व्यापारिक जहाज था। प्रथम विश्वयुद्ध में जनवरी १९१६ मे इसे मोएवे (Moewe) नामक जर्मन क्रूज़र (रणपोत) ने पकड़ लिया। इस समय यह निकटतम जर्मन बन्दरगाह एम्डन से १६०० मील दूर था। इसे जर्मन क्रूज़र ने १ फरवरी १९१६ को सं० रा० अमरीका के नारफोक (Norfolk) नामक बन्दरगाह में पहुँचा दिया।

सं० रा० अमरीका की सरकार ने इस प्रकार एक ब्रिटिश जहाज को अपने बन्दरगाह में लाने का घोर विरोध किया, क्योंकि वह उस समय तक तटस्थ देश था। उसने ब्रिटिश जहाज के नाविक वर्ग को तथा यात्रियों को मुक्त कर दिया, इसे पकड़ने वाले जर्मन क्रूज़र के नाविकों को नजरबन्द कर लिया और इस जहाज के विरुद्ध मान-हानि का अभियोग चलाया, क्योंकि सं० रा० अमरीका के बन्दरगाह में उसकी उपस्थिति अमरीका की तटस्थता का भंग करने वाली थी।

सं० रा० अमरीका की जिला संघीय अदालत (District Federal Court) ने इस विवाद में यह निर्णय किया कि ज्यों ही ब्रिटिश जहाज तटस्थ देश के समुद्र में वहाँ अनिश्चित काल तक रखे जाने के इरादे से प्रविष्ट हुआ, उसी समय जर्मन सरकार का ब्रिटिश जहाज पर अधिकार का कानूनी दावा समाप्त हो गया। इस निर्णय

के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की गई। उसने निचले न्यायालय के निर्णय को सुस्पष्ट करते हुए कहा—"युद्ध में पकड़े हुए जहाज को कानूनी तौर से तटस्थ समुद्र में रक्षक-पोत या बेड़े (Convoy) के बिना नहीं लाया जा सकता। एप्पम को पकड़ने के बाद सामान्य पद्धति यह होनी चाहिये थी कि उसे किसी जर्मन बन्दरगाह में ले जाया जाता, वहाँ जर्मनी का अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) उसके सम्बन्ध में निर्णय करके उसे युद्ध में अधिगृहीत पोत (Prize Vessel) घोषित करता। किन्तु यह जहाज न तो जर्मनी के और न उसके किसी मित्रदेश के बन्दरगाह में ले जाया गया, अमरीका में उसे लाने का उद्देश्य उसकी मरम्मत करना नहीं था, वह ऋतु की प्रतिकूलता, ईंधन या खाद्य सामग्री की कमी से विवश होकर थोड़े समय के लिये यहाँ नहीं आया, किन्तु तटस्थ देश के बन्दरगाह में बिना रक्षकपोत (Convoy) के आया। इन अवस्थाओं में युद्धसंलग्न देश का यह प्रयत्न था कि वह तटस्थ देश अमरीका के बन्दरगाह को युद्ध में पकड़े जहाजों को सुरक्षित रखने का स्थल बनाए, किन्तु उन्हें यहाँ अनिश्चित काल तक रखना हेग के समझौते की व्यवस्थाओं के अनुसार तटस्थता का भंग करना था।"

(१८) **आल्टमार्क (१९४०)—तटस्थता**—आल्टमार्क जर्मनी का एक सहायक युद्धपोत (Auxiliary Warship) था। सितम्बर १९३९ में जब जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के बीच द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो यह मैक्सिको की खाड़ी में राटरडम बन्दरगाह के लिये पैट्रोल का परिवहन कर रहा था। इस पर दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा बन्दी बनाये गये तीन सौ से अधिक ब्रिटिश अधिकारी तथा नाविक भी थे। १४ फरवरी १९४० को आल्टमार्क नार्वे के प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters) में प्रविष्ट हुआ, उसका यह इरादा था कि वह नार्वे और स्वीडन के तटस्थ राज्यों के प्रादेशिक समुद्रों में तट के साथ-साथ चलते हुए किसी जर्मन बन्दरगाह में सुरक्षित रूप से पहुँच जाय और ग्रेट ब्रिटेन के नौसैनिक आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रहे।

नार्वे के अधिकारी आल्टमार्क के कागजों की जाँच करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे कि वह सहायक युद्धपोत है, इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तटस्थ देश के समुद्र में से गुजरने का अधिकार है, अतः उन्होंने इसे अपने प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने की अनुमति दी और इस जहाज की तलाशी लेने की ग्रेट ब्रिटेन की प्रार्थना अस्वीकार कर दी, क्योंकि तलाशी केवल व्यापारिक पोतों की ही ली जा सकती है। इस पर ब्रिटिश विध्वंसक कज्जाक (Cossack) ने १६ फरवरी १९४० को आल्टमार्क पर आक्रमण किया और नार्वे सरकार के प्रतिवादों के बावजूद इस जहाज पर विद्यमान बन्दी ब्रिटिश प्रजाजनों को बलपूर्वक छीनकर इंगलैण्ड पहुँचा दिया।

इस पर नार्वे की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन पर उसकी तटस्थता भंग करने का दोषारोपण किया, इस कार्य की निन्दा करते हुए उसे कड़ा प्रतिवाद-पत्र भेजा। ब्रिटिश सरकार ने इसका उत्तर देते हुए यह कहा कि उसका कार्य सर्वथा न्यायोचित था, नार्वे की सरकार ने इस जहाज की जाँच और तलाशी ठीक ढंग से नहीं ली थी, इस पर युद्धबन्दियों की उपस्थिति ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की इस व्यवस्था के लाभ

से वंचित कर दिया था कि उसे तटस्थ देशों के प्रादेशिक समुद्र में से गुजरने का अधिकार है। आल्टमार्क पर युद्धबन्दी लदे होने के कारण इसका नार्वे के समुद्र में से गुजरना अवैध था। नार्वे सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह या तो बन्दियों को मुक्त कराती या जर्मन जहाज को अपने प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाने का आदेश देती।

नार्वे की सरकार ने ब्रिटिश सरकार के आदेश का खण्डन करते हुए कहा कि आल्टमार्क युद्धपोत था, अतः उसकी तलाशी लेने का कोई अधिकार नार्वे को न था। नार्वे का केवल यही कर्त्तव्य था कि वह उस जहाज के स्वरूप और दर्जे का प्रामाणिक रूप से पता लगाये, यह कार्य उसके टारपीडो बोट ने १४ फरवरी को कर लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार ऐसे प्रादेशिक समुद्र में से जहाँ योद्धा देशों के रणपोतों को गुजरने का अधिकार हो, वहाँ रणपोतों द्वारा युद्धबन्दियों का परिवहन अवैध ठहराया गया हो। आल्टमार्क नार्वे के किसी बन्दरगाह में नहीं ठहरा, वह अविच्छिन्न रूप से निरन्तर यात्रा (Continuous voyage) कर रहा था। १९०७ के हेग अभिसमय में तथा नार्वे की तटस्थता के नियमों में ऐसे युद्धपोत के गुजरने के लिये समय की कोई अवधि निश्चित नहीं की गई है, अतः आल्टमार्क के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वह २४ घण्टे के बाद नार्वे के प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाय, उसका नार्वे के समुद्र में से गुजरना सर्वथा वैध था, नार्वे ने इस सम्बन्ध में अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन किया, अतः ग्रेट ब्रिटेन द्वारा उसके प्रादेशिक समुद्र में घुसकर ऐसा कार्य करने का कोई औचित्य नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वानों में से कुछ ग्रेट ब्रिटेन का कार्य न्यायसंगत समझते हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश विधिशास्त्री नार्वे का पक्ष न्यायोचित मानते हैं। उनका मत है कि नार्वे ने अपनी तटस्थता का पालन किया, १९०७ के तेरहवें हेग समझौते की १०वीं धारा उसके पक्ष का समर्थन करती है, क्रीमियन युद्ध में सिटका (Sitka) काण्ड भी उसके दावे का पोषक है। येल विश्वविद्यालय के प्रो० एडविन बरोचर्ड (Edwin Brochard) ने इस मामले के सम्बन्ध में यह सत्य ही लिखा है—"ब्रिटिश विध्वंसक द्वारा आल्टमार्क पर विद्यमान युद्धबन्दियों को छुड़ाने की अदम्य लालसा के साथ सहानुभूति होना स्वाभाविक है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि नार्वे ने अपनी तटस्थता के किन्हीं कर्त्तव्यों का उल्लंघन किया है। आल्टमार्क की तलाशी लेने का ब्रिटेन को कोई अधिकार नहीं था।" उसने इस विषय में १८७० के फ्रेंको-प्रशियन युद्ध का एक मनोरंजक दृष्टान्त दिया है। इसमें ग्रेट ब्रिटेन तटस्थ था, एक फ्रेंच युद्धपोत कुछ जर्मनबन्दियों के साथ उसके प्रादेशिक समुद्र फर्थ आफ फोर्थ (Firth of Forth) में प्रविष्ट हुआ, इस पर जर्मनी के वाणिज्यदूत (Consul) लीथ (Leith) ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि तटस्थ होने के नाते वह फ्रेंच पोत के जर्मन युद्धबन्दियों को मुक्त करा दे। उस समय ब्रिटिश सरकार ने यह उत्तर दिया कि फ्रेंच रणपोत को ब्रिटिश प्रादेशिक समुद्र में प्रवेश करने का तथा कुछ निश्चित समय तक रहने का अधिकार है। इस पर विद्यमान युद्धबन्दी स्वतन्त्र नहीं हो सकते, क्योंकि इस जहाज परवे फ्रांस के अधिकारक्षेत्र में हैं और तटस्थ

देश को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु आल्टमार्क के मामले में ग्रेट ब्रिटेन नार्वे द्वारा इस प्रकार का कार्य करवाना चाहता था। हाइड (Hyde) ने भी यही मत प्रकट किया है कि नार्वे को आल्टमार्क की तलाशी लेने का कोई अधिकार नहीं था।

(१६) **असमा मारू (१६४०)**—(**तटस्थता**)—द्वितीय विश्वयुद्ध में जनवरी १६४० में जापान का एक व्यापारिक जहाज असमा मारू होनोलूलू से योकोहामा की ओर जा रहा था। होनोलूलू तथा योकोहामा क्रमशः सं० रा० अमरीका तथा जापान के बन्दरगाह थे, उस समय दोनों देश युद्ध में सम्मिलित न होने के कारण तटस्थ राज्य थे। इस जहाज पर असैनिक (Civilian) जर्मन नागरिक भी थे। जब यह जहाज जापान के प्रादेशिक समुद्र के निकट पहुँचा तो एक ब्रिटिश क्रूज़र ने इस जहाज को पकड़ लिया, इसके २१ जर्मन नागरिकों को यह कहकर जहाज से उतार लिया कि ये जर्मनी जा रहे हैं और वहाँ सेना में भर्ती हो सकते हैं।

जापान की सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन के इस कार्य के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद किया और इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण बताया। ब्रिटिश सरकार ने इसका यह उत्तर दिया कि जर्मन सैन्य कानून के अनुसार १८ वर्ष से ४५ वर्ष तक की आयु वाले प्रत्येक पुरुष जर्मन नागरिक के लिये शस्त्र धारण करके सैनिक सेवा करना अनिवार्य है, इस जहाज के २१ जर्मन यात्री सैनिक सेवा के लिये निर्धारित आयु के थे। अतएव वे युद्ध की विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband of war) में आते हैं, क्योंकि स्वदेश पहुँचने पर वे सेना में भर्ती हो सकते हैं।

जापान की सरकार ने इसका यह उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार का यह कार्य ट्रैण्ट (देखिये ऊपर पृ० ६१२) के सुप्रसिद्ध मामले तथा **स्टीमशिप चायना** (S. S. China) के मामलों में निर्धारित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योंकि इस मामले में रोके गये व्यक्तियों का पद और स्वरूप ऐसा नहीं था जो उन्हें विनिषिद्ध वस्तु बना सके। तटस्थ राज्यों को यह अधिकार है कि वे युद्धकाल में युद्धसंलग्न दोनों पक्षों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखें। इस अवस्था में केवल उन्हीं व्यक्तियों को रोका जा सकता है, जो सशस्त्र अथवा सहायक (Auxiliary) सेनाओं के सदस्य हों। स्टीमशिप चायना के मामले में यह सिद्धान्त बड़े स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्रियों ने ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण को गलत ठहराया क्योंकि यह ट्रैण्ट के मामले तथा स्टीमशिप चायना के मामले में निश्चित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इनके मतानुसार ग्रेट ब्रिटेन का कार्य किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं था। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने २१ जर्मनबन्दियों में से नौ व्यक्तियों को इस आधार पर छोड़ दिया कि वे सैनिक सेवा करने योग्य नहीं थे।

(२०) अलबामा क्षतिपूर्ति दावा (१८७१)—सं० रा० अमरीका के गृहयुद्ध (१८६१–६५) के समय ग्रेट ब्रिटेन के बन्दरगाहों में दक्षिणी राज्यों के संघ (Confederacy) के लिये अनेक जहाज बनाये गये, उनमें उत्तरी राज्यों के जहाजों पर

हमला करने के लिये भारी तोपें लगायी जाती थीं। जब ये ब्रिटिश बन्दरगाहों से निकलते थे तो इन पर कोई हथियार नहीं होते थे, किन्तु उस समय सब यह जानते थे कि इन जहाजों का प्रधान उद्देश्य उत्तरी राज्यों के समुद्री व्यापार पर आक्रमण करना है। इस प्रकार का एक आक्रान्ता जहाज अलबामा (Albama) लिवरपूल के बन्दरगाह में तैयार हो रहा था। ग्रेट ब्रिटेन में उत्तरी राज्यों के अमरीकी प्रतिनिधि श्री एडम्ज ने २३ जून १८६२ को ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि यह जहाज उत्तरी राज्यों के समुद्री व्यापार पर हमले के इरादे से तैयार किया जा रहा है, अतः इसके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही की जाय। ब्रिटिश सरकार ने इस विषय में आवश्यक जाँच आरम्भ की तथा २६ जुलाई को ब्रिटेन के कानूनी अधिकारियों ने इसके रोक लेने या निरोध (Detention) की सलाह दी।

किन्तु इसी दिन प्रातःकाल यह जहाज परीक्षणात्मक यात्रा (Trial trip) के लिये बन्दरगाह से समुद्र की ओर रवाना हो गया और ३१ जुलाई तक एंगल्सी (Anglesey) नामक टापू के पास खड़ा रहा, इसी बीच लिवरपूल से आकर ४० व्यक्ति इस पर चढ़े और बिना किन्हीं हथियारों के यह अज़ोर्ज़ (Azores) द्वीपसमूह के टर्सीरा बन्दरगाह की ओर रवाना हो गया, यहाँ लन्दन और लिवरपूल से आने वाले दो जहाजों ने इसे हथियार, कोयला, अफसर तथा कप्तान दिये, जहाज पर सवार व्यक्तियों को इसका असली उद्देश्य बताया तथा जो व्यक्ति आक्रमण के कार्य में भाग नहीं लेना चाहते थे, उन्हें वापिस भेज दिया गया।

इसके बाद अलबामा ने उत्तरी राज्यों के समुद्री व्यापार पर हमले करने शुरू किये, इसने ७० जलपोतों को पकड़कर उनको गम्भीर आर्थिक क्षति पहुँचायी। उत्तरी राज्यों के जहाजों के इस भीषण विध्वंस के कारण यह गृहयुद्ध लम्बा खिंच गया। इसी प्रकार की हानि अलबामा के अतिरिक्त इंगलैंड में तैयार होने वाले अन्य जहाजों ने भी उत्तरी राज्यों को पहुँचायी। गृहयुद्ध समाप्त होने पर अमरीकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि वह ब्रिटेन में तैयार होने वाले जहाजों से सं० रा० अमरीका को हुई गहरी आर्थिक क्षति की पूर्ति करे। इस पर दोनों देशों में बड़ी अप्रियता और कटुता उत्पन्न हुई, इसका अन्त १८७१ की वाशिंगटन की सन्धि द्वारा हुआ। इसके अनुसार दोनों देश क्षतिपूर्ति के प्रश्न को पंचायत या मध्यस्थ निर्णय (Arbitration) द्वारा तय कराने के लिये सहमत हो गये।

इसका निर्णय करने के लिये बनाये गये पंचों को यह निर्देश दिया गया कि वे इस विषय में तटस्थ राज्यों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ नियमों का पूरा ध्यान रखें। ये नियम मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—(१) एक तटस्थ सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसा समुचित प्रयत्न करे, जिससे इसके क्षेत्राधिकार में विद्यमान किसी भी जहाज को बनाने अथवा हथियारों से सुसज्जित करने से उस अवस्था में रोका जा सके, जब कि इस बात की युक्तिसंगत संभावना हो कि जहाज उस देश के साथ शान्ति रखने वाली किसी शक्ति के विरुद्ध लड़ाई करने का इरादा रखता है। इसी प्रकार तटस्थ सरकार को इस बात का भी उद्योग करना चाहिए कि वह अपने

क्षेत्राधिकार से किसी ऐसे जहाज की रवानगी रोक सके जिस जहाज का विचार इस देश के साथ शान्ति रखने वाले किसी देश के विरुद्ध युद्ध करने का हो। (२) तटस्थ सरकार का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि यह युध्यमान (Belligerent) पक्षों में से किसी पक्ष को इसके बन्दरगाहों को या प्रादेशिक समुद्र को दूसरे पक्ष के विरुद्ध नौसैनिक कार्यवाही करने का अड्डा नहीं बनने देगी, और न ही इन्हें सैनिक रसद को तथा शस्त्रास्त्रों को भेजने का अथवा सैनिकों की भर्ती का अड्डा बनाया जा सकता है। (३) इसका यह भी कर्त्तव्य है कि यह अपने बन्दरगाहों तथा प्रादेशिक समुद्रों में ऐसी सावधानी बरतेगी कि यह अपने क्षेत्राधिकार में विद्यमान सभी व्यक्तियों से उपर्युक्त दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करा सके और किसी व्यक्ति को इनका अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं करने दे।

पाँच मध्यस्थों में से चार के बहुमत से यह निर्णय किया गया कि ग्रेट ब्रिटेन को सं० रा० अमरीका द्वारा उठायी गई क्षति को पूर्ण करने के लिये उसे एक करोड़ पचास लाख डालर स्वर्णराशि के रूप में देने चाहियें।

(२१) **फ्रांसिस्का (१८५५)–(परिवेष्टन)**—फ्रांसिस्का डेनमार्क का एक जहाज था। इसे बाल्टिक सागर में रीगा नामक बन्दरगाह को जाते हुए एक ब्रिटिश क्रूज़र ने इस आधार पर पकड़ लिया कि उन दिनों क्रीमिया युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने रूसी बन्दरगाहों पर परिवेष्टन या घेरा (Blockade) डाल रखा था। इस युद्ध में ब्रिटिश, फ्रेंच और रूसी सरकारों ने समुद्री व्यापार के सम्बन्ध में अनेक आदेश निकाले थे, इनके अनुसार बाल्टिक सागर के बन्दरगाहों में वे केवल अपने जहाजों को व्यापार की अनुमति देते थे, किन्तु इन आदेशों के अनुसार घेरा डालने का यह परिणाम हुआ कि बन्दरगाहों के साथ तटस्थ देशों का व्यापार बन्द हो गया।

फ्रांसिस्का जहाज की ओर से यह कहा गया कि उसके मालिकों का ब्रिटिश घेरा तोड़ने का कोई इरादा नहीं था। इस जहाज का परिवेष्टन न होने की दशा में ही रीगा जाने का आदेश दिया गया था।

प्रिवी कौन्सिल ने इस मामले का निर्णय करते हुए यह लिखा—"जिस स्थान का घेरा डाला जाय, वहाँ निरीक्षण के लिये इतनी समुद्री शक्ति अवश्य होनी चाहिये कि उसके कारण उस स्थान में जाना या वहाँ से निकलना संकटपूर्ण हो।" फ्रांसिस्का के मालिकों की अपने बचाव की इस दलील को कौन्सिल ने स्वीकार नहीं किया कि उन्हें घेरे या परिवेष्टन का ज्ञान नहीं था, क्योंकि पिछले बन्दरगाह से जहाज के रवाना होने से पहले ही जहाज के कप्तान को यह सूचना मिल चुकी थी। फिर भी माननीय न्यायाधीशों ने इस मामले का फैसला फ्रांसिस्का जहाज के मालिकों के पक्ष में ही किया। यह इस आधार पर किया गया कि यह घेरा इस कारण अवैध था कि इसे युद्ध-संलग्न देश अपने लिये तो शिथिल कर देते थे और तटस्थ देशों के लिये कठोर कर देते थे। इस वैषम्य के कारण यह घेरा गैर कानूनी था, अतः रीगा बन्दरगाह में प्रवेश का प्रयत्न करने वाले जहाज को पकड़ना अनुचित था।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भारतीय मामले

(२२) **डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी लिमिटिड** *विरुद्ध* **कमीशन आफ इंकमटैक्स**[1] (१६५८)—**राज्य उत्तराधिकार**—इस मामले में पंजाब की एक पुरानी रियासत जीन्द में दादरी नामक स्थान पर सीमेण्ट बनाने तथा बेचने के लिए एक कम्पनी की स्थापना की गई थी। पहली अप्रैल १६३८ को जीन्द के तत्कालीन शासक ने एक समझौते द्वारा इस कम्पनी को बनाने वाले शान्तिप्रसाद जैन को इस विषय में कुछ अधिकार प्रदान किये, जीन्द राज्य में सीमेण्ट बनाने के कार्य का एकमात्र अधिकार शान्तिप्रसाद को दिया गया। कम्पनी को यह अनुमति २५ वर्ष के लिए दी गई, आय-कर की दर ५ लाख की आमदनी तक ४ प्रतिशत तथा इससे अधिक आमदनी पर ५ प्रतिशत रखी गई थी, कम्पनी को चुंगी (Octroi) के अतिरिक्त सभी प्रकार के आयात तथा निर्यात-कर से छूट दी गई। पहले ये सब अधिकार शान्तिप्रसाद जैन को तथा बाद मे २७ मई १६३८ को स्थापित होने वाली डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी को प्रदान किये गये।

१५ अगस्त १६४७ को जीन्द के राजा ने अपने प्रदेश की प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों तथा संचार साधनों के विषय में कानून बनाने के बारे में भारत सरकार का अधिकार स्वीकृत किया। ५ मई १६४८ को पूर्वी पंजाब की आठ रियासतों के राजाओं ने एक समझौते द्वारा अपने प्रदेशों को मिलाकर पेप्सू (Patiala East Punjab States Union) नामक राज्यसंघ बनाया। २० अगस्त १६४८ को पेप्सू के राज-प्रमुख ने जीन्द राज्य का प्रशासन संभाला और एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा घोषणा की गई कि अब इस मे पटियाला राज्य के कानून लागू होंगे, पिछले कानून रद्द कर दिये जायेंगे। २४ नवम्बर १६४६ को राजप्रमुख ने एक घोषणा द्वारा भारतीय संविधान को स्वीकार किया। १३ अप्रैल १६५० को पेप्सू ने भारत सरकार की संघीय वित्तीय एकीकरण योजना (Federal Financial Integration Scheme) स्वीकार की और यहाँ केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित कर लगाने की व्यवस्था चालू हुई।

इसके बाद कम्पनी की आमदनी पर केन्द्रीय सरकार ने निर्धारित आय-कर की दर से कर लगाया। इस विषय मे कम्पनी का यह कहना था कि उनसे आय कर इस दर से नहीं, अपितु १ अप्रैल १६३८ को जीन्द के राजा के साथ हुए समझौते में तय की गई दर से लिया जाना चाहिये, क्योंकि इस समझौते द्वारा राजा ने जो दायित्व और शर्तें स्वीकार की थीं, वे नये राज्य को उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त हुई है, वह उनका पालन करने के लिए बाध्य है, नये राज्य का नवीन अध्यादेश पुराने राज्य के साथ किये गये समझौते की कानूनी स्थिति को समाप्त नहीं कर सकता है। प्रतिवादी का यह कहना था कि राजाओं द्वारा पेप्सू को बनाने के लिए किया गया समझौता **राज्य-कृत्य** (Act of State) है, इसकी वैधता के बारे में राष्ट्रीय न्यायालयों (Municipal Courts) को विचार करने का कोई अधिकार नहीं।

---

१. **आल इण्डिया रिपोर्टर १६५८, सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ८१६, १६५६ सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ७२६**

सुप्रीम कोर्ट ने इस विषय में प्रतिवादी की युक्ति स्वीकार करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के राजाओं द्वारा संघ बनाने के लिए किया गया समझौता एक ऐसी संधि है, जिसे स्वतन्त्र राज्यों के शासकों ने किया है तथा इस संधि द्वारा उन्होंने अपने प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता के अधिकार छोड़ दिये हैं तथा इनको नवीन राज्य के शासक को प्रदान किया है। यह **राज्य-कृत्य** (Act of State) है, क्योंकि इस शब्द में किसी प्रभु-सत्तासम्पन्न राज्य द्वारा पहली बार प्राप्त किये गये सभी प्रदेश सम्मिलित होते हैं, भले ही वे किसी भी विधि—विजय या अर्पण (Cession) द्वारा प्राप्त हुए हों। इन प्रदेशों में रहने वाले निवासी नवीन शासक द्वारा प्रदेश पा लेने के बाद उसके प्रजाजन हो जाते हैं। इस नवीन स्थिति में इस प्रदेश के निवासियों को वे अधिकार नहीं प्राप्त होते, जो उन्हें भूतपूर्व प्रभुसत्तासम्पन्न शासक के समय में प्राप्त थे, अपितु उन्हें केवल वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जिनको नया शासक स्वीकार करता है या प्रदान करता है। इस प्रकार जब एक स्वतन्त्र शासक किसी प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता किसी दूसरे शासक को प्रदान करता है तो यह कार्य राज्य-कृत्य (Act of State) का रूप धारण कर लेता है। इस विषय में कोई भी दावा या मामला राष्ट्रीय न्यायालयों (Municipal Courts) में नहीं लाया जा सकता। इस मामले में पेप्सू में सम्मिलित होना राज्य-कृत्य था, इसमें सम्मिलित होने वाले जीन्द के राजा ने अपना प्रदेश पेप्सू को सौंप दिया था, इसके राज्य-कृत्य होने के कारण इस मामले पर इस न्यायालय में कोई विचार नहीं किया जा सकता था। डालमिया कम्पनी पर नई सरकार द्वारा निर्धारित आय-कर के नये नियम लागू होंगे। जीन्द राज्य के साथ हुए १९३८ के समझौते वाले पुराने नियम इस विषय में लागू नहीं हो सकते हैं।

इस मामले में न्यायाधीश विवियन बोस ने अपना मतभेदसूचक पृथक् निर्णय देते हुए यह विचार प्रकट किया कि प्रभुसत्ता के परिवर्तन से पुराने नागरिकों के सब अधिकार समाप्त नहीं हो जाते हैं।

(२३) मद्रास राज्य *विरुद्ध* **राजगोपालन (१९५६)—राज्य-उत्तराधिकार—** इस मामले में तथ्य इस प्रकार थे : १९३७ में श्री राजगोपालन इंडियन सिविल सर्विस में नियुक्त हुए तथा मद्रास सरकार में काम करने लगे। २ जून १९४७ को उन्होंने कुछ समय के लिए छुट्टी ली, अपनी छुट्टी के दिनों में उन्हें मद्रास सरकार का एक पत्र १९ जून १९४७ को प्राप्त हुआ, इसमें उनसे यह पूछा गया था कि १५ अगस्त १९४७ को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को सत्ता हस्तान्तरण करने के बाद क्या वे अपनी नौकरी करना जारी रखना चाहते हैं। उनका उत्तर स्वीकारात्मक था, किन्तु ६ अगस्त १९४७ को उन्हें मद्रास सरकार से प्राप्त एक पत्र में उन्हें १५ अगस्त के बाद सिविल सर्विस की सेवा में न रखने के निश्चय की सूचना दी गई। इस प्रकार अपनी सेवा से मुक्त होने की सूचना पाकर श्री राजगोपालन ने इस निश्चय को रद्द कराने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न होने पर उन्होंने मद्रास हाईकोर्ट में अपनी सेवा की मुक्ति के आदेश की वैधता को चुनौती देते हुए मामला चलाया। इसमें वादी का यह दावा था कि मद्रास सरकार ने ऐसा आदेश देकर १९३५ के भारत सरकार कानून के खण्ड २४० में सेवाओं के विषय में

दी गई सांविधिक गारण्टियों (Statutory guarantees) का अतिक्रमण किया है।

मद्रास सरकार का यह कहना था कि १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून के अनुसार सत्ता का हस्तान्तरण होते ही राजगोपालन की सेवायें समाप्त हो गई थीं, उसे इसके बाद इस सेवा में बने रहने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था। हाईकोर्ट ने मद्रास सरकार की इस युक्ति को रद्द करते हुए श्री राजगोपालन की प्रार्थना स्वीकार की, मद्रास सरकार के आदेश को अवैध ठहराया। मद्रास सरकार ने इस निर्णय के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की।

सुप्रीम कोर्ट में अपीलकर्त्ता ने यह युक्ति दी कि १५ अगस्त १९४७ को होने वाले परिवर्तनों से भारत में एक नवीन प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का जन्म हुआ, इसके पैदा होते ही पुराने राज्य के समाप्त हो जाने के कारण उसके साथ किये गये सेवाविषयक अनुबन्ध (Contracts) स्वयमेव समाप्त हो गये। इस विषय में प्रतिवादी का यह कहना था कि नई सरकार भले ही कितनी स्वतन्त्र क्यों न हो, वह विजय अथवा अर्पण (Cession) के कारण स्थापित होने वाले प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य से बहुत भिन्न है तथा इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह नियम नहीं लागू हो सकता है कि पिछली सरकार के समाप्त होते ही, उसके साथ किये गये सब अनुबन्ध समाप्त हो जाते हैं।

सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले का निर्णय करते हुए यह कहा कि **भारतीय स्वतन्त्रता कानून १९४७** की धारा ७ (I A) के अनुसार इंडियन सिविल सर्विस ॅ विषय में इसका पूरा नियन्त्रण करने वाला भारतमन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य के रूप में पूर्णरूप से समाप्त हो गया है। इसका यह परिणाम है कि भारतमन्त्री (Secretary of State for India) द्वारा इंडियन सिविल सर्विस के बारे में निर्धारित की गई शर्तें समाप्त हो गई हैं। इस प्रकार इस सेवा के विषय में दी गई गारण्टियाँ तथा किये गये अनुबन्ध समाप्त हो चुके हैं। इंडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी केवल सिद्धान्त रूप से ही ब्रिटिश राज्य के नीचे हैं। ब्रिटिश सरकार के भारत से चले जाने पर नई सरकार को यह पूरा अधिकार है कि वह इंडियन सिविल सर्विस के पुराने कर्मचारियों को नौकरी पर रखे या न रखे। इस आधार पर सुप्रीम कोर्ट ने मद्रास सरकार की अपील स्वीकार कर ली।

(२४) रावजी अमरसिंह *विरुद्ध* **राजस्थान की सरकार (१९५८)—राज्य उत्तराधिकार**—इस मामले में वादी रावजी अमरसिंह को २९ जनवरी १९४८ को बीकानेर के भूतपूर्व राज्य में जिला तथा सैशन जज नियत किया गया था। इसके सेवा-काल में देश में कुछ राजनीतिक परिवर्तन हुए। ७ अप्रैल १९४९ को बीकानेर के राज्य ने अन्य राज्यों के साथ मिलकर राजस्थान का संयुक्त राज्य बनाया। नये राज्य ने अपने न्यायिक प्रशासन का पुनः संगठन किया। नये संगठन में रावजी अमरसिंह को सिविल जज नियत करते हुए लघु पदों (Junior Posts) में उसको अठारहवाँ स्थान दिया गया। वादी को यह परिवर्तन नापसन्द था, उसका यह कहना था कि इससे उसे भारतीय संविधान की धारा ३११ के अनुसार दिये गये अधिकारों का अतिक्रमण होता है।

सुप्रीम कोर्ट में इस मामले का निर्णय देते हुए न्यायाधीश विवियन बोस ने कहा था कि जब एक राज्य दूसरे राज्य में विजय, विलय (Merger), सम्मिलन (Accession), एकीकरण (Integration) आदि किसी प्रक्रिया से विलीन हो जाता है तो पहली सरकार के तथा इसके सेवकों के बीच में हुए पहले सभी सेवाविषयक अनुबन्ध (Contracts of Service) स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं। अतः जो व्यक्ति नये राज्य में सेवा करना स्वीकार करते हैं, वे नवीन सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर इसकी सेवा करते हैं। अतः न्यायालय ने इस विषय में वादी की अपील को रद्द कर दिया।

(२५) यूनियन आफ इण्डिया *विरुद्ध* **चमनलाल लूना (१९५८)—राज्य उत्तराधिकार**[1]—इस मामले में प्रतिवादी भारतीय सेना को माल देने वाला ठेकेदार था। १९४५ में उसने लाहौर छावनी के मिलिटरी फार्म के मैनेजर के माध्यम से तत्कालीन भारत सरकार के सेना-विभाग को भूसा देने का एक ठेका लिया। इसके अनुसार उसने जमानत के रुपये ११०२६) रु० सेना-विभाग में जमा कराये। इस ठेके के समझौते में एक शर्त यह भी थी कि इसके बारे में कोई विवाद होगा तो उसका निर्णय एक पंच द्वारा किया जायेगा। प्रतिवादी ने पाकिस्तान बन जाने तथा लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने के बाद भारत सरकार के सेना-विभाग से ११०२६) रु० की जमानत वापिस करने का दावा किया, भारत सरकार ने इस दावे का विरोध १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता (अधिकार सम्पत्ति और दायित्व) आदेश [Indian Independence (Rights and Liabilities) Order. 1947] के आधार पर करते हुए यह कहा कि इसके अनुसार इस जमानत का उत्तरदायित्व पाकिस्तान पर है, न कि भारत सरकार पर। प्रतिवादी का यह कहना था कि इस मामले में भारतीय स्वतन्त्रता आदेश नहीं, किन्तु १९४७ का प्रतिरक्षा आदेश (Defence Order) लागू होता है, अतः भारत सरकार की युक्ति ठीक नहीं है। निचले न्यायालय ने प्रतिवादी के पक्ष में निर्णय दिया, इस पर भारत सरकार ने इस फैसले के विरुद्ध हाईकोर्ट तथा सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुप्रीम कोर्ट ने भारत सरकार की अपील स्वीकार करते हुए कहा कि यह अनुबन्ध या ठेका १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता आदेश की धारा ८ (१) (b) के अन्तर्गत है, ठेके का प्रयोजन लाहौर छावनी के मिलिटरी फार्म के मैनेजर को भूसा देना था, यह फार्म पाकिस्तान में चला गया है। इस विषय में निर्णय की कसौटी यह है कि १५ अगस्त १९४७ को यदि यह ठेका या अनुबन्ध किया जाता तो यह पाकिस्तान के प्रयोजन को पूरा करने के लिए किया जाता या भारत के प्रयोजन को। लाहौर छावनी के फार्म के पाकिस्तान में चले जाने के कारण इस ठेके का प्रयोजन पाकिस्तान का प्रयोजन पूरा करना है, अतः प्रतिवादी वादी से सुरक्षाधन की मांग नहीं कर सकता है।

(२६) पेमा छिबर उर्फ प्रेमाभाई छीबाभाई लंगल *विरुद्ध* **यूनियन आफ इण्डिया एण्ड अदर्स**[2] **(१९६६)—राज्य उत्तराधिकार**—इस मामले में सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रश्न पर अपना निर्णय दिया है कि सैनिक कार्यवाही द्वारा जीते गये पुर्त्तगाली प्रदेश में नई

---

१. आल इंडिया रिपोर्टर १९५७, सुप्रीम कोर्ट रिपोर्ट ६५२

२. Pema Chhibar *v.* Union of India and others : A.I.R. 1966, S. C. 442.

सरकार पुरानी सरकार के उन्हीं दायित्वों को पूरा करने के लिये बाध्य की जा सकती है, जिन्हें इसने स्वीकार कर लिया है। इस मामले में प्रार्थी भूतपूर्व पुर्त्तगाली बस्ती का नागरिक था, जिसे भारत ने २० दिसम्बर १९६१ को सैनिक कार्यवाही करके अपने प्रदेश में मिला लिया था। प्रार्थी ने ९ अक्टूबर से ४ दिसम्बर १९६१ के बीच में पुर्त्तगाली अधिकारियों से १० लाख पौण्ड से अधिक मूल्य का माल आयात करने का लाइसेन्स प्राप्त किया, यह १८० दिनों के लिये वैध था। इसके अनुसार २० दिसम्बर से पहले विदेशों से माल मंगवाने के आर्डर दे दिये गये थे। चूँकि विदेशों का माल निर्धारित समय में नहीं आया था, अतः प्रार्थी ने भारत सरकार से उपयुक्त लाइसेन्सों के अनुसार माल मँगवाने की अनुमति माँगी, इसे न देने पर उसने मई १९६३ में सरकार के विरुद्ध यह आवेदनपत्र दिया।

इस मामले में प्रार्थी की ओर से यह कहा गया था कि भारत सरकार इस बात के लिये बाधित है कि वह उसे वांछित वस्तुओं का आयात करने दे क्योंकि वह २० दिसम्बर १९६१ से पहले उसे दिये गये लाइसेन्सो का माल मँगाने के अधिकार को स्वीकार कर चुकी थी। इसके विरुद्ध भारत सरकार का यह दावा था कि उसने पुर्त्तगाली प्रदेश को सैनिक विजय के साधन से प्राप्त किया है, नया प्रभु या सर्वोच्च-सत्तासम्पन्न शासक पुरानी पुर्त्तगाली सरकार द्वारा अपने पुराने प्रजाजनों के साथ किये गये समझौतों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है। यह बात नये शासक की इच्छा पर निर्भर है कि वह पुराने शासक द्वारा किये समझौतों या दिये गये वचनों का पालन करे या न करे। इस मामले में भारत सरकार ने पुराने वचनों का पालन करने से इनकार कर दिया है, अतः प्रार्थी इस विषय में कोई अधिकार नहीं रखता है।

न्यायालय ने इस विषय में निर्णय देते हुए कहा कि विजय द्वारा प्राप्त किये गये प्रदेशों के सम्बन्ध में कानूनी स्थिति निश्चित हो चुकी है। इन प्रदेशों के निवासियों को पिछले शासक या प्रभु के प्रजाजन होने के नाते जो अधिकार प्राप्त थे, वे सभी अधिकार उन्हें नये शासक के समय में स्वतः नहीं प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें इस विषय में केवल वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जिन्हें देना नया शासक स्वीकार करता है। इस विषय में न्यायालय ने Dalmia Dadri Cement Co. Ltd. *v.* Commissioner of Income Tax, 1959, S. C. R. 729, State of Gujrat *v.* Vora Fiddali A. I. R. 1964 S. C. 1043 के मामलों का हवाला देते हुए कहा है कि इनमें यह तय किया गया था कि एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को ग्रहण करना **राज्य-कृत्य** (Act of State) है, पुराने राज्य के प्रजाजन अपने उन्हीं अधिकारों को लागू करवा सकते हैं, जिन्हें नवीन शासक ने स्वीकार कर लिया हो। श्यामलाल के मामले (A. I. R. 1964, S. C. 1495) में भी यही स्थिति मानी गई थी। इस सुनिश्चित कानूनी स्थिति के आधार पर वर्तमान मामले पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि ३० दिसम्बर १९६१ को गोआ के सैनिक राज्यपाल ने यह घोषणा की थी कि आयात किया गया जो माल जहाजों द्वारा रवाना हो चुका था अथवा जिनकी विदेशी मुद्रा दी जा चुकी थी, उसी माल का आयात किया जा सकेगा। प्रार्थी का आयात किया जाने वाला माल इन

दोनों श्रेणियों में नहीं आता, अतः उसके अधिकार को नये शासक ने स्वीकार नहीं किया है, इसलिए यह अधिकार उपर्युक्त नियम के अनुसार उसे नहीं दिया जा सकता है।

(२७) रायल नेपाल एयरलाइन्स *विरुद्ध* मनोरमा मेहरसिंह लेगर[1] (१९६६) —क्षेत्राधिकार—इस मामले में कलकत्ता हाईकोर्ट ने राज्य के क्षेत्राधिकार से विदेशी राजा तथा विदेशी सरकार की एजेन्सियों की उन्मुक्ति के बारे में (State Jurisdiction, Sovereign Immunity, Extent of Immunity of Foreign Government Agencies) तथा राजदूत द्वारा इन उन्मुक्तियों का दावा किये जाने के बारे में महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्नों पर विचार किया है। इसमें वादी मनोरमा रायल नेपाल एयरलाइन्स कारपोरेशन नामक कम्पनी में कार्य करने वाले एक कम्पनी के कर्मचारी की विधवा पत्नी थी। यह कम्पनी नेपाल सरकार के नियमों के अनुसार काम करने वाला कारपोरेशन थी, इसका प्रधान कार्यालय नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में था और यह कलकत्ता में भी कार्य करती थी, जो कलकत्ता हाईकोर्ट के क्षेत्राधिकार में था। नवम्बर १९६० में, एक हवाई दुर्घटना में वादी का पति मारा गया, वादी का यह कहना था कि यह दुर्घटना प्रतिवादी कारपोरेशन की लापरवाही से हुई, अतः उसे कम्पनी से पति की मृत्यु से होने वाली हानि का हर्जाना दिया जाना चाहिए।

प्रतिवादी कारपोरेशन ने अपने लिखित वक्तव्य में यह कहा कि रायल नेपाल एयर-लाइन्स कारपोरेशन नेपाल सरकार का एक अंग है, नेपाल सरकार एक स्वतन्त्र विदेशी राज्य है, अतः कलकत्ता के न्यायालयों को इस विषय को सुनने का अधिकार नहीं है, दुर्घटना में ग्रस्त होने वाला विमान नेपाल सरकार की सम्पत्ति था तथा नेपाल सरकार की देख-रेख में काम करने वाले इस कारपोरेशन का सारा व्यय नेपाल सरकार वहन करती थी। इस प्रकार वादी का अभियोग (Cause of Cessation) कारपोरेशन के विरुद्ध नहीं, अपितु नेपाल की सरकार और उसके शासक के विरुद्ध था। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कलकत्ता के न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र से पूर्ण रूप से उन्मुक्ति (Immunity) प्राप्त है, इस विषय में कोई भी कार्यवाही भारत सरकार की सहमति के बिना किसी भी दीवानी अदालत में नहीं की जा सकती है, अतः इस मामले को गुणावगुण के आधार पर नहीं सुना जा सकता है। किन्तु जज ने प्रतिवादी के आवेदनपत्र को इस आधार पर रद्द कर दिया कि इस मामले की जाँच के लिये सुझाये गये प्रारम्भिक विचारणीय प्रश्न (Preliminary issues) तथ्य के इस मामले के विचारणीय तथ्य के प्रश्नों से ऐसे इस प्रकार सम्मिलित हैं कि इन पर अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता है।

इसके बाद भारत में नेपाल सरकार के राजदूत की ओर से न्यायालय में दिये गये एक आवेदनपत्र द्वारा उपर्युक्त तथ्यों को दोहराते हुए दो प्रार्थनायें की गई थीं—(१) विदेशी राज्यों को प्राप्त होने वाली उन्मुक्ति के दावे के आधार पर इस मामले को खारिज कर दिया जाय; (२) इस आवेदनपत्र को देने वाले राजदूत को इस मामले में उन्मुक्ति का दावा करने का अधिकार दिया जाय। इस प्रार्थनापत्र को न्यायाधीश ने इस

१. आल इण्डिया रिपोर्टर १९६७, कलकत्ता ३१९

आधार पर रद्द कर दिया कि दीवानी विधिप्रक्रिया संहिता (Civil Procedure Code) कोई ऐसा प्राविधान नहीं है कि किसी मामले से सम्बन्ध न करने वाला कोई व्यक्ति उस मामले को खारिज करने की प्रार्थना कर सकता है। निचली अदालत द्वारा दिये गये उपर्युक्त दोनों आदेशों के विरुद्ध कलकत्ता हाईकोर्ट में दो अपीलें की गई और वहाँ इनकी सुनवाई एकसाथ की गई।

न्यायालय के पहले आदेश के विरुद्ध अपील में यह कहा गया था कि न्यायधीश को इस मामले के गुणावगुणों पर विचार करने से पहले इस प्रश्न का निर्णय अवश्य करना चाहिए था कि अपील करने वाला नेपाल सरकार का अंग है या नहीं है, अन्यथा इसका मामले के निर्णय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका थी। दूसरी अपील में यह प्रार्थना की गई थी कि एक विदेशी राज्य किसी मामले में अप्रत्यक्षरूप से भी संबद्ध होने पर इस बात का पूरा अधिकार रखता है कि वह इस मामले पर विचार के दौरान किसी भी समय आकर न्यायालय से यह प्रार्थना करे कि इस मामले को सुना जाय या न सुना जाय। इस प्रकार इस मामले में न्यायालय ने तीन प्रश्नों पर निर्णय देना था—(१) विदेशी राज्य एवं राजा की क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति का स्वरूप और मात्रा। (२) इस उन्मुक्ति की माँग करने का अधिकार किसे है? (३) इसकी माँग किस प्रकार की जानी चाहिये?

इस विषय में अपना निर्णय देते हुए प्रधान न्यायाधीश बोस ने यह लिखा कि यह सत्य है कि दीवानी विधिप्रक्रिया संहिता (Civil Procedure Cod) में कहीं यह नहीं लिखा कि विदेशी राजा या सरकार दीवानी मामलों में उन्मुक्ति की माँग कर सकती है। किन्तु इस विषय में यह प्रश्न विचारणीय है कि दीवानी संहिता में ऐसी लिखित व्यवस्था न होने की दशा में क्या न्यायालय विदेशी राजा या सरकार से सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि कानून सामान्य नियम होते हैं, वे भविष्य में उत्पन्न होने वाले सभी संभावित मामलों के लिये पहले से व्यवस्था नहीं कर सकते। दीवानी विधिसंहिता भी इसी प्रकार का कानून है, इसमें न आने वाले किसी विशेष प्रश्न का निर्णय सामान्य नियमों से किया जाना चाहिये। इस विषय में हाउस आफ लार्ड्स ने Compania Naviera Vascongada *v.* Steamship Cristina 1938 (Per Lord At Bin) के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो सामान्य तथा असंदिग्ध नियमों का प्रतिपादन किया है—(१) इस देश के न्यायालय विदेशी राजा से सम्बन्ध रखने वाले मामले में उसकी इच्छा के विरुद्ध ऐसी कोई कानूनी कार्यवाही नहीं करेंगे, जिसमें वह किसी मामले में कोई पक्ष बने। विदेशी राजा के विरुद्ध या उसकी सम्पत्ति या उससे हर्जाने की माँग के बारे में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है। (२) दूसरा नियम यह है कि न्यायालय विदेशी राजा से सम्बन्ध रखने वाली, उसके स्वामित्व अथवा नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी सम्पत्ति को जब्त करने या रोकने (detain) के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही कर सकता है, भले ही इस मामले में विदेशी राजा को पक्ष न बनाया गया हो। इन नियमों की पुष्टि में न्यायालय ने Parlement Belge (1880), The United States of America *v.* Dolfas mieng et Compagnia (1952), Juan Ysmeal & Co.

v. Republic of Indonesia (1955), Rahimtoola *v.* Nizam of Hyderabad के मामलों का उल्लेख किया। इसके बाद Mighell *v.* Sultan of Johore (1894), Kranjina *v.* Tass Agency (1949), Baceus S. R. L. *v.* Servicis National Del Trigo (1957) के मामलों का निर्देश करते हुए न्यायाधीश ने लिखा कि मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि नेपाल के राजदूत द्वारा प्रतिवादी की ओर से प्रस्तुत किये गये हलफनामों में प्रतिपादित सामग्री हमें इस बात को स्वीकार करने के लिये पर्याप्त प्रमाण देती है कि वादी नेपाल सरकार का एक विभाग है और वादी द्वारा उसके विरुद्ध हर्जाने के लिये किये गये दावे के बारे में उसे इस न्यायालय के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति पाने का दावा करने का पूरा अधिकार है। अतः इस मामले को खारिज कर देना चाहिये और इसमें कोई अगली कार्यवाही नहीं करनी चाहिये, इस युक्ति में कोई बल नहीं है कि नेपाल का राजदूत इस मामले में कोई पक्ष नहीं बना है।

(२८) **कमिश्नर आफ इन्कमटैक्स आन्ध्र प्रदेश** *विरुद्ध* **एच० ई० एच० मीर उस्मान अली बहादुर (१९६६)—क्षेत्राधिकार**—इस मामले में सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रश्न पर अन्तिम निर्णय दिया था कि निजाम हैदराबाद क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रभुसत्तासम्पन्न राजा था और उसे इस आधार पर भारतीय आय-कर कानून से मुक्ति पाने का अधिकार था। इस मामले में आन्ध्र प्रदेश के आय-कर आयुक्त ने हैदराबाद के भूतपूर्व राजा निजाम की १९५०-५१ की तथा १९५१-५२ की आमदनी पर आय-कर लगाया था और इस विषय में आन्ध्र प्रदेश के हाईकोर्ट से निम्न प्रश्नों पर सम्मति माँगी थी—(१) क्या निजाम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से १९५०-५१ का कर देने से उन्मुक्ति पाने का अधिकार रखता है? (२) क्या १५ जनवरी १९५० को हुए समझौते के अनुसार उससे १९२२ के आय-कर कानून के अनुसार कर लिया जा सकता है?

आन्ध्र प्रदेश के हाईकोर्ट ने यह सम्मत्ति दी कि २५ जनवरी १९५० तक निजाम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार एक प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign) था, अतः इस तिथि तक उसे अपनी आय पर आय-कर से उन्मुक्ति पाने का अधिकार है, उसके बाद राजा न रहने से उसे यह अधिकार नहीं है। इसके बाद इस प्रश्न पर सुप्रीम कोर्ट ने विचार किया तथा हाईकोर्ट की सम्मति को स्वीकार नहीं किया। इस विषय में न्यायालय ने प्रधान रूप से दो प्रश्नों पर विचार किया—(१) विदेशी राजाओं को कर से मुक्ति पाने के अधिकार की मात्रा और स्वरूप क्या है? (२) क्या हैदराबाद के निजाम को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International Person) या प्रभुसत्तासम्पन्न राजा माना जा सकता है?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय का यह मत था कि इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून विकसित हो रहा है तथा उसे कोई सुनिश्चित रूप नहीं प्राप्त हुआ है। हेल्सबरी और आपेनहाइम जैसे लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि प्रभुसत्तासम्पन्न शासकों (Sovereign Rulers) पर कोई कर नहीं लगाया जा सकता है। किन्तु हाउस आफ लार्ड्स ने Sultan of Johore *v.* Abubakar Dunpur (1952) के मामले में यह कहा था कि न्यायाधीशों का यह विचार है कि "इंगलैण्ड में इस विषय में अभी तक

अन्तिम रूप में कानून निश्चित नहीं हुआ है···यह कोई निरपवाद नियम (Absolute Rule) नहीं है कि किसी स्वतन्त्र विदेशी राजा के सम्बन्ध में हमारे न्यायालयों में कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती है।" इसके बाद न्यायालय ने विदेशी राजाओं की सम्पत्ति पर कर से मुक्ति के विषय में अमेरिकन जर्नल आफ इण्टरनेशनल लॉ (खण्ड ४६, पृ० २३६) में प्रकाशित एक लेख से उद्धरण देते हुए यह बताया कि विदेशी राजाओं की अपनी सम्पत्ति पर कर से मुक्ति की कुछ मर्यादायें होनी चाहियें। यह कर उन्हीं अवस्थाओं में मुक्त होना चाहिये, जब वे इनसे परम्परागत शासन सम्बन्धी कार्य कर रहे हों। किन्तु वे यदि अपनी सम्पत्ति को विदेशी व्यापार में ऐसे कार्यों में लाभ के लिये लगाते हैं, जिनमें अन्य व्यक्ति अपनी पूँजी लगा रहे हैं तो इस बात का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता है कि उन्हें करों से मुक्ति प्रदान करके अन्य व्यक्तियों की तुलना में कोई विशेषाधिकार दिया जाय और वे अपने कर का भार अनावश्यक रूप से दूसरे व्यक्तियों पर डालें।

न्यायालय ने निजाम के स्वतन्त्र, प्रभुसत्तासम्पन्न राजा (Sovereign Ruler) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होने पर विशेष विस्तार से विचार किया। उन्होंने कहा कि आपेनहाइम के मतानुसार राज्यों के परिवार (Family of Nations) का सदस्य होकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व आरम्भ करने के लिये किसी राज्य में चार विशेषतायें होनी चाहियें—(१) समानता, (२) प्रतिष्ठा या गौरव, (३) स्वतन्त्रता, (४) प्रादेशिक एवं वैयक्तिक सर्वोच्च सत्ता। निजाम हैदराबाद को, इन चार विशेषताओं के होने पर ही, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जा सकता है।

हैदराबाद राज्य का पुराना इतिहास देते हुए न्यायालय ने यह बताया कि १८५८ में ग्रेट ब्रिटेन के राजा (Crown) ने समूचे भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से अपने हाथों में ले लिया, सम्पूर्ण भारत को ब्रिटिश ताज की छत्रछाया में लाने की घोषणा करते हुए लार्ड केनिंग ने कहा था कि ब्रिटिश ताज (Crown) भारत की सर्वोच्च शक्ति (Paramount Power) है। "भारतीय रियासतों पर श्वेतपत्र (White Paper on Indian States) में भी यही स्थिति स्वीकार की गई थी। १९३५ में भारत सरकार कानून (Government of India Act) ने राज्यों को भारतीय संघ में सम्मिलित होने या न होने की स्वतन्त्रता कुछ शर्तों पर ही दी थी, किन्तु १९३९ में संघ के विचार को छोड़ दिया गया। १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून से ब्रिटिश प्रभुता समाप्त हो जाने पर रियासतों की सर्वोच्च सत्ता उन्हें वापिस मिल गई, किन्तु इससे उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personality) नहीं प्राप्त हुआ। किसी भी राज्य ने हैदराबाद को वास्तविक (de facto) या कानूनी (de jure) मान्यता नहीं प्रदान की। २३ नवम्बर १९४९ को निजाम ने एक घोषणा प्रकाशित करके भारत के संविधान को इस शर्त पर स्वीकार किया कि हैदराबाद राज्य की संविधान परिषद् भी इसे संपुष्ट (ratify) करे। इस परिषद् द्वारा इस विधान को स्वीकार करने के बाद हैदराबाद को संविधान की प्रथम अनुसूची के खण्ड 'बी' में सम्मिलित किया गया। इस इतिहास से यह स्पष्ट है कि हैदराबाद १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता कानून से पहले

ब्रिटिश ताज की प्रभुता (Suzerainty) में था और इसके बाद संधिवार्ता द्वारा भारतीय राज्य का अंग बन गया। इसे किसी भी समय में अन्य राष्ट्रों ने स्वतन्त्र राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। ब्रिटिश शासन के समय में हैदराबाद की स्थिति अन्य रियासतों के समान वशवर्त्ती राज्य (Vassal State) के रूप में थी। इस विषय में न्यायालय ने आपेनहाइम (५म संस्करण, खण्ड १, पृ० १६५-६) का यह कथन उद्धृत किया कि भारतीय रियासतों की ग्रेट ब्रिटेन के साथ ऐसे वशवर्त्ती राज्यों की स्थिति है, जो आपस में अथवा विदेशी राज्यों के साथ कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नहीं रखते थे। हाल ने भी अपनी पुस्तक International Law के अष्टम संस्करण में यही मत प्रतिपादित किया है कि भारतीय रियासतें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं बन सकती हैं। इन बातों के आधार पर अन्त में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार हैदराबाद को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त नहीं था, अतः इसका राजा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति पर लगाये कर से मुक्ति का दावा नहीं कर सकता है।

(२६) सैण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया लिमिटेड *विरुद्ध* **रामनारायण**[1] **(१६५५)— राष्ट्रीयता**—इस मामले में तथ्य इस प्रकार थे। रामनारायण नामक व्यक्ति पाकिस्तान में चले गये मुल्तान नामक नगर में सैण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया की एक शाखा में कर्मचारी था, वह मुल्तान का रहने वाला था, १५ अगस्त १६४७ को भारत के स्वतन्त्र होने पर भी वह भारत नहीं आया और मुल्तान के बैंक में काम करता रहा। वहाँ ६ नवम्बर १६४७ को उसने गबन का अपराध किया और १० नवम्बर १६४७ को वह भारत भाग आया। भारत के सैण्ट्रल बैंक ने उस पर मुकद्दमा चलाने की स्वीकृति पूर्वी पंजाब की सरकार से प्राप्त की तथा उस पर कई अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाया।

रामनारायण ने अपने विरुद्ध चलाये गये मामले में प्रारम्भिक आपत्ति उठाते हुए यह कहा कि वह पाकिस्तान का नागरिक है, अतः उसके विरुद्ध मामला चलाने के लिये भारतीय दण्डविधान (Indian Penal Code) के चौथे खण्ड (Section) तथा फौजदारी प्रक्रिया (Code of Criminal Procedure) के खण्ड १८८ के अन्तर्गत ली गई अनुमति अवैध है, अतः उस पर यह मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। किन्तु निचले न्यायालय ने रामनारायण की इस आपत्ति को इस आधार पर रद्द कर दिया कि रामनारायण को इस युक्ति के आधार पर पाकिस्तान का नागरिक नहीं माना जा सकता कि वह १५ अगस्त से १० नवम्बर १६४७ तक मुल्तान में रहता रहा है। श्री रामनारायण ने इसके विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की और हाईकोर्ट ने निचली अदालत की आज्ञा रद्द करते हुए उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसके विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की गई, यहाँ भी हाईकोर्ट के निर्णय का समर्थन किया गया।

सुप्रीम कोर्ट में महाधिवक्ता (Attorney-General) ने यह युक्ति दी कि जब

1. आल इण्डिया रिपोर्टर १६५५, सुप्रीम कोर्ट ३६

रामनारायण को अभियोग चलाने की स्वीकृति दी गई थी, उस समय वह भारत में था और भारतीय नागरिक था, भारतीय दण्डविधान के अनुसार भारत के नागरिकों पर उनके द्वारा भारत की सीमाओं से बाहर किये गये अपराधों के लिये मुकद्दमा चलाया जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन ने इस युक्ति को अस्वीकार करते हुए कहा कि भारतीय दण्डविधान के चतुर्थ खण्ड की व्यवस्थायें तभी लागू होती हैं, जब अपराध करने के समय अपराधी भारत का नागरिक हो। अपराध करने के बाद यदि कोई भारतीय नागरिकता प्राप्त कर लेता है तो इसे भारतीय न्यायालयों को उसके भारतीय नागरिक बनने से पहले किये गये उसके अपराधों पर विचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता है। न्यायाधीश के शब्दों में—"इस मामले में वस्तुतः रामनारायण की नागरिकता का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है। इस मामले में वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अपराध करने के समय रामनारायण भारतीय नागरिक था। हमारा संविधान लागू होने के समय (२६ जनवरी १९५०) भारत में निवास करने वाले व्यक्तियों को संविधान के अनुसार भारतीय नागरिक माना गया है। यदि रामनारायण अपराध करने के समय भारतीय नागरिक होता तो यह भारतीय दण्डविधान के चौथे खण्ड तथा फौजदारी प्रक्रिया संहिता के खण्ड १८८ के क्षेत्र में आ जाता। श्री रामनारायण का निवास स्थान उस समय तक पाकिस्तान ही माना जाना चाहिए जब तक वह स्पष्ट रूप से अपने इस निवास स्थान को छोड़ने का इरादा नहीं प्रकट करता है। उस समय तक वह पाकिस्तान का नागरिक है, बाद में भारत का नागरिक बन जाने पर उससे पहले विदेश में किये गये अपराधों के लिये उसके विरुद्ध भारतीय न्यायालयों में मामला नहीं चलाया जा सकता।

(३०) **दी स्टेट आफ वैस्ट बंगाल** *बनाम* **जुगल किशोर मोर**—भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने स्टेट आफ वैस्ट बंगाल बनाम जुगल किशोर मोर के मामले में प्रत्यर्पण के विषय का बड़ा प्रामाणिक और सारगर्भित विवेचन किया है। मामला इस प्रकार था कि भारतीय दण्ड विधान की धारा ४२०, ४६७ और ४७१ तथा १२०वीं—की धाराओं के अन्तर्गत किये गये अपराधों की खोज करते हुए एक भारतीय अधिकारी ने कलकत्ता के चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट के सम्मुख यह आवेदनपत्र दिया कि उपर्युक्त मामले की जांच के लिए श्री जुगल किशोर मोर तथा अन्य कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध वारण्ट निकालने का आदेश जारी किया जाय और यह वारण्ट सब संबद्ध साक्षी और रिकार्ड के साथ भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय को इस उद्देश्य से भेजा जाय कि वह इस समय हांगकांग में विद्यमान मोर को भारत सरकार को प्रत्यर्पण कराने की व्यवस्था करे, क्योंकि मोर ने तथा उसके साथियों ने मई १९६१ और दिसम्बर १९६२ में एक ऐसा अपराधपूर्ण षड्यन्त्र किया था जिससे भारत की विदेशी मुद्रा के मामले में भारत सरकार को धोखा दिया जा सके, इस मामले में जांच के लिये मोर और उसके साथियों की भारत में उपस्थिति आवश्यक थी।

चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट ने आवश्यक जांच करने के बाद १९ जुलाई १९६५ को यह आदेश दिया कि उसके सम्मुख प्रस्तुत की गई सामग्री से प्रथम दृष्टि में

(Prima facie) अपराधपूर्ण षड्यन्त्र का मामला बन जाता है, यह षड्यन्त्र कलकत्ता में उसके अधिकारक्षेत्र में हुआ था, मोर एक षड्यन्त्रकारी था। अतः उसने यह आदेश दिया कि मोर की गिरफ्तारी के लिए एक वारण्ट निकाला जाय। इसे पश्चिमी बंगाल की सरकार के गृह-विभाग के सचिव को इस प्रार्थना के साथ भेजा जाय कि वह इस वारण्ट के अनुसार मोर की गिरफ्तारी के लिए आवश्यक कार्यवाही करे। इस वारण्ट की एक प्रतिलिपि कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर को सूचनार्थ भेजी गई। चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट ने पश्चिमी बंगाल की सरकार को वारण्ट के साथ इस मामले में अपनी जांच के दौरान प्रस्तुत किये गये सभी प्रमाणों की फोटो प्रतियां भी भेज दीं। पश्चिमी बंगाल की सरकार ने यह सामग्री भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय को भेजी। विदेश मन्त्रालय ने इस सामग्री तथा वारण्ट को आवश्यक कार्यवाही के लिए हांगकांग में भारत के हाई कमिश्नर को भेजा और उसने इसके आधार पर हांगकांग के औपनिवेशिक सचिव से यह प्रार्थना की कि वे वारण्ट में उल्लिखित अपराधों की जांच के लिए १८८१ के भगोड़ा अपराधी कानून (Fugitive Offenders Act) के अनुसार मोर को भारत सरकार को सौंपने का आदेश जारी करे। हांगकांग के केन्द्रीय मैजिस्ट्रेट ने इस वारण्ट पर अपने हस्ताक्षर करते हुए हांगकांग की पुलिस को मोर को गिरफ्तार करने का आदेश दिया। २४ नवम्बर १९६५ को मोर को गिरफ्तार कर लिया गया। मोर ने अदालत में यह आवेदनपत्र दिया कि हांगकांग के न्यायालय को १८८१ के भगोड़ा कानून के मातहत कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उक्त कानून में भारत के लिए ब्रिटिश प्रदेश (British possession) शब्द का प्रयोग हुआ है और १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भारत का गणराज्य अब ब्रिटिश प्रदेश नहीं रहा है, किन्तु हांगकांग की अदालत ने मोर की इस आपत्ति को स्वीकार नहीं किया।

इसके बाद १६ मई १९६६ को जुगल किशोर मोर के पिता हनुमान प्रसाद ने कलकत्ता हाईकोर्ट में अपराध प्रक्रिया संहिता की धारा ४३९ तथा संविधान की धारा २२७ के अन्तर्गत यह याचिका प्रस्तुत की कि मोर के विरुद्ध गिरफ्तारी के वारण्ट को तथा उसके विरुद्ध की गई अन्य कानूनी कार्यवाही को रद्द करने का आदेश जारी किया जाय तथा चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट को तथा भारत सरकार को मोर को हांगकांग से भारत लाने के लिए की जाने वाली कार्यवाही को भी रोकने का आदेश दिया जाय। यह याचिका हाईकोर्ट की एक डिवीज़न बैन्च ने सुनी, किन्तु इसके न्यायाधीशों में इस मामले में बड़ा मतभेद था। अतः यह मामला सुनवाई के लिए एक तीसरे न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। इसने यह निर्णय दिया कि चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट को उस ढंग से मोर की गिरफ्तारी का वारण्ट निकालने का कोई अधिकार नहीं था, जिस ढंग से उसने यह वारण्ट निकाला है, क्योंकि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुसार उसकी दृष्टि में इस प्रकार का वारण्ट नहीं निकाला जा सकता था क्योंकि १९५० का संविधान लागू होने के बाद ब्रिटिश पार्लियामैण्ट द्वारा पास किया गया १८८१ का भगोड़ा अपराधी कानून भारत के कानून का अंग नहीं रहा है और इस कारण इसके आधार पर किसी दूसरे देश से अपराधियों का प्रत्यर्पण पाने की कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

इस पर पश्चिमी बंगाल की सरकार ने इस मामले की सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले के सभी पहलुओं पर विचार करते हुए अपने निर्णय में यह लिखा कि प्रत्यर्पण एक राज्य द्वारा किसी व्यक्ति को दूसरे राज्य को ऐसे व्यक्ति का समर्पण करना है जिस पर वह राज्य उन अपराधों के लिए मुकदमा चलाना चाहता है जो उस राज्य के न्यायालयों की दृष्टि से दण्डनीय अपराध है। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को किसी व्यक्ति का समर्पण करना एक राजनीतिक कार्य है और यह या तो किसी संधि के अनुसार किया जाता है अथवा यह इसके लिए की जाने वाली तदर्थ व्यवस्था (arrangement ad hoc) द्वारा किया जाता है। इस समर्पण का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सभी सभ्य देशों का हित इस बात में है कि अपराधियों को अवश्य दण्डित किया जाय और इसी कारण सब देश इस बात को स्वीकार करते हैं कि सामान्य रूप से अपराधियों को दण्डित करने के लिए एक राज्य को दूसरे राज्य की सहायता करनी चाहिए। विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों में समर्पण सम्बन्धी कानून संधियों पर आधारित होता है। फिर भी कोई अपराधी दूसरे देश को सौंपा जाय या न सौंपा जाय इसका निर्णय प्रत्येक देश के न्यायालय स्वतन्त्र रूप से करते हैं और ये न्यायालय व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा पर भी बल देते हैं। यदि दूसरा राज्य अपने न्यायालय द्वारा इस बात पर सहमत हो जाता है कि अपराधी को गिरफ्तार करके दूसरे देश को सौंपा जाय तो यह गिरफ्तारी या तो एक नये स्वतन्त्र वारण्ट द्वारा की जाती है अथवा अपराधी की मांग करने वाले देश के न्यायालय द्वारा जारी किये गये वारण्ट के प्रमाणीकरण अथवा पृष्ठांकन द्वारा की जाती है। इस प्रमाणीकरण द्वारा दूसरा देश अपनी इस इच्छा को सूचित करता है कि वह अपराधी की गिरफ्तारी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के अनुसार अपनी सहायता देने को तैयार है। अतः दोनों देशों के न्यायालयों द्वारा दिये जाने वाले कार्य सर्वथा भिन्न होते हैं। अपराधी जिस देश के अधिकारक्षेत्र में अपराध करता है उसका न्यायालय इस बात पर विचार करता है कि अपराध करके दूसरे देश में भाग जाने वाले व्यक्ति के लिए प्रत्यर्पण की प्रार्थना की जा रही है, क्या वस्तुतः प्रथम दृष्टि में उसके विरुद्ध कोई केस बनता है। जिस देश से प्रत्यर्पण की प्रार्थना की जाती है उस देश के न्यायालय केवल इस बात पर विचार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को देखते हुए उन्हें अपने देश के कानून के अनुसार अपराधी का प्रत्यर्पण करना चाहिए या नहीं। वे केवल इसी बात को देखते है कि इस अपराध के लिए प्रथम दृष्टि में मामला बनाने के लिए पर्याप्त सामग्री है और यह कोई राजनीतिक अपराध नहीं है और यह प्रार्थना उस व्यक्ति पर राजनीतिक अपराध के लिए मामला चलाने के लिए नहीं की जा रही है।

माननीय न्यायाधीशों के निर्णय के अनुसार कलकत्ता के चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट को मोर की गिरफ्तारी के लिये वारण्ट जारी करने का अधिकार था क्योंकि उस की प्रथम दृष्टि (prima facie) में उसके सामने ऐसी पर्याप्त साक्षी थी जिससे यह स्पष्ट होता था कि मोर ने कुछ ऐसे अपराध किये हैं जिनके बारे में विचार करने का उसे पूरा अधिकार था। मोर भारत में नहीं था, अतः मैजिस्ट्रेट को उसे भारत लाने के

लिये पश्चिमी बंगाल की सरकार से आवश्यक कार्यवाही करने के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। हांगकांग के औपनिवेशिक सचिव ने वहां प्रचलित कानून के अनुसार कलकत्ता के चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट द्वारा जारी किये वारण्ट के अनुसार कार्यवाही की और उसे **भगोड़ा अपराधी कानून** के अनुसार कार्य करने का अधिकार था। उसने अपनी जांच करने के बाद यह आदेश दिया कि मोर को भारत सरकार को सौंप दिया जाय। हांगकाग में प्रचलित कानून के अनुसार मोर के समर्पण का आदेश सर्वथा वैध था और न्यायाधीश उन कारणों को समझने में असमर्थ थे जिन कारणों के आधार पर मोर की गिरफ्तारी के लिए कलकत्ता के चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट द्वारा जारी किये गये वारण्ट को अवैध बताया जा रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९६२ के भारतीय प्रत्यर्पण कानून में दी गई राष्ट्र-मण्डल के उन देशों की सूची में हांगकांग नहीं था जिन देशों से अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जा सकता था। किन्तु न्यायाधीशों की सम्मति में यह बात भारत सरकार के विदेश विभाग द्वारा मोर की गिरफ्तारी के लिए बाधक नहीं बन सकती थी बशर्ते कि वह हांगकांग के उपनिवेश-सचिव को इस बात के लिए प्रेरित करे कि वह भारत में मुकदमा चलाने के लिए मोर का प्रत्यर्पण करे। यदि हांगकांग का उपनिवेश-सचिव मोर के प्रत्यर्पण के लिए तैयार था तो यह नहीं कहा जा सकता कि चीफ़ प्रेज़िडेन्सी मैजिस्ट्रेट द्वारा मोर की गिरफ्तारी के लिए जारी किया गया वारण्ट अवैध था। न्यायाधीश कलकत्ता हाईकोर्ट के इस विचार से सहमत नहीं थे कि १९६२ के प्रत्यर्पण कानून के कारण भारत में किये गये अपराध के लिए मुकदमा चलाने के लिए किसी अपराधी का प्रत्यर्पण राजनयिक साधनों के माध्यम से नहीं कर सकती थी; अतः उनकी समिति में चीफ़ प्रेज़िडैन्सी मैजिस्ट्रेट ने मोर की गिरपतारी का वारण्ट पश्चिमी बंगाल की सरकार को भेजकर कोई अवैध कार्य नहीं किया था। इस आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल की सरकार की अपील स्वीकार करते हुए इस विषय में हाईकोर्ट द्वारा दिये गये आदेश को रद्द कर दिया।

द्वितीय परिशिष्ट

प्राचीन भारत के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम

(१) युद्धविषयक नियम

युद्ध सम्बन्धी नियमों के बारे में कौरव-पाण्डवों का समझौता (महाभारत भीष्मपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २६-३३)—

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः।
धर्मान्संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ ॥२६॥
निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात्प्रीतिर्नः परस्परम्।
यथापरं यथायोगं न च स्यात्कस्यचित्पुनः ॥२७॥
वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥२८॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥२९॥
यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्त्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥३०॥
एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥३१॥
न सुतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशंखवादेषु प्रहर्त्तव्यं कथंचन ॥३२॥
एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डववसोमकाः।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥३३॥

युधिष्ठिर और भीष्म का संवाद

शान्तिपर्व ९५।६–१४

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत्।
कथं संप्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥६॥

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥७॥

स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत्सन्नद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत्ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥८॥
स चेन्निकृत्या युध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद्धर्मतो युध्येद्धर्मेणैव निवारयेत् ॥९॥
नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद्रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्त्तव्यं न भीताय न जिताय च ॥१०॥
इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुध्येत जिघांसतः ॥११॥
साधूनां तु मिथो भेदात्साधुश्चेद्व्यसनी भवेत् ।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन ॥१२॥
भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः ।
चिकित्स्यः स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् ॥१३॥
निर्व्रणश्च स मोक्तव्यः एष धर्मः सनातनः ।
तस्माद्धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥१४॥

शान्तिपर्व ९६।३-४

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत् ॥३॥
बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत् भूमिपः ।
संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत् ॥४॥

शान्तिपर्व ९८।४८-४९

वृद्धबालौ व हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ।
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ॥

शान्तिपर्व १००।२६-२८

विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन् ।
प्रसुप्तांस्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णान्नाभिघातयेत् ॥२६॥
मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः ।
अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान्प्रतनूकृतान् ॥२७॥
सुविश्रब्धान्कृतारंभानुपन्यासान् प्रतापितान् ।
बहिश्चरानुपन्यासान्कृतवेश्मानुसारिणः ॥२८॥

शान्तिपर्व २९७।४, पराशर का वचन--

श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं ।
पराङ्मुखं पारिबर्हैश्च हीनम् ।
अनुद्यन्तं रोगिणं याचमानं ।
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन् ॥

कर्णपर्व ६०।११-१३, अर्जुन को कर्ण का कथन—

प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणेऽथ कृताञ्जलौ ।।११।।
शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथाऽर्जुन ।
अबाणे भ्रष्टकवचे भ्रष्टभग्नायुधे तथा ।।१२।।
न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि
शूराः साधुव्रते स्थिताः ।
त्वं च शूरतमो लोके
साधुवृत्तश्च पाण्डवः ।।१३।।

द्रोणपर्व १४३।७-८, भूरिश्रवा का अर्जुन को कथन—

ननु नामास्त्रधर्मज्ञस्त्वं लोकेऽभ्यधिकः परैः ।
सोऽयुध्यमानस्य कथं रणे प्रहृतवानसि ।।७।।
न प्रमत्ताय भीताय विरथाय प्रयाचते ।
व्यसने वर्तमानाय प्रहरन्ति मनस्विनः ।।८।।
इदं तु नीचाचरितमसत्पुरुषसेवितम् ।
कथमाचरितं पार्थ पापकर्म सुदुष्करम् ।।९।।

सौप्तिकपर्व ५।११-१२, कृप का अश्वत्थामा को कथन—

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः ।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ।।११।।
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः ।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ।।१२।।

सौप्तिकपर्व ६।२१-२२

स पथः प्रच्युतो धर्मात्कुपथे प्रतिहन्यते ।
गो-ब्राह्मण-नृपस्त्रीषु सख्युर्मातुर्गुरोस्तथा ।।२१।।
हीनप्राणजडान्धेषु सुप्तभीतोत्थितेषु च ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न शस्त्राणि च पातयेत् ।।२२।।

बौधायनधर्मसूत्र, १।१०।१०-११

न कर्णिभिर्न दिग्धैः प्रहरेत् । भीतमत्तोन्मत्तप्रमत्तविसन्नाहस्त्रीबालवृद्धब्राह्मणैर्न युध्येतान्यत्राततायिनः ।

गौतमधर्मसूत्र, १०।१७।१८

न दोषो हिंसायामाहवे ।।१७।। अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेश-पराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः ।।१८।।

शंख—न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नामवर्माणं सवर्मा न स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिं न दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात् । (विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२६ पर उद्धृत ।)

मनुस्मृति ७।६०-६३

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥६०॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥६१॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥६२॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥६३॥

याज्ञवल्क्य स्मृति १।३२६

तवाहं वादिनं क्लीबं निर्हेतिं परसंगतम् ।
न हन्याद्विनिवृत्तं न युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥

आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।५।११

न्यस्तायुधप्रकीर्णप्राञ्जलिपराङ्वृत्तानामार्याविधं परिचक्षते ।

वाल्मीकि रामायण (युद्धकाण्ड १८।२८-३३)

न हन्यादानृंशस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप ।
आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः ॥२८॥
अरिः प्राणान्परित्यज्यं रक्षितव्यः कृतात्मना ।
स चेद् भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ॥२९॥
त्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम् ।
विनष्टः पश्यतस्तस्यारक्षिणः शरणागतः ॥३०॥
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ।
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ॥३१॥
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ।
करिष्यामि यथार्थं तु कण्डोर्वचनमुत्तमम् ॥३२॥
धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात्तु फलोदये ।
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ॥३३॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।४

परदुर्गमवस्कन्द्य स्कन्धावारं वा पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयमयुध्यमानेभ्यश्च दद्युः ।

कौटिल्य ने युद्ध में अग्नि के प्रयोग को मर्यादित करने का प्रयत्न किया है (१३।४)

नत्वेव विद्यमाने पराक्रमेऽग्निमवसृजेत् । अविश्वास्यो ह्यग्निदवपीडनं च । अप्रतिसंख्यातप्राणिधान्यपशुहिरण्यकुप्यद्रव्यक्षयकरः । क्षीणनिचयं चावाप्तमपि राज्यं क्षयायैव भवति ।

अग्नि पुराण (रणदीक्षा कथन अध्याय २३५)

गजाद्यैश्च गजाद्याश्च न हन्तव्याः पलायिनः ।
न प्रेक्षकाः प्रविष्टाश्च अशस्त्राः पतितादयः ॥५७॥
शान्ते निद्राभिभूते च अर्द्धोत्तीर्णे नदीवने ।
दुर्दिने कूटयुद्धानि शत्रुनाशार्थमाचरेत् ॥५८॥
सम्प्राप्य विजयं युद्धे देवान् विप्रांश्च संयजेत् ।
रत्नानि राजगामीनि अमात्येन कृते रणे ॥६२॥
तस्य स्त्रियो न कस्यापि रक्ष्यास्ताश्च परस्य च ।
शत्रुं प्राप्य रणे मुक्तं पुत्रवत् परिपालयेत् ॥६३॥

शुक्रनीति के युद्धसम्बन्धी नियम (चतुर्थ अध्याय, सप्तम प्रकरण)

गजो गजेन यातव्यस्तुरगेण तुरंगमः
रथेन च रथो योज्यः पत्तिना पत्तिरेव च ।
एकेनैकश्च शस्त्रेण शस्त्रमस्त्रेण वास्त्रकम् ॥३५४॥
न च हन्यातस्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशमासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥३५५॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं युध्यमानं परेण च ॥३५६॥
पिबन्तं न च भुंजानमन्यकार्याकुलं न च ।
न भीतं न परावृत्तं सत्तां धर्ममनुस्मरन् ॥३५७॥
वृद्धो बालो न हन्तव्यो नैव स्त्री केवलो नृपः ।
यथायोग्यं तु संयोज्य निघ्नन् धर्मो न हीयते ॥३५८॥
धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी ।
न युद्धं कूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः ॥३५९॥

आक्रमण करने वालों के तीन प्रकार

कौटिलीय अर्थशास्त्र १३।१

त्रयोऽभियोक्तारो धर्मासुरलोभविजयिन इति । तेषामभ्यवपत्या धर्मविजयी तुष्यति । तमभ्यवपद्यत । परेषामपि भयाद् भूमिद्रव्यहरणेन लोभविजयी तुष्यति तमर्थेनाभ्यवपद्येत । भूमिद्रव्यपुत्रदारप्राणहरणेनासुरविजयी तं भूमिद्रव्याभ्यामुपगृह्याग्राह्यः प्रतिकुर्वीत ।

नीतिवाक्यामृत

स धर्मविजयी राजा विधेयमात्रेणैव संतुष्टः प्राणार्थाभिमानेषु न व्यभिचरति । स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति । सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ।

युद्धसम्बन्धी आदर्श

महाभारत शान्तिपर्व ९४।१, वामदेव की उक्ति

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥

शान्तिपर्व ९६।१, भीष्म का वचन

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ॥१॥
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।
सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥२॥
अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद्ब्राह्मणोऽन्तरा।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदाभवेत् ॥८॥
मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद् ब्राह्मणं योऽभिलंघयेत्।
अथ चेल्लंघयेदेव मर्यादां क्षत्रियब्रुवः ॥९॥
असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि।
यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च ॥१०॥
तां वृत्तिं नानुवर्त्तेत विजिगीषुर्महीपतिः।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥११॥
नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथंचन।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजेच्च कदाचन ॥१५॥

(२) संधि के भेद

कामन्दकीय नीतिसार के नवें सर्ग में संधि के निम्नलिखित सोलह भेद बताये गये हैं—

कपाल उपहारश्च सन्तानः संगतस्तथा।
उपन्यासः प्रतिकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥२॥
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रहः।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परिभूषणः ॥३॥
स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशः परिकीर्त्तितः।
इति षोडशकं प्राहुः संधिं सन्धिविचक्षणाः ॥४॥
कपालसंधिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः।
सम्प्रपानाद्भवति यः उपहारः स उच्यते ॥५॥
सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः।
सद्भिः संगतसंधिस्तु मैत्रीपूर्वं उदाहृतः ॥६॥
यावदायुः प्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च कारणैर्यो न भिद्यते ॥७॥

संगतः संधिरेवैष प्रहृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
सोऽपिरेतैः सन्धिकुशलैः काञ्चनः परिकीर्त्तितः ॥८॥
भव्यामेकार्थसंसिद्धि समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥९॥
मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति ।
इति यः क्रियते संधिः प्रतिकारः स उच्यते ॥१०॥
उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति ।
अयञ्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥११॥
एकार्थं सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्राभिगच्छतः ।
स संहितप्रयाणस्तु सन्धिः संयोग उच्यते ॥१२॥
आवयोर्योधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि ।
यस्मिन्पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरुषान्तरः ॥१३॥
त्वयैकेन मदीयार्थं सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥१४॥
यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुर्वर्जितः ।
सधीयते संधिविद्भिरादिष्टः संधिरुच्यते ॥१५॥
स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥१६॥
कोशांशेनाथ कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः ।
शेषप्रकृतिरक्षार्थं परिक्रयः उदाहृतः ॥१७॥
भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
सर्वभूम्युत्थितफलदानेन परिभूषणः ॥१८॥
परिच्छिन्नं फलं यत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धि सन्धिवियोजनाः ॥१९॥
परस्परोपकारश्च मैत्रं सम्बन्धजस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारस्ते च सन्धयः ॥२०॥

(३) दूत की विशेषतायें तथा नियम

बाल्मीकि रामायण (अयोध्या काण्ड १००।३५) में श्री रामचन्द्र ने भरत को दूत की निम्न विशेषतायें बतलायी हैं—अपने ही राज्य में रहने वाला (जानपद); दूसरे के अभिप्राय को जानने वाला (विद्वान्-पराभिप्रायज्ञः), समर्थ, प्रत्युत्पन्नमति और कही हुई बातों को कहने वाला—

कच्चिज्जानपदो विद्वान्दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ।

महाभारत (शान्तिपर्व ८५।२६–२८) में दूत की अवध्यता का तथा उसकी विशेषताओं का प्रतिपादन निम्न श्लोकों में किया गया है—

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ॥२६॥
यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥२७॥
कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥२८॥

कामन्दकीय नीतिसार १२।२-३, २२-२३

प्रगल्भः स्मृतिमान्वाग्मी शस्त्रे चास्त्रे च निष्ठितः ।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥२॥
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनवाहकः ।
सामर्थ्यात्पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥३॥
रिपोः शत्रुपरिच्छेदः सुहृद्बन्धुविभेदनम् ।
दुर्गकोषबलज्ञानं कृत्यपक्षोपसंग्रहः ॥२२॥
राष्ट्राव्यपेतपालानामात्मसात्करणं तथा ।
युद्धापसारभूज्ञानं दूतकर्मेति कथ्यते ॥२३॥

मनुस्मृति ६।६३-६४

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥६६॥

मत्स्यपुराण—वीरमित्रोदय के राजनीतिप्रकाश पृ० १८० पर उद्धृत

यथोक्तवादी दूतः स्याद्देशभाषाविशारदः ।
सूक्तः क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभागवित् ॥
विज्ञाय देशं कालं च यद्धितं स्यान्महीक्षितः ।
वक्ता तस्यापि यः काले स दूतो नृपतेर्भवेत् ॥

गरुड़पुराण—राजनीतिप्रकाश पृ० १८० पर उद्धृत

बुद्धिमान्मतिमांश्चैव परचित्तोपलक्षकः ।
क्रूरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते ॥

सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत—१३वाँ अध्याय दूतसमुद्देश—

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री ॥१॥ स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्व-ममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभावत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमेति दूतगुणः ॥२॥ स च त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥३॥ यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निःसृष्टार्थो यथा कृष्णः पांडवानां ॥४॥ कृत्योपग्रहोऽ—कृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमंडलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानमन्तर्भूमिपाल

टविकसंबन्धः कोशदेशतंत्रमित्रावबोधः कन्यारत्नवाहनविनिश्रावणं स्वाभीष्ट-पुरुषप्रयोगात् परप्रकृतिक्षोभकरणं च दूतकर्म ॥८॥...वीर पुरुष परिवारितः शूर-पुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत ॥१३॥ श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णप्रयोगेणैकं नन्दं जघान ॥१४॥ शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥१५॥ श्रूयते हि स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन कटहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानमाशीविषधरोपेतकरंडकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥१६॥ महत्यपकारेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥१७॥ उद्धतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः ॥१८॥ तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणः ॥१९॥ वध्याभावाद्दूताः सर्व-मेवजल्पति ॥२०॥

(४) मण्डल सिद्धान्त

सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत (१९।२०)

उदासीनमध्यमविजिगीष्वरिमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दसारांतर्धयो यथासंभवगुण-विभवान्तरतभ्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥२०॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टं वा मण्डले स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन्भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः ॥२१॥ उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित्कारणादन्यस्मि-न्नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥२२॥ राजात्मदैवद्रव्य-प्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥२३॥ य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमियर्त्ति स एवारिः ॥२४॥ मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥२५॥ यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥२६॥ पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥२७॥ पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च ॥२८॥ अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चा-न्तर्धिः ॥२९॥

कामन्दकीय नीतिसार के अष्टमसर्ग में मण्डल सिद्धान्त का वर्णन है।

(५) अधिग्रहण के नियम (Prize Law)

गौतम धर्मसूत्र (१०।२०-२३) में यह कहा गया है कि राजा की आज्ञा से संग्राम में शत्रु को जीतने पर जो धन मिलता है, वह जीतने वाले का होता है, किन्तु हाथी, घोड़ा आदि वाहन राजा का होता है, न कि जीतने वाले का। यदि सब सैनिक मिलकर एकसाथ शत्रु के सामान को जीतते हैं तो राजा को इसमें से छांटा गया विशेष द्रव्य (उद्धार) दिया जाना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्य राजा को सब सैनिकों में उनके शौर्य अथवा कार्य के अनुसार बाँट देना चाहिये। (जेता लभते सांग्रामिकं वित्तम् ॥२०॥ वाहनं तु राज्ञः ॥२१॥ उद्धारश्चापृथग्जये ॥२२॥ अन्यत्तु यथार्हं भाजयेद्राजा ॥२३॥) मनुस्मृति की व्यवस्था (७।९६-९७) गौतम सूत्र की उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ भिन्न है। वह रथ, घोड़े, हाथी आदि पर जीतने वाले का

स्वत्व मानता है, केवल सोना-चाँदी, भूमि, रत्न आदि उत्कृष्ट सम्पत्ति जीतने वाले सैनिकों द्वारा राजा को समर्पित करने योग्य समझता है। गौतम की भाँति उसने भी उत्कृष्ट वस्तुओं में राजा को विशेष अंश देने की बात कही है और श्रुति के नाम से इसकी पुष्टि की है—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥९६॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्॥९७॥

शुक्रनीति में सोने, चाँदी तथा अन्य धातुओं में कोई भेद न करते हुए शत्रु की छीनी हुई सभी सम्पत्ति पर जीतने वालों का अधिकार माना गया है—

रूप्यं हेम च कुप्यञ्च यो यज्जयति तस्य तत्।
दद्यात् कार्यानुरूपञ्च हृष्टो योधान्प्रहर्षयन्॥४।७।३७२

(६) परिवेष्टन (Blockade)

कौटिल्य ने इसे पर्युपासन कर्म (१३।४) कहा है। शत्रु को हराने के लिए वह इसे विशेष महत्व देता है और एक पूरे अध्याय में इसका वर्णन करता है। वह दुर्ग जीतने के पांच कारणों—उपजाप (शत्रुपक्षीय लोगों में फूट डालना), अपसर्प (गुप्तचरों द्वारा शत्रु की जासूसी करना), वामन (शत्रु को अपने दुर्ग से बाहर निकालना), पर्युपासन (शत्रु के किले को चारों ओर से घेरना) और अवमर्द (शत्रु के दुर्ग को ध्वस्त करना)—में परिवेष्टन को चौथा स्थान देता है।

उपजापोऽपसर्पो वा वामनं पर्युपासनम्।
अवमर्दश्च पञ्चैते दुर्गलम्भस्य हेतवः॥

पर्युपासन में कौटिल्य ने शत्रु के संचित अन्न (मुष्टि), फसल (सस्य), वीवध (अन्य देशों से या चढ़ाई के समय अपने देश से अन्न और खाद्य सामग्री के आयात के साधन—१०।२ स्वदेशान्वायतिर्वीवधः) तथा प्रसार (किसी दूर देश से घास, ईंधन आदि की आमद) को नष्ट करने पर बहुत बल दिया। जैसे १३।४ में विषमस्थस्य मुष्टिं सस्यं वा हन्याद्वीवधप्रसारौ च।

प्रसारवीवधच्छेदान्मुष्टिसस्यवधादपि।
वमनात् गूढघाताच्च जायते प्रकृतिक्षयः॥

(श्रीमूलाटीका—विषमस्थस्य शत्रुपरोधसंकटप्राप्तस्य मुष्टिं बीजवापं, सस्यं वा हन्यात्। वीवधप्रसारौ च वीवधो धान्यस्नेहादिभारः प्रसारः तृणकाष्ठादिप्रवेशः, तौ च, हन्यात्॥···वमनात्—अन्यत्र नयनात्, प्रकृतिक्षयः अमात्याद्यपचयः)।

कौटिल्य ने अन्यत्र (१२।४) शत्रु को हराने के उपायों का निर्देश करते हुए कहा है कि जब प्रबल आक्रमण करने वाले शत्रु का वीवध (खाद्य पदार्थ), भारवाहियों का समुदाय, उसकी मित्रसेना एवं पशुओं के लिए घास चारा लादे हुए काफिला चला आ रहा हो और चलते-चलते एक-एक व्यक्ति द्वारा गुजरने योग्य संकरे मार्ग (एकायन)

पर पहुँचे तो गुप्तचर उनके ऊपर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दे—एकायने वीवधासारप्रसारान् वा। श्रीमूलाटिका—एकायने एकैकक्रमगम्ये संकुचितसंकटे मार्गे। वीवधासारप्रसारान् वीवधो धान्यादिप्राप्ति; आसारः सुहृद्बलागमः प्रसारस्तृणकाष्ठादि-प्रवेशः एतान् अभिहन्युः।

कौटिल्य ने १०।४ में घुड़सवार सेना के प्रधान कार्यों में शत्रु के वीवध (उसके देश से अविच्छिन्न रूप से आने वाले खाद्य पदार्थों के आयात) को तथा आसार (मित्रसेना के आगमन) को रोकना तथा अपने वीवध और आसार की रक्षा करना बताया है (वीवधासारयोर्घातो रक्षा वा)।

(७) राज्य के आवश्यक तत्व

कौटिल्य अर्थशास्त्र (१३।४) के अनुसार राज्य के दो आवश्यक तत्व जनता और भूमि हैं—

न ह्यजनो राज्यमजनपदं वा भवतीति कौटिल्यः। मि० ७।११ पुरुषवद्धि राज्यम्। अपुरुषा गौर्वन्ध्येव किं दुहीत।

राज्य प्राप्ति के प्रकार

कौटिल्य ने राज्य प्राप्ति या लम्भ (Acquisition) के तीन कार बताये हैं (१३।५)—

त्रिविधश्चास्य लम्भः—नवो, भूतपूर्वः पित्र्यः। श्रीमूलाटीका—नवः अस्वीय एव विजिगीषुणा शत्रुसकाशार्जितः। भूतपूर्वः स्वीय एव शत्रुवशे स्थितस्तं जित्वा प्रत्याहृतः। पित्र्यः स्वपितृसंबन्ध्येवार्थः परहस्तगतः परं जित्वा प्रत्याहृतः।

(८) राज्य व राजाओं के विभिन्न प्रकार

शुक्रनीति १।१८३–८७

लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते।
वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानामविपीडनैः ॥१८३॥
सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधिः।
तदूर्ध्वं, दशलक्षान्तो नृपो **माण्डलिकः** स्मृतः ॥१८४॥
तदुध्वंन्तु **भवेद्राजा** यावत् विंशतिलक्षकः।
पञ्चाशल्लक्षपर्यन्तो **महाराजः** प्रकीर्तितः ॥१८५॥
ततस्तु कोटिपर्यन्तः **स्वराट्** सम्राट ततः परम्।
दशकोटिमितो यावत् **विराट्** तु तदनन्तरम् ॥१८६॥
पञ्चाशत्कोटिपर्यन्तः **सार्वभौमस्ततः** परम्।
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत् सदा ॥१८७॥

तृतीय परिशिष्ट

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन में उपयोगी ग्रन्थसूची

(१) पत्र-पत्रिकायें, वार्षिक विवरण

अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरन्तर विकसित हो रहा है। उसकी नवीनतम प्रगति का परिचय सबसे अधिक पत्रिकाओं और वार्षिक विवरणों द्वारा होता है, इनमें विभिन्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों और विधिशास्त्रियों के लेख तथा विश्व न्यायालय एवं राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों के विस्तृत विवरण होते हैं।

American Journal of International Law (New York 1907—).
American Political Science Review (Baltimore 1907—).
Annals of the American Academy of Political and Social Science (Philadelphia 1890—).
Annual Digest and Reports of International Law Cases, 9 Vols. 1919–1949.
Annual Register (London 1863—).
British Yearbook of International Law 1920-1939, 1944— (London).
International Law Reports (1950—).
Soviet Yearbook of International Law (Moscow).
The Indian Journal of International Law (New Delhi).
The Yearbook of World Affairs, ed. by George Keeten, George Schwartzenberger, Stevens (London).
Yearbook of International Law Commission (United Nations).

(२) सामान्य ग्रन्थ

Akeherst, Michael—A Modern Introduction to International Law, Allon and Union (London 1970).
Brterly, J. L.—The Law of Nations, Sixth Edition, rev. by C. H. M. Waldock, 1963.
Briggs—The Law of Nations, Cases, Documents and Notes (2nd Edition, 1953).
Oppenheim—International Law Vol. I (Peace) Eighth Edition 1955 and Vol. II (War) Seventh Edition 1952, both edited by Judge Lauterpacht, the leading British Treatise.

Hyde—International Law, chiefly as interpreted and applied by the United States, 2nd revised Edition 1947, 3 Vols., Leading American Treatise.

Starke, J. L.—An Introduction to International Law, 5th Edition, 1963.

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशिष्ट अंगों के ग्रन्थ

Agrawala, S. K.—International Law, Indian Courts and Legislature, N. M. Tripathi, Bombay, 1965.

Anand, R. P.– Compulsory Jurisdiction of International Court of Justice, Asia, Bombay, 1961.

Arnold, R.—Treaty Making Procedure. A Comparative study of the methods obtaining in different States, 1933.

Auguste, Burry B. D.—The Continental Shelf, Librarie Minard, Paris, 1960

Baade, Hans, W. (ed.)—The Soviet Impact on International Law, Dobbs Ferry, New York, 1966.

Berber, E. J—Rivers in International Law (Stevens).

Bishop, William—International Law, Cases and Material, Little Brown, Boston, 1962.

Blix, Hans—Treaty Making Power (Stevens, London).

Blum, Yehuda, Z.—Historic Titles in International Law, Nijhoff, The Hague, 1965.

Bouchez, L. J.—The Regime of Bays in International Law, Leyden, 1964.

Brierly, J. L.—The Outlook for International Law (Oxford, 1944).

Briggs, H. W.—The Doctrine of Continuous Voyage (Baltimore, 1926).

Carlston, Keiths—Law and Organization in World Society (Uni. of Illinois Press, 1962).

Carlston, K. S.—The Process of International Arbitration, 1946.

Castel, Jean—Gabriel—International Law chiefly as Interpreted and Applied in Canada, Toronto Uni., 1965.

Cecil, Viscount (Lord Robbert)—A Great Experiment (New York, 1941).

Chamberlain, J. P.—The Regime of the International Rivers, Danube and Rhine (New York and London, 1923).

Chamberlain, Waldo—Annual Review of United Nations Affairs (Oceana Publications, New York).

Chaudhari, M. A.—Growth of International Law and Pakistan, Uni. of Pakistan, Karachi, 1965.

Cheng, T. C.—The International Law of Recognition, 1951.
Clive Parry (ed.)—A British Digest of International Law, Vols. 5, 6, 7, 8, Stevens, London; Tripathi, Bombay, 2 Vols., 1965.
Cobbet, Pit—Cases on International Law, Vol. I Peace, 5th ed., by F. T. Gray (London, 1931), Vol. II War and Neutrality, 5th ed., by W. L. Walker (London, 1937).
Cohen, M. (ed.)—Law and Politics in Space, Montreal, 1963.
Chon, G.—Neo-Neutrality (New York, 1939).
Colombos, C. J.—A Treatise on the Law of Prize, 2nd ed., (London, 1940).
Colombos, C. J.—The International Law of Sea, 4th ed., London, 1959.
Connell, D. P. O.—International Law, 2 Vols. Stevens, London; Tripathi, Bombay, 1965.
Deak, F. and *Jessup, P. C.*—A Collection of Neutrality Laws, Regulations and Treatise of Various Countries, 2 Vols. (Washington, 1939).
Dholkia, R. P.—Codification of Public International Law, Manchester Unice, 1970.
Eagleton, C.—International Government (New York, 1948).
Fabela, Isidro—Intervention—A. Pedene Paris, 1961.
Fenwick, C.G.—Cases on International Law, 2nd ed., Chicago, 1951.
Fenwick, C. G.—International Law, Vakils, Bombay, 1967.
Finch, G. A.—The Sources of Modern International Law (Washington, 1937).
Garner, F. W.—International Law and the World War, 2 Vols. (New York, 1920).
Glueck, S.—The War Criminals, Their Prosecution and Punishment (New York, 1944).
Goodrich, L. M., and *Hambro, E.*—Charter of the United Nations : Commentary and Documents (Boston, 1946).
Greenspan, Morris—The Modern Law of Land Warfare, Uni. of California, 1959.
Green, L. C.—International Law through the Cases, 2nd ed., Stevens, London.
Hackworth, G. H.—Digest of International Law, 8 Vols. (Washington, 1940–44). It brings Moore up-to-date Infra.
Hall, F. A.—The Law of Naval Warfare, 2nd ed., (London, 1921).
Hall, W. F.—A Treatise of International Law, 8th ed., by A. P. Higgins (Oxford, 1924).

Hambro—The Case Law of the International Court, 2 Vols. (Leyden, 1960) Vols. 4A–B. (1959-63) Sijthoff Leyden, 1966.

Hayten, Robert—National Interests in Antarctica, Washington, 1960.

Hershey, A. S.—The Essentials of International Public Law and Organization (New York, 1937).

Hervey, J. C.—The Legal Effect of Recognition in International Law (Philadelphia, 1928).

Heydecker, J. J. and *Leebe*—The Nuremberg Trials (Heinmann, 1962).

Higgins, A. P.—The Hague Peace Conference (Cambridge, 1909).

Higgins, A. P. and *Colombos, C. J.*—The International Law of the Sea (London, New York-Toronto, 1943).

Hogan, A. E.—Pacific Blockade (Oxford, 1908).

Holland, Sir. Thomas Erskine—Lectures on International Law, 1933).

Hudson, M. O.—The Permanent Court of International Justice (Cambridge, 1925).

Hudson, M. O.—The Permanent Court of International Justice 1920-42 (New York, 1943).

Hudson, M. O.—Cases and other materials on International Law, 3rd. ed., St. Paul, 1951.

Hudson, M. O.—International Tribunals : Past and Future (Washington, 1948).

Hudson, M. O. (Ed.)—International Legislation, 7. Vols. (Washington, 1931–41).

Hyde, C. C.—International Law chiefly as Interpreted and Applied by the U.S.A., 2nd rev. ed., 3 Vols., Boston, 1945.

Indian Yearbook of International Affairs.

International Law Association.—The Effect of Independence on Treatise, Stevens, 1965.

Jocobini, H. B.—International Law, 1962.

Jennings, R. Y.—The Progress of International Law, New York, 1960.

Jessup, Philip—The Use of International Law (Uni. of Michigan).

Jessup, P. C.—The Law of Territorial Waters and Maritime Jurisdiction (New York, 1927).

Jessup. P. C.—A Modern Law of Nations, 1948.

Joseph Obe ta—The International Status of the Suez Canal.

Kelson, H.—Law and Peace in International Relations (Cambridge, 1942).

Kelson, H.—Peace through Law (Chapel Hill, 1944).

Kelsen, Hans—Principles of International Law, Holt, New York, 1966.

Knights W. S. M.—The Life and Works of Hugo Grotious (London, 1925).

Kohang, Tae, Jin—Law, Politics and the Security Council, Nijhoff, The Hague, 1964.

Kozhevnikov, F. I.—International Law (Foreign Languages Publishing House, Moscow).

Lall, Arthur—Modern International Negotiation: Principles and Practice (Columbia Uni., New York, 1966).

Lauterpacht, H.—Recognition in International Law (Cambridge, 1947).

Lauterpacht, H.—Annual Digest and Reports of Public International Law Cases.

Lawrence, T. J.—Principles of International Law.

Liacourus, Peter J.—The International Court of Justice, 2 Vols., Duke Uni. Curham, 1962.

McDougal, Myris S.—Studies in World Public Order, Yale University Press, 1960.

McNair, Sir, A. D.—Legal Effects of War, 2nd ed., Cambridge. 1944.

McNair, Sir, A. D.—The Law of Treaties, Oxford Uni. Press, 1961.

McNair, Sir, A. D. The Law of the Air, 1932.

McNair, Sir, A. D.-International Law Opinions (1966) Vols. I-III.

Maine, Sir, H. S.—International Law, 1st ed. (New York, 1888) and 2nd ed. 1894.

Moore—Digest of International Law (1906), 8 Vols.

Meyer, C. B. V.—The Extent of Jurisdiction in Coastal Waters, 1937.

Mukerji, Sobhanlal—International Law, A. Mukerjee, 1961.

Ogley, Roderick—Theory and Practice of Neutrality in 20th Century, Routledge and Kegan, London, 1970.

Padelford, N. J.—The United Nations in Balance, Praegar, (New York, 1965).

Patel, S. R.—A Textbook of International Law, Asia, Bombay, 1964.

Pavithran, A. K.—Substance of Public International Law, Western and Eastern, A. P. Rajendran, Madras, 1965.

Phillimore, R.—Commentaries upon International Law, 3rd ed., 4 Vols. (London, 1879–1889).

Panhuys, H. F. Van—The Role of Nationality in International Law (A. W. Sijthoff Leydon, 1959).

Potter, P. B.—An Introduction to the Study of International Organization.

Potter, P. B.—The Freedom of the Seas in History, Law and Politics (New York, 1924).

Pyke, H. R.—The Law of Contraband of War (Oxford, 1915).

Ramundo, B. A.—The Socialist Theory of International Law, Washington, 1964.

Reid, H. D.—International Servitudes in Law and Practice, 1932.

Research in International Law : Nationality : Responsiblity of State for Injustices to Aliens : Territorial Waters (Cambridge, Mass, 1929).

Research in International Law : Diplomatic Privileges and Immunities : Legal Position and Function of Consuls : Competence of Courts in regard to Foreign State : Piracy: Laws of Various Countries (Cambridge, Mass, 1932).

Research in International Law : Extradition : Jurisdiction with respect to Crime : Law of Treaties (Cambridge, 1935).

Research in International Law ; Judicial Assistance . Rights and Duties of Neutral States in Naval and Aeril War ; Rights and Duties of States in case of aggression (Cambridge, 1939).

Ronning, C. N.—Diplomatic Asylum, Legal Norms and Political reality in Latin-American Relations, Nijhoff, The Hague, 1965.

Rasnne, Shabtai—The Law of Treaties Sijthoff, London, 1970.

Schwarzenberger, G.—International Law and Totalitarian Lawlessness, 1943.

Schwarzenberger, G.—The League of Nations and World Order, 1936.

Schwarzenberger, G.—International Law, Vols. I, II, III.

Schwarzenberger, G.—A Manual of International Law, 2 Vols., Stevens, 1960.

Schwarzenberger, G.—The Frontiers of International Law, Stevens, 1962.

Second United Nations Conference on the Law of the Sea, Columbia Uni. Press, New York, 1960.

Simpson, J. L. and *H. Fox*—International Arbitration (Stevens, London).

Smith—Great Britain and the Law of Nations, Vol. I (1932), Vol. II (1935).

Smith, H. A.—The Crisis in the Law of Nations, 1947.

Smith, H. A.—The Law and Custom of the Sea, 1950.

Sompong Sucharitkul—State Immunities and Trading Activities in International Law (Frederich A, Praegar, New York, 1959).

Spaight, F. M.—The Atomic Problem, 1948.

United Nations War Crimes Commission : History of the United Nations War Crimes Commission and the Development of the Law of War, 1948.

Wilfred, Jenks C.—International Immunities, Stevens, 1961.

Wheaton, H.—Elements of International Law, 1st ed. (1836), 8th ed. by R. H. Dana, Jr.(Boston, 1866), 6th Eng. ed. by A. B. Keith (London, 1929).

अनुक्रमणिका

अंगरी का कानून, पृ० ५५१; स्वरूप, ५५२।

अकेसन योजना, ३६६।

अटलांटिक तट मछलीगाह मामला, ४०५–४०६।

अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, २४०।

अणुबम का प्रयोग, ५००; इसके प्रयोग का औचित्य, ४७२।

अतिक्षिप्र मान्यता, १६०।

अधिग्रहण न्यायालय, ४८६–६५ : अर्थ, ४८६; आवश्यकता, ४६५; इनके द्वारा लागू किया जाने वाला कानून, ४६२; कर्त्तव्य, ४६१; कार्य, ४६०; पाकिस्तान द्वारा स्थापित अधिग्रहण न्यायालय की अवैधता, ४६४; भारत द्वारा अधिग्रहण न्यायालयों की स्थापना, ४६४; विकास, ४६०।

अधिनिर्णय, ४३०।

अधिरोध, ४३७।

अनुबन्धीय उत्तरदायित्व, २०१।

अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक हवाई यात्रा संगठन, २३८।

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानून, १०२; अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों का व्यवहार, १०७; एकत्ववादी सिद्धान्त, १०५; द्वैतवादी सिद्धान्त, १०३; भारत में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध, १११; रूपान्तरवाद का सिद्धान्त, १०५; समर्पणवाद का सिद्धान्त, १०५।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यक्ति, ३३६–४३ : व्यक्ति की स्थिति का अतिवादी दृष्टिकोण, ३३७; परम्परागत दृष्टिकोण, ३३६; मध्यवर्ती दृष्टिकोण, ३३८; व्यक्ति की स्थिति को प्रभावित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें, ३४०; जातिवध समझौता, ३४१; न्यूरेम्बर्ग के अभियोग, ३४०; मानवीय अधिकारों की रक्षा का योरोपियन अभिसमय, ३४२; मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा, ३४१।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्गम, १७; अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन सम्प्रदाय, ४६; अस्तिवादी सम्प्रदाय, ४७; ग्रोशियन सम्प्रदाय, ४८; चर्च द्वारा कानूनी पद्धति का विकास, ३०; प्रकृतिवादी सम्प्रदाय, ४६; भारत में कानूनी पद्धति का विकास, १६; यूनान में कानूनी पद्धति

का विकास, २४; रोम में कानूनी पद्धति का विकास, २५; व्यापारिक तथा समुद्री कानूनों का विकास, ३२।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप—अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के कानून होने का समर्थन, ६३; आधार, ७८; आवश्यक तत्त्व, ५७; इसके निर्माण में नई प्रवृत्ति, ८२; क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून कपोल कल्पना है? ७१; दोष तथा इन्हें दूर करने का उपाय, ७३; परिभाषा, ५४; प्रतिपाद्य विषय, ६०; वर्गीकरण, ५७; वास्तविक और प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५६; विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५६; वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५८; सं० रा० संघ की स्थापना तथा अन्य कारणों से होने वाले परिवर्तन, ८४; सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५६; सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५८।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण—अभिप्राय, ११३; आरम्भिक प्रयत्न, ११५; कठिनाइयाँ, ११५; दोष, ११४; भविष्य, १२५; राष्ट्रसंघ के प्रयत्न, ११८; लाभ, ११४; सं० रा० संघ का कार्य, ११८; संक्षिप्त इतिहास, ११५।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत—अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय, ६७; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय, ६६; अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र, १००; अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ, ६८; अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य, ६६; कानून के सामान्य सिद्धान्त, ६५; तर्कशक्ति, ६६; राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय, ६६; रिवाज, ९१; रिवाज तथा प्रथा में भेद, ९२; सन्धियाँ, ८८; स्रोत का अर्थ, ८७; स्रोतों की प्रामाणिकता का क्रम, १००; स्रोतों के प्रकार, ८८।

अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग, ४२७।

अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ, २०७; इसमें नौ-चालन की स्वतंत्रता, २०८।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय, ४०६ तथा ४३०।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, ४०३ तथा ४०५—४२३ : अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय, ४०६; आवश्यक क्षेत्राधिकार, ४०८; ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, ४०८; न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, ४०७; पंचनिर्णय का स्थायी न्यायालय, ४०५; परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार, ४०६; मूल्यांकन, ४२२; क्षेत्राधिकार, ४०८।

अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय, १२३।

अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, १२४।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग, ११८; इसके कार्य, १२०।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ, ९८।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा, ४२४—३६ : बाध्यकारी साधन, ४३२; अधिरोध, ४३७; प्रतिकर्म, ४३३; प्रत्यपहार, ४३३; शान्तिमय आवेष्टन, ४३७; हस्तक्षेप, ४३८; मैत्रीपूर्ण साधन, ४२४; अधिनिर्णय, ४३०; अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग, ४२७; पंचनिर्णय, ४२८; राष्ट्रसंघ और सं० रा० संघ द्वारा विवादों का निबटारा, ४३१; वार्ता, ४२४; संराधन, ४२६; सत्सेवा और मध्यस्थता, ४२५।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तराधिकार, १६४।
अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की क्षेत्राधिकार से मुक्ति, २८१।
अन्तर्राष्ट्रीय हवाई परिवहन समझौता, २३३।
अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सेवा पारगमन समझौता, २३८।
अपराध भेद का सिद्धान्त, ३१९।
अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण, ३२०।
अप्रत्यावर्तन के सिद्धान्त, ३३०।
आबिदा खातून विरुद्ध उत्तर प्रदेश राज्य, ३०९।
अभिद्रोह की मान्यता, १८४।
अभिसमय, ३७३।
अभिसमयात्मक कानून, ४६।
अयाला, वल्थर, ३८।
अरन्तज़ाज़ु मेन्दी विरुद्ध स्पेन की गणराज्य सरकार, २७६ तथा ५६७।
अलबामा क्षतिपूर्ति दावा, ५३२, ५४७ तथा ६१८।
अविच्छिन्न समुद्री यात्रा का सिद्धान्त, ५८०।
अवैध कार्यों की अवैधता, ५२३।
अवैध सन्धियाँ, ३७९।
असमा मारू, ६१८।
असैनिक जनता पर बमवर्षा, ४७१।
अस्तिवादी सम्प्रदाय, ४७।
अस्थायी प्रणाली, ३७४।
अस्वामित्व वाले प्रदेशों का आवेशन, २४८।
आंजिलोत्ती, १०८।
आंशिक उत्तराधिकार, १८९।
आइकमान का मामला, ३२०।
आइजलर का मामला, ३१४।
आकाश की पाँच स्वतन्त्रताएँ, २३८।
आकाश पर प्रादेशिक प्रभुता, २३६।
आत्मरक्षा, २५८।
आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास, ३५।
आन्तरिक हस्तक्षेप, २५७।
आयोनियन जहाजों का मामला, १४२ तथा ३८९।
आरोजेम्बो जहाज का मामला, ५५६।
आर्टुकोविक का मामला, १६९, १८८ तथा ३२२।
आर्थिक और सामाजिक परिषद्, ४००।
आल्टमार्क, ६१६।
आवेशन, २४५।
आवेशन द्वारा अधिकार स्थापित करने के लिए शर्तें, २४८।
आश्रय का अधिकार, ३२७।
आस्टिन, ६१।
इण्टरनेशनल स्टेट्स आफ साउथ अफ्रीका का मामला, १६५।
इण्डियन एण्ड जनरल इन्वेस्टमेण्ट ट्रस्ट लि० विरुद्ध रामचन्द्र मदराज देव, १११।
इम्मेनुएल का मामला, ५८४।
उद्गम का प्रमाणपत्र, ५६७।
उधार पट्टा कानून, ५३६।
उत्तराधिकार राज्य—जिह्मविषयक दायित्व, १९३; संविदात्मक दायित्व, १९१; सन्धिविषयक अधिकार और दायित्व, १८९; साम्पत्तिक अधिकार, १९०; सार्वजनिक ऋण, १९३।
उत्तरी सागर महाद्वीप समुद्र तल की सीमा निर्धारण का मामला, २३०।
उपचय द्वारा प्रदेश की प्राप्ति, २५१।
ऊपरी साइलीशिया का मामला, ४०७।
एंग्लो-अमेरिकन मत्स्यग्रहण सन्धि, २१३।

एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह मामला, २२०, २८१ ।
एटलाण्टा का मामला, ५५५ ।
एटेण्टेंट धारा, ३१८ ।
एन० बक्शी विरुद्ध ए० जी० बिहार, २०३ ।
एनाहोरा का मामला, ३३१ ।
एन्ना का मामला, २१३ ।
एप्पम, ६१५ ।
एस्ट्रेला सिद्धान्त, १७० ।
कटिंग का मामला, २७५ ।
कमिश्नर ग्राफ इन्कमटैक्स आन्ध्र प्रदेश विरुद्ध एच० ई० एफ० मीर उस्मान अली बहादुर, ६२८ ।
करीमुन्निसा विरुद्ध मध्य प्रदेश राज्य, ३०६ ।
कर्तृगत प्रादेशिक सिद्धान्त, २७३ ।
कर्मगत प्रादेशिक सिद्धान्त, २७४ ।
काण्टिनेण्टल टायर और रबर कम्पनी का मामला, ४५६ ।
कार्थेज नामक जहाज का **मामला, ४०६ तथा ५८६ ।**
कार्यदूत, ३४७ ।
किम जहाज **का मामला, ५७५ तथा ५८३ ।**
कील नहर, २३४ ।
कूटनीतिक या राजनीतिक हस्तक्षेप, २५७ ।
केनेवारो का मामला, ३०२ ।
केलसन, १०५ ।
केलॉग-ब्रीआँ पैक्ट (पेरिस पैक्ट), ५१, ५०७ तथा ५३७ ।
कैलिफोर्निया का पायस फण्ड मामला, ४०५ ।
कैरोलाइन स्टीमर की घटना, २५८ ।
कैरोलिना जहाज का मामला, ५५६ ।
कोर्फू चैनल का मामला, ६०७ ।
कोरी स्लेट का सिद्धान्त, १८६ ।
कोलम्बियन-पेरुवियन आश्रय का मामला, ३३३ ।
कोलर्कज़िस्की का मामला, ३१८ ।
क्राबे, १०५ ।
क्रिलोव, १११ ।
क्रिस्टीना का मामला, २७६ तथा ६०५ ।
क्रेगविश विरुद्ध हेविट का मामला, ३०७ ।
क्वीन ग्राफ हालैण्ड विरुद्ध ड्रूकर, २७७ ।
खण्ड सिद्धान्त, २४६ ।
खाड़ियाँ और आखात, २२२ ।
गहरे समुद्रतल पर प्रभुत्व की नवीन समस्या, २३२ ।
गारण्टियों के कानून, १४७ ।
गार्नर, १२६ ।
गृहयुद्धों में हस्तक्षेप, २६३ ।
ग्राफ स्पी का मामला, ५३८ तथा ५४६ ।
ग्रोशियस, ह्यूगो, ४० तथा ५६१; ग्रन्थ, ४१; सिद्धान्त, ४२ ।
ग्वालियर आर० एस० डब्ल्यू० विरुद्ध यूनियन आफ इण्डिया, २०१ ।
घोषणा, ३७४ ।
चरकियेह का मामला, ५६५ ।
चरम कानून, ३७४ ।
चर्च द्वारा कानूनी पद्धति का विकास, ३० ।
चाँद पर अधिकार, २५० ।
चायना स्टीमशिप का मामला, ५५६ ।
चिकित्सालय पोत, ४८३ ।
चिरकालिक भुक्ति, २५० ।
चुंग ची चेउंग विरुद्ध राजा, ५६० ।
छापामार युद्ध, ४४६ ।
छोटी असेम्बली, ३६५ ।
जमोरा का मामला, १०८, ४६३, ५५४, ५६५ तथा ६१२ ।
जलडमरूमध्य, २२१ ।

जस जेन्शियम, २८ ।
जहाजों की शत्रुरूपता, ४६० ।
जातिवध समझौता, ३४१ ।
जितभोगाधिकार, ५१६ ।
जेनिंग्स, २५५ ।
जेनेवा अभिसमय, ४६५, ४७१, ४७४, ४७५ तथा ४८८ ।
जेनेवा औषध अभिसमय, ४३७ ।
जेनेवा सम्मेलन, १२१ ।
जेनेवा में युद्ध के समय में असैनिक व्यक्तियों की रक्षा का अभिसमय, ४५२, तथा ४७२ ।
जे सन्धि (१७६४), ४२८ ।
जैण्टिली, एल्बेरिको, ३८ ।
जोंगे मारगरेथा का मामला, ५७४ ।
टिनोका का मामला, १६६ ।
टोकियो अभियोग, ५१२ ।
ट्रीपेल, १०४ ।
ट्रेक का मामला, ५४८ ।
ट्रेण्ट काण्ड, ५५५ तथा ६१३ ।
डालमिया दादरी सीमेण्ट कम्पनी विरुद्ध कमिश्नर आफ इन्कमटैक्स, २०० तथा ६२१ ।
डेलमर कं० लि० विरुद्ध काण्टिनेण्टल टायर एण्ड रबर कं०, ४५६ ।
ड्रेगो सिद्धान्त, २६५ ।
ड्रेस्डन जहाज, ५४६ ।
तटस्थ तथा युध्यमान देशों के अधिकार और कर्त्तव्य, ५४५ ।
तटस्थता, ५२६-५५७ : अंगरी, ५५१; अंगरी का आधुनिक स्वरूप, ५५३; अतटस्थ सेवा, ५५३; अतटस्थ सेवा के परिणाम, ५५५; अतटस्थ सेवा के मामले, ५५५; इसके औचित्य का आधार, ५४०; इसके नियमों के विकास के तीन तत्त्व, ५३१-५३२; इसके विचार का विकास, ५२८; ऐच्छिक तथा अभिसमयात्मक तटस्थता, ५४२; तटस्थ देशों के अधिकार, ५४८; तटस्थ देशों के कर्त्तव्य, ५४५; तटस्थ देशों में युद्धकारी देशों की सम्पत्ति, ४५५; ताटस्थ्य तुल्यता, ५४४; परोपकारी तटस्थता, ५४३; पूर्ण अथवा निरपेक्ष तटस्थता, ५४३; प्रकार, ५४२; राष्ट्रसंघ और तटस्थता, ५३४; लक्षण, ५२६; विशेषताएँ, ५२६; सं० रा० संघ का चार्टर और तटस्थता, ५३६; सशस्त्र तटस्थता, ५३० तथा ५४३; सामान्य और आंशिक तटस्थता, ५४२; स्थायी या सनातन तटस्थता, ५४२ ।
तटस्थीकरण और तटस्थता मे अन्तर, १४६ ।
तटस्थीकृत राज्य, १४५ ।
तटीय नगरों की बमवर्षा, ४८५ ।
तारासोव का मामला, ३२४ ।
तिब्बत में चीन का हस्तक्षेप, २६७ ।
'तैरते टापू' का सिद्धान्त, २७२ ।
दण्डात्मक हस्तक्षेप, २५७ ।
दक्षिण अफ्रीका के मामले, ४१७ ।
दक्षिण ध्रुवविषयक सन्धि, २४० ।
दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा, ४१० ।
दीवानी कानून के संकलन, ३४ ।
दीवानी न्यायसम्बन्धी सन्धि, ३७६ ।
दुगवित, १०५ ।
दुरखीम, १०५ ।
दूतों का सीमित क्षेत्राधिकार, ३६२ ।
दूतों की उन्मुक्तियों का आरम्भ और समाप्ति, ३६३ ।
दूतों की दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, ३५६ ।

दूतों की नियुक्ति, ३४८।
दूतों की पत्रव्यवहार की स्वतन्त्रता, ३६२।
दूतों की फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, ३५८।
दूतों को वैयक्तिक सुरक्षा तथा अवध्यता, ३५२।
दूतों की श्रेणियाँ और प्रकार, ३४५।
दूतों के अनुयायीवर्ग के विशेषाधिकार, ३६२।
दूतों के कार्य, ३५१।
दूतों के विशेषाधिकार, ३५२–६२।
दूतों की उपासना का अधिकार, ३६२।
देशीयकरण, २९८।
दोहरी अपराधिता का नियम, ३१९।
दोहरी राष्ट्रीयता, ३०१।
दौत्यकार्य की समाप्ति के कारण, ३६४।
दौत्य सम्बन्धों की स्थापना, १५९।
द्वितीय विश्वयुद्ध, ४९९।
द्वितीय विश्वयुद्ध में तटस्थता, ५३८।
द्विपक्षीय सन्धि, १५९।
धार्मिक कानून निकाय, ३०।
निगमों की शत्रुरूपता, ४५९।
नियम और कानून का भेद, ५३।
निर्दोष गमन का अधिकार, २७१।
निवासी मन्त्री, ३४७।
निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग, ४९८ तथा ५०३।
निसार अहमद विरुद्ध यूनियन आफ इण्डिया, ३०८।
निसृष्टार्थ दूत, १९।
नेहरू सिद्धान्त, २६५।
नौपण्य की शत्रुरूपता, ४६२।
नौप्रमाणपत्र, ५८७।
नौविभाग की कृष्ण पुस्तक, ३३।
न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, ४०७ तथा ४३०।
न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार, ५०७।
न्यास के विचार का विकास, ४०२।
न्यास पद्धति, १५०; मौलिक उद्देश्य, १५१।
न्यास परिषद्, १५२ तथा ४०२।
न्यूरेम्बर्ग अभियोग, ३४; आलोचना, ५११; निर्माण, १२२; प्रादुर्भाव का इतिहास, ५०६, महत्त्व, ५१०।
पंचनिर्णय, ४२८।
पंचनिर्णय का स्थायी न्यायालय, ४०५, ४३०।
पंचनिर्णय तथा अधिनिर्णय में सादृश्य तथा भेद, ४३१।
पंचायती निर्णय का स्थायी न्यायालय, ५०।
पट्टे द्वारा प्रदेश की प्राप्ति, २५५।
पनडुब्बियाँ, ४७९।
परतन्त्र राज्य, १३८।
परिमितार्थ, १९।
परवत्ता, २४२; इसके प्रकार, २४३।
परिनियम, ३७४।
परिवेष्टन—जलडमरूमध्यों का परिवेष्टन, ५६१; कागजी परिवेष्टन, ५६०; परिवेष्टन योग्य स्थान, ५६१; प्रभावशाली परिवेष्टन, ५६०; भंग, ५६३; भंग करने के परिणाम, ५६४; भविष्य, ५६८; मामले, ५६४; लम्बी दूरी का परिवेष्टन, ५६५; वास्तविक परिवेष्टन की शर्तें, ५६२; विभिन्न रूप, ५६०;

विश्वयुद्धों में परिवेष्टन का नियम, ५६५; व्यापारिक परिवेष्टन, ५६१; समाप्ति, ५६३, समीप का ग्रासन्न परिवेष्टन, ५६५; सामरिक परिवेष्टन, ५६१; स्वरूप, ५५८ ।

पाकिस्तान द्वारा हवाई युद्ध के नियमों की ग्रवहेलना, ५०२ ।

पाक्वेट हबाना ग्रौर लोला, ६४, ६८, १०६ तथा ५६४ ।

पानामा नहर, २३४ ।

पालमास टापू का मामला, २४७ ।

पार्लेमैण्ट बैल्जे, २८० ।

पियरे डुबोइस, ३४ ।

पिरेनीज़ की शान्ति सन्धि, ५८५-६ ।

पीटर हाफ का मामला, ५८२ ।

पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरने का अधिकार, ४११ ।

पुर्तगाल विरुद्ध जर्मनी—नौलिला का मामला, ४३४ ।

पूर्णाधिकार मंत्री तथा ग्रसाधारण दूत, ३४६ ।

पूर्वावस्था—ग्रभिप्राय, ५२२; नियम की मर्यादायें, ५२४ ।

पूर्वी ग्रीनलैंड का मामला, २५३ ।

पेमाछिबर उर्फ प्रेमाभाई छीबाभाई लंगल विरुद्ध यूनियन ग्राफ इण्डिया एण्ड ग्रदर्स, ६१५ ।

पेरिस का घोषणापत्र, ८६ ।

पेरिस की घोषणा, ५०, ११६, ४६१, ५५६ तथा ५७१ ।

पेरिस की सन्धि १७० ।

पेरेज़ सेलेस का मामला, ३३१ ।

पेलेची का मामला, ३५३ ।

पेसारो का मामला, २८० ।

पोर्तालिस, ६७ ।

पोलिश ग्रपर साइलीशिया का मामला, १६१ तथा ४०७ ।

पोलैण्ड के जर्मनवासियों का मामला, १६२, तथा ४०७ ।

प्रकृतिवादी सम्प्रदाय, ४६ ।

प्रथम विश्वयुद्ध, ४६७ ।

प्रथम विश्वयुद्ध में तटस्थता, ५३३ ।

प्रतिकर्म, ४३३ ।

प्रतिषेध या निबन्धन का सिद्धान्त, ४१५ ।

प्रत्यपहार, ४३३; इसके प्रकार ४३५ ।

प्रत्यर्पण—ग्रपराध, ३१३; मामले, ३१४; विकास, ३१२; स्वरूप, ३११ ।

प्रत्यर्पणीय व्यक्ति, ३१३ ।

प्रसंधान, १३६ ।

प्रदेश खोने के प्रकार, २५६ ।

प्रदेश प्राप्त करने के प्रकार २४५-५६: ग्रावेशन, २४५; उपचय या ग्रभिवृद्धि, २४७; चिरकालिक भुक्ति, २४६; पट्टा, २५१; विजय, २४६; सम्मेलन का निर्णय, २५१; हस्तान्तर, २४७ ।

प्रदेशबाह्य ग्राश्रय, ३२६ ।

प्रभुता स्थापित करने की इच्छा ग्रौर इरादा, २४८ ।

प्रमोदचन्द विरुद्ध उड़ीसा राज्य, १६६ ।

प्राकृतिक साधनों के दोहन, २२१ ।

प्राचीन एवं मध्यकाल में दूत प्रथा, ३४४ ।

प्रादेशिक ग्राश्रय, ३२८ ।

प्रादेशिक प्रभुसत्ता, २०५ ।

प्रादेशिक समुद्र, २१२; **चौड़ाई पर विवाद, २१३; समझौता, २१६; स्वरूप ग्रौर लक्षण, २१६; क्षेत्राधिकार, २७१ ।**

प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का विस्तार, २७३।
प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ, २७५।
प्राप्त अधिकारों का सिद्धान्त, १६८।
प्रामाणिक विवरण, ३७४।
प्रीह विहीर का मामला, ४१३।
प्रोतोकोल, ३७३।
फाक्स जहाज का मामला, ४६२।
फिलिमोर, १३०।
फीशल, २६।
फैक्टर विरुद्ध लौबनहाइमर, ३८६।
फौजदारी न्यायविषयक सन्धियाँ, ३७६।
फ्रांसिस्का का मामला, ५६२, ५६३ तथा ६२०।
फ्रिडलैण्ड जहाज का मामला, ५७५।
फेनविक, ५८०।
फ्रैंकोनिया का मामला, ५१, ६४, ६८, १०७ तथा २७१।
फ्रेडरिक मोल्के, ५५५।
फ्रैंडशिप जहाज का मामला, ५५६।
फ्लोरिडा का मामला, ५४६।
बंगला देश की मान्यता, १७६।
बंगला देश के युद्धापराधी, ५१४।
बन्दरगाहों में क्षेत्राधिकार, २७३।
बरमूडा का मामला, ५८२।
बाध्यकारी साधन, ४३२।
बार्तोलस, ३४।
बार्सीलोना ट्रैक्शन केस, ४२२।
बाह्य अन्तरिक्ष की प्रभुता की नवीन समस्या, २३८।
बाह्य अन्तरिक्ष सन्धि, २४०।
बाह्य हस्तक्षेप, २५७।
बेटसी का मामला, ५६४।
बेरिज्जी ब्रदर्स कं० विरुद्ध स्टीमशिप पेसारो, २८०।
बेल्ली, पीरिनो, ३७।
बेहरिंग सी फर सील आर्बिट्रेशन, २८५।
बैंकाक अभिसमय, २०६।
ब्रिअर्ली, ६४।
ब्राज़ील-फ्रांस झींगामछली विवाद, २२७।
ब्रूसेल्ज़ घोषणा, ११६।
ब्रूसेल्ज़ सम्मेलन (१८७४), ४६६।
ब्लंशली, ५७८।
ब्लैकमर का मामला, ३१५।
ब्लैकस्टोन, १०७।
भगवान के रणविराम, ३०।
भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, १६५।
भारत के अधिग्रहण कार्यालय, ४६४।
भारत में कानूनी पद्धति का विकास, १६।
भारत में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का सम्बन्ध, १११।
भारत में राष्ट्रीयता विषयक कानूनों का का विकास, ३०४।
भारतीय नागरिकता कानून, २६८, ३०५।
भारतीय प्रत्यर्पण कानून (१९६२), ३२३।
मंगलसेन विरुद्ध शन्नोदेवी, ३०८।
मण्डल का सिद्धान्त, २२।
मद्रास राज्य विरुद्ध राजगोपालन, २०२ तथा ६२२।
मध्यपूर्व तथा कांगो में सं० रा० संघ की कार्यवाही पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की परामर्शात्मक सम्मति, ४१६।
महाद्वीपीय समुद्रतल, २२२ : अधिकार के आधार, २२६; इसके विषय

में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के नियम, २२४; भारत की नीति, २२७; १९५८ का अभिसमय, २२४।
महासमुद्रों का अभिसमय, २८७; इसमे तीव्र अनुसरणविषयक व्यवस्था, २९०।
महासमुद्रों की स्वतन्त्रता, २८१; तत्व, २८३; प्रतिबन्ध, २८३।
महासमुद्रों के सजीव साधनों के संरक्षण तथा मछली पकड़ने का समझौता, २८५।
महासमुद्रों में तीव्र अनुसरण, २८९।
महासमुद्रों में समुद्री डकैती का दमन, २९१।
महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार, २८१।
मानव जाति की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता, १२३।
मानवीय अधिकारों का सार्वभौम घोषणापत्र, १२४, ३०४, ३३९ तथा ३४१।
मानवीय अधिकारों की रक्षा का योरोपियन अभिसमय, ३४२।
मिघेल विरुद्ध जोहर का सुल्तान, ५९८।
मिन्ना का मामला, ५७७।
मुनरो सिद्धान्त, २६३।
मुहम्मद रजा देबस्तानी विरुद्ध स्टेट आफ बम्बई, ३०२।
मूर, ५७४।
मेउनियर का मामला, ३१८।
मेन, सर हेनरी, ६३।
मेरियन्ना का मामला, ५८८।
मेरिया का मामला, ९७, ४९१, ५८२ तथा ५८८।
मैण्डेट पद्धति, १४८; न्यास पद्धति से भेद, १५३
मोण्ट्रू अभिसमय, २२२।
मोरक्को का मामला, ४०९।
मोरक्को में अमरीकी राष्ट्रजनों के उत्तराधिकार, ४०९।
मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त, ७८।
यादव युद्ध या गृह युद्ध, ४४५।
युद्ध और इसके प्रभाव ४४३-६३: आरम्भ तथा घोषणा, ४४८; छापामार युद्ध, ४४६; तात्कालिक प्रभाव : तटस्थ देशों में युद्धकारी देशों की सम्पत्ति, ४५५; राजनयिक सम्बन्धों का भंग, ४५०; व्यापारिक सम्पर्क की समाप्ति, ४५३; शत्रु की सम्पत्ति, ४५४; शत्रुदेश के व्यक्ति, ४५१; शत्रुदेश में युद्धकारियों की सम्पत्ति, ४५४; संविदाओं पर प्रभाव, ४५३; सन्धियों पर प्रभाव, ४५६; यादव युद्ध या गृह युद्ध, ४४५; युद्धेतर सम्पत्ति, ४३९; वैधता के विचार की समाप्ति, ४४४, शत्रुरूपता या अरिप्रकृति, ४५७; जहाजों की शत्रुरूपता, ४६०; निगमों की शत्रुरूपता, ४५९; नौपण्य की शत्रुरूपता, ४६२; व्यक्तियों की शत्रुरूपता, ४५८; समग्रयुद्ध, ४४६; स्वरूप, ४४३।
युद्ध और शान्ति का कानून, ४१।
युद्ध का नियम (१७५६) ४९१, ५२९, ५८२ तथा ५८४।
युद्धकारी राष्ट्रों के अधिकार, ५५१।
युद्ध की समाप्ति ५१५-२२: युद्धावसान की रीतियाँ, ५१५; वशीकरण, ५१६; शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द होना, ५१५; शान्ति सन्धि,

५१७; शान्ति सन्धि के प्रभाव और परिणाम, ५१६ : जित-भोगाधिकार, ५१६; मुक्ति, ५२०; मैत्री सम्बन्ध, ५१६; युद्धावस्था की समाप्ति, ५२१; सामान्य क्षमादान, ५२० ।
युद्ध की समाप्ति पर बन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्तन, ४७६ ।
युद्ध के नियम—अनुज्ञप्तियाँ, ४६७; इनका पालन, ४६६; विकास, ४६४ ।
युद्ध परित्याग की सामान्य सन्धि, ५३५ ।
युद्धबन्दियों के बर्ताव का अभिसमय, ४७६ ।
युद्धबन्दी, ४७५; बन्धन की समाप्ति के प्रकार, ४७८ ।
युद्ध में घायलों तथा मृत व्यक्तियों के साथ व्यवहार, ४७३ ।
युद्ध में तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर, ४३२ ।
युद्धापराध ५०४-५१४ : इसका स्वरूप, ५०४; टोकियो अभियोग, ५१२; न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार, ५०७; न्यूरेम्बर्ग अभियोग का महत्व तथा आलोचना, ५१०; न्यूरेम्बर्ग अभियोगों के प्रादुर्भाव का इतिहास, ५०६; बंगला देश के युद्धापराधी, ५१४ ।
युद्धावस्था की मान्यता, १८२ ।
युद्धेतर शत्रुता, ४४७ ।
यूनान में कानूनी पद्धति का विकास, २४ ।
यूनियन आफ इण्डिया विरुद्ध चमनलाल लूना, ६२४ ।
रणनीतिक बमवर्षा, ५०० ।
रसेल, ६४ ।
राइट, १०५ ।
राजनयिक आश्रय, ३३२ ।
राजनयिक प्रतिनिधि—राजदूत, ३४४—६७ ।
राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियों का समझौता, १२४ ।
राजनयिक सम्बन्धों का वियना अभिसमय, ३४५ तथा ३५२ ।
राजदूत, ३४६; करों से मुक्ति, ३६१; गवाही देने के कार्य से मुक्ति, ३६१ (दूत भी देखिये) ।
राजनीतिक अपराध की कसौटी, ३१७ ।
राजनीतिक अपराध तथा प्रत्यर्पण, ३१५ ।
राजनीतिक परिस्थितियों का मान्यता पर प्रभाव, १६३ ।
राजनीतिक सन्धि, ३७८ ।
राजा विरुद्ध सुपरिटेण्डेंण्ट आफ वाइन स्ट्रीट पुलिस स्टेशन, ४५८ ।
राज्य उत्तराधिकार १८७—२०४ : अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तराधिकार, १६४; आंशिक उत्तराधिकार, १८६; परिणाम, १८६ : जिह्य, १६३; संविदात्मक दायित्व, १६१; सदस्यता, १६४; साम्पत्तिक अधिकार, १६०; सार्वजनिक ऋण, १६३; सार्वभौम उत्तराधिकार, १८८; भारतीय परिपाटी और व्यवहार, १६६; संयुक्त अरब गणराज्य के निर्माण के कानूनी पहल, १६५; स्वरूप, १८७ ।
राज्य का प्रदेश २०५—२४४ ।
राज्य का स्वरूप, १२६—५४ : अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की प्रारूप घोषणा,

१२२; कृत्रिम सीमायें, २०६, प्राकृतिक सीमायें, २०५; मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, १३१; लक्षण, १२६; वर्गीकरण, १३७; समानता का अधिकार, १३६।
राज्य की सीमा, २०५।
राज्यकृत्य के सिद्धान्त, १६८।
राज्यहीनता, ३०३।
राज्यक्षेत्र बाह्यता, ३५६।
राज्यों की मान्यता, १५५–८६ : अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा मान्यता, १७१; एकाकी तथा सामूहिक मान्यता, १६०; एस्ट्रेला सिद्धान्त, १७०; निर्वासित सरकारों की मान्यता, १६६; पाकिस्तान की मान्यता विषयक नीति, १८१; मान्यता का लक्षण, १५५; मान्यता के परिणाम, १८५; मान्यता देने की विधियाँ, १५८; मान्यता देने के आधार, १८५; मान्यताविषयक सिद्धान्त, १५६; भारत की मान्यता विषयक नीति, १७५–१८१; इजरायलविषयक नीति, १७७; बंगला देश की मान्यता, १७६; साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीति, १७६; स्पेनविषयक नीति, १७७; युद्धावस्था की मान्यता, १८२, वास्तविक तथा कानूनी मान्यता, १६०; सं० रा० अमरीका की मान्यताविषयक नीति, १७३; सरकारों की मान्यता, १६६; सामूहिक मान्यता, १७२; स्टिमसन का मान्यताविषयक सिद्धान्त, १७०; स्पष्ट और ध्वनित मान्यता, १५६; हौल्स्टाइन का मान्यताविषयक सिद्धान्त, १८१।
रायल नेपाल एयरलाइन्स विरुद्ध मनोरमा मेहरसिंह लेगर, ६२६।
रावजी अमरसिंह विरुद्ध राजस्थान की सरकार, ६२३।
राष्ट्रमण्डल, १४३।
राष्ट्रसंघ और तटस्थता, ५३४।
राष्ट्रसंघ और सं० रा० संघ द्वारा विवादों का निबटाना, ४३१।
राष्ट्रीयता २६६–३१० : अन्तर्राष्ट्रीय महत्व, २६७; इसकी हानि के प्रकार, ३००; पुनः प्राप्ति, २९९; प्राप्ति के प्रकार, २९७; राष्ट्रीयता-विषयक भारतीय मामले, ३०७; स्वरूप तथा लक्षण, २९६।
राष्ट्रीय नदियाँ, २०७।
राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय, ९६।
राष्ट्रों का ऐच्छिक कानून, ४९।
रिकवरी का मामला, ९७ तथा ४९२।
रिपब्लिका विरुद्ध लागचैम्प, ३५३।
रिवाज, ९१; प्रथा के भेद, ९२।
रे कैस्टियोनी का मामला, ३१०।
रैपिड का मामला, ५५५।
रोम में कानूनी पद्धति का विकास २५।
रोसेट्टा इवेलिन विरुद्ध जस्टिस अता उल्लाह, ३०८।
रूट सन्धियाँ (१९०८), ४३०।
रूपान्तरवादी सिद्धान्त, १०५।
लक्ष्यक्षेत्रीय बमवर्षा, ५००।
लन्दन की घोषणा, ४६०, ४८५, ५३३, ५५४, ५५६, ५७१ तथा ५८३।
लन्दन की नाविक सन्धि (१९३०), ४८७।
लन्दन की सन्धि (१८३०), १७२।
लन्दन पनडुब्बी प्रोतोकोल (१९३६), ४८७।
लार्ड विरुद्ध कैलिवन, ३०७।
लिटन कमीशन, ४२७।

लूथर विरुद्ध सागोर, १६८ ।
लेना का मामला, ५४८ ।
लोटस स्टीमशिप, ६४, २७४, ४०७ तथा ५६६ ।
ल्यूबेक विरुद्ध मेकलेनबर्ग, ६३ ।
वण्डेरबिल्ट क्रूज़र, ५६१ ।
वर्जिनियस, दी, ६०३ ।
वशवर्ती राज्य, १४१ ।
वशीकरण, २६६ तथा ५१६ ।
वस्तुओं को पूर्वावस्था प्राप्त होना, ५२३ ।
वाणिज्यदूत, ३६७–७१ ।
वाणिज्यदूतविषयक सम्बन्धों का १९६३ का वियना अभिसमय, ३६६ ।
वारसा समझौता (१२ अक्टूबर १९२९), २३७ ।
वाशिंगटन सम्मेलन, ४८६ तथा ४६८ ।
विजय द्वारा राज्य का अधिकार, २५३ ।
विक्टोरिया, फ्रांसिस्को, ३६ ।
वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप, २६२ ।
विदेशियों पर क्षेत्राधिकार, २७५ ।
विदेशी राज्य और उनके अध्यक्ष की क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति, २७६ ।
विदेशी सेनाओं पर क्षेत्राधिकार, २८१ ।
विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधि की क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति, २७७ ।
विनिषिद्ध के नियम ५६९–८९ : अपराध के तत्त्व ५७८; अविच्छिन्न समुद्री मार्ग का सिद्धान्त, ५८०; तलाशी के लिए जहाजों का बन्दरगाहों में लाना, ५८७; दण्डव्यवस्था, ५७८; निरीक्षण और तलाशी का अधिकार, ५८५; निरीक्षण और तलाशी के मामले, ५८८; निरीक्षण की प्रक्रिया, ५८६; नौप्रमाण पत्र, ५८७; परिवेष्टन से अन्तर, ५७९; पूर्ण तथा सापेक्ष विनिषिद्ध, ५७२; पूर्ण निषिद्ध, ५७३; वर्गीकरण, ५७०; विरोधी गम्य स्थान, ५७७; सापेक्ष या अवस्थानुसार विनिषिद्ध, ५७३; स्वरूप और लक्षण, ५६६ ।
विमान अपहरण (हवाई डकैती), २६२–५ ।
विम्बलडन, स्टीमशिप का मामला, ६१ तथा ४०७ ।
वियना अभिसमय (१९६१), ३५० ।
विलियम का मामला, ५८२ ।
विशेष अंगीकार का सिद्धान्त, १०६ ।
विशेष प्रत्यपहार, ४३५ ।
वीटो, ३६८ ।
वेरद्रास, १०५ ।
वैटल, ४८ ।
वैटिकन नगर, १४७ ।
वैध कार्यों की वैधता, ५२३ ।
वैबस्टर, डेनियल, २५६ ।
वैस्ट रैण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी विरुद्ध राजा, १०८, १६२ तथा ५६२ ।
वैस्टलेक, ३३६ ।
व्यक्ति की स्थिति को प्रभावित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें, ३३६ ।
व्यक्तिगत संगम, १३६ ।
व्यक्तित्व का सिद्धान्त, १६७ ।
व्यक्तियों की शत्रुरूपता, ४५८ ।
व्यवस्था, ३७४ ।
व्यापारिक तथा समुद्री कानूनों का विकास, ३२ ।
व्यापारिक सन्धि, ३७८ ।
व्यूहीय बमवर्षा, ५०० ।
शक्ति सन्तुलन, २६२ ।
शत्रुओं के साथ व्यापार का अधिनियम, ४५३ ।
शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण, ४८२ ।

शत्रु के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग की मर्यादा, ४६८।
शत्रु के सेवा में लगे तटस्थ जलपोत, ४८५।
शत्रुता या अरि प्रकृति, ४५७।
शत्रुदेश में युद्धकारियों की सम्पत्ति, ४५४।
शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव, ३९५।
शान्ति के विरुद्ध किये गये अपराध, ५०७।
शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त, ८३।
शान्तिमय आवेष्टन, ४३७।
शान्ति सन्धि, ५१७; प्रभाव और परिणाम, ५१९।
शासनहर, २०।
शिकागो सम्मेलन (१९४४), २३८।
श्री कृष्णशर्मा विरुद्ध स्टेट आफ वैस्ट बंगाल, ११२।
श्वातर्जनवर्जर, ७७ तथा ३९०।
संघ या संघीय राज्य, १४०।
संपत्रों का विनिमय, ३७४।
संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति, १३८।
संयुक्त अरब गणराज्य के निर्माण के कानूनी पहलू, १९५।
संयुक्त राज्य अमरीका विरुद्ध टेक्सास, २२६।
संयुक्त राज्य अमरीका विरुद्ध रौश्चर, ३१९।
संयुक्त राज्य अमरीका विरुद्ध सर्चमैन, १९१।
संयुक्त राष्ट्र युद्धापराध आयोग, ५०६।
संयुक्त राष्ट्र संघ ३९१–४०४ : अंग, ३९३; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, ४०२; आर्थिक और सामाजिक परिषद्, ४००; उद्देश्य और प्रयोजन, ३९२; उद्भव और विकास, ३९१; छोटी असेम्बली, ३९५; न्यास के विचार का विकास तथा न्यास परिषद्, ४०२; मौलिक सिद्धान्त, ३९२; वीटो, ३९८; शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव, ३९५; सचिवालय, ४०४; सदस्यता, ३९३; सामान्य असेम्बली ३९३; सुरक्षा परिषद्, ३९७।
संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में जनरल असेम्बली का अधिकार, ४१०।
संयुक्त राष्ट्र संघ की सेवा करते हुए प्राप्त होने वाली क्षति का मुआवजा, ४१०।
संयुक्त राष्ट्र संघ तथा बाह्य अन्तरिक्ष, २३९।
संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संहिताकरण का कार्य, ११८।
संरक्षित राज्य, १४१।
संराधन, ४२६।
संराधन आयोग, ४२८।
संस्पर्शिता का सिद्धान्त, २४९।
संस्पर्शी क्षेत्र, २१८ तथा २१९।
सत्सेवा और मध्यस्थता, ४२५।
सन्धियां, ८८, ३७२–९० : इसके अधिकारों को लागू करना, २५७; उदार व्याख्या, ३८९; कार्यात्मिक व्याख्या, ३९०; क्रमबद्ध व्याख्या, ३९०; क्रियान्वय, ३७७; पंजीकरण और प्रकाशन, ३७७; पालन का उपाय, ३८०; बनावट, ३७७; युद्ध छिड़ने का प्रभाव, ३८६; वर्गीकरण, ३७७; विधायक सन्धि, ८९; विधिसूचक या प्रज्ञापक सन्धियाँ, ८९; व्याकरणीय व्याख्या, ३८७; व्याख्या के सामान्य सिद्धान्त, ३८६; संविदा के साथ सम्बन्ध, ३७२; संविदा सन्धियाँ,

९०; सन्धि सम्पादन के आठ अंग, ३७५; सन्धिवाची कुछ शब्द, ३७३; समाप्ति, ३८५; सामाजिक सन्धि, ३७९; स्वरूप, ३७२।
सन्धियों की पवित्रता का सिद्धान्त, ३८१।
सन्धिविषयक संहिता, ३७५।
सन्धिविषयक स्थिति की अपरिवर्तनशीलता का सिद्धान्त, ३८२।
समग्र युद्ध, ४४६।
समझौता, ३७३।
समर्पणवाद, १०६।
समुद्री युद्ध के नियम, ४८१-४८८: उद्देश्य, ४८१; चिकित्सालय पोत, ४८३; तटीय नगरों की बमवर्षा, ४८५; नियमों का विकास, ४८१; पनडुब्बियाँ, ४८७; शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण, ४८२; शत्रु की सेवा में संलग्न तटस्थ जलपोत, ४८५; सुरंगें, ४८६।
समुद्री सम्मेलन (१९५८), २१३।
समुद्री सम्मेलन (१९६०), २१४।
समुद्री सम्मेलन (१९७३), २१५।
समुद्री सम्मेलन का अन्तिम प्राविधान, २१८।
सम्मिश्रणवाद का सिद्धान्त, १०७।
सम्मेलन के निर्णयों द्वारा प्रदेश की प्राप्ति, २५५।
सरदार मिहर्नासह विरुद्ध एस० डी० ओ० (नहर), १९९।
सर्बियन ऋण, ३३७।
सशस्त्र तटस्थता, ५२९ तथा ५४३।
सहमति का सिद्धान्त, ७९।
सहमिलन और अभिलग्नता, ३७६।
सह-युद्धावस्था, १८४।
सहराज्य, १४३।
सातत्य का सिद्धान्त, २४८।
सामाजिक सन्धियाँ, ३७९।
सामान्य असेम्बली (सं० रा० संघ), ३९३।
सामान्य कानून, ३७४।
सामान्य प्रत्यपहार, ४३६।
सामान्य रणविराम या अवहार, ५१७।
सार्वजनिक जहाज की प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्ति, २७९।
सार्वजनिक तथा वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून, ५७।
सार्वभौम उत्तराधिकार, १८८।
सावरकर का मामला, ४०६ तथा ६१०।
सिन्धु जल-सन्धि, २१०।
सुआरेज़, फ्रांसिस्को, ३७।
सेण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया विरुद्ध रामनारायण, ३०८ तथा ६३०।
सैण्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा, ४६५ तथा ४७०।
सैनिक आवश्यकता का सिद्धान्त, ४७३।
सैब्बाटिनो का मामला, ६११।
सोवियत यूनियन विरुद्ध लक्जमबर्ग एण्ड सार कं०, १७१।
स्कूनर एक्सचेंज विरुद्ध मैकफेडड्न, २८० तथा ६०६।
स्टिमसन का मान्यताविषयक सिद्धान्त, १७०।
स्टेट आफ वेस्ट बंगाल बनाम जुगल किशोर मोर, ६३१।
स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन आफ इण्डिया विरुद्ध कर्माशियल टैक्स आफीसर, ३०२।
स्टोरी, ९७।
स्टोवैल, ९७, ३३६ तथा ४९१।
स्थलयुद्ध के नियम, ४६४-४८०: उद्देश्य और साधन, ४६८; नियम, ४६८।
स्थानीय रणविराम, ५१७।
स्थायी शासनादेश आयोग, १४९।

स्प्रिगबोक जहाज का मामला, ५८३ ।
स्वतन्त्र जहाज, स्वतन्त्र माल का नियम, ५३२ ।
स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य, १३३ ।
स्वतन्त्र राज्य, १३७ ।
स्वालियन, १७१ ।
स्वीकरणीय व्यक्ति, ३५० ।
स्वेज़ नहर, २३५ ।
हंगरी में रूस का हस्तक्षेप, २६५ ।
हनीमुन का मामला, ५५६ ।
हया डी ला टार्रे का मामला, ४११ ।
हवाई यातायात अभिसमय, ४५७ ।
हवाई युद्ध के नियम, ४९६-५०३ : मौलिक सिद्धान्त, ४९६ ।
हवाना अभिसमय, ३२६ ।
हस्तक्षेप, ४३८, २५७-२६९ : आत्मरक्षा के लिए हस्तक्षेप, २५८; आन्तरिक हस्तक्षेप, २५७; कारण, २५८; कूटनीतिक हस्तक्षेप, २५७; गृहयुद्धों में हस्तक्षेप, २६३; ड्रेगो सिद्धान्त, २६५; तिब्बत में चीन का हस्तक्षेप, २६७; दण्डात्मक हस्तक्षेप, २५७; नेहरू सिद्धान्त, २६५; बाह्य हस्तक्षेप, २५७; मानवीयता के कारण हस्तक्षेप, २६१; मुनरो सिद्धान्त, २६३; वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप, २६२; शक्ति संतुलन के कारण हस्तक्षेप, २६२; सन्धि के अधिकारों को लागू करने के लिए हस्तक्षेप, २६१; हंगरी में रूस का हस्तक्षेप, २६५ ।
हस्तान्तर द्वारा प्रदेश की प्राप्ति, २५२ ।
हाइड, २५५ ।
हाल, ६८, १२६ तथा १३० ।
हालैण्ड, १२९ ।
हिरण्यमय विरुद्ध आसाम राज्य, २०३ ।
हेंसियाटिक लीग, ३३ ।
हेग अभिसमय, ४२७, ४२९, ४४८, ४६५, ४६६-४६८, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४९६, ५३२-३ तथा ५४७ ।
हेग के पचनिर्णय का स्थायी न्यायालय, ४३० ।
हेग का संहिताकरण सम्मेलन २७२ ।
हेग समझौता, २० ।
हेग सम्मेलन, ५०, ११६, ४९६ ।
हेल सिलासी विरुद्ध केबल एण्ड वायरलेस लि०, १९१ तथा ५९५ ।
हैस कॅसल का मामला, ५२४ ।
होली सी तथा वैटिकन नगर, १४७ ।
क्षेत्राधिकार २७०--२९५ : प्रादेशिक समुद्र में क्षेत्राधिकार, २७१; प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का विस्तार, २७३; प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्तियाँ, २७५--२८१; बन्दरगाहों में क्षेत्राधिकार, २७३; महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध, २८३; महासमुद्रों में डकैती का दमन, २९१; महासमुद्रों में तीव्र अनुसरण, २८९; महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार, २८१; विदेशियों पर क्षेत्राधिकार, २७५ ।
क्षेत्रीय अधिकार विषयक नवीन दृष्टिकोण, ३२९ ।